वाक्यपदीयम्

(ब्रह्मकाण्डम्)

डॉ॰ शिवशङ्कर अवस्थी

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
१६८

भगवद्भर्तृहरिविरचितं

वाक्यपदीयम्

तत्कृतया वृत्त्या संवलितम्

तच्च

हिन्दीविवरणसमलङ्कृतम्

(प्रथमं ब्रह्मकाण्डम्)

विवरणकार

डॉ० शिवशङ्कर अवस्थी

शास्त्री, एम० ए० (संस्कृत-हिन्दी)

सेवानिवृत्त उपाचार्य : संस्कृत-विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी

VIDVABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
168

VĀKYAPADĪYA

OF

ŚRĪ BHARTṚHARI

Alongwith his own Vritti

(First : Brahmakanda)

Edited with Hindi Commentary

By

Dr. Shiv Shankar Avasthi

Shastri, M. A. (Sanskrit-Hindi)

Ex. Vice-Principal : Sanskrit Department
Gorekhpur University, Gorekhpur

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI

भूमिका

भर्तृहरि की रचना

वाक्यपदीय के रचयिता आदि भर्तृहरि शब्दब्रह्मवादी तो थे ही, उनकी गणना अद्वैत[1] वेदान्तियों में भी की जाती है। वेदान्त-सूत्रों पर उनके द्वारा वृत्ति लिखे जाने के प्रमाण उपलब्ध नहीं है; हाँ, उन्होंने वेदान्त पर एक प्रकरण ग्रन्थ अवश्य लिखा था, जिसका पता केवल मुझे अभी लगा है। इसका नाम है 'धातुसमीक्षा', जो 'शब्दधातु-समीक्षा'[2] से भिन्न है। इसका एक श्लोक 'तत्त्वप्रदीपिका' (चित्सुखी) की श्रीप्रत्यक्स्वरूप रचित नयनप्रसादिनी टीका में उद्धृत है। चित्सुखाचार्य का सन्दर्भ है—

'किञ्च भ्रमोपादानमज्ञानमिति लक्षणेऽपि न दोषः। न चात्मन्यतिव्याप्तिः, तस्य केवलस्य कूटस्थस्य कस्याप्यनुपादानत्वात्। सत्योपादनत्वे च विभ्रमस्यापि सत्यत्वप्रसङ्गात्।' —चित्सुखी, प्रथम परिच्छेद पृ० १०२

इसी पर प्रत्यक्स्वरूपाचार्य ने कहा है—'अत एव धातुसमीक्षायां ब्रह्मवित्प्रकाण्डैर्भर्तृहरिभिरभिहितम्—

शुद्धतत्त्वं प्रपञ्चस्य न हेतुरनिवृत्तितः।
ज्ञानज्ञेयादिरूपस्य मायैव जननी ततः॥'

---

१. यामुनाचार्य 'सिद्धित्रय' में कहते हैं—'तथापि आचार्यटङ्कभर्तृप्रपञ्चभर्तृमित्रभर्तृहरिब्रह्मदत्तशङ्करश्रीवत्साङ्कभास्करादिविरचितसितासितविविधनिबन्धनश्रद्धाविप्रलब्धबुद्धयो न यथावदन्यथा च प्रतिपद्यन्त इति तत्प्रतिपत्तये युक्तः प्रकरणप्रकमः।'

२. सोमानन्दनाथ ने शिवदृष्टि में कहा था—'विज्ञानाभासनं यावत् समीक्षायामुदाहृतम्।' —द्वि० आह्निक, श्लोक ७३

इस पर उदयाकर-सूनु उत्पलदेव ने व्याख्या प्रस्तुत की है—'न केवलं चात्रैव पश्यन्त्यभिधानेन सम्यग्ज्ञानाभास एव उक्तो यावत् शब्दधातुसमीक्षायामपि विद्वद्भर्तृहरिणा—

दिक्कालादिलक्षणेन व्यापकत्वं विहन्यते।
अवश्यं व्यापको यो हि सर्वदिक्षु स वर्तते॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे॥'

कल्लटाचार्य द्वारा सङ्कलित 'स्पन्दकारिका' की व्याख्या 'स्पन्दप्रदीपिका' में त्रिविक्रम-पुत्र उत्पलाचार्य ने धातुसमीक्षा से चार अन्य श्लोकों को उद्धृत किया है—

'धातुसमीक्षायां च'[1]—
अविद्याशबलस्यास्य स्थितं मेयत्वमात्मनः ।
गृहीतं न निजं रूपं शबलेन तदात्मना ।।
सा चाऽनृतात्मिकाऽविद्या नानृतस्य हि वस्तुना ।
नाऽवस्तु वस्तुनो नाशं विकारं वा करोत्यतः ।।
नाच्छादितस्य तमसा रज्जुखण्डस्य विक्रिया ।
नाशो वा क्रियते यद्वत् तद्वन्नाविद्ययात्मनः ।।
नाऽतः स्वतो न परतो बन्धोऽस्य परमात्मनः ।
बद्धोऽस्याविद्यया जीवो मुक्तिस्तस्य हि तत्क्षये ।।'

धातुसमीक्षा भर्तृहरि की ही रचना है, यह बात स्पन्दकारिका के चौथे श्लोक की व्याख्या स्पन्दप्रदीपिका से ही स्पष्ट हो जाता है । वहाँ भर्तृहरि का नाम लेकर पूर्वोक्त श्लोकों में से तीसरा श्लोक पुनः उद्धृत किया गया है । यथा—

'विकल्परूपतया तासाम् (अहं सुखी इत्यादिसंविदाम्) अनित्यत्वात् । तद्व्यतिरिक्तत्वाच्च संवेत्तुः तास्वविद्यावरणादुपरागमात्रस्य । उक्तं च भर्तृहरिणा—

'नाच्छादितस्य तमसा रज्जुखण्डस्य विक्रिया ।
नाशो वा क्रियते यद्वत्तद्वन्नाविद्यमात्मनः ।।'

—पृष्ठ १६, मेडिकल प्रेस, काशी संस्करण

---

१. धातुसमीक्षा में भी कहा गया है—यह अविद्याशबल आत्मा ही प्रमेय के रूप में स्थित है । अविद्या से चित्रित आत्मा ने यहाँ अपना स्वरूप ग्रहण नहीं किया । वह अविद्या अनृत या असत्य है । अनृत को यथार्थ नहीं माना जाता, अतः अवस्तु अथवा वस्तु का नाश, उसे विकृत नहीं कर सकती । अन्धकार से आच्छादित रस्सी का न तो नाश होता है और न उसमें विकार ही आता है । वैसे ही अविद्या द्वारा आत्मा का न नाश होता है, नहीं उसमें विकार उत्पन्न होता है । अतः इस परमात्मा का न तो स्वतः बन्धन होता है और न ही परतः । वह अविद्या (अज्ञान) से बँधने पर जीव कहलाता है और अविद्या के नाश से उसकी मुक्ति होती है ।

भर्तृहरि ने सम्पूर्ण महाभाष्य पर टीका लिखी थी, यह बात कैयट के महाभाष्यप्रदीप के प्रस्तुत प्रारम्भिक श्लोक से स्पष्ट है—

'तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रन्थसेतुना ।
क्रममाणः शनैः पारं तस्य प्राप्तास्मि पङ्गुवत्' ॥ ७ ॥

हो सकता है यह महाभाष्यदीपिका ही हो, जिसका आजकल अंश मात्र प्राप्त है ।

शतकत्रय भी आदि भर्तृहरि की ही रचना है, क्योंकि 'दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना—' यह श्लोक, जिसे उत्पलदेव ने 'शिवदृष्टि' की टीका में भर्तृहरि की शब्दधातुसमीक्षा से उद्धृत किया है, भर्तृहरिशतक का मङ्गल श्लोक है ।

वाक्यपदीय-ब्रह्मवित्प्रकाण्ड भर्तृहरि की महान् रचना है । मेरी मान्यता है कि इसकी कारिकाएँ भर्तृहरि के गुरु वसुरात द्वारा निर्मित हैं; जिन्हें व्याकरणागमसंग्रह के नाम से जाना जाता था । तीनों काण्डों पर भर्तृहरि द्वारा वृत्ति लिखे जाने पर इसकी आख्या वाक्यपदीय हुई ।

वाक्यपदीय-द्वितीय काण्ड के अन्त में जो इतिहासपरक दश श्लोक मिलते हैं, वे वस्तुतः कारिकांश नहीं है, किन्तु वृत्ति के अङ्ग हैं । 'प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागमसङ्ग्रहः' (मेरे गुरु (वसुरात) ने प्रस्तुत आगमसंग्रह का प्रणयन किया था ।) इस कथन की संगति उक्त बात को मानने पर ही लगती है । इसके अतिरिक्त इन कारिकाओं पर वृत्ति भी नहीं मिलती । पुण्यराज ने इसकी जो व्याख्या दी है, वह सन्देहास्पद है । वीरसंवत्सर ८८४ अर्थात् विक्रमसंवत् ४१४ में विद्यमान जैनाचार्य मल्लवादि क्षमाश्रमण ने 'द्वादशारनयचक्र' नामक अपने ग्रन्थ में 'अभिजल्प' के सम्बन्ध में भर्तृहरि के गुरु वसुरात और भर्तृहरि का मतभेद दिखलाया है । वहाँ मल्लवादी ने वसुरात का मत वाक्यपदीय की कारिका को उद्धृत करके और भर्तृहरि का मत वृत्ति के उद्धरण से दिखलाया है । यथा—

'वसुरातस्य भर्तृहर्युपाध्यायस्य मतन्तु—स च—(अभिजल्पः) स्वरूपानुगतार्थरूपमन्तरविभागेन सन्निवेशयति—

'अशक्तेः सर्वशक्तेर्वा शब्दैरेव प्रकल्पिता ।
एकस्यार्थस्य नियता क्रियादिपरिकल्पना ॥'

—काण्ड २ कारि० १३३, पृष्ठ ७८० (छाणी, बड़ौदा संस्करण)

अर्थात् भर्तृहरि के उपाध्याय (गुरु) वसुरात का मत इस प्रकार है—वह अभिजल्पात्मक शब्द, जिसमें शब्दरूप (स्वरूप) अनुगत है, ऐसे अर्थरूप को अपने में अविभक्त रूप से सन्निविष्ट करता है । बाह्य अर्थ के रहने पर

भी उससे निरपेक्ष अभिजल्प का स्वातन्त्र्य है—इस बात को प्रस्तुत कारिका से समर्थित करते हैं।

[1]'दर्शनोत्प्रेक्षाभ्यामर्थमभिधेयत्वेनोपगृह्य तत्र न्यग्भूतस्वशक्तिर्बुद्धौ परिप्लवमानोऽयमित्थमनेन शब्देनोच्यत इत्यान्तरो विज्ञानलक्षणः शब्दात्मा श्रुत्यन्तरस्य बाह्यस्य ध्वन्यात्मकस्य प्रवृत्तौ हेतुः, सोऽभिजल्पाभिधेयाकारपरिग्राही बाह्याच्छब्दादन्य इति भर्तृहर्यादिमतम्।' —पृष्ठ ७७९

दर्शन अर्थात् प्रत्यक्ष अथवा आगम और उत्प्रेक्षा अर्थात् सम्भावना या अनुमान के द्वारा अर्थ को स्वरूपार्थ के रूप में ग्रहण करके अथवा शब्दार्थ के रूप में स्वीकार करके बुद्धि में गौण हो गई है पदार्थ शक्ति जिसकी, ऐसा 'यह' ऐसा अर्थ इस शब्द के द्वारा कहा जाता है। इस प्रकार का आन्तरिक विज्ञानलक्षण या प्रत्यायक (वाचक) शब्दात्मा, श्रुत्यन्तर अर्थात् बाह्य ध्वन्यात्मक शब्द का कारण बनता है। वह अभिजल्प रूप अभिधेयाकार को स्वीकार करके बाह्य शब्द से भिन्न के रूप में जाना जाता है—ऐसा भर्तृहरि आदि का मत है।

वाक्यपदीय के प्रस्तुत प्रसङ्ग में १२ प्रकार के अर्थों का निरूपण हुआ है। मल्लवादी ने इनके बीच से कारिकाकार और वृत्तिकार के मध्य मतभेद कैसे समझ लिया? यह ठीक है भी अथवा नहीं—यह अलग बात है। आश्चर्य तो यह है कि शान्तरक्षित रचित तत्त्वसंग्रह के टीकाकार कमलशील दोनों उक्त सन्दर्भों को मिलाकर अभिजल्प का लक्षण मानते हुए उसका खण्डन करते हैं। उनके मत में दोनों में कोई मतभेद नहीं हैं। यथा—

'तथा हि उपगृहीताभिधेयाकारस्तिरोभूतशब्दस्वभावो बुद्धौ विपरिवर्तमानः शब्दात्मा स्वरूपानुगतमर्थमविभागेनान्तः सन्निवेशयति।'

—पञ्जिका, श्लोक ८९९

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के तीनों काण्डों पर वृत्ति लिखी थी; यह बात—'काण्डे, तृतीये न्यक्षेण[2] भविष्यति विचारणा' इस कथन से स्पष्ट हो जाती है। अमरकोष के अनुसार 'न्यक्षेण' का अर्थ है पूर्णरूप से। 'न्यक्षं कार्त्स्न्यनिकृष्टयोः'—अमर० ३।३।२२६

---

१. वा० प०, द्वि० काण्ड की कारिका ८८ से लेकर १५१वीं कारिका की वृत्ति उच्छिन्न है। प्रस्तुत वृत्ति १३२वीं कारिका पर भर्तृहरि ने लिखी होगी, जिसे मल्लवादी ने उद्धृत किया है।

२. 'न्यक्षेण' का अर्थ है—'विस्तरेण'। स्याद्वादभूषण पर लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्तिकार अभयचन्द्र सूरि ने कहा है—'परीक्षितं विचारितं स्वामिसमन्तभद्राद्यैः सूरिभिः। कथम्? न्यक्षेण=विस्तरेण। क्व? अन्यत्र महाभाष्यादौ।'

इस प्रकार आदि भर्तृहरि की रचनाएँ अधोलिखित समझना चाहिए—

१. वाक्यपदीय (त्रिकाण्डी) वृत्तियुक्त ।

२. महाभाष्यटीका (दीपिका) ।

३. धातुसमीक्षा—वेदान्त ।

४. शब्दधातुसमीक्षा—व्याकरणदर्शन ।

५. शतकत्रय ।

भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित शब्दब्रह्म का स्वरूप

वाक्यपदीय की अनादिनिधन आदि चार कारिकाओं, वृत्ति और श्रीवृषभाचार्य की पद्धति में शब्दब्रह्म का निरूपण किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के हिन्दी विवरण में इसका विस्तृत विवेचन मिलेगा। यहाँ इसके सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट चर्चा की जाती है।

यह बात अवधेय है कि नागोजी भट्ट ने मञ्जूषा में जो शब्दब्रह्म की बात की है वह तन्त्रशास्त्रानुमोदित है, व्याकरणागमानुसारी नहीं है। वे कहते हैं—

'युक्तं चैतत् एकस्यैव स्फोटस्य शब्दब्रह्मरूपस्य सर्वशब्दतदर्थोभयोपादनत्वेनोभयरूपतया उभयोरपि तत्कार्ययोरुभयरूपत्वात्।

क्रियाशक्तिप्रधानायाः शब्दशब्दार्थकारणम्।
प्रकृतेर्बिन्दुरूपिण्याः शब्दब्रह्माभवत् परा॥

नित्यत्वं तु यावत् सृष्टिस्थित्या व्यवहारनित्यतया च बोध्यम्।'

—पृष्ठ ४१, शक्तिनिरूपण[1]

शब्दब्रह्मरूप एक ही स्फोट शब्द और उसके अर्थ, इन दोनों का उपादान कारण है और दोनों ही शब्दब्रह्म का कार्य होने के कारण परस्पर उभयरूप हैं। शारदातिलकतन्त्र की राघवभट्ट कृत पदार्थादर्श नामक टीका में उद्धृत[2] श्लोक है—

"क्रियाशक्ति जिसमें प्रधान है, ऐसी बिन्दुरूप प्रकृति से शब्द और शब्दार्थ का कारण 'परा' रूप शब्दब्रह्म उत्पन्न हुआ। इसकी नित्यता सृष्टि के स्थिति पर्यन्त समझनी चाहिए अथवा व्यवहार-नित्यता से ही यह नित्य है।"

इसके विपरीत भगवान् भर्तृहरि ने अनादिनिधन कारिका की वृत्ति में कहा है—'सर्वास्ववस्थास्वनाश्रितादिनिधनं ब्रह्मेति प्रतिज्ञायते।' इस पर श्रीवृषभाचार्य की टीका है—'न केवलमविवर्तावस्थायां, विवर्तावस्थायामपीति।'

---

१. चौखम्बा संस्करण।

२. पृष्ठ १९ आगम-समिति, कलकत्ता संस्करण।

अर्थात् अविवर्त या संवर्तावस्था में तथा विवर्तावस्था में भी शब्दब्रह्म आदि–अन्तरहित–नित्य है। वह काल और देश के परिच्छेद (सीमा) से शून्य है। इस पर वृत्तिकार ने कहा है—

'नहि कार्यकारणात्मकस्य विभक्ताविभक्तस्यैकस्य ब्रह्मणः सर्वप्रवादेषु अपूर्वापरे[1] प्रवृत्तिनिवृत्तिकोटी परिसङ्ख्यायेते।'

सभी दर्शनों में कार्य-कारणात्मक तथा विभक्त एवं अविभक्त ब्रह्म की पूर्व और पर अथवा प्रवृत्ति या निवृत्ति की मर्यादा नहीं बाँधी गई। अर्थात् कार्योदय से पूर्व कुछ नहीं था और कार्यान्त सम्भव होगा—ऐसी प्रवृत्ति और निवृत्ति की सीमा नहीं।' इस पर श्रीवृषभ टीका करते हैं—

'ते[2] प्रवृत्तिनिवृत्तिमर्यादे अ(?)पूर्वापरे न सङ्ख्यायेते। तदेवमनादिनिधनत्वं विवृत्तस्यापि ब्रह्मणः प्रसिद्धम्।'

अर्थात् कोटि का अर्थ है—मर्यादा। पूर्वा या प्रवृत्तिरूप मर्यादा, जिसमें कार्य (शब्द और अर्थ जगत्) के उदय से पूर्व कुछ न था। अपर या निवृत्ति रूप मर्यादा, जिसका अन्त नहीं। वे प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप सीमाएँ, जिन्हें पूर्व और अपर कह सकते हैं, नहीं जानी जाती। इस प्रकार विवर्त दशा को प्राप्त भी शब्दब्रह्म का अनादिनिधनत्व सिद्ध है।

वृत्तिकार स्पष्ट रूप से कहते हैं—'सर्वविकल्पातीततत्त्वं भेदसंसर्गसमतिक्रमेण समाविष्टं सर्वाभिः शक्तिभिः।'

अर्थात् ब्रह्म की दो अवस्थाएँ हैं; एक सर्वविकल्पातीततत्त्वात्मक और दूसरी समाविष्ट सर्वशक्तिरूप। पहला परब्रह्म या शान्तब्रह्म के नाम से जाना जाता है और दूसरा है शब्दब्रह्म या शबल(चित्र)ब्रह्म।

स्वयं वृत्तिकार भर्तृहरि किसी प्राचीन ग्रन्थ का उद्धरण देते हुए कहते हैं—

[3]'शान्तं विद्यात्मकं तत्त्वं तदुहैतदविद्यया।
तया ग्रस्तमिवाजस्रं या निर्वक्तुं न शक्यते॥ ८॥

---

१. 'पूर्वापरे' पाठ ही शुद्ध है, क्योंकि देश का बोध न हो इसलिए 'प्रवृत्तिनिवृत्तिकोटी' में उसका अनुवाद किया गया है, इससे कालशून्यता का पता चलता है। 'नहि' के साथ 'पूर्वापरे' ही संगतं है।

२. पद्धति का इसके पूर्व का मूल पाठ (पूना से) और कोष्ठक में संशोधित पाठ—

'अपूर्वापरे (पूर्वापरे) इति। कोटिर्मर्यादा। (पूर्वा प्रवृत्तिमर्यादा) यस्यां कार्योदयात् पूर्वं न किञ्चिदासीत्। अपरा निवृत्तिमर्यादा यस्याः परं नास्ति।

३. इसका भ्रष्ट पाठ सर्वत्र प्रस्तुत रूप में मिलता है—

'तथेदममृतं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया ।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं विवर्तते ॥ ११ ॥

विकल्पों से उत्तीर्ण होने के कारण अथवा अविद्या और उसके कार्य के सम्बन्ध से शून्य होने से शान्त,[1] अभेदप्रकाशरूप विद्यात्मक शुद्ध तत्त्व (परब्रह्म) अनिर्वचनीय अविद्या के द्वारा आच्छादित-सा हो जाता है। जैसे तिमिर रोग से दूषित आँखों वाला व्यक्ति विशुद्ध आकाश को चित्र-विचित्र रेखाओं से भरा हुआ-सा मानता है; वैसे ही यह निर्विकार अमृत ब्रह्म अविद्या के द्वारा मलिन-सा होकर भिन्न-भिन्न रूपों को प्राप्त होता है।

श्रीवृषभाचार्य ने भी पद्धति के मङ्गलाचरण में ब्रह्म की दो अवस्थाओं को निर्दिष्ट किया है—

'सर्वप्रपञ्चरूपं विगताशेषप्रपञ्चजालमलम् ।
जयति जगतां निमित्तं भवबन्धच्छिदि ब्रह्म ॥'

एक ओर सम्पूर्ण प्रपञ्च (संसार) रूपधारी तथा दूसरी ओर समस्त प्रपञ्च जाल रूपी मालिन्य से रहित, संसार के बन्धन को काटने वाला लोकों का निमित्तकारण ब्रह्म सर्वोत्कृष्ट रूप से वर्तमान है।

सगुण ब्रह्म को ही वैयाकरण शब्दब्रह्म, रसवादी रसब्रह्म और सौन्दर्यवादी रूपब्रह्म कहते हैं। यह शान्तब्रह्म या निर्गुण–निष्क्रिय ब्रह्म की शबल दशा है। यह अविद्योपहित शब्दब्रह्म ही सम्पूर्ण शब्दार्थ जगत् का हेतु है।

अपनी आत्मभूत[2] भिन्न-भिन्न अविरोधिनी शक्तियों को समेट कर विद्यमान शब्दब्रह्म की यह संवर्तावस्था है। यहाँ शक्तियाँ परस्पर विरोधिनी हैं,

---

'शान्तविद्यात्मको योऽशः···।' पद्धति के आधार पर ही मैंने पाठ-संशोधन किया है। यथा—'तत्राह—शान्तमिति। सर्वप्रपञ्चविगमात्। यदाह—विद्यात्मकमिति।' (पद्धति पृ० १२)

१. (क) 'निष्कलं विष्क्रियं शान्तम् ।' —श्वेताश्वतर उ० ६।१९

(ख) 'प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते ।'
—माण्डूक्योप०–७

प्रपञ्चोपशममिति—जाग्रदादिस्थानधर्माभाव उच्यते। अत एव शान्तमविक्रियं शिवं यतोऽद्वैतं भेदविकल्परहितं चतुर्थं तुरीयम् ।

२. 'एकत्वस्याविरोधिन्यः शब्दतत्त्वे ब्रह्मणि समुच्चिता परस्परविरोधिन्य आत्मभूता शक्तयः ।' —वृत्ति, कारि० १

यह वृत्ति श्रीवृषभ की टीका के अनुसार संशोधित है। यद्यपि टीका में भी अशुद्धि द्रष्टव्य है।

किन्तु शब्दब्रह्म के एकत्व की अविरोधिनी रहती हैं। सकल विकार-ग्राम इसमें एकीभूत होता है। 'अनेकस्य एकत्रोपसंहारः संवर्तः'—श्रीवृषभ। 'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्—'। यह सर्वेश्वर, सर्वशक्ति, महान् शब्दवृषभ है। वाग्योगवेत्तागण अहङ्कार ग्रन्थि को निर्मूल करके इसी के साथ सायुज्य लाभ करना चाहते हैं।

[1]आनन्दवर्धन के एक वचन पर टीका करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है—

'परितः निश्चितं प्रमाणेन स्थापितं निरपभ्रंशं गलितभेदप्रपञ्चतया अविद्या-संस्काररहितं शब्दाख्यं प्रकाशपरामर्शस्वभावं ब्रह्म व्यापकत्वेन बृहत्, विशेप-शक्तिनिर्भरतया च बृंहितं विश्वनिर्माणशक्तीश्वरत्वाच्च बृंहणं यैरिति'।

—लोचन, तृतीय उद्योत।

जिन वैयाकरणों की मान्यता है कि परिनिश्चित अर्थात् प्रमाण द्वारा स्थापित निरपभ्रंश अर्थात् भेदप्रपञ्च के निर्गत हो जाने से अविद्या-संस्कार-शून्य, प्रकाश और विमर्शशक्ति-स्वभाव वाला शब्द नामक ब्रह्म है। यह ब्रह्म व्यापक होने से बृहत्, विशेष शक्ति से भरित होने के कारण बृंहित तथा विश्व-निर्माण करने वाली शक्ति का ईश्वर होने से बृंहण—इन व्युत्पत्तियों से जन्य अर्थ से युक्त है।

यहाँ शब्दब्रह्म को सामान्य और विशेप शक्तियों से सम्पन्न वतलाया गया है। इसमें भेदप्रपञ्च नहीं है, अतः यह अविद्या के संस्कार से रहित है; किन्तु अविद्योपाधिक तो है ही। अविद्या के संस्कार तो जीव में रहते हैं। यह शब्द-ब्रह्म की व्याख्या वाक्यपदीय के अनुकूल है। यह ब्रह्म की अवस्था 'समाविष्टं च सर्वाभिः शक्तिभिः' है। इसमें सजातीय-विजातीय भेद नहीं है, किन्तु स्वगत भेद तो है ही। इसे सर्वविकल्पातीत या शान्त अवस्था नहीं कहा जा सकता। भर्तृहरि ने 'धातुसमीक्षा' में वेदान्त की दृष्टि से कहा है—

[2]शुद्धतत्त्व अर्थात् निर्विशेप–निर्गुण ब्रह्म ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप प्रपञ्च का हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि तब संसार की निवृत्ति नहीं होगी; अतः स्पष्ट है कि इसकी जननी माया ही है।'

---

१. 'परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति तैः सह किं विरोधाविरोधौ चिन्त्येते।'

—ध्वन्यालोक पृष्ठ ४८१, चौ० सं०

२. 'शुद्धतत्त्वं प्रपञ्चस्य न हेतुरनिवृत्तितः।
ज्ञानज्ञेयादिरूपस्य, मायैव जननी ततः॥' —धातुसमीक्षा

किन्तु माया बिना चेतनाधिष्ठित हुए विश्व का निर्माण कैसे कर सकती है ? अतः वहाँ वेदान्त में ब्रह्म का तटस्थ रूप (सगुण रूप) स्वीकार किया गया है। शुद्धतत्त्व के सम्बन्ध में वेदान्तियों का मत भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में स्पष्ट किया है। यथा—

'यत्र द्रष्टा च दृश्यं च दर्शनं चाविकल्पितम्।[1]
तस्यैवार्थस्य सत्यत्वं श्रितास्त्रय्यन्तवेदिनः' ॥ ७२ ॥

—सम्बन्धसमुद्देश

जहाँ द्रष्टा, दृश्य और दर्शन की कल्पना नहीं है, उस अर्थ को ही वेदान्ती लोग सत्य मानते हैं। हेलाराज ने इसे और स्पष्ट किया है—'ग्राह्यग्राहकादिप्रपञ्चस्य विकल्पपरिपाटितस्यासत्यत्वात् सर्वप्रपञ्चसमतिक्रान्तं वाङ्मनसातीततत्त्वमविकल्पं परं ब्रह्मानादिनिधनं सत्यमिति ब्रह्मविदः प्राहुः।'

यही शब्दब्रह्म की शान्त अवस्था[2] अथवा संवर्तावस्था है। यह श्रीवृषभाचार्य का मत है। वे कहते हैं—

'यदाह—अप्रविभागमिति। एवं तावदविवर्तावस्थायां सर्वपरिकल्पातीतत्वमेवानादिनिधनत्वं कथितम्।'

इसे कारणब्रह्म कहा जाता है। अविद्या अथवा काल नामक स्वातन्त्र्य (कर्तृ) शक्ति से उपहित एवं उसकी सहायिका प्रतिबन्ध तथा अभ्यनुज्ञा आदि अनेक शक्तियों से समन्वित कार्यब्रह्म ही शब्दब्रह्म या शबलब्रह्म है। यह ब्रह्म की विवर्तावस्था है। यह भी आदि-अन्त से रहित है। कारण-रूप में ब्रह्म अविभक्त तथा कार्य-रूप में विभक्त कहा जाता है।

महाभाष्यदीपिका में भर्तृहरि ने ब्रह्म की उक्त दो अवस्थाओं की ओर

---

१. वाविकल्पितम्, वा विकल्पितम्, चापिकल्पितम्—ये सभी अपपाठ हैं; शुद्ध उपर्युक्त पाठ ही है।

२. भोजराज ने शब्दब्रह्म की चार अवस्थाएँ मानी हैं—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा। सूक्ष्मा को शान्तावस्था माना जा सकता है। उनका लेख है—'या पुनरनाद्यविद्यावासनोपप्लवमानशब्दार्थभेदरहितावबोधरूपब्रह्मशब्दवाच्यास्वरूपज्योतिरेवात्मनोऽन्तरनपाया प्रकाशते सा सूक्ष्मा।'

—शृ० प्र० पृ० ३६७

इस अवस्था को उन्होंने 'स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी' से ही खोजा है। कुछ लोग इस सन्दर्भ को 'पश्यन्ती' के साथ जोड़ देते हैं। वैसे भोजराज ने सूक्ष्मा के सम्बन्ध में कहा है—'तत्र गुहाशयेषु (गुहा त्रीणि निहिता) त्रिषु यदेतत्सूक्ष्मेति गीयते, ते तदनाहतमित्यामनन्ति।'

संकेत किया है। इसी के आधार पर जैनाचार्य मल्लवादी ने भी द्वादशारनय-चक्र (पृ० ४९६-९७) में इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। दोनों ग्रन्थों के सन्दर्भ प्रस्तुत है—

'द्रव्यं हि नित्यम्। नित्यः पृथिवीधातुः। पृथिवीधातौ किं सत्यम् ? विकल्पः। विकल्पे किं सत्यम् ? ज्ञानम् (विज्ञानम्—हेलाराज, जातिसमुद्देश श्लोक ३२ की व्याख्या)। ज्ञाने किं सत्यम् ? ॐ। अथ तद्ब्रह्म। तदेतदुक्तं भवति—अतःपरं शब्दार्थव्यवहारो निवर्तते। व्यवहारातीतोऽयमर्थ इति। तत्र यावन्तो निर्देशा अनित्य इति वा नित्य इति वा सर्वं एवैतेऽवस्थापेक्षाः, ताश्चानन्यास्तस्मादिति। यथैव च स्वप्नोऽन्यद्वा ज्ञानं त्रैलोक्यमिति वा, गृहमिति वाऽनाकारं पर्वतादिभेदैरविभक्तं पर्वतादिप्रदेशे एवमसावर्थः। स पुरुषादिः (पुरुषादि सर्वान्) शब्दव्यवहारानतिक्रान्तो नित्यः परिकल्प्यते।'

(महाभा० दी० पृष्ठ २७ पूना संस्करण)

पारमार्थिक द्रव्य नित्य है। पृथिवीधातु (तत्त्व) में आपेक्षिक नित्यता है। पृथिवीधातु में क्या सत्य है ? विकल्प–भेदात्मकता। विकल्प में क्या सत्य है ? ज्ञान या विज्ञान (चैतन्य)। ज्ञान में क्या सत्य है ? ॐ और यही (सविशेष या शब्दब्रह्म) ब्रह्म है। तात्पर्य यह है कि इसके आगे शब्दार्थ-व्यवहार की निवृत्ति हो जाती है (क्योंकि वह निर्विकल्प दशा है—'निर्विकल्पत्वात्' इस मल्लवादी के पाठानुसार)। यह अर्थ व्यवहारातीत है वहाँ शब्दब्रह्म में जितने भी नित्य या अनित्यात्मक निर्देश हैं, वे सभी अवस्थापेक्ष हैं और वे अवस्थाएँ भी ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं हैं। जैसे स्वप्न अथवा अन्य कोई ज्ञान, त्रैलोक्य अथवा गृह; पर्वत आदि प्रदेश (एकदेश) में पर्वतादि भेद से रहित निराकार ज्ञान, इसी प्रकार का उक्त अर्थ है। यह अर्थ पुरुष आदि सम्पूर्ण शब्द-व्यवहारों से अतिक्रान्त है, अतः नित्य कहा जाता है।

इस सन्दर्भ का पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। 'यथैव च'—यह वाक्य तो अशुद्ध होने के कारण सर्वथा दुरूह है।

वस्तुतः ब्रह्म को शब्द से विशिष्ट करना ही उसे सविशेष बना देता है, अतः शब्दब्रह्मावस्था निर्विशेष या शान्त नहीं है। अब भर्तृहरि के उक्त सन्दर्भ को और स्पष्ट करने के लिए मल्लवादी का ग्रन्थ उद्धृत किया जाता है—

'एतस्मिंश्च नये द्रव्यमेव शब्दार्थः, स च नित्यो विच्छेदाभावादवस्थित-त्वाद्वा। अन्वाह च—पृथिवीधातौ किं सत्यम् ? विकल्पः। विकल्पे किं सत्यम् ? ज्ञानम्। ज्ञाने किं सत्यम् ? ओम्, तदेतद् ब्रह्म।

एतदुक्तं भवति—अतःपरं शब्दार्थव्यवहारो निवर्तते निर्विकल्पत्वात्, व्यवहारातीतोऽयमर्थः। कथमोमित्येषोऽन्वयव्यतिरेकरहितः शब्दार्थो भवितुमर्हतीति चेत् ? को ब्रूतेऽन्वयव्यतिरेकरहित इति। यस्मादत्रानुवृत्तिव्यावृत्ती अनन्तरोक्तपृथिव्यादिधातुविकल्पज्ञानसत्यत्वानुप्रबन्धसामर्थ्योपहितरूपे एते चानुवृत्तिव्यावृत्ती यथाभागं प्रसिद्धिं गच्छतः। स च शब्दार्थोऽनाद्यनुप्रबन्धसामर्थ्योपहितानुप्रवृत्तित्वान्नित्यः। अत्रोत्पादविनाशशब्दावपि तत्स्थितरूपावेव, नासदुद्भवात्यन्तविनाशरूपौ।'.

इस जैन नय (मत) में द्रव्य ही शब्दार्थ है और वह नित्य है, क्योंकि उसका विच्छेद नहीं होता और वह अवस्थित अर्थात् अविनाशी है। वह द्रव्य सर्वात्मक है और एक-एक करके समस्त अर्थरूपों में अनुस्यूत है।

इसी नीति का अनुसरण करते हुए व्याकरणदर्शन कहता है—

[१]प्रवृत्ति आदि धर्मों को धारण करने के कारण पृथिवी ही पृथिवीधातु है। वस्तुतः पृथिवी—अश्मा, सिकता, मिट्टी, लोष्ट और वज्र आदि विकल्पों (भेदों) को छोड़कर और है ही क्या ? अर्थात् वह वस्तुभूत तत्त्व नहीं है—इस आशय से प्रश्न करते हैं—पृथिवी में सत्य क्या है ? उत्तर है—विकल्प। वे विकल्प भी ज्ञान या विज्ञान से भिन्न नहीं है, अपितु आत्मकर्मात्मक विज्ञानरूप चैतन्य ही उन-उन रूपों में परिणत होता है; चैतन्य ही व्यवहार के मार्ग में उतरता है। ज्ञान में सत्य क्या है ? समाधान है—ओम्।

चेतन और अचेतन भेद से भिन्न होने पर वह (अवति) रक्षा करता है, (प्रीयते) प्रसन्न होता है या तृप्त होता है। इस प्रकार अनेक धात्वर्थों के रूप में परिणत होता हुआ जो जैसी कल्पना करता है, वह उसी का अनुवर्तन करता है; अतः 'ओम्' इस आख्या को प्राप्त है।

इसका तात्पर्य है कि इससे परे शब्दार्थ का व्यवहार निवृत्त हो जाता है, क्योंकि वह निर्विकल्प दशा है। वह शास्त्रीय शब्द द्वारा बोध्य नहीं है, अतः वहाँ शब्दार्थव्यवहार नहीं है। निषेध शेष होने के कारण इसे व्यवहारातीत अर्थ कहा गया है।

यह अन्वय-व्यतिरेक रहित ओम् कैसे शब्दार्थ हो सकता है ? इस प्रश्न पर कहते हैं कि कौन कहता है कि यह अन्वय-व्यतिरेक से रहित है ? क्योंकि यहाँ अनुवृत्ति और व्यावृत्ति अर्थात् सामान्य और विशेष पूर्व-पूर्वोक्त पृथिव्यादि धातुओं के असत्यत्व और उत्तरोत्तर उक्त विकल्प—ज्ञान के सत्यत्व के अनुप्रबन्ध-सामर्थ्य से उपहित रूप हैं। ये अनुवृत्ति और व्यावृत्ति भागानुसार

---

१. यह व्याख्या न्यायागमानुसारिणी टीका के अनुसार की गई है।

अभिधान-अभिधेय इस व्यवहारात्मक प्रसिद्धि को प्राप्त होती हैं। इस प्रकार यह ओम् रूप शब्दार्थ अनादि अनुप्रबन्ध या प्रवाह के सामर्थ्य से उपहित सामान्य वाला होने के कारण नित्य है। इसमें उत्पत्ति और विनाश शब्द भी द्रव्य के स्वतत्त्वभूत ही है; अभूत भावनात्मक कोई उत्पाद धर्म नहीं है और न ही कोई विद्यमान का अभावरूप धर्म है। किन्तु जैसे उत्पतन और अधःपतन ये सर्प के ही उत्पाद और व्यय अथवा आविर्भाव और तिरोभाव रूप परिणाम हैं, वैसे ही नित्य द्रव्य भी भिन्न-भिन्न रूपों में परिणत होता हुआ अवस्थित ही उत्पन्न और नष्ट कहा जाता है।

वाक्यपदीय की प्रथम कारिका के अक्षर शब्द से ओङ्कार को ही शब्दतत्त्वात्मक ब्रह्म के नाम से कहा गया है। यह ओङ्कार ही परब्रह्म है और अपरब्रह्म भी। इस सन्दर्भ में प्रश्नोपनिषद् का वचन इस प्रकार है—

'एतद्वै सत्यकामः परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः।' —वल्ली २।

शान्तावस्था परब्रह्म या परप्रणव है और शबलावस्था अपरब्रह्म या अपर प्रणव। इस प्रकार एक ही शब्दब्रह्म निष्क्रिय भी है और सक्रिय भी। शब्दब्रह्म वाङ्मय जगत् एवं चराचर जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है—यह वैयाकरणों की मान्यता है। निर्विशेषाद्वैतवादियों का अभिमत है कि नित्य शब्द जगत् का निमित्तकारण है।

[1]'वेदान्तिभिरपि निमित्तकारणत्वं शब्दस्याभीष्टम्। अस्माभिस्तु उपादानत्वमभ्युपेयत इति विशेषः।' —शेषनारायण कृत 'सूक्तिरत्नाकर' महाभाष्य टीका, इण्डिया आधिर लाइब्रेरी लन्दन तथा सरस्वती भवन, काशी स्थित पाण्डुलिपि।

वाक्यपदीप में प्रकृति और परा प्रकृति ये दो शब्द उपलब्ध होते हैं। प्रकृति ही, जो समस्त वाग्-विकारों का कारण है, प्रतिभा और पश्यन्ती के नामसे जानी जाती है। यही अद्वितीय ब्रह्म की शबलावस्था है, जो शब्दब्रह्म के

---

१. 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्—।'

(अ० १ पाद ३ अधि० ८ सूत्र २८)

इस ब्रह्मसूत्र के भाष्य में शङ्कराचार्य कहते हैं—'न चेदं शब्दप्रभवत्वं ब्रह्मप्रभवत्ववदुपादानकारणाभिप्रायेणोच्यते।'

वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट किया है—'यद्यपि न शब्द उपादानकारणं वस्वादीनां ब्रह्मोपादानत्वात्, तथापि निमित्तकारणमुक्तेन क्रमेण।' —भामती

'उक्तेन क्रमेण' (उक्त क्रम से)—वह क्रम इस प्रकार है—'वसुत्वादिवाचकाच्छब्दात् तज्जातीयां व्यक्ति चिकीर्षितां बुद्धावालिख्य तस्याः प्रभवत्वम्। तदिदं तत्प्रभवत्वम्।' —भामती

नाम से जानी जाती है। इसकी शान्तावस्था ही परपश्यन्ती या पराप्रकृति है। 'परं तु पश्यन्तीरूपमनपभ्रंशमसङ्कीर्णं लोकव्यवहारातीतम्।'

—कारि० वैखर्याः की वृत्ति

'वाग्विकाराणां 'प्रकृतिं प्रतिभामनुपरैति। तस्माच्च—प्रत्यस्मितसर्वविकारोल्लेखमात्रां परां[2] प्रकृतिं प्रतिपद्यते।'

—वा० प० ब्र० का० कारिका १४ की वृत्ति

यहाँ प्रकृति और पराप्रकृति से सांख्यीय प्रकृति का कोई सम्बन्ध नहीं है। वृत्ति के अतिरिक्त कारिकाओं में भी प्रकृति और पराप्रकृति का उल्लेख हुआ है।

'प्रकृतौ प्रविलीनेषु भेदेष्वेकत्वदर्शिनाम् ॥ ४३ ॥ —जातिसमुद्देश

'विकारापगमे सत्यां तथाहुः प्रकृतिं पराम्' ॥ १५ ॥ —द्रव्यसमुद्देश

सत्ता, महानात्मा, प्रतिभा, अविद्यायोनि, भावविकार-प्रकृति और पश्यन्ती—ये शब्दब्रह्म के पर्याय हैं।

'तेषाम् ऋषयः केचित् प्रतिभात्मनि विवर्तन्ते सत्तालक्षणं महान्तमात्मानमविद्यायोनिं पश्यन्तः प्रतिबोधेनाभिसम्भवन्ति।' —१३७ (१४५) कारिका की वृत्ति, ब्रह्मकाण्ड, पूना संस्करण।

'तदभ्यासाच्च शब्दपूर्वकं योगमधिगम्य प्रतिभां तत्त्वप्रभवां भावविकारप्रकृतिं सत्तां साध्यसाधनयुक्तां सम्यगवबुध्य नियता क्षेमप्राप्तिरिति।'

—१२३ (१३१) कारि० वृत्ति ब्र० का०

यद्यपि परावाक् का नामतः वाक्यपदीय में कहीं उल्लेख नहीं है, फिर भी

---

१. 'प्रकृतिमिति। कारणम्। किं तदित्याह—प्रतिभामिति। येयं समस्तशब्दार्थकारणभूता बुद्धिः यां पश्यन्तीत्याहुः।' —श्रीवृषभाचार्य

प्रकृति अर्थात् कारण। वह क्या है? इस पर कहते हैं—वही प्रतिभा है, जो सम्पूर्ण शब्दों और अर्थों की कारणात्मक बुद्धि है और जिसे आचार्यों ने पश्यन्ती कहा है।

२. 'प्रत्यस्तमित इति। विकाराख्या उल्लेखाः, ते परस्मिन् ब्रह्मणि प्रत्यस्तमिताः, तस्य सर्वविकल्पातीतत्वात्। परामिति। उत्कृष्टाम्। प्रकृतिम्, सर्वयोनिं प्रतिपद्यते तामेवैति। तदेवं वाग्विकारं प्रतिभायामुपसंहरति। तामपि चास्मिन् ब्रह्मणि।' —श्रीवृषभाचार्य

विकारों का आन्तरिक उल्लेख—उत्कीर्णन या संस्कार भी जहाँ अस्त हो गये हैं। वे उल्लेख परब्रह्म में नहीं रहते, क्योंकि वह सम्पूर्ण विकल्पों से परे हैं।

परपश्यन्ती या पराप्रकृति के द्वारा उसे जाना जा सकता है। पश्यन्ती और परा में मूलतः कोई भेद नहीं है। हेलाराज कहते हैं—

'संविच्च पश्यन्तीरूपा परावाक् शब्दब्रह्ममयी इति ब्रह्मतत्त्वं शब्दात् पारमार्थिकान्न भिद्यते।'

द्रव्यसमुद्देश, कारिका[1] ११ की व्याख्या में परब्रह्म को 'संवित्' के नाम से हेलाराज ने कहा है, जो 'नेति नेति' भावना द्वारा निर्दिष्ट है।

संवित् भी शब्दब्रह्ममयी पश्यन्ती रूप परावाक् है; इस प्रकार ब्रह्मतत्त्व पारमार्थिक शब्द (शब्दतत्त्व या शब्दब्रह्म) से भिन्न नहीं है।

पराप्रकृति शब्दब्रह्म की सुषुप्ति दशा है और प्रकृति पश्यन्ती या सत्तावस्था ही जागरणोन्मुखी स्थिति। इसी को प्रतिभा कहते हैं। भगवान् भर्तृहरि ने वा० प० द्वितीय काण्ड, श्लोक १५२ की वृत्ति में कहा है—'काचित् स्वाभाविकी प्रतिभा। परस्याः प्रकृतेः प्रथमं सत्तालक्षणमात्मानं महान्तं प्रत्यानुगुण्यं—सुषुप्तावस्थस्येव प्रबोधानुगुण्यं फलसत्तामात्रं निद्रायाः।'

मैत्रायणी उपनिषद् में कहा गया है—एवं ह्याह—

'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥'

—प्रपाठक ६, कण्डिका २२

दो ब्रह्म ज्ञातव्य हैं—एक शब्दब्रह्म और दूसरा परब्रह्म। शब्दब्रह्म को जानकर व्यक्ति परब्रह्म को प्राप्त करता है।

आगे कहा गया है—जो शब्द है, वही ओङ्कार यह अक्षर है। इससे जो परे है, वह—शान्त, अशब्द, अभय, अशोक और आनन्द आदि शब्दों से कहा जाता है।

'एवं ह्याह' के द्वारा ज्ञात होता है कि उक्त श्लोक उपनिषद् से प्राचीन है। महाभारत में भी यह श्लोक मिलता है, जो इस प्रकार है—

'वेदाः प्रमाणं लोकानां न वेदाः पृष्ठतः कृताः।
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्॥ १॥

---

१. 'सत्यमाकृतिसंहारे यदन्ते व्यवतिष्ठते।
तन्नित्यं शब्दवाच्यं तच्छब्दतत्त्वं न भिद्यते॥

तथा हि व्यक्त्यपाये जातिरवतिष्ठमाना गोत्वादिका नित्या। तत्राप्यश्वत्वादिभेदत्यागे पृथ्वीत्येव सत्यम्। तत्राप्त्वादिभेदापाये वस्त्वित्येव सत्यं सर्वनामप्रात्याय्यम्। तत्रापि संविद्रूपस्यानपायिनोऽनुगमाद् विषयाकारविवेके तदेव पारमार्थिकं सत्यमिति नेति नेत्युपासीतेति भावनया चोद्यते।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ।
शरीरमेतत् कुरुते यद्वेद कुरुते तनुम्' ॥ २ ॥

—शान्तिपर्व, अध्याय २७०

यहाँ शब्दब्रह्म का अर्थ वेद का कर्मोपासनाकाण्ड[1] है और परब्रह्म का प्रत्यगात्मा, जो प्रसङ्गतः उचित है। वेदों[2] को भी उपचारतः शब्दब्रह्म कहा जाता है। मूल वेद ओङ्कार ही है और यही शब्दब्रह्म भी। वर्ण-पदक्रमात्मक वेद उक्त ओङ्काररूप शब्दब्रह्म की प्राप्ति का उपाय और उसका अनुकरण या प्रतिच्छन्दक है—प्रतिरूप है।

शब्दब्रह्म भोक्ता, भोग्य और भोगात्मक सृष्टि का महाबीज है। महाप्रलय में ब्रह्माण्डीय सम्पूर्ण चराचर जगत् शब्दब्रह्म में ही सूक्ष्मरूप से स्थित होता है; यही उसकी संवर्तावस्था है। यहाँ एक अवधेय है कि कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का युगपत्प्रलय कभी नहीं होता, अतः भर्तृहरि ने सभी अवस्थाओं में उसे अनादिनिधन कहा है। शान्तब्रह्म से किञ्चित् चलितावस्था ही शब्दब्रह्म है; और यहीं से सृष्टि का उद्भव और विलय होता है, अतः यही संवर्तावस्था है। इसी के अन्तर्गत जब स्थूल सृष्टि का अवहिस्तत्त्व के रूप में परस्पर विलक्षण प्रसार होता है, तब उसे ही विवर्तावस्था कहा जाता है।

मूलतः शान्तब्रह्म और शब्दब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है, इसी दृष्टि से पीछे शान्तब्रह्म को ही संवर्तावस्था कहा गया है—

[3]'शब्दब्रह्म चिदानन्दमधिष्ठानमुपास्महे ।
यस्य वर्णाः पदं वाक्यं विवर्ताः सञ्चकासति' ॥ १ ॥

—शेषश्रीकृष्ण, स्फोटतत्त्वनिरूपण

वाक्यपदीय में स्फोटसिद्धान्त

कारिका और वृत्तिरूप वाक्यपदीय के दोनों सन्दर्भों में स्फोट शब्द बिना व्युत्पत्ति और व्याख्या के सहसा चर्चित हुआ है, जिससे स्पष्ट होता है कि उन

---

१. 'शब्दब्रह्म कर्मोपास्ति काण्डः, परं ब्रह्म प्रत्यगात्मा ।'

—नीलकण्ठ, भारतभावदीप टीका ।

२. 'तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥
शाब्दे=ब्रह्मणि वेदाख्ये न्यायतो निष्णातम् । परे च—ब्रह्मणि अपरोक्षानुभवेन निष्णातम्' । —वीरमित्रोदय, भक्तिप्रकाश

३. चिदानन्दस्वरूप, अधिष्ठानात्मक (सबका आश्रय) शब्दब्रह्म का हम स्मरण करते हैं, जिसके वर्ण, पद और वाक्यरूप विवर्त प्रकाशित होते हैं।

दिनों वैयाकरण-समाज में यह शब्द सर्वथा प्रचलित था। यहाँ स्फोट से सम्बद्ध इतिहास की चर्चा अप्रासङ्गिक न होगी।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'अवङ् स्फोटायनस्य' (६।१।१२३) सूत्र द्वारा आचार्य स्फोटायन के मत का निर्देश किया है। हेमचन्द्र ने काक्षीवान् को स्फोटायन का पर्याय या नामान्तर बतलाया है। गुरुपद हालदार ने 'व्याकरण-दर्शनेर इतिहास' नामक बँगला भाषा के ग्रन्थ में कहा है कि कक्षीवत् पर्वत में ओशिज नामक किसी विद्वान् योगी वैयाकरण ने स्वकीय व्याकरण में शब्द के अर्थप्रकाशक स्वयंप्रभ शक्ति-विशेष का सम्यक् प्रपञ्च करके उसे स्फोट नाम दिया था, इसलिए इस नये नाम के कारण लोक में भी वे स्फोटायन के नाम से प्रसिद्ध हुए।

हरदत्त ने काशिकावृत्ति की टीका 'पदमञ्जरी' में सम्भवत: उक्त प्रसिद्धि के आधार पर ही लिखा होगा—'स्फोटोऽयनं परायणं यस्य स: स्फोटायन:, स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्य:'।

भरद्वाज मुनिकृत 'विमानशास्त्र' में एक शौनक-सूत्र उपलब्ध है, जिसमें स्फोटायन का नाम आता है। यथा—

'चित्रिण्येवेति स्फोटायन:'।

इस पर बौधायन की वृत्ति है, जिसमें कहा है—'तदुक्तं शक्तिसर्वस्वे—वैमानिकगतिवैचित्र्यादिद्वात्रिंशतिक्रियायोग एकैव चित्रिणीशक्तिरलमिति शास्त्रे निर्णीतं भवतीत्यनुभवत: शास्त्राच्च मन्यते स्फोटायनाचार्य:।'

जैसा कि 'शक्तिसर्वस्व' में कहा गया है—विमान-सम्बन्धी गति के वैचित्र्य आदि बत्तीस क्रियायोग में एक ही चित्रिणी शक्ति पर्याप्त है—ऐसा शास्त्र में निर्णीत है। अनुभव और शास्त्र के अनुसार स्फोटायनाचार्य भी यही मानते हैं।

गुरुपद हालदार का कहना है कि 'तपरस्तत्कालस्य' (पा० १।१।७०) सूत्र के भाष्य में आया हुआ—

'ध्वनि: स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।
अल्पो महांश्च, केषाञ्चिदुभयं तत्स्वभावत:॥'

यह श्लोक स्फोटायन का है। इससे स्पष्ट है कि उनका कोई व्याकरण ग्रन्थ अवश्य था।

महाभारत के खिलांश हरिवंशपुराण, श्रीमद्भागवत और गर्गसंहिता में 'स्फोट' शब्द का व्याकरणानुसारी प्रयोग मिलता है। यथा—

१. 'अक्षराणामकारस्त्वं स्फोटस्त्वं वर्णसंश्रय:' ॥ ५५ ॥

—हरि० पु०, अध्याय ८८

२. (क) 'दिशां त्वमवकाशोऽसि दिशः खं स्फोट आश्रयः'।

—श्रीमद्भा० १०।८५।९

(ख) 'शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक।'

—श्रीमद्भा० १२।६।४०

३. 'व्यङ्ग्येन वा न नहि लक्षणया कदापि,
स्फोटेन[1] यच्च कवयो न विशन्ति मुख्याः।
निर्देशभावरहितं प्रकृतेः परं च
त्वां ब्रह्म निर्गुणमलं शरणं व्रजामः' ॥ १७ ॥

—गर्ग०, गोलोकखण्ड, अ० ३

यह ध्यान रखना चाहिए कि आचार्य औदुम्बरायण, जो स्फोटायन से भी प्राचीन हैं तथा यास्क, जो पाणिनि से पूर्ववर्ती हैं, बुद्धिस्थ नित्य शब्द को मानते हैं। ये स्फोट की चर्चा नहीं करते। भर्तृहरि ने महाभाष्यदीपिका में 'येनोच्चारितेन–' की व्याख्या में नित्य शब्द-सम्बन्धी तीन मतों का उल्लेख किया है। वे कहते हैं—

अत्रानेकं दर्शनम्। केचिन्मन्यन्ते— (१) 'योऽयमुच्चार्यते क्रमवान् अवरः कश्चिदन्योऽक्रमः शब्दात्मा बुद्धिस्थो विगाहते। तस्मादर्थप्रतिपत्तिः। कुतः ? यथैवार्थान्तरनिवन्धनो नार्थान्तरं प्रत्याययति एवं स्वरूपनिवन्धनो नोत्सहते प्रत्याययितुम्।'

इस विषय में अनेक मत हैं—

(१) कुछ लोगों की मान्यता है कि 'जिस क्रमवान् शब्द का उच्चारण किया जाता है वह निचले स्तर का है; उससे भिन्न कोई अक्रम शब्दरूप है, जो बुद्धि में व्यापक रूप से स्थित रहता है, उसी से अर्थ का ज्ञान होता है। कैसे ? जैसे अर्थान्तर का बोध कराने वाला शब्द उससे भिन्न अर्थ का बोधक नहीं होता, वैसे ही स्वरूपार्थात्मक शब्द अपने से भिन्न शब्दार्थ का बोध कराने में उद्यत नहीं होता।'

यह मत स्फोट दर्शन से प्राचीन है और सम्भवतः औदुम्बरायण, वार्तक्ष और यास्क का यही मत था।

भर्तृहरि दूसरे मत का प्रस्तुत रूप में उल्लेख करते हैं—

(२) अन्ये मन्यन्ते—'यथा वर्णेषु वर्णतुरीया भागा वर्णजातिं व्यञ्जयन्ति एवं वर्णा वाक्यान्तरेषु ये क्रमजन्मानः अयुगपत्कालास्ते तां पदस्था वर्ण-

---

१. यहाँ 'स्फोटेन' का तात्पर्य है—'अभिधा द्वारा'। यही स्फोट का वास्तविक अर्थ है, क्योंकि वाचकता उच्चरितप्रध्वंसी वर्ण-समुदाय में नहीं है, किन्तु उसके अधिष्ठान स्फोट में है।

(पद ?)जातिमभिव्यन्जयन्ति । वृक्षशब्दो वृक्षत्वम् । जातेरर्थस्य प्रतिपत्तिः । एतच्चार्थस्वरूपं स्फोटः, अयमेव शब्दात्मा नित्यः । ये तु क्रमजन्मानः अयुगपत्कालास्ते व्यक्तयो ध्वन्यात्मानस्ते इति ।'

'जैसे वर्णों में वर्ण के तुरीय (चौथाई) भाग—परमाणु सदृश अवयव-भेद, विद्यमान होकर वर्ण-जाति को अभिव्यक्त करते हैं; उसी प्रकार विविध वाक्यों में विद्यमान पदों में स्थित क्रमजन्मा तथा अयुगपत्कालिक या उच्चरित प्रध्वंसी वर्ण पद-जाति को व्यक्त करते हैं। जैसे—वृक्ष शब्द वृक्षत्व (वृक्ष-शब्दत्व) रूप जाति को व्यक्त करता है; (यह जाति ही स्फोट है—'अनेक-व्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृता') और इस स्फोतमक जाति से अर्थ का बोध होता है। यह शब्दस्वरूपार्थ या जाति वर्ण, पद और वाक्य रूप स्फोट है और यही नित्य शब्दात्मा है। जो क्रमजन्मा एक साथ न रहने वाली वर्ण-पदात्मक व्यक्तियाँ हैं, वे ध्वन्यात्मक है।

यह स्फोटवादी वैयाकरणों का मत है। 'नित्याः शब्दार्थसम्वन्धाः–' (वा० प० ब्र० का २३) की वृत्ति में भर्तृहरि ने कहा है—'केचित्तु प्रतिवर्णं, प्रतिपदं प्रतिवाक्यं चैक एवायं शब्दात्मा क्रमोत्पन्नावयवरूपप्रत्यवभासः प्रकाशत इति मन्यन्ते।'

इस पर श्रीवृषभाचार्य टीका करते हैं—'केचित्तु इति। निरवयवस्फोट-वादिनः। प्रतिवर्णम् इति। वर्णा अपि परमाणुकल्पेनावयवभेदेन भिन्ना, तथा पदं वर्णभेदेन तथा वाक्यं पदभेदेन इति। स (भेदः) वर्णपदवाक्यस्फोटेपु नास्ति, निरवयवा वर्णपदवाक्यस्फोटाः। तैस्तु भागवद्भिर्ध्वनिभिरक्रमः स्फोटो-ऽभिव्यज्यते।'

इसके अतिरिक्त भर्तृहरि 'न वर्णव्यतिरेकेण–' (७२) की वृत्ति में कहते हैं—

'तेषामपि (वर्णानाम्) सावयवत्वात् क्रमप्रवृत्तावयवानामाव्यवहार-विच्छेदात् तुरीयतुरीयकं किमव्यपदेश्यं रूपं व्यवहारातीतमस्तीति—।'

'वर्णानां त्वव्यपदेश्यानि व्यवहारातीतानि भिन्नरूपाभिमतानि अकारादीनां तुरीयाणि प्रतिपादकानि कल्पितानि।' —कारिका ७३ की वृत्ति

वृत्ति में 'केचित्' शब्द से निरवयवस्फोटवादियों का ग्रहण किया गया है। उनके मत में वर्ण भी परमाणु सदृश अवयवों के भेद से भिन्न होते हैं, उसी प्रकार वर्णरूप अवयवों के भेद से पद तथा पदरूप अवयवों के भेद से वाक्य भी भिन्न होते हैं। वह भेद वर्ण, पद और वाक्य स्फोटों में नहीं होता।

वे निरवयव होते हैं। उन विभक्त ध्वनियों से क्रमहीन स्फोट की अभिव्यक्ति होती है।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में अन्यत्र भी कहा है—'वर्ण सावयव होते हैं और वे अवयव क्रमिक रूप में प्रवृत्त देखे जाते हैं। उनके चौथाई अंश का भी चौथाई अंशात्मक संज्ञा हीन रूप होता है, जो व्यवहार में नहीं आता।'

वस्तुतः वर्णों के अवयवों का व्यवहार 'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्' (पा० १।२।३२) 'वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते,' आदि शास्त्रों तक ही सीमित है, लोक में उनकी प्रतीति नहीं होती।

व्यक्तियों द्वारा अभिव्यङ्ग्य जाति ही स्फोट है—इसका विस्तृत विवेचन ब्र० काण्ड, कारि० ९३ की वृत्ति में द्रष्टव्य है।

(३) तीसरा मत है कि शब्द दो शक्तियों वाला होता है। वह आत्मप्रकाशन और अर्थप्रकाशन में भी समर्थं होता है। जैसे प्रदीप अपने को प्रकाशित करता हुआ निहित अर्थों को भी प्रकाशित करता है। जो आध्यात्मिक इन्द्रिय नामक प्रकाश है, वह अपने को प्रकाशित न करते हुए बाह्य अर्थ को प्रकाशित करता है, अतः 'उच्चारितेन' की उभयथा व्याख्या की जाती है।

'अन्ये मन्यन्ते—द्विशक्तिः शब्द आत्मप्रकाशनेऽर्थप्रकाशने च समर्थः। यथा प्रदीपः आत्मानं प्रकाशयन् निध्यर्थान् प्रकाशयतीति। यस्त्वाध्यात्मिकः इन्द्रियाख्यः प्रकाशः स आत्मानमप्रकाशयन् बाह्यमर्थं प्रकाशयतीति अतो ग्रन्थो येनोच्चारितेनेति उभयथा वर्ण्यते। येनोच्चारितेन प्रकाशितेन अथवा येनोच्चरितेनेति।'

—महाभाष्यदीपिका

सम्भवतः यह मत[1] 'प्रकाशाप्रकाशयोः प्रकाशयिता शब्दाख्यः प्रकाशः' से उद्भूत है। इसका तात्पर्य है—जातवेदा अग्नि तथा आन्तरिक बुद्धि रूप प्रकाश एवं घट-पटादि अप्रकाशरूप बाह्य अर्थों को प्रकाशित करने वाला साधु शब्दरूप प्रकाश है। व्यवहार-नित्यता के आधार पर यह नित्य है। यहाँ कूटस्थनित्यता नहीं है, किन्तु प्रयोग का अविच्छेद ही नित्य कहलाता है।

प्रस्तुत मत से सम्बद्ध साधु शब्द आध्यात्मिक नहीं है, किन्तु बाह्य है। परम्परा के अविच्छेद से प्रयोक्ताओं में नित्य रूप से प्रवृत्त देखा जाता है। साधु शब्दों की उत्पत्ति के विषय में कालात्मक प्रथम कोटि की उपलब्धि सम्भव नहीं, क्योंकि कोई ऐसा काल नहीं जब साधु शब्दों का प्रयोग न किया जाता रहा हो।

---

१. ब्रह्मकाण्ड, १२वें श्लोक की वृत्ति में उद्धृत। सम्भव है यह उद्धरण व्याडि के 'संग्रह' का हो।

शौनक द्वारा ऋक्प्रातिशाख्य में अनेकधा स्मृत, लक्षश्लोकात्मक संग्रह नामक महान् ग्रन्थ के रचयिता दाक्षायण व्याडि के जो सन्दर्भ उपलब्ध हैं, उनमें एक श्लोक पठित है—

'स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते'। यद्यपि सार्वत्रिक पाठ 'शब्द-स्य ग्रहणे' ही है, फिर भी नागेश द्वारा गृहीत पाठ उक्त श्लोकस्थ है। इससे स्पष्ट है कि चतुर्दशसहस्र पदार्थों की समीक्षा करने वाले व्याडि ने निश्चय ही स्फोट की विस्तृत विवेचना की होगी। सम्भव है भर्तृहरि द्वारा उद्धृत 'स्फोटः शब्दः ध्वनिस्तस्य व्यायाम (माद्) उपजायते' यह श्लोक-वार्तिक व्याडि का ही हो। अथवा कोई अन्य प्राचीन श्लोकवार्त्तिककार हो सकता है।

पतञ्जलि ने वर्णादि ध्वन्यात्मक शब्द के अधिष्ठान को—आश्रय को, स्फोट माना है। ह्रस्वादि वर्ण और द्रुतादि वृत्तियाँ तो स्फोटात्मक आधार पर ही आती जाती रहती हैं। यह बात 'तर्हि [1]स्फोटः शब्दः, ध्वनिः शब्दगुणः' से स्पष्ट है। मूल वाचकता स्फोट में ही रहती है; और इसी के आधार पर पदादि में वाचकता आती है। स्फोटात्मक शब्द से ही अर्थ का बोध होता है—यह बात प्रारम्भ में ही 'येनोच्चारितेन—' इस सन्दर्भ द्वारा पतञ्जलि ने कही है। अथवा लोकप्रसिद्ध जो शब्द है, वही इस प्रसङ्ग में शब्द शब्द से ग्रहण करना चाहिए—यह भर्तृहरि का कथन है।

'एवमिहापि गौरित्यत्र कः शब्द इति नैवायं प्रष्टव्यः। प्रसिद्ध्युपरोधात्। य एव प्रसिद्धः शब्दः तस्यैव शब्दशब्देन ग्रहणम्।' —महाभाष्यदीपिका

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि भर्तृहरि के समय में 'येनोच्चारितेन—' इस सन्दर्भ गत शब्द शब्द के सम्बन्ध में तीन व्याख्यान प्रचलित थे, जिनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। बुद्धिस्थ नित्य शब्द, स्फोटात्मक नित्य शब्द अथवा व्यवहार-परम्परा से प्राप्त नित्य शब्द अर्थ का बोधक अवश्य है—यह महाभाष्यदीपिका से पूर्णतया स्पष्ट है। पाश्चात्य भाषावैज्ञानिकों एवं तदनु-यायी एतद्देशीय जनों द्वारा यह कहना कि पतञ्जलि ने कहीं भी निःसन्दिग्ध या स्पष्ट रूप में स्फोट को अर्थ का वाहक नहीं माना है; वे स्फोट को केवल वागभिव्यक्ति का आकार (Structure of the expressions) मानते हैं, असंगत हो जाता है।

हाँ, पतञ्जलि की शब्द-सम्बन्धी जो द्वितीय परिभाषा है, वह केवल अव्यक्तध्वन्यात्मक शब्द से सम्बन्ध रखती है, लोकप्रसिद्ध अर्थबोधक शब्द से नहीं; जैसा कि उद्योतकार नागेश एवं तदनुयायी मानते हैं। कैयट ने तो इतना

१. 'तपरस्तत्कालस्य' (पा० १।१।७०) सूत्र का भाष्य।

ही कहा था कि अन्यत्र ध्वनि और स्फोट के बीच भेद व्यवस्थापित है, अतः यहाँ अभिन्न रूप से व्यवहार में कोई दोष नहीं है। किन्तु नागेश कहते हैं—

'लोके व्यवहर्तृषु पदार्थबोधकत्वेन प्रसिद्धः श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वाद् वर्णरूपध्वनिसमूह एव शब्द इत्यर्थः। तस्यार्थबोधकताप्यविचारितरमणीयस्यैव लोके प्रसिद्धा। तादृशस्यैव शास्त्रेणान्वाख्यानमिति तात्पर्यम्।

लोक में व्यवहार करने वालों के बीच पदार्थ बोधकरूप में प्रसिद्ध कर्णेन्द्रियग्राह्य होने से वर्णरूप ध्वनि-समूह ही शब्द है। अविचारितरमणीय उस शब्द की अर्थबोधकता भी लोक में प्रसिद्ध है। वैसे ही शब्द का शास्त्र द्वारा अन्वाख्यान किया जाता है।

प्रतीत होता है कि नागेश को भर्तृहरि की टीका देखने को नहीं मिली, अन्यथा वे ऐसा न लिखते। भर्तृहरि स्पष्ट कहते हैं—

'प्रतीतपदार्थकतामाह—शब्दं कुरु। मा शब्दं कार्षीः। शब्दकार्ययं माणवक इति ध्वनिं कुर्वन्नुच्यते।

'शब्द करो' आदि उदाहरण, ध्वनि (अव्यक्त शब्द) को प्रतीत पदार्थ कहते हैं; घट-पटादि अर्थों को नहीं। इससे पूर्व भर्तृहरि ने प्रतीत पदार्थ की व्युत्पत्ति दी है—

'शब्द इत्येतस्य प्रतीतः पदार्थः ध्वनिः। ध्वनिरस्याभिधेयः।'

शब्द का प्रतीत पदार्थ ध्वनि है। ध्वनि ही शब्द का अभिधेय है। स्पष्ट है कि यह परिभाषा अव्यक्त शब्द को ही लेकर है; लोकप्रसिद्ध वर्णात्मक शब्द को लेकर नहीं।

भाषावैज्ञानिकों का यह कथन कि पतञ्जलि और भर्तृहरि ने स्फोट को अभिधायक या अर्थबोधक कहीं स्पष्टरूप से नहीं लिखा, उन्होंने तो वर्णानुक्रम या इकाईरूप ध्वनि (फोनीमिक सीक्वेन्स, यूनिट साउण्ड) मात्र कहा है। उस स्फोट में कोई रहस्यमयता नहीं है।

आश्चर्य है कि महामनीषी भगवान् शङ्कराचार्य ब्र० सू० भाष्य के देवताधिकरण में पूर्वपक्ष के रूप में 'नादैराहितबीजायां—' इस वा० प० ब्रह्मकाण्ड की कारिका का अनुवाद करके अन्त में समाहार करते हुए कहते हैं—

'तस्मान्नित्याच्छब्दात् स्फोटरूपादभिधायकात् क्रियाकारकफललक्षणं जगदभिधेयभूतं प्रभवतीति।' —१।३।८।२८ सूत्रभा०

अतः स्फोटरूप नित्य शब्द, जो अभिधायक या अर्थबोधक है, उससे क्रिया, कारक और फलरूप अभिधेयात्मक चराचर जगत् और वाङ्मय जगत् उत्पन्न होता है।

इससे स्पष्ट है कि वे स्फोट को अर्थबोधक मानते हैं और उनके इस ज्ञान के स्रोत हैं—पतञ्जलि और भर्तृहरि। यदि किसी व्यक्ति ने केवल दीपक का वर्णन किया हो तो क्या उससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वह दीपक द्वारा अन्धकार के विनाश और घट-पटादि अर्थों की अभिव्यक्ति को स्वीकार नहीं करता ?

मण्डनमिश्र ने 'अर्थावसायप्रसवनिमित्तं—शब्द इष्यते' (स्फोटसिद्धि, श्लो० ३) द्वारा 'येनोच्चारितेन–' का अनुसरण करते हुए अर्थबोधकता के निमित्त रूप में पद या वाक्य स्फोटात्मक शब्द को ही कहा है। यह बात उनके प्रस्तुत अन्तिम श्लोक से ज्ञात होती है—

'निरस्तभेदं पदतत्त्वमेतद् व्यादर्शि युक्त्यागमसंश्रयेण।
विधूतभेदग्रहमेतयैव दिशा परं सम्प्रति यन्त्वभेदम् ॥ ३६ ॥

—स्फोटसिद्धि

वर्णात्मक भेदों से रहित पदस्फोट को मैंने युक्ति और आगम के आधार पर दिखलाया है; इसी प्रकार वर्ण और पद–भेदग्रह रहित अन्य निरवयव वाक्य-स्फोट को भी लोगों को जानना चाहिए।

'नादैराहितबीजायां–' यह कारिका (वा० प० ब्रह्मकाण्ड ८४) और इसकी वृत्ति मण्डनमिश्र द्वारा व्याख्यात है, जो प्रस्तुत प्रसङ्ग में विशेषतः द्रष्टव्य है। यथा—

'यतः प्रत्येकमपि तेऽविकलं स्फोटात्मानमभिव्यञ्जयन्ति। न चेतरनाद-वैयर्थ्यम्, अभिव्यक्तिभेदात्। तथा हि—पूर्वे ध्वनयोऽनुपजातभावनाविशेषमनसः प्रतिपत्तुरव्यक्तरूपोपग्राहिणीः, उत्तरव्यक्तपरिच्छेदोत्पादानुगुणभावनाबीज-वापिनीः प्रख्याः प्रादुर्भावयन्ति। पश्चिमस्तु पुरस्तनध्वनिनिबन्धनाव्यक्तपरिच्छेद-प्रभावितसकलभावनाबीजसहकारि स्फुटतरविनिविष्टस्फोटबिम्बमिव प्रत्यय-मतिव्यक्ततरमुद्भावयन्ति।'

अर्थात् 'गौश्चरति' यह अखण्ड वाक्यस्फोटात्मक शब्द है। बुद्धि में इसकी अवधारणा किस प्रकार होती है, यह बतलाते हैं—

क्योंकि वे प्रत्येक गकार, औकार, विसर्ग, चकार और अकारादि ध्वनियाँ (वर्ण) अविकल सम्पूर्ण 'गौश्चरति' इस स्फोटात्मक शब्द को अभिव्यक्त करती हैं। तात्पर्य यह है कि गकार से ही अविकल स्फोट अभिव्यक्त होता है, किन्तु अग्रिम औकार आदि ध्वनियाँ व्यर्थ नहीं हैं, क्योंकि अभिव्यक्ति में भेद होता है। पहली ध्वनि से जो अविकल वाक्यस्फोट व्यक्त होता है, वह अस्फुट होता है; पुनः द्वितीय ध्वनि से स्फुट, तृतीय से स्फुटतर और चतुर्थ से स्फुटतम आदि।

सबसे अन्तिम ध्वनि से पहले होनेवाली ध्वनियाँ, जिसके मन में अभी भावना या संस्कार-विशेष की उत्पत्ति नहीं हुई है, ऐसे श्रोता की बुद्धि में स्फोटात्मक शब्द के अविकल अव्यक्त रूप को ग्रहण कराने वाले तथा उत्तरोत्तर व्यक्त रूप की उत्पत्ति के अनुरूप भावनाबीजों को बोने वाले (प्रख्याः) प्रत्यक्ष ज्ञानों को प्रकट करती है। और सर्वान्तिम ध्वनि प्राक्तन ध्वनियों से जनित अव्यक्त स्फोट के विशिष्ट रूपों से प्रभावित सकल भावनाबीजों को लेकर स्फुटतर रूप से विनिविष्ट है स्फोटात्मक बिम्ब जिसमें, ऐसे अत्यन्त व्यक्ततर स्फोट के ज्ञान को उद्भावित करती है।

कारिका में 'आवृत्त[1] या आवृत्तिपरिपाकायां' की बोधगम्य व्याख्या न तो वृत्ति में उपलब्ध है और न ही पद्धति में। श्रीवृषभाचार्य ने केवल व्युत्पत्तिमात्र दी है—'आवृत्तः परिपाको यस्यामिति विग्रहः।' हाँ, ऋषिपुत्र परमेश्वर ने स्फोटसिद्धि की टीका में अवश्य स्पष्ट किया है। यथा—

'आवृत्तोऽभ्यस्तः परिपाको यस्याः सा तथोक्ता। प्रथमेन ध्वनिना किञ्चिद्भावनाबीजमाहितं तेन च कश्चित् परिपाकः कार्यजननशक्तिविशेषः (कार्योत्पादनं प्रति विशिष्ट आत्मलाभः—श्रीवृषभ); एवं द्वितीयेन।'

अभ्यस्त है=बारम्बार घटित है परिपाक या कार्योत्पादन शक्ति-विशेष जिसमें। वस्तुतः परिपाक बीज का होता है, बुद्धि का नहीं; किन्तु बुद्धि से अव्यतिरिक्त होने के कारण बुद्धि का परिपाक कहा गया है। पद या वाक्य की प्रथम ध्वनि से स्फोट भावना का बीज बुद्धि में डाला जाता है और उससे स्फोट का कोई परिपाक या अविशिष्टरूप प्रत्यक्ष हुआ। पुनः दूसरी ध्वनि से, फिर तीसरी, चौथी, पाँचवीं आदि से एक ही सम्पूर्ण स्फोटात्मक शब्द के बारम्बार परिपाक या रूपवैशिष्ट्य की घटना वाली बुद्धि में वास्तविक पद या वाक्यस्फोट की अवधारणा होती है।

तात्पर्य यह है कि परिपाक भिन्न-भिन्न होते हैं। परिपाक का अर्थ है—स्फोट का रूप वैशिष्ट्य लाभ। यह एक-एक ध्वनि से विशिष्टतर, विशिष्टतम रूप में पुनः-पुनः होता है। इसीलिए 'आवृत्तः परिपाकः' कहा गया है। आवर्त्तन परिपाक का होता है। ऋषिपुत्र परमेश्वर ने 'आवृत्तपरिपाकायाम्' की अन्य व्याख्या भी प्रस्तुत की है—

'आवृत्तोऽवधारणविघ्नभूतस्य रागादिकषायस्य परिपाकः परिपाचनं यस्यामिति। आवृत्तेन वावृत्त्या कषायपरिपाको यस्यामिति। क्वचित् त्वावृत्तीति पाठः।'

—गोपालिका टीका, पृ॰ १३३

---

१. स्फोटसिद्धि के टीकाकार ऋषिपुत्र परमेश्वर ने दोनों पाठों का संकेत दिया है।

ज्ञान की विघ्नभूत रागादि मलिनता का परिपाचन जिसमें बार-बार हुआ है। अथवा आवर्त्तन या आवृत्ति से जिसमें कषाय का परिपाक हुआ है।

वस्तुत: 'आवृत्तपरिपाकायाम्' में ही रत्नतत्त्व की परीक्षा का दृष्टान्त भी निहित है, जिसे मण्डनमिश्र ने स्पष्ट किया है। जैसे—

'यथा रत्नपरीक्षिण: परीक्षमाणस्य प्रथमसमधिगमानुपाख्यातमनुपाख्येय-रूपप्रत्ययोपाहितसंस्कारविशेषायां बुद्धौ क्रमेण चरमे चेतसि चकास्ति रत्न-तत्त्वम्। न ह्यन्यथा स्फुटप्रकाश उपपद्यते पुर इव पश्चादपि विशेषाभावात्।'

—स्फोटसिद्धि।

कोई रत्न-परीक्षक जौहरी जब परीक्षा किये जाने वाले रत्न को हाथ में लेता है तो प्रथम विज्ञान (दर्शन) में वह रत्न कौन-सा है और कैसा है? इसका बोध नहीं होता। तब जौहरी उसे बार-बार देखता है। इस प्रकार उसकी बुद्धि में अव्यक्त रूपों वाले विज्ञानों से (दर्शनों से) रत्नसम्बन्धी संस्कार-विशेषों का आधान होता है। इस विधि से क्रमश: जौहरी के अन्तिम विज्ञान में (चरमे चेतसि) रत्न का वास्तविक रूप प्रकाशित होता है। यदि भिन्न-भिन्न विज्ञानों से विशिष्ट-विशिष्ट संस्कारों का आधान न माना जाय, तो रत्न की वास्तविकता का प्रकाशन नहीं होगा; क्योंकि पहले के विज्ञान और पिछले विज्ञान में कोई वैशिष्टय ही नहीं रहेगा।

पदस्फोट या वाक्यस्फोटात्मक शब्द तो रहे, किन्तु उसका अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध न माना जाय, यह एक विडम्बना ही है।

वाचस्पति मिश्र भी कहते हैं—

'तं (स्फोटं) च ध्वनय: प्रत्येकं व्यञ्जयन्तोऽपि न द्रागित्येव विशदयन्ति येन द्रागर्थधी: स्यात्। अपि तु रत्नतत्त्वज्ञानवद् यथास्वं द्वित्रिचतुष्पञ्चषड्-दर्शनजनितसंस्कारपरिपाकसचिव चेतोलब्धजन्मनि चरमे चेतसि चकास्ति विशदं पदवाक्यतत्त्वमिति प्रागुत्पन्नायास्तदनन्तरमर्थधिय उदय इति नोत्तरेषा-मानर्थक्यं ध्वनीनाम्।' —भामती, देवताधिकरण।

ध्वनियाँ (वर्ण) एक-एक करके उस स्फोट को व्यक्त करती हुई भी उसे तुरन्त स्फुट रूप नहीं दे पातीं, जिससे शीघ्र अर्थबोध हो जाय, किन्तु रत्न की वास्तविकता बोध के समान क्रमश: दो, तीन, चार, पाँच और छह दर्शनों से जनित संस्कारों के साथ चित्त में उत्पन्न अन्तिम विज्ञान में पदस्फोट या वाक्यस्फोट अत्यन्त स्पष्ट (विशद) रूप में प्रकाशित हो उठता है। इसके अनन्तर अर्थबोध का उदय होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर ध्वनियाँ भी अनर्थक नहीं होतीं।

स्फोट का खण्डन करते हुए शङ्कराचार्य 'शब्द इति चेन्नात:–' सूत्र के भाष्यान्त में कहते हैं—'वर्णाश्चेमे क्रमेण गृह्यमाणाः स्फोटं व्यञ्जयन्ति स स्फोटोऽर्थं व्यनक्तीति गरीयसी कल्पना स्यात् ।'

स्पष्ट है कि पतञ्जलि और भर्तृहरि दोनों स्फोट से अर्थबोध मानते हैं। भर्तृहरि ने 'यथानुपूर्वीनियमः–' (वा० प० प्र० काण्ड, का० ९१) की वृत्ति में स्पष्ट रूप से वाक्यस्फोट द्वारा वाक्यार्थ का बोध होता है—इसका प्रतिपादन किया है। यथा—

'तथैषामर्वाग्दर्शनानां प्रतिपत्तॄणां वाक्यरूपग्रहणपूर्वकेण वाक्यार्थग्रहणेन प्रधानेन प्रयुक्तानां नियतोपाये साध्ये तस्मिन्नर्थे नियतक्रमपरिणामभागाकार-प्रत्यवभासमात्रायुक्ता बुद्धयः प्रवर्तन्ते स्फोटेषु ।'

दूध और बीज के घी और वृक्ष रूप विकार की प्राप्ति के लिए उसके पूर्व नियत क्रम रूप आनुपूर्वी नियम देखा जाता है। अर्थात् दूध का घृत बनने से पहले मण्डक–दुग्ध का परिवर्तित साररूप, पुनः दधि, फिर तक्र, फिर नवनीत और अन्त में घी—यह अवस्था-क्रम निश्चित है। इसी प्रकार बीज क्रमशः नाल, अङ्कुर आदि अवस्थाओं को पार करके तण्डुल रूप विकार दशा को प्राप्त करता है। वैसे ही जो दिव्य-दृष्टिसम्पन्न नहीं हैं, ऐसे सामान्य लौकिक श्रोताओं की बुद्धियाँ वाक्यस्वरूपग्रहणपूर्वक वाक्यार्थग्रहण रूप प्रधान कार्य के लिए जिनका क्रम नियत है, ऐसे एक के अनन्तर दूसरे परिणाम रूप विभागों के आकार-प्रतीतियों से युक्त होकर वर्णस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोटों में प्रवृत्त होती हैं।

तात्पर्य यह है कि जैसे दूध का अन्तिम विकार घी है; बीज का चरम विकार वृक्ष है, वैसे ही वाक्यस्फोट का अन्तिम कार्य है—वाक्यार्थग्रहण। यह वाक्यार्थ[1] ग्रहण बीच की वागवस्थाओं को पार कर ही होता है। ये बीच की अवस्थाएँ हैं—वर्णस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट।

'स्फोट' इस शब्द में ध्वनि-धर्म और प्रकाश-धर्म विद्यमान हैं। वैयाकरणों ने प्रायः इसकी प्रकाशकता का उल्लेख किया है। शेष नारायण महाभाष्य की टीका 'सूक्तिरत्नाकर' में कहते हैं—

'अर्थस्य स्फोटनात् प्रकाशनात् स्फोटः प्रकाशः ।'

---

१. श्रीवृषभाचार्य कहते हैं—'बुद्धय इति। वृक्ष इति पदं प्रथमतो वकाररूपेण परिणतमवभासते। ततः ऋकाररूपेण, ततः ककाररूपेण; ततः षकाररूपेणेति। ततो वाक्यग्रहणपूर्विका वाक्यार्थप्रतिपत्तिरिति'।

वाक्यपदीय-ब्रह्मकाण्ड की कारिकाओं के ९ स्थलों में स्फोट शब्द का कण्ठरवेण प्रयोग हुआ है और वृत्ति में चौदह स्थानों पर। सबका विवरण प्रस्तुत ग्रन्थ में द्रष्टव्य है—

[1]'इदं पदमिदं वाक्यमिमे वर्णा इति त्रिषु।
प्रत्ययेषु स्फुटं स्फोट एक एवानुभूयते ॥ ९ ॥
यथा मणिकृपाणादौ मुखमेकमनेकधा।
तथैव ध्वनिषु स्फोट एक एव विभिद्यते ॥ १० ॥
स्फोटो वर्णातिरिक्तोऽपि तत्तादात्म्यमुपेयिवान्।
प्रत्ययो जायते तस्मादतो तद्वर्णरूषितः ॥ ११ ॥
पूर्वंपूर्वानुभूजन्यभावनासचिवेऽन्तिमे ।
चेतसि स्फुरति स्फोटो रत्नतत्त्वमिव स्फुटम् ॥ १२ ॥
नाधिष्ठानं विनाध्यस्तप्रतीतिरुपजायते।
तस्मात् परस्पराध्यास इति सर्वं समञ्जसम्' ॥ १३ ॥

—स्फोटतत्त्वनिरूपण, शेषकृष्ण

वाक्यपदीय का विवर्तवाद

मण्डनमिश्र ने विधिविवेक में प्रत्यास (अध्यास), विपरिणाम और विवर्त में भेद बतलाया है तथा न्यायकणिका टीका में वाचस्पति मिश्र ने इनके लक्षणों को स्पष्ट किया है। सम्भवतः इन्हीं का अनुसरण करते हुए भोजराज

---

१. यह पद है, यह वाक्य है, ये वर्ण हैं—इन तीनों प्रतीतियों में एक ही स्फोट का स्पष्ट अनुभव होता है।

जैसे—मणि, कृपाण और दर्पण आदि में एक ही मुख अनेक प्रकार का दिखलायी देता है, वैसे ही ध्वनियों में एक ही स्फोट भिन्न-भिन्न हो जाता है।

वर्णों से अतिरिक्त होने पर भी स्फोट वर्णों के साथ तादात्म्य लाभ करता है और उसी से अर्थज्ञान होता है। अतः यह स्फोट भिन्न-भिन्न वर्णों से उपरञ्जित होकर उपलब्ध होता है।

पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभव से जन्य भावना या संस्कारों के साहाय्य से युक्त अन्तिम विज्ञान (दर्शन) में स्फोट स्पष्ट रूप में रत्नतत्त्व के सदृश व्यक्त होता है।

अधिष्ठान के बिना अध्यस्त का ज्ञान नहीं होता; इसलिए स्फोट और वर्णों, पदों और वाक्यों का परस्पर अध्यास घटित होता है। इस प्रकार सब सङ्गत हो जाता है।

ने शृङ्गारप्रकाश में अध्यासादिक को पृथक् माना है। संक्षेपशारीरककार के अनन्तरवर्ती विद्यारण्य, सदानन्द आदि वेदान्तियों ने अध्यास और विवर्त को एक कर दिया है। विक्रम की ग्यारहवीं शती के आरम्भ में विद्यमान हेलाराज परिणाम से बहुत घबड़ाते हैं। वाक्यपदीय तृतीयकाण्ड की टीका में वे बारम्बार लिखते हैं—'न च परिणतिदर्शनाभिप्रायेणायं विकारशब्दः, अनित्यत्व-प्रसङ्गात्, अपि तु विवर्तपर्यायोऽयम्।' —जातिसमुद्देश

'नेदं साङ्ख्यनयवत् परिणामदर्शनम्, अपि तु विवर्तपक्षः।'—द्रव्यसमुद्देश

हेलाराज द्वारा निर्मित प्रथम काण्ड की टीका 'शब्दप्रभा' और द्वितीय काण्ड की टीका 'वाक्यप्रदीप' अब उपलब्ध नहीं है, अन्यथा अधिक स्पष्ट होता। प्रतीत होता है ये अतात्त्विक अन्यथाभाव को ही विवर्त मानते हैं, जैसा कि परवर्ती वेदान्ती। किन्तु इन लोगों का स्रोत कहाँ है, यह अब तक जाना नहीं जा सका था।

वस्तुतः अतात्त्विक अन्यथाभावरूप विवर्त काश्मीरिक क्रम सम्प्रदाय वाले आचार्यों के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। हो सकता है 'अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः' यह सन्दर्भ सदानन्द यति द्वारा वहीं से लिया गया हो? स्पन्दकारिका की टीका स्पन्दप्रदीपिका में त्रिविक्रमपुत्र उत्पलाचार्य ने 'संवित्प्रकाश' नामक ग्रन्थ से दो श्लोकों को उद्धृत किया है। यथा—

'इति निर्मलबोधैकरूपे देहपरिग्रहः।
विवर्तपरिणामाभ्यां द्वाभ्यामप्युपपद्यते॥
विवर्तेऽप्यतथाभूतस्तथा भासित्वमच्युत।
परिणामे स एव त्वं सुवर्णमिव कुण्डले॥'

यहाँ विवर्त अतात्त्विक अन्यथाभाव रूप ही प्रतीत होता है। 'संवित्प्रकाश' नामक रचना प्राचीन है। इसे अभिनवगुप्त ने भी 'तन्त्रालोक' में उद्धृत किया है। वहीं टीकाकार जयरथ ने इसके रचयिता का नाम वामनदत्ताचार्य बतलाया है। यह ध्यान रहे कि यह आचार्य अन्य[1] तीन वामनाचार्यों से भिन्न है।

उत्पलाचार्य ने सिद्धनाथ की 'अभेदकारिका' से भी एक श्लोक उद्धृत किया है, जो इसी प्रसङ्ग के अन्तर्गत है—

'नेत्थं विभोर्विवर्तोऽस्ति परिणामोऽपि न क्वचित्।
अथवा द्वयमप्यस्तु तथाप्यस्य न खण्डना॥'

---

१. काव्यालङ्कारसूत्रकर्ता, विक्रम की नवीं शती। वामनगुप्त—अभिनवगुप्त के पितृव्य। वाम—अज्ञात।

सकलागमचक्रवर्ती सिद्ध(सिद्धि)नाथ[१] का दूसरा नाम शम्भुनाथ भी था[२]। ये पृथ्वीधराचार्य के गुरु तथा अभिनवगुप्ताचार्य के भी गुरु थे। इनकी रचना क्रमस्तुति पर बारहवीं शती वि० के श्रीवत्स कालिदास ने चिद्गगन-चन्द्रिका नामक पञ्चिका ग्रन्थ लिखा था। वे अपने ग्रन्थ के अन्त में कहते हैं—

'सिद्धनाथकृतत्वत्क्रमस्तुतेः ।
कालिदासरचितां च पञ्चिकाम्' ॥ ३०५ ॥

इन्होंने इसी ग्रन्थ में शिवद्वयवादी एवं क्रमपरम्परावादी गुरुओं के नामों का भी निर्देश किया है, जिससे प्रतीत होता है कि ये बारहवीं शती विक्रमीय से पूर्व नहीं हो सकते। यथा—

'यः शिवात्प्रभृति सोमपश्चिमः त्वत्क्रमैकरसिको गुरुक्रमः।
आननाग्रमिह चक्रभानुतो, यस्त्वमेतदुभयं त्वया यया ॥ ३०० ॥

—चतुर्थ विमर्श।

शिवानन्दनाथ[३] (८वीं शती विक्रमीय) से लेकर सुमतिनाथ-शिष्य सोमानन्दनाथ[४] (१०वीं शती वि०) पर्यन्त जो गुरुओं का क्रम है तथा चक्रभानु[५] से लेकर चन्द्रानन तक जो तुम्हारे पञ्चार्थक्रम का एकमात्र रसिक गुरुक्रम है, ये दोनों तुम्हारे द्वारा उद्भूत एवं त्वद्रूप हैं।

---

१. 'श्रीसिद्धनाथ इति कोऽपि युगे चतुर्थे, प्रादुर्बभूव करुणावरुणालयेऽस्मिन्।
श्रीशम्भुरित्यभिधया स मयि प्रसन्नं चेतश्चकार सकलागमचक्रवर्ती' ।३७।
—पृथ्वीधर—भुवनेश्वरीस्तोत्र

२. इत्यागमं सकलशास्त्रमहानिधानाच्छ्रीशम्भुनाथवदनादधिगम्य सम्यक्।
शास्त्रे रहस्यरससन्ततिसुन्दरेऽस्मिन् गम्भीरवाचि रचिता विवृतिर्मयेयम् ॥

३. "यथैकः श्रीमान् वीरवरः सुगृहीतनामधेयो 'गोविन्दराजाभिधानः' श्रीभानुकाभिधानो द्वितीयः, श्रीमान् 'एरकसमाख्यः' तृतीयः, सममेवोपदेशं पीठेश्वरीभ्य उत्तरपीठलब्धोपदेशात् श्रीशिवानन्दनाथाल्लब्धानुग्रहाभ्यः श्रीकेयूरवती-श्रीमदनिका-श्रीकल्याणिकाभ्य प्राप्नुवन्तः।" (तन्त्रालोक टीका, जयरथ, आह्निक ४)

४. 'श्रीसुमतिनाथस्य श्रीसोमदेवः शिष्यः, तस्य श्रीशम्भुनाथः, इति ह आयाति क्रमविदः।' —जयरथ, प्रथम आह्निक।

५. 'श्रीकेयूरवतीतःप्रभृति श्रीचक्रभानुशिष्यान्तम्।
सन्ततयोऽतिनयस्य प्रथिता इह षोडशैवेत्थम् ॥'

—जयरथ, चतुर्थ आ०

सुप्रसिद्ध काश्मीरी कवि मङ्खक (१२वीं शती विक्रमीय का अन्त) ने अपनी रचना श्रीकण्ठचरित के अन्तिम पचीसवें सर्ग के ८२वें श्लोक में श्रीवत्स नामक समकालीन कवि का उल्लेख किया है।' इन्होंने अनेक पूर्ववर्ती तथा समकालिक कवियों का वर्णन किया है। वेदान्ती विवर्तवाद को इन्हीं आगमिक आचार्यों के ग्रन्थों में देखना चाहिए।

शङ्कराचार्य आदि नैगम परम्परा वाले प्राचीन आचार्यों का विवर्त परिणाम ही है, जो सुवर्ण के कुण्डल-कटकादिरूप परिणाम से मिलता है। ग्रन्थ के हिन्दी विवरण में विस्तार से बातें प्रस्तुत की गई हैं, जो वहीं द्रष्टव्य हैं।

[१]मण्डन मिश्र कहते हैं—स्फोटवादी का प्रतिकथन है कि जब तक एक अखण्ड शब्दात्मा का अध्यास, परिणाम अथवा विवर्त न माना जाय, तब तक अवस्तुओं अथवा अत्यन्त असद्भूत पदार्थों में एकवस्तु की प्रतीति नहीं होती।

'नन्वेवं जातीयकेष्वेवाभेदबुद्धेरेकशब्दात्मकत्वमुपागमन्। न ह्यवस्तुषु संसर्गसमूहात्यन्तासदादिषु संसर्गिषु वा नानात्मसु एकवस्तुप्रतिभासः सम्भवति विनैकस्य शब्दात्मनः प्रत्यासात् परिणामाद् विवर्ताद्वेति।'—विधिविवेक, पृ० २०४।

वाचस्पति मिश्र ने इस पर टीका की है—प्रत्यास अध्यास ही है। जैसे वस्तुतः स्वच्छ, श्वेत, स्थूल स्फटिक मणि पर लाक्षारस के गिराने से जिसकी धवलिमा तिरस्कृत हो गई है तथा लाक्षा गुण के आरोप से यह लाल स्फटिकमणि है, ऐसा जब ज्ञान होता तो इस ज्ञान को अध्यास कहते हैं; वैसे ही तिरस्कृत भेदवाले अनेक पदार्थों में उस स्फोटात्मक शब्द के तात्त्विक एकत्व का आरोप करके संसर्गात्मक एकवाक्यार्थ कहा जाता है। समूह में विद्यमान शिंशपा, अशोक और किंशुक आदि वृक्षों में जिनका पारस्परिक भेद तिरस्कृत हो गया है, वन अथवा समूह इस पद के तात्त्विक एकत्व का आरोप करके एकत्व बुद्धि उत्पन्न होती है। इसी प्रकार शश-विषाण आदि असद्भूत पदार्थों

---

१. ये मण्डन मिश्र न तो कुमारिलभट्ट के शिष्य हैं और न सुरेश्वर। यदि ये भट्ट के शिष्य होते तो उन्हें स्फोटसिद्धि में दुर्विदग्ध न कहते और न 'अहो, लोकशास्त्रप्रसिद्धियो परः परिचयः' कहकर उपहास करते।

सुरेश्वर ने बृहदारण्यकभाष्य-वार्तिक (४२२, चतुर्थ ब्राह्मण, तृ० अध्याय) में भट्ट के श्लोकवार्त्तिक (५४ जैमिनि सू० १।१।२ का अनुवाद करते हुए कहा हैं—'महद्भिरपि भाषितम्।' एक ओर दुर्विदग्ध कहना और दूसरी ओर महात्मा—ऐसा एक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं। (द्रष्टव्य—स्फोटसिद्धि और ब्रह्मसिद्धि की भूमिका, मद्रास युनि० संस्करण)

में 'शशिविषाण' इत्यादि पदगत सत्ता के अध्यारोप से प्रतीति होती है। यही प्रत्यास या अध्यास है।

परिणाम भी—जैसे एक ही सुवर्णतत्त्व कटक, मुकुट, कर्णिका और अङ्गुलीयक आदि के भेद से परिणत होता है, वैसे ही शब्दतत्त्व भी नाना पदार्थ-रूपों से परिणाम को प्राप्त होता है।

विवर्त—जैसे एक ही मुख अनेक मणि, कृपाण, दर्पण आदि सद्भूत पदार्थों में विशेष रूप से वर्तमान होकर उसकी छाया पड़ने पर भिन्न-भिन्न वर्ण, परिमाण और देशों में दिखलायी देता है; किन्तु वहाँ पृथक्-पृथक् वर्ण, परिमाण और देश वाले मुख नहीं होते। इसी प्रकार अनादि अविद्या की वासना रूप उपाधिवश एक ही पदतत्त्व अनेक पदों और अर्थों के रूप में प्रथित होता है; किन्तु वहाँ उससे भिन्न पद और अर्थ वस्तुतः नहीं होते।

'पुनः प्रकारान्तरेण परः (स्फोटवादी) प्रत्यवतिष्ठते—नन्वेवं जातीयक-मेवाभेदवस्तुबुद्धेः एकशब्दात्मकमुपागमन् धीराः। तथा हि—क्रियाकारकगुण-गुणिप्रयोजनप्रयोजनिप्रभृतिषु संसर्गिषु, समूहिषु वा शिंशपाशोकंकिशुकादिषु, संसर्गः समूहश्चैको वस्तुभूतश्चकास्ति, चकासति वा शशविषाणालातचक्रादयो-ऽवस्तुभूताः।

अथ संसर्गादय एव तद्वन्तो वा एकबुद्धेर्वस्तुबुद्धेश्च कस्मान्नालम्बनमित्यत आह—न ह्यवस्तुषु इत्यादि। संसर्गादयो हि न परमार्थसन्तः सम्भवन्ति।

न चैष संसर्गादिबाधकप्रकारः पदे निरवयवे समस्तीत्यत आह—विनैकस्य।

प्रत्यासोऽध्यासः—यथा वस्तुतः स्वच्छधवले लाक्षारसावसेकतिरस्कृतधव-लिम्नि स्थवीयसि स्फटिकमणौ तनीयस्तया लाक्षालक्षणद्रव्याग्रहणात् लाक्षा-गुणारोपेणारुणः स्फटिकमणिरिति मतिरध्यासः।

तथा नानापदार्थेषु तिरस्कृतभेदेषु तस्य स्फोटात्मनस्तात्त्विकमेकत्वमा-रोप्यैको वाक्यार्थः संसर्गात्मेति। समूहिषु च किंशुकादिषु च तिरस्कृतभेदेषु वनमिति वा समूह इति वा पदस्य तात्त्विकमेकत्वमारोप्यैकत्वबुद्धिः।

एवं शशविषाणादिष्वसद्भूतेषु शशविषाणमित्यादिपदगतसत्त्वाध्यारोपेण प्रतीतिरिति प्रत्यासार्थः।

परिणामेऽपि यथैकं सुवर्णतत्त्वं कटकमुकुटकर्णिकाऽङ्गुलीयकभेदेन विप-रिणमते तथा शब्दतत्त्वमपि नानापदार्थरूपेणेति। एतस्मिंश्च दर्शने भेदानां कथञ्चित्पदतत्त्वाद् भिन्नानां पारमार्थिकत्वम्। एवं स्फुरणमात्रेण चास्य पक्ष-स्योपन्यासः।

विवर्तस्तु यथा मुखमेकमनेकेषु मणिकृपाणदर्पणादिषु सद्भूतेषु विवर्तमानं तच्छायापत्तौ विभिन्नवर्णपरिमाणदेशं चकास्ति, न तु तत्र तत्त्वतो भिन्नवर्ण-

परिमाणदेशानि मुखानि सन्ति । एवमनाद्यविद्यावासनोपधानवशात् पदतत्त्व-मेकमनेकपदार्थात्मना प्रथते, न तु पदार्थास्ततो विभिद्यमानात्मानः परमार्थतः सन्तीति । एते प्रत्यासपरिणामविवर्ता मतभेदेन मन्तव्या इति ।—न्यायकणिका

वाक्यपदीयकार जगत् को शब्द का परिणाम मानते हैं । यह उनकी अपनी कल्पना नहीं है, यह वेदों की मान्यता है । अतः पहले छन्द या परवाक्-तत्त्व से ही यह जगत् विभिन्न रूपों में व्यक्त हुआ । 'शब्दस्य परिणामोऽयं–' यह कारिका इसमें प्रमाण है । विवर्त और परिणाम एकार्थक हैं । विशिष्ट रूपों में अवस्थान ही विवर्त है । इस बात को 'यथाहेः कुण्डलीभावः–' (साधन-समुद्देश, कारि० १०७) इस कारिका में स्पष्ट किया गया है ।

ऋषिपुत्र परमेश्वर ने मण्डनमिश्र की स्फोटसिद्धि के प्रथम श्लोक की व्याख्या गोपालिका में उद्धरण प्रस्तुत किया है—

द्वैतमाहुरिदं त्वन्ये ब्रह्मद्वयनिबन्धनम् ।
शब्दब्रह्मपरब्रह्मरूपेण ब्रह्मवादिनः ॥
शब्दब्रह्मैव तेषां हि परिणामि प्रधानवत् ।
वैखरीमध्यमासूक्ष्मावागवस्थाविभागतः ॥'

ये उद्धृत श्लोक कहाँ के हैं ? इसका पता नहीं, किन्तु इसमें स्पष्ट कहा गया है कि शब्दब्रह्म प्रकृति के समान परिणामी है । ध्यान रहे कि यह परि-णाम अविकृत परिणाम है ।

भोजराज ने भी अध्यास, विवर्त और परिणाम को पृथक्-पृथक् माना है । यथा—

"तर्हि शब्दात्पृथगर्थतत्त्वस्य व्यपदेष्टमनुभवितुं चाशक्यत्वात् शब्दस्यैवाय-मध्यासो विवर्तो विपरिणामो वाऽर्थो नाम नान्यः कश्चिदिति निश्चीयताम् । युक्तं चैतत्, नहि निरूपयन्तोऽपि शब्दाद्विभिन्नमर्थतत्त्वमुपलभामहे । अन्येऽपि चैवमाहुः—

'अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः ।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥
ग्रहीतृग्रहणग्राह्यमायापथपरिच्युताम् ।
नमामः परमानन्दज्योतीरूपां सरस्वतीम् ॥'

कः पुनरयं विवर्तो नाम ? एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य सन्निवेशविशेषादि-भिरसत्यं प्रविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः । तत्र यथा जलादयः कल्लोलादि-रूपेण, सर्पादयः कुण्डलादिरूपेण, नीलादयश्चित्रादिरूपेण विवर्तन्ते तथा शब्द-तत्त्वमविद्योपाधेस्तेन तेनार्थरूपेण तथा तथा विवर्तते ।"

—शृ० प्र० षष्ठ प्रकाश, पृ० २२०

१. 'तत्र जानतोऽप्यतस्मिंस्तदध्यारोपणमध्यासः ।'

२. 'वस्तुनः सन्निवेशविशेषेणावस्थानं विवर्तः ।'

३. 'वस्तुनोऽवस्थान्तरोपगमनं विपरिणामः ।'

—शृ० प्रकाश, सप्तम प्र०, पृ० २२४–२२५

जानते हुए भी अतद्रूपात्मक वस्तु में तद्रूप का अध्यारोप अध्यास है। 'जानते हुए' इस पद की यहाँ स्वीकृति भोजराज ने साहित्यिक प्रयोगों को दृष्टि में रख कर दी है। जैसे 'कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि च कनकलतिकायाम्'।

एक ही वस्तु की भिन्न-भिन्न आकारों में स्थिति विवर्त है। जैसे—'वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम्।

एक वस्तु का अवस्थान्तरों को प्राप्त होना विपरिणाम है। जैसे—

'य एते यज्वानः, प्रथितमहसो येऽप्यवनिपाः
मृगाक्ष्यो याश्चैताः कृतमपरसंसारिकथया।
अहो ये चाप्यन्ये फलकुसुमनम्रा विटपिनो,
जगत्येवंरूपा विलसति यदेषा भगवती ॥'

आचार्य अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी (१।२।८) में तीन प्रकार के परिणाम का उल्लेख किया है—१. कार्यपरिणाम, २. धर्मपरिणाम और ३. वृत्तिपरिणाम।

१. 'पूर्वरूपं हि तिरोदधत् कश्चित् परिणामः काष्ठभस्मवत्, स कार्यपरिणाम उच्यते।' पूर्वरूप जहाँ तिरोहित हो जाता है, उस परिणाम को कार्यपरिणाम कहते हैं। जैसे—काष्ठ का भस्म रूप परिणाम।

२. 'यस्तु अतिरोदधत्, स धर्मपरिणामो यः सिद्धाकारतया भाति सुवर्णस्येव कुण्डलता।' जिसमें पूर्वरूप का तिरोधान नहीं होता और जो सिद्ध आकार रूप में भासित होता है, वह धर्मपरिणाम है। जैसे—सुवर्ण का कुण्डल रूप परिणाम।

३. 'यस्तु अतिरोदधत् साध्याकारत्वेन गच्छति बुध्यते इति यथा, स वृत्तिपरिणामः। वर्तनं वृत्तिः परिणामविशेषः।' जो तिरोहित न होते हुए साध्य आकार रूप में वर्तमान रहता है, उसे वृत्ति-परिणाम कहते हैं। जैसे—'जा रहा है' 'जाना जा रहा है'।

भर्तृहरि-सम्मत विवर्त परिणाम ही है। जैसे सुवर्ण का कुण्डलादि परिणाम देखा जाता है, वैसे ही यह जगत् (अर्थरूप और वाग्रूप) शब्दब्रह्म का परिणाम है।

वाक्यपदीय के रचयिता भर्तृहरि तथा अन्य भर्तृहरि

इतिहास में चार भर्तृहरि चर्चित हैं—(१) ब्रह्मवित् प्रकाण्ड, शब्दब्रह्मवेत्ता आदि भर्तृहरि, (२) भट्टिकाव्य के रचयिता भर्तृहरि, (३) भागवृत्ति नामक अष्टाध्यायी की वृत्ति के कर्ता विमलमति भर्तृहरि और (४) गोरखनाथ के शिष्य राजा भर्तृहरि (विचारनाथ या भर्तृहरिनाथ)। इनमें विमलमति ही प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थकार हैं। सम्भवतः भूल से इत्सिंग (वि० सं० ७४९) ने तीनों को एक मानकर वाक्यपदीय के निर्माता आदि भर्तृहरि को बौद्ध एवं अपनी यात्रा से ४० वर्ष पूर्व उनकी मृत्यु का उल्लेख किया था। बौद्ध भर्तृहरि विमलमति ही हो सकते हैं। यहाँ सभी के समयादि की विवेचना की जाती है।

(१) आदि भर्तृहरि ने कुछ आचार्यों और एक राजा का उल्लेख अपने वाक्यपदीय ग्रन्थ की वृत्ति में किया है। इनमें से वार्ताक्ष,[१] वैंजि,[२] सौभव, हर्यक्ष और ध्यानकार[3] या ध्यानग्रहकार का अन्यत्र कहीं पता नहीं है। हाँ, औदुम्बरायण का उल्लेख निरुक्त,[४] तथा भरतमिश्र की स्फोटसिद्धि में तथा चन्द्राचार्य[५] का उल्लेख राजतरङ्गिणी में मिलता है। औदुम्बरायण यास्क से भी प्राचीन आचार्य हैं, अतः भर्तृहरि के काल-निर्णय में उनका योगदान सम्भव नहीं। हाँ, चन्द्राचार्य, जो कश्मीर-नरेश अभिमन्यु के समसामयिक थे, अवश्य ही भर्तृहरि की स्थिति की पूर्वसीमा को निर्धारित करते हैं। उक्त नरेश का समय विक्रम की द्वितीय शती माना जाता है। अतः यही समय चन्द्र का भी होगा। और इससे पूर्वतन भर्तृहरि नहीं हो सकते—यह सामान्यतया गवेषकों की मान्यता है।

वाक्यपदीय, काण्ड २ में ७७वीं कारिका से लेकर १५१ कारिका तक की वृत्ति नहीं मिलती। इसमें ७७ से लेकर ८७ कारिका की पुण्यराज कृत टीका में वृत्ति के उद्धरण उपलब्ध होते हैं। टीकाकार (महाभाष्य के टीकाकार भर्तृहरि) का नाम लेकर कहीं तो स्पष्ट रूप से और कहीं बिना नाम

---

१. 'दृष्ट्वा चतुष्ट्वं नास्तीति वार्ताक्षौदुम्बरायणौ।' —वा० प० २।३४२

२. 'वैजिसौभवहर्यक्षैः।' —वा० प० २।४७९

३. 'इति ध्यानकारदर्शनम्।' (२।२०८ की वृत्ति) और 'ध्यानग्रहकारेणोक्तम्।' —महाभाष्यदीपिका पृष्ठ २६१, पूना० सं०

४. 'इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः'—यास्कीय निरुक्त १।१। 'भगवदौदुम्बरायणाद्युपदिष्टाखण्डभावमपि—' भरतमिश्र, स्फोटसिद्धि।

५. 'चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वा देशात् तस्मात् तदागमम्।
प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम्॥ —राजतर० १।१७६

लिए ही पुण्यराज ने उनकी वृत्ति को प्रस्तुत किया है। कारिका ८७ की टीका में वे कहते हैं—'लोकेऽपि राजपुरुष इत्युक्ते कस्य राज्ञः, शूद्रकस्येति प्रश्नोत्तरयो राजपदार्थप्रविभागः।'

उक्त वाक्य वृत्तिकार का है, जिसे पुण्यराज ने अपनी टीका में ज्यों का त्यों रखा है। कारण ११वीं शती का लेखक अपने समसामयिक या कुछ ही पूर्ववर्ती किसी योग्य राजा का उल्लेख कर सकता था, सैकड़ों वर्ष पूर्व स्थित राजा नहीं। इस आधार पर यह निश्चय किया जा सकता है कि पूर्वोक्त वाक्य में शूद्रक का उल्लेख वृत्तिकार भर्तृहरि द्वारा ही किया जाना उचित है। इस निर्णय के पोषक उदाहरण पुण्यराज की टीका से उद्धृत किये जाते हैं—

१. 'तेषां च वितत्य सोपपत्तिकं सनिदर्शनं स्वरूपं पदकाण्डे लक्षणसमुद्देशे विनिर्दिष्टमिति ग्रन्थकृतैव स्ववृत्तौ प्रतिपादितम्।'

२. अथैषां निदर्शनार्थं लेशतः स्वरूपसहितान्युदाहरणानि टीकाकारेण प्रदर्शितानि। तत्र 'द्वयोरर्थिनोः कार्येण सम्भविना प्रयोजकत्वेन निर्ज्ञातसामर्थ्य-योर्यत्रान्यतरप्रयुक्तेनार्थेनापरोऽभिसम्बध्यमानः कृतार्थत्वात्'।

उद्धरण-चिह्नों के बीच आया हुआ उक्त वाक्यांश ज्यों का त्यों त्रुटित वृत्ति में उपलब्ध है।

३. तथा च टीकाकृता स्ववृत्तौ 'सा च तुल्यबलेष्वसम्भवादित्यादिना बहुप्रकारा दर्शिता।'

४. यथा प्रदर्शितं स्ववृत्तौ टीकाकारेण। 'विधिप्रतिषेधयोः खल्वपि तुल्य-बलत्वे—' आदि।

५. 'अप्यमी बहुप्रकारा न्यायाः पदार्थनिश्चयहेतवः सन्तीति प्रौढवादितया टीकाकारः प्रतिपादयितुमाह—प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम्' इत्यादि।—८४ से ८७ कारिका तक।

६. 'लोकेऽपि राजपुरुष इत्युक्ते कस्य राज्ञः, शूद्रकस्येति प्रश्नोत्तरयो राज-पदार्थप्रविभागः।' (कारि० ८६ की टीका का अन्त)

यह ध्यान रहे कि भर्तृहरि ने इन कारिकाओं को उद्धृत करके तद्गत न्यायों का व्याख्यान किया होगा, जिसके आधार पर पुण्यराज ने अपनी टीका लिखी।

मेरुतुङ्ग[1] ने प्रबन्धचिन्तामणि में भर्तृहरि को महाराज शूद्रक का भाई बतलाया है। राजा शूद्रक ब्राह्मण थे, यह ध्यान में रखना चाहिए। कहते हैं कि

---

१. द्रष्टव्य—पं० युधिष्ठिर मीमांसक का 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' पृ० ३४६।

ये किसी विक्रम संवत् के प्रवर्तक भी थे। 'कस्य राज्ञः ? शूद्रकस्य' इस उल्लेख से निश्चित है कि राजा शूद्रक भर्तृहरि के समकालिक हों या कुछ ही समय पूर्व। शूद्रक का समय अत्यन्त विवादग्रस्त है। विक्रम-पूर्व चतुर्थ शतक से लेकर विक्रम पश्चात् षष्ठ शतक के अन्त तक विभिन्न समयों में इनकी अवस्थिति की चर्चा सुनी जाती है। अब तक की गवेषणाओं से भर्तृहरि का काल विक्रम के पश्चात् चौथी शताब्दी निश्चित किया गया है।

इस सम्बन्ध में सब से बड़ा प्रमाण है—जैनाचार्य मल्लवादि क्षमाश्रण का 'द्वादशारनयचक्र' नामक ग्रन्थ। इसमें भर्तृहरि और उनके गुरु वसुरात का उल्लेख है। यह ग्रन्थ विक्रम के पञ्चम शतक में लिखा गया था—यह बात आचार्य विजयलब्धिसूरि के उपोद्घात से स्पष्ट है। यथा—

"तत्र तावद्द्वादशारनयचक्रकर्तायं तत्रभवान् मल्लवादिसूरिः कस्मिन् देशे कस्मिन् काले भुवनममुं मण्डयामासेति निर्णये नास्मदीयमभिमतमधुना किञ्चिदपि प्रकाश्यम्। प्रभावकचरितानुसारेण तु गृहस्थावस्थायां मल्लनामा दुर्लभदेवीतनयः सम्भवतो वल्लभीपुरवास्तव्य इत्यवगम्यते। तस्य सद्भावसमयस्तु—

'श्रीवीरवत्सरादथ शताष्टके चतुरशीतिसंयुक्ते।
जिग्ये स मल्लवादी बौद्धांस्तद्व्यन्तरांश्चापि॥'

इति विजयसिंहसूरिप्रबन्धगतेन गाथावृत्तेन श्रीवीरवत्सरात् (८८४) नवमशतकः, विक्रमाच्च (४१४) पञ्चमशतकोऽवगम्यते। हरिभद्रसूरिभिर्वैक्रमसप्तमशतककालीनैः स्वकीये ग्रन्थे मल्लवादी स्मर्यते। तथा मदुद्धृतभाष्यानुसारेण मल्लवादिसूरिभिर्व्याकरण-वाक्यपदीयकारिका भर्तृहरिविरचिता तत्सम्मतशब्दब्रह्मवादश्चोपन्यस्यते, भर्तृहरेश्च समयः ख्रिस्तीयसार्धत्रिशतात् सार्द्धचतुःशतवर्षमध्यगतः (३७०-४४० ए० डी०) इति बहूनां समय परिशोधकानां मतम्।"

हाजिम नकमुरा ने भी अपने ग्रन्थ—'A History of Early Vedanta Philosophy' के प्रथम भाग के पृष्ठ २९२ में कहा है—

Mallavadin, a Shvetambara scholar, lived from the end of 4th to the frist-half of the 5th century of the Vikrama era (Foreword p. vi). As the Vikrama era begins with 58 B. C., he lived, broadly speaking in the 4th century A. D.

इस आधार पर आदि भर्तृहरि का समय जैनाचार्य के समय से पर्याप्त पूर्व होना चाहिए; और यह समय विक्रम की चौथी शती के प्रारम्भ के बाद

का नहीं हो सकता। आचार्य मल्लवादी ने भर्तृहरि[1] और उनके गुरु वसुरात का नाम लेकर उनके मतों की स्थापना एवं खण्डन किया है।

वसुबन्धु और वसुरात का शास्त्रार्थ हुआ था। मान्यता है कि वसुबन्धु ३२०–४०० ई० में विद्यमान थे।

मल्लवादी के अनुसार वसुबन्धु का समय और पीछे जा सकता है। उक्त प्रमाणों के आधार पर शूद्रक के काल-सम्बन्धी मैक्डानल और पिशेल आदि के छठी शताब्दी वाले मत खण्डित हो जाते हैं।

पौराणिक[2] मतानुसार शूद्रक का समय विक्रम पूर्व पञ्चम शतक तक माना जाता है, क्योंकि वे आन्ध्रवंशीय स्वाति या शिवस्वाति के समकालिक थे। किन्तु पार्जिटर और उनके अनुयायी अधिकांश गवेषक विक्रम की द्वितीय[3] शती के पक्ष में हैं।

---

१. 'दर्शनोत्प्रेक्षाभ्यामर्थमभिधेयत्वेनोपगृह्य तत्र न्यग्भूतस्वशक्तिः बुद्धौ परिप्लवमानोऽयमित्थमनेन शब्देनोच्यत इत्यान्तरो विज्ञानलक्षणो शब्दात्मा श्रुत्यन्तरस्य बाह्यस्य ध्वन्यात्मकस्य प्रवृत्तौ हेतुः, सोऽभिजल्पाभिधेयाकार-परिग्राही बाह्याच्छब्दादन्य इति भर्तृहर्यादिमतम्। —लुप्तवृत्ति, पृ० ७७९।

'वसुरातस्य भर्तृहर्युपाध्यायस्य मतं तु—स च स्वरूपानुगतार्थरूपमन्तर-विभागेन सन्निवेशयति—

'अशक्तेः सर्वशक्तेर्वा शब्दैरेव प्रकल्पिता।
एकस्यार्थस्य निगता क्रियादिपरिकल्पना॥

—वाक्यपदीय कां० २, श्लो० १३३, पृ० ७८०।

2. According to Puranas Shudraka, ruled in the middle of the 5th century B. C. as Shivaswati ruled in 462–432 B. C. —History of Classical Sanskrit Literature. By M. Krishnamachariar. (p. 575)

3. If Satavahana Hala, the 18th in the Andhra line of kings, lived according to Pargiter about the beginning of the 1st century A. D., it is likely that Shudraka who chought it fit to ridecule Katantra grammar, was a contemporary of a king Swati or Shivaswati of Andhra dynasty, that king was Shivaswati, who ruled about 81 A. D. On this consideration Shudraka may be assigned to the end of the 1st century A. D. —Ibid.

चन्द्रबली पाण्डेय ने तो 'शूद्रक' नामक पुस्तक में वासिष्ठी-पुत्र पुलुमावि को ही शूद्रक मानने का आग्रह किया है। उन्होंने नासिक की गुहा में प्राकृत भाषा में खुदे हुए संवत् २०६ विक्रमीय (?) के शिलालेख को भी उद्धृत किया है। यथा—

'सिद्धं राज्ञो वासिष्ठीपुत्रस्य श्रीपुलुमावेः संवत्सरे एकोनविंशे—आदि' (छाया)।

चन्द्रकान्त बाली ने 'सम्मेलन-पत्रिका' (आश्विन–मार्गशीर्ष शक १८९६) में 'विक्रमादित्यों की परम्परा' नामक लेख प्रकाशित किया था। इसमें उन्होंने पहले जैनाचार्य यल्लयार्य के अनुसार शूद्रक का संवत् १९४५ कलिसंवत् में चला और उसके १०९८ वर्ष पश्चात्, अर्थात् कलिसंवत् ३०४३ (५८ ई० पूर्व) में विक्रम संवत् की स्थापना हुई—ऐसा लिखा है। इसके पूर्व यल्लयार्य के आधार पर ही शूद्रक का समय कलिसंवत् २६४५ अर्थात् ४५६ ई० पूर्व माना गया है। सम्भवतः स्कन्दपुराणीय काल-गणना को कलि संवत् मान लेने के कारण ऐसा उलट-फेर हुआ है। आगे चलकर उन्होंने शालिवाहन-पौत्र महेन्द्रादित्य-पुत्र, द्रौपदी गुप्त—साहसाङ्क श्रीविक्रमादित्य (६६ ई०) को शूद्रक का भाई लिखा है। शूद्रक के अन्य नाम हैं—इन्द्राणी गुप्त, विक्रमाङ्क, अग्निमित्र और विषमशील प्रथम। विक्रमादित्य उज्जयिनी में प्रतिष्ठित थे और राजा शूद्रक प्रतिष्ठानपुर में। इन्हीं के मध्यम सहोदर भर्तृहरि थे—ऐसा श्री युधिष्ठिर मीमांसक की 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास' नामक पुस्तक का प्रमाण देते हुए श्री बाली महोदय ने लिखा है। किन्तु गुणाढ्य[1] (बृहत्कथाकार) भी तो विक्रम की द्वितीय शती का व्यक्ति है। इसने एक कथा में राजा शूद्रक की चर्चा की थी। और इसी के आधार पर क्षेमेन्द्र तथा सोमदेव ने क्रमशः बृहत्कथामञ्जरी और कथासरित्सागर में शूद्रक की कहानी सन्निविष्ट की। बुधस्वामी[2] का 'बृहत्कथा-श्लोकसंग्रह' इनसे प्राचीन है, जिसका समय ५वीं

---

1. Gunadhya was born at Pratisthana on the Godavari. So says Kshemendra. × × ×

On an identification of Satavahana and Shalivahana it has been said by modern scholars that the patron of Gunadhya lived about 78th. A. D., the date of Shalivahana era.

—History of Classical Sanskrit Literature.

2. F. Laeote thinks that Budhswamin must have lived about the 5th Century A. D. —Ibid

या छठी शताब्दी कहा जाता है। यह ग्रन्थ नेपाली में केवल २८ सर्ग तक ही उपलब्ध है। कहा जाता है कि यह १०० सर्गों में विभक्त रहा होगा। अतः जो लोग ५वीं या छठी शताब्दी में गुणाढ्य को मानते हैं; वे निरस्त हो जाते हैं। तब शूद्रक को और पीछे जाना चाहिए।

चन्द्राचार्य भी विक्रम की द्वितीय शती (४५ से ६५ ई०) में विद्यमान कश्मीर-नरेश अभिमन्यु के समकालिक हैं—ऐसा माना जाता है।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड के अन्त में कहा है—

'पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः।
स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः॥
न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम्।
प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागमसङ्ग्रहः॥'

ये श्लोक यद्यपि मूल कारिकाओं में पठित हैं, किन्तु मेरी मान्यता है कि ये वृत्ति में पढ़े गये होंगे। मूल कारिकाएँ 'आगम-संग्रह' नाम से भर्तृहरि के गुरु वसुरात द्वारा लिखी गई होंगी।

चन्द्राचार्य की बौद्ध रूप में प्रसिद्धि हैं। इन्होंने निजी व्याकरणसूत्र तथा वृत्ति, लोकानन्द नाटक और शिष्यलेखाधर्मकाव्य (११४ श्लोकात्मक पत्र) तथा तारासाधनशतक लिखा था। तञ्जोर में ५५ अन्य छोटे ग्रन्थ चन्द्र के नाम से उपलब्ध होते हैं।

क्या बौद्ध चन्द्रदास ने ही महाभाष्य का उद्धार किया और अपना व्याकरण बनाया था, जिसका उल्लेख कल्हण ने किया है? सम्भव है। भर्तृहरि तो कहते हैं कि—"पतञ्जलि के शिष्यों से छूटा हुआ व्याकरणागम कालान्तर में दाक्षिणात्यों के बीच ग्रन्थमात्र रूप में शेष रहा। उस आगम को पर्वत से उपलब्ध करके भाष्य के बीजों का अनुसरण करने वाले चन्द्राचार्य प्रभृति विद्वानों ने अनेक शाखाओं में परिणत कर दिया। उनमें से मेरे गुरु (वसुरात) ने न्याय-प्रस्थानों के अनेक मार्गों का (पद्धतियों का) अभ्यास करके तथा अपने व्याकरण-दर्शन का भी अनुशीलन करके प्रस्तुत 'आगम-संग्रह' का निर्माण किया।"

वे ऐसा नहीं कहते कि चन्द्राचार्यादिकों ने महाभाष्य (लुप्त) का उद्धार किया और अपना व्याकरण बनाया। उनकी उक्ति है कि गहराई के कारण जिसकी थाह पाना सम्भव नहीं था और जो वचनों के सहज सौन्दर्य के कारण उथला-सा प्रतीत होता था—ऐसे महाभाष्य में अप्रवीण बुद्धि वाले उसे समझ नहीं सके। जो 'संग्रह' नामक व्याडि मुनि रचित महान् दार्शनिक ग्रन्थ का

कवच रूप था; शुष्क तर्क का अवलम्बन लेने वाले वैजि, सौभव और हर्यक्ष जैसे पण्डितों ने उस आर्ष-ग्रन्थ के अर्थ को उलट दिया।

रामभद्र दीक्षित[1] ने पतञ्जलिचरित में उज्जैन-निवासी ब्राह्मण चन्द्र का उल्लेख किया है, जिन्होंने गौडपाद द्वारा पूछे गये पच् धातु के निष्ठा का रूप अशुद्ध 'पचितम्' न बतलाकर 'पक्वम्' बतलाया था। प्रतीत होता है कि भर्तृहरि द्वारा उल्लिखित यही चन्द्राचार्य हैं। उक्त ग्रन्थ में निर्दिष्ट है कि पतञ्जलि के शिष्य गौडपाद थे और इनके चन्द्राचार्य। गौडपाद द्वारा ही इन्हें महाभाष्य की शिक्षा प्राप्त हुई थी। यह अलग बात है कि ये गौडपाद कौन है?

श्री एस० के० [2]वेल्वल्कर ने चन्द्राचार्य को वसुरात का गुरु बतलाया है और प्रमाण में भर्तृहरि के उन्हीं 'चन्द्राचार्यादिभिः पुनः' आदि दो श्लोकों का निर्देश किया है; किन्तु उन श्लोकों से यह सिद्ध नहीं होता।

इन्हीं के आधार पर ही श्रीकृष्णमाचार्य ने भी चन्द्राचार्य को वसुरात का गुरु बतलाया है।

शूद्रक का प्रस्तुत कृतियों में उल्लेख मिलता है—(१) स्कन्दपुराण, कुमारिका-खण्ड, गुणाढ्य की बृहत्कथा के अनुसार लिखित। (२) बुधस्वामी का बृहत्कथाश्लोकसंग्रह। (३) बाणभट्ट की कादम्बरी और (४) हर्षचरित। (५) दण्डी की अवन्तिसुन्दरीकथा (अवन्तिसुन्दरीकथासार, सम्पादक—हरिहर शास्त्री)। (६) दशकुमारचरित, उत्तरपीठिका, चतुर्थ उच्छ्वास। (७) राजशेखर की काव्यमीमांसा, दशम अध्याय। (८) रामिल और सोमिल द्वारा रचित 'शूद्रककथा' (९) विक्रान्तशूद्रक नाटक, सरस्वती

---

१. द्रष्टव्य—गोपीनाथ कविराज द्वारा लिखित 'शाङ्करवेदान्त और अद्वैत-प्रस्थान'। —भारतीय संस्कृति और साधना पृ० ९१

तथा—श्री उदयवीर शास्त्री का 'वेदान्तदर्शन का इतिहास पृ० ३०५।

2. This gives up 470 as the approximate date for Chandragomin. This result is further conforemed by the fact that Vasurat the preceptor of Bhartrihari acknowledged Chandracharya (Chandragomin) as his master. Chandragomin must have lived at least two generations before the author of the Vakyapadiya. All accounts, agree in staling that Chandragomin was a Boudha. He was one of the laity, and is not to be confesed with Chandradas who belonged to the order.

—Six Systems of Grammar. p. 45

कण्ठाभरण और शृङ्गारप्रकाश में उद्धृत। (१०) शूद्रककथा—पञ्चशिख प्रणीत-हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में उल्लिखित। (११) क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामञ्जरी और (१२) सोमदेव रचित कथासरित्सागर। (१३) क्षीरस्वामी की अमरकोष की टीका। (१४) विद्यापति की पुरुष-परीक्षा। (१५) साबनूर—कन्नड-जैन शिलालेख ११२८ ई० (लू० राइस) साबनूरु में मारिकट्टे के दक्षिण में पड़े हुए एक पाषाण पर उत्कीर्ण[1] है। इसके अतिरिक्त वामन के काव्यालङ्कारसूत्र (३।२।४) एवं कल्हण की राजतरङ्गिणी में भी शूद्रक का उल्लेख है।

अवन्तिसुन्दरीकथासार के अनुसार शूद्रक का मूल नाम इन्द्राणीगुप्त था तथा जाति द्विजोत्तम अर्थात् ब्राह्मण। वह अश्मक देश का निवासी था; विद्वज्जन उसे शूद्रक कहते थे। ब्रह्मश्री की अवज्ञा करके वह अनेक कष्टों के अनन्तर राजश्री को प्राप्त हुआ था। उसकी मुख्य पत्नी का नाम विनयवती था।

'आयुषोऽन्ते[2] स एवासावश्मकेषु द्विजोत्तमः।
इन्द्राणीगुप्त इत्यासीद् यं प्राहुः शूद्रकं बुधाः॥
अथावज्ञातया शप्तः प्रोज्य ब्रह्मश्रिया निशि।
राजश्रियमपायानामन्ते गन्ता भवानिति॥ ४।१७५-७६
—अव० कथासार।

कथासरित्सागर के अनुसार शूद्रक शोभावती नगरी का राजा था तथा तदन्तर्गत 'वेतालपञ्चविंशति' में वर्धमान नगर का तथा अनन्तकवि के [3]'वीरचरित' में प्रतिष्ठान (पैठण) का राजा बतलाया गया है।

---

१. 'वनधि-व्याप्तावनी-चक्रदोलति-सुभटं विक्रमायत्त-चित्तं मुनिसिंहमाराम्प-नाथं त्रिपुर-विजयिगं शूद्रकङ्गं'। —जैन-शिलालेखसंग्रह, भाग २, पृष्ठ ४३८।
चालुक्याभरण श्रीमत्त्रिभुवनमल्ल का पादपद्मोपजीवी राजा पाण्ड्य था, जिसने शिव, शूद्रक, फाल्गुन (अर्जुन), राम, सहस्त्रार्जुन, कृष्ण और भीम—इन सबको (गुणों से) जीत लिया था।

२. कोसलदेशवासी शौनक नामक ब्राह्मण ही मृत्यु के अनन्तर अश्मक देश में इन्द्राणीगुप्त नामक ब्राह्मण हुआ।

3. In Viracharika a heroic poem in 30 Adhyayas, Anant kavi narrates the events supposed to have taken place at Pratishṭhan (Prithar) on the Godavari in connection with Shalivahana and his son Shakti Kumar. Shudraka is described

चान्द्रव्याकरण, सूत्र २।४।३१ की वृत्ति में [१]'शूद्रक' यह नाम उल्लिखित है। शूद्रक की रचनाएँ हैं—(१) मृच्छकटिकम् और (२) पद्मप्राभृतकम् (भाण)। शूद्रक के पूर्वोक्त समयों की तालिका इस प्रकार है—

१. शूद्रक—स्कन्दपुराणीय कलिकाल-गणना के अनुसार ३२९० (कलि संवत्) १८९ ई० पूर्व।

२. यल्लयार्य के अनुसार २६४५ कलिसंवत् अर्थात् ४५६ ई० पूर्व।

३. कलियुग-राजवृत्तान्त के अनुसार ई० पूर्व पाँचवी शती।

४. पार्जिटर के अनुसार ई० की प्रथम शताब्दी अर्थात् विक्रम की द्वितीय शती।

उक्त शूद्रक-सम्बन्धी ऊहापोह आदि भर्तृहरि के समय-निर्धारण के लिए आवश्यक था।

पीठों की परम्परा के अनुसार यदि शङ्कराचार्य का समय ४५२ विक्रम-पूर्व (५०९ ई० पूर्व) माना जाय और भगवान् बुद्ध का समय विक्रम से १८०० वर्ष पूर्व, मौर्य राज्य प्रायः १५०० वर्ष पूर्व तथा प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक १३०० वर्ष विक्रम पूर्व से ६०० वर्ष विक्रम पूर्व माने जाये तो आदि भर्तृहरि का समय भगवान् शङ्कर से कुछ पूर्व होगा, क्योंकि उन्होंने भर्तृहरि को उद्धृत किया है। यथा—

'नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते॥'

—वाक्यपदीय-काण्ड १, कारिका ८४

स्फोट का खण्डन करने के लिए आचार्य शङ्कर उक्त कारिका का अनुवाद पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हैं—

---

as ths friend and afterwards co-regent of Shalivahana and of his son and when the latter attempted to disembarrass himself of his influence, he was overthrown and Shudraka himself became king.—History of Classical Sanskrit Literature. p. 574

१. पाणिनि ने गणपाठ के अश्वादिगण में 'शूद्रक' यह अभिधान पढ़ा है। सम्भवतः इसी के आधार पर चन्द्राचार्य ने भी इसे स्वीकार किया होगा। 'अश्वादिभ्यः फञ्' (पा० ४।१।११०) के अन्तर्गत पठित अश्वादि गण का विवरण देते हुए वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में कहा है—

'विश्वानरः पिङ्गलशूद्रकोत्सातवस्फुटा धन्वगदश्च विष्ठाः।'

—अध्या० १, श्लो० २४०

"तस्मात् स्फोट एव शब्दः । 'स चैकैकवर्णप्रत्ययाहितसंस्कारबीजेऽन्त्यवर्ण-प्रत्ययजनितपरिपाके प्रत्ययिन्येकप्रत्ययविषयतया झटिति प्रत्यवभासते ।' न चायमेकप्रत्ययो वर्णविषया स्मृतिः । वर्णानामनेकत्वादेकप्रत्ययविषयत्वानुपपत्तेः । तस्य च प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमानत्वान्नित्यत्वम् । भेदप्रत्ययस्य वर्णविषयत्वात् । तस्मान्नित्याच्छब्दात् स्फोटरूपादभिधायकात् क्रियाकारकफललक्षणं जगदभिधेयभूतं प्रभवतीति ।"

—ब्रह्मसूत्रभाष्य, अध्या० १, पाद ३, अधि० ८, सूत्र २८

भगवान् भर्तृहरि मीमांसा, वेदान्त और व्याकरण (प्रक्रिया और दर्शन) के महान् पण्डित थे । उनके वेदान्त ग्रन्थ का मुझे पता चला है और उसके कुछ श्लोक भी मिले हैं । इनका विस्तृत विवरण इसी भूमिका में द्रष्टव्य है । इनकी वेदान्त पुस्तक का नाम है—'धातुसमीक्षा', जो सोमानन्द की 'शिवदृष्टि' की टीका (उत्पलाचार्य कृत) में उद्धृत 'शब्दधातु-समीक्षा' से भिन्न हैं ।

'तत्त्वप्रदीपिका' (चित्सुखी) की प्रत्यक्स्वरूपाचार्य कृत 'नयनप्रसादिनी' टीका में 'धातुसमीक्षा' को भर्तृहरि का नाम लेकर उद्धृत किया गया है । कल्लटाचार्य की स्पन्दकारिका पर त्रिविक्रम-पुत्र उत्पलाचार्य की टीका 'स्पन्द-प्रदीपिका' में भी धातुसमीक्षा के श्लोक भर्तृहरि के नाम के साथ उद्धृत हैं । ये उत्पलाचार्य ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका और शिवदृष्टि के वृत्तिकार उदयाकर-सूनु उत्पलदेव से भिन्न हैं ।

आदि भर्तृहरि के ग्रन्थ हैं—वाक्यपदीयवृत्ति, महाभाष्यदीपिका, शतकत्रय,[1] शब्दधातुसमीक्षा और धातुसमीक्षा । ये वैदिकधर्मानुयायी ब्राह्मण थे । वाक्यपदीय में प्रसङ्गतः बौद्धमतों का उल्लेख हुआ है ।

---

१. शतकत्रय का मङ्गलाचरण-श्लोक 'दिक्कालाद्यनवच्छिन्न–' शब्दधातु-समीक्षा में उपलब्ध है, अतः प्रमाणित है कि शतकत्रय भर्तृहरि की ही रचना है । 'या चिन्तयामि सततं—' को आधार मानकर भर्तृहरि के सम्बन्ध में जो कथा कल्पित की गई है, वह कल्पना मात्र है । वैसे यह श्लोक सभी प्रतियों में नहीं मिलता और 'च इमां च' में सन्धि का अभाव भी गड़बड़ है । 'गण-रत्नमहोदधि' में १७६वें श्लोक की वृत्ति में आया है 'वार्तेव वार्तम्' यथा— 'हरिराकुमारमखिलाभिधानवित्–' यह श्लोक शिशुपालवध (१३।६८) का है । भर्तृहरि के जीवनवृत्त से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है । श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक तथा तदनुयायी श्रीउदयवीर शास्त्री ने क्रमशः 'व्याकरणशास्त्र का इतिहास' और 'वेदान्तदर्शन का इतिहास' में 'हरि' को भर्तृहरि समझ कर जो लिखा है, वह चिन्त्य है ।

शतपथब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी के गुरु स्कन्दस्वामी ने अपने निरुक्त के व्याख्यान में वाक्यपदीय को उद्धृत किया है। शतपथब्राह्मण, प्र० काण्ड के अन्त में हरिस्वामी ने कहा है—

'श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः।
धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यच्छातपथीं श्रुतिम् ॥
यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै।
चत्वारिंशत् समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम् ॥'

बहुत ऊहापोह के अनन्तर विद्वानों ने उक्त श्लोक में आया हुआ कलि संवत् ३०४७ स्वीकार किया है। विक्रम संवत् का आरम्भ कलिसंवत् ३०४५ से होता है। कटकराजवंशावली में विक्रमार्क का समय ३०४४ कल्यब्द के पश्चात् लिखित है। यथा—

'चतुश्चत्वारिंशदधिकत्रिसहस्रमितकलिवत्सरानन्तरं विक्रमार्कस्योत्पत्तिः। अनेनाष्टवेतालानां साधनं कृतम्। अपि वेतालप्रसादाद् गुटिकापादुका-प्रसिद्धिः। अग्निजलस्तम्भनं च साधितम्। एके—नैवाह्ना शतयोजनपरिमितं मार्गभ्रमणं क्रियते। द्वात्रिंशत्सोपानयुक्तताॅवत्कन्यासहितशशिकान्तमणिमय-सिंहासनेऽभिषिक्तेन बुद्धिबलाद्यनेकाश्चर्यकारिविद्यादिकं साधितम्। अनन्तर-मागत्य पुरुषोत्तमक्षेत्रे भगवद्दर्शनं कृतम्। ततः कालवशेन शालिवाहनशकेन व्यापादितः। तत एव शकाब्दप्रवृत्तिरिति। एतस्य राज्यभोगकालः पञ्चत्रिंश-दधिकशतं वत्सराः। (जगन्नाथ के मन्दिर में ढोलक के आकार वाले बण्डल—मादलापञ्जी में सुरक्षित ताड़पत्रों के हस्तलेख से।)

भर्तृहरि की प्राचीनता के सम्बन्ध में एक उदाहरण और विचारणीय है। जयन्तभट्ट ने न्यायमञ्जरी में कहा है—

१. 'वृद्धमीमांसका यागादिकर्मनिर्वर्त्यमपूर्वं नाम धर्ममभिवदन्ति।'

२. 'यागादिकर्मैव शाबरा ब्रुवते।'

अर्थात् यागादि कर्म द्वारा धर्म उत्पाद्य है—ऐसा वृद्धमीमांसक मानते हैं। शबरस्वामी के मतानुयायी यागादि कर्म को ही धर्म मानते हैं।

महाभाष्यदीपिका में भर्तृहरि कहते हैं—

३. 'अवस्थित एव धर्मः। स तु अग्निहोत्रादिभिरभिव्यज्यते। तत्प्रेरितस्तु फलदो भवति। यथा स्वामी भृत्यैः प्रेर्यते।'

अर्थात् धर्म नित्य है, वह यागादि से अभिव्यक्त होता है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक[1] का विचार है कि यह मत उक्त मतों से प्राचीन है।

---

१. द्रष्टव्य—मीमांसक जी के साबरभाष्य की हिन्दी व्याख्या की भूमिका पृष्ठ ३३।

इस प्रकार आदि भर्तृहरि[1] का समय विक्रम की चौथी शती से लेकर विक्रम पूर्व तक फैला हुआ है।

(२) दूसरे भर्तृहरि हैं—भट्टिकाव्य के रचयिता भट्टिस्वामी। पं० युधिष्ठिर मीमांसक कहते हैं—जयमङ्गला टीका (भट्टिकाव्य की टीका) के रचयिता ने अपनी टीका के प्रारम्भ में लिखा है—'श्रीस्वामिसूनुः कविर्भट्टिनामा रामकथाश्रयमहाकाव्यं चकार।'

अन्य सभी टीकाकार भट्टिकाव्य के रचयिता का नाम भर्तृहरि लिखते हैं।

१. 'भर्तृहरिः कविः भट्टिकाव्यं चिकीर्षुः।' —भर्तृहरि-काव्यदीपिका।

२. महामहोपाध्यायश्रीभर्तृहरिकविना शब्दकाव्ययोर्लक्षणलक्षितानि।'

—कन्दर्पशर्मा

३. कविना श्रीधरस्वामिसूनुना भर्तृहरिणा—।' —भट्टिचन्द्रिका

इनके अतिरिक्त पञ्चपादी उणादि वृत्तिकार श्वेतवनवासी ने 'भर्तृकाव्ये' शब्द का प्रयोग किया है और हरिनामामृतव्याकरण की वृत्ति में 'भर्तृहरिविप्रः' का प्रयोग हुआ है।

ये भर्तृहरि[2] गुजरातस्थ वलभी-निवासी थे। वलभी के राजा तृतीय श्रीधरसेन के समय ये विद्यमान थे। सं० ६६० से ६७७ तक इनका समय है।

'काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्।'

—भट्टिकाव्य का अन्तिम श्लोक।

(३) तीसरे भर्तृहरि हैं—अष्टाध्यायी पर भागवृत्ति के रचयिता, जिनका वास्तविक नाम विमलमति था। ये महावैयाकरण बौद्ध थे। यह अष्टाध्यायी की आंशिकवृत्ति, काशिकावृत्ति के बाद की है। पुरुषोत्तमदेव रचित भाषावृत्ति के व्याख्याता सृष्टिधराचार्य ने कहा है—

'भागवृत्तिर्भर्तृहरिणा श्रीधरसेननरेन्द्रादिष्टा विरचिता।'

—भाषावृत्तिविवृत्ति ८।१।६७

---

1. नकमुरा लिखते हैं—As Bhartriharis verses are cited by Buddhist writers, we have to take his dates as being approximately 450–500 A. D.

इसी की टिप्पणी में वे लिखते हैं—I shall discuss the problem of his date in detail in part V of the present work (in a forthcoming volume)

—A History of Early Vedant Philosophy. p. 80 & 85.

२. द्रष्टव्य—'व्याकरणशास्त्र का इतिहास' भाग २, पृष्ठ १८९ से १८८

कातन्त्र परिशिष्ट के कर्ता श्रीपतिदत्त ने सन्धिसूत्र १४२ पर कहा है—

'तथा च भागवृत्तिकृता विमलमतिनाप्येवं निपातितः।'

श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक का अनुमान है कि अपने असाधारण व्याकरण-वैदुष्य के कारण विमलमति भर्तृहरि के औपाधिक नाम से प्रसिद्ध हुए।

वलभी के राजकुल में श्रीधरसेन नामक चार राजा हुए हैं, जिनका राज्य-काल वि० संवत् ५५७ से ७०५ तक माना जाता है। भागवृत्ति में काशिका का खण्डन किया गया है। स्पष्ट है कि यह कृति काशिका के बाद की है। काशिका का रचना-काल प्रायः संवत् ६८७ से ७०१ तक है। श्रीधरसेन चतुर्थ का राज्यकाल सं० ७०१ से ७०५ तक है, अतः भागवृत्ति की रचना इसी काल में हुई होगी। इत्सिंग ने भागवृत्ति के रचयिता भर्तृहरि की मृत्यु सुनकर वाक्यपदीय आदि के रचयिता को भ्रमवश एक समझ लिया होगा। इत्सिंग ने भर्तृहरि को बौद्ध लिखा है। ये बौद्ध ग्रन्थकार विमलमति ही हो सकते हैं।

(४) चौथे भर्तृहरि—राजा भरथरी हैं, जो गोरखनाथ के शिष्य होने पर विचारनाथ[१] के नाम से प्रसिद्ध हुए। ये प्रसिद्ध नव नाथों में आठवें भर्तृनाथ के नाम से भी जाने जाते हैं। बंगाल के राजा मानिकचन्द्र के पुत्र गोपीचन्द्र-नाथ नवें नाथ के रूप में उल्लिखित हैं। प्रसिद्ध योगिनी मयनामती, जो गोपी-चन्द्र या गोविन्दचन्द्र की माँ थीं, भर्तृहरि की बहन के रूप में नाथ-परम्परा में प्रसिद्ध हैं। मयनामती त्रिपुरा के राजा त्रिलोकचन्द्र की पुत्री थी। इनका बचपन का नाम शिशुमती था। इसी अवस्था में गोरखनाथ की शिष्या हो चुकीं थी।

वस्तुतः ये योगिनी भर्तृहरि की वास्तविक बहन नहीं थी। 'त्रिपुराज-माला' नामक ग्रन्थ में भर्तृहरि का नाम कहीं नहीं मिलता। हाँ, ये उनकी धर्मभगिनी अवश्य हो सकती हैं और ऐसा ही उल्लेख 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति'[२]

---

१. द्रष्टव्य—'गोरखनाथ ऐण्ड दि कनफटा योगीज' —ब्रिग्स, पृष्ठ १०१

२. द्रष्टव्य शशिभूषण दास गुप्त का—'Obscure Religions Cults.' (Appendix 'C' p. 397.)

'According to the Tibetan tradition she was the sister of Bharteri, the king of Malvar mentioned above. A modern author Chandranath yogin speaks of her as the Dharma-bahin (Yogisampradayavishkriti. Chap. 39) of king Bhartri of Ujjain.

में उपलब्ध होता है। दोनों ही गोरखनाथ के शिष्य थे, अतः इनके गुरुभगिनी या धर्मभगिनी होने में कोई बाधा नहीं है।

ये भर्तृहरि विक्रम की बारहवीं शती में विद्यमान थे। जार्ज वेस्टन ब्रिग्स ने लिखा है—

The mother of Gopichand Manavati, is spoken of as the sister of Bhartrihari who abdicated his throne in favour of his brother, Vikramaditya (Chanrdragupt II) of Ujjain. After the death of his queen, Rani Pingla, Bhartrihari (Bhartri) become a Gorakhnathi. One of the subsects of the Kanphatas is named after him, Vikramaditya ruled in Ujjain from 1076 to 1126.

—Gorakhnath and the Kanphata Yogis, p. 244

ब्रिग्स के कथन में एक गड़बड़ी है। विक्रम की बारहवीं शती में उज्जैन में चालुक्यवंशीय विक्रमादित्य विद्यमान थे न कि गुप्तवंशीय। चालुक्यवंशीय विक्रमादित्य का समय १०१७ ई० से लेकर १०८० ई० तक है। द्रष्टव्य—'हिन्दी विश्वकोष' नगेन्द्रनाथ वसु।

रानी पिङ्गला के सम्बन्ध में अन्य स्रोत उसे धारा के राजा भोज (१०१८-१०६० ई०) की रानी बतलाता है। अतः पिङ्गला की कथा मूलतः भर्तृहरि से जुड़ी थी, ऐसा कहना संगत नहीं है। पीछे आदि भर्तृहरि को विक्रमादित्य का भाई बतलाया गया है, सम्भवतः वह कथा यहाँ आकर एक हो गई है।

डॉ० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ने अपने 'राजपूताना का इतिहास' नामक ग्रन्थ में भर्तृहरि को 'चाकसू' क्षेत्र का राजा बतलाया है। चाकसू नामक कस्बा आज भी जयपुर और कोटा के बीच विद्यमान है। जालन्धरनाथ एवं गोरखनाथ आदि योगियों का इस क्षेत्र में आकर रहना अन्यत्र उल्लिखित है। हो सकता है कि गोरखनाथ के शिष्य राजा भरथरी यही हों। ये महासिद्ध और योगी थे। इनसे सम्बद्ध गुफाएँ अलवर, चुनार और उज्जैन में स्थित हैं।

कहा जाता है कि 'शतकत्रय' इन्हीं की रचना है, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि उक्त ग्रन्थ के श्लोक भोजराज के शृङ्गारप्रकाश में मिलते हैं।

भर्तृहरिनाथ वैराग-पन्थ के प्रवर्तक माने जाते हैं। हरिहर का 'भर्तृहरि-निर्वेद' नामक संस्कृत का लघु नाटक इन्हीं से सम्बद्ध है। ये नाटककार पन्द्रहवीं शती ई० में वर्तमान थे। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'नाथ-

सम्प्रदाय' में ठीक ही कहा है—'यदि वैराग्यशतक के कर्ता भर्तृहरि गोरखनाथ के शिष्य थे तो क्या कारण है कि पूरे शतक में गोरखनाथ का नाम भी नहीं आया। यही नहीं गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित हठयोग से वैराग्य-शतक के कर्ता परिचित नहीं जान पडते।' (पृष्ठ १६७)

गोरक्षनाथ चारों युगों में वर्तमान थे—ऐसा नाथ-सम्प्रदाय के लोग मानते हैं। आश्चर्य की बात है कि अभिनवगुप्त ने ऐसे योगी और महाज्ञानी का नाम नहीं लिया, जब कि उनके गुरु मच्छन्दविभु[१] (मत्स्येन्द्रनाथ) का नाम तन्त्रालोक के मङ्गलाचरण श्लोक में ही आया है। वे अपने अनेकों गुरुओं का उल्लेख करते हैं। यहाँ तक कि वाक्यपदीयकार भर्तृहरि का सबहुमान चर्चा[२] करते हैं।

सन्त ज्ञानेश्वर ने गीता की अपनी टीका[३] में गोरखनाथ के शिष्य गैनीनाथ को अपने बड़े भाई एवं गुरु निवृत्तिनाथ का गुरु बतलाया है। ज्ञानेश्वरी की रचना वि० संवत् १३४७ में हुई थी। इस प्रकार गुरु गोरक्षनाथ एवं भर्तृहरिनाथ का समय विक्रम की बारहवीं शती सिद्ध होता है।

ब्रिग्स ने भी लिखा है—

Taking all of these data into consideration, it may be assumed that Gorakhnath lived not later than A. D. 1200 in the second of the four periods suggested above and it is not unreasonable to push back his date another century. Since, if the conjecture about the date of the ज्ञानेश्वरी be correct. Bengal library and historical tradition would agree with that of western India.

Until further data are discovered the conclusion must be that Gorakhnath lived not later than A. D. 1200, probably early in the eleventh century, and that he come originally from eastern Bengal.

—Gorakhnath and the Kanphata yogis.

भर्तृहरिनाथ (राजा भरथरी), चरपटनाथ और गोपीचन्द, ये सम-

---

१. 'स्तान्मे स मच्छन्दविभुः प्रसन्नः' ॥ ७ ॥ —तन्त्रालोक।

२. ध्वन्यालोकलोचन (चौखम्बा सं० पृ० ३०२)

'तथा हि—भर्तृहरिणेदं कृतम्–यस्यायमौदार्यमहिमा—।'

३. पृष्ठ ५३८ हिन्दी अनुवाद—अनुवादक रामचन्द्र वर्मा।

कालिक थे—ऐसा उनके हिन्दी पद्यों से प्रतीत होता है। 'श्रीचरपटनाथ की सबदी' में कहा गया है—

'भरथर चरपट गोपीचन्द, विन्दौ आत्मा परमानन्द।
छाड़ौ पीर षांड बहुभोग, राखौ आत्मा साधौ जोग ॥'

—नाथसिद्धों की बानियाँ (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)

'गोपीचन्द की सबदी' में कहा गया है—

'गुरू हमारे गोरख बोलियै चरपट हैं गुरुभाई।
सबद एक हमकौ नाथ जी दीया तेवौ लष्षा मैणामन्त माई ॥'

नागरी प्रचारिणी की उक्त पुस्तक की भूमिका में श्रीहजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते है—

'जान पड़ता है कि भर्तृहरि ने लोकभाषा में कुछ पद लिखें थे, जिनकी भाषा क्रमशः बदलती गई।

× × × ×

'हमारे संग्रह में उनका जो रूप उपलब्ध है, वह पन्द्रहवीं शताब्दी से पहले का नहीं हो सकता। वैराग्य-शतक के कई श्लोक अत्यन्त भ्रष्ट रूप में संगृहीत हैं।

यहाँ भर्तृहरिनाथ के कुछ पद्यों के नमूने प्रस्तुत किये जाते है—

'भरथरी जी का पद'—

'गर सूं ज्ञान ज्ञान सूं बुध भई बुध सूं अकल प्रकासी।
भनन्त भरथरी हरिपद परस्या सहज भया अविनासी' ॥ ४ ॥

भरथरी जी का सपत संख ग्रन्थ—

संपत संख भणत भरथरी जोगी।
थिर होइ कंध काया होइ निरोगी ॥

भरथरी जी की सबदी—

आगे वहनी पीछे भानु।
सुरति निरंतरि वृद्ध तलि ध्यानु।
कथौ (कथै) निरंजन रहौ (रहै) उदास।
अजहूँ न छूटै (छोड़ै) आसा पास ॥

अथ भ्रथ्री जी का श्लोक—

वीर विक्रमादीत उवाच—

त्रृगुण कंथा बहो विस्तारं, कहो निरंजन बहो अकारं।
कंथत व्यक्रम बावन वीरं कूण प्रचय थिर रह्यो शरीरं ॥

भ्रथरी उवाच—

अंकुर बीरज नहीं आकार, रूप न रेख न वो ॐकार।
उदै न अस्त आवै नहि जाई, तहाँ भ्रथरी रहा समाई ॥

× × ×

जिषां न विद्या न तपो न दानं न चापि सीलं न गुणो न धर्मो।
ते मृत्यलोके भूभार भूवतो मानेष रूपेण मृघा चिरंती ॥

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि इस प्रकार की या इससे कुछ जटिल भाषा विक्रम की चौथी शती में सम्भव नहीं है, अतः राजा भर्तृहरि और वाक्यपदीय के रचयिता वसुरात-शिष्य भर्तृहरि कदापि एक नहीं हो सकते।

भर्तृहरि नाथ गोपीचन्द से ज्येष्ठ थे। गोपीचन्द या गोविन्दचन्द्र पर दक्षिण के राजा राजेन्द्र चोल ने चढ़ाई की थी और उन्हें पराजित किया था। यह बात तिरुमलै के तमिल लेख से जानी जाती है। १०२३ ई० के इस लेख में तिरुमलै अर्थात् पवित्र पहाड़ का वर्णन है। राजेन्द्र चोलदेव ने जिन राजाओं को जीता था, उन देशों और राजाओं के नाम इसमें दिये गये हैं, जिनमें बङ्गाल का राजा गोविन्दचन्द्र या गोपीचन्द भी है। शैल लिपि की १०वीं पंक्ति, जिसमें उक्त राजा का उल्लेख है, इस प्रकार है—

'शूरनै मूर नूर त्ताक्कि त्तिक्कणै किर्त्ति त्तक्कणमुङ् गोविन्दचन्दन आवि-ळिन्तोऽन्तङ्गाद चारल् बङ्गालदेशे मुन्तोडु कडर-शङ्गु-कोहन महीपालनै।'

बँगला में 'गोविन्दचन्द्रेर गान' नाम से जो पुस्तक उपलब्ध हुई है, उसके अनुसार भी गोविन्दचन्द्र से किसी दाक्षिणात्य राजा का युद्ध हुआ था। राजेन्द्र चोल का समय १०६३ ई० से १११२ ई० है। इस प्रकार भी राजा भर्तृहरि का समय विक्रम की बारहवीं शती ही प्रतीत होता है।

ब्रह्मकाण्ड के संस्कृत टीकाकार

(१) वाक्यपदीय-ब्रह्मकाण्ड के कारिकांश पर सर्वप्रथम गङ्गाधर शास्त्री मानवल्ली ने सन् १८८७; संवत् १९४४ आषाढ़ सुदी ११ को बनारस संस्कृत सीरीज के अन्तर्गत एक टीका प्रकाशित की थी, जो आगे चलकर भगवान् भर्तृहरि की संक्षिप्त वृत्ति के रूप में प्रमाणित हुई।

(२) सन् १९३४ में श्रीचारुदेव शास्त्री ने लाहौर से ब्रह्मकाण्ड का प्रकाशन किया, जिसमें भर्तृहरि की सम्पूर्ण वृत्ति एवं श्रीवृषभाचार्य की पद्धति नामक टीका के अंशमात्र थे।

(३) संवत् १९८३ में पं० द्रव्येश झा (नेपाल-निवासी) ने केवल कारिकाओं पर 'प्रत्येकार्थप्रकाशिका' नामक टीका लिखी थी।

(४) संवत् १९९३ में राजकीय संस्कृत कालेज, काशी में अध्यापन करते हुए मेरे गुरु आचार्य सूर्यनारायण शुक्ल ने ब्रह्मकाण्ड के कारिकांश पर 'भाव-प्रदीप' नामक विस्तृत टीका लिखी, जिसमें वृत्ति एवं समानतन्त्रीय ग्रन्थों का सहारा लिया गया है।

(५) सं० १९९४ में श्रीचन्द्र एवं मारवाड़ी संस्कृत कालेज, काशी के प्रधानाध्यापक नृसिंहोपनामक पं० नारायणदत्त त्रिपाठी ने कारिकांश पर प्रकाश नामक संक्षिप्त टीका लिखी।

(६) सन् १९६३ में राजकीय संस्कृत कालेज, काशी में वेदान्त के आचार्य श्री पं० रघुनाथ शर्मा ने अम्बाकर्त्री नामक टीका लिखी। पश्चात् इन्होंने सम्पूर्ण वाक्यपदीय पर अपनी टीका पूरी की।

(७) सन् १९६६ में प्रो० के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर ने भर्तृहरि की वृत्ति के साथ श्रीवृषभाचार्य की पद्धति नामक सम्पूर्ण टीका पूना से प्रकाशित की। यह टीका सब से प्राचीन है। सन् ५५० में इस टीका का निर्माण हुआ था, ऐसा पं० रामसुरेश त्रिपाठी का मत है। 'संस्कृत-व्याकरण-दर्शन' नामक अपनी पुस्तक में वे कहते हैं—'विष्णुगुप्त का समय[1] ५३५ और ५५० ई० के बीच में माना जाता है। यह विष्णुगुप्त सम्राट् नरसिंहगुप्त का पौत्र और कुमारगुप्त तृतीय का पुत्र था। उसकी एक मुद्रा नालन्दा में मिली है। [2]वराह मिहिर (४८७ ई० में जन्म और ५८७ में मृत्यु) ने भी बृहत्संहिता में विष्णुगुप्त का उल्लेख किया है। अतः इन प्रमाणों के आधार पर टीकाकार वृषभ का समय ५५० ई० के समीप सिद्ध होता है।' (पृ० २०)

अपनी टीका के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण के अनन्तर श्रीवृषभाचार्य ने कहा है—

'विमलचरितस्य राज्ञो विदुषः श्रीविष्णुगुप्तदेवस्य।
भृत्येन तदनुभावाच्छ्रीदेवयशसस्तनूजेन॥
बन्धेन विनोदार्थं श्रीवृषभेण स्फुटाक्षरं नाम।
क्रियते पद्धतिरेषा वाक्यपदीयोदधेः सुगमा॥
यद्यपि टीका बह्व्यः पूर्वाचार्यैः सुनिर्मला रचिताः।
सन्तः परिश्रमज्ञास्तथापि चैनां ग्रहीष्यन्ति॥'

---

१. न्यू हिस्ट्री आफ इण्डियन पीपुल, गुप्त, गुप्त वाकाटक एज २००-५५०० ए० डी० वाल्यूम सिक्स्थ, पृ० २१४।

२. सुधाकर द्विवेदी, गणकतरङ्गिणी, पृ० १५।

इनके पिता का नाम देवयश था और इनका नाम श्रीवृषभ था, जिसका उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है। यह नाम श्रीहर्ष के समान है। लोगों ने इन्हें वृषभदेव लिखना प्रारम्भ किया, किन्तु शुद्ध नाम श्रीवृषभ ही है, जिसे मैंने सर्वत्र अपनाया है।

वाक्यपदीय पर अनेक श्रेष्ठ टीकाएँ लिखी जा चुकी थी, ऐसा उन्होंने स्वयं लिखा है। इससे अनुमान होता है कि वाक्यपदीय के रचयिता भर्तृहरि इनसे कहीं प्राचीन थे।

(८) नेपाल के किसी पण्डित ने ब्रह्मकाण्ड पर एक संस्कृत टीका, गोरखनाथ पीठ, गोरखपुर के महन्त श्री अवेद्यनाथजी के आदेश से लिखी थी। इसमें गोरखनाथ के शिष्य राजा भर्तृहरि (भर्तृहरिनाथ या विचारनाथ) और वाक्यपदीय के रचयिता भर्तृहरि को एक माना गया है। स्थान-स्थान पर टीकाकार ने 'विचारनाथ आह', 'योगिराज आह' लिखकर कारिकाओं की व्याख्या की है। ध्यान रहे कि वसुरात के शिष्य भर्तृहरि और राजा भर्तृहरि दोनों भिन्न व्यक्ति हैं।

(९) हेलाराज (विक्रम की १०वीं शती) ने वाक्यपदीय के तीनों काण्डों पर टीका लिखी थी। आजकल केवल तृतीय काण्ड पर ही उनकी 'प्रकीर्णप्रकाश' नामक टीका उपलब्ध है। इन्होंने प्रथम ब्रह्मकाण्ड पर 'शब्द-प्रभा'[1] और द्वितीय काण्ड पर 'वाक्यप्रदीप' नामक टीकाएँ लिखी थीं, जो आज उपलब्ध नहीं हैं।

(१०) ११वीं शती विक्रमीय के पुण्यराज ने भी वाक्यपदीय पर टीका लिखी थी, जो अब द्वितीय काण्ड पर ही उपलब्ध है। अपनी टीका के प्रारम्भ में वे कहते हैं—

'एवं शब्दस्य प्रयोजनसहितं स्वरूपादिकं लेशतो निर्णीतम्। तस्य च साधारण्येन वाचकत्वं व्यवस्थापितम्।'

इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने प्रथम काण्ड की भी व्याख्या की थी।

हिन्दी विवरण की प्रक्रिया

विवरण में कारिका के अन्यत्र उपलब्ध पाठों पर विचार किया गया है। वृत्ति प्रो० अय्यर के पाठानुसार प्रस्तुत की गई है। अशुद्ध पाठों का संशोधन किया गया है; वह भी अनुमान के आधार पर नहीं, किन्तु व्याकरण ग्रन्थों एवं टीकाओं के आधार पर। यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है—

---

१. 'विस्तरेणागमप्रामाण्यं वाक्यपदीयेऽस्माभिः प्रथमकाण्डे शब्दप्रभायां निर्णीतमिति तत एवावधार्यम्।' (काण्ड ३, जातिसमुद्देश, कारिका ४६)

प्रथम कारिका की वृत्ति में एक उद्धरण मिलता है, जो इस प्रकार है—

'शान्तविद्यात्मको योंऽशस्तदुहैतदविद्यया ।'

यहाँ 'शान्तविद्यात्मको योंऽशः' भ्रष्ट पाठ है, किसी ने मूल पाठ को खोजने का प्रयत्न नहीं किया । मेरे द्वारा स्वीकृत पाठ इस प्रकार है—

'शान्तं विद्यात्मकं तत्त्वं–' यह पाठ श्रीवृषभाचार्य की टीका से खोजा गया है । विशेष बातें विवरण (पृष्ठ ४७) में देखें ।

इसी प्रकार 'सदृशग्रहणानां च–' (कारि० ९७) की वृत्ति का पाठ है— 'तद्यथा नदीशैलेयादीनां–' नदी के स्थान पर 'नख' पाठान्तर के आधार पर अम्बाकर्त्रीकार एवं श्रीअय्यर महोदय ने अँगुली के नख मानकर क्रमशः व्याख्या एवं अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया है, जो अशुद्ध है । वस्तुतः वहाँ 'नटी' या 'नखी' पाठ होना चाहिए, जो गन्धद्रव्य का वाचक है । विवरण में विस्तार से इसका निरूपण किया गया है । श्रीवृषभ की टीका में इसके त्रुटित हो जाने से लोगों को अर्थ नहीं लगा ।

'प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च–' इस कारिका की वृत्ति में 'वैकरण्यम्' शब्द आया है, जो मुक्ति के प्रकार का वाचक है । श्रीवृषभाचार्य ने बुद्धीन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय की निवृत्ति रूप अर्थ स्वीकार किया है । वे कहते हैं—

'करणनिवृत्तौ संसारनिवृत्तिः ।'

अम्बाकर्त्रीकार ने इसी की व्याख्या करके लिखा है कि यह योगानुसारी मुक्ति है ।

'वैकरण्यं नाम—वाह्याभ्यन्तरकरणानां यत्नपूर्वकं निरोधाभ्यासेन परिपक्वेन स्वभावतो विषयेभ्यो निवृत्तिरेव, तदेव ब्रह्मप्राप्तिरिति योगानुसारिणः ।'

वस्तुतः भासर्वज्ञ ने गणकारिका की रत्नटीका में कहा है—'सम्भृतकायेन्द्रियस्यापि निरतिशयैश्वर्यसम्बन्धित्वं वैकरण्यमिति ।' पाशुपत-सूत्र में इस सम्बन्ध में 'वैकरण्यम्'[1] यह सूत्र है, जिस पर कौण्डिन्य ने व्याख्या लिखी है । इसका विस्तार हमारे विवरण में द्रष्टव्य है ।

विवर्त शब्द पर भी विवरण में विस्तार से विवेचन किया गया है । शङ्कराचार्य का भी मत है कि विवर्त का अर्थ है—परिणाम । वे ब्रह्मसूत्रभाष्य में कहते हैं—

---

१. तन्त्रालोक में भी कहा गया है—'तेषूमापतिरेव प्रभुः स्वतन्त्रेन्द्रियो विकरणात्मा ।' जयरथ ने इसकी विस्तृत व्याख्या की है । कालिदास ने 'करणविगमात्' शब्द का प्रयोग किया है (मेघदूत) और शूद्रक ने 'व्यपगतकरणम' का (मृच्छकटिक) ।

'प्रथमेऽध्याये सर्वज्ञः सर्वेश्वरो जगत उत्पत्तिकारणम्, मृत्सुवर्णादय इव घटरुचकादीनाम् ।' —अध्याय २

ब्रह्मसूत्रभाष्य में दो बार विवर्त शब्द आया है, वह परिणाम के अर्थ में ही स्पष्ट प्रतीत होता है । इसके लिए विवरण देखें ।

अम्बाकर्त्रीकार ने 'वाक्यपदीयपाठनिर्णय' लिखा है । प्रयास स्तुत्य है, किन्तु उसमें भी अनेक गड़बड़ियाँ हैं । उदाहरणस्वरूप प्रथम कारिका की वृत्ति में वास्तविक पाठ है—'संवर्तात्', किन्तु उन्होंने इसके स्थान पर 'वर्तमानात्' पाठ को समीचीन माना है, जो श्रीवृषभाचार्य के विरुद्ध है । श्रीवृषभ कहते हैं—'संवर्तात् इति, सकलविकारग्रामस्य तत्रैकीभावात् । अनेकस्यैकत्रोपसंहारः संवर्तः । जनपदः संवर्तेत इति यथा ।'

संवर्त और विवर्त शब्द प्राचीन हैं । बौद्ध-ग्रन्थों में इनका क्रमशः प्रलय और सृष्टि के अर्थ में उल्लेख मिलता है । द्रष्टव्य—अभिधर्मकोष ।

हिन्दी-विवरण की अपूर्वता का एक और उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

पाणिनीयशिक्षा के श्लोक 'मनः कायाग्निमाहन्ति' गत कायाग्नि का अर्थ प्रायः पण्डितों ने जाठराग्नि किया है और 'मारुतम्' का अर्थ प्राण मात्र । किन्तु पञ्च प्राणों में से वह कौन-सा प्राण है, यह अस्पष्ट ही है । वस्तुतः यह 'उदान' प्राण है । इन सब बातों का विस्तृत विवेचन विवरण में मिलेगा ।

मैं उन सभी महामनीषियों एवं विख्यात वैयाकरणों का अत्यन्त आभारी हूँ, जिनके वचनों एवं ग्रन्थों से विवरण लिखने में मैंने सहायता ली है ।

कुछ वर्ष पूर्व केन्द्रीय शासन ने इसे छापने के लिए अनुदान स्वीकृत किया था, किन्तु सम्बद्ध प्रकाशक महोदय निर्धारित अवधि में उसे छाप नहीं सके; और यह कार्य पड़ा रह गया । अन्त में मैंने चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी के व्यवस्थापक श्रीवृजदास गुप्त को इसके प्रकाशन का भार सौंपा, जिसे उन्होंने तत्परता से प्रकाशित कराकर संस्कृत-प्रेमी पाठकों को सुलभ कराया है, एतदर्थ मैं उन्हें हार्दिक शुभाशीर्वाद देता हूँ ।

लक्ष्मीरमण भगवान् नारायण की क्रियाशक्ति का ही यह कार्य है, अतः यह उन्हें ही समर्पित है ।

ललिताश्रम, गोरखपुर
विजयादशमी; सं० २०४७

शिवशङ्कर अवस्थी

सर्वविकल्पातीतं कलिताखिलविकल्पघनजालम् ।
अभ्युपगतयुगरूपं भवबन्धच्छेदकृच्छ्रये ब्रह्म ॥ १ ॥
यद्यप्यष्टाध्यायी दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः प्रथिता ।
वार्तिकभाष्यकृतामपि वाग्विस्तरमत्र शंसितं लोके ॥ २ ॥
तथापि प्रक्रियाभारादागमस्यापवर्जनात् ।
बीजमात्रस्थितात् तस्मात्तोषो नाभून्मनीषिणाम् ॥ ३ ॥
पूर्वेभ्यः समुपागतं सुविदितं ह्यव्याकलय्यागमं,
या चासीत् खलु शोभना सुमहिता श्रीसङ्ग्रहाख्या कृतिः ।
लक्षश्लोकमिता सिता मुनिवरश्रीव्याडिना निर्मिता,
सा सङ्क्षेपरुचीनवाप्य विबुधः कालोदरेऽस्तं गता ॥ ४ ॥
दैवान्मूलमवाप्य चागमममुं यद्रावणेनातत-
माचार्यो वसुरात इत्यभिधया ख्यातो गरीयान् गुरुः ।
व्याकरणागमसङ्ग्रहं व्यरचयच्छ्लोकात्मकं निर्मलं,
शब्दब्रह्म न्यरूपि यत्र जगतोर्बीजं हि शब्दार्थयोः ॥ ५ ॥
तच्छिष्यो भगवान् भर्तृहरिर्ब्रह्मविदां वरः ।
व्यतनोत् तदुपरि वृत्तिं प्रमेयबहुलां शुभाम् ॥ ६ ॥
वृत्तिश्च कारिकाश्चैव मिलिते जगति प्रथाम् ।
याते वाक्यपदीयं चेत्याख्यया सुधियां गणे ॥ ७ ॥
विवरणं राष्ट्रभाषायां तस्य कर्तुं प्रयत्यते ।
शब्दानां जननी तेन प्रीयतां मे सरस्वती ॥ ८ ॥
हं हो निर्मत्सरान्तःकरणशरणगा भूरिसौभाग्यभाजो
गाहन्तामत्र तीर्थे विवरणसलिलं सौष्ठवात् सुप्रसन्नम् ।
वाङ्मालिन्योपघातप्रणिहितपरमोत्कृष्टसामर्थ्यसङ्घं
द्वारं दीर्घं विमुक्तेरपवृतममलज्योतिषा सम्परीतम् ॥ ९ ॥
सम्भूय मातृकाभिर्महनीयाभिर्मनो विनोदाय ।
व्यरचि ग्रन्थोऽशेषः लेशो न पुनर्ममेह सम्भाव्यः ॥ १० ॥

—शिवशङ्कर अवस्थी

वाक्यपदीय : ब्रह्मकाण्ड

द्वन्द्वादौ द्वन्द्वमध्ये द्वन्द्व-अंते च
श्रूयमाणं पदं प्रत्येकम् अभिसंबध्यते

॥ श्रीः ॥

भगवद्भर्तृहरिप्रणीतं

वाक्यपदीयम्

श्रीहरिवृषभकृतया स्वोपज्ञवृत्त्या संवलितम्

ब्रह्मकाण्डम्

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ १ ॥

अनादिनिधनम्, अक्षरं, शब्दतत्त्वं, यद् ब्रह्म, अर्थभावेन, विवर्तते; यतः जगतः प्रक्रिया ।

[1]आदि और अन्त से रहित अर्थात् कालकृत परिच्छेद (सीमा) से शून्य अथवा पूर्वापर विभाग से हीन अर्थात् देशकृत परिच्छेद से मुक्त, अकारादि अक्षरों का निमित्त होने के कारण अक्षर अर्थात् परप्रणवात्मक, शब्दतत्त्व—पराप्रकृति परपश्यन्ती या संविद्रूप ब्रह्म (परब्रह्मपरपर्याय शब्दब्रह्म), अर्थ रूप में—स्वरूपात्मक एवं गो-घटादि बाह्यार्थ रूप में सन्निवेश विशेष द्वारा अनेकधा प्रतिभासित होता है; (और) जिससे समस्त वाङ्मय जगत् तथा सरित्-सागर, वन-पर्वतात्मक चराचर जगत् उत्पन्न होता है—(उस शब्दब्रह्म की प्राप्ति का उपाय और प्रतिमा वेद है—ऐसा पाँचवीं कारिका से सम्वन्ध समझना चाहिए ।)

वृत्तिः—सर्वपरिकल्पातीततत्त्वं भेदसंसर्गसमतिक्रमेण······ ।

विवरण—तत्त्व या शब्दब्रह्म सम्पूर्ण विकल्पों-परिकल्पों से परे है—'वह असत् या प्राण रूप है', 'वह सत् है', 'वह न तो सत् है न असत्, किन्तु तमो रूप है,' 'वह सर्वयोनि आपो रूप है', 'वह सर्वबीजात्मक एकमात्र चैतन्य रूप है ।'

यह विश्व नित्य एवं अनित्य, रूपी और अरूपी, स्थूल और सूक्ष्म, सयुज तथा सखा रूप में वर्तमान दो सुपर्णों से निबद्ध है'—ये दर्शनात्मक विकल्प हैं; ऐसा वृत्तिकार ने नवीं कारिका की अवतरणिका में कहा है—'यतश्चैते सर्वविकल्पातीते—

---

१. उत्पत्ति और नाश से रहित शब्दतत्त्वात्मक ब्रह्म जो अक्षर या ओङ्कार के नाम से जाना जाता है; जिससे जगत् की प्रक्रिया या विकार अर्थ के रूप में परिणत होते हैं—यह सामान्य अर्थ है ।

एकस्मिन्नर्थे सर्वशक्तियोगाद् द्रष्टॄणां दर्शनविकल्पाः।' अथवा भेद और संसर्ग ये मौलिक विकल्प हैं, इनसे अतिक्रान्त होने के कारण तत्त्व सर्वविकल्पातीत कहा जाता है। भेद अर्थात् क्रमाभास और संसर्ग अर्थात् यौगपद्याभास—यह बौद्ध शब्द एवं बौद्धार्थों तथा बाह्य शब्दों तथा बाह्यार्थों में सर्वत्र देखा जाता है। शब्दाणुओं में भेद या व्यतिरेक और अणुओं के संहित रूप वर्ण में संसर्ग या भेदघटित एकता स्पष्ट है। इसी प्रकार अनन्त अकार या ककारादि व्यक्तियों में भेद और जाति में संसर्ग, गकार, औकार और विसर्ग रूप वर्णों में भेद तथा 'गौः' इस पद में अभेद, 'यः' 'स्मरेत्' 'पुण्डरीकाक्षं' 'स' 'बाह्याभ्यन्तरः' 'शुचिः'—इन पदों में भेद और वाक्य रूप में अभेद की प्रतीति होती है। वाक्यों और महावाक्य में भी भेद और संसर्ग द्रष्टव्य है। इतना ही नहीं, एक ही वाक्य में अखण्ड वाक्यार्थ को लेकर भेद-संसर्ग सम्बन्धी मतभेद[1] पाया जाता है। प्रसिद्धसाधुभावात्मक और भ्रष्टसंस्कारात्मक वैखरी वाक् तथा अक्ष, दुन्दुभि, वेणु, वीणा आदि शब्दों में भेद तथा सर्वसमष्टि विश्वव्यापी विराट् शब्द में संसर्ग समझना चाहिए। बाह्यार्थों में भी अवयव, अवयवी या धर्म-धर्मी में भेद और संसर्ग स्पष्ट है। इसी प्रकार गो, घट, पट आदि अनन्त विकारों में भेद तथा पृथिवी में संसर्ग नानाविध रक्त-पीतादि भेद वाली पृथिवी में भेद और भूत रूप में अभेद, अनद्यतन, अद्यतन, पूर्वाह्ण, अपराह्ण एवं श्वस्तनादि कालों में भेद, मासात्मक काल में संसर्ग तथा मासों का संवत्सरात्मक काल में अभेद द्रष्टव्य है। यही नहीं वाच्य, ज्ञेय अथवा ग्राह्यात्मक सम्पूर्ण दृश्य या कर्मादिकारकात्मक प्रपञ्च तथा वाचक, ज्ञाता और ग्राहक रूप द्रष्टात्मक या प्रधान कर्तृकारक रूप विकल्प तथा दर्शनात्मक क्रिया रूप विकल्प जहाँ नहीं है, वहीं सर्वविकल्पातीत[2] शब्दब्रह्म रूप तत्त्व है।

---

१. अखण्डवाक्यार्थ मत में भी अपोद्धार पद्धति से भेद-संसर्ग रूप विकल्प देखा जाता है। यथा—'अखण्डेऽपि हि वाक्यार्थनयेऽपोद्धारदशागतो भेदसंसर्गादिविकल्पः। तत्र व्याडिमते भेदो वाक्यार्थः—पदवाच्यानां द्रव्याणां द्रव्यान्तरनिवृत्तितात्पर्येणाभिधेयत्वात्। जातिवादिनो वाजप्यायनस्य तु मते संसर्गो वाक्यार्थः—सामान्यानां संश्लेषमात्ररूपत्वाद् वाक्यार्थस्य।

—हेलाराज, वाक्यपदीय, जातिसमुद्देश, तृ० काण्ड, कारिका ५ की व्याख्या।

२. द्वादशारनयचक्र (पृष्ठ २८२) इस जैन ग्रन्थ की 'न्यायागमानुसारिणी' टीका में उद्धृत 'अनादिनिधनम्' पर 'विषमपदविवेचना' टीका में लिखा है—'यतः सर्वधर्मपरिकल्पनातीतं भेदसंसर्गसमतिक्रमेण, सर्वाभिः शक्तिभिः समाविष्टं, विद्याविद्याप्रविभागरूपं व्यवहारानुपातिभिर्धर्माधर्मैः सर्वावस्थास्वनाश्रितं च, अत एवानादिनिधनं तद्ब्रह्मेति प्रतिज्ञायते; यतोऽनवच्छिन्नरूपाभिमतानामपि विकाराणां प्रकृत्यन्वयात्, व्यापकश्च सर्वशब्दरूपतया सर्वशब्दोपग्राह्यतया च शब्दतत्त्वमभिधीयते तच्चानिमित्तत्वादक्षरम्। विवर्ततेऽर्थ भावेनेति, एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्याविभक्ता-

यत्र द्रष्टा च दृश्यं च दर्शनं चाविकल्पितम् ।
तस्यैवार्थस्य सत्यत्वं श्रितास्त्रय्यन्तवेदिनः ॥ ७० ॥

—वा० प०, तृ० काण्ड, सम्बन्धसमु०

'ग्राह्यग्राहकादिप्रपञ्चस्य विकल्पपरिघटितस्यासत्यत्वात् सर्वप्रपञ्चसमतिक्रान्तं वाङ्मनसातीतं तत्त्वमविकल्पं परं ब्रह्मानादिनिधनं सत्यमिति ब्रह्मविदः प्राहुः ।'

—हेलाराज ।

उपर्युक्त श्लोक में 'दर्शनं वा विकल्पितम्' ऐसा भी पाठ है । वस्तुतः एक ही सच्चिन्मय पर शब्दब्रह्म, भाषा में द्रष्टा या कर्ताकारक दृश्य अर्थात् कर्म और तदुपलक्षित अन्य कारक तथा दर्शन या क्रिया रूप में अविद्याशक्ति द्वारा कल्पित होता है । सम्पूर्ण बुद्धिगत कारक एवं क्रिया तथा उनके वाह्यार्थ भी अद्वय शब्दतत्त्व में कल्पित हैं—

अद्वये चैव सर्वस्मिन् स्वभावादेकलक्षणे ।
परिकल्पेषु मर्यादा विचित्रैवोपलभ्यते ॥ ६४ ॥

—सम्वन्धसमुद्देश

समस्त परिदृश्यमान भेद वर्ग में परमार्थतः एकस्वभाव शब्दब्रह्म में कल्पित विविध परिकल्पों या विकल्पों में अविद्यावशात् विचित्र भेदात्मिका व्यवस्था दिखलाई देती है । वास्तव भेद न होने पर भी अनादि अविद्या निमित्तक भेद, व्यवहार में रूढ़ हो गया है ।

यह श्लोक योगवाशिष्ठ, उपशम प्रकरण, सर्ग ५६ में कुछ पाठान्तर के साथ मिलता है—

द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
अन्तःकरणतत्त्वस्य भागा बहिरिव स्थिताः ॥ २५ ॥

द्वादशारनयचक्र की टीका न्यायागमानुसारिणी में भी ऐसा ही पाठ है; केवल 'पर्वताः' के स्थान पर 'सागरः' पठित है ।

द्यौः क्षमा वायुरादित्यः सागराः सरितो दिशः ।
अन्तःकरणतत्त्वस्य भावा बहिरवस्थिताः ॥ ४१ ॥

—वा० प०, तृ० का०, साधनसमु०

'अन्तरवस्थितं करणं व्यापारो यस्येति चैतन्यमेवोच्यते'—हेलाराज । महाभूत, सकल जगज्जीवनरूप दिशाएँ, लोकव्यवहार के नियमों का निमित्तरूप काल—ये सब चैतन्यात्मक शब्दब्रह्म के आन्तररूप से प्रतिभासमान भावों के वहिरवस्थित आभास

न्यरूपोपग्राहिता विवर्तः, स्वप्नविषयप्रतिभासवत् शब्दार्थोभयरूपमितिभावः प्रक्रियेति, यतः शब्दाख्यात् उपसंहृतक्रमादब्रह्मणः सर्वविकारप्रत्यस्तमये वर्तमानादव्याकृतात् पूर्वं विकारग्रन्थिरूपत्वेनाव्यपदेश्यात् जगदाख्या विकाराः प्रक्रियन्ते इति श्लोकार्थः ।

या प्रतिबिम्ब हैं। 'परमार्थे तु कीदृशोऽन्तर्बहिर्भावः। एकमेव सच्चिन्मयं परं शब्दब्रह्म यथातथावस्थितमिति कारिकार्थः'—हेलाराज।

भाषा में वाक्य ही भावाभिव्यक्ति का सर्वोपरि माध्यम है। वैयाकरणों के मत में वाक्य के द्वारा श्रोता की बुद्धि में एक निरंश, संसर्गात्मक स्फोट—स्फुट प्रकाश रूप संवित् का उदय होता है, जिससे शीघ्र ही अर्थ-प्रतीति होती है। यह अभिन्न या संसर्ग[1] रूप संवित् मानी जाती है। अपोद्धार कल्पना द्वारा वाक्य में मुख्य[2] दो अंशों का सम्प्रत्यय होता है। उन्हें कारक और क्रिया, सिद्ध और साध्य अथवा नाम और आख्यात कहते हैं। यह भेद प्रतीति है। नामात्मक निरंश या संसृष्ट तत्त्व में प्रातिपदिक, लिङ्ग संख्या और कारक की भेदात्मिका प्रतीति होती है।

'लिङ्गे[3] किमि चिति विभक्तौ एतन्नाम'—काशकृत्स्नाचार्य। आचार्य दुर्ग ने लिखा है—'नाम्नोऽपि सत्ता, द्रव्यं, संख्या, लिङ्गमित्येतेऽर्थाः। हेलाराज नाम पद के छः अर्थ मानते हैं—

'नामपदस्यापि द्रव्यलिङ्गसंख्याः साधनानि क्रियाकाल इत्यादि पदवाच्यत्वेन वा पदार्थतोपपत्तिः।' (भूयोद्रव्यस०)

इसी प्रकार आख्यात में संसर्ग और उसके धातु, साधन, काल, पुरुष और संख्या इन अर्थों में भेद द्रष्टव्य है। 'धातुः साधने दिशि पुरुषे चिति च तदाख्यातम्[4]—' काशकृत्स्नाचार्य। दुर्गाचार्य चार ही अर्थ मानते हैं—'अपरे पुनर्भावकालकारक-

---

१. संसर्गरूपात्मसम्भूताः संविद्रूपादपोद्धृताः।
शास्त्रे विभक्ता वाक्यार्थात्प्रकृतिप्रत्ययार्थवत् ॥ १ ॥

—भूयोद्रव्यसमुद्देश

२. सिद्धार्थाभिधायि नामपदमिति तदर्थगतं विशेषं द्योतयन् निपातस्तत्रैवान्तर्भवति।……ये तु हिरुगादयः क्रियाप्रधानाः तेषामाख्यातेऽन्तर्भावः। अत एवोपसर्गकर्मप्रवचनीयपदान्यपि आख्यातपदमेव साध्यार्थविशेषद्योतनात्—हेलाराज।

३. यह सूत्र ब्रह्मकाण्ड, कारिका २४, २५, २६ की वृत्ति में उद्धृत है। पूना सं० (श्री अय्यर द्वारा सम्पादित) में 'लिङ्गे' पाठ है। श्री रघुनाथ शर्मा द्वारा सम्पादित सं० में 'लिङ्गम्' पाठ है, किन्तु व्याख्या 'लिङ्गे' की की गयी है। वस्तुतः 'लिङ्गम्' पाठ ही उचित है। लिङ्ग अर्थात् प्रातिपदिक, किमि—स्त्रीत्वादि लिङ्ग, चिति—संख्या, और विभक्ति अर्थात् कारक अर्थ में विद्यमान है। इस लिङ्ग या प्रातिपदिक को नाम भी कहते हैं। विशेष के लिए द्रष्टव्य पृष्ठ २८१-८२।

४. यह सूत्र भी वहीं उद्धृत है। सूत्रार्थ—धातु (अर्थात् भाव या क्रिया), साधन (कारक) दिक्, काल, पुरुष और संख्या अर्थ में विद्यमान रहती है और इसी (धातु) को आख्यात कहते हैं।

संख्याश्चत्वार एतेऽर्था आख्यातस्य' । हेलाराज के मत में इनकी संख्या छः है—'तद्यथा-ख्यातस्य क्रियाकालसाधनसंख्यापुरुषोपग्रहाः—(भूयोद्रव्यस०)

भेद और संसर्ग को शब्दशक्ति के रूप में इस प्रकार भी समझा जा सकता है—

'अक्षाः भज्यन्तां भुज्यन्तां दीव्यन्ताम्' में यहाँ (इस वाक्य में) संसर्गशक्ति के बल से अनेक अक्ष पदार्थों का एक अक्ष शब्द में संसृष्ट रूप से मान होता है। भेद शक्ति की महिमा से—'अक्षाः (रथचक्र या धुरा) भज्यन्तां, अक्षाः (बहेड़े का फल) भुज्यन्तां, अक्षाः (पाँसे) दीव्यन्ताम्' में अक्ष पदार्थों का अक्षशब्दभेद से मान होता है । यथा—

द्वावभ्युपायौ शब्दानां प्रयोगे समुपस्थितौ ।
क्रमो वा यौगपद्यं वा यौ लोको नातिवर्तते ॥
क्रमे विभिद्यते रूपं यौगपद्ये न भिद्यते ।
क्रिया तु यौगपद्येऽपि क्रमरूपानुपातिनी ॥४६३॥
भेदसंसर्गशक्ती द्वे शब्दाद्भिन्ने इव स्थिते ।
यौगपद्येऽप्यनेकेन प्रयोगे भिद्यते श्रुतिः ॥४६४॥ —वा० प०, द्वि० काण्ड

वृत्तिः—समाविष्टं सर्वाभिः शक्तिभिः········ ।

संसर्ग और भेदात्मक शक्तियों से अतिक्रान्त होने के कारण समस्त विकल्पों से अतीत होने पर भी शब्दब्रह्म समस्त योग्यतात्मक अथवा घटपटात्मक शक्तियों से युक्त है। 'शक्तिभिः योग्यताभिः' 'शक्तय इति घटादयो वा पदार्था योग्यता वा'—श्रीवृषभाचार्य । अग्रिम कारिका की वृत्ति में भगवान् भर्तृहरि ने स्वयं स्पष्ट किया है कि शब्दतत्त्वात्मक ब्रह्म में एकत्व की अविरोधिनी और समुच्चय रूप में विरोधिनी आत्मभूत शक्तियाँ विद्यमान हैं। जैसे पृथ्वी और लोकाः कहने पर अनन्त वृक्षादिक और चैत्र-मैत्रादि आकार ज्ञान की एकता के अविरोधी होते हुए, एक ज्ञान तत्त्व का अतिक्रम न करते हुए विरोधी अर्थाकारों के रूप में प्रत्यवभासित होते हैं—एकबुद्धि का विषय बनते हैं।

यह अनेकाकार वाच्यवाचक रूप विश्व, कार्यसाधक शक्ति के अंशों का समाहार मात्र है। घट, पट, वृक्ष आदि वाच्यों में उदकाहरण, आच्छादन, छाया एवं फल प्रदान आदि अनेक शक्तियाँ देखी जाती हैं। इसी प्रकार इनके वाचक घट-पट आदि शब्दों में भी कारक या साधनात्मक शक्तियाँ रहती हैं। एक ही पदार्थ में नाना शक्तियाँ सदा विद्यमान रहती हैं, किन्तु उनमें से यथावसर कोई ही विवक्षावश उद्भूत होती है—

शक्तिमात्रासमूहस्य विश्वस्यानेकधर्मणः ।
सर्वदा सर्वथाभावात् क्वचित् किञ्चिद्विवक्ष्यते ॥ २ ॥ —साधनसमुदेश

इसके अतिरिक्त वर्णों, पदों एवं वाक्यों में विद्यमान मन्त्रमयी शक्ति तथा पदार्थों में निहित औषधात्म शक्तियाँ, धर्माधर्मरूप शक्तियाँ, प्रतिबन्ध और अनुज्ञाशक्ति और इन अनन्तशक्तियों की सूत्रधारिणी कालशक्ति या अविद्या और इसको भी अपने उदर

में समेट लेने वाली महिमामयी महाशक्ति विद्या जो ब्रह्म की स्वरूप भूत है—इन समस्त शक्तियों से ब्रह्म समाविष्ट है।

वृत्तिः—विद्याविद्याप्रविभागरूपमप्रविभागम्……।

शब्द ब्रह्म की मूलतः दो शक्तियाँ हैं—एक विद्या और दूसरी अविद्या; अतएव उसे विद्या और अविद्या के रूप में प्रविभक्त कहा जाता है। वास्तव में अतत्त्वभूत अविद्या विद्या से पृथक् नहीं है। अतः ब्रह्म को अप्रविभाग रूप में स्वीकार करना उचित ही है।

सच तो यह है कि तत्त्व और अतत्त्व में कोई भेद नहीं है, क्योंकि तत्त्व ही अविचार दशा में अतत्त्व के रूप में भासित होता है—

न तत्त्वातत्त्वयोर्भेद इति वृद्धेभ्य (पूर्वेभ्य) आगमः।
अतत्त्वमिति मन्यन्ते तत्त्वमेवाविचारितम् ॥ ७ ॥

—वा० प०, तृ० का० द्रव्य०

इस शब्दाद्वैतनय में सत्यासत्य दो रूप नहीं है। किन्तु पारमार्थिक एक ही अद्वय तत्त्व सतत वर्तमान है। वह एक अद्वय तत्त्व अनादिसिद्ध अविद्या के विलास से प्रमाताओं के विषयरूप में अनेक विकल्पों से परिघटित आकारों को धारण करके व्यवहारपथ में उतरता है; और इस प्रकार वही आकारों की अनेकता से उद्भावित स्वरूप-भेदों से सम्पन्न होकर भासित होता है, अन्य नहीं। क्योंकि उससे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। वहाँ जो प्रकाश है, वही विद्या है और अप्रकाश को तम या अविद्या कहते हैं। 'तत्र च योऽयं प्रकाशः स विद्या। अप्रकाशस्तु तमोऽविद्या'—हेला-राज। प्रकाशाभाव रूप अप्रकाश प्रमाणसिद्ध नहीं है। वस्तुतः जो भेद-प्रकाश है, वही एकघनप्रकाशाभाव या प्रकाशविच्छेदस्वरूप अविद्या है। विच्छिन्न प्रकाशात्मक अविद्या में अन्वयरहित विच्छेद की अवधारणा होती है; सत्य तो विद्या ही है। विच्छेदमात्र अप्रधान स्वभाव के अतिरिक्त अविद्या कुछ भी नहीं है; परमार्थ के विचार में किसी अतत्त्व की स्थिति सम्भव नहीं। तत्त्व ही नाना पदार्थों में भेद रूप से भासित होता हुआ अविचारित रमणीय प्रपञ्च या अतत्त्व के रूप में व्यवहृत होता है—ऐसा ब्रह्मवित् मानते हैं। इस प्रकार परीक्षा द्वारा व्यवस्थित एक अभिन्न तत्त्व को ही तीर्थिक (दार्शनिक) लोग भेद दर्शन के अनुसार अविचारित रमणीय भेदा-त्मक अतत्व के रूप में मानते हैं। विचारतः अविद्या के विलय हो जाने पर ब्रह्मैक-निष्ठता-दर्शन सुलभ है। जैसा कि कहा है—'सत्या विशुद्धिसूत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा।' (हेलाराज)

'सत्या विशुद्धिः'—इस कारिका की व्याख्या में श्रीवृषभाचार्य ने विद्या का अर्थ ब्रह्म किया है और वही प्रणव भी है। यथा—'विद्यैवेति। यत् तद् विद्यात्मकं ब्रह्म। ……यतः प्रणवो ब्रह्म एव, स एव विद्या।' प्रथम कारिका की वृत्ति की व्याख्या में भी वे कहते हैं—'अथवा विद्यते तावदेवाच्छिद्यते (यावद् भेदप्रकाशः

सा) इति विद्या तद् ब्रह्म । यतः 'शान्तं विद्यात्मकं—इति वक्ष्यति ।' वस्तुतः विद्या शब्दब्रह्म की स्वरूपभूता प्रकाशमयी चिच्छक्ति है ।

तत्त्व[1] या शब्दब्रह्म, विद्यारूप को अङ्गीकार करके सर्वपरिकल्पातीत कहा जाता है । विकल्पों-भेदों का अविषय वही तत्त्व व्यवहार में अनादिसिद्ध अविद्यावश नानाविध भेदावभास रूप विकल्पों को प्राप्त होता है । यद्यपि अनादिनिधन तत्त्व काल की कलना से रहित है तो भी काल नामक स्वातन्त्र्य शक्ति या अविद्या की प्रतिबन्ध और अनुज्ञा (बीज, अङ्कुर, नाल, काण्ड—इस क्रम में बीज से अंकुर के उद्भव की अनुज्ञा और नाल का प्रतिबन्ध, पुनः नाल की अनुज्ञा) नामक शक्तियों से जन्म, सत्ता, विपरिणाम आदि भावविकारात्मक पौर्वापर्य के रूप में भासित होता है ।

विकल्परूपं भजते तत्त्वमेवाविकल्पितम् ।
न चात्र कालभेदोऽस्ति कालभेदश्च गृह्यते ॥ ८ ॥ —द्रव्यसमु०

कल्पना या नामरूपात्मक भेद प्रकाश ही अविद्या है । यह अविद्या शक्ति विद्या से अभिन्न है या भिन्न; इस रूप में अनिर्वाच्य है ।

'कल्पना वा अविद्या शक्तिः । सा च विद्यातत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वाच्येति ब्रह्मकाण्डे निर्णीतम्'—हेलाराज । जैसे विद्यारूप को अङ्गीकार करके 'सर्वपरिकल्पातीततत्त्वं' कहा गया है और अविद्यानिबन्धन रूप को स्वीकार करके 'समाविष्टं सर्वाभिः शक्तिभिः' ऐसा निर्दिष्ट हुआ है, वैसे ही देशकालादिकृत तथा गोघटादिकृत प्रविभाग, अविद्याजन्य होने से शब्दब्रह्म को अविद्याप्रविभागरूप माना जाता है और अविद्या-निबन्धन भेदप्रकाश के असत्य होने से ब्रह्म अप्रविभाग भी है ।

वृत्तिः—कालभेददर्शनाभ्यासेन मूर्तिविभागभावनया च व्यवहारानुपातिभिर्धर्माधर्मैः सर्वास्ववस्थास्वनाश्रितादिनिधनं ब्रह्मेति प्रतिज्ञायते ।

शब्दब्रह्म की दो अवस्थाएँ हैं—प्रथम सर्वपरिकल्पातीत एकघनप्रकाश दशा और द्वितीय नामरूपात्मक विकल्पों से लक्षित भेदप्रकाश दशा । इन सभी अवस्थाओं में ब्रह्म अनादि और अनन्त है—आदि और अन्त का आश्रय नहीं लेता । 'अभूत्' भवति, भविष्यति अर्थात् अतीत, वर्तमान और अनागत रूप कालभेद के दर्शन या अनुभव के अभ्यास-नैरन्तर्य से और गो-घटादि, द्रव्यपरिमाणात्मक मूर्तियों के पारस्परिक विभाग की भावना या ज्ञानात्मक अभ्यास से व्यवहार में आने वाले वर्तमान

---

१. परमार्थतोऽविकल्पितं विकल्पानामविषयो यत्तत्त्वं तदेव व्यवहारेऽन्यस्याभावाद् विकल्पमानं नानाविधभेदावभासमनादिसिद्धाविद्यावशात् समवलम्बते । जीवात्मभेदेनावतिष्ठमानं तदतत्त्वेनेति मूर्तिविवर्ताश्रयदिक्शक्तिविभक्तदेशनानात्वनिमित्तपौर्वापर्यावलम्बनसहम् । एवमकालकलितमपि तत्त्वमनादिनिधनं कालाख्यस्वतन्त्रशक्तिविनिवेशितप्रतिबन्ध्याभ्यनुज्ञावशाज्जन्मादिभावविकाराभिधीयमानपौर्वापर्यं चकास्तीत्यर्थः । —हेलाराज ।

गो, घट, वृक्ष, सूर्य, चन्द्र, अवनी, अम्बर आदि धर्मों[१] तथा मिट्टी आदि कारणों में शक्तिरूप से वर्तमान अनभिव्यक्त, अतीत, अनागत घटादि पदार्थ रूप अधर्मों से वह ब्रह्म भेदप्रकाश दशा में भी अनादिनिधन है—उत्पत्ति और विनाशरहित है। एकघन-प्रकाश दशा में तो वह देशकालकृत परिच्छेद से शून्य होने के कारण अनादिनिधन है ही।

वृत्तिः—नहि कार्यकारणात्मकस्य विभक्ताविभक्तस्यैकस्य ब्रह्मणः सर्वप्रवादेष्वपूर्वापरे[२] प्रवृत्तिनिवृत्तिकोटी परिसङ्ख्यायेते।

क्योंकि ब्रह्म ही कारण है और कार्य भी। अतः किसकी उत्पत्ति और किसका निरोध ? एक अखण्ड ब्रह्म से उत्पाद और व्यय भी अव्यतिरिक्त ही है; अतः कारण और कार्य की एकता सिद्ध है। 'यह कुमुद है' 'यह कमल है' 'यह घट है' 'यह पट है' इस प्रकार प्रत्यवभासमान आकारों के परिग्रह द्वारा वह ब्रह्म विभक्त है; और प्रत्यवभासों के असत्य होने के कारण अविभक्त भी है। अतः कार्यकारणात्मक विभक्ताविभक्त एक अखण्ड शब्दब्रह्म की गो, घट एवं ब्रह्माण्ड रूप कार्यों की प्रवृत्ति या उत्पत्ति की पूर्व मर्यादा तथा निवृत्ति या विनाश की अपर कोटि या मर्यादा नहीं बाँधी जा सकती। अर्थात् एक ब्रह्माण्ड या तदन्तर्गत कार्य इस सीमा के पहले नहीं थे और इसके पश्चात् नहीं होंगे; ऐसी कालिक मर्यादा बाँधना सम्भव नहीं। यह बात न केवल एक दर्शन या मत को मान्य है, किन्तु सम्पूर्ण सांख्य[३] वैशेषिकादि प्रवादों (दर्शनों) में भी स्वीकृत है। इस प्रकार कार्यात्मक, विभक्त या भेदप्रकाश दशा में भी कालपरिच्छेद से शून्य होने के कारण ब्रह्म की अनाद्यनन्ता सिद्ध है।

वृत्तिः—न चास्योर्ध्वमधस्तिर्यग्वा मूर्तपरिवर्तप्रत्यङ्गानां क्वचिदवच्छेदोऽभ्युपगम्यते।

---

१. श्री वृषभ ने कहा है—धर्माधर्मशब्देन विकारा गवादय उच्यन्ते। उत्पादव्ययौ वा। तैरेव यद् व्यवह्रियमाणमपि आदिनिधने नाश्रयति न प्रतिपद्यते तद् ब्रह्म इति प्रतिज्ञा।

२. 'अपूर्वापरे' पाठ श्रीवृषभाचार्य ने भी रखा है। इसके अनुरोध से अर्थ होगा—जो वस्तुतः पूर्व और पर की कोटि से रहित है, उसकी प्रवृत्ति और निवृत्ति की मर्यादा का परिगणन उचित नहीं। 'पूर्वापरे' पाठ अधिक संगत है।

३. सांख्यमत में अवस्थित-नित्य अजहत्स्वरूप ही प्रकृति, महदादिरूप में परिणत होती है, और पुनः महदादि के प्रलीन हो जाने पर उसी प्रकार स्थित रहती है, अतः दोनों अवस्थाओं में अजहत्स्वरूपता सिद्ध है। वैशेषिक लोग भी मानते हैं कि चतुर्विध परमाणु कार्योत्पादन शक्तियुक्त तथा नित्य हैं। कार्यदशा में और कार्यनिवृत्ति दशा में समवायसम्बन्ध से कार्यों के परमाणुओं में रहने से उभय दशाओं में उनकी नित्यता अबाधित है।

और इस ब्रह्म के मूर्त घटादिक परिवर्तों-विवर्तों या विकारों तथा उनके प्रत्यङ्ग या अवयवों का ऊर्ध्व, अधः और पार्श्व देश अर्थात् दशों दिशाओं में कहीं भी अन्त नहीं। कहा भी है—

अण्डानामीदृशानां तु कोट्यः सङ्ख्याः प्रकीर्तिताः ।।

(श्रीवृषभ) कूर्मपुराण १।४९।१७

हेलाराज भी कहते हैं—'यद्वा ब्रह्माण्डान्तरे विनष्टेऽपि ब्रह्माण्डान्तरसम्भवाद् युगपत्प्रलयो नास्ति। तथा चाहुः—

अण्डानामीदृशानां तु परिसङ्ख्या न विद्यते ।।

—जातिसमु०, कारिका ४२

एक ब्रह्माण्ड के नष्ट हो जाने पर भी अन्य ब्रह्माण्ड रहते ही हैं। अतः पदार्थों का युगपत्प्रलय नहीं होता।

इस प्रकार के करोड़ों ब्रह्माण्ड सदैव वर्तमान रहते हैं। इनकी परिसंख्या-गणना या सीमा नहीं। इस प्रकार दशों दिशाओं में वर्तमान विवर्तों, भावों या पदार्थों का न आदि है और न अन्त। अतः भेदप्रकाश दशा में देशकृत परिच्छेद न होने के कारण दैशिक अनादिनिधनत्व भी प्रमाणित है।

वृत्तिः—तत्तु भिन्नरूपाभिमतानामपि विकाराणां प्रकृत्यन्वयित्वाच्छब्दोपग्राह्यतया शब्दोपग्राहितया च शब्दतत्त्वमित्यभिधीयते।

जिस प्रकार चूर्ण, पिण्ड, कपाल, घट, शराव आदि विकार मिट्टी रूप प्रकृति से अन्वित देखे जाते हैं, वैसे ही गो, घटादि विविध रूपों में अभिमत सम्पूर्ण शब्दात्मक और अर्थात्मक विकारों के ब्रह्मरूप प्रकृति से अन्वित होने के कारण तथा ये विकार शब्दोपग्राह्य या शब्दस्वभावात्मक हैं—शब्द ही विविध विकारों के रूप में विवृत्त या परिणत हो रहा है। अतः इन विकारों में शब्दस्वरूप की स्वीकृति से और शब्द ही ज्ञान, ज्ञाता या चैतन्यरूप (अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मवागात्मना स्थितः—स्वोपज्ञ में उद्धृत) से इनका उपग्रहण करानेवाला है, अतः शब्दोपग्राह्य और शब्दोपग्राही होने से ब्रह्म शब्दतत्त्व के नाम से कहा जाता है।

अभिप्राय यह है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दात्मक समस्त जागतिक विकार अपनी प्रकृति या मूल कारण से अन्वित होते हैं और इनकी प्रकृति है ब्रह्म, और ब्रह्म वाग् रूप है। 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' कारण के गुण ही कार्यगुणों का निर्माण करते हैं, इस नियम से समस्त विकार शब्दरूप हैं, क्योंकि वे कारणात्मा शब्दब्रह्म के कार्य हैं। भरतमिश्र ने अपने स्फोटसिद्धि नामक ग्रन्थ के आगम परिच्छेद में 'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्' इसकी व्याख्या में कहा है—'त्वः कश्चित् वाचं स्व (न ?) भेदा वसेयभूधरादिविवर्तात्मनावस्थितां (तां) पश्यन्नपि विपर्यासत्वाद्वाचं पश्यामीति नानुसन्धत्ते। अपि त्वन्यदेव पश्यामीत्यभिमन्यत इति फलतो न पश्यति।' अर्थात् कोई व्यक्ति अपने से (वाग्रूप से) भिन्न रूप में अवसित भूधर–

पर्वतादि विवर्त रूप में वर्तमान उस वाणी को देखते हुए, भ्रम के कारण वाणी को देख रहा हूँ, ऐसा अनुसन्धान नहीं करता। किन्तु और ही पदार्थ देख रहा हूँ, ऐसा मानता है। फलतः वह अविद्यावश नाना पदार्थों के रूप में परिणत वाक् तत्त्व को देखते हुए भी नहीं देखता।

इस प्रकार विकार शब्दोपग्राह्य हुए। श्रीवृषभ इसे प्रस्तुत रूप में स्पष्ट करते हैं—'शब्द उपग्राह्यः स्वीकर्तव्योऽस्येति। शब्दस्वभावस्य रूपाद्यात्मना विवृत्तेः शब्दः स्वीकृतो भवतीति।' अर्थात् शब्द स्वभाव ब्रह्म ही रूप-रसादि विकारों के रूप में विवृत या भासित होता है। अतः उन विकारों में शब्द की स्वीकृति देखी जाती है।

एक अन्य टीकाकार के मत को श्री वृषभ यहाँ उद्धृत करते हैं। यथा—'तद् ब्रह्म शब्दतत्त्वमुच्यत इत्यत्र को हेतुः, शब्दोपग्राह्यतया' इति। शब्द(भावरूप)स्वरूप-स्वीकारात्।' अर्थात् ब्रह्म को शब्दतत्त्व कहने में क्या हेतु है? शब्दोपग्राह्य होने के कारण ब्रह्म को शब्दतत्त्व कहा जाता है। ब्रह्म में शब्द स्वरूप की स्वीकृति स्पष्ट है। इस दृष्टि से ब्रह्म शब्दोपग्राह्य है।

शब्द ही चेतन रूप से विकारों का उपग्राही या ग्रहण कराने वाला है। कहा भी है—'सैषा संसारिणां संज्ञा' (वा० प० ब्रह्मकाण्ड)। इसका अर्थ दो प्रकार से किया जाता है, पहला—संसार में ऐसा कोई चेतन प्राणी नहीं है, जो वाक् शक्ति के परिग्रह से रहित हो—'तस्माच्चितिक्रियारूपमलब्धवाक्शक्ति परिग्रहं न विद्यते।' (स्वोपज्ञ-वृत्ति) दूसरा—वाक् ही चेतना है—'वाक्तत्त्वमेव चितिक्रियारूपमित्यन्ये।' तथाह—

भेदोद्ग्राहविवर्तेन लब्धाकारपरिग्रहा।
आम्नाता सर्वविद्यासु वागेव प्रकृतिः परा॥　　(स्वोपज्ञवृत्ति)

परा प्रकृति रूपिणी वाक् ही मनुष्य, गो, घटादि चराचरात्मक भेदों के स्वीकारात्मक विवर्त या विकल्प द्वारा अनेक आकारों का परिग्रहण करती है। वही ससंज्ञ, विसंज्ञ और अन्तःसंज्ञ रूप में भासित होती है। इस प्रकार वह न केवल जड़ अपितु चेतन रूप में भी परिणत होती है। श्रीवृषभ कहते हैं—'यतश्च भावानामाकार-परिग्रहेण परा प्रकृतिः विवर्तते। तच्चैतन्यात्मना परिणमते इति वाक्चैतन्ययोरभेदः।'
(कारिका ११८, ब्रह्मकाण्डगत स्वोपज्ञ व्याख्या)

प्रस्तुत अर्थ में वाक् और चेतन का अभेद बाधित होता है और पूर्वोक्त प्रथम अर्थ में भेद।

शब्द ही चेतन पुरुषरूप से विकाररूप में विवर्तित शब्दब्रह्म का उपग्राही या स्वीकर्ता है। अतः शब्दोपग्राहिता के कारण भी ब्रह्म शब्दतत्त्व कहा जाता है, इस अर्थ की प्रतीति होती है; किन्तु श्रीवृषभ कहते हैं—'शब्द उपग्राही अस्येति, शब्दनिबन्धना प्रतिपत्तिस्तस्येति शब्दतत्त्वम्।' अर्थात् शब्द के द्वारा ही यह पकड़ा जाता है, अतः इसे शब्दतत्त्व कहते हैं। आगे चलकर वे इसे और स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। यथा—'शब्देन हि तत् परिच्छिद्यते। तस्मिंश्च तत्परिच्छेदके ज्ञाने तद्रूपं सन्निविष्ट-

मिति वस्तुनः शब्दाकारज्ञानोत्पत्तेः शब्द उपग्राही स्वीकर्ता तस्य भवति । अर्थात् शब्द के द्वारा वह परिच्छिन्न या सीमित किया जाता है और उस सीमित ज्ञान में शब्द रूप भी सन्निविष्ट रहता है। इस प्रकार वस्तुओं का ज्ञान शब्दाकारक होता है। अतः शब्द ही उसका उपग्राही या स्वीकर्ता होता है।

एक अन्य टीकाकार का मत देते हुए वे कहते हैं—'अन्ये तु विपरीतं पठन्ति शब्दोपग्राहितया शब्दोपग्राह्यतया इति। तेषामुपग्राहयितुं शीलमस्येति शब्दोपग्राहि। शब्देनोपगृह्यते प्रतिपद्यते इति शब्दोपग्राह्यम्, शब्दस्वभावेनावतिष्ठत इति।' दूसरों के मत में वृत्ति का शब्दोपग्राहितया शब्दोपग्राह्यतया ऐसा विपरीत पाठ है। तेषां—उनके मत में अथवा उन विकारों का उपग्रहण कराने वाले स्वभाव से सम्पन्न शब्द—यह शब्दोपग्राहि का अर्थ होगा। यहाँ शब्द शब्द का अर्थ पुरुषनिष्ठ शब्द अथवा पुरुषात्मक शब्द सम्भव है। शब्दोपग्राह्य का अर्थ है—वह शब्द के रूप में उपग्रहीत होता है अर्थात् शब्दस्वभावात्मना वर्तमान रहता है।

भगवान् भर्तृहरि ने 'अपि प्रयोक्तुरात्मानम्–' (१२२) इस कारिका की वृत्ति में कहा है—'इह द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्मश्च। तत्र कार्यो व्यावहारिकः पुरुषस्य वागात्मनः प्रतिविम्बोपग्राही।

इस संसार में दो शब्दात्मा हैं, एक नित्य दूसरा कार्यरूप। कार्यशब्दात्मा व्यावहारिक रथ्यापुरुष (सामान्य मनुष्य) है। यह वाक्तत्त्व का विकार होने से कार्यशब्द-स्वभाव है, इसी से जगत् का व्यवहार चलता है। यह नित्य शब्दात्मा का प्रतिबिम्ब रूप है। यही जीवात्मा है। श्रीवृषभ की पद्धति को देखने से प्रतीत होता है कि उपर्युक्त वृत्ति का पाठ इस प्रकार होना चाहिए—'तत्र कार्यो व्यावहारिकः पुरुषः वागात्मा तस्य नित्यस्य प्रतिविम्बोपग्राही।'

नित्य शब्दात्मा अभेद स्वभाव सम्पूर्ण व्यवहारों का जनक, समस्त प्रयोक्ता या प्रमाताओं का अन्तर्यामी, सम्पूर्ण पदार्थों के उत्पादन में अप्रतिहत शक्तिशाली तथा घट-मठ आदि में रखे हुए दीप प्रकाश के समान भोग क्षेत्र—शरीर की सीमा में अन्तरात्मा रूप से स्थित, समस्त मूर्तियों या विकारों की अक्षय्य प्रकृति, सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञान रूप से तथा समस्त भिन्न-भिन्न ज्ञेयों के रूप से सर्वदा प्रतिभासित रहता है। इसी के सम्बन्ध में कहा गया है—'महो देवो मर्त्यां आविवेश।' सर्वेश्वर, सर्वशक्ति महान् शब्दवृषभ (ब्रह्म) मर्त्य पुरुषों में प्रविष्ट हो गया। एक ही शरीर में शब्दब्रह्म अन्तर्यामी रूप से तथा चिदाभास या जीवात्मा रूप से स्थित रहता है। चिदाभास या जीवात्मा ही व्यावहारिक पुरुष है, जिससे सांसारिक कार्यों का निर्वाह होता है। इसीलिए कहा गया है—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।' जीवात्मा आविद्यक (अविद्याकल्पित) पुरुष है और अन्तर्यामी विद्यात्मक।

अथर्ववेद भाष्य के उपोद्घात में सायणाचार्य ने कहा है—'सोऽपि स्फोट इति शाब्दिका शब्दायन्ते तत्रेमां श्रुतिं प्रमाणयन्ति—

शब्दब्रह्म यदेकं यच्चैतन्यं च सर्वभूतानाम् ।
यत्परिणामस्त्रिभुवनमखिलमिदं जयति सा वाणी ॥

नित्य शब्द को वैयाकरण लोग स्फोट के नाम से कहते हैं। इस विषय में प्रस्तुत व्याकरणागम का प्रमाण देते हैं—

'जो एकमात्र शब्दब्रह्म है और जो समस्त प्राणियों में चैतन्य के रूप में वर्तमान रहता है तथा यह अखिल जगत् जिसका परिणाम है, वह वाक्तत्त्व ही सर्वोत्कृष्ट है।'

श्रीमद्भागवत (११।१२।१७) भी कहा गया है—

स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः ।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः ॥

सम्पूर्ण जगत् का जीवन भूत वह शब्दब्रह्म ही ब्रह्मनाडी रूप विवर से मुख्य प्राण रूप में आविर्भूत होता है और घोष रूप से बाह्य गगन गुहा में प्रविष्ट होता है। प्राण, अपान आदि पञ्चप्राण मुख्य या सूक्ष्म प्राण की वृत्तियाँ है। अतः 'प्रणवः प्राणिनां प्राणो जीवनं सम्प्रतिष्ठितम्' इस उक्ति के अनुसार प्रणवात्मक मुख्य प्राण हृदय की गुहा में अनाहत नाद के रूप मे प्रकट होता है और बाह्याकाश या ब्रह्माण्ड की गुहा में भी वह प्रणवात्मक प्राणस्वभाव सूर्य रूप से अव्यक्त सप्त स्वरात्मक घोष के साथ प्रतिष्ठित होता है। उभयथा वह मनोमय पश्यन्ती एवं मध्यमात्मक सूक्ष्म रूप ग्रहण करने के अनन्तर मात्रा—अक्षरावयव, ह्रस्वादि मात्रा, स्वर—उदात्तादि, और वर्ण—अकार, ककारादि स्थूल रूप को ग्रहण करता है।

जयन्तभट्ट (८८० ई०) ने न्यायमञ्जरी में शब्द ब्रह्मवाद का खण्डन करते हुए 'अनादिनिधनं–' इस कारिका को उद्धृत करके कहा है—'तत्रानादिनिधनपदनिवेदिता पूर्वापरान्त रहिता वस्तुसत्ता, नित्यत्वं ब्रह्मपदप्रतिपादितं च व्यापित्वं (मित्युभयमपि शब्दस्य प्रागेव निरस्तम्)। निरवयवश्च स्फोटात्मा शब्दः (प्रतिक्षिप्त एव)। यत्तु नित्यं वा किञ्चिदुच्यते तच्छब्दतत्त्वमित्यत्र का युक्तिः ? आह—शब्दोपग्राह्यतया च शब्दतत्त्वम्।' इससे ज्ञात होता है कि श्रीवृषभ (५५० ई०) ने 'अन्ये तु व्याचक्षते' इस सन्दर्भ द्वारा जिस टीकाकार को उद्धृत किया था, उसी को जयन्त भी 'शब्दतत्त्वमित्यत्र का युक्तिः' के रूप में उद्धृत करते हैं। और इसी प्रसङ्ग में वे निरवयव स्फोटात्मक शब्द की भी चर्चा करते हैं। वह स्फोट नित्य शब्दतत्त्व ही है, ऐसा जान पड़ता है।

वृत्तिः—स्थितिप्रवृत्तिनिवृत्तिविभागाः शब्देनाक्रियन्ते ।

समस्त जागतिक गो, घट आदि मूर्तियों या पदार्थों में आविर्भाव या प्रवृत्ति, तिरोभाव या निवृत्ति और उभय धर्म सामान्य रूप स्थिति ये धर्म देखे जाते हैं; ये अनपायी (नित्य) धर्म ही क्रमशः पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग के नाम से कहे जाते हैं—

आविर्भावस्तिरोभावः स्थितिश्चेत्यनपायिनः ।
धर्मा मूर्तिषु सर्वासु लिङ्गत्वेनानुदर्शिताः ॥ १३ ॥
—वा० प०, लिङ्गसमु०

तटः, तटी, तटम् आदि एक ही पदार्थ में सभी लिङ्गों को देख कर महाभाष्यकार ने कहा है कि यहाँ 'स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः' यह लौकिक लिङ्गव्यवस्था सम्भव नहीं। अतः कोई स्वशास्त्रीय सिद्धान्त निर्धारित करना चाहिए। आगे चल कर उन्होंने कहा है—

'संस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ स्वकृतान्ततः ।' अर्थात् संस्त्यान–तिरोभाव, प्रसव–आविर्भाव और इनकी साम्यावस्था ही स्थिति है और ये ही स्व-सिद्धान्ततः लिङ्ग के निर्णायक हैं। सांसारिक जड़ पदार्थों में ही नहीं 'चितिः चैतन्यम् आत्मा' आदि लिङ्गरूप आकारों का विधान शब्द द्वारा ही किया जाता है। कैयट कहते हैं—'संस्त्यानं तिरोभावः, प्रवृत्तिराविर्भावः, साम्यावस्था स्थितिः एताश्चावस्थाः शब्दगोचरा एवेत्यवसेयम् ।'

'तटम्' में स्थितिरूप नपुंसकलिङ्गता का आकार, 'तटः' में प्रवृत्ति रूप पुंलिङ्गता 'तटी' में स्त्रीलिङ्गता का आकार-स्वरूप ये विभाग शब्द के द्वारा ही किये जाते हैं—(शब्देनाक्रियन्ते)।

भगवान् भर्तृहरि ने भी आगे चलकर कहा है—

शब्दोपजनितोऽर्थात्मा शब्दसंस्कार इत्यपि ॥ २॥ —लिङ्गसमु०

अर्थ का आत्मा या स्वरूप—अर्थात् वस्तु, अर्थः और व्यक्तिः में क्रमशः स्थिति रूप नपुंसकलिङ्गता, प्रवृत्ति रूप पुंलिङ्गता और निवृत्ति रूप स्त्रीलिङ्गता शब्द द्वारा ही उपजनित है। 'एकस्यापि वस्तुनः शब्दभेदेनार्थो व्यक्तिर्वस्त्विवति लिङ्गभेदस्य दर्शनात् बहिरसन्नेव शब्दैरुत्पादित इव बाह्ये वस्तुनि लिङ्गयोग इति शब्दाभिधेयस्वभावं लिङ्गमिति केचित् ।'—हेलाराज। एक ही वस्तु में शब्द भेद से अर्थः, व्यक्तिः, वस्तु; इस प्रकार लिङ्ग-भेद देखा जाता है। बाहर न होते हुए भी शब्दों से उत्पादित के समान बाह्य वस्तु में लिङ्गयोग देखा जाता है। अतः लिङ्ग शब्द निर्मित है।

तटः, तटी, तटम् में अभिन्न शब्द के द्वारा अभिन्न वस्तु त्रिलिङ्गात्मक प्रतीत होती है। अतः लिङ्ग शब्द संस्कार या शब्द के अन्वाख्यान का निमित्त मात्र है, ऐसा कुछ लोग मानते हैं।

वैयाकरण लोग प्रक्रिया में शब्दार्थ को शब्दरूप अर्थ को ही अर्थ मानते है, बाह्य वस्तु को नहीं, क्योंकि भिन्न जातीय द्रव्य, गुण-कर्म, सामान्य आदि में शब्द से लिङ्ग की उपाधि का बोध देखा जाता है। एक ही अर्थ किसी शब्द से नियतलिङ्ग के रूप में जब कहा जाता है तो उसी लिङ्ग और जाति से युक्त रहता है और शब्दान्तर से वही अर्थ भिन्न लिङ्ग जाति से युक्त प्रतीत होता है। जैसे 'भाव' शब्द के द्वारा पुंस्त्व उताधिरूप सत्ता का कथन होता है और 'सत्ता' शब्द से स्त्रीत्वोपाधिक तथा

'सामान्य' शब्द से नपुंसकत्वोपाधिक; इसी प्रकार तटादि में भी समझना चाहिए। गोत्वादि भी भाव, जाति और सामान्य शब्दों के द्वारा स्त्रीलिङ्गोपाधि रूप में कहे जाते हैं। इस प्रकार शब्दशक्ति के अनुसार ही सर्वत्र लिङ्गजाति व्यवस्थित होती है। द्रव्यायमाण वस्तु को बतलाने वाले शब्द ही उस वस्तु के धर्मात्मक लिङ्गोपाधि के रूप में जहाँ-तहाँ प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार स्त्रीत्व, स्त्रीता और स्त्रीभाव में अन्य लिङ्गयोग भी द्रष्टव्य है। अतः स्थिति, प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप विभाग शब्द के द्वारा ही किये जाते हैं, यह स्पष्ट है। इस बात को हेलाराज ने लिङ्गसमुद्देश की ५वीं कारिका के व्याख्यान में 'अयमत्र परमार्थः' के रूप में कहा है।

अथवा स्थिति का अर्थ है सत्ता तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति या जन्म और नाश, ये सत्ता के ही विकार हैं, अतः स्थिति का प्रथमतः उल्लेख किया गया है। शब्द ब्रह्म रूप परा प्रकृति, स्वप्नप्रबोधवृत्ति के अनुरूप सर्व प्रथम सत्ता-प्रतिभा-महानात्मा या अपरपश्यन्ती के रूप में अभिव्यक्त होती है और वही जायते अस्ति विपरिणमते और वर्द्धते के रूप में प्रवृत्ति तथा अपक्षीयते और नश्यति के रूप में निवृत्ति के नाम से कही जाती है।

सत्ता लक्षण भाव के नित्य होने से उसमें उदय और व्यय का योग सम्भव नहीं। और सत् होने से आविर्भाव और तिरोभाव भी नहीं। ये दोनों वस्तुतः सत्ता में व्यवहारार्थ कल्पित हैं। यह कल्पना शब्द द्वारा ही सम्भव है। यथा—

आविभार्वतिरोभावौ जन्मनाशौ तथापरैः।
पट्सु भावविकारेपु कल्पितौ व्यावहारिकौ ॥ २५ ॥
ताभ्यां सर्वप्रवृत्तीनामभेदेनोपसङ्ग्रहः ।
जन्मैवाश्रितसारूप्यं स्थितिरित्यभिधीयते ॥ २६ ॥
जायमानान्न जन्मान्यद् विनाशेप्यपयार्थता।
अतो भावविकारेपु सत्तैका व्यवतिष्ठते ॥ २७ ॥

सत्कार्यनय में अभिव्यक्ति को ही उत्पत्ति और तिरोभाव को ध्वंस कहते हैं। असत्कार्यनय में अपूर्व उत्पत्ति ही जन्म है और विनाश को लय कहते हैं। छह भावविकारों में ये दोनों परिकल्पित और व्यवहार में प्रसिद्ध होने के कारण आरोपित हैं। जन्म और नाश ये दोनों समस्त भावविकारात्मक प्रवृत्तियों में व्याप्त हैं, अतः इन्हीं में समस्त क्रियाकलाप का अभिन्नरूप ग्रहण किया जाता है। जन्म ही सदृशप्रवाहरूपता के कारण स्थिति के नाम से कहा जाता है। जन्म, जायमान धर्मी से व्यतिरिक्त पदार्थ नहीं और निरन्वयध्वंस के विरोध से विनाश भी कोई पृथक् अर्थ नहीं; अतः सम्पूर्ण भावविकारों में एकमात्र सत्ता ही स्थित रहती है। इस सत्ता के व्यावहारिक विभाग शब्द द्वारा ही किये जाते हैं।

श्रीवृषभ ने इस प्रकार उपर्युक्त सन्दर्भ की व्याख्या की है—स्थिति मध्यावस्था है, प्रवृत्ति को सर्ग और निवृत्ति को प्रलय कहते हैं। प्रविभक्त ब्रह्म के (ये रूप) शब्द के द्वारा परिच्छेद्यता को प्राप्त कराये जाते हैं। इनका निरूपण शब्द का आश्रय

लिये विना नहीं हो सकता । 'स्थितिः मध्यावस्था, प्रवृत्तिः सर्गः, निवृत्तिः प्रलयः । त एव विभागाः । हि शब्दो यस्मादर्थे । यस्मादेते प्रविभक्तस्य ब्रह्मणो शब्देनाक्रियन्ते, परिच्छेद्यतामुपनीयन्ते । न ह्येते शब्दमनाश्रित्य शक्यन्ते निरूपयितुमिति ।

वृत्तिः—तच्चाक्षर[1]निमित्तत्वादक्षरमित्युच्यते ।

वह शब्दब्रह्म अकारादि अक्षरों-वर्णों का निमित्त है, अतः उसे अक्षर कहा जाता है । शान्तरक्षित कृत 'तत्त्वसंग्रह' के टीकाकार कमलशील ने लिखा है—'अक्षरमिति अकाराद्यक्षरस्य निमित्तत्वात् । एतेनाभिधानरूपो विवर्तो दर्शितः ।' ब्रह्म अक्षरों का निमित्त है, इससे अभिधान रूप विवर्त दिखलाया गया । एक का अनेकधा प्रतिभास विवर्त है—'एकस्य अनेकधा प्रतिभासो विवर्तः' (श्रीवृषभ ?) । वर्ण, पद, वाक्यात्मक नानात्व शब्दब्रह्म का अभिधानात्मक विवर्त है । यह बात किसी प्राचीन टीका के आधार पर ही कमलशील ने लिखी होगी । माणिकनन्दी के परीक्षामुखसूत्र के व्याख्यान 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' में प्रभाचन्द्र (८२५ ई०) ने भी 'अक्षरं च अकाराद्यक्षरस्य निमित्तत्वात् । अनेन वाचकरूपता' ऐसा लिखकर उसी का अनुसरण किया है । वादिदेव सूरि ने 'स्याद्वादरत्नाकर' (११४० ई०) में—'अपि च सकलमेवेदं वाच्यवाचकतत्त्वं शब्दब्रह्मण एव विवर्तो नान्यविवर्तो नापि स्वतन्त्रमिति । यथोक्तं—'अनादिनिधनं शब्दब्रह्मतत्त्वं' यह कहकर उपर्युक्त कारिका की व्याख्या में शब्दशः प्रभाचन्द्र का अनुकरण किया है ।

प्रभाचन्द्र एवं वादिदेव द्वारा सम्मत 'शब्दब्रह्मतत्त्वम्' पाठ उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि शब्दब्रह्म के बाद तत्त्व शब्द जोड़ना पुनरुक्ति है ।

उत्पलाचार्य ने 'इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथाक्षयम् । तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा हि वाक् ।' (२।२) शिवदृष्टि की इस कारिका में आये हुए अक्षर शब्द का निर्विकार अर्थ किया है । वह व्याकरण-सम्प्रदाय को अनभिमत है ।

शान्तरक्षित ने 'अनादिनिधनं' कारिका का जो अनुवाद किया है उसमें 'अक्षरम्' शब्द नहीं है । वहाँ कहा गया है—'नाशोत्पादासमालीढं ब्रह्म शब्दमयं परम् ।' कमलशील ने 'परम्' की प्रस्तुत व्याख्या की है—

'परमिति प्रणवात्मकम् । प्रणवो हि किल सर्वेषां शब्दानां सर्वेषां चार्थानां प्रकृतिः, स च वेदः । अयं तु वर्णपदक्रमेणावस्थितो वेदः तदधिगमोपायः तस्य प्रतिच्छन्दकन्यायेनावस्थितः ।

पर अर्थात् प्रणव । यह प्रणव सम्पूर्ण शब्दों और अर्थों की प्रकृति या मूल है और वही वेद है । वर्ण, पद क्रमरूप में स्थित संहितात्मक वेद, जो प्रणवात्मक वेद की प्राप्ति का उपाय है, उसकी प्रतिमा है ।

---

१. द्वादशारनयचक्र (५वीं शती) की 'न्यायागमानुसारिणी' टीका में उद्धृत 'अनादिनिधन' कारिका के अक्षर शब्द पर उद्धृत 'विषमपदविवेचना' व्याख्या का वृत्तिगत पाठ—'तच्चानिमित्तत्वादक्षरम्' अशुद्ध प्रतीत होता है ।

वस्तुतः 'परं' शब्द से 'अक्षर' को समझना चाहिए और अक्षर ही प्रणव है जिससे अकारादि अक्षर उत्पन्न होते हैं। प्रणव का नाम 'मातृका सूः' भी है, अर्थात् मातृकाओं—वर्णों का जनक। प्रकारान्तर मन्त्राभिधान में प्रणव के पर्यायवाची शब्द संगृहीत हैं। यथा—'ओङ्कारो वर्तुलस्तारो वामश्च[1] हंसकारणम्'।

मन्त्राद्यः प्रणवः सत्यं विन्दुशक्तिस्त्रिदैवतम् ॥ १ ॥
सर्वबीजोत्पादकश्च पञ्चदेवो ध्रुवस्त्रिकः।
सावित्री त्रिशिखो ब्रह्म त्रिगुणो गुणजीवकः ॥ २ ॥
आदिबीजं वेदसारो वेदबीजमतः परम्।
पञ्चरश्मित्रिकूटे च त्रि(तारं)भवो भवनाशनः ॥ ३ ॥
गायत्रीबीजपञ्चांशौ मन्त्रविद्याप्रसूः प्रभुः।
अक्षरं मातृकासूश्चानादिरद्वैतमोक्षदौ ॥ ४ ॥

अक्षर शब्द द्वारा बोधित शब्दब्रह्म प्रणव है, इस बात को 'सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता–' इस कारिका में स्वयं भगवान् भर्तृहरि ने स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है कि सम्पूर्ण विकल्पों के निषेध के अनन्तर जो शेष शुद्ध रूप है, वह प्रणवात्मक[2] एकपदागमा विद्या ही है। श्रीवृषभ कहते हैं—'प्रणवो ब्रह्म, स एव विद्येति।' 'विधातुस्तस्य लोकानां–' इस कारिका की वृत्ति में भी कहा गया है कि लोक विधाता प्रणव ही मूल वेद है—'स हि सर्वशब्दार्थप्रकृतिः।' इसके अतिरिक्त 'अत्र प्रणवः सर्वाभ्यनुज्ञाविषयः–' आदि ९वीं कारिका की वृत्ति में विवृत है। कमलशील ने यहाँ से तथा श्रीवृषभ से अपना सन्दर्भ लिया होगा।

ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त १६४ के ३९वें मन्त्र—'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः' में पठित अक्षर शब्द प्रणववाचक है। इस बात को अत्यन्त प्राचीन निरुक्ताचार्य शाकपूणि, यास्काचार्य, दुर्गाचार्य, स्कन्दस्वामी तथा

---

१. 'वामो हंसश्च कारणम्' ऐसा पाठ उचित जान पड़ता है।

२. द्वादशारनयचक्र (पृष्ठ ४९६) में पठित है—'अन्वाह च पृथिवीधातौ किं सत्यम्? विकल्पः, विकल्पे किं सत्यम्? ज्ञानम्, ज्ञाने किं सत्यम्? ओम्, तदेतद्ब्रह्म।' इस पर सिंहसूरगणि की टीका—'एतमेव नयमनुवर्तमानोऽन्योप्याह पृथिवीधातावित्यादि यावत्तद्ब्रह्मेति, पृथिव्येव पृथिवीधातुः प्रवृत्यादिधर्मधारणात्। तत्र किं सत्यम्? विकल्प इति। स्वयमेव पृष्ट्वा व्याचष्टे न काचिदप्यत्र पृथिवी नामास्ति अश्मसिकतामृल्लोष्टवज्रादीन् विमुच्य, त एव हि विकल्पाः पृथिवी, न पृथिव्येव ते विकल्पाः किं सत्यम्? ज्ञानम्, तेऽपि च विकल्पा ज्ञानादन्ये न सन्ति, ज्ञानमेवात्मकर्मलक्षणं तथा तथा विजृम्भते, चैतन्यस्यैव व्यवहारमार्गपातित्वात्, ज्ञाने किं सत्यम्? ओम्, अवति रक्षति पाति प्रीयते तृप्यति चेतनाचेतनभेदे सति, एवमादिधात्वर्थात्मना विपरिणममानं कर्मात्मतया एकं भवति येन यथा परिकल्प्यते तत्तथानुवर्तत इत्योम्, तदेतद्ब्रह्म, स एष परमार्थः। तदेतत्तत्त्वं परमं ब्रह्म बृहदिति ॥

—न्यायागमानुसारिणी-टीका

वेङ्कटमाधव ने स्वीकार किया है। यास्काचार्य ने निरुक्त के १३वें अध्याय में कहा है—'कतमत्तदेतदक्षरम् ? ओमित्येषा वागिति शाकपूणिः।' यह अक्षर क्या है? ओम् यह वाक् ही अक्षर है, ऐसा शाकपूणि कहते हैं। स्वयं शाकपूणि का कथन है—'ऋचोऽक्षरे—ऋगुपलक्षितसर्ववेदसम्बन्धिन्यक्षरे प्रणवरूप ओङ्कार अविनाशिनी' ऋचाओं से उपलक्षित सम्पूर्ण वेद सम्बन्धी अक्षर अर्थात् अविनाशी प्रणवरूप ओङ्कार में समस्त देवताओं का निवास है।

दुर्गाचार्य की व्याख्या है—विविधमस्मिन् शब्दजातमोतमिति व्योम। तस्मिन् तिसृषु मात्रासु अकारोकारमकारलक्षणासु उपशान्तासु यदवशिष्यते तदक्षरं परमं व्योम। ··· ··· ···। ऋगादिषु ये देवाः ते मन्त्रद्वारेणाक्षरे निषण्णाः तस्य शब्द-कारणत्वात्। अनेक प्रकार का शब्द-समुदाय इसमें व्याप्त है, अतः इसे व्योम कहते हैं। अकार, उकार और मकार इन तीन मात्राओं के शान्त हो जाने पर जो अक्षर शेष रहता है, उसे परमव्योम कहते हैं। ऋगादि में जो देव हैं, वे मन्त्र द्वारा अक्षर (प्रणव) में स्थित हैं, क्योंकि वह (प्रणव) शब्दों का कारण है।

छान्दोग्य उपनिषद् के आरम्भ में कहा है—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत।' उद्गीथात्मक ओम् इस अक्षर की उपासना करनी चाहिए।

माण्डूक्योपनिषद् का वचन है—

'ओमित्यैतदक्षरमिदं सर्वम्।' ओम् यह अक्षर ही सब कुछ है। 'ओमिति ब्रह्म' (तैत्तिरीय आरण्यक ७।४) भगवान् भर्तृहरि ने भी द्रव्य पदार्थवाद की चर्चा करते हुए महाभाष्यदीपिका में कहा है—'द्रव्यं हि नित्यम्।' इसके अनन्तर उन्होंने एक प्राचीन ग्रन्थ उद्धृत किया है, यथा—'नित्यः पृथिवी धातुः। पृथिवीधातौ किं सत्यम् ? विकल्पः। विकल्पे किं सत्यम् ? ज्ञानम्। ज्ञाने किं सत्यम् ? ओम्। अथ तद्ब्रह्म।'

हेलाराज ने भी 'सत्यासत्यौ तु यौ भावौ प्रतिभावं व्यवस्थितौ।' (वा० प०, तृ० काण्ड, जातिसमु० ३२) इस कारिका की व्याख्या में कहा है—

रुचक, स्वस्तिक कुण्डलादिक् विकारों में सुवर्ण सत्य है। सुवर्ण में तेज सत्य है। अभेदान्तर की विवक्षा में सूक्ष्मभूत सत्य है। उसमें भी सर्वनाम प्रत्याय्य वस्तु सत्य है और अन्त में सर्वोपसंहार स्थान चरम सत्य है। पराकृति, जो समस्त विकारों की अनुयायिनी, प्रशान्तकल्लोलचिदेकघन ब्रह्म है, ऐसा आगमविद् कहते हैं। जैसा कि कहा गया है—पृथिवी धातु में क्या सत्य है ? विकल्प। विकल्प में क्या सत्य है ? विज्ञान। विज्ञान में क्या सत्य है ? ओम्। और यही ब्रह्म है।

'तत्राप्यभेदस्तत्कारणमित्यन्त्या पराप्रकृतिः सत्या सर्वविकारानुयायिनी प्रशान्त-कल्लोला चिदेकघना ब्रह्मेत्यागमविदः। तदुक्तम्—'पृथिवी धातौ किं सत्यं ? विकल्पः, विकल्पे किं सत्यं ? विज्ञानं, विज्ञाने किं सत्यं ? ओम्। अथ तद्ब्रह्मेति।'

धारण करने के कारण पृथ्वी धातु है। अनन्त पृथ्वी के अन्तराल में अभेदात्मक सत्य क्या है? इसका उत्तर है विकल्प। कल्पना, भेदप्रकाश या अविद्या ही विकल्प है। 'कल्पना वा अविद्या'—हेलाराज। इस विकल्प में भी क्या सत्य है? विज्ञान—चेतना धातु या विद्या। मल्लवादि वैयाकरण सिद्धान्त को द्वादशारनयचक्र में इस प्रकार स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'नहि काचिदपि चेतना अशब्दास्ति। अनादिकाल-प्रवृत्तशब्दव्यापाराभ्यासवासितत्वाद् विज्ञानस्य। चैतन्यमेव पश्यन्त्यवस्था—।' चेतना कभी भी शब्द रहित नहीं होती। क्योंकि विज्ञान या चेतना अनादि काल से प्रवृत्त शंब्दव्यापार के अभ्यास से वासित रहती है। चैतन्य ही पश्यन्ती अवस्था है।

विज्ञान-विद्या में भी सत्य है ओङ्कार[1] और यही ब्रह्म है। विद्या और ब्रह्म में अग्नि और दाहिका शक्ति के समान धर्म और धर्मी की दृष्टि से भेद-प्रतीति होती है, वस्तुतः वे अभिन्न हैं। ओङ्कार को अक्षर तो कहा ही जाता है; पद और वाक्य कहने की भी प्रथा रही है। यथा—(कठोपनिषद् अध्याय १ वल्ली २)

---

१. व्याकरण वेदाङ्ग है। वेद के वीजों से ही व्याकरणस्मृति का निवन्धन हुआ है। जो लोग ऐसा कहते हैं कि ऋग्वेद में ओङ्कार नहीं मिलता अथवा संहिताकाल में प्रणव की उपलब्धि नहीं देखी जाती, वे भ्रम में हैं। 'ऋचो अक्षरे' इस गन्त्र में आया हुआ अक्षर शव्द ओङ्कार का पर्याय है। शाकपूणि से लेकर वेङ्कट माधव तक इस वात को मानने की सुदीर्घ परम्परा रही है। 'ऋच्यध्यूढं साम' ऋचा ही गायन के कारण साम वन जाती है। विना उद्गीथ के, जो ओङ्कार का प्रतीक है, सामगान हो ही नहीं सकता। 'ओमित्यारभ्य हि यस्मादुद्गायत्यत उद्गीथ ओङ्कारः'—शङ्कराचार्य। सामगान करने वाला ओम् इस अक्षर से आरम्भ करके उद्गान करता है, अतः ओङ्कार उद्गीथ है। यजुर्वेद में ॐ का साक्षात् निर्देश है ही।

आत्मवादियों के मत में ऋग्वेदोक्त अक्षर शब्द का अर्थ आत्मा है। शाकपूणि के पुत्र 'अक्षर' शव्द का अर्थ आदित्य करते हैं। इससे यह कहाँ प्रमाणित होता है कि अक्षर का अर्थ ओङ्कार नहीं था। श्रीकृष्ण-पुत्र साम्व आदित्य की स्तुति करते हुए कहते हैं—

शव्दार्थत्वविवर्तमानपरमज्योतीरुचो गोपते-
रुद्गीथोऽभ्युदितः पुरोऽरुणतया यस्य त्रयीमण्डलम्।
भास्वद्वर्णपदक्रमेरिततमः सप्तस्वराश्वैर्विय-
द्विद्यास्यन्दनमुन्नयन्निव नमस्तस्मै परब्रह्मणे ॥ १ ॥ —साम्बपञ्चाशिका

शव्द और अर्थ के रूप में अनेकधा वर्तमान परमज्योति की दीप्ति से सम्पन्न, वाणी के पति, जिस आत्मा रूप आदित्य का उद्गीथ या प्रणवात्मक तथा ऋगादि वेदत्रयी रूप मण्डल अरुण के रूप में सर्वप्रथम उदित होता है और जो भास्वर वर्णों, पदो एवं उनके क्रम से वाहर और भीतर के अन्धकार को नष्ट करते हैं तथा सात स्वरात्मक अश्वों मे विद्या रूपी रथ को आकाश में लाते हुए प्रतीत होते हैं, उन

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत् ॥१५॥
एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म एतद्धयेवाक्षरं परम् ।
एतद्धयेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥१६॥

समस्त वेद जिस पद का प्रतिपादन करते हैं, समस्त तप जिसकी चर्चा करते हैं, जिसकी कामना से लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस पद का संक्षेप से स्वरूप निर्देश करता हूँ—वह ओम् है।

यह अक्षर ही अपरब्रह्म है और यही परब्रह्म भी। इस अक्षर को जानकर जो जिसे चाहता है वह उसे मिल जाता है। कठोपनिषद् का तात्पर्य पद शब्द से ओङ्कार ही है, क्योंकि इसे अग्रिम मन्त्र में श्रेष्ठ आलम्बन, साधन या उपाय कहा गया है।

वादिदेव सूरि स्याद्वादरत्नाकर में कहते हैं—

'अन्ये तु ओङ्कारोऽनवयवः शब्दः परिकल्पितवर्णपदविभागो वाक्यमित्याहुः ।'

अर्थात् अन्य लोग अनवयव शब्दात्मा ओङ्कार को वाक्य कहते हैं, जिसमें वर्ण और पद विभाग कल्पित रहता है।

जगद्धर भट्ट ने भी स्तुतिकुसुमाञ्जलि में कहा है—

ओमिति स्फुरदुरस्यनाहतं गर्भगुम्फितसमस्तवाङ्मयम् ।
दन्ध्वनीति हृदि यत्परं पदं तत्सदक्षरमुपास्महे महः ॥

जो ओङ्कार हृदय देश में अनाहत नाद के रूप में ध्वनित होता रहता है, जिसके गर्भ में सम्पूर्ण वाङ्मय गुम्फित है, जो परम पद और नित्य अक्षर है, उस तेजःस्वरूप की हम उपासना करते हैं।

वृत्तिः—प्रत्यक्चैतन्येऽन्तःसन्निवेशितस्य परसम्बोधनार्था व्यक्तिरभिष्यन्दते ।

प्रत्येक पुरुष में जो चैतन्य है, वह शब्दब्रह्म ही है, वह बुद्धि में विषय रूप से नहीं, किन्तु बुद्धि से अव्यतिरिक्त रूप में अविद्या विपर्यास के कारण सन्निवेशित कहा जाता है। दूसरों को सम्बोधित करने के लिए उसी से व्यक्ति अर्थात् वर्णसंघात प्रवृत्त

परमादित्य रूप परब्रह्म को नमस्कार है। आदित्य का सूक्ष्म रूप आत्मा है, जो शरीर के अन्दर वर्तमान रहता है और स्थूल रूप बाह्य सूर्य है। वेदत्रयी का आधार प्रणव, आन्तर और बाह्य सूर्य का मण्डल है। यथा—

त्रय्याधारः प्रणव इति यन्मण्डलं चण्डरश्मे-
रन्तःसूक्ष्मं बहिरपि बृहन्मुक्तयेऽहं प्रपन्नः ॥ ७ ॥　　—साम्बपञ्चाशिका

यास्कमुनि ने जो 'अक्षर' शब्द की व्याख्या में तीन मतों का उल्लेख किया है, वह एक-दूसरे का खण्डन नहीं अपितु व्याख्या का विस्तार मात्र है। अतः विपुल हृदयैकवेद्य शास्त्र में अपने अज्ञान को आरोपित करना अनुचित है।

होता है। आशय यह है—प्रत्येक पुरुष की बुद्धि में समस्त वर्ण क्रम संहार या भेद-रहित रूप में स्थित रहते हैं। उस रूप से परसम्बोधन सम्भव नहीं; अतः बुद्धि शब्द को प्राण में अर्पित करती है। वे शब्द प्राणवृत्ति से अनुगृहीत स्थान और करणों से अभिव्यक्त होकर परसम्बोधन के लिए क्षरित होते हैं। पहले रूप, रस आदि में सूक्ष्म शब्द के अनुस्यूत होने के कारण ब्रह्म की शब्दतत्त्व कहा गया था। और यहाँ स्थूल वर्णों का आकार ग्रहण करने के कारण ब्रह्म को अक्षर कहा गया है।—यह श्रीवृषभ की व्याख्या है। उनके अनुसार 'प्रत्यक्चैतन्यस्य–' पाठ का होना उचित प्रतीत होता है।

प्रत्यक्चैतन्य का अर्थ है—अन्तरात्मा, अन्तर्यामी कूटस्थ या नित्य शब्दात्मा। यह शरीर में हृदयाकाशान्तर्गत वर्तमान रहता है। इसके अत्यन्त सन्निकट बुद्धि रहती है। इस बुद्धि में प्रतिविम्बित पूर्वोक्त चैतन्य ही कार्यशब्दात्मा है। नित्य शब्दात्मा या प्रत्यक्चैतन्य को नित्योदिता चित्शक्ति कहते हैं और कार्यशब्दात्मा को अभिव्यङ्ग्या चित्शक्ति कहा जाता है। यही व्यावहारिक पुरुष या जीवात्मा है, जिससे जगत् का व्यवहार चलता है। इसे ही श्रीवृषभ ने रथ्यापुरुष कहा है। 'रथानां शरीराणां समूहः रथ्या, तत्र स्थितः पुरुषः। पुरुष परमात्मा का पर्यायवाची शब्द है, उससे भिन्न संसारी मनुष्य को बोधित कराने के लिए 'रथ्यापुरुष' का ग्रहण किया गया है।

'अन्तः' शब्द के दो अर्थ हैं—एक अन्तःकरण या बुद्धि और दूवरा शरीरान्तर्गत हृदयाकाश। 'अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्' इस कारिका में भगवान् भर्तृहरि ने अन्तः शब्द का प्रयोग शरीरान्तर्गत हृदयाकाश के अर्थ में किया है, ऐसा जान पड़ता है। वे वृत्ति में कहते हैं—'इह द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च।' यहाँ 'इह' शब्द का प्रयोग शरीर के अर्थ में ही किया गया है। प्रयोक्ता अर्थात् बुद्धिप्रति-विम्बित चैतन्य और उसकी आत्मा या बिम्बरूप शब्दचैतन्य अथवा जिसे महान् ऋषभ कहते हैं, जो अन्तः–हृदयाकाश में वर्तमान रहता है।

यहाँ 'प्रत्यक्चैतन्ये' कहने से आधार का वोध हो ही जाता है, पुनः अन्तः कहने से 'तद्रूपतया स्थितस्य' इस बात का ज्ञापन होता है। तद्रूप के भी दो अर्थ होते हैं। एक तो धर्म और दूसरा स्वरूप। शब्द चैतन्य का धर्म है; कोई भी चेतन प्राणी ऐसा नहीं है जिसमें अनादिकालीन शब्दभावना अनुगत न हो। आचार्य ने भी आगे चल कर कहा है—

'तन्मात्रामव्यतिक्रान्तं चैतन्यं सर्वंजन्तुषु (जातिपु)'।

—वा० प०, ब्र० का० १२६

सम्पूर्ण प्राणियों में विद्यमान चैतन्य शब्दमात्रा से रहित नहीं है। अर्थात् 'चिति-क्रियारूपमलब्धवाक्शक्तिग्रहं न विद्येते।' चितिक्रिया या चैतन्य वाक्शक्ति ग्रह से शून्य नहीं होता। यहाँ चैतन्य और शब्द में अधिष्ठान और अधिष्ठेय भाव की प्रतीति होती है। दूसरे अर्थ में चैतन्य ही शब्दतत्त्व है। अर्थात् 'वाक्तत्त्वरूपमेव चिति-

क्रियारूपमित्यन्ये' (स्वोपज्ञ)। वाक् तत्त्व रूप ही चैतन्य का रूप है, ऐसा कुछ लोग मानते हैं।

इन दृष्टियों से भगवान् भर्तृहरि के वाक्य का इस प्रकार अर्थ होगा—

प्रत्यक्चैतन्यस्वरूप अथवा प्रत्यक्चैतन्य में सन्निविष्ट अक्रम शब्द का दूसरों को सम्बोधित करने के लिए वर्ण, पद और वाक्यात्मक पृथक्-पृथक् इकाई के रूप में (व्यक्तिशः) क्षरण होता है।

श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

यथानलः खेऽनिलबन्धुरूष्मा बलेन दारुण्यधिमथ्यमानः।
अणुः प्रजातो हविषा समिध्यते तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी॥

जैसे आकाश में ऊष्मा के रूप में विद्यमान मरुत्सखा अग्नि बलपूर्वक अरणि मन्थन द्वारा पहले सूक्ष्म रूप में उत्पन्न होता है, पश्चात् हवि के द्वारा धधक उठता है, वैसे ही यह स्थूल वाणी मुझ पराप्रकृति रूप परमात्मा की अभिव्यक्ति है। यहाँ अग्नि के चार रूप बतलाये गये हैं—प्रथम सर्वव्यापक अनल, द्वितीय आकाश में वर्तमान ऊष्मा, तृतीय दारु-मन्थन जनित अणु (चिनगारी) रूप और चतुर्थ हवि द्वारा समिद्ध रूप। उसी प्रकार शब्द के भी चार रूप हैं—प्रथम परमात्मा, पराप्रकृति शब्दब्रह्म या परपश्यन्ती रूप, द्वितीय सामान्य पश्यन्ती, प्रतिभा या प्रकृति रूप, तृतीय मध्यमात्मक और चतुर्थ स्थान-करण जन्य वैखरी रूप।

व्यवहार में आने वाले शब्द के मूलतः तीन ही रूप हैं; चतुर्थ रूप तो लोक-व्यवहारातीत है; इस बात को भगवान् भर्तृहरि ने वृत्ति में कई स्थानों पर कहा है। लोकव्यवहार बुद्धि से ही प्रारम्भ होता है, अतः बुद्धिस्थ अक्रम अभिन्न शब्दात्मा ही व्यावहारिक भिन्न-भिन्न शब्दों या शब्द-विकारों की जननी प्रकृति है। बुद्धि समष्टि और व्यष्टि भेद से दो प्रकार की है। व्यष्टि बुद्धि प्रत्येक व्यक्ति (मनुष्य) के हृदयाकाश में विद्यमान रहती है। समष्टि बुद्धि को [1]हिरण्यगर्भ, ब्रह्मा, महानात्मा या परप्रतिभा कहते हैं। समष्टि बुद्धि के ही परिणाम नाना व्यष्टि बुद्धियाँ है। समष्टि बुद्धि के अणुकायव्यूह को व्यष्टि बुद्धियाँ समझना चाहिए। सांख्यकारिका की टीका युक्तिदीपिका में कहा गया है—

'महान् बुद्धिर्मतिर्ब्रह्मा पूर्तिः ख्यातिरीश्वरो विखर इति पर्यायाः।'

महान्, बुद्धि, मति, ब्रह्मा, पूर्ति, ख्याति, ईश्वर और विखर ये पर्यायवाची शब्द हैं।

---

१. (क) 'हिरण्यगर्भाभेदेन ब्रह्मादिपदवेद्या समष्टिबुद्धिर्महानित्याह।'

—रत्नप्रभा।

(ख) 'बुद्धेरात्मा महान् परः'—इस पर विचार करते हुए शङ्कराचार्य कहते हैं—अथवा 'मनो महान्—इति स्मृतेः यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै'— इति च श्रुतेर्या प्रथमजस्य हिरण्यगर्भस्य बुद्धिः सा सर्वासां बुद्धीनां परा प्रतिष्ठा सेह महानात्मेत्युच्यते।

ब्रह्मसूत्रभाष्य (१।४।१) में भगवान् शङ्कराचार्य ने पुराण अथवा महाभारत का एक श्लोक उद्धृत किया है—

मनो महान् मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः।
प्रज्ञा संविच्चितिश्चैव स्मृतिश्च परिपठ्यते ॥

मन, महान्, मति, ब्रह्मा, पूः, बुद्धि, ख्याति, ईश्वर, प्रज्ञा, संवित्, चिति और स्मृति ये पर्याय रूप में पढ़े जाते हैं।

'इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः।' वचन—वाक्य (अखण्ड) अथवा वाक्, इन्द्रिय—बुद्धि में नित्य रूप से वर्तमान रहती है। भगवान् भर्तृहरि ने इस उक्ति को उद्धृत करते हुए इन्द्रिय का अर्थ बुद्धि किया है—'वाक्यस्य बुद्धौ नित्यत्वम्।'

—वा० प०, तृ० का० श्लो० ३४२

दुर्गाचार्य उपर्युक्त निरुक्त-वचन की व्याख्या करते हुए एक प्राचीन मत उद्धृत करते हैं—

अविचाली—परिणामाभाव रहित, कूटस्थ—संसर्गाभाव हीन तथा अविनाशी—प्रध्वंसाभाव से शून्य शब्द, कल्पान्त में अभिधेयों एवं अभिधाताओं के स्वकारण में लीन हो जाने पर आश्रय के अभाव में अर्थों एवं अभिधाताओं के समेत महाकारण—पराप्रकृति, शब्दब्रह्म या परब्रह्म के साथ एकता का अनुभव करते हैं। कल्प के आरम्भ में सृष्टि के अवसर पर अन्य कल्प के विशिष्ट कर्मों से निर्मित, कार्य-कारण समूहात्मक तथा समस्त प्राणियों के एकात्मरूप हिरण्यगर्भ जब सर्व प्रथम प्रकट होते हैं, तब उनकी बुद्धि रूप आश्रय को प्राप्त करके उनके साथ ही युगपत् ये शब्द अभिव्यक्त हो जाते हैं।

'अथ मतम्—अविचालिन एवैते कूटस्था अविनाशिनः शब्दास्ते तु कल्पान्ते तस्माद्व्याप्तिरूपाद्विशीर्णेषु अभिधेयेषु अभिधातृषु कारणभावमापद्यमानेष्वाश्रयाभावादवस्थातुमशक्नुवन्तः अभिधेयाभिधातृसहिता एव कारणात्मभावमधिकमनुभूयाभिसंस्तवकाले कल्पादावन्यकल्पविशिष्टकर्मनिर्मितकार्यकारणसर्वभूतसाधारणात्मभूते हिरण्यगर्भे विवर्तमाने तद्बुद्धिमाश्रयं प्राप्य, तेनैव सह युगपदेवाभिव्यज्यन्ते विशेषात्मलाभाय शब्दा' इति।

हिरण्यगर्भात्मिका बुद्धि अथवा हैरण्यगर्भी बुद्धि व्यष्टि बुद्धियों के लयस्थान या एकनीड़ होने के कारण महानात्मा के नाम से कही जाती है। इसे सत्ता, समष्टि प्रतिभा और समष्टि पश्यन्ती भी कहते हैं। इसका स्वाभाविक उद्भव पराप्रकृति, परपश्यन्ती या शान्तामा से होता है। वेदान्ती इसे परब्रह्म और वैयाकरण लोक व्यवहारातीत शब्दब्रह्म कहते हैं।

हिरण्यगर्भात्मिका बुद्धि या महानात्मा से ही अनन्त व्यष्टि बुद्धियाँ उद्भूत होती हैं। व्यष्टि बुद्धि का प्राचीन नाम विज्ञानात्मा है। यह विज्ञानात्मा या व्यष्टि बुद्धि प्रत्येक मनुष्य के शरीर में हृदयान्तर्गत आकाश में प्रतिष्ठित रहती है। बुद्धि, अभि-

धान और अभिधेयात्मक या शब्दार्थोभय रूप होती है। परसम्बोधन की इच्छा से पुरुष द्वारा प्रेरित अभिधानात्मक बुद्धि वर्णभाव को प्राप्त करके बाह्याकाशस्थ विराट् शब्द को अपना स्वरूप बनाकर श्रोत्र द्वारा श्रोता की सर्वार्थ और सर्वाभिधानरूप बुद्धि में प्रविष्ट होकर वक्ता के द्वारा कहे गये उन-उन वर्ण रूप बुद्धियों को व्याप्त कर लेती है। पुरुष के प्रयत्न से उत्पन्न मुखोद्घात तो नष्ट हो जाते हैं, किन्तु शब्द नहीं। वक्ता का वह शब्द श्रोता की तत्तद् शब्दबुद्धियों से अनुरक्त या आलिङ्गित होकर अभीष्ट अर्थप्रत्यय को उत्पन्न करता है, सर्वार्थ प्रत्यय को नहीं।

नागेश ने मञ्जूषा में दुर्ग-प्रणीत निरुक्तभाष्य[1] के सन्दर्भ को अपने शब्दों में अनूदित करके उपर्युक्त आशय को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

निरुक्तभाष्येऽपि उक्तरीत्या पदसत्ताभावाशङ्कोत्तरभूतं 'व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य' इति प्रतीकमुपादायोक्तम्—

'अभिधानाभिधेयरूपा बुद्धिर्हृदयाकाशप्रतिष्ठिता। परबोधनेच्छया पुरुषेणोदीर्यमाणा कण्ठादिषु वर्णभावमापद्य बाह्याकाशस्थ शब्दं स्वरूपं कृत्वा श्रोत्रद्वारेण तत्र स्थितां श्रोतुर्बुद्धिमनुप्रविश्य सर्वार्थसर्वाभिधानरूपां तत्तद्बुद्धिं व्याप्नोति। पुरुषप्रयत्नजाः वक्त्रोद्घाताः परं नश्यन्ति न शब्दा। स च तदनुरक्तोऽर्थप्रत्ययं जनयति।'

यहाँ 'अन्तः' शब्द के दो अर्थ प्रतीत होते हैं—एक तो हृदयाकाश और दूसरा बुद्धि। हृदयाकाश की संज्ञा दहराकाश है—'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (छान्दोग्य) 'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' (छा० उ०)। जितना बड़ा भूताकाश है उतना ही बड़ा हृदयान्तर्गत आकाश है। द्युलोक और पृथिवी इसी के अन्दर स्थित है। अग्नि और वायु, सूर्य और चन्द्रमा, विद्युत् और नक्षत्र और जो बाहर दिखलाई देता है और जो बाहर नहीं है, वह सब इसी आकाश में समाहित है। (छान्दोग्य उ०)

यह आकाश ही मूल या बिम्बात्मक प्रत्यक् चेतन है। यही लोकव्यवहारातीत शब्दब्रह्म या शान्तात्मा ब्रह्म है। इसे विज्ञानज्योति के नाम से कहा गया है। इसी

---

१. दुर्गाचार्य का निरुक्तभाष्य—

'कथं पुनर्व्याप्तिमान् शब्द इति? शृणु, शरीरे ह्यभिधानाभिधेयरूपा बुद्धिर्हृदयान्तर्गताकाशप्रतिष्ठिता, तयोरभिधानरूपाभिधेयरूपयोर्बुद्ध्योर्मध्येऽभिधानरूपया शास्त्राभिमतप्रयोजनविंजिज्ञापयिषया बुद्ध्या पुरुषेण तदभिव्यक्तिसमर्थेन स्वगुणभूतेन प्रयत्नेनोदीर्यमाणः शब्दः उरःकण्ठादिवर्णस्थानेषु निष्पद्यमानतया पुरुषार्थाभिधानसमर्थवर्णादिभावमापद्यमानः पुरुषप्रयत्नेन बहिर्विनिक्षिप्तोऽविनाशिनि व्यक्तिभावमापन्नः श्रोत्रद्वारेणानुप्रविश्य प्रत्याय्यस्य बुद्धिं सर्वार्थरूपां सर्वाभिधानरूपां व्याप्नोतीत्येवं व्याप्तिमान् शब्दः। ··· ··· ···पुरुषप्रयत्नोपजनिताद्वक्त्रोद्घातात्परस्यार्थप्रत्ययमाधाय शब्दव्यक्तय एव ध्वंसन्ते, न तु शब्दाकृतयः। तास्तु तयाभिधानशक्त्या बुद्धिद्वारेणावस्थिताः स्वानर्थान् प्रकाशयन्त्यः स्थिता एव भवन्ति।'

ज्योतिर्मय आकाश में भास्वर, आकाशकल्प बुद्धि प्रतिष्ठित रहती है। 'बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पम्'—योगभाष्य। 'हृदयपुण्डरीके' इस व्यासभाष्य के प्रतीक को लेकर वाचस्पतिमिश्र ने तत्त्ववैशारदी[1] में कहा है—उदर और उर के मध्य में जो अधोमुख अष्टदल कमल है, उसे रेचक प्राणायाम से ऊर्ध्वमुख करके उसमें चित्त को स्थापित करे। उस ऊर्ध्वमुख कमल के अन्दर सूर्यमण्डल, अकार और जाग्रदवस्था, उसके ऊपर चन्द्रमण्डल, उकार और स्वप्नावस्था तथा उससे भी ऊपर वह्निमण्डल, मकार और सुषुप्ति स्थान है। और इसी के ऊपर परव्योमात्मक ब्रह्मनाद तुरीयावस्था है, जिसे ब्रह्मवादीगण अर्धमात्रा के रूप में उल्लेख करते हैं।

मन और इन्द्रियों की अपेक्षा बुद्धि को भी प्रत्यक् चेतन कहा जा सकता है। काठकोपनिषद्भाष्य (१।३।१३) में शङ्कराचार्य कहते हैं—

'बुद्धिर्हि मन आदिकरणान्याप्नोति इत्यात्मा प्रत्यक्तेषाम्।'

बुद्धि मन आदि करणों को व्याप्त कर लेती है, अतः इन्द्रियादिकों की वह प्रत्यगात्मा है।

'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमः—' इस योगसूत्र के भाष्य में 'प्रत्यक्चेतन' को 'बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः' कहा गया है। वाचस्पतिमिश्र प्रत्यक्चेतन का अर्थ प्रस्तुत रूप में करते हैं—

'प्रतीपं विपरीतमञ्चति विजानातीति प्रत्यक्, स चासौ चेतनश्चेति प्रत्यक्चेतनोऽविद्यावान् पुरुषः।' 'बुद्धेः प्रतिसंवेदी' पर उनका कथन है—

'बुद्धिदर्पणे पुरुषप्रतिबिम्बसङ्क्रान्तिरेव बुद्धिप्रतिसंवेदित्वं पुंसः।'

विपरीत ज्ञान वाला अविद्यावान् पुरुष अथवा चित्प्रतिबिम्बित बुद्धि ही उनके मत में प्रत्यक्चेतन है।

भगवान् भर्तृहरि भी प्रत्यक्चेतन से बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य अथवा चित्प्रतिबिम्बित बुद्धि को स्वीकार करते हैं—ऐसा वृत्ति में यत्र-तत्र प्रयुक्त उनके वचनों से ज्ञात होता है। यथा—'अन्तःकरणसन्निवेशिनः शब्दस्य प्रवृत्तौ कारणम्।' (प्रथम काण्ड, २५ का० की वृत्ति)। 'आचार्या हि परस्मिन्नक्रमेऽन्तःसन्निवेशिनि शब्दतत्त्वे—' (प्र० काण्ड, का० ७४ की वृत्ति)। 'अन्तःसन्निवेशिनः शब्दस्याविभक्तं बिम्बमुपगृह्णाति।' (प्र० काण्ड, कारिका १०७ की वृत्ति का उद्धरण)। 'सर्वो हि विकारः आत्ममात्रेति केषाञ्चिद्दर्शनम्। स तु प्रतिपुरुषमन्तःसन्निविष्टो बाह्य इव प्रत्यवभासते।' (का० १२० की वृत्ति) 'शब्देनान्तःसन्निवेशिना—' (वही)

---

१. उदरोरसोर्मध्ये यत्पद्ममधोमुखं तिष्ठत्यष्टदलं रेचकप्राणायामेन तदूर्ध्वमुखं कृत्वा तत्र चित्तं धारयेत्, तन्मध्ये सूर्यमण्डलमकारो जागरितस्थानं, तस्योपरि चन्द्रमण्डलमुकारः स्वप्नस्थानम्। तस्योपरि वह्निमण्डलं मकारः सुषुप्तिस्थानं, यस्योपरि परव्योमात्मकं ब्रह्मनादं तुरीयस्थानमर्द्धमात्रामुदाहरन्ति ब्रह्मवादिनः। विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥ —सूत्रभाष्य की टीका।

प्रथम उदाहरण में स्पष्ट रूप से अन्तःकरण अर्थात् बुद्धि का निर्देश है। दूसरे में बिम्बात्मक हृदयपुण्डरीकस्थ आकाशात्मा चैतन्यरूप परशब्द की प्रतीति होती है। श्रीवृषभ इसे बुद्धि से अव्यतिरिक्त परशब्द मानते हैं। यथा—

'योऽसौ बुद्धिव्यतिरिक्तपरशब्दः तस्यैव परमार्थतः शब्दत्वम्; तदनुकारात्तु वाह्यस्य शब्दत्वम्।'

तीसरे उदाहरण में अन्तःसन्निवेशिनः का अर्थ 'बुद्धिस्थस्य' ही है। चौथे उदाहरण में आचार्य ने स्वमात्रावादियों के दो पक्षों को उपस्थापित किया है। एक मत है कि समस्त वाच्यवाचकात्मक विकार प्रत्येक पुरुष (रथ्यापुरुष) गत परचैतन्य अथवा बुद्धिगत चैतन्य में स्थित रहते हुए बाह्यवत् प्रतीत होते हैं। श्रीवृषभ कहते हैं—

'सर्व एव पदार्थः एकैकस्मिन् पुरुषेऽन्तःसन्निविष्टो विशेषेण त्वनवधृतो बुद्धिर्वा ब्रह्म वेति।'

सम्पूर्ण गो-घटादि पदार्थ और गो-घटादि शब्द प्रत्येक पुरुष में अन्तःसन्निविष्ट रहते हैं, किन्तु विशेष रूप से यह अवधारणा नहीं होती कि 'अन्तः' बुद्धि है अथवा शब्दब्रह्म।

दूसरा पक्ष यह है कि सम्पूर्ण विषयों का पृथक्-पृथक् ज्ञान और समग्र रूप, रसादि विषय चैतन्य तत्त्व के ही परिणाम हैं। यहाँ श्रीवृषभ कहते हैं—

'स्पष्टं चैतन्यमेकं कारणम्, पूर्वत्र त्वनिरूपितोऽन्तःसन्निवेशी पुरुष इति विशेषः।'

इस पक्ष में चैतन्य एक कारण स्पष्ट है। पहले पक्ष में अन्तःसन्निवेशी पुरुष बुद्धिस्थ चैतन्य है अथवा आधारभूत बिम्बरूप चैतन्य, यह स्फुट नहीं था।

पाँचवे उदाहरण में अन्तःसन्निवेशी का अर्थ बुद्धि है।

वस्तुतः वृत्तिकार अन्तः शब्द से चित्प्रतिबिम्बित बुद्धि को ही ग्रहण करते हैं। द्वितीय काण्ड की (३१वीं) कारिका—'एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृक् स्थितौ' की व्याख्या में उन्होंने कहा है कि एक ही बुद्ध्यात्मा के शब्द (अखण्डवाक्यात्मक) और अर्थ (अखण्डप्रतिभात्मक) ये दो भेद अविभक्त रूप से वहीं विद्यमान रहते हैं। शब्दार्थ-बोध की प्रक्रिया का निर्देश करते हुए उन्होंने तीन पक्षों की उपस्थापना की है। अन्त में वे कहते हैं—

'सर्वेषु च पक्षेषु अन्तर्निवेशिन एव प्राप्तानुसंहारात् शब्दादन्तर्निविष्टरूपेष्वेव प्रतिसंहृतेषु अविभक्तेषु विभागरूपानतिक्रमेण अर्थेषु गृह्यमाणेषु एक एवायं परि-समाप्तिप्राप्तानुसंहारो बुद्ध्यात्मा, प्रतिपादकप्रतिपत्तव्यशक्त्योः अविभागेन पृथगात्मनोः भेदशक्तिरूपापरित्यागमात्रया व्यवतिष्ठते।'

सभी पक्षों के अनुसार अन्तः अर्थात् बुद्धि में निविष्ट, अनुसंहार या अक्रम को प्राप्त शब्द (वाक्यात्मक) से, अन्तर्निविष्ट आकार वाले ही, अक्रम (अखण्ड) अविभक्त होते हुए भी विभाग का अतिक्रमण न करने वाले अर्थों के ग्रहण के अवसर

पर एक ही यह बुद्ध्यात्मा शब्दश्रवण की परिसमाप्ति के अनन्तर इसी में शब्द के अक्रमरूपता को प्राप्त हो जाने पर पृथगात्मक प्रतिपादक वाक्यरूप, प्रत्तिपत्तव्य प्रतिभात्मक अर्थ रूप शक्तियों के अविभक्त रहने पर भी भेद रूप के विना परित्याग किये हुए ही वर्तमान रहती है। तात्पर्य यह है कि बुद्धि में शब्द भी रहता है और अर्थ भी; श्रवण से बौद्ध शब्द और बौद्ध अर्थ का बोध होता है।

यहाँ अन्तर्निवेशी का अर्थ है—बुद्धिस्थ। सर्वज्ञात्ममुनि संक्षेपशारीरक में कहते हैं—

प्रत्यग्भावस्तावदेकोऽस्ति बुद्धौ, प्रत्यग्भावः कश्चिदन्यः प्रतीचि।
प्रत्यग्भावस्तत्कृतस्त्र चान्यो व्युत्पन्नोऽयं तत्र चात्मेति शब्दः।। १५९ ।।

एक प्रत्यग्भाव या आत्मभाव बुद्धि में है, क्योंकि देहादि से बुद्धि आन्तर है; यह अपारमार्थिक व्यवहारार्ह आत्म या चेतनभाव है। सुख और दुःख आदि के आधार रूप बुद्धि में ही सामान्य जन आत्मभाव रखते हैं। दूसरा प्रत्यग्भाव तात्त्विक है, बुद्धि के भी साक्षी चिदात्मा में यह प्रसिद्ध है। तीसरा प्रत्यग्भाव बुद्धि और उसके साक्षी चिदात्मा का अन्योन्याध्यास रूप सत्य और अनृत रूप प्रत्यक् द्वय का शबलात्मक प्रत्यग्भाव है। इसी अर्थ में लोग आत्मा शब्द का प्रयोग करते हैं।

अतः प्रत्यक्चैतन्य का अर्थ चित्प्रतिबिम्बित बुद्धि भी सम्भव है। और उसमें बिम्बात्मक चैतन्य की अविद्या शक्ति से सन्निवेशित प्रतिसंहृत शब्द दूसरे के सम्बोधनार्थ वर्णव्यक्ति, पदव्यक्ति और वाक्यव्यक्ति के रूप में बाहर टपकता है। यहाँ व्यक्ति का अर्थ अभिव्यक्ति नहीं है, अन्यथा 'अभिष्यन्दते' यह पद व्यर्थ हो जायेगा। यहाँ व्यक्ति से तात्पर्य शब्दव्यक्ति है और शब्द का अर्थ है वर्ण, पद और वाक्य। भर्तृहरि ने द्वितीय काण्ड की बीसवीं कारिका की अवतरणिका में कहा है—'एतस्मिश्चैकत्वपक्षे निरवयवा शब्दव्यक्तिरेवैका स्यात्। या वा शब्दव्यक्तिः शब्दाकृतिरेव वाक्यमिति प्रतीयते।' अनवयव व्यक्तिस्फोटात्मक एक ही वाक्य है; इस वाक्यैकत्व पक्ष में निरवयव वाक्य रूप एक शब्दव्यक्ति होना चाहिए। शब्दव्यक्ति निरवयव हो या सावयव, शब्दगत आकृति ही वाक्यजातिस्फोटरूप वाक्य है, ऐसी स्पष्ट प्रतीति होती है।

वाक्य और पद को क्यों एक व्यक्ति या इकाई माना जाय; इस पर [1]'पदानि वाक्ये तान्येव–' तथा 'भागानामनुपश्लेषान्न वर्णो–' (द्वि० काण्ड, का० २८-२९) इन दों कारिकाओं की व्याख्या करते हुए भगवान् भर्तृहरि कहते हैं—'यदि वाक्य में वही पद माने जायें जो वाक्य से पृथक् उपलब्ध होते हैं, और पृथक् उपलब्ध होने

---

१. पदानि वाक्ये तान्येव वर्णास्ते च पदे यदि।
वर्णेषु वर्णभागानां भेदः स्यात् परमाणुवत्॥
भागानामनुपश्लेषान्न वर्णो न पदं भवेत्।
तेषामव्यपदेश्यत्वात् किमन्यदपदिश्यताम्॥

वाले वर्ण ही एकत्र होकर पदों का आश्रय लेते हैं; वर्णों से अतिरिक्त वाक्य और पद का कोई स्वरूप नहीं; यदि ऐसी मान्यता हो तो वर्णों में भी वर्ण के परमाणु पर्यन्त अपकर्ष की प्राप्ति के बीच वर्ण भागों[1] का भेद प्रसक्त होगा। इस प्रकार क्रमिक तथा एक साथ न होने वाले वर्ण भागों के परस्पर असंस्पर्श के कारण न एक वर्ण की स्थिति होगी और न पद की। वर्ण गत प्रत्येक भाग के अव्यपदेश्य होने के कारण व्यवहार के अभाव से क्या एक वर्ण रूप शब्द मिलेगा, जिसे वर्ण कहा जाय।

'यदि वाक्ये तान्येव पदानि यानि पृथगुपलब्धानि वर्णाश्च ये पृथगुपलब्धास्त एव समुदिता यदि पदेष्वा श्रीयन्ते, न च वर्णेभ्यो वाक्यपदयोरात्मा व्यतिरिक्त इति प्रतिज्ञायते। तथा सति वर्णेष्वपि यावदपकर्षपर्यन्तगतिस्तावद्वर्णभागानां परमाणुकल्पो भेदः प्रसज्यते। तथा च क्रमवतामलब्धयौगपद्यानां भागानामन्योन्यासंस्पर्शान्न वर्णो नाम कश्चिदेकः पदं वा विद्यते। अव्यपदेश्यत्वाद्धि तेषु प्रतिभागं व्यवहाराभावात् किं तदेकमस्ति शब्दरूपं यदिदं तदित्युपाख्यायेत।

वृत्ति—एवं ह्याह—

सूक्ष्मामर्थेनाप्रविभक्ततत्त्वामेकां वाचमनभिष्यन्दमानाम्।
उतान्ये विदुरन्यामिव च एनां नानारूपामात्मनि सन्निविष्टाम्॥

जैसा कि आगम में कहा गया है—

बुद्धि रूप आत्मा अथवा साक्षी चैतन्य में स्थित अनभिव्यक्त अतः गो-घटादि शब्दार्थात्मक अर्थों से अभिन्न एक अखण्ड सूक्ष्मा वाक् को कुछ लोग अर्थ अथवा साक्षी चैतन्य से भिन्न सदृश और वर्ण पदादि अनेक रूप में जानते हैं। श्रीवृषभ ने प्रस्तुत आगम का इस प्रकार अर्थ किया है—

बुद्धि से अव्यतिरिक्त होने के कारण रूप या आकार के तिरोहित होने से तथा क्रमाभाव के कारण वाक् को सूक्ष्मा कहते हैं। अर्थ अर्थात् अभिधेय से वह अप्रविभक्ततत्त्वा है। उस सूक्ष्म अवस्था में अर्थ और शब्द दोनों बुद्धि से अभिन्न रूप में वर्तमान रहते हैं। अर्थात् शब्द और अर्थ की शक्तियाँ वहाँ (बुद्धि में) युगपत् स्थित रहती हैं। अतः अर्थ से अभिन्न होने के कारण और स्वगत भेद न होने से इसे एक कहा जाता है। किस दशा में? जब वह अभिष्यन्दमान नहीं होती—अभिव्यक्त नहीं होती; और कुछ विद्वान् इसे अभिधेय से भिन्न मानते हैं। भेद के असत्य होने के कारण यहाँ 'इव' शब्द का प्रयोग किया गया है। वह नाना रूप है--इससे स्वगत

---

१. शुक्लयजुःप्रातिशाख्य (अध्याय ८)—
अमात्रस्वरो ह्रस्वः—सूत्र ५५, अकारमात्रस्वर इत्यर्थः—उवट
मात्रा च—सूत्र ५६, ह्रस्वो मात्रेति पर्यायौ—उवट
व्यञ्जनमर्द्धमात्रा—सू० ५९। तदर्धमणु—सूत्र ६०।
परमाणुमर्द्धाणुमात्रा—सूत्र ६१।

भेद कहा गया है। 'आत्मनि सन्निविष्टाम्' परमार्थतः व्यक्त भी वाक् बुद्ध्यधिष्ठान ही होती है। अत एव वाक् का एकत्व सिद्ध है।

'सूक्ष्मा' शब्द वाग्भेद का सूचक है। इसकी पारिभाषिकता प्राचीन है। 'वैखर्या मध्यमायाश्च–' इस कारिका की व्याख्या में भगवान् भर्तृहरि ने महाभारत के आश्वमेधिक पर्व से दो सन्दर्भों को उद्धृत किया है। प्रथम सन्दर्भ कुछ विशृंखल रूप में वहीं मिल जाता है, किन्तु दूसरा नहीं मिलता। फिर भी इसकी प्राचीनता निःसन्दिग्ध है।

भर्तृहरि के द्वारा उद्धृत पाठ है—

'स्वरूपज्योतिरेवान्तःसूक्ष्मा वागनपायिनी'।

मञ्जूषा में 'परा' और वृत्ति के संक्षिप्त संस्करण में 'सैषा' पाठ 'सूक्ष्मा' के स्थान पर मिलता है। ये पाठ सूक्ष्मा के अनुवाद मात्र हैं। मूल पाठ 'सूक्ष्मा' ही है क्योंकि श्रीवृषभ ने इसी प्रतीक को लेकर व्याख्या की है। राजानक क्षेमराज ने भी 'या सा मित्रावरुणसदनादुच्चरन्ती' इस साम्बपञ्चाशिका की व्याख्या में उद्धृत उपर्युक्त सन्दर्भ में 'सूक्ष्मा' पाठ ही स्वीकार किया है। व्याख्याकारों ने प्रायः 'सूक्ष्मा' को पश्यन्ती का पर्याय माना है। केवल अष्टप्रकरण में सूक्ष्मा परा का पर्याय है। यथा—

चतस्रो वृत्तयस्तस्य याभिर्व्याप्तास्त्रिधाणवः।
वैखरी मध्यमाभिख्या पश्यन्ती सूक्ष्मसंज्ञिता॥

देशिक लोग बिन्दु को ही शब्दतत्त्व,[1] अघोषा, वाक्, ब्रह्म, कुण्डलिनी, ध्रुव, विद्या, शक्ति, परा, नाद, महामाया, व्योम और अनाहत के नाम से कहते हैं। उसी की वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा—ये चार वृत्तियाँ हैं, जिनसे उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन प्रकार के जीव व्याप्त हैं।

पद्मपादाचार्य ने प्रपञ्चसारतन्त्र की टीका में पञ्चपदी एवं सप्तपदी वाक् की चर्चा की है। एक में 'सूक्ष्मा' परा से भी परे है और दूसरे में सूक्ष्मा से सूक्ष्मतम दो वाग्भेदों का निरूपण है। यथा—'अथवा सूक्ष्मापरापश्यन्ती मध्यमा वैखरीति पञ्चपदीं वाचमाश्रित्याह—मूलाधारादिति। सप्तपद्यपि वागनेनैव सूचिता। शून्यसंवित्सूक्ष्मादीनि सप्तपदानि।' (द्वितीय पटल, पृष्ठ ३४, आगमानु० स० संस्क०)

सूतसंहिता के यज्ञवैभव खण्ड, अध्याय ४ में मातृका का एक पररूप स्वीकृत हुआ है। उसका आकार स्थूल वाणी का विषय नहीं, वह ब्रह्मा, विष्णु आदि देवों से अचिन्त्य है, वह सूक्ष्मता की पराकाष्ठा है, वह परचिद्रूप शिव से अभिन्न है।

---

१. शब्दतत्त्वमघोषा वाग्ब्रह्म कुण्डलिनी ध्रुवम्।
विद्या शक्तिः परा नादो महामायेति देशिकैः॥
बिन्दुरेव समाख्यातो व्योमानाहतमित्यपि।
चतस्रो वृत्तयः ··· ··· ··· ॥

इसकी तात्पर्यदीपिका टीका में माधवाचार्य ने मध्यमा को सूक्ष्मा और परा-पश्यन्ती को सूक्ष्मतरा बतलाया है।

वृत्तिः—विवर्ततेऽर्थभावेन। एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः। स्वप्नविषयप्रतिभासवत्।

अर्थ—शब्दार्थरूप तथा बाह्य वस्तुरूप में विकसित या परिणत होता है। अग्नि शब्द का श्रुत अग्नि शब्द ही स्वरूप पदार्थ है, पावक, वह्नि आदि अर्थ अग्नि के शब्दार्थ रूप अर्थ हैं। दाह और प्रकाश से सम्पन्न ऊर्ध्वज्वलनात्मक बाह्य अर्थ अग्नि का व्यवहार्य वस्तुरूप अर्थ है। प्रणवात्मक शब्दब्रह्म के ये अर्थ विवर्त, विकार, विकास या परिणाम हैं। भगवान् शङ्कराचार्य 'विवर्तते' का अर्थ परिणाम[1] करते हैं। ब्रह्मसूत्रभाष्य (२।२।१।१) में वे कहते हैं—'यत्तत्सुखदुःखमोहात्मकं सामान्यं तत्त्रिगुणं प्रधानं मृद्वदचेतनं चेतनस्य पुरुषस्यार्थं साधयितुं स्वभावेनैव विचित्रेण विकारात्मना विवर्तत इति।'

यदि यह किसी प्राचीन सांख्य सन्दर्भ का अनुवाद हो तो स्पष्ट है कि यहाँ 'विवर्तते' 'परिणमते' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। और यदि यह सांख्यागम का उद्धरण है तो

१. ब्रह्मसूत्रभाष्य अध्याय १, पाद ३, अधि० १०, सूत्र ३९ में शङ्कराचार्य विवर्त शब्द का प्रयोग परिणाम अर्थ में करते हैं—'वायौ हि पर्जन्यभावेन विवर्तमाने विद्युत्स्तनयित्नुवृष्टयशनयो विवर्तन्त इत्याचक्षते।' तैत्तिरीयोपनिषद्, वल्ली १, अनुवाक ६ में पठित 'यत्रासौ केशान्तो विवर्तते' के भाष्य में शङ्कराचार्य कहते हैं—

'यत्र च केशान्तः केशानामन्तोऽवसानं मूलं केशान्तो विवर्तते—विभागेन वर्तते मूर्धप्रदेश इत्यर्थः।' यहाँ भी परिणाम ही अर्थ है।

नैषध में श्रीहर्ष का प्रयोग है—

'ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये' (तृतीय सर्ग, ६४ श्लो०) यहाँ इसके टीकाकार नारायण ने लिखा है—

'विवर्तस्तात्त्विकोऽन्यथाभावः' यह अन्यथाभाव तत्त्व का है—जैसे सुवर्ण का कुण्डल, कटक आदि। यहाँ भी परिणाम ही अर्थ है। मल्लिनाथ जीवातु टीका में कहते हैं—

ईश की अणिमा के ऐश्वर्य का विवर्त या रूपान्तर है मध्य–कटिप्रदेश, जिसका 'ऐसी हे दमयन्ती!' इस अर्थ में भी ईश की अणिमारूप ऐश्वर्य की प्रच्युति नहीं होती—यह भी उपर्युक्त परिणाम ही है। मनोहारिणी टीका के रचयिता उदयकराचार्य ने विवर्त का स्पष्ट परिणति अर्थ लिखा है—

'ईशो महादेवस्तस्य यदणिमारूपमैश्वर्यं तस्य विवर्तः प्रपञ्चः मध्यं यस्याः सा तथा तस्याः सम्बोधनम्।······परिणतिमध्ये परमकृशोदरि।'

यहाँ 'प्रपञ्च' यह विवर्त का पर्याय साहित्यिक दृष्टि से अवश्य चिन्त्य है, क्योंकि इससे विस्तार की व्यञ्जना होती है।

प्रमाणित है कि प्राचीन काल में परिणाम के अर्थ में विवर्त[1] का प्रयोग होता था। भवभूति 'एको रसः–पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्' में विवर्त का अर्थ विविध रूप में वर्तन की करते हैं।

शान्तरक्षित तत्त्वसंग्रह में 'अनादिनिधन' कारिका का प्रस्तुत अनुवाद करते हैं—

नाशोत्पादासमालीढं ब्रह्मशब्दमयं परम्।
यत्तस्य परिणामोऽयं भावग्रामः प्रतीयते ॥ १२८ ॥

नाश और उत्पत्ति से अग्रस्त जो शब्दमय परब्रह्म है, उसी का रूप-रसादिभाव समूह परिणाम है। यहाँ भी विवर्त का अर्थ परिणाम ही किया गया है।

आर्यलङ्कावतार वृत्ति में ज्ञानश्रीभद्र ने 'विवर्ततेऽर्थभावेन' का अर्थ इस प्रकार किया है—जिससे पदार्थ विकसित होते हैं।

जगद्धर भट्ट (विक्रम की १४वीं शती का अन्त) ने स्तुतिकुसुमाञ्जलि (स्तोत्र ३३ श्लोक ४४) में विवर्त शब्द का परिणाम अर्थ में प्रयोग किया है—

दिग्देशाकारकालैरकलितविभवं यन्महद्बीजभूतं
भूतग्रामस्य यस्य त्रिभुवनविषयं वस्तुजातं विवर्तः।
यस्मिन् हेम्नीव नानाभरणपरिकरो लीयते विश्वमन्ते
तद्भिन्नेष्वप्यभिन्नं भव, भवसि परं ब्रह्म तस्मै नमस्ते ॥

१. (क) जैन ग्रन्थ 'द्वादशारनयचक्र' (भाग १ पृष्ठ २८२) में मल्लवादी ने लिखा है—'अनया च दिशा शब्दब्रह्मतत्त्वभेदसंसर्गरूपविवर्तमात्रमिदं जगत्।' यह जगत् शब्दब्रह्म तत्त्व का भेद और संसर्ग रूप विवर्त है। इस पर 'न्यायागमानुसारिणी' टीका की टीका 'विषमपदविवेचन' में कहा गया है—'सर्वकार्यजननशक्तिमतोऽनादिनिधनब्रह्मणो शक्तिभेदमूलकारोपितभेदसंसर्गरूपं विवर्तात्मकं जगदित्यर्थः।'

यहाँ भेद और संसर्गरूपता को ही विवर्त कहा गया है।

(ख) 'नित्यज्ञानविवर्तोऽयं क्षितितेजो जलादिकम्।
आत्मा तदात्मकश्चेति सङ्गिरन्तेऽपरे पुनः ॥
ग्राह्यलक्षणसंयुक्तं न किञ्चिदिह विद्यते।
विज्ञानपरिणामोऽयं तस्मात्सर्वः समीक्षते ॥

—शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह विवर्तनम्—ऋग्वेद १।१६२।१४ विविधरूप स्थिति।

(ग) 'विवर्तयन्तीं रजसी' (ऋग्वेद ७।८०।१) पृथ्वी और द्यौ को पृथक् करती हुई 'उषा विवर्तते अहनी' (निरुक्त ३।४।२१ में उद्धृत) 'विपर्ययेण वर्तेते' (दुगाचार्य) 'तेनेशितं कर्म विवर्तते ह' (श्वेताश्वतर उ०, अ० ६) 'तेनेशितं प्रेरितं कर्म क्रियत इति कर्म स्रजीव फणी' (शङ्कर)

यहाँ विवर्त को माला में सर्प के समान बतलाया गया है। स्पष्ट है कि यह भाष्य आदिशङ्कराचार्य का नहीं है, क्योंकि उन्होंने सर्वत्र विवर्त का अर्थ परिणाम के रूप में ग्रहण किया है।

रामकण्ठ ने स्पन्दकारिका की वृत्ति (४।१८) में कहा है—शब्दाद्वयवादे सामान्येन शब्दार्थोभयरूपोऽपर्यन्तावान्तरभेदो योऽयमीश्वरस्य शक्तिप्रसरः तं विवर्त-वाचोयुक्त्या व्यवहरति स्म।

शब्दाद्वयवाद में सामान्यतः शब्द और अर्थ उभयरूप तथा शब्द और अर्थ के नाना अवान्तर भेदात्मक ईश्वर की शक्ति का जो प्रसार है, उसे विवर्त के नाम से कहते हैं।

'शब्दस्य परिणामोऽयं··· ··· ···।
··· ··· ··· एतद्विश्वं व्यवर्तत ॥ —ब्रह्मकाण्ड

वाक्यपदीय की इस कारिका से भी विवर्त और परिणाम की पर्यायता सिद्ध होती है।

भगवान् भर्तृहरि भी इसी प्रकार विवर्त का अर्थ करते हैं—

एक अखण्ड तत्त्व का स्वरूप से अच्युत रहते हुए भेदानुकरण से अर्थात् सन्निवेश विशेष द्वारा असत्यरूप में विभक्त तथा भिन्न-भिन्न रूपों-आकारों को धारण करना विवर्त है। उदाहरण के रूप में स्वप्नविषयक प्रतिभास को समझना चाहिए। जैसे एक ही स्वप्न-विज्ञान पुरुष स्वप्नावस्था में नदी, पर्वत, आकाश, चन्द्र, तारक, वन, समुद्र, पशु-पक्षी, मनुष्यादि भिन्न-भिन्न रूपों में भासित होता है। उस दशा में उसकी एकता च्युत नहीं होती। वे अनन्त भोग्य पदार्थ, भोक्ता और भोग उसी से विकसित होते हैं और उसी में अनुस्यूत रहते हैं और अन्ततः उसी में समा जाते हैं।

शृङ्गारप्रकाश (प्रकाश ६, पृ० २२० मैसूर सं०) में भोजराज ने उपर्युक्त सन्दर्भ का प्रस्तुत अर्थ किया है—'कः पुनरयं विवर्तो नाम ? उच्यते, एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य सन्निवेशविशेषादिभिरसत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः। तत्र यथा जलादयः कल्लोलादिरूपेण, सर्पादयः कुण्डलादिरूपेण, नीलादयश्चित्रादिरूपेण विवर्तन्ते तथा शब्दतत्त्वमविद्योपाधेस्तेन तेनार्थरूपेण तथा तथा विवर्तते।'

जैसे जलादिक, कल्लोल, फेन, बुद्बुद् रूप से सर्पादिक, कुण्डलाकार, दण्डाकार वक्राकार रूप से और नील-पीतादि वर्ण चित्र आदि के रूप में विवृत्त होते हैं, वैसे ही शब्दतत्त्व अविद्योपाधि से भिन्न-भिन्न अर्थों के रूप में नाना आकारों के साथ विवृत्त होता है।

आगे चलकर (प्रकाश ७, पृ० २२५ में) उन्होंने पुनः कहा है—

'वस्तुनः सन्निवेशविशेषेणावस्थानं विवर्तः।'

यथा—'उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मादुद्धूतः सरसिरुहोद्भवः परागः। वात्याभिर्वियति विवर्तितः।' (समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम्—भारवि)

वस्तु का आकार-विशेष ग्रहण करके स्थित होना विवर्त है। जैसे—स्थलकमिलिनी के इस वन से उठा हुआ कमलों का पराग बवण्डरों के द्वारा आकाश में चारों ओर विवर्तित होकर सोने के छत्र की शोभा को धारण करता है।

नागेश ने मञ्जूषा में इस प्रकार स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है—'तदुक्तं हरिणा 'अनादिनिधनं–' आद्य श्लोके हरिग्रन्थेऽपि स्पष्टमेतत् 'तत्त्वादप्रच्युतस्य वस्तुनः भेदानुकारेण असत्याविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः स्वप्नविषयप्रतिभासवदित्यादिना । तत्त्वात् स्वस्वरूपात् । असत्यं वस्तुनो बहिरसत्वात् । अविभक्तं तदधिष्ठानेन । अन्यत् वैधर्म्योपलम्भात् । तादृशरूपोपग्राहिता तद्रूपप्रकारकज्ञानविशेष्यता । तदाह—स्वप्नविषयेति । इति तद्व्याख्यातारः । पयसो दधि तु न विवर्तः तत्त्वात् प्रच्युतेः । स्वर्णादेः कुण्डलादि तु विवर्त एव ।'

तत्त्व अर्थात् अपने स्वरूप से अप्रच्युत वस्तु का भेदानुकरण द्वारा असत्य अर्थात् वस्तु से अतिरिक्त अन्य पदार्थ के न होने से अवास्तव तथा अविभक्त[1]—अपने अधिष्ठान से अनतिरिक्त तथापि आकारादि वैधर्म्य की उपलब्धि से अन्य—भिन्न-भिन्न रूपकारकज्ञानविशेष्यता विवर्त है । दूध का दही होना विवर्त नहीं, क्योंकि वहाँ तत्त्व से प्रच्युति होती है । स्वर्णादि का कुण्डलादि विवर्त ही है ।

श्रीवृषभ को छोड़ कर अन्य किसी आचार्य ने रज्जु में सर्प-प्रतीति को विवर्त नहीं माना[2] । 'संवर्त' शब्द की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—'अनेकस्यैकत्रोपसंहारः संवर्तः ।' अनेक का एक में उपसंहार संवर्त है । इसी आधार पर कल्पना की जा सकती है । 'एकस्यानेकधा प्रतिभासो विवर्तः' । यद्यपि उन्होंने ऐसा कहीं नहीं कहा है ।

सर्वरूपस्य तत्त्वस्य यत्क्रमेणेव दर्शनम् ॥३४॥

क्रियासमुद्देशगत उपर्युक्त कारिका की व्याख्या करते हुए हेलाराज ने कहा है—

'एकस्य हि तत्त्वादप्रच्युतस्य वस्तुतः क्रमो नास्ति । तथा तु दर्शनमात्रम् । अत एव—

अकुर्वाणोऽथवा किञ्चित् स्वशक्त्यैवं प्रकाशते ।

'इति तत्त्वादप्रच्युतस्य निष्क्रियस्य सक्रियस्येव प्रकाशनं विवर्तो द्योतितः ।'

तत्त्व से अप्रच्युत एक वस्तु का वस्तुतः क्रम नहीं है । जो क्रम दिखलाई देता है वह प्रतीतिमात्र है । इसीलिए कहा है—'कुछ न करता हुआ भी अपनी शक्ति से करते हुए के सदृश प्रकाशित होता है ।'

---

१. नागेश के मत में यहाँ 'अविभक्त' पाठ है । किन्तु अन्य आचार्य 'विभक्त' पाठ ही स्वीकार करते हैं ।

२. मुकुलभट्ट (विक्रम की दसवीं शताब्दी) ने अभिधावृत्त(वृत्ति)मातृका की १२वीं कारिका में कहा है—

विवर्तमानं वाक्यत्वं दशधैवं विलोक्यते ।

इसकी वृत्ति में वे स्पष्ट करते हैं—'सकलशब्दाविभागात्मकस्य शब्दतत्त्वस्य यदा शब्दार्थसम्बन्धत्रितयरूपतया रज्जुसर्पतया विवर्तमानत्वम् ।' यदि यह वृत्ति मुकुल की ही हो तो श्रीवृषभ (वि० ६ शतक) के बाद ये दूसरे आचार्य हैं, जो रज्जु में सर्प प्रतीति को विवर्त मानते हैं ।

इस प्रकार तत्त्व से अप्रच्युत निष्क्रिय ब्रह्म का सक्रिय के समान प्रकाशन ही विवर्त है, यह द्योतित हुआ।

तात्पर्य यह है—ब्रह्म समस्त परिकल्पों से अतीत तत्त्व है, उसमें समग्र शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। वही समस्त सांसारिक पदार्थाकारों के रूप में प्रतिभासित होता है। किसी भी क्रिया की निष्पत्ति में ब्रह्म की काल नामक स्वातन्त्र्य शक्ति से क्रम का अवभासन होता है। पाकक्रिया में अग्नि का समिन्धन, चूल्हे पर बटलोई का अधिश्रयण (चढ़ाना), जल और चावलों का छोड़ना, चमचे का चलाना, बारम्बार आग को फूंकना ये अवान्तर क्रियाएँ क्रमशः पूर्वापरीभाव से घटित होती हैं। इन अवयवों का समाहार ही एक पाकक्रिया के नाम से कहा जाता है। यह क्रिया-विवर्त है।

सम्बन्धसमुद्देश की प्रस्तुत कारिका की व्याख्या में भी हेलाराज कहते हैं—

अत्यद्भुता त्वियं वृत्तिः यदभागं यदक्रमम्।
भावानां प्रागभूतानामात्मतत्त्वं प्रकाशते॥ ७९॥

यह अत्यन्त आश्चर्यजनक व्यापार है, जिसमें जो भागरहित, क्रमहीन आत्मतत्त्व है वह प्राक् अदृष्ट नाना भावों के रूप में भासित होने लगता है। यह कार्यकारणभाव प्रतिभासमात्र सार एवं कल्पनाजन्य है। अविद्या ही जिनकी नेत्री है, ऐसे लोगों के द्वारा पदार्थों की भिन्न-भिन्न रूप में कल्पना की जाती है। परमार्थ तो यह है कि एक अखण्ड तत्त्व ही स्वरूपतः वर्तमान रहते हुए सन्निवेश या आकृति विशेषों के द्वारा विभक्त-सा नाना रूप ग्रहणात्मक विवर्त को प्राप्त होता है—

'प्रतिभासमात्रसारः कार्यकारणभावोऽपि तथा वैकल्पिकोऽविद्यानेत्रैर्यथायथं विकल्पनात्, एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता रूप-विवर्तः परमार्थः।'

स्वयं कारिकाकार 'जन्म' की चर्चा करते हुए विवर्त के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। यथा—

यथाहेः[१] कुण्डलीभावो व्यग्राणां वा समग्रता।
तथैव जन्मरूपत्वं सतामेके प्रचक्षते॥ १०५॥

—साधनसमुद्देश कर्त्रधिकरण

इस पर हेलाराज का कथन है—

कारण ही कार्य के रूप में वर्तमान होता है। इस उचित सिद्धान्त का अपने मत से प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—'यथा हेः'—इति।

तत्र (सतामेव) तेषां जन्मार्थो विचार्यमाणोऽवतिष्ठते। यदुत तथा तथा सन्निवेश-मात्रम्। तद्यथा सर्पस्य कौटिल्यमनर्थान्तरभूतम्। पृथग्भूतानाञ्चाङ्गुल्यादीनां सङ्घातो

---

१. द्वादशारनयचक्र पृ० ५९४ में कहा गया है—'यथैकस्यैवाहेः संवर्ते विवर्ते च तथा तथा तस्यैवावस्थानात्।'

मुष्टयादिरित्यवस्थाविशेषमात्रसारः कार्यकारणभाव इत्यवस्थातुरभेदादवस्थास्वनुगमाद् सत्त्वे जनिकर्तृतासिद्धिः ।

विचार करने पर सत् वस्तु का ही जन्म रूप अर्थ निश्चित होता है । अथवा सत्पदार्थ (कारण) का भिन्न-भिन्न सन्निवेशमात्र ही जन्म या कार्य है । जैसे सर्प का कुण्डलायित रूप उससे भिन्न नहीं होता और अलग-अलग अँगुलियों का मुष्टि रूप संघात उनकी स्थिति विशेषमात्र ही है । इस प्रकार अवस्थाविशेषमात्र ही कार्य-कारणभाव का सार है । कार्य का कारण से सदा अभेद रहता है और सम्पूर्ण कार्य की अवस्थाओं में कारण अनुस्यूत रहता है, अतः सत् की ही जनिकर्तृता-जन्म या अवस्थान्तर सिद्ध है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि एक ही वस्तु की सन्निवेश विशेषात्मक स्थिति विवर्त है, न कि रज्जु में सर्प की प्रतीति ।

श्रीवृषभ वृत्तिकार के सन्दर्भ को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

एक अभिन्न वस्तु की अन्यरूपोपग्राहिता या अन्यरूप स्वीकृति यहाँ नहीं समझना चाहिए, किन्तु अन्यगत रूप का अपने में सन्दर्शन विवर्त है—'अन्यगतस्य रूपस्य स्वात्मनि सन्दर्शनं विवर्तः ।' ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य वस्तु के अभाव में वह अन्य का स्वरूप कैसे ग्रहण करेगा ? और यदि वस्त्वन्तर है तो विवर्त की कल्पना ही व्यर्थ है—इस आशङ्का को दूर करने के लिए 'असत्य' का ग्रहण किया गया है । यदि कोई अन्य वस्तु है, तो वह असत्य रूप ही है । गो-घटादि अनेक आकारों का आभास इसमें होता है, अतः विभक्त शब्द का ग्रहण किया गया है । समुदायार्थ इस प्रकार होगा—असत्य गवादिकों का विभक्त–परस्पर व्यावृत्त–विलक्षण, अन्य रूप स्वीकार ही विवर्त है । प्रायः पदार्थ (पटादि) अन्य कुसुमादि का रूप ग्रहण करते हुए और अपना रूप त्याग करते हुए देखे जाते हैं, और स्फटिकादि उपराग-रञ्जनादि रूप ग्रहण करते हुए । अतः 'तत्त्वादप्रच्युतस्य' इस पद का ग्रहण किया गया है । अर्थात् अन्य रूप ग्रहण करने पर भी स्वरूप की प्रच्युति नहीं होती । भिन्न अनेक जातीय पदार्थ रूप को एक तत्त्व कैसे ग्रहण करता है ? इस पर कहा गया है—भेदानुकारेण । आगे चलकर श्रीवृषभ कहते हैं—एतदुक्तं भवति 'एकं वस्तुस्वरूपमपरित्यजद् भेदानुकारेण मिथ्यानेकरूपावभासितं प्रतिपन्नं विवृत्तमिवेत्युच्यते । यथा रज्जुद्रव्यं विपर्यस्तदर्शनानामचेतनारूपमजहत् सर्परूपानुकारेण सर्परूपमित्युच्यते ।

रज्जु में सर्प की प्रतीति भ्रम मात्र है, विवर्त नहीं । पता नहीं श्रीवृषभ ने कैसे यह दृष्टान्त स्वीकार कर लिया, जबकि वे स्वयं 'यदस्मिन्नेव तमसि ज्योतिः शुद्धं विवर्तते (१८) की व्याख्या में 'विवर्तते' का अर्थ 'परिणमते'[1] बतलाते हैं ।

१. मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि, अ० १ श्लो० ७ की टीका में कहते हैं—'अथवाऽद्वैतदर्शने नैव चेतनाचेतनानि भूतानि पृथक्त्वेन सन्ति, तस्यैवायं विवर्तः । अतो विवर्तानां भूतमयत्वात् तैश्च तस्याभेदाद्युक्तमेव तन्मयत्वम् । कथं पुनरेकस्य नाना-

नागोजिभट्ट भी इसे विवर्त नहीं मानते। उनका कहना है कि रज्जु में भुजङ्ग पैदा हुआ यह प्रतीति नहीं होती, किन्तु रज्जु में भुजङ्ग भ्रम हुआ यह प्रतीति होती है—

'अत एव रज्जौ भुजङ्गो जात इत्यप्रत्ययः। रज्जौ भुजङ्गभ्रमो जात इत्येव च प्रत्ययः'। —मञ्जूषा पृ० ३१६ (चौ० सं०)

उपर्युक्त सन्दर्भ पर विचार करते हुए 'कला' टीका के रचयिता वैद्यनाथ पायगुण्डे कहते हैं—

'एतेन रज्जुर्भुजङ्गस्य विवर्तोपादानमिति निरस्तम्। दोषत्रयात्।'

वस्तुतः रज्जुतत्त्व ज्ञान के अनन्तर कभी भी सर्प पद प्रयोग की बुद्धि नहीं होती, किन्तु शब्दब्रह्म रूप तत्त्व ज्ञानी को प्रकृत प्रसङ्ग में ब्रह्मबुद्धि और व्यवहारबुद्धि दोनों रहती हैं। इसलिए रस्सी साँप की विवर्तोपादन है, यह खण्डित हो जाता है। यह खण्डन तीन दोषों के कारण है—

(१) कुण्डल की प्रतीति के अवसर पर जैसे स्वर्ण-प्रतीति भी विद्यमान रहती है, किन्तु साँप की प्रतीति के समय रस्सी की प्रतीति नहीं होती, अतः यह विवर्त[1] नहीं।

रूपविवर्तितोपपत्तिरेकत्वाद्विरोधिनी उच्यते। एवमाहुर्विवर्तवादिनः—'यथा समुद्राद्वायुनाऽभिहता ऊर्मयः समुत्तिष्ठन्ति, ते च न ततो भिद्यन्ते नापि लिप्यन्ते (लीयन्ते) सर्वथा भेदाभेदाभ्यामनिर्वाच्या। एवमयं ब्रह्मणो विश्वविवर्तः।'

ये अद्वैतवादी और विवर्तवादी वैयाकरण ही हो सकते हैं, शाङ्करवेदान्ती नहीं, क्योंकि उनके यहाँ ऐसा विवर्त स्वीकृत नहीं है। यहाँ मेधातिथि ने वाक्यपदीय-वृत्ति (कारिका १) को भी उद्धृत किया है—'यः सर्वपरिकल्पानां....स विवेकात्प्रकाशते'। मनु० अ० २ श्लोक ११८ की व्याख्या में इन्होंने वाक्यपदीय, काण्ड ३, द्रव्यसमुद्देश का यह श्लोक उद्धृत किया है—

'न तदस्ति न तन्नास्ति न तदेकं न तत्पृथक्' ॥ १२ ॥

मनु० अ० ६ श्लोक ८३ के 'वेदान्ताभिहितं चेयत्' पर मेधातिथि ने टीका की है—'वेदान्त इति यदभिहितं तदपि कर्मज्ञानसमुच्चयं ब्रह्मत्वाय दर्शयति।'

इससे ज्ञात होता है कि मेधातिथि ने कहीं भी शाङ्करमत को उद्धृत नहीं किया है। अतः ये शङ्कर के पूर्ववर्ती हैं। श्री पी० वी० काणे ने इन्हें शाङ्करमत को उद्धृत करने वाला तथा शङ्कर से परवर्ती बतलाया है।

१. कुण्डलप्रतीतिकाले स्वर्णत्वप्रतीत्यप्रच्यववत् भुजङ्गप्रतीतिकाले रज्जुत्वप्रतीत्यप्रच्याभावेन तत्त्वस्यायुक्तत्वाच्च। इदं चानुपदमेवोक्तम्। मृद्विवेकज्ञानवतामपि घटादिव्यवहारवत् श्रवणमननपरिपाकवतां मायात्वघटत्वाद्युभयज्ञानमस्त्येव। लोके स्वर्णपदार्थजानतां कुण्डले स्वर्णत्वज्ञानाभाव इव रज्जुसर्पस्थले, युगपदुभयज्ञान (?) मिति विशेषाच्च।

(२) जिनको मिट्टी का ज्ञान रहता है, वे जैसे घटादि से व्यवहार करते हैं वैसे ही श्रवण-मनन परिपाक वाले योगियों को मायात्व और घटत्वादि उभय ज्ञान रहता ही है।

(३) लोक में जो स्वर्ण पदार्थ नहीं जानते, उन्हें जैसे कुण्डल के प्रत्यक्ष में स्वर्णत्व ज्ञान का अभाव रहता है, वैसे रज्जुसर्पस्थल में नहीं होता।

नागेश ने मञ्जूषा (पृ० ४८२ चौ. सं.) में हेलाराज की 'शब्दप्रभा'[1] से एक प्रासङ्गिक उद्धरण प्रस्तुत किया है—

'यथा स्वप्ने एकस्यैवान्तःकरणस्य विरुद्धानेकपदार्थरूपत्वं तथा जागरे माया सहकारेण ब्रह्मणस्तथात्वम्। यथा च जागरे अप्रतीयमानत्वात्स्वप्नस्य मिथ्यात्वं तथा तुरीयदशायामननुवृत्तेरस्य प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं संविदश्च सत्यत्वम्। उपाधिवैशिष्ट्येन तदेव व्यवहारास्पदम्। निरुपाधिकं तु सर्वव्यवहारा विषय' इति हेलाराजः।

जैसे स्वप्न में एक ही अन्तःकरण के विरोधी अनेक पदार्थरूप दिखलाई देते हैं वैसे ही जागरावस्था में माया के सहकार से ब्रह्म भी भिन्न-भिन्न रूप में भासित् होता है। जैसे जाग्रदवस्था में प्रतीत न होने से स्वप्न मिथ्या कहा जाता है, वैसे ही तुरीय दशा में प्रपञ्च के न रहने से उसका मिथ्यात्व सिद्ध होता है, और संवित् (ब्रह्म) का सत्यत्व। उपाधि के वैशिष्ट्य से ब्रह्म ही व्यवहारास्पद बनता है। निरुपाधिक तत्त्व तो सभी के व्यवहार का अविषय हो जाता है।

वैद्यनाथ[2] की उक्ति है कि माया का भी दूध का दधिभाव के समान प्रपञ्चात्मक परिणाम नहीं होता, किन्तु स्वर्ण का कुण्डलरूप के समान परिणाम होता है। ऐसा ही परिणाम विवर्त शब्द द्वारा कहा जाता है। इसीलिए प्रलय में पुनः अविद्या रूप से समस्त प्रपञ्च की स्थिति होती है। यदि दधि के समान परिणाम हो तो जैसे दधि पुनः दुग्ध रूप नहीं ग्रहण कर पाता, वैसे ही प्रपञ्च का माया रूप से प्रलय दशा में अवस्थान नहीं होगा। उस माया की भी संस्कार रूप से जो स्थिति है, वही ब्रह्म में सर्वलय के नाम से कही जाती है।

---

१. यह सन्दर्भ 'शब्दप्रभा' का ही है, इसमें कलाकार प्रमाण हैं। यथा—ननु कथमेकस्य युगपत्तथात्वमतस्तत्राह—एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्येत्यादिप्रागुक्तहरिव्याख्यानस्थहेलाराजम्।

२. मायाया अपि दुग्धस्य दधिभावेनेव न प्रपञ्चरूपः परिणामः। किन्तु स्वर्णस्य कुण्डलरूपेणेव। एवंविधपरिणामो विवर्तपदेनोच्यते। अत एव प्रलये पुनरविद्यारूपेण सर्वावस्थानम्। यदि दधिवत्परिणमेत् तत्तदा तस्य पुनर्दुग्धरूपत्ववत्प्रपञ्चस्य मायारूपेणावस्थानं भज्येत। तस्या यत्संस्काररूपेणावस्थानं तदेव ब्रह्मणि सर्वलयत्वेन व्यवह्रियत इति बोध्यम्।—कला।

भगवान् शङ्कराचार्य[1] के प्रशिष्य और देवेश्वर या सुरेश्वराचार्य के शिष्य सर्वज्ञात्म महामुनि ने संक्षेपशारीरक में चार वादों की चर्चा की है—१. आरम्भवाद, २. संघातवाद, ३. परिणामवाद और ४. विवर्तवाद।

वे विवर्त का लक्षण इस प्रकार करते हैं—

अभेदिनो निर्विकृतेरनेकमृषास्वरूपान्तरदर्शकत्वम्।
विवर्तशब्दार्थ इह प्रसिद्धस्तरङ्गभेदादिव चन्द्रभेदः॥ ६६॥

—अध्याय २

अभिन्न एवं विकारहीन वस्तु का अनेक, मृषात्मक, स्वरूपान्तर दर्शकता विवर्त है। अर्थात् पूर्वरूप[2] का बिना त्याग किये अपने से अभिन्न मिथ्या रूपान्तर दर्शकत्व ही विवर्त शब्द का अर्थ है। जैसे एक[3] ही चन्द्र का तरङ्ग-भेद से नाना रूप ग्रहण करना। वे अचिन्त्य शक्ति वाक् को ही विश्वविवर्त का हेतु मानते हैं—

औत्पत्तिकी शक्तिरशेषवस्तुप्रकाशने कार्यवशेन यस्याः।
विज्ञायते विश्वविवर्तहेतोर्नमामि तां वाचमचिन्त्यशक्तिम्॥ —श्लो० ४

---

१. राजा सुधन्वा के दानपत्र तथा मठों की वंशावलियों के अनुसार भगवान् शङ्कराचार्य का समय यदि विक्रम पूर्व ४५२वें शतक में निश्चित हो तो उनके प्रशिष्य का समय भी उसी के आसपास होगा। इस प्रकार विवर्तवाद का विचार प्राचीन सिद्ध होगा। किन्तु रज्जुसर्प सम्बन्धी विवर्त विचार प्राचीन नहीं।

सोढल-पुत्र शार्ङ्गदेव (विक्रम की १४ वीं शती का अन्त) ने सङ्गीतरत्नाकर में कहा है—

चैतन्यं सर्वभूतानां विवृत्तं जगदात्मना।
नादब्रह्म तदानन्दमद्वितीयमुपास्महे॥ १॥ —प्रथम अध्याय, प्रकरण ३

सिंहभूपाल ने सुधाकर-व्याख्या में 'अप्रच्युतप्राच्यावस्थस्य असन्नानाकारावभासो विवर्तः' ऐसा विवरण प्रस्तुत किया है।

कल्लिनाथ ने 'विवृत्तमतत्त्वतोऽन्यथाभूतम्' ऐसा कहा है। दोनों टीकाकार इसमें रूपक अलङ्कार मानते हैं, जो वस्तुतः मूल के अभिप्राय से भिन्न है। सिंहभूपाल की विवर्त व्याख्या उचित है।

२. एकस्य अत्यक्तपूर्वरूपस्य स्वाभिन्नमिथ्यारूपान्तरदर्शकत्वं विवर्तशब्दार्थः।

—सुबोधिनी टीका

३. यहाँ रज्जुसर्प का उदाहरण नहीं दिया गया। वेदान्त में सर्वप्रथम विद्यारण्य ने पञ्चदशी में रज्जुसर्प का उदाहरण दिया है—'अवस्थान्तरमानं तु विवर्तो रज्जुसर्पवत्' और इसी आधार पर सदानन्द यति ने इसी उदाहरण को स्वीकार कर प्रस्तुत उद्धरण द्वारा वेदान्तसार में इसका स्पष्टीकरण किया है—

सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥

जयन्तभट्ट खण्डन की मुद्रा में विवर्त को समझते ही नहीं। वे कहते हैं—'तथा हि विवर्ते क्षीरमिव दधिरूपेण परिणामित्वेन—' 'अथार्थप्रतिभासमसत्यमपीन्द्रजालवदुपदर्शयति शब्द इत्ययं विवर्तार्थः, अथार्थरूपेण शब्दः शुक्तिरिव रजतकारतयाऽवभासत इतीयं वाचो युक्तिः' 'अथ शब्दब्रह्मैव सृजति जगन्तीत्ययं विवर्तप्रकार उच्यते'। वस्तुतः सुवर्ण का कुण्डलादि रूप जो विवर्त है, उसका उन्होंने स्पर्श ही नहीं किया। और उपर्युक्त कल्पनाओं के आधार पर कहा—'इत्यवाचकमुच्यते विवर्ततेऽर्थभावेनेति।

शब्दब्रह्म का अर्थ रूप में विवर्तन होता है। यहाँ अर्थ का अर्थ विशेषरूप से ज्ञातव्य है। अर्थ मुख्यतया तीन प्रकार का होता है। एक शब्द का स्वरूपार्थ,[1] द्वितीय शब्दार्थ रूप अर्थ और तृतीय बाह्यार्थ। स्वरूपार्थ के दो भेद माने जाते हैं—पहला गोशब्दव्यक्ति रूप स्वरूपार्थ और दूसरा गोशब्दत्व जाति रूप अर्थ। शब्दार्थ रूप अर्थ के भी दो भेद होते हैं—प्रथम गो-घटादि आकारात्मक और द्वितीय संवित् रूप जैसे अपूर्व या पुण्यापुण्य रूप अदृष्ट, स्वर्ग आदि। इनका कोई आकार मन में उदित नहीं होता। अतः ये निराकार ज्ञानात्मक ही होते हैं।

ज्ञानं प्रयोक्तुर्बाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते।
शब्दैरुच्चरितैस्तेषां सम्बन्धः समवस्थितः ॥ १ ॥ —तृ० काण्ड

प्रयोक्ता का ज्ञान या शब्दार्थात्मक अर्थ, बाह्यवस्तुरूप अर्थ और स्वरूपार्थ में उच्चरित शब्दों द्वारा प्रतीत होते हैं और इनका परस्पर सम्बन्ध अनादि है। बाह्यार्थ और स्वरूपार्थ तथा शब्द का परस्पर योग्यता या तादात्म्य अथवा वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध माना जाता है। शब्दार्थ रूप अर्थ और शब्द का कार्यकारणभाव सम्बन्ध

विद्यारण्य का परिणाम लक्षण इस प्रकार है—

अवस्थान्तरतापत्तिरेकस्य परिणामिता।
स्यात् क्षीरं दधि, मृत्कुम्भः सुवर्णं कुण्डलं यथा ॥ १३।८ ॥

सर्वज्ञात्म मुनि का परिणाम लक्षण—

अभेदिनः सावयवस्य सत्यविचित्ररूपान्तरदर्शकत्वम्।
वदन्ति धीराः परिणाममस्या वसुन्धराया इव सस्य सृष्टिम् ॥

—अ० २, श्लो० ६५

१. वस्तुतः प्रत्येक उच्चरित शब्द में तीन शब्द रहते हैं। व्यवहाराभ्यास और श्रुतिसाम्य के कारण इन तीनों का पृथक् बोध नहीं होता। ताल्वादि करणसन्निवेशी शब्द (१) वाचक शब्द है; बाह्य अर्थ के साथ अभिन्नरूप से सचेत्यमान (२) स्वरूपात्मक शब्द वाच्यार्थ है, यह प्रयोगस्थ शब्द है; सम्बन्ध संवेदन के अवसर पर अनुभूत, संहृतक्रम—अभिन्नश्रुतिविषय का नियामक होने से अर्थप्रवृत्ति में (३) निमित्त यह तृतीय शब्द है। इस प्रकार निमित्त, तद्वान् और अभिधेय ये तीन शब्द हुए।

—द्रष्टव्य तृ० का० पृ० ९९ (चौ० सं०)
तथा वृत्तिस० पृ० २०२ (त्रिवेन्द्रम् सं०)

होता है। इन अर्थों में अन्तरङ्ग होने से अत्याज्य होने के कारण और असाधारण होने से स्वरूपार्थ ही मुख्य अभिधेय है। शब्द और अर्थ में कभी तो स्वरूपार्थ में ही विश्रान्ति हो जाती है। जैसे किसी वृद्ध ने बालक से कहा कि अग्नि शब्द का अन्तोदात्त उच्चारण करो और बालक वैसा ही अनुकरण करता है। यहाँ वृद्धोक्त अग्नि शब्द वाचक शब्द है और अनुकृत अग्नि शब्द स्वरूपार्थ। शब्द, ज्ञान और प्रदीप ये तीन प्रकाश हैं। जैसे ज्ञान और दीपक बाह्यार्थ को प्रकाशित करते हुए अपने को भी प्रकाशित करते हैं, वैसे ही वाचक शब्द बाह्यार्थ को अभिधीयमानरूप से प्रकाशित करते हुए अपने को अभिधेय रूप से प्रकाशित करता है।

वक्ता का बुद्धिस्थ अभिप्राय शब्दार्थ रूप अर्थ है। पर्याय भी शब्दार्थ रूप अर्थ है। जैसे—व्यक्ति, वस्तु और अर्थ अथवा आत्मा, चिति और चैतन्य ये शब्दार्थ रूप अर्थ हैं।

शब्दादुच्चरिताद्वा आकारवती बुद्धिरुत्पद्यत इति तदाकारस्यैव शब्दार्थत्वं न बुद्धेः। स ह्याकारो बाह्योऽस्तु न वा, शब्दवाच्यत्वस्य न काचित्क्षतिः।

—हेलाराज; द्रव्यसमु० श्लो० १९ की टीका)

'व्याकरणे हि शब्दार्थोऽर्थः न च स्वार्थः।'

—हेलाराज; कर्त्रधिकार श्लो० १०१ की व्याख्या

'तस्मादात्मीयः सिद्धान्तः शब्दार्थोऽर्थो यथा नानालिङ्ग उपपद्यते स प्रतिज्ञेयः। अर्थव्यक्तिवस्तुशब्दैः सर्वार्थानां व्यवहारात् यथा त्रिलिङ्गता सम्पद्यते तथा परिभाषणीयम्। तथा च भाष्यम्—तस्मान्न वैयाकरणैः शक्यं लौकिकं लिङ्गमास्थातुम्। अवश्यं कश्चित् स्वकृतान्त आस्थेयः।   —वृत्तिसमु० श्लो० ३१९ की टीका

उच्चरित शब्द के द्वारा आकारवती बुद्धिवृत्ति उत्पन्न होती है, वहाँ आकार की ही शब्दार्थता है बुद्धि की नहीं। वह आकार बाहर मिले या न मिले, शब्द के वाच्यार्थ की कोई क्षति नहीं होती।

बाह्य जगत् में कर्ता सदैव चेतन देखा जाता है। किन्तु भाषा में 'नदी बहती है' 'फूल गिर रहा है' 'आग जलाती है' आदि प्रयोगों में अचेतन कर्ता स्वीकृत है। इसीलिए व्याकरण में शब्दार्थ रूप अर्थ माना जाता है, स्वार्थ नहीं।

अर्थ, व्यक्ति और वस्तु शब्दों द्वारा समस्त अर्थों का व्यवहार होता है। बाह्य पदार्थों में तो त्रिलिङ्गता उपलब्ध नहीं होगी, अतः 'अर्थ' की वैसी परिभाषा होनी चाहिए जिसमें त्रिलिङ्गता बाधित न हो। महाभाष्य में भी कहा गया है—'अतः वैयाकरणों द्वारा लौकिक लिङ्ग स्वीकार करना सम्भव नहीं। इसलिए स्वसिद्धान्तीय परिभाषा बनाना आवश्यक है।' अतः आत्मीय सिद्धान्त है—'शब्दार्थ शब्दरूप अर्थ ही अर्थ है'। इस प्रकार एक ही वस्तु को तटः, तटी, तटम् के रूप में भाषा में सभी लोग स्वीकार करते हैं।

वृत्तिः—उक्तञ्च, 'मूर्तिक्रियाविवर्तौ अविद्याशक्तिप्रवृत्तिमात्रं तौ विद्यात्मनि तत्त्वान्यत्वाभ्यामनाख्येयौ। एतद्धि अविद्याया अविद्यात्वम्' इति।

व्याकरणागम में कहा गया है—

मूर्तिविवर्त और क्रियाविवर्त अविद्याशक्ति की प्रवृत्तिमात्र हैं; विद्यात्मा या शब्द-ब्रह्म में ये दोनों विवर्त अभिन्न या भिन्न रूप से नहीं कहे जा सकते। यही अविद्या का अविद्यात्व है।

देश-विशेष को घेरकर (अवरुद्ध करके) वर्तमान वस्तु को मूर्तिविवर्त कहते हैं—'देशभेदावग्रहरूपेणावस्थानं मूर्तिविवर्तः'—श्रीवृषभ।

उत्पत्ति और विनाश आदि क्रियाओं से उपहित कालक्रम को क्रियाविवर्त कहते हैं—'उत्पादविनाशादिक्रियोपहितरूपावस्थानं क्रियाविवर्तः' श्रीवृषभ। हेलाराज की उक्ति है—'कालशक्त्यवच्छिन्नो हि क्रियाविवर्तः, दिक्शक्त्यवच्छिन्नश्च मूर्तिविवर्त इति मूर्तिक्रियाविवर्तरूपं विश्वं प्रतिपादितम्।'

घट-पद आदि देश-विशेष को घेरने वाले पदार्थों को मूर्ति कहते हैं।' 'भाष्ये मूर्तिशब्देन वस्तुमात्रस्याभिधानात् इहापि मूर्तिशब्देन वस्तुमात्रं लक्ष्यते।' महाभाष्य में मूर्ति शब्द से वस्तु मात्र का कथन किया गया है, अतः यहाँ भी मूर्ति शब्द से वस्तु मात्र लक्षित होता है—हेलाराज।

'मूर्तिः सर्वगतद्रव्यपरिमाणम्।'—हेलाराज; दिक्समुद्देश श्लोक ४ की व्याख्या।
समस्त पदार्थों में रहने वाला द्रव्यपरिमाण मूर्ति के नाम से कहा जाता है।

जब तक अविद्या अपना विपर्यासात्मक कार्य उत्पन्न नहीं करती, तब तक शक्ति के नाम से कही जाती है और उसकी प्रवृत्ति ही विपर्यय है। पूर्वोक्त विवर्तों की विद्या या ब्रह्म के साथ एकता है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विद्या और अविद्या में विरोध है। भेद या नानात्व भी नहीं कह सकते, क्योंकि परमार्थतः ब्रह्म से व्यतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं। अविद्या का यही स्वभाव है कि वह अभूत पदार्थों की परिकल्पना करती है। यदि वह ऐसा न करे तो विद्या ही है।

अविद्या का यही स्वरूप है कि जो वस्तु नहीं है उसे भी प्रकट करती है। यदि वस्तुतः वह हो तो विद्या के अतिरिक्त क्या है। अतः असत्य प्रपञ्च को प्रकाशित करने वाली ब्रह्म की यह शक्ति अनादिसिद्ध है। ग्राह्यों—घट-पटादि तथा ग्राहकों या द्रष्टाओं के युगल की अपने अनुरूप ही रचना करके अजगलस्तन के समान जगज्जाल को फैलाती है, अतः अविचारित रमणीय इस अविद्या को तत्त्वदर्शी लोग दूर करने की चेष्टा करते हैं।

'एतदेव ह्यविद्यायाः स्वरूपं यदनुपपद्यमानमप्यात्मोपगमं नयति उपलब्धे विद्यैव स्यात्। तस्मादसत्यप्रपञ्चप्रकाशनशक्तिर्ब्रह्मणोऽनादिसिद्धा ग्राह्यग्राहकयुगलस्वानुरूपमारचय्यजगन्नाट्यमातनोतीत्यविचारितरमणीयामिमामपनयन्ति तत्त्वदृशः।

—हेलाराज, द्रव्यसमु०, अन्तिम श्लोक की टीका

वृत्तिः—प्रक्रिया जगतो गतः। तत एव हि शब्दाख्यादुपसंहृतक्रमाद् ब्रह्मणः सर्वविकारप्रत्यस्तमये संवर्तादनाकृतात् पूर्वं विकारग्रन्थिरूपत्वेनाव्यपदेश्याज्जगदाख्या विकाराः प्रक्रियन्ते।

जिससे शाब्दिक जगत् और व्यावहारिक जगत् की उत्पत्ति होती है। यद्यपि अर्थ शब्द से जगत् एवं जागतिक पदार्थों का भी बोध होता है, तथापि 'अर्थभावेन विवर्तते' से सामान्य कथन किया गया है और 'यतः जगतः' प्रक्रिया से विशेष कथन समझना चाहिए। इस प्रकार पुनरुक्ति दोष नहीं होगा। उत्पलाचार्य ने सोभानन्द द्वारा 'शिवदृष्टि' में पूर्वपक्ष रूप से उद्धृत इस कारिका की प्रस्तुत व्याख्या की है—

'पश्यन्तीरूपं शब्दतत्त्वं अक्षरं अनाद्यन्तं ब्रह्म विश्वार्थभावेन विवर्तते तदसत्यरूपमात्मन्युपगच्छति, असत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः, तस्यास्तद्विवर्तते, यतो विवर्तनात् प्रक्रिया भावभूतभुवनादिविन्यासवैचित्र्यमिति।'

पश्यन्तीरूप शब्दतत्त्वात्मक जो अक्षर एवं अनादि अनन्त ब्रह्म है, वह विश्वार्थ रूप में विवर्त को प्राप्त होता है। उस विश्वात्मक अर्थभाव को अपने में असत्य रूप से प्राप्त करता है और जिस विवर्तन से प्रक्रिया अर्थात् भाव–पदार्थ, भूत–प्राणी और भुवनादिको का विन्यास-वैचित्र्य घटित होता है। यहाँ 'यतः' का अर्थ 'विवर्तनात्' किया गया है, जो वृत्ति के विरुद्ध-सा प्रतीत होता है। किन्तु ऐसा अर्थ करने पर कोई असङ्गति या अपूर्वार्थता का बोध नहीं होता। हाँ, यह अर्थ सम्प्रदायागत नहीं। श्री वृषभ ने 'जगतः' का अर्थ किया है—'जगत इति सकलागमोपलक्षणम्'। जगत शब्द सम्पूर्ण आगमों का उपलक्षक है। 'प्रक्रिया' अर्थात् प्रथमतः उत्पत्तिः।

सम्पूर्ण विकारों के अस्त हो जाने पर संवर्तात्मक-अनेकों की एकरूपता, दशा को प्राप्त, अनाकृत–अभेदात्मक, सृष्टि के पूर्व विकारों की गाँठ या कारण[1] के रूप में अव्यपदेश्य क्रम का जिसमें उपसंहार हो गया है, उस शब्दब्रह्म से ही जगदात्मक विकार विकसित होते हैं।

शब्दब्रह्म के स्वरूप बोधक तीन शब्दों का प्रयोग यहाँ किया गया है। उपसंहृतक्रम, संवर्त और अनाकृत। यह स्वरूप उसके विवर्तावस्था में आने से पूर्व की स्थिति है। इस दशा में वह विकार जाल के रूप में अनिर्देश्य रहता है। यह स्थिति सम्पूर्ण विकारों के अस्त होने पर ही होती है। इस स्थिति को एक ओर महाप्रलय कहा जा सकता है और दूसरी ओर वाणी की प्रशान्त कल्लोलात्मक चिन्मात्रावस्था। जब वाणी का ताल्वादि स्थानों में सन्निवेश नहीं होता और न वह चिन्तनात्मक मानस वाग्व्यापार का ही विषय बनती है, तो यही उसकी निस्तरङ्ग चिन्मात्रता है। भाषा की यह संवर्तावस्था है। अकार ककारादि भेद निबन्धनात्मक क्रमों का यहाँ सर्वथा उपसंहार हो जाता है। उस समय वर्णों, पदों और पदार्थों का परस्पर विवेकपूर्वक अवधारण सम्भव नहीं होता, अतएव वह अनाकृत भी कहा जाता है।

---

१. ग्रन्थि का अर्थ कारण या बीज है। हेलाराज ने कहा है—'सांख्याभिमतमविकृतं प्रधानतत्त्वं सर्वविकारग्रन्थिबीजावस्थमभिन्नमनुप्रसृष्टमेव महदादिविकाररूपैः परमार्थतः। —वा० प०, तृ० काण्ड, द्रव्यसमु०, कारिका १० की व्याख्या।

श्रीवृषभ की व्याख्या निम्नाङ्कित है—सर्वविकारप्रस्तमये के द्वारा महाप्रलय की बात कही गई है। उस समय विकार की मात्रा भी अवशिष्ट नहीं रहती। और उस प्रलय की दशा में भेद का नाश हो जाने से तद्धेतुक क्रम भी नहीं रहता। उस समय सकल विकार समूह ब्रह्म में मिलकर एक हो जाता है। ब्रह्म की वह संवर्त दशा है। तत्काल समस्त विकारों के एकत्र उपसंहृत हो जाने के कारण परस्पर विवेकपूर्वक पदार्थों का बोध नहीं होता। ऐसे प्रस्तुत ब्रह्म से समस्त आगमों की उत्पत्ति होती है। ग्रन्थि शब्द अन्यत्र यद्यपि विकारार्थक है, तथापि विकार शब्द के साथ प्रयुक्त होने से यहाँ अपेक्षित प्रवृत्ति निमित्त के रूप में लेना चाहिए। वे विकार बन्धन के हेतु होने से ग्रन्थियों के समान प्रतीत होते हैं।

वृत्तिः—'तथा ह्युक्तम्—

य: [1]सर्वपरिकल्पानामाभासेऽप्यनवस्थितः।
तर्कागमानुमानेन बहुधा परिकल्पितः॥

जैसा कि आगम में कहा गया है—जो शब्दात्मा ब्रह्म तथा समस्त परिकल्पों—घट-पटादि भेद विकल्पों के प्रकाश में रहते हुए भी उनसे परे है अथवा समस्त दर्शनों के सिद्धान्तों में अविच्छिन्न रूप से रहता हुआ आगे भी चला जाता है और जो तर्क, आगम और अनुमान द्वारा प्रकृति, परमाणु, कर्म, ज्ञान, शिवादि अनेक रूपों में कल्पित हुआ है।

श्रीवृषभेद 'आभासे' का अर्थ 'गोचरे' और 'अनवस्थितः' का 'न गोचरतां प्रतिपद्यत इति यावत्' ऐसा करते हैं। किन्तु 'अनवस्थितकम्पेऽपि–' (१०६) इस कारिका की व्याख्या में भर्तृहरि कहते हैं—'कम्पेषु अविच्छेदेनानुवर्तमानेषु' तथा 'प्रवादेष्वनवस्थितः' (१०८ कारिका) की व्याख्या में भी उन्होंने कहा है—'प्रवाद अर्थात् दर्शनों में इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं। तात्पर्य यह है कि इस सम्बन्ध में कोई स्थिर मत नहीं है। अतः 'अनवस्थित' का अर्थ होगा—अनवस्था को प्राप्त। अर्थात् उपपाद्य और उपपादक की अविश्रान्ति और इसी का नाम है—अविच्छिन्न रूप से अनुवर्तमानता।

हेलाराज भी इसी अर्थ के पोषक हैं। यथा—'इह कश्चित् बीजसलिलसंयोगाधीनां निष्पत्तिं शालीनां मन्यते। कश्चिदुत्तरकालभाव्यातपादिसंयोगजनितोपकारपरम्पराऽधीनाम्, इति निष्पत्तिहेतुरनवस्थितः। —कालसमु० कारि० १०९ की व्याख्या।

---

१. मेधातिथि ने मनुस्मृति अध्याय १ श्लोक ७ की व्याख्या में वृत्ति के प्रस्तुत दो श्लोकों को उपधृत किया है। उनका कथन है—

'सूक्ष्म इव सूक्ष्मोऽणुः। न ह्यसावणुस्थूलादिविकल्पानामाश्रयः।
सर्वविकल्पातीतो ह्यसौ। उक्तञ्च—
'यः सर्वपरिकल्पानां······स विवेकात्प्रकाशते।'

कुछ लोग शालिधान की उत्पत्ति बीज तथा पानी के संयोग के अधीन मानते हैं। दूसरे लोग उत्तरकाल भावी आतप आदि संयोगजनित उपकार परम्परा के अधीन मानते हैं। इस प्रकार निष्पत्ति के हेतु अनिश्चित हैं। अर्थात् इस विषय में कोई स्थिर दृष्टि नहीं है।

'लिङ्गमन्तरेण स्वयमुत्प्रेक्षाप्रतिमानं तर्कः'। परतः श्रवणमागमः। परप्रतिपत्तिसाधनं लिङ्गतोऽनुमानम्।' श्रीवृषभ।

हेतु के बिना स्वयं उत्प्रेक्षा विषयक मति को तर्क कहते हैं। आचार्य शङ्कर कहते हैं—

'निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्काः'।—ब्रह्मसूत्र (२।१।११) का भाष्य

आगम से शून्य पुरुषों की एकमात्र सम्भावनात्मक मति को तर्क कहा जाता है।

वाचस्पति मिश्र इसे शुष्क तर्क कहते हैं। श्रेष्ठ व्यक्ति के मुख से सुनी गई बात को आगम[1] कहते हैं। दूसरे के लिए सहेतुक विषय-प्रतिपादन के साधन को अनुमान[2] की संज्ञा दी जाती है।

वृत्तिः—व्यतीतो भेदसंसर्गौ[3] भावाभावौ क्रमाक्रमौ।
सत्यानृते च विश्वात्मा प्रविवेकात्प्रकाशते॥

भेद और संसर्ग, भाव तथा अभाव, क्रम एवं अक्रम, सत्य अथ च अनृत, इनसे परे शब्दब्रह्म रूप विश्वात्मा प्रकृष्ट विवेक द्वारा जाना जाता है।

श्रीवृषभ कहते हैं—

भेद अर्थात् नानात्व और संसर्ग या एकता। शब्दब्रह्म से अतिरिक्त संख्या का सांसारिक दशा में दर्शन होने से वह एकत्व से अतिक्रान्त है। और वस्तुतः भेदाभाव होने के कारण वह भेद से भी परे है। भावाभाव अर्थात् अस्तित्व-नास्तित्व। विवर्तदशा में तत्तत् आकारों की उपाधि से युक्त रूपरसादि सद्विषयों की भावरूपता मानी जाती है। शब्दब्रह्म इस भावरूपता से परे है। संवर्तावस्था में रूपादि विषयों के आकारात्मक उपाधि के निषेध से असद्रूप विषयों की अभावरूपता है। इस अभाव रूपता से भी वह परे है।

---

१. 'अविगीता हि प्रसिद्धिरागमः' (अभिनवगुप्त) अर्थात् अनिन्दित प्रसिद्धि ही आगम है।

२. ज्ञानश्रीभद्र कृत आर्यलङ्कावतारवृत्ति के आङ्ग्ल अनुवाद में उपर्युक्त श्लोक का अधोलिखित अर्थ मिलता है—कल्पना के द्वारा जो कुछ प्रतीत होता है, उसका अस्तित्व नहीं है। काल्पनिक पदार्थ युक्ति, शास्त्र और विचार द्वारा विविध रूपों में प्रतीत होते हैं।

वस्तुतः यह अनुवाद तथा अग्रिम श्लोकों के अनुवाद भ्रष्ट हैं। वृत्ति का मूल नहीं मिलता।

३. मेधातिथि का पाठ—'व्यतीतो भेदसंसर्गाद्……स विवेकात्प्रकाशते।'

अथवा दृश्यमान पदार्थों के असत्य होने से तथा एतदरिरिक्त ब्रह्म की अवधारणा न होने से वह सत्ता से अतिक्रान्त है; और उपलभ्यमान होने के कारण वह असत्ता से भी परे है। इसी प्रकार वह क्रम और अक्रम से भी अतीत है, क्योंकि क्रम और यौगपद्य (अक्रम) भेद हेतुक हैं। ब्रह्म तो सर्वथा अभिन्न है। सत्य और अनृत ये विचार के विषय हैं और ब्रह्म विचार का अविषय है। विचार भिन्न-भिन्न धर्मों को विषय बनाकर प्रवृत्त होता है और ब्रह्म के अभिन्न होने से वह विचार का विषय नहीं। फिर यह भेदादिव्यवहार होता कैसे है? इस परे कहते हैं कि अतद्रूप होने पर भी आभास के परिग्रहण के कारण भेदादिरूप से वह प्रकाशित होता है—'विश्वात्मा प्रकाशते'। इस प्रकार का भेदप्रकाशन प्रविवेक अर्थात् अविद्यावशात् पदार्थव्यक्तियों के पृथक्-पृथक् विवेचन से होता है।

वृत्तिः—अन्तर्यामी स भूतानामाराद्दूरे च दृश्यते। सोऽत्यन्तमुक्तो मोक्षाय मुमुक्षुभिरुपास्यते।

समस्त चराचर जगत् के हृदय-देश में विद्यमान वह शब्दब्रह्म रूप परमात्मा निकट तथा दूर दिखलाई देता है। वह सर्वदा मुक्त है, मोक्षाकाङ्क्षी लोगों द्वारा मुक्ति के लिए उसकी उपासना की जाती है।

समग्र भावों-पदार्थों के अन्तराल में स्थित होकर उनका नियमन करता है, अतः उसकी संज्ञा अन्तर्यामी है। सकल भुवनों में व्याप्त होने के कारण वह समस्त भूतों का अन्तश्चारी है। पृथिव्यादिकों की प्रवृत्ति और निवृत्ति उसी के कारण नियत हैं। कहा भी गया है—

तस्या व्यापारशक्तिर्या पृथिव्यादिषु तिष्ठति।
नियतिः सर्वभूतानामन्तर्यामी स उच्यते॥ —श्रीवृषभ द्वारा उद्धृत

महाशक्ति की जो क्रियाशक्ति पृथिव्यादिकों में वर्तमान है, वही समस्त प्राणियों की नियति है। उसी को अन्तर्यामी कहा जाता है।

यद्यपि वह सर्वत्र व्याप्त है, तथापि दर्शन के कारण उसकी निकटता और दूरी मानी जाती है। अविद्याग्रन्थि में बँधे हुए लोग मोक्ष के लिए इसकी उपासना करते हैं। जैसा कि श्रुति में कहा गया है—

'ओमित्येकाक्षरमुद्गीथमुपासीत।'

'ओम्' इस एकाक्षर उद्गीथ की उपासना करनी चाहिए।

वृत्तिः—प्रकृतित्वमपि[1] प्राप्तान् विकारानाकरोति सः।
ऋतुधामेव ग्रीष्मान्ते महतो मेघसम्प्लवान्॥

---

१. द्वादशारनयचक्र (पृष्ठ ३००) में प्रस्तुत पाठ है—'प्रकृतित्वमनापन्नान्' न्यायागमा० टीका में इस श्लोक की व्याख्या—प्रकृतित्वमिति, प्रकर्षेण कृतिः प्रकृतिः, घटपटादिपरो भेदः, तद्भावमनापन्नानेव विकारान् तांस्तानेव घटपटादीन् आत्ममावादप्रच्यूतान् नर्तकहस्तभ्रूक्षेपकल्पानाकरोति सः। स्वतः स्वात्मानं भावाकाररूपेणे सृजत्यु-

वह शब्दब्रह्म प्रधान, परमाणु आदि विकारों को, जो महदादिकों की प्रकृति के रूप में प्रसिद्ध है, उत्पन्न करता है; जैसे ग्रीष्म के अन्त में ऋतुधामा अर्थात् कालशक्ति व्यापक मेघों को। श्रीवृषभ ने ऋतुधामा का अर्थ इस प्रकार किया है— 'ऋतवो हेमन्तादयः षट् तेषां सारभूतं तेजो ऋतुधामा वर्षरात्रयः। संवत्सरो वा ऋतुः तस्य सारभूता वर्षा इति'।

हेमन्त आदि छह ऋतुएँ हैं और उनका सारभूत तेज ही ऋतुधामा है, अर्थात् वर्षा की रात्रियाँ। अथवा संवत्सर ही ऋतु है और उसका सार वर्षा है। द्वादशारनयचक्र में ऋतुधामा का अर्थ 'इन्द्र' कहा गया है।

कालसमुद्देश की पैंतालीसवीं कारिका में ऋतुधामा शब्द इस प्रकार पठित है—

रुतैर्मृगशकुन्तानां स्थावराणां च वृत्तिभिः।
छायादिपरिणामैश्च ऋतुधामा निरूप्यते ॥ —वाक्यपदीय

हेलाराज इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—

'ऋतवो धाम स्थानं यस्य तदात्मकत्वेन प्रतिभासात् कालाख्या हि स्वातन्त्र्यशक्तिर्ब्रह्मणो वसन्तादिभेदेन प्रविभक्ता चकास्ति।'

ऋतुएँ जिसका स्थान हैं अर्थात् ऋतुओं के रूप में भासित होने वाली ब्रह्म की काल नामक स्वतन्त्र्यशक्ति वसन्तादि भेद से पृथक्-पृथक् प्रकाशित होती है।

संप्लव का अर्थ है—व्याप्ति। वे मेघ विकाररूप होते हुए भी उदकरूप कार्य उत्पन्न करते हैं, अतः प्रकृति कहे जाते हैं। इस प्रकार दार्ष्टान्तिक से साम्य है।

पसंहरति च। को दृष्टान्तः? ऋतुधामेव ऋतूनां धामा इन्द्र इव, निर्मलमाकाशं दृष्ट्वा वक्तारो भवन्ति महावर्षस्य गर्भ इति कुतो निर्मले नभसि वर्षसम्भवः? तथापि तन्नैर्मल्याविनाशनेनैव शक्रः, शक्रकार्मुकशतह्रदामहाघनस्तनितवर्षितकरकाधारावर्षादीन् सृजत्युपसंहरति चेत्युच्यते, क्षणेनैव पुनस्तादृग्वैमल्यदर्शनान्नभसः। यथेयमृतुधाम्नः सृष्टिः शुद्धगगनापृथग्भूतजलप्रकृतित्वाभिमतमेघादिरूपा तथा सर्वघटादिगवादिरूपा सृष्टिर्भावादेवोपसंहारश्च ॥ 'तस्यैकमपि'—यह श्लोक द्वादशारनयचक्र में पहले पठित है। व्याख्या—यथोदन्वतां तोयमुत्पातेऽङ्गारराशिवत् प्रज्वलदुपलक्ष्यते तथास्यानेकरूपता मिथ्यैव।

जैसे समुद्रों का जल उत्पात के समय अङ्गारराशि या जलते हुए काष्ठखण्डों के समान प्रज्वलित दिखलाई देता है, वैसे ही इस चैतन्य की अनेकरूपता मिथ्या ही है। (अङ्गार कोयले को कहते हैं जो अग्नि रहित होता है और साग्निक को भी अङ्गार कहते हैं)। द्वादशारनयचक्र पृ० २९२ में कहा है—'स एव ह्युत्पाताद्युकाग्निवत्तद्विरोधिधर्मापत्त्याऽन्यथा वर्तमानोऽन्यथापि वर्तत एव।' इस पर न्यायागमानुसारिणी टीका में स्पष्ट किया गया है—'यथोत्पाते ज्वलनमुदकस्य शीतद्रवादिगुणस्य सतोऽपि तद्विरोध्यग्निधर्मापत्त्या दृष्टो भेदोऽन्यथावर्तमानस्यान्यथा वर्तनम्।'

वृत्तिः—तस्यैकमपि चैतन्यं बहुधा प्रविभज्यते ।
अङ्गाराङ्कित[1]मुत्पाते वारिराशेरिवोदकम् ॥

उस शब्दब्रह्म का एक अखण्ड चैतन्य ही बहुधा मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के रूप में प्रविभक्त होता है, जैसे भूकम्पादि उत्पात के अवसर पर क्षुब्ध एकमात्र वारि-राशि समुद्र का जल, जलती हुई अग्निशिखा या अप्लात चक्र के समान अनेकधा प्रतीत होता है ।

श्रीवृषभ की व्याख्या—वही शब्दरूप ब्रह्म परिशुद्ध अवस्था में प्रकाशात्मा होने के कारण चैतन्य के नाम से कहा जाता है । 'तस्य चैतन्यम्' में जो पृथक्त्वोपदेश है वह व्यपदेशिवद्भाव के कारण है । जैसे 'राहोः शिरः' ऐसा प्रयोग देखा जाता है । किन्तु राहु और शिर दो पदार्थ नहीं हैं; राहु ही शिर है । उसी प्रकार शब्द ब्रह्म ही चैतन्य है । चैतन्य उस शब्दब्रह्म का विवर्त है जिसे वेदान्ती लोग परमात्मा कहते हैं ।

'तस्य चायं विवर्तश्चैतन्यं यत्त्रय्यन्तविदः परमात्मेत्याहुः ।' वह एक होकर भी प्रति शरीर में भिन्न-भिन्न चैतन्यों की कल्पना के कारण विभक्त हो जाता है । नाना-भूत (प्राणि) विषयक रूप के कारण अथवा ग्राह्य (घट-पटादि) आदि ग्राहक (मनुष्यादि) भेद के कारण वह प्रविभक्त प्रतीत होता है । जैसे एकरूप समुद्र का उत्पात के समय उदकसंज्ञक अङ्गार के समान रूप दिखलाई देता है, वैसे ही अविद्या के कारण चैतन्य की अनेकाकार प्रतीति होती है ।

वृत्तिः—तस्मादाकृतिगोत्रस्थाद् व्यक्तिग्रामा विकारिणः ।
मारुतादिव जायन्ते वृष्टिमन्तो बलाहकाः ॥

सम्पूर्ण आकृतियों के गोत्र या आद्या आकृति रूप में स्थित ब्रह्म से अथवा समस्त आकृतियों-रूपों और गोत्रों-नामों में विद्यमान उस शब्दब्रह्म से अन्य विकारों के जनक व्यक्तिसमूह वैसे ही उत्पन्न होते हैं, जैसे मरुत् या वायु विशेष से वृष्टि जनक मेघ । श्रीवृषभ 'आकृतिगोत्रस्थात्' का अर्थ इस प्रकार करते हैं—'आकृतिः सामान्यं, गोत्रः सादृश्यम्; तेन सामान्यसादृश्यस्थितात् इत्यर्थः ।' आकृति अर्थात् सामान्य या जाति और गोत्र अर्थात् सादृश्य । तात्पर्य यह है—जातिगत सादृश्य में स्थित ब्रह्म से । जैसे जाति भेदों में अनुगत रहती है, वैसे ही यह ब्रह्म समस्त विकारों में अनुगत रहता है ।

---

१. गणरत्नमहोदधि, अध्याय ७ श्लो० ३९० में अङ्गारक शब्द पठित है । इस शब्द से अङ्गारकित शब्द बनता है । वहाँ वर्द्धमान ने 'अथवा' कहकर इस श्लोक को 'अङ्गारितमिवोत्पाते वारिराशेरिवोदकम्' इस प्रकार पढ़ा है । पाठान्तर है—'अङ्गार-कितमुत्पाते' । श्लोक का यही पाठ संगत प्रतीत होता है । इसी को किसी लिपिकार ने बाद में 'अङ्गाराङ्कित' कर दिया होगा ।

वे 'विकारिणः' का अर्थ करते हैं—'विकारान्तरयोनयः'। कुछ लोग 'विकारिणः' को ब्रह्म का ही विशेषण मानकर 'अविद्या द्वारा विकारापन्न' ऐसा अर्थ करते हैं।

वृत्तिः—त्रयीरूपेण तज्ज्योतिः परमं परिवर्तते।
पृथक्तीर्थप्रवादेषु दृष्टिभेदनिबन्धनम् ॥

वह शब्दब्रह्मात्मक परम परिशुद्ध ज्योति पहले ऋग्, यजुः और साम—इस त्रयी के रूप में विवृत्त होती है। यह त्रयी नामक विवृत्त ब्रह्म ही भिन्न-भिन्न तीर्थों—आगमों के प्रवादों या दर्शनों में दृष्टि-भेद का कारण बनता है। जैसा कि आगे चलकर कारिकाकार ने कहा है—

'तस्यार्थवादरूपाणि निश्रिताः स्वविकल्पजाः'। (१।८)

ये दृष्टि भेद ब्रह्मतत्त्व हेतुक नहीं है, किन्तु त्रय्यात्मक ब्रह्म जन्य हैं। श्रीवृषभ कहते हैं—'तद् इति ब्रह्म ज्योतिः अन्तःप्रकाशः शब्दरूपतया ज्ञानरूपतया च। यथा वक्ष्यति—प्रकाश इति।' शब्दरूपता और ज्ञानरूपता के कारण वह ब्रह्म ज्योति या अन्तःप्रकाश कहा जाता है। जैसा कि आगे चलकर कहेंगे—प्रकाश इति। वस्तुतः 'प्रकाश' शब्द से प्रारम्भ होने वाली कोई कारिका नहीं है। वृत्ति में अवश्य एक उदाहरण मिलता है। यथा—'इह त्रीणि ज्योतींपि त्रयः प्रकाशाः स्वरूपपररूपयोः अवद्योतकाः'। तद्यथा—'योयं जातवेदा, यश्च पुरुषेष्वान्तरः प्रकाशो यश्च प्रकाशाप्रकाशयोः प्रकाशयिता शब्दाख्यः प्रकाशः तत्रैतत्सर्वमुपनिबद्धं यावत्स्थास्नु चरिष्णु च।' —कारिका १२ की वृत्ति।

इस संसार में तीन ज्योतियाँ या तीन प्रकाश हैं, जो स्वरूप और पररूप को द्योतित करते हैं। जैसा कि आगम में कहा है—

जो यह जातवेदा अग्नि है और जो यह पुरुषों में बुद्धिरूप प्रकाश है और जो इन ज्योतियों तथा घट-पटादि पदार्थों को प्रकाशित करने वाला शब्द नामक प्रकाश है, उसी में यह चराचर जगत् बँधा हुआ है।

वृत्तिः—शान्तं विद्यात्मकं तत्त्वं (ब्रह्म) तदुहैतदविद्यया।
तया ग्रस्तमिवाजस्रं या निर्वक्तुं न शक्यते ॥

समस्त प्रपञ्च से रहित होने के कारण शान्त, विद्यात्मक तत्त्व जो शब्दब्रह्म है वह प्रसिद्ध अविद्या शक्ति के द्वारा सतत ग्रस्त के समान प्रतीत होता है। इस अविद्या शक्ति का निर्वचन नहीं किया जा सकता। यह शब्दब्रह्म से भिन्न है अथवा अभिन्न, यह कहना अशक्य है।

इस श्लोक का प्रचलित पाठ इस प्रकार मिलता है—'शान्तविद्यात्मको योंऽशः'। किन्तु प्रथम कारिका की वृत्ति में पठित 'विद्या' शब्द की व्याख्या में श्रीवृषभ कहते हैं—'विद्या तद् ब्रह्म यतः शान्तं विद्यात्मकत्वमिति वक्ष्यति।' 'विद्यात्मकत्वं' यह पद्धति का भ्रष्ट पाठ है, किन्तु इसी से 'विद्यात्मकं तत्त्वं' इस शुद्ध पाठ का अनुमान किया जा सकता है। प्रस्तुत श्लोक की पद्धति में व्याख्या के लिए जो शब्द गृहीत हुए

हैं, उनका पाठ भी 'शान्तम्' और 'विद्यात्मकम्' है। इसके पूर्व कहा गया है—'कथं पुनरवसीयते न ब्रह्मतत्त्वनिबन्धना इति। तत्राह शान्तम् इति।' 'सर्वप्रपञ्चविगमात्। यदाह—'विद्यात्मकम् इति।' इसके आधार पर 'तत्त्वं' शब्द का आकलन सङ्गत प्रतीत होता है।

'सत्या विशुद्धिः'—इस कारिका में आये हुए 'विद्या' शब्द की व्याख्या में श्रीवृषभ कहते हैं—'विद्यैवेति। यत्तद् विद्यात्मकं ब्रह्म।'

इससे 'शान्तं विद्यात्मकं ब्रह्म' पाठ की भी कल्पना की जा सकती है। किन्तु मेरा मत यह है कि प्रस्तुत श्लोक का मूल पाठ 'शान्तं विद्यात्मकं तत्त्वम्' ऐसा ही रहा होगा।

वृत्तिः—सर्वतः परिवर्तानां परिमाणं न विद्यते।
तस्या या लब्धसंस्कारा न स्वात्मन्यवतिष्ठते॥

दशों दिशाओं में उस अविद्या शक्ति के परिवर्ती घटादि मूर्तियों का कोई परिमाण या इयत्ता नहीं है और जो संस्कृत या शुद्ध हो जाने पर पुनः अविद्या के रूप में स्थित नहीं रहती।

इस श्लोक के द्वारा अविद्या शक्ति की अनिर्वचनीयता का निर्देश किया गया है। श्रीवृषभ ने निचली पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है—जब उस अविद्या शक्ति की शक्तियाँ परिपाक को प्राप्त कर लेती हैं, तब वर्तमान परिकल्पितात्मक दशा से उसकी स्वरूपच्युति-सी हो जाती है, क्योंकि उसकी स्थिति असत्य रूप ही तो होती है।

वृत्तिः—[1]यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः।
सङ्कीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते॥
तथेदममृतं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं विवर्तते॥

---

१. ये दोनों श्लोक द्वा० न० च० में उद्धृत हैं। न्या० टीका—अन्योप्याहतिमिरोपप्लुतदृष्टेर्विशुद्धे नभसि केशोण्डुकमशकमक्षिकामयूरचन्द्रिकादिमात्राभिरवयवैर्विततमिति निरवयवेऽप्यसङ्कीर्णे सङ्कीर्णदर्शनं भवति तथेदमिति दार्ष्टान्तिको भावैकपरमार्थः, अमरणादमृतमविनाशात्, बृहत्त्वाद्ब्रह्मन्निर्विकारं निस्तिमिरं व्योमवदवस्थितम्, नपुंसकनिर्देशः सर्वभेदाभिमतासद्विकारसाधारणत्वात्, अव्यक्ते गुणसन्देहे नपुंसकलिङ्गप्रयोगवचनात्, भवनापेक्षया वा नपुंसकम्। अकलुषमपि सदविद्यया ज्ञानाभासेन कलुषत्वमिवापन्नमनापन्नमपि अभेदरूपमपि सद् भेदरूपमाभाति॥ प्रमेयकमलमार्तण्ड में ये दोनों कारिकाएँ उद्धृत हैं। बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक (३।५।४३–४४) में भी ये दो कारिकाएँ उपलब्ध हैं। वहाँ दूसरी कारिका इस प्रकार है—'तथेदममलं ब्रह्म······भेदरूपं प्रपश्यति।

जैसे तिमिर रोग से रुग्ण नेत्र वाला पुरुष निर्मल आकाश को अनेक प्रकार के जाल, केश, नक्षत्र, चन्द्रमा आदि से भरा हुआ मानता है; वैसे ही यह अविनाशी, प्रध्वंसाभाव हीन तथा निर्विकार ब्रह्म अविद्या के द्वारा मलिन-सा होकर गो-घटादि अनेक रूपों में भासित होता है।

वृत्तिः—ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम्।
विवृत्तं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते॥

यह शाब्दिक और व्यावहारिक जगत्, शब्दनिर्माण-शब्दसार अथवा शब्दतत्त्वात्मक ब्रह्म ही है; शब्दतत्त्व की कालशक्ति या अविद्या द्वारा यह बँधा हुआ या स्थित है। शब्दतत्त्व की मात्राओं-अंशों या अक्षरों से इसका विवर्तन या विकास हुआ है और उन्हीं में इसका लय हो जाता है।

श्रीवृषभ की व्याख्या इस प्रकार है—

'शब्दरूपतया रूपादयोऽनेन निर्मीयन्ते इति शब्दनिर्माणम्'—रूप, रसादि पदार्थ शब्दात्मक ही निर्मित होते हैं, अतः जगत् शब्द-निर्माण है। इस विशेषण के द्वारा पहले जो कहा गया है—'भिन्नरूपाभिमतानां विकाराणां प्रकृत्यन्वयित्वात्' उसी का कथन किया गया है। शब्द की अभिधा नामक शक्ति ही इसका निबन्धन है। पहले जो 'स्थितिप्रवृत्तिनिवृत्तिविभागा शब्देनैवाक्रियन्ते' ऐसा कहा गया था, प्रस्तुत विशेषण द्वारा उसी को प्रमाणित किया गया है। उस शब्द में जो मात्राएँ या शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं उन्हीं से शब्दात्मक पदार्थों का विवर्तन हुआ है। प्रतिसंहार के अवसर पर उन्हीं शब्दशक्तियों में विलय हो जाता है।

अथवा—यह सम्पूर्ण विकार समूह अव्यतिरिक्त होने के कारण ब्रह्मरूप ही है। यह शब्दतत्त्व का निर्माण या सृष्टि है, क्योंकि उसी से निर्मित हुई है।

यहाँ न तो कारिका में और न वृत्ति में ही स्फोट की चर्चा की गई है। किन्तु आगे चलकर नित्य शब्द के रूप में बिना किसी भूमिका के स्फोट का बहुधा उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि व्याकरणागम में नित्य-निरंश शब्द के रूप में स्फोट की अत्यधिक प्रसिद्धि थी। तन्त्रागम में स्फोट शब्द भले ही ध्वन्यात्मक हो, किन्तु व्याकरणागम में ऐसा नहीं है। ध्वनि को स्फोटात्मक शब्द का गुण कहा गया है—'स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्दगुणः।' तब स्फोट का स्वरूप क्या है? 'स्फुटति विकसति अर्थः अस्मादिति स्फोटः'—जिससे अर्थ विकसित हो वह शब्द स्फोट है। शब्द से ही अर्थ विकसित होता है, वह आगन्तुक या भिन्न नहीं है। कलिका से पुष्प विकसित होता है। यहाँ कलिका की परिणति पुष्प रूप में देखी जाती है। कलिका का स्फोट ही पुष्प रूप में विकसित है। प्राचीन ऋषि वैयाकरणों ने शब्दतत्त्व का जो स्फोट नाम रखा था वह सर्वथा सटीक है। विकासक या प्रकाशक तत्त्व ही स्फोट है। यह प्रकाश या ज्ञान स्वरूप ही है। यही वैखरी रूप शब्द का कलेवर ग्रहण

करता है—'ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते।' अतः यह शब्दब्रह्म है, परम ज्योति या स्फोट है। कारिकाकार ने इसे पुण्यतम ज्योति कहा है।

भगवान् शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के देवताधिकरण में पूर्वपक्ष के रूप में इस प्रकार कहा है—

'तस्मान्नित्याच्छब्दात् स्फोटरूपादभिधायकात् क्रियाकारकफललक्षणं जगदभिधेय-भूतं प्रभवतीति।'

अतः वाचक स्फोटरूप नित्य शब्द से वाच्यात्मक क्रिया, कारक और फलरूप जगत् उत्पन्न होता है।

वाङ्मय जगत् और व्यावहारिक जगत् दोनों ही क्रिया, कारक और फलरूप हैं-यह विशेषतः ज्ञातव्य है। इसके अनन्तर माधवाचार्य ने पाणिनिदर्शन के अन्तर्गत (सर्वदर्शनसंग्रह में) कहा है—'जगन्निदानं स्फोटाख्यो निरवयवः नित्यः शब्दो ब्रह्मैवेति हरिणा अभाणि ब्रह्मकाण्डे—अनादिनिधनमितिः।'

स्फोट नामक निरवयव नित्य शब्द जगत् का कारण है और वही ब्रह्म है—ऐसा भर्तृहरि ने ब्रह्मकाण्ड में कहा है।

पुनः कौण्डभट्ट ने कहा है—

श्रीलक्ष्मीरमणं नौमि गौरीरमणरूपिणम्।
स्फोटरूपं यतः सर्वं जगदेतद्विवर्तते॥

श्री अर्थात् सरस्वती सहित लक्ष्मी के रमण विष्णु की मैं वन्दना करता हूँ, जो गौरी रमण शिव से भिन्न नहीं और जो स्फोट या प्रकाश रूप हैं, जिससे यह चराचर जगत् विकास को प्राप्त होता है।

वस्तुतः प्रकाशघन चैतन्य की संज्ञा स्फोट है। जैसे महाकाश, घट, मठ और वन की उपाधियों से सीमित होकर घटाकाश, मठाकाश और वनाकाश के नाम से जाना जाता है, वैसे ही एक अखण्ड प्रकाशघन चैतन्यरूप स्फोट, वर्ण शरीर को प्राप्त करके वर्ण स्फोट, पद और वाक्य शरीर में सीमित होकर पदस्फोट और वाक्यस्फोट की आख्या को उपलब्ध करता है। इसीलिए भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—

'सोऽयमक्षरसमाम्नायः....चन्द्रतारकवत्प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः।'

वर्णमाला नित्य एवं अनादि है, वह ब्रह्मराशि है। अर्थात् ब्रह्मतत्त्व ही शब्दरूप से प्रकाशित है।

'ब्रह्मतत्त्वमेव शब्दरूपतया प्रतिभातीत्यर्थः'—कैयट।

जैसे एक ही मुखरूप विम्ब के मणि, दर्पण, कृपाणादि में अनेकधा प्रतिबिम्ब दिखलाई देते हैं, वैसे ही एक अखण्ड स्फोटात्मक विम्ब के स्थानकरणादि आधारों में विविध वर्णात्मक प्रतिबिम्बों का प्रत्यक्ष होता है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत वर्ण तथा पद और वाक्य उसी प्रकाशात्मा स्फोट के अभिधान रूप विवर्त हैं।

मण्डन मिश्र के 'स्फोटसिद्धि' गत 'स्फुटतरविनिविष्टस्फोटबिम्बमिव प्रत्ययमतिव्यक्ततरमुद्भावयति ।' इस सन्दर्भ की व्याख्या करते हुए ऋषि पुत्र परमेश्वर ने गोपालिका टीका में कहा है—

'स्फुटतरतया विनिविष्टः स्फोटात्मा बिम्बो यस्मिन् स तथोक्तः । स्फोटस्य बिम्बस्य प्रतिबिम्बरूपा वर्णा इति दर्शयितुं बिम्बग्रहणम् । इव शब्देन विनिवेशस्यौपचारिकत्वं दर्शयति । यथा किल मुखादेर्बिम्बस्य विवर्ताः कृपाणादि गता दृश्यन्ते, एवमेकस्य स्फोटात्मानो विवर्ता वर्णा इति भावः ।' (पृष्ठ १३० मद्रास युनि० संस्करण)

स्फोटात्मक बिम्ब, जिसमें स्फुटता के साथ प्रविष्ट है, ऐसा ज्ञान । स्फोट रूप बिम्ब के वर्ण प्रतिबिम्ब हैं, यह दिखलाने के लिए बिम्ब का ग्रहण किया गया है । उक्त सन्दर्भ में आया हुआ 'इव' शब्द विनिवेश की औपचारिकता का प्रदर्शन करता है । जैसे मुख आदि बिम्ब के विवर्त कृपाण आदि में देख जाते हैं, उसी प्रकार वर्ण एक ही स्फोटात्मा के विवर्त हैं ।

एक नित्य, शब्दातत्त्वात्मक ब्रह्म जगत् का मूल है—यह सिद्धान्त वेदानुमोदित है । इस बात का प्रतिपादन प्रस्तुत कारिका द्वारा किया जाता है ।

एकमेव यदाम्नातं, भिन्नशक्तिव्यपाश्रयात् ।
अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते[1] ॥ २ ॥

यत्, भिन्नशक्तिव्यपाश्रयात् एकम् एव आम्नातं, (यच्च) शक्तिभ्यः अपृथक्त्वे अपि पृथक्त्वेन इव वर्तते ।

---

१. श्रीवृषभ ने कारिका का अर्थ करते हुए कहा है—

अब ब्रह्म में भेदरूप का सर्वथा प्रतिषेध है—ऐसा कहते हैं । यतः सभी वादीगण तत्त्व के भेददर्शन का आश्रय लिये हुए हैं । सांख्य प्रधान-पुरुष भेद से द्वैत, वैशेषिक द्रव्यादि भेद से षट्पदार्थी; नैयायिक, प्रमाणादि भेद से षोडश पदार्थी और बौद्ध स्कन्धपञ्चक को मानते हैं । आचार्य भर्तृहरि तो ब्रह्म से अन्य पदार्थों के अव्यतिरिक्त होने के कारण भेद के प्रतिषेध के लिए कहते हैं—एकमेव । इस विषय में प्रमाण क्या है ? इस पर कहते हैं—आम्नातम् । आम्नाय या वेद में ऐसा पठित है । शक्तियाँ अर्थात् घटादिक पदार्थ अथवा योग्यता । ये सभी भिन्न रूप हैं । वे सभी पदार्थ या योग्यताएँ ब्रह्म की आत्मरूप ही हैं, अतः शक्तिव्यपाश्रय से उसका उनसे भेद नहीं । अथवा यदि वह अभिन्न है तो सांसारिक भेद-व्यवहार कैसे चलता है ? इस प्रश्न पर कहा गया है—'भिन्नशक्तिव्यपाश्रयात्' । यदि ब्रह्म से व्यतिरिक्त भेदवती शक्तियाँ हैं, तो अभेद कैसा ? समाधान के लिए कहा है—अपृथक्त्वेऽपि । परमार्थतः पार्थक्य नहीं है । शक्तियों के कारण अपृथक् होने पर भी पृथक् के सदृश वृत्ति होती है ।

जो शब्दब्रह्म परस्पर भिन्न, विविध शक्तियों का आश्रय होने से एक अखण्ड रूप में ही वेद में पठित है, और जो अपनी शक्तियों से अभिन्न होने पर भी पृथक् के समान वर्तमान रहता है।

वृत्तिः—यावद्विकारविकारिविषयमेकत्वरूपं पृथक्त्वरूपं वा सर्वं तत्प्रकृत्येकत्वानतिक्रमेणेत्येतदाम्नातम्।

विवरण—व्यक्त वाङ्मय जगत् एवं व्यावहारिक जगत् में जितनी विकार-कार्य और विकारी-कारण विषयक एकता या पार्थक्य है, वह सब प्रकृति अर्थात् महाकारण शब्दब्रह्म की एकता का अतिक्रम नहीं करता, ऐसा आम्नाय या वेद में कहा गया है। घट, शराव आदि विकार मिट्टी रूप कारण के कार्य हैं। मिट्टी में एकत्व और घटादिकों में पार्थक्य स्पष्ट है। कटक, कुण्डल, कङ्कणादि सुवर्णरूप विकारी-कारण के विकार या कार्य हैं। इस सम्पूर्ण कार्य-कारणात्मक अनेक और एकरूप पदार्थों में उनका महाकारण शब्दब्रह्म अनुस्यूत है। इस प्रकार प्रकृति की एकता का अतिक्रम नहीं होता। एकता दो प्रकार की है—एक प्राकृत और दूसरी वैकृत। सुवर्ण या मिट्टी का एकत्व वैकृत या विकारगत है; इसमें संख्या का योग रहता है। प्राकृत एकत्व ब्रह्मविषयक है। यहाँ एकत्व संख्या की अपेक्षा नहीं रखता। किन्तु इसका तात्पर्य भेदव्यवच्छेद मात्र है। संख्या पार्थक्य में अपेक्षित होती है, ब्रह्म तो अभेद रूप है—भेद का तिरोभावात्मक रूप है, उसके अतिरिक्त संख्या है ही नहीं। तात्पर्य यह हैं कि जो कुछ भेद या एकत्व इस कार्य-कारणात्मक व्यक्त जगत् में भासित होता है, वह सब ब्रह्म की एकता का अतिक्रम किये विना ही स्थित है। शक्तियाँ भी ब्रह्म के साथ अभिन्न होने के कारण एकता का त्याग नहीं करतीं। इस कारिका में दो बातों का प्रतिपादन किया गया है—एक तो ब्रह्म का अभेद और दूसरा एक रूप या अनेक रूप जागतिक व्यक्तियों का ब्रह्म के रूप से अनुषङ्ग—अन्वय या अनुस्यूत भाव। कारिका के प्रथमार्ध के दो खण्डों से ब्रह्म की एकता और उत्तरार्ध के दो खण्डों से ब्रह्म की एकता के अतिरिक्त उसके रूप से जागतिक व्यक्तियों का अन्वय प्रतिपादित हुआ है।

इसी प्रकार वाङ्मय जगत् में भी समझना चाहिए। प्रणव ही शब्दब्रह्म है; यह सम्पूर्ण वाग्जाल में अनुस्यूत है। सुधी–उपास्यः, सु ध् य्+उपास्यः। सु द ध् य्+ उपास्यः ये विकार हैं। सुद्ध्युपास्यः—यह विकारी या कारण है। अथवा सत्य शब्द विकारी या कारण है और इण् गतौ का अन्तर्भावित ण्यर्थ रूप 'य' और 'अस् भुवि' सकारादि रूप सत् ये विकार हैं। अथवा 'भू' या 'अद्' रूप कारण के नाना रूप विकारात्मक कार्य स्पष्ट ही हैं। उन समस्त एकानेक कार्यकारणात्मक शब्द-विकारों में ओङ्कार अनुस्यूत है।

वृत्तिः—तद्यथा सलिल एवैको द्रष्टाऽद्वैत एक एवाभवत्। तथा—सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् इति। पुनश्चाह—प्रणव एवैकस्त्रिधा व्यभ-

ज्यत इति । तथा—असद्वा इदमग्र आसीत् । किं तदसदासीत् ? ऋषयो वाव तेऽग्रे तदसदासीत् । य ऋषयः प्राणा इति ।

विवरण—भगवान् वृत्तिकार बृहदारण्यक आम्नाय (४।३।३२) को उद्धृत करते हुए कहते हैं—सृष्टि के पूर्व एक मात्र, अद्वैत-भेदहीन, द्रष्टा-स्वयंज्योति सलिल अर्थात् ब्रह्म ही विद्यमान थे ।

षल गतौ धातु से औणादिक ('सलिकल्यनि' ५७ इस सूत्र से) इलच् करके 'सलति गच्छति एकी भवति जगद्यत्रेति सलिलम्' इस व्युत्पत्ति से सलिल का अर्थ ब्रह्म होता है । 'अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्' (ऋग्वेद १०।१२९।३) इस मन्त्र में सलिल शब्द इसी अर्थ में आया है । सायणाचार्य कहते हैं—इदं दृश्यमानं सर्वं जगत् सलिलं कारणेन सङ्गतमविभागापन्नमासीत् ।'

'आपो ह या इदमग्रे सलिलमेवास ।'—शतपथब्राह्मण (११।१।६।१)

सृष्टि के पूर्व सलिल ही आपो देवता के रूप में विद्यमान था ।

'तेऽवदन् प्रथमा ब्रह्मकिल्विषेऽकूपारः सलिलोमातरिश्वा ।

—ऋ० मं० १०, सू० १२९, मन्त्र १

यहाँ अप्देवता के अर्थ में पुलिङ्ग सलिल का प्रयोग हुआ है ।

सरिर और सलिल पर्याय हैं ।

'वाग्वै सरिरम् ।' —शतपथब्रा० ७।५।२।५३

वाग्ब्रह्म ही सरिर या सलिल है ।

उपर्युक्त वृत्तिगत आम्नाय और बृहदारण्यक के पाठ में कुछ अन्तर है । यथा—

'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति[1] ।'

यह पाठ काण्वी शाखा वाले शतपथब्राह्मण का है । बृहदारण्यक इसी के अन्तर्गत है । सम्भव है माध्यन्दिनशाखीय शतपथ में या अन्यत्र वृत्तिसम्मत पाठ हो ।

दूसरी छान्दोग्य (६।२।१) श्रुति को वृत्तिकार उद्धृत करते हैं—इसके अतिरिक्त आरुणि उद्दालक श्वेतकेतु से कहते हैं—'हे सोम्य ! सृष्टि से पूर्व यह एक अद्वितीय सत् ही था ।'

---

१. बृहदारण्यक का सम्पूर्ण पाठ—

'सलिल एको द्रष्टाद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः' सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य—'एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ।'

हे सम्राट् सुषुप्ति और प्रलय दशा में एक-द्वितीय के अभाव के कारण एकमात्र, द्रष्टा-आत्मज्योति, अद्वैत-अन्य द्रष्टव्य के अभाव से सलिल रूप आत्मा विद्यमान रहता है; यही ब्रह्मात्मक लोक है । यही पुरुष की परमगति है, यही परम सम्पत्ति, यही परम लोक और यही परम आनन्द है । इसी आनन्द की एक कला से अविद्या द्वारा प्रविभक्त प्राणी जीते हैं—ऐसा याज्ञवल्क्य ने जनक को उपदेश दिया ।

सत् सत्ता या वाक् है। प्राणों को असत् कहते हैं और मन को सदसद्विलक्षण। द्रष्टव्य—शतपथ १०।४।१।

तीसरा आम्नायिक उदाहरण—पुनः श्रुति में कहा है—

एक प्रणव या ओङ्कार ही अकार, उकार, मकार या ऋक्, यजुः और सामरूप में विभक्त हुआ। यहाँ अविवृत्त ब्रह्म ही प्रणव शब्द से कहा गया है। यही ओङ्कार है। विवर्तावस्था को प्राप्त प्रणव, ऋक्, यजुः और सामरूप में विद्यमान होता है। ये तीनों उसी के अन्तर्गत हैं, क्योंकि प्रणव ही अनेक रूपों में विभक्त होता है। यदि विकारों में ब्रह्मरूपता का अनुषङ्ग–अन्वय विद्यमान रहता है तो उसका विभाग कैसा? अतः ब्रह्म की एकता और विकारों में उसके रूप का अन्वय कहा गया। श्रीवृषभ ने 'अद्वैत' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—'द्वयोर्भावः द्विता, द्वितैव द्वैतम्'। यहाँ स्वार्थ में अण् प्रत्यय हुआ है। अद्वैत शब्द अभेद का उपलक्षणार्थक है। इससे द्वित्व का निषेध नहीं किया गया।

'तथा—सदेव सोम्य' में श्रीवृषभ 'तथासदेव' पाठ मान कर 'तथा–असदेव' ऐसा विच्छेद करके व्याख्या करते हैं—तद् व्यतिरिक्त सत्त्व के अभाव से ब्रह्म को ही असत् कहा जाता है। यद्यपि छान्दोग्य में 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' पूर्वोक्त सन्दर्भ के आगे ऐसा पाठ है, तथापि वृत्ति में उद्धृत पाठ का विच्छेद 'सदेव' ऐसा ही उचित है। क्योंकि आगे चलकर वृत्तिकार 'असत् ब्रह्म' का भी अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

मूलतत्त्व एक ही है; इसे प्रमाणित करने के लिए वृत्तिकार शतपथब्राह्मण (६।१।१।१) रूप आम्नाय का चौथा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

जगत् की उत्पत्ति के पूर्व यह असत् ब्रह्म ही विद्यमान था। वह असत् क्या था? असत् शब्द द्वारा वोध्य ऋषि ही सृष्टि के पूर्व विद्यमान थे। प्राण की वैदिकी संज्ञा ऋषि है।

वैदिक साहित्य में ऋषि की संज्ञा असत् है और प्राण ही मौलिक ऋषि हैं। जैसे अप् तत्त्व का बहुवचनान्त 'आपः' यही रूप प्रचलित है, वैसे ही 'प्राण' का बहुवचनान्त प्रयोग उपलब्ध होता है। शतपथब्राह्मण का पाठ इस प्रकार है—

'असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदिति ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत तदाहुः के ते ऋषयः इति प्राणा वा ऋषयः।'

प्राणापानादि पञ्च प्राण मुख्य प्राण की वृत्तियाँ हैं, ये वायु रूप हैं; वह ब्रह्म प्राण का भी प्राण है। 'प्राणस्य प्राणः' बृहदारण्यक ४।४।१८। प्राण ब्रह्म, असत् और ऋषि ये पर्याय हैं। वस्तुतः 'प्रणवः प्राणिनां प्राणः' इस आगम के अनुसार प्राणतत्त्व भी प्रणवात्मक शब्दब्रह्म ही है। इसी की एक संज्ञा ऋषि है। प्रजापति ब्रह्मा के शरीर का आश्रय लेने वाले ये प्राण ही ऋषि हैं जो सृष्टि चक्र का प्रवर्तन करते हैं।

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः ।
देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥

प्रजापति ब्रह्मा शब्दब्रह्म का अपर नामधेय है ।

पूर्वस्यादौ परार्द्धस्य ब्राह्मो नाम महानभूत् ।
कल्पो यत्राभवद्ब्रह्मा शब्दब्रह्मेति यं विदुः ॥

—श्रीमद्भागवत् ३।११।३४

किन्तु यह पौराणिक मत है, क्योंकि महानात्मा रूप ब्रह्मा की उत्पत्ति होती हैं; इसका उत्पादक तत्त्व ही ब्रह्म है। जैसे पश्यन्ती रूप महानात्मा की उत्पत्ति पराप्रकृति से होती है और पराप्रकृति ही शब्दब्रह्म है ।

श्रीवृषभ कहते हैं—द्वैत सत्ता के योग से विरहित होने के कारण मूल तत्त्व को असत् कहते हैं । सप्त प्राण उसी के विकार हैं, उनकी भी संज्ञा असत् है । जब समस्त प्राण और चेतन प्राणी विकार कहे जाते हैं और उनका निर्देश असत् शब्द से किया जाता है, तब इस उक्ति से तत्त्व की एकता और विकारों में प्रकृति रूप का अनुषङ्ग—अन्वय सुतरां निर्दिष्ट है—

'यदा प्राणाः सर्वे चेतनावन्तः प्राणिनो विकारा उच्यन्ते ते चासदिति कथयता तस्यैकत्वं प्रकृतिरूपानुषङ्गश्च विकारेषु कथितः ।' —पद्धति ।

वृत्तिः—भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात् । एकत्वस्याविरोधेन शब्दतत्त्वे ब्रह्मणि समुच्चिता विरोधिन्य आत्मभूताः शक्तयः । तद्यथा भिन्नार्थप्रत्यवभासमात्रायामेकस्यामुपलब्धा[1]वर्थाकारप्रत्यवभासमात्राः पृथिवी, लोका इति । नहि ज्ञेयगतो वृक्षाद्याकारावग्रहो ज्ञानस्यैकत्वेन विरुध्यते । नास्याकारात्तदाकारस्यात्मभेदोऽस्ति, तेषामेकज्ञानतत्त्वानतिक्रमात् । तदेवमपृथक्त्वं पृथक्प्रत्यवभासानामपि मिथः सर्वशक्तीनाम् ।

विवरण—कुछ लोग 'भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात्' ऐसा पाठ मानते हैं । यह वृत्तिकार की व्याख्या के विरुद्ध होने से उपेक्षणीय है । उपर्युक्त पाठ मानने से कारिका का उत्तरार्द्ध पुनरुक्ति दोष से दूषित भी हो जाता है । परस्पर भिन्न-भिन्न शक्तियों का एकमात्र आश्रय होने से ब्रह्म एक है । शब्दतत्त्वात्मक ब्रह्म में एकता की अविरोधी तथा परस्पर भिन्न होने से समुच्चय रूप में व्यवस्थित अतः विरोधी, आत्मभूत—

---

१. 'उपलब्धौ' यह बुद्धौ का पर्याय है । 'महानात्मा मतिर्विष्णुर्जिष्णुः शम्भुश्च वीर्यवान् । बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च तथा ख्यातिधृतिः स्मृतिः । पर्यायवाचकैः शब्दैः महानात्मा विभाव्यते ॥ २ ॥

—महाभारत-आश्वमेधिकपर्व, अध्याय ४४ (अनुगीता पर्व)

न्यायदर्शन, प्रथम अध्याय सूत्र १५ में बुद्धि और उपलब्धि को पर्याय माना गया है । यथा—'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ।'

शब्दतत्त्व से अव्यतिरिक्त—शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, दिक्, साधन, क्रिया काल ये शब्दब्रह्म की शक्तियाँ हैं, जो उसकी एकता का अतिक्रम नहीं करतीं।

तस्माद् द्रव्यादयः सर्वाः शक्तयो भिन्नलक्षणाः ॥ २३ ॥ —जातिसमुद्देश

इन सबको लेकर भी ब्रह्म एक है—

सर्वशक्त्यात्मभूतत्वमेकस्यैवेति निर्णयः ॥ २२ ॥ —जातिस०

शब्दब्रह्म सर्वशक्तियों का आधार है, यह प्रमाणतः सिद्ध है। उस ब्रह्म की भेद-प्रकाशात्मक अविद्या शक्ति से परिकल्पित नाना पदार्थात्मक भेद पारमार्थिक नहीं है। नाना कार्यों को देखकर ब्रह्म में शक्ति भेद का अनुमान करना उचित है, स्वरूप भेद नहीं।

'एकमेव ब्रह्म सर्वशक्तीति प्रमाणेन सिद्धेऽस्मिन्नर्थेऽविद्यापरिकल्पितस्य भावभेदस्यापारमार्थिकत्वात् कार्यनानात्वोन्नीयमानशक्तिभेद एवैकस्य युक्तो न तु स्वरूपभेदः।
—हेलाराज (जातिस०)

यदि जाति को ही पदार्थ माना जाय तो जो निरतिशय चरम जाति या महासत्ता है, वही शब्दब्रह्म है। इस महासत्ता की योग्यता या विविध सामर्थ्य रूप आत्मीय शक्तियाँ होती हैं, जिनके सहारे वह विश्व प्रपञ्च की रचना करती है। जैसे चिन्तामणि याचकों को विचारानुरूप अनेक आकारों का दर्शन कराती है, वैसे ही अनन्त शक्तिशाली सन्मात्र ब्रह्म अविद्या के विलास से सांसारिक जनों के समक्ष नाना रूपों में प्रकाशित होता है। —हेलाराज

श्रीवृषभ शब्दब्रह्म की शक्तियों के विषय में कहते हैं—'शक्तय इति घटादयो वा पदार्थाः योग्यता वा।' घटादिक पदार्थ अथवा योग्यता—विविध कार्य जनन सामर्थ्य ही ब्रह्म की आत्मभूत शक्तियाँ हैं।

जैसे भिन्न—परस्पर विलक्षण, अर्थों—पदार्थों के प्रत्यवमासमात्रा या [1]प्रकाशांश युक्त, एक पृथिवी लोक रूप बुद्धि में घट, पट, वृक्ष, पर्वतादि अनेकाकार प्रकाश भाग प्रतीत होते हैं, वैसे ही शब्दब्रह्म और उसकी शक्तियों में एकत्व और अनेकत्व समझना चाहिए। वृत्ति में 'पृथिवीलोका इति' ऐसा पाठ उपलब्ध है। श्रीवृषभ ने भी 'पृथिवीलोका इति' इसी प्रतीक को व्याख्या के लिए ग्रहण किया है। किन्तु व्याख्या से जान पड़ता है कि 'पृथिवी इति' 'लोक इति' ऐसा पाठ होना चाहिए। पाठ विकल्प की सम्भावना इस प्रकार की जा सकती है—प्रथम 'पृथिवीलोक इति' दूसरा 'पृथिवी, लोक इति।' यदि द्वितीय पाठ को ग्रहण करें तो दो उदाहरण वृत्तिकार द्वारा प्रस्तुत समझना चाहिए। एकात्मक उपलब्धि-बुद्धि पृथिवी को मानकर ऊपर व्याख्या की गई

---

१. प्रत्यवभास व्यक्तियाँ।

है। इसी प्रकार 'लोक' भी एक उपलब्धि है। लोक (लोग) कहने से अनेक चैत्र, मैत्र, देवदत्तादि आकारों की प्रतीति होती है और एकता का भी भङ्ग नहीं होता[1]।

श्रीवृषभ 'एक उपलब्धि' का अर्थ 'बुद्धि' करते हैं। वे इस प्रकार व्याख्या करते हैं—भिन्न अर्थात् विलक्षण अर्थ की प्रत्यवभास मात्राएँ या प्रत्यवभास व्यक्तियाँ जिस बुद्धि में वर्तमान होती हैं उस बुद्धि के जो अर्थ हैं, वे ही अर्थानुरूप प्रत्यवभास या प्रतिबिम्बक हैं; वे बुद्धि के एकत्व का अतिक्रम नहीं करते।

इस बात की पुष्ट करने के लिए श्रीवृषभ सम्भवतः वृत्ति का ही एक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—'एतदाह—यथा नानाविधानि प्रतिबिम्बकानि परस्परविलक्षणान्यपि न बुद्धेरेकत्वमतिवर्तन्ते' इति। इसी बात को आचार्य ने कहा है—जैसे अनेक प्रकार के परस्पर विलक्षण बाह्यार्थं को प्रतिविम्बित करने वाले बौद्धार्थ बुद्धि के एकत्व को नष्ट नहीं करते।'

अथवा सांख्यीय प्रकाश—योगदर्शन में पठित चित्त जो कि सर्वार्थ है, यहाँ एकोपलब्धि के रूप में गृहीत है। 'दृष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्।' (योगसूत्र २२ कैवल्यपाद)। दृष्टा अर्थात् पुरुष और दृश्य या गो-घटादि विषय से उपरक्त चित्त ही सर्वार्थ है। 'एकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तम्।' यह सांख्यीय सिद्धान्त है। 'प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तम्' यह बौद्ध सिद्धान्त है। इसी आशय से श्रीवृषभ कहते हैं—'साङ्ख्यीयः प्रकाशो वा दृष्टान्तः, स हि सर्वार्थः। येषामपि प्रत्यर्थनियता बुद्धयः तेषामप्यनेकवस्त्वालम्बना बुद्धिर्दृष्टान्तः।'

'पृथिवी लोकाः' को श्रीवृषभ अनेकाकारता का उदाहरण मानते हैं। उनका कथन है कि यहाँ पृथिवी शब्द से अवयवी रूप द्रव्यात्मक महापृथिवी का ग्रहण नहीं है, क्योंकि महापृथिवी और तत्परिच्छेदिका बुद्धि के समानाकार होने से प्रकृत प्रसङ्ग में उसका उपयोग नहीं है। पृथिवी के अवयव वृक्षानिकों एवं लोकावयव देवदत्तादिको मे जो अनेकाकार ज्ञान है, वही यहाँ गृहीत है।

वस्तुतः ज्ञेयगत वृक्षादि आकारों का स्वीकार ज्ञान की एकता का विरोधी नहीं है। 'ज्ञेयगत' के स्थान पर 'ज्ञानगत' भी पाठ है। इस पाठ को मानने पर सुगमता है। क्योंकि आकार ज्ञेयगत है और उसका स्वीकार या अवग्रह ज्ञानगत। अतः दोनों का सम्बन्ध कैसे होगा? अथवा स्वीकृति केवल ज्ञान में अविभक्त रूप से वर्तमान ज्ञेयांश को लेकर है, न कि बाह्य ज्ञेय को लेकर। इस प्रकार ज्ञेयगत पाठ भी समुचित ठहराया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान या बुद्धि की तात्त्विक एकता—अभिन्न रूपता को उसमें प्रतिविम्बित अनेक वृक्ष, घट, पटादि ओकार हटा नहीं

---

१. अथवा 'पृथिवी, लोका इति' ऐसा ही पाठ माना जाय तो 'पृथिवी' यह एक उपलब्धि का दृष्टान्त होगा और 'लोकाः' यह अर्थाकार प्रत्यवभास व्यक्तियों का दृष्टान्त होगा।

सकते । ज्ञान के आकार और वृक्षादिकों के आकार में स्वरूप भेद नहीं है, क्योंकि वे नाना आकार एक ज्ञान तत्त्व का अतिक्रमण नहीं करते । इसी प्रकार घटादि अथवा योग्यतात्मक सम्पूर्ण शक्तियों के पारस्परिक पृथक् प्रत्यवभास या व्यक्तित्व के वर्तमान रहने पर भी अपृथक्त्व सिद्ध है ।

वृत्तिः—'अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्य इति । न खलु जातिव्यक्तिव्यवहारवदन्याः काश्चिच्छक्तयो ब्रह्मणो व्यतिरेकिण्यो विद्यन्ते । तत्तु प्रकाशवत्प्रकाश्यावग्रहाभ्यो बहिस्तत्त्वाभ्य इवात्ममात्राभ्यस्तादात्म्येऽपि सति पृथक्तत्त्वमिवावसीयत इति ।'

'पूर्वोक्त शक्तियों से अपृथक् होने पर भी' इस कारिकागत सन्दर्भ की व्याख्या करते हुए भगवान् वृत्तिकार कहते हैं—वस्तुतः जाति और व्यक्ति के व्यवहार के समान ब्रह्म से व्यतिरिक्त कोई अन्य शक्तियाँ नहीं हैं । तात्पर्य यह है कि जाति और व्यक्ति में जैसा भेद देखा जाता है, वैसा भेद यहाँ नहीं है । वह ब्रह्म तो प्रकाश—सांख्यीय चित्त के समान समस्त विषयों के आकार को ग्रहण करता हुआ भी एकाकार ही रहता है । वे विषयाकार वृत्तियाँ चित्त से व्यतिरिक्त या उससे बहिर्भूत नहीं होतीं फिर भी बहिर्भूत के समान प्रतीत होती हैं । वैसे ही शब्दब्रह्म प्रकाश्य अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि के रूप में अवगृहीत होने वाली स्वरूपात्मक व्यक्तियों से तादात्म्य होने पर भी पृथक् तत्त्व के समान जाना जाता है । 'पृथक्त्व' ऐसा पाठ समुचित जान पड़ता है ।[1]

विगत कारिका में घट-पटादिरूप अथवा योग्यतात्मक शक्तियों का ब्रह्म से अभेद कहा गया है । अब कालशक्ति से भी ब्रह्म का अभेद है, इस बात का प्रतिपादन करने के लिए प्रस्तुत कारिका की अवतारणा करते हैं—

अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः ।
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः ।। ३ ।।

यस्य, अध्याहितकलां, कालशक्तिम्, उपाश्रिताः, जन्मादयः षड् विकाराः, भावभेदस्य योनयः ।

जिस शब्दब्रह्म की आरोपित कलाओं या भेदों (लवनिमेषादि और अतीत, अनागत आदि) वाली कालशक्ति (स्वातन्त्र्य शक्ति अथवा अविद्या शक्ति) का आश्रय लेकर जन्म, सत्ता, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय और नाश ये ६ विकारभाव अर्थात् मूर्ति और क्रिया-भेद के कारण बनते हैं ।

---

१. श्री वृषभाचार्य ने अन्त में एक शङ्का और उसका समाधान प्रस्तुत किया है—'ननु शक्तिषु तत्त्वान्यत्वव्यतिक्रम आख्यातः, तत्किमुच्यते अपृथक्त्वेऽपि इति । अपृथक्त्वं न एकत्वम्, अपि तु भेदप्रतिषेधः, पृथक्त्वेनेव इति एकत्वप्रतिषेधः: । तदुभय समतिक्रम आख्यात इत्यविरोधः ।' —पद्धति ।

वृत्तिः—कालाख्येन हि स्वातन्त्र्येण सर्वाः परतन्त्राः जन्मवत्यः शक्तयः समाविष्टाः कालशक्तिवृत्तिमनुपतन्ति ।

विवरण—ब्रह्म की कालशक्ति ही स्वातन्त्र्य या कर्तृशक्ति है, जो पदार्थों की उत्पत्ति और उपसंहार में कारण है। काल नामक स्वातन्त्र्य शक्ति से समस्त परतन्त्र जन्म लेने वाले पदार्थ (शक्तयः) व्याप्त रहते हैं, अथवा कालशक्ति की वृत्ति अर्थात् सत्ता, विपरिणाम, वृद्धि आदि का अनुगमन करते हैं।

विश्वात्मा,[1] एक परब्रह्म नामक सत्य भाव है। वही अनेक प्रकार की कार्य-कारिता के कारण अनन्त शक्तिशाली कहा जाता है। चक्र (जलयन्त्र–रहँट) भ्रमण के समान परावर्तित, क्रमिक भावों-पदार्थों को प्रकाशित करने के कारण वह विभु-ब्रह्म काल के नाम से कहा जाता है—'कालयति क्षिपति कलाः भावपर्यायाः समुत्सृजति इति कालः।' 'स्वातन्त्र्यशक्तिः कालः'—हेलाराज।

ब्रह्म की स्वातन्त्र्यशक्ति ही काल है—यह भगवान् भर्तृहरि का अभिप्राय है। 'कालाख्यास्वातन्त्र्यशक्तिर्ब्रह्मण इति तत्र भवद्भर्तृहरेरभिप्रायः'—हेलाराज। व्याख्याता लोग 'कारणशक्ति ही काल है' ऐसी व्याख्या करते हैं, जो अयुक्त है। यह हेलाराज की आलोचना है।

कारणशक्ति का स्वरूप—बीजशक्ति अङ्कुर की प्राप्ति की अनुज्ञा प्रदान करते समय काण्डोत्पत्ति पर प्रतिबन्ध लगाये रखती है। अतः अवसरोचित कार्य करने से वह कारणशक्ति काल कहलाती है। इसी प्रकार अङ्कुरादि शक्तियों में भी यथोत्तर कार्योत्पत्ति करने से तथा व्यवहित कार्यों को रोकने से कालत्व जाना जाता है। पदार्थों का कारण नियत होता है, अतः वे अपने-अपने कारण की उपस्थिति में जन्म लेते है, अन्यथा नहीं। वस्तुतः यह कारण सामर्थ्य है, कालशक्ति नहीं; अतः व्याख्याताओं का मत अयुक्त है।

इसी दर्शन के अनुगुण दूसरा दर्शन है जो आत्मा को काल मानता है। एक अन्य अनुरूप दर्शन विग्रहवती महाप्रभाव देवता को काल मानने का पक्षपाती है।

'शक्त्यात्मदेवतापक्षे भिन्नं कालस्य दर्शनम्।' —कालसमु० (६२)

---

१. 'जलयन्त्रभ्रमावेशसदृशीभिः प्रवृत्तिभिः। स कलाः कालयन् सर्वाः कालाख्यां लभते विभुः'। —वा० प०, कालसमुद्देश, श्लो० १४।

इसकी व्याख्या में हेलाराज कहते हैं—विश्वात्मैक एव परब्रह्माभिधानः सत्यो भावः। स एव नानाविधकार्यकारितयानन्तशक्तित्वेन व्यवह्रियते। ततश्च क्रमिकान् चक्रभ्रमवत्परावर्तमानान् भावान् प्रकाशयन् कालयति भूतानीति काल इत्युच्यते। स विभुः स्वतन्त्रः अत एव 'स्वातन्त्र्यशक्तिः काल' इति वाक्यपदीये सिद्धान्तितम्—'अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताम्' इत्यत्र। इहापि च सिद्धान्तयिष्यति—'शक्त्यात्मदेवतापक्षैर्भिन्नं कालस्य दर्शनम्' इति। —हेलाराज।

हेलाराज ने कहा है—'अत्रापि चिद्रूपस्य ब्रह्मणः शक्तिर्देवतैव सकलजगद्ग्रासघस्मरेत्येतदानुगुण्यमेवेतीदमेवात्र सिद्धान्तरूपं दर्शनम् ।'

वस्तुतः इस मत में और भर्तृहरि के मत में कोई प्रतिकूलता नहीं है, क्योंकि चिद्रूप ब्रह्म की शक्ति ही देवता है, जो सम्पूर्ण जगत् रूप ग्रास को कवलित करती है।

वृत्तिः—ततश्च प्रतिभावं वैश्वरूपस्य प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां शक्त्यवच्छेदेन क्रमवानिवाभासोपगमो लक्ष्यते ।

विवरण—इस काल की दो शक्तियाँ हैं—एक अनुज्ञा और दूसरी प्रतिबन्ध, जिनसे वह भावों-पदार्थों का उन्मीलन और निमीलन करता है।

प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां वृत्तिर्या तस्य शाश्वती ।
तया विभज्य मानोऽसौ भजते क्रमरूपताम् ॥ ३० ॥　　　—कालसमु०

प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा से उपलक्षित काल की भावों के सम्बन्ध में नित्य प्रवृत्ति चलती रहती है और उसी प्रवृत्ति या व्यापार से विभक्त होकर कालक्रमरूपता को प्राप्त करता है। वस्तुतः क्रम कार्यों-भावों या पदार्थों में होता है, किन्तु काल में भी समारोपित होता है।

वृत्तिकार का कथन है कि समस्त उत्पन्न होने वाली शक्तियाँ या पदार्थ परतन्त्र अर्थात् कारणान्तर बीजादिकों के अधीन होते हुए काल नामक स्वातन्त्र्य शक्ति से समाविष्ट रहते हैं, अर्थात् कालशक्ति की वृत्ति-प्रवृत्ति या जन्म, सत्ता विपरिणाम आदि व्यापार का अनुभव करते हैं। और इस प्रकार प्रत्येक भाव या पदार्थ में वह पदार्थ चाहे प्राणिरूप हो या अप्राणिरूप (प्राण्यप्राणिरूपाणां भावानां तेन कालेन परिणामकरणादानुपूर्व्या वृद्धिह्रासा विवेकेन लक्ष्यन्ते—हेलाराज) सर्वत्र उनमें विद्यमान विश्वरूपता या विविधता की जो क्रमिक सी प्रतीति स्वीकृति (अनुभूति) लक्षित होती है, वह काल की दोनों शक्तियों— प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा द्वारा कारणशक्तियों के अवच्छेद या भेद के साथ देखी जाती है। तात्पर्य यह है कि शब्दब्रह्म एक और अविच्छिन्न है, उसकी मुख्य शक्ति कालशक्ति, कर्तृशक्ति या स्वातन्त्र्यशक्ति के नाम से जानी जाती है। यह भी एक है किन्तु भावों-पदार्थों की उत्पत्ति के अवसर पर उनकी उपादान कारण शक्ति रूप परम्परा का क्रम लक्षित होता है और इसी क्रम से कालशक्ति में भी क्रमों की—भेदों की प्रतीति होती है। जैसे 'वृक्ष' यह अप्राणि पदार्थ है। इसमें बीज, अंकुर, नाल, काण्ड, शाखा, प्रशाखा, पल्लव, पुष्प, फल—ये उत्तरोत्तर एक-दूसरे की कारण-शक्तियाँ या उपादान हैं। इनमें क्रम रहता है। यह क्रम कालशक्ति की प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा शक्तियों द्वारा घटित होता है। जिस समय बीजरूप कारणशक्ति से अङ्कुरोत्पत्ति की अनुज्ञा होती है, उसी समय काण्डप्रसव का प्रतिबन्ध रहता है। इसी प्रकार अङ्कुररूप कारणशक्ति से काण्डप्रसव की अभ्यनुज्ञा और शाखा का प्रतिबन्ध रहता है। यही वृक्ष रूप भाव की उत्पत्ति का क्रम है।

श्री वृषभाचार्य 'जन्मवत्यः शक्तयः' में शक्तयः का अर्थ पदार्थाः करते हैं और 'शक्त्यवच्छेदेन' में भी 'शक्तयः पदार्थाः, तेषामवच्छेदो नियमः' ऐसा करते हैं। वस्तुतः 'शक्त्यवच्छेदेन' गत शक्ति का अर्थ या तो कारणशक्ति है अथवा कालशक्ति हो सकता है, क्योंकि 'प्रतिभावं' कह देने पर शक्त्यवच्छेदेन का अर्थ पदार्थावच्छेदेन करना असङ्गत है। पदार्थों में द्विविध शक्तियों द्वारा विविधता का क्रमिक आभासो-गम (प्रतीति स्वीकार) कैसे होता है, इस पर श्रीवृषभ कहते हैं—'यतः काचित् शक्तिः प्रतिबध्नाति यथैकस्मिन् वृक्षे प्रथमतः किसलयाभ्यनुज्ञा पल्लवस्य प्रतिबन्धः। ततः किसलयस्य प्रतिबन्धः पल्लवस्याभ्यनुज्ञा। तत इदं वैश्वरूप्यं पदार्थानां येन सक्रममिव[1] प्रतिभासते। ब्रह्मणस्तदव्यतिरिक्तत्वात्, पदार्थव्यक्तीनां तस्य चाभिन्न-त्वात् इव शब्दोपादानम्।

यद्यपि किसलय और पल्लव दोनों शब्द काव्य-ग्रन्थों में पर्यायरूप में प्रयुक्त हुए हैं तथापि इनमें कुछ भेद भी है। यथा—किसलय—नवीन पत्र और पल्लव—नव-पत्रादियुक्तशाखाग्रपर्व।

पूर्वोक्त विषय को और स्पष्ट करने के लिए कहते हैं—

वृत्तिः—सर्वेषां हि विकाराणां कारणान्तरेष्वपेक्षावतां प्रतिबद्धजन्मनाम-भ्यनुज्ञया सहकारिकारणं कालः। तस्य क्रमवद्भिर्मात्रारूपैः कर्तृशक्तिर्विभज्य-माना विकारमात्रागतं भेदरूपं तत्राध्यारोपयति तुलासूत्र इव संयोगिद्रव्यान्तर-गुरुत्वप्रतिबन्धकाले दण्डलेखावच्छेदम्।

विवरण—समस्त विकार-कार्य या पदार्थ, जो अपनी उत्पत्ति में अनेक कारणों की अपेक्षा रखते हैं और जिनका जन्म-स्वरूपोपलम्भ अभी अवरुद्ध है, उनके जन्म की अनुज्ञा देकर काल सहकारी कारण बनता है। उस काल की क्रमिक क्षण, लव, काष्ठा, मुहूर्त, दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, चतुर्युग, मन्वन्तर इन मात्रारूपों से स्वरूपात्मक कर्तृशक्ति विभक्त होकर विकारों–पदार्थों के जन्म, सत्ता, विपरिणाम, वृद्धि, क्षय, नाशरूप मात्राओं में विद्यमान भेदरूपता को काल में आरोपित करती है। जन्मकाल, सत्ताकाल, विपरिणाम काल आदि।

संयोगी—समारोपित या रखे गये गुडादि द्रव्यान्तर की गुरुता के प्रतिबन्ध के अवसर पर अनुज्ञा द्वारा दण्डलेखाकृत परिमेय द्रव्य के एक पल, दो पल आदि भेद जैसे एक ही तुलासूत्र स्थान या पटल में भेद का आरोप करते हैं, वैसे ही कार्यगत भेद से अभिन्न काल में भी भेद का आध्यारोप होता है।

इसी बात को तृतीयकाण्ड के कालसमुद्देश में इस प्रकार कहा गया है—

यथा तुलायां हस्ते वा नाना द्रव्यव्यवस्थितम्।
गुरुत्वं परिमीयेत कालादेवं क्रियागतिः॥ २८॥

---

१. द्रष्टव्य—निर्भासोपगमो योऽयं क्रमवानिव दृश्यते।
अक्रमस्यापि विश्वस्य तत्कालस्य विचेष्टितम्॥ ४६॥ (कालसमुद्देश)

सुवर्ण तथा रजत आदि द्रव्य समवेत गुरुत्व को एक ही तुलादण्ड, रेखासूत्र सम्बन्ध की उपाधि से भिन्न होकर जैसे पलादि रूप में परिच्छिन्न–विभक्त कर देता है, वैसे ही काल भी अपनी शक्तियों के योग से विविधता का अनुभव करता हुआ निमेप आदि क्रिया के भेदों से जनित नानात्व से सम्पन्न क्रियाधारा को चिर क्षिप्रादि भाव से परिमित कर देता है। अभ्यासातिशय वाले व्यक्तियों का हाथ द्रव्यों के गुरुत्व विशेष को पृथक् पृथक् बता देता है, यह भी एक दृष्टान्त है। जैसे यह हाथ है वैसे ही निरुपाधि एक ही काल अपने सामर्थ्य से क्रियागत भेद को परिच्छिन्न करता है और स्वयं भी तत्तत् उपाधियों से युक्त होकर भेद का भाजन बनता है।

श्रीवृषभ ने 'क्रमवद्भिः मात्रारूपैः' का अर्थ इस प्रकार किया है—'य एते विकारा, व्यक्ताव्यक्तयः क्रमवत्यः।' 'विकारमात्रागतं' पर कहते हैं—'कार्यव्यक्तिष्वव-वस्थितम्'। आगे चलकर वे कहते हैं—इस प्रकार रूढ नियतकार्योदय के क्रम से ही लोग वसन्तादि काल भेद को भी नियत क्रम से वर्तमान, भावी आदि के रूप में निश्चित करते हैं और यह विभाग सत्य नहीं होता, अतः 'अध्यारोपयति' ऐसा कहा गया। 'अतः अनेनाध्याहितकलात्वं कालस्य सूत्रोपात्तमाख्यातम्।' इस बात से सूत्र या कारिका में पठित काल के अध्याहितकलात्व की व्याख्या की गई है।

हेलाराज ने जातिसमुद्देश की सैंतीसवीं कारिका की व्याख्या में कहा है—

ब्रह्म की क्रम नामक कालशक्ति उत्पन्न पदार्थों में जन्म, सत्ता, विपरिणाम आदि क्रिया द्वारा ही पूर्व और उत्तर भाव रूपता का विधान करती है, कोई अन्य द्रव्यभूत काल नहीं है, ऐसा 'अध्याहितकलां'—इस कारिका की व्याख्या शब्दप्रभा में निर्णय किया गया है। "क्रमाख्या हि कालशक्तिर्ब्रह्मणो जन्मवत्सु पदार्थेषु जन्मादि-क्रियाद्वारकमेव पौर्वापर्येणाभासोपगमविधायिनी नापरो द्रव्यभूतः[1] काल इति 'अध्या-हितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः। जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनय' इत्यत्र शब्दप्रभायां निर्णीतोऽयमर्थः।"

वृत्तिः—तत्रैवमभून्नाभूदित्यपूर्वापरस्य भावस्य पौर्वापर्यव्यवस्थाविकल्पे सति जन्मादयो विकारा षट् परिणामानां सत्ताविकाराणां योनय उपप्लवन्ते। जातिसमुद्देशे तु सत्ताविभागे न्यक्षेण भावविकारा वक्ष्यन्ते।

विवरण—इस प्रकार एक अभिन्न कालशक्ति में अतीत (अभूत्) काल और (नाभूत्) वर्तमान तथा भविष्यत् काल रूप से पूर्वापर भाव न होने पर भी पौर्वा-

---

१. वैशेषिकदर्शन क्रियातिरिक्त द्रव्यभूत नित्य काल को मानता है—

व्यापारव्यतिरेकेण कालमेके प्रचक्षते।
नित्यमेकं विभुद्रव्यं परिमाणं क्रियावताम्॥ १॥ —कालसमु०

परापरादिप्रत्ययलिङ्गो व्यापक एकोऽमूर्तो अत एवाकृतकत्वान्नित्यः कालः क्रिया-व्यतिरिक्तो जन्मादिक्रियाद्वारेण भावपरिच्छेदको वैशेषिकैराम्नातः। —हेलाराज।

पर्य व्यवस्था के घटित होने पर जन्म, अस्तित्व, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय और नाश ये छः भावविकार अन्य भाव या सत्ताविकारात्मक परिणामों के कारण बनते हैं। भावविकारों का पूर्णतया वर्णन जातिसमुद्देश के सत्ता विभाग में किया जायेगा।

कारिकाकार ने वेदाङ्ग-निरुक्त के मत को यहाँ प्रस्तुत करके अपने मत की वैदिकता का ख्यापन किया है। निरुक्त का सन्दर्भ अधोलिखित है—'षड् भावविकारा भवन्ति इति वार्ष्यायणिः जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति···।'

अतोऽन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति ह स्माह ते यथावचनमभ्यूहितव्याः ॥ —नैघण्टुककाण्ड, अ० १, पाद १, खण्ड ३–४

हेलाराज ने 'सैव भावविकारेषु षडवस्थाः प्रपद्यते। क्रमेण शक्तिभिस्ताभिरेवं प्रत्यवभासते ॥ ३६ ॥ जातिसमुद्देशगत इस कारिका में कहा है—परमार्थरूप सत्तात्मक भाव के ये जन्मादिक विकार हैं। सन्मात्र स्वभाव सत्ता उत्तरोत्तर विकार दशा में 'जायते' आदि आख्याओं को प्राप्त करती है। प्रथमतर सन्मात्र रूप अस्ति शब्द से नहीं कहा जाता, अपि तु जन्मोत्तरकाल भावी, उसकी (सत्ता की) अवस्था विशेष को अस्ति शब्द से कहते हैं। जन्म के अनन्तर होने वाले उसके रूप को 'सत्' कहते हैं। स्वशक्ति के माहात्म्य से सत्ता की पहले 'जायते' की स्थिति होती है, पश्चात् अस्ति की। अवस्थित पदार्थ में जब विकारापत्ति होती है, तब वहाँ 'विपरिणमते' ऐसा व्यवहार होता है; और वह पदार्थ विपरिणाम को प्राप्त होता हुआ मुहूर्त भर भी स्थिर नहीं रहता किन्तु बराबर वृद्धि को प्राप्त करता है तो इसे 'वर्द्धते' ऐसा कहा जाता है। और पुनः बिना रुके क्षीण होने लगता है तब 'अपक्षीयते' ऐसा व्यवहार होता है। इसके अनन्तर उसका विनाश हो जाता है। ऐसे क्रम की स्थिति पदार्थ में द्रष्टव्य है। इस प्रकार की उस सत्ता की कुछ शक्तियाँ हैं, जिससे एक होने पर भी वह विविध रूपों में भासित होती है।

सर्वशक्त्यात्मभूत ब्रह्म की विविध विकारों का प्रदर्शन करने वाली क्षमता रूप कार्यभेद से नाना भेदात्मक अविद्या नामक शक्ति है, ऐसा आगमवेत्ताओं का कथन है। इस प्रकार अपनी ही शक्तियों से, जो उससे व्यतिरिक्त नहीं हैं, अविद्यावस्था में वह जन्मादिरूप से भासित होता है। समस्त भावों-पदार्थों में सत्तात्मक वही ब्रह्म समान रूप से विद्यमान है, क्योंकि उससे अतिरिक्त अन्य कुछ भी तो नहीं है।

आचार्य दुर्ग ने उक्त सन्दर्भ की अवतरणिका के रूप में कहा है—'स च पुनरुभयात्मा भावः कार्यात्मा कारणात्मा च। तयोर्यः कार्यात्मा तमधिकृत्योक्तम्—क्रियानिर्वर्त्योऽर्थः स भावः, क्रियैव वा भावः' इति।

भाव दो प्रकार का है—एक कार्यात्मा और दूसरा कारणात्मा। उन दोनों में जो कार्यात्मा है उसी को लेकर कहा गया है—क्रिया के द्वारा निष्पन्न अर्थ भाव है अथवा क्रिया ही भाव है। और कारणात्मा कार्यात्मभावातीत प्रलयकाल में भी स्थित अत्यन्त अविनाश धर्ममात्र आत्मा ही कारणात्मा भाव है।

वस्तुतः कारणात्मा भाव ही सत्ता या ब्रह्म के नाम से कारिका में कहा गया है; जन्मादिक इसी भाव के विकार हैं। और यही छः विकार अन्य भाव-क्रिया या पदार्थ के भेद में कारण बनते हैं। इसमें सहकारी कारण है ब्रह्म की कालशक्ति,[1] जो आरोपित अन्य शक्तियों से सम्पन्न रहती है।

कारणात्मक भाव के सम्बन्ध में हेलाराज ने भी कहा है—'विश्वामा एक एव परब्रह्माभिधानः सत्यो भावः।' —कालसमुद्देश

श्रीवृषभाचार्य कारिका का निम्नाङ्कित अर्थ करते हैं—'इस प्रकार ब्रह्म के साथ घटादिक और योग्यातारूप शक्तियों का भेदाभाव प्रतिपादन करके प्रस्तुत कारिका द्वारा ब्रह्म से काल का भी भेद नहीं है', यह प्रतिपादन करते हैं। 'अध्याहिताः अध्यारोपिताः कलाः यस्याः, कला इति भेदः, य एवेह सत्तादयः अतीतानागतवर्तमान-भेदश्च सा, अध्याहितकलाम्। सत्तादिक तथा अतीत, अनागत आदि कलाएँ या भेद जिसमें समारोपित हैं, ऐसी शब्दब्रह्म की कालशक्ति का आश्रय लेकर, उसके अधीन-वृत्तिक होकर, जन्मादि छह भाव विकार पचादिक्रियारूप भावों के भेद का कारण बनते[2] हैं। 'भावः सत्त्वं (सत्त्वाः) धात्वर्थः, तस्य भेदः पचादिक्रियाः, तासाम्। योनयः+यतोऽयं क्रियाग्रामः आस्वेव षट्स्वन्तर्भवति यतो भाववचनाः सर्वे धातवः।'

'अध्याहितकलाम्' यह श्रीवृषभाचार्य का पाठ है। आचार्य अभिनव गुप्त ने 'अव्याहतकलाम्' ऐसा पाठ उद्धृत किया है। 'अव्याहताः कला यस्य' ऐसा भी पाठान्तर है। इस पाठान्तर की दृष्टि से कारिका का प्रस्तुत अर्थ होगा—

'ब्रह्मस्वरूप होने के कारण नित्य, जिस शब्दब्रह्म की कलाएँ या शक्तियाँ काल-शक्ति का आश्रय लेकर भावों-पदार्थों या क्रियाविशेषों की विविध रूपता के कारणा-त्मक जन्मादि छः विकारों का रूप ग्रहण करती हैं।

---

१. (क) अभिनवगुप्ताचार्य ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी में कहा है—'तत्र इति मायाविषये भगवतः सम्बन्धिन्याः कर्तृशक्तेः कालक्रमावभासनं नाम व्यापारः, न तु शुद्धसंविन्मात्रत्वे तदवभासनम्।—एवंरूपश्च व्यापारः कर्तव्यं यस्याः परमेश्वरस्वातन्त्र्यशक्तेः, सा कालोत्थापकत्वात् भगवतः कालशक्तिरित्युच्यते। 'अव्या-हतकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रितः' इत्यादौ। ततः सोपानपदपङ्क्त्या सैव स्वातन्त्र्य-शक्तिः अवरोहन्ती अर्थराशौ कर्मणि कृतपदबन्धा अवभासयति स्मरतीत्येवम्प्रायेण क्रियात्मना प्रथते।'

(ख) यस्मात्क्रियाशरीरान्तरनुप्रवेशवशोन्मिषितशरीरः क्रम एव कालः, तत् इति तस्माद् हेतोरेवमवतिष्ठते यत्किल भावविकारषट्कपरमार्थ एव कालः। न हि भावविकाराधिका काचित्क्रिया अस्ति। यथाह तत्र भवान्—'जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः। इति।'

२. श्रीवृषभाचार्य उपप्लवन्ते का अर्थ 'सम्भवन्ति' ऐसा करते हैं। न्यक्षेण—आभिमुख्येन कात्स्न्र्येन वा।

आचार्य अभिनवगुप्त ने भी कुछ इसी प्रकार का अर्थ किया है--'भावविकार-षट्कपरमार्थं एक कालः । नहि भावविकाराधिका काचित् क्रिया अस्ति' । यथाह तत्र भवान्—'जन्मादयो विकाराः षट् भावभेदस्य योनयः' ॥

क्रियाशरीरों के अन्तः अनुप्रवेश से उन्मिषित रूपों वाला क्रम ही काल है, इसलिए सिद्ध है कि भावविकारषट्कात्मक ही काल है । भावविकारों से अधिक किसी क्रिया का अस्तित्व नहीं, जैसा कि आचार्य ने कहा है—'जन्मादयो विकारा षट् ।'

एकमात्र शब्दब्रह्म समस्त कारणों का कारण है तथा वही जगत् के व्यावहारिक वर्गों का रूप ग्रहण करता है—इस बात को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं—

एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा ।
भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः ॥ ४ ॥

सर्वबीजस्य एकस्य च यस्य भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च इयं अनेकधा स्थितिः ।

समस्त कारणकार्यात्मक शक्तियों से सम्पन्न, एक—अभिन्न जिस शब्दब्रह्म की भोक्ता (जीवात्मा), भोक्तव्य (रूपरसादि विषय) और भोग (सुखदुःखादि अनुभव) रूप से प्रत्यक्ष दृश्यमान अनेक प्रकार की स्थिति देखी जाती है ।

वृत्तिः—एकस्य हि ब्रह्मणस्तत्त्वान्यत्वाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यां चानिरुक्ता-विरोधिशक्त्युपग्राह्यस्यासत्यरूपप्रविभागस्य स्वप्नविज्ञानपुरुषवदवहिस्तत्त्वा; परस्परविलक्षणा भोक्तृभोक्तव्यभोगग्रन्थयो विवर्तन्ते । तस्य च ग्रन्थ्यन्तररूप-समतिक्रमेण विवृत्तग्रन्थिपरिच्छेदस्येयमनेकधा लोके व्यवहारव्यवस्था प्रकल्पते ।

विवरण—वृत्तिकार 'सर्वबीजस्य' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि शब्दब्रह्म अनिर्वचनीय तथा अविरोधी शक्तियों से सम्पन्न है । शक्तियाँ तत्त्वात्मक या ब्रह्मरूप हैं, ऐसा कहते नहीं बनता; क्योंकि उनका पृथक् प्रतिभास तो होता ही है और ब्रह्म से उनका सर्वथा पार्थक्य वा अन्यत्व भी नहीं, क्योंकि ब्रह्म से पृथक् उनका उपलम्भ नहीं होता । और सच तो यह है कि वे शक्तियाँ पूर्वोक्त रीति से ब्रह्म में कल्पित हैं । हैं । शक्तियों की सत्त्वरूपता भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि ब्रह्म से व्यतिरिक्त रूप में उनकी अवधारणा नहीं, तथा भिन्न-भिन्न कार्यों के उदय से अनुमीयमान उनके सत्त्व का अपलाप नहीं किया जा सकता । अतः वे शक्तियाँ असत्त्व रूप भी नहीं अतएव अनिर्वाच्य हैं । ये शक्तियाँ ब्रह्म की अविरोधिनी भी हैं । यद्यपि विरुद्ध कार्यों की उत्पत्ति से विरोध का अनुमान होता है, तथापि ब्रह्मरूप एक मात्र आधार में उनके एक साथ विद्यमान होने के कारण वे अविरोधिनी हैं ।

ब्रह्म एक है, क्योंकि विविध रूपात्मक जो प्रविभाग दिखलाई देता है वह असत्य है । पीछे विवर्त के लक्षण में कहा गया है कि 'एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य'—ब्रह्म एक

है, वह तत्त्व या स्वरूप से कभी च्युत नहीं होता, किन्तु भेदानुकारेण—सन्निवेश या आकारविशेषों का अनुकरण करता हुआ—असत्यविभक्तान्यरूपाणाम्—असत्य विभागों और असत्य नाना रूपों या आकारों को ग्रहण करता है और यही उसकी विवर्तावस्था है। वस्तु असत्य नहीं, केवल भेद और आकार असत्य है; यही आचार्य के कहने का अभिप्राय है।

सर्वशक्तिशाली उस एक शब्दब्रह्म की स्वप्नविज्ञानपुरुष के समान, ब्रह्म से अवहिर्भूत एक-दूसरे से विलक्षण भोक्ता (परमात्मा से निःसृत कर्मों के कर्ता और फलों के भोक्ता जीव) भोक्तव्य और भोगात्मक ग्रन्थियाँ विकसित होती हैं।

प्रथम कारिका की वृत्ति में विवर्त का लक्षण बतलाकर दृष्टान्त के रूप में कहा गया है—'स्वप्नप्रतिभासवत्'। यहाँ उसे और विस्तृत करते हुए कहा गया है—'स्वप्नविज्ञानपुरुषवदबहिस्तत्त्वाः।'

स्वप्नद्रष्टा का पारिभाषिक नाम है—'स्वप्नविज्ञानपुरुष'। स्वप्नावस्था में यह पुरुष अपनी एकता को न छोड़ता हुआ अपने से ही स्वात्मभूत परस्पर विलक्षण स्वाप्न जगत् का निर्माण करता है। तृतीयकाण्ड, द्रव्यसमुद्देश में कहा गया है—

आत्मा परः प्रियो द्वेष्यो वक्ता वाच्यं प्रयोजनम्।
विरुद्धानि यथैकस्य स्वप्ने रूपाणि चेतसः॥ १७॥
अजन्मनि तथा नित्ये पौर्वापर्यविवर्जिते।
तत्त्वे जन्मादिरूपत्वं विरुद्धमुपलभ्यते॥ १८॥

जैसे स्वप्नावस्था में एक ही चित्त या स्वप्नविज्ञान पुरुष के परस्पर विरोधी स्वयं, दूसरा, प्रिय अप्रिय, वक्ता, वाच्य और प्रयोजनात्मक नाना रूप देखे जाते हैं वैसे ही अजन्मा, नित्य पौर्वापर्यरहित शब्दतत्त्व रूप ब्रह्म में विरुद्ध जन्म, सत्ता, विपरिणाम आदि रूप उपलब्ध होते हैं।

'प्रविभागे यथा कर्ता—' प्रथम काण्ड की इस ११९वीं कारिका की वृत्ति में भगवान् भर्तृहरि ने भी किसी प्राचीन ग्रन्थ से एक श्लोक उद्धृत किया है—

आह च—

प्रविभज्यात्मनात्मानं सृष्ट्वा भावान् पृथग्विधान्।
सर्वेश्वरः सर्वमयः स्वप्ने भोक्ता प्रवर्तते॥

द्रव्यसमुद्देश के पूर्वोक्त श्लोकों की व्याख्या में हेलाराज ने भी प्रस्तुत श्लोक को इस प्रकार उद्धृत किया है—

तदाहुः वेदान्ततत्त्वनिपुणाः—'प्रविभज्यात्मनात्मानं' भोक्ता अर्थात् प्रत्यगात्मा, स्वप्न में अपने से अपना भोक्ता, भोक्तव्य और भोगरूप प्रविभाग करके तथा परस्पर विलक्षण नानाविध रचना कर के सब का ईश्वर तथा सम्पूर्ण सृष्टि का उपादान बन कर प्रवृत्त होता है।

ग्रन्थ्यन्तर अर्थात् अविद्याग्रन्थि से भिन्न विद्यारूप का अतिक्रमण करके अविद्या-जनित परिच्छेद रूप विवर्त को प्राप्त उस शब्दब्रह्म की अनेकधा लोकव्यवहार सम्बन्धी व्यवस्था कल्पित होती है।

कुछ लोग 'स्थिति' का अर्थ शक्ति करके कारिका का अर्थ इस प्रकार करते हैं। 'सर्वबीज एक ब्रह्म की कालशक्ति ही अनेकधा भोक्तादि के रूप में प्रवृत्त होती है।' यहाँ स्थिति का शक्ति अर्थ करना असङ्गत है, क्योंकि वृत्ति में ऐसा कोई संकेत नहीं है।

प्रस्तुत चार कारिकाओं में शब्दब्रह्म का निरूपण किया गया है। संक्षेप में उसका स्वरूप इस प्रकार है—

शब्दब्रह्म का आदि और अन्त नहीं, वह देश और काल की सीमा से परे है। अक्षरों—अकारादि वर्णों का निमित्त होने के कारण उसकी संज्ञा अक्षर है। वही ब्रह्म अर्थ के रूप में विवर्त या नानात्व को प्राप्त करता है और उसी से जगत् की उत्पत्ति होती है। उसकी परस्पर विलक्षण अनेक शक्तियाँ हैं, जिनका आश्रय होने से वेद में वह शब्दब्रह्म एक कहा गया है। यद्यपि वह एक—अभिन्न है, फिर भी अपनी शक्तियों से भिन्न-भिन्न-सा भासित होता है।

उसकी एक प्रमुख शक्ति है, जिसका नाम काल है। यद्यपि यह कालशक्ति भी एक ही है, तथापि इसमें भेदों का आरोप होता है, जिससे इसके अनेक भेद हो जाते हैं। जैसे वस्तु की उत्पत्ति के अवसर पर जन्मकाल, पुनः स्थिति के अवसर पर स्थिति काल, परिवर्तन के समय विपरिणाम काल, अनन्तर उपचय, अपचय एवं विनाश-काल। ये जन्मादिक ६ विकार भाव या शब्दब्रह्म नामक मौलिक भाव के विकार हैं; जो कालशक्ति के योग से अनन्त भावों, क्रियाओं और पदार्थों का कारण बनते हैं।

शब्दब्रह्म समस्त कारणों एवं कार्यों का एकमात्र बीज है, वही अनन्त भोक्ताओं—जीवों, भोक्तव्यों—रूपरसादि विषयों एवं भोगों—अनुभवों के रूप में परिणत होता है।

इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि शब्दब्रह्म पश्यन्ती वाग्रूप है, इससे परे कोई तुरीय तत्त्व है या परात्मक तुरीय वागात्मा है। यहाँ वृत्तिकार भगवान् भर्तृहरि तथा कारिकाकार के अनुसार स्पष्ट मत प्रस्तुत किया जाता है।

कारिकाकार ने आगे चल कर कहा है—'वैखर्या मध्यमायाश्च' आदि। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि तीनों वाणी व्याकरण का विषय हैं और व्यवहारगम्य हैं।

तृतीयकाण्ड, द्रव्यसमुद्देश की ग्यारहवीं कारिका—'सत्यमाकृतिसंहारे यदन्ते व्यव-तिष्ठन्ते। तन्नित्यं शब्दवाच्यं तच्छब्दतत्त्वं न भिद्यते॥' में स्पष्ट किया गया है कि समस्त आकृतियों के उपसंहृत हो जाने पर जो सबके अन्त में स्थित रहता है, वही नित्य है और शब्द का वाच्य है; उसमें और शब्दतत्त्व में कोई भेद नहीं है। हेलाराज ने उक्त कारिका की व्याख्या में कहा है—'रुचक, कुण्डल आदि आकृतियों के उपसंहृत होने पर सुवर्ण ही सत्य है। इस प्रकार अनन्तविकारग्राम के नष्ट होने पर सर्वान्त में

वर्तमान ब्रह्मरूप सत्य है और वही वस्तुतः नित्य है। व्यवहार में जात्यादिकों की जो नित्यता बतलाई जाती है, वह आपेक्षिक नित्यता है, वास्तविक नित्यता नहीं। जैसे व्यक्तियों के लीन हो जाने पर गोत्वादिक जाति नित्य है। और गोत्व अश्वत्वादि भेदों के त्याग के अनन्तर पृथ्वीतत्त्व ही सत्य है। और वहाँ भी अप्त्वादि भेदों के अनन्तर सर्वनाम द्वारा प्रत्याय्य 'वस्तु' ही सत्य है। वस्तु में भी अनपायी 'संवित्' रूपता का अनुगम होता है; विषयाकारों मे इसका विवेक—पृथग्ग्रहण—करने पर यही पारमार्थिक सत्य है, ऐसा 'नेति नेति उपासीत' इस भावना द्वारा कहा गया है।

यह संवित् भी पश्यन्तीरूपा परावाक् है, जो शब्दब्रह्ममयी है। इसे ही ब्रह्म-तत्त्व कहते हैं, जो पारमार्थिक शब्दतत्त्व से भिन्न नहीं।

'संविच्च पश्यन्तीरूपा परावाक् शब्दब्रह्ममयीति ब्रह्मतत्वं शब्दात्पारमार्थिकात् न भिद्यते ॥'

हेलाराज की इस उक्ति से लोगों को भ्रम होना स्वाभाविक है कि सामान्य पश्यन्ती ही परावाक् है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। सामान्य पश्यन्ती व्यावहारिक है, उसके अपरिमाण भेद हैं; ऐसा वृत्तिकार ने 'त्रय्या वाचः परं पदम्' की वृत्ति में कहा है। आगे चलकर वे कहते हैं—

'परं तु पश्यन्तीरूपमनपभ्रंशमसङ्कीर्णं लोकव्यवहारातीतम्' अर्थात् परपश्यन्ती रूप अपभ्रंशरहित असंकीर्ण एवं लोकव्यवहार से परे है। यही परपश्यन्ती वाक्, व्याकरण के माध्यम से साधुत्वज्ञान द्वारा अथवा शब्द पूर्वयोग द्वारा उपलब्ध की जाती है। 'तस्या एव वाचो व्याकरणेन साधुत्वज्ञानलभ्येन वा शब्दपूर्वेण योगेना-धिगम्यत इति एकेषामागमः ॥' वृत्ति।

इसके अनन्तर आचार्य ने इतिहास का निदर्शन प्रस्तुत किया है—

गौरिव प्रक्षरत्येका रसमुत्तमशालिनी।
दिव्यादिव्येन रूपेण भारती गौः शुचिस्मिता ॥

इस पर स्फुटाक्षरापद्धति के रचयिता श्रीवृषभाचार्य ने स्पष्ट किया है—

रसमिति–कार्योपयोगितया वैखरीमध्यमे उक्ते। भारती गौः शुचिस्मिता पश्यन्त्याख्या दिव्यादिव्येन न—तस्या हि पश्यन्त्या रूपे, दिव्यं च योगिग्राह्यम् अदिव्यं च (शौ ?) कटिकादिष्ववस्थितम्। यच्चलाचलेत्याद्युक्तम्।

एक शुद्ध पश्यन्ती नामक वाणी गाय के समान मध्यमा और वैखरी रूप रस का क्षरण करती है। इस पश्यन्ती के दो रूप हैं—एक दिव्य और दूसरा अदिव्य।

सोमानन्दपाद ने 'शिवदृष्टि' के द्वितीय आह्निक में शब्दपरब्रह्माद्वयवाद का खण्डन करने के लिए पूर्वपक्ष रूप में वैयाकरणसिद्धान्त को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

अथास्माकं ज्ञानशक्तिर्या सदाशिवरूपता।
वैयाकरणसाधूनां पश्यन्ती सा परा स्थितिः ॥ १ ॥

इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथाक्षयम् ।
तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा हि वाक् ॥ २ ॥

पश्यन्ती को ही परा कहना उनका अज्ञान मात्र है। यह अज्ञान तब और पुष्ट हो जाता है, जब वे 'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' ॥ १० ॥ ऐसा कहते हैं। यह वैयाकरणों का सिद्धान्त नहीं और न ही ऐसा श्लोक वाक्यपदीय में कहीं आया है।

इस पर टीका करते हुए उत्पलाचार्य ने वृत्ति ग्रन्थोक्त पश्यन्ती के पररूप का चर्चा की है और खण्डन की मुद्रा में यहाँ तक कह डाला है कि पश्यन्ती का पर से भी अधिक प्रकृष्ट रूप यदि स्वीकार कर लिया जाय तो भी यह पूर्ण या पर्यन्त दशा न होगी और इस प्रकार उसकी परब्रह्मरूपता या शब्दब्रह्मरूपता सम्भव नहीं।

परमपि हि रूपं यदि पश्यन्त्याः यदुक्तम्—

'प्रतिलब्धसमाधाना च' इति। 'विशुद्धा च' इति। 'प्रशान्तप्रत्यवभासा च' इति; अन्यद्वा अपि अतोऽधिकतरं प्रकृष्टरूपमस्याः स्यात्, तथापि सरो रव इति मध्यमाया-मुन्मिषतः क्रमस्य कारणभूतायां तत्क्रमशक्तिरस्त्येव। यदुक्तं— 'प्रतिसंहतक्रमाप्यन्तः सत्यप्यभेदे समाविष्टक्रमशक्तिः पश्यन्ती।' इति। ततो न सा पूर्णा पर्यन्तदशेति कथं तस्याः परस्थितिरूपता, परब्रह्मरूपता, शब्दब्रह्मरूपता।

वस्तुतः उत्पलाचार्य ने अपरपश्यन्ती को ही परिभाषा ध्यान में रख कर उपर्युक्त आलोचना की है। उन्होंने यह ध्यान नहीं रखा कि परपश्यन्ती लोकव्यवहारातीत है।

वैयाकरणों के आगम में क्यों पश्यन्ती को ही व्यावहारिक और लोकव्यवहारा-तीत इन दो अवस्थाओं में ग्रहण किया गया है; इसमें कारण है। व्याकरणागम अपरपश्यन्ती को प्रकृति और परपश्यन्ती को परा प्रकृति कहता है। पराप्रकृति का ही दूसरा नाम विद्या, परब्रह्म या शब्दब्रह्म है और प्रकृति या अपरपश्यन्ती का नाम प्रतिभा, सत्ता और महानात्मा है। पराप्रकृति की ही स्वाभाविक परिणति प्रतिभा या अपरपश्यन्ती है। जैसे सुषुप्तावस्था पुरुष की प्रबोधावस्थात्मक स्वाभाविक परिणति होती है, वैसे ही एक शब्दब्रह्म—लोकव्यवहारातीत शब्दतत्त्व—का व्यावहारिक पश्यन्ती वागात्मक स्वाभाविक परिणाम है। अपरपश्यन्ती ही प्रतिभा है, यह कहा गया है। 'प्रकृतिम् इति—कारणम्। किं तदित्याह—प्रतिभा इति—या इयं समस्तशब्दार्थकारणभूता बुद्धिः यां पश्यन्तीत्याहुः—यतः शब्दाः प्राणवृत्ति-मनुपतन्ति।'

—श्रीवृषभ, पद्धति।

श्री वृषभाचार्य ने जिस आधार को लेकर उपर्युक्त पश्यन्ती का विभाजन प्रस्तुत किया है, वह वृत्तिकार के शब्दों में इस प्रकार है—

'सोऽव्यतिकीर्णां वागवस्थामधिगम्य वाग्विकाराणां प्रकृतिं प्रतिभामनुपरैति।

तस्माच्च सत्तानुगुण्यमात्रात् प्रतिभाख्यात् शब्दपूर्वयोगभावनाभ्यासाक्षेपात् प्रत्यस्मितसर्वविकारोल्लेखमात्रां परां प्रकृतिं प्रतिपद्यते ।'

वह योगी अव्यतिकीर्ण–अपभ्रंशों से अमिश्रित वागवस्था को जानकर वाग्विकारों की प्रकृति प्रतिभा को प्राप्त करता है । और उस सत्तानुगुण्यरूप प्रतिभा नामक अवस्था के अनन्तर, शब्दपूर्वयोग के निरन्तर अभ्यास से पराप्रकृति–शब्दब्रह्म ('तदेवं वाग्विकारं प्रतिभायामुपसंहरति तामपि चास्मिन् ब्रह्मणीति'—श्रीवृषभाचार्य) को प्राप्त कर लेता है । जहाँ समस्त विकारों के उल्लेख[1] (संस्कारों) की मात्राओं या अंशों का भी निरसन हो जाता है, वही पराप्रकृति है ।

इस प्रकार प्रकृति और पराप्रकृति नामक दो भेद वृत्तिकार को अभीष्ट हैं ।

'शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिः'—(ब्रह्मकाण्ड ११०) इस कारिका की वृत्ति में भगवान् भर्तृहरि ने प्रतिसंहृतक्रम वागात्मा अर्थात् अपरपश्यन्ती की स्थिति महाकारण वाक्तत्त्व में स्वीकार की है । यह महाकारण पराप्रकृति या परपश्यन्ती के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।

'यथापरेषामिन्द्रियेषु विषयमात्राशक्तयः प्रतिलयं गच्छन्ति, तथेन्द्रियमात्राशक्तयो बुद्धिषु बुद्धिमात्राशक्तयः प्रतिसंहृतक्रमे वागात्मनि । सा चेयं स्वप्नप्रबोधवृत्तिः प्रविभक्तपुरुषानुकारा महत्यपि वाक्तत्त्वे कारणे नित्यमवस्थिता । यथा—परेऽप्याहुः—

वागेवार्थं[2] पश्यति वाग्ब्रवीति वागेवार्थं निहितं सन्तनोति ।
वाच्येव विश्वं बहुरूपं निबद्धं तदेतदेकं प्रविभज्योपभुङ्क्ते ॥

'जैसा कि दूसरे लोग रूपादिविषयमात्राओं का शक्तिरूप से इन्द्रियों में विलय मानते हैं, वैसे ही इन्द्रियमात्राशक्तियाँ बुद्धियों में और बुद्धिमात्राशक्तियाँ प्रतिसंहृतक्रम वागात्मा में लीन हो जाती हैं और यह प्रतिसहृतक्रम वागात्मा स्वप्न या प्रलय तथा प्रबोध या सृष्टि दशा में विद्यमान होती हुई महाकारण वाक्तत्त्व में नित्य अवस्थित रहती है ।'

वस्तुतः प्रतिसंहृत वागात्मा सामान्य पश्यन्ती ही है । जैसा की वृत्तिकार ने कहा है—

'प्रतिसंहृतक्रमा सत्यप्यभेदे समाविष्टक्रमशक्तिः पश्यन्ती ।' ('वैखर्या मध्यमायाश्च'–कारिका की वृत्ति) आचार्य भर्तृहरि प्रतिसंहृतक्रम और उपसंहृतक्रम में अन्तर

---

१. क्रमोल्लेखानुषङ्गेण तस्यां यद्बीजमाहितम् ।२६ ।—द्वितीय काण्ड, वाक्यपदीय इस कारिका में पठित उल्लेख शब्द से ज्ञात होता है कि इसका अर्थ शक्ति या संस्कार ही सम्भव है ।

२. वाक् ही बुद्धिरूप से विवृत्त गवाद्यर्थ को देखती है, वाक् ही बोलती है, वाक् ही अपने में शक्तिरूप से निहित गवादिक अर्थ को व्यक्तरूप में उत्पन्न करती है । यह बहुरूप विश्व वाक् में ही निबद्ध है । वह एक वाग्ब्रह्म ही अपना भोक्ता, भोग्य और भोगात्मक प्रविभाग करके उपभोग कर रहा है ।

देखते हैं। वाक्यपदीय, द्वितीयकाण्डगत उन्नीसवीं कारिका—'अव्यक्त : क्रमवान् शब्दः—' की वृत्ति में भगवान् भर्तृहरि ने कहा है कि उपाधिमान् एक शब्द के विभाग से रहते हैं। यथा—शनैः, उच्चैः उपांशु (वैखरी), परमोपांशु (मध्यमा) और प्रतिसंहृतक्रम अर्थात् पश्यन्ती। इसके अनन्तर अनुपहित शब्दतत्त्व की स्थिति आती है, जो शब्दों के क्रमरूपों का सर्वथा उपसंहारस्वरूप है। इस तत्त्व के लिए 'शब्दातीत' व्यवहार भी देखा जाता है।

१. प्राणवृत्ति का अनुग्रह होने पर जब शब्दरूप दूसरों के द्वारा असंवेद्य और अपने द्वारा ही सुना जाता है तो उसे उपांशु कहते हैं।

'तत्र प्राणवृत्त्यनुग्रहे सत्येव यत्र शब्दरूपं परैरसंवेद्यं भवति तदुपांशु।' —वृत्ति

२. प्राणवृत्ति के अनुग्रह के बिना केवल बुद्धि में ही जो शब्दात्मा समाविष्ट रहता है और बुद्धि ही जिसका उपादान है, वह परमोपांशु है।

'अन्तरेण तु प्राणवृत्त्यनुग्रहं यत्र केवलमेव बुद्धौ समाविष्टरूपो बुद्ध्युपादान एव शब्दात्मा तत्परमोपांशु।' —वृत्ति

३. प्रतिसंहृतक्रमशक्ति से युक्त बुद्धि द्वारा जब अव्यक्त शब्द में किसी अन्य निमित्त से उपलब्ध शब्दों का आरोपित क्रमरूप का-सा साक्षात्कार होता है तो उसे प्रतिसंहृतक्रम कहते हैं।

'यत्र तु प्रतिसंहृतक्रमशक्तियोगया बुद्ध्या निमित्तान्तरोपसम्प्राप्तमव्यक्ते शब्देऽध्या-रोपितं हि शब्दानां क्रमरूपमिव साक्षात्क्रियते तत्प्रतिसंहृतक्रमम्।

४. जब बुद्धि में शब्दों के क्रमरूप का सर्वथा उपसंहार हो जाता है और बुद्धि असम्प्रख्यातत्व की-सी स्थिति को प्राप्त हो जाती है, तब शब्दातीत व्यवहार का प्रारम्भ होता है।

'शब्दानां क्रमरूपोपसंहारविषयायां बुद्धावसम्प्रख्यातत्वमिव प्रतिपद्यमानायामार-भ्यते शब्दातीतो व्यवहारः।' —वृत्ति

'प्रारभ्यते शब्दातीतो व्यवहारः' से प्रतीत होता कि 'चेतना' की एक शब्दातीत अवस्था भी है। किन्तु क्या यह व्याकरणागम की मान्यता है? यदि ऐसा है तो पीछे उद्धृत पराप्रकृतिरूप तुरीय वागवस्था की क्या गति होगी? अतः यह स्वीकार करना होगा कि यह व्याकणागम की मान्यता नहीं है। यहाँ वाग्ब्रह्म ही चरम तत्त्व के रूप में मान्य है। तब उपर्युक्त सन्दर्भ में आचार्य जागतिक व्यवहार की बात कह रहे हैं, यही समझना उचित होगा। वे अन्यत्र कह भी चुके हैं—'परं तु पश्यन्तीरूप-मनपभ्रंशमसङ्कीर्णं लोकव्यवहारातीतम्।' पश्यन्ती को पर कहने से उसके अपररूप का भी अर्थात् आपादन होता है।

स्वभावचरणाभ्यासयोगादृष्टोपपादिताम् ।
विशिष्टोपहितां चेति प्रतिभां षड्विधाः विदुः ॥ १५२ ॥ —वाक्यकाण्ड

इस कारिका की वृत्ति में आचार्य भर्तृहरि कहते हैं—[१]कुछ आचार्य ऐसा मानते हैं कि कोई स्वाभाविक प्रतिभा होती है। पराप्रकृति का महानात्मा के प्रति सत्तात्मक जो परिणामानुरूपता या स्वाभाविक उन्मेष है, वही प्रतिभा है। यह स्वाभाविक परिणति ठीक वैसी ही होती है जैसे सुषुप्तावस्था में विद्यमान व्यक्ति का जागरण। यह निद्रा का फलसत्तात्मक परिणाम है। सत्ता, महानात्मा, अपरपश्यन्ती या प्रतिभा ही प्रतिसंहृतक्रमा वाक् है, यह पीछे कहा गया है। यह स्वप्न प्रबोधवृत्तिक है, यह भी आचार्य-वचनों के उद्धरण के साथ ही निर्दिष्ट हुआ है। महाकारणात्मक वाक्तत्त्व या परपश्यन्ती अथवा पराप्रकृति में यह सोती है—लीन हो जाती है और सृष्टि के प्रथम क्षण में यह स्वभावतः प्रबुद्ध हो उठती है। यह प्रतिभा या अपरपश्यन्ती अनेक प्रकार की है; सम्पूर्ण आगमिक वाक्यों की यह हेतु है तथा व्यावहारिक सामान्य वाक्यों की यह प्रतिपाद्य है। व्याकरणशास्त्र का अन्त हो जाने पर प्रलयदशा में जब समस्त कारणशक्तियाँ अस्त हो जाती हैं तो यह प्रतिभा भी बीजकारण—जो सब का बीज है, ऐसे शब्दब्रह्म में लीन[२] हो जाती है और उस समय समग्र शब्दशक्तियाँ भी उसी में निविष्ट रहती हैं, उनके बीजों का प्ररोह नहीं होता।

पुनः वृत्तिकाल या सृष्टिदशा में पहले शब्दब्रह्म या महाबीजात्मक कारण पराप्रकृति अथवा परपश्यन्ती से अपरपश्यन्ती या प्रतिभा का उन्मेष होता है। अनन्तर यह प्रतिभा या सामान्य पश्यन्ती मध्यमा का रूप ग्रहण करती है, पश्चात् अन्तर्वर्ती प्रयत्न से ऊर्ध्व देश की ओर उत्प्रेरित प्राणवायु जब उदानात्मक तेज से अनुगृहीत होकर शब्दाणुओं को वहन करने वाली नाड़ियों से निर्गत सूक्ष्म शब्दांशों को धूमसन्तान के समान घनीभूत बना देती है, तब यह शब्दघन ताल्वादि स्थानों में आहत होकर आन्तरिक प्रकाश द्वारा बुद्धिस्थ शब्द का अविभक्त प्रतिबिम्बात्मक रूप ग्रहण करता है। इस प्रकार सूक्ष्म मार्ग द्वारा विविध विवर्त दशाओं का अनुभव कर वह प्रतिभा क्रमशः वर्ण, पद एवं वाक्यरूपात्मक अवस्थाओं से अभिवृद्ध होती हुई बारम्बार बीज के परिपाक को प्राप्त होकर अभिव्यक्त होती है।

---

१. केचिदाचार्या मन्यन्ते—काचित् स्वाभाविकी प्रतिभा। तद्यथा परस्याः प्रकृतेः प्रथमं सत्तालक्षणमात्मानं महान्तं प्रत्यानुगुण्यं सुषुप्तावस्थस्येव प्रबोधानुगुण्यं फलसत्तामात्रं निद्रायाः। —वृत्ति।

२. निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य ने भी कुछ इसी प्रकार कहा है—'अथ मतम्—अविचालिन एवैते कूटस्था अविनाशिनः शब्दास्ते तु कल्पान्ते तस्माद्व्याप्तिरूपाद्विशीर्णेषु अभिधेयेषु अभिधातृषु कारणभावमापद्यमानेषु आश्रयाभावादेवावस्थातुमशक्नुवन्तः अभिधेयाभिधातृसहिता एव कारणात्मभावमधिकमनुभूय अभिसंस्तवकाले कल्पादावन्यकल्पविशिष्टकर्मनिर्मितकार्यकारणसर्वभूतसाधारणात्मभूते हिरण्यगर्भे विवर्तमाने तद्बुद्धिमाश्रयं प्राप्य तेनैव सह युगपदेवाभिव्यज्यन्ते विशेषात्मलाभाय शब्दो इति।

'एवं प्रतिभा बहुविधापि सर्वैवागमिकवाक्यनिबन्धना वाक्यप्रतिपाद्या व्याकरणात्ययेऽपि सर्वशक्तिप्रत्यस्तमये प्रत्यस्तमितनिविष्टशब्दशक्तिबीजकारणाऽन्तर्भूता निबद्धबीजा वृत्तिकाले प्रथमं सूक्ष्मेणापि वर्त्मना विवर्तमात्रामनुभूय क्रमेण वर्णवाक्यनियताभिरवस्थाभिः सम्मूर्च्छन्ती प्राप्तबीजपरिपाकाकारा पुनः पुनर्व्यक्तेन रूपेण प्रत्यवभासते।
—वृत्ति।

'वैखर्या मध्यमायाश्च—' इस कारिका की वृत्ति में भगवान् भर्तृहरि ने 'पुनश्चाह' इस प्रतीक द्वारा 'स्थानेषु विधृते वायौ[1]—' आदि कुछ श्लोकों को इतिहास ग्रन्थ से उद्धृत किया है। श्रीवृषभ की पद्धति में उपर्युक्त कारिकाओं की व्याख्या वाक्चतुष्टयीपरक नहीं प्रतीत होती। यद्यपि वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा इन वाग्रूपों का श्लोकों में स्पष्ट उल्लेख है और नागेश ने सूक्ष्मा के स्थान पर 'परा' ऐसा पाठ स्वीकार किया है तो भी सूक्ष्मा को पश्यन्ती का विशेषण मानकर कुछ लोग काम चलाते हैं।

'प्रमेयकमलमार्तण्ड' में प्रभाचन्द्र ने उपर्युक्त श्लोकों में से तीन श्लोकों को उद्धृत किया है और उनकी व्याख्या से वाक्चतुष्टयी की स्वीकृति प्रतीत होती है। यथा—

'न खलु श्रोत्रग्राह्यां वैखरीं वाचं तत् संस्पृशति तस्यास्तदविषयत्वात्। अन्तर्जल्परूपां मध्यमां वा तामन्तरेणापि शुद्धसंविदोभावात्। संहृताशेषवर्णादिविभागानु (तु) पश्यन्ती, सूक्ष्मा चान्तर्ज्योतीरूपा वागेव न भवति अनयोरर्थातिमंदर्शनलक्षणत्वात् वाचस्तु वर्णपदाद्यनुक्रमलक्षणत्वात्। ततोऽयुक्तमेतल्लक्षणप्रणयनम्—

स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा।
वैखरी वाक्प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धना॥ १॥
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक्प्रवर्तते।
अविभागानु (तु) पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा॥ २॥
स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी।
तया व्याप्तं जगत् सर्वं ततः शब्दात्मकं जगत्॥ ३॥

---

१. भोजराज ने शृङ्गारप्रकाश, नवम प्रकाश (पृष्ठ ३६७) में इन तीन श्लोकों को उद्धृत किया है और वाक्चतुष्टयी परक अर्थ माना है। यथा—'किम्पुनरनाहताख्यं शब्दब्रह्म? उच्यते—शब्दब्रह्मणश्चतस्रोऽवस्थाः—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, सूक्ष्मेति। तत्र येयं स्थानकरणप्रयत्नक्रमव्यज्यमानगकारादिवर्णसमुदायात्मिका वा सा **वैखरी**। या पुनरन्तः सज्जल्परूपा क्रमवती श्रोत्रग्राह्यवर्णाभिव्यक्तिरूपा सा **मध्यमा**। या तु वर्णविभागाभावादक्रमा स्वयम्प्रकाशा च सा **पश्यन्ति**। या पुनरनाद्यविद्यावासनोपप्लवमानशब्दार्थभेदरहितावबोधरूपब्रह्मशब्दवाच्या स्वरूपज्योतिरेवात्मनोऽन्तरनपाया प्रकाशते सा **सूक्ष्मा**। तदुक्तम्—स्थानेषु आदि।

तीसरे श्लोक का अन्तिम चरण वाक्यपदीयवृत्ति में नहीं है, किन्तु इससे सूक्ष्मा नामक तुरीय वाक्, शब्दजगत् और अर्थ (व्यावहारिक) जगत् की जननी रूप में स्पष्टतया भासित होती है।

वादिदेवसूरि ने 'स्याद्वादरत्नाकर' में इन्हीं श्लोकों को उद्धृत करते हुए वाक्-चतुष्टयी का उल्लेख किया है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में भी वाक्चातुर्विध्य स्वीकृत है।

कालिदास ने कुमारसम्भव के द्वितीय सर्ग के सत्रहवें श्लोक में कहा है—

पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमीरिता।
प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी॥

इसकी व्याख्या करते हुए मल्लिनाथ ने 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' इस महाभाष्य का अनुसरण करते हुए 'द्रव्यगुणक्रियाजातिभेदेन चतुर्विधा प्रवृत्तिः' यह ठीक ही कहा है। इसके अतिरिक्त उन्होंने और भी कहा है—'शब्दानां प्रवृत्तिर्वैखरीप्रमुखा वाग्वृत्तिः। उक्तञ्च—

वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा श्रुतिगोचरा।
द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी॥

यह श्लोक कहाँ का है, यह अज्ञात है। किन्तु इसमें चारों वाणियों का विलक्षण निरूपण है। वर्ण, पद और वाक्य का वक्ता के द्वारा उच्चारण ही शब्दनिष्पत्ति है, जिसे वैखरी वाक् कहते हैं। श्रोता के कर्णों के द्वारा गृहीत वाणी मध्यमा है और जिससे श्रोता की बुद्धि में अर्थ का द्योतन होता है, वह पश्यन्ती है। शाश्वतनित्य वाणी ही सूक्ष्मा वाक् है।

तुरीया वाक्, तात्त्विक शब्द या शब्दब्रह्म ही स्फोट है। यद्यपि कण्ठरवेण स्फोट शब्दब्रह्म है, ऐसा भगवान भर्तृहरि ने कहीं नहीं कहा तो भी 'द्वावुपादानशब्देषु' में अभिधान, अभिधेय और निमित्त इन तीन शब्दों का उल्लेख करते हुए 'अरणिस्थं यथा ज्योतिः' द्वारा निमित्त शब्द का स्पष्टीकरण किया है। पुनः 'करणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते' ॥ ४७ ॥—इस कारिका की व्याख्या में भगवान् भर्तृहरि कहते हैं—'अविक्रियाधर्मकं हि शब्दतत्त्वं ध्वनिं विक्रियाधर्माणमनुविक्रियते।' वस्तुतः निमित्तशब्द अविक्रियाधर्मक है और ध्वनि विक्रियाधर्मक है। यह ध्यान रहे कि यहाँ निमित्त शब्द को ही 'शब्दतत्त्व' के नाम से कहा गया है। यह शब्दतत्त्व (निमित्त शब्द) जब ताल्वादि करण व्यापार द्वारा आकाशव्यापी सूक्ष्म ध्वनिकण, प्रचित्—घनीभूत होकर नाद के रूप में विवृत्त होते हैं, तब नादविवर्त का अनुकरण करता हुआ अविवृत्त होकर भी विवर्तमान के सदृश लक्षित होता है।

अग्रिम कारिका में इसी शब्दतत्त्व या निमित्त शब्द को और स्पष्ट किया गया है—'नादस्य क्रमजन्मत्वान्न पूर्वो न परश्च सः। अक्रमः क्रमरूपेण भेदवानिव जायते' ॥ ४८ ॥ व्यञ्जक ध्वनि या नाद की क्रमिक उत्पत्ति से वह निमित्तशब्द

(शब्दतत्त्व), पूर्वापरीभूत अवयवों के अभाव से स्वतः अक्रम रहते हुए भी नाद के क्रमरूप से भेदवान्-सा प्रतीत होता है।

इस कारिका की वृत्ति में सर्वप्रथम कारिकागत 'सः' शब्द द्वारा बोध्य शब्दतत्त्व या निमित्तशब्द को 'स्फोट' शब्द द्वारा अभिहित किया गया है। यथा—

'क्रमवता हि व्यापारेणोपसंह्रियमाणप्रचयरूपो नादः सप्रतिबन्धाभ्यनुज्ञया वृत्त्या स्फोटमवद्योतयति।' यहीं पर स्फोट को एक—अभिन्न, नित्य और अक्रम कहा गया है। इसके अनन्तर उनचासवीं कारिका में भी सर्वप्रथम स्फोट शब्द का उल्लेख हुआ है। नाद प्रतिबिम्ब है और स्फोट बिम्ब। जल की चञ्चलता से प्रतिबिम्ब में चञ्चलता और इसका आरोप बिम्ब में भी हो जाता है। इसी प्रकार स्फोट और नाद को भी समझना चाहिए।

प्रतिबिम्बं यथान्यत्र स्थितं तोयक्रियावशात्।
तत्प्रवृत्तिमिवान्वेति स धर्मः स्फोटनादयोः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्दतत्त्व, निमित्तशब्द और स्फोट एक ही पदार्थ है।

कारिकाकार ने शब्दब्रह्म को प्रकाश के नाम से भी कहा है—

व्यतीत्यालोकतमसी प्रकाशं यमुपासते ॥ १९ ॥

श्रीवृषभ ने 'प्रकाश' का अर्थ 'परं ब्रह्म' किया है। वस्तुतः स्फोट ही प्रकाश है। आचार्यप्रवर श्रीसूर्यनारायण शुक्ल ने 'प्रकाशं स्फोटाख्यं समुपासते जानन्तीत्यर्थः' ऐसा लिखा है। और यह प्रकाश शब्दब्रह्म, परब्रह्म या स्फोट है, इसमें सन्देह नहीं। हेलाराज भी 'पदप्रकाश' के मङ्गलाचरण में तुरीया वाक् को 'प्रकाशपुरुष' कहते हैं। यथा—

यस्मिन् सम्मुखतां प्रयाति रुचिरं कोप्यन्तरुज्जृम्भते।
नेदीयान् महिमा मनस्यभिनवः पुंसः प्रकाशात्मनः ॥
तृप्तिं यत्परमां तनोति विषयास्वादं विना शाश्वतीं।
धामानन्दसुधामयोर्जितवपुस्तत्प्रातिभं संस्तुमः ॥

'जिसके सम्मुख आते ही प्रकाशात्मक पुरुष की अभिनव महिमा मन के बीच रुचिर रूप में उल्लसित हो उठती है, तथा जो विषयास्वाद के बिना ही शाश्वत एवं परम तृप्ति प्रदान करती है; तेज और आनन्द की सुधा से संवलित उस प्रातिभ देह की मैं वन्दना करता हूँ।

पिछली कारिकाओं में शब्दब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करने के अनन्तर प्रस्तुत कारिका में उसकी प्राप्ति का उपाय और प्रतिमा वेद है, इस बात की चर्चा करते हुए कहते हैं—

प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदो महर्षिभिः।
एकोऽप्यनेकवर्त्मेव समाम्नातः पृथक् पृथक् ॥ ५ ॥

अनुकार – अनुकरण (वेद-अध्ययन के दौरान)

तस्य प्राप्त्युपायः, अनुकारश्च वेदः महर्षिभिः एकः अपि अनेकवर्त्मा इव पृथक् पृथक् समाम्नातः ।

उस शब्दब्रह्म की प्राप्ति का उपाय और उसका प्रतिबिम्बरूप चतुष्पाद वेद एक होता हुआ भी महर्षियों के द्वारा अनेक मार्गों—भेदों (ऋक्, यजुः आदि भेदों) को प्राप्त हुआ-सा चरण-भेद से पृथक् पृथक् पठित हुआ ।

वृत्तिः—ममाहमित्यहङ्कारग्रन्थिसमतिक्रममात्रं ब्रह्मणः प्राप्तिः । विकाराणां प्रकृतिभावापत्तिरित्यपरे । वैकरण्यम्, असाधना परितृप्तिः, आत्मतत्त्वम्, आत्मकामत्वम्, अनागन्तुकार्थत्वम्, परिपूर्णशक्तित्वम्, कालवृत्तीनामात्ममात्रास्वसमावेशः, सर्वात्मना नैरात्म्यम् इति प्राप्तिविकल्पाः ।

मेरा और मैं इस प्रकार की जो भेदवादी संकुचित अहङ्कार की ग्रन्थि है, उसका उन्मोचन ही ब्रह्म की प्राप्ति है—यह एक मत है ।

श्रीवृषभाचार्य का कथन है कि जब चेतन की मम और अहं रूप अहङ्कार ग्रन्थि का विवर्तन होता है तब अहम्प्रत्यय होता है और इस प्रकार के प्रत्यय के ज्ञान के अनन्तर मम प्रत्यय होता है तथा इन्हीं दोनों प्रत्ययों से संसार की उत्पत्ति होती है । आगे चलकर वे कहते हैं—'मौलस्य हेतोरहङ्कारस्य यः समतिक्रमः अतिवृत्तिः सा ब्रह्मणः प्राप्तिः ।' मौल[1] हेतु अहङ्कार का अतिक्रमण ब्रह्म की प्राप्ति है । मूलप्रकृति से जन्य हेतुभूत जो अहङ्कार या अस्मिता है, वही दृक् शक्ति–पुरुष और दर्शन शक्ति–व्यष्टि-प्रकृति की एकाकारता रूप ग्रन्थि है । इस गाँठ का खुलना ही मोक्ष है । 'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ।' (योगसूत्र १।६)

आचार्य सूर्यनारायण शुक्ल ने पञ्चदशी के चित्रदीप प्रकरण में निरूपित अहङ्कार और चिदात्मा के तादात्म्याध्यास को ग्रन्थि कहा है । वहाँ काम या इच्छाओं को ग्रन्थि स्वरूप माना है—'कामा ग्रन्थिस्वरूपेण व्याख्याता वाक्यशेषतः' । पञ्चदशी, प्र० ६ श्लो० ६० ।

मुमुक्षु व्यक्ति के हृदय में विद्यमान तादात्म्याध्यासमूलक जो काम या इच्छाएँ हैं, तत्त्वज्ञान के द्वारा अध्यास की निवृत्ति से जब उनका निवर्तन हो जाता है तब—'अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते ।' इस श्रुति के अनुसार मर्त्य अमृत बनकर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ।

वृत्तिगत मात्र शब्द का तात्पर्य यह है—जब योगी चिदात्मा को अहङ्कार से विविक्त कर लेता है, उस दशा में अहङ्कार को अपने से पृथक् देखता हुआ करोड़ों वस्तुओं की इच्छा करते हुए भी ग्रन्थि-भेदन के कारण उनसे बाधित नहीं होता ।

---

१. ये तत्र पूर्वं सामन्ताः पश्चाद्देशान्तरं गताः ।
तन्मूलत्वात्तु ते मौला ऋषिभिः परिकीर्तिताः ॥ —मिताक्षरा ।

मूलप्रकृति में रहकर पुनः जीवों में जाकर उनके बन्धन का कारण बनता है । अतः अहङ्कार मौल हेतु है ।

अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक् पश्यन्नहङ्कृतिम् ।
इच्छँस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रन्थिभेदतः ॥ ६२ ॥

—पञ्चदशी, चित्रदीपप्र०

श्रीवृषभाचार्य ने भी कहा है—'मात्रग्रहणं तदन्यमात्राणामप्यनिवृत्तावपि येन विरहिता मुक्ताः । मात्र ग्रहण का तात्पर्य है 'उससे भिन्न मात्राओं—विषयों की निवृत्ति न होने पर भी अहङ्कारग्रन्थि मात्र से रहित दशा में लोग मुक्त ही हैं ।'

ब्रह्म-प्राप्ति का द्वितीय विकल्प—

रूपादिक विकारों–कार्यों का अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाना ही ब्रह्म की प्राप्ति है । भेदों के अनुकरण की निवृत्ति के अनन्तर एक अभिन्न ब्रह्म ही शेष रहता है, अतः उसी स्वरूप में योगी वर्तमान होता है । पहले विकल्प में मात्राओं के रहते हुए भी मुक्ति होती है । यह वैशिष्टय है ।

तृतीय विकल्प—

वैकरण्य—शरीर तथा इन्द्रियों के रहते हुए भी निरतिशय ऐश्वर्य की उपलब्धि ही वैकरण्य है—'सम्भृतकायेन्द्रियस्यापि निरतिशयैश्वर्यसम्बन्धित्वं वैकरण्यम् ।

—गणकारिका की रत्न टीका भा(व)सर्वज्ञ कृता ।

इसके अतिरिक्त पाशुपतसूत्र में कहा है—'विकिरणः' ॥ २५ ॥ प्रथम अध्याय
विशिष्टत्वाद् ग्राहकत्वात् सूक्ष्मत्वाच्च करणानाम् । तस्माद्विकरण इति कैवल्यम् ।

—पञ्चार्थभाष्य, कौण्डिन्यकृत

श्रीवृषभाचार्य का व्याख्यान है कि चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियाँ और पाण्यादि कर्मेन्द्रियाँ तथा बुद्धि और मन इन करणों की निवृत्ति ही वैकरण्य है । रूपादि का दर्शनादि व्यवसाय नेत्रादि करणों से सम्पन्न होता है । और इस व्यवसाय के साथ अनेक प्रकार की कामनाएँ उद्भूत होती हैं; इसी से संसार है । अतःकरणों की निवृत्ति से संसार की निवृत्ति हो जाती है ।

चतुर्थ विकल्प—

असाधना परितृप्ति—हेलाराज ने तृतीय काण्ड की व्याख्या के मङ्गलाचरण में कहा है—'तृप्ति यत्परमां तनोति विषयास्वादं विना शाश्वतीम् ।'

व्यक्ति के हृदय में जब जप के द्वारा श्रेष्ठ प्रतिभा का उद्भव होता है तब विषय-रूप साधनों के आस्वाद के विना ही शाश्वत परम तृप्ति उपलब्ध होती है । यही ब्रह्म की प्राप्ति है । प्रकाश या स्फोट रूप शब्दब्रह्म की महिमा का तब अधिक निकट से अनुभव होता है ।

श्रीवृषभ कहते हैं—अबहिः साधना अर्थात् बाह्य साधनों के न रहते हुए भी तृप्ति, सुख या आनन्द की उपलब्ध होती है ।

पञ्चम विकल्प—

आत्मतत्त्व—आत्मरूपता की उपलब्धि। श्रीवृषभ यहाँ प्रस्तुत उपनिषद् वाक्य उद्धृत करते है—'यथेष्टया स्त्रिया परिष्वक्तो न किञ्चन वेद।' बृ० उ० ४।३।२१। वस्तुतः बृहदारण्यक उपनिषद् के इस स्थल पर सुषुप्ति का वर्णन किया गया है। यथा—जैसे अपनी प्रिय स्त्री से समालिङ्गित पुरुष अपने से बाहर 'मुझसे भिन्न कोई भी वस्तु है' ऐसा नहीं जानता और भीतर ही यह 'मैं सुखी अथवा दुःखी हूँ' ऐसा ही जानता है। आलिङ्गन के अवसर पर तो एकाकारता होने से वह कुछ नहीं जानता। इसी प्रकार सुषुप्ति दशा में यह जीव अपने स्वाभाविक परमार्थस्वरूप पर ज्योति 'प्राज्ञ' से परिष्वक्त होकर बाह्य और आन्तर पदार्थ को नहीं जानता, यही इसकी आप्तकामता, अकामता और शोकशून्यता है।

यह तो मुक्तिदशा नहीं है, फिर कैसे श्रीवृषभाचार्य ने इस दृष्टान्त को यहाँ प्रस्तुत किया है? वस्तुतः भगवान् शङ्कराचार्य ने, मुक्तिदशा का प्रत्यक्ष निर्देश करने के लिए यह दृष्टान्त उपनिषद् में निरूपित हुआ है, ऐसा कहा है—

'इदानीं योऽसौ सर्वात्मभावो मोक्षो विद्याफलं क्रियाकारकफलशून्यं, स प्रत्यक्षतो निर्दिश्यते, यत्राविद्याकामकर्माणि न सन्ति। तदेतत् प्रस्तुतम्—'यत्र न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति।'

यह सुषुप्तिदशा मुक्तिदशा की निदर्शिका मात्र है।

वस्तुतः आत्मरूप की उपलब्धि के अनन्तर आप्तकामता स्वतः आ जाती है। मुक्तिदशा में सर्वैकता या अद्वैतता सम्पन्न होती है, तब आत्मा अपने से अतिरिक्त शब्दादिकों के न होने से उनकी क्या कामना करेगा? अतः विषयों के प्रति उसका औत्सुक्य विगमन सुतरां सिद्ध है। श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—

यस्मादेवं सर्वैकत्वमेवास्य रूपमतस्तद्वा अस्यात्मनः स्वयंज्योतिःस्वभावस्यैतद्रूपमाप्तकामम्। यस्मात् समस्तमेतत् तस्मादाप्ताः कामाः अस्मिन् रूपे तदिदमाप्तकामम्। मुक्त्यवस्था में आत्मा स्वयं ज्योतिःस्वरूप एवं समस्त होता है, अतः उसे समस्त काम प्राप्त रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि आप्तकामता आत्मरूपता से अतिरिक्त नहीं। इसी प्रकार अनागन्तुकार्थत्व भी कोई नया मुक्ति-विकल्प नहीं। मुक्तिदशा में स्वयं ज्योति आत्मा के असङ्ग होने से उसमें अविद्या काम और कर्म नहीं रहते, क्योंकि ये आगन्तुक हैं, अतः उस अवस्था आत्मा का अनागन्तुकार्थत्व भी स्पष्ट है।

'प्रकृतः स्वयंज्योतिरात्मा अविद्याकामकर्मविनिर्मुक्त इत्युक्तम्, असङ्गत्वादात्मनः, आगन्तुकत्वाच्च तेषाम्।' —शाङ्करभाष्य (बृ० उ०)

श्रीवृषभ कहते हैं—आगन्तुक भिन्न-भिन्न विषयों की कामना करने वाला आगन्तुकार्थ है और इससे विपरीत अनागन्तुकार्थ। प्रकृति पुरुषान्यता ख्याति के अनन्तर भोक्तव्य विषयों के मुक्त हो जाने पर पुनः पुरुष भोगों को नहीं चाहता।

इससे एवं अन्य व्याख्यानों से श्रीवृषभ का विशेष रूप से सांख्यवाद की ओर झुकाव प्रतीत होता है।

इसी प्रकार परिपूर्णशक्तित्व भी आत्मरूपता के अन्तर्गत है। इसके अतिरिक्त योगी विशेष संयम के द्वारा अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व इन अष्टैश्वर्य योग की उपलब्धि से अपने को मुक्त माने तो यह मुक्तिप्राप्ति का छठा विकल्प होगा।

सप्तम विकल्प—

प्रतिबन्ध और अनुज्ञात्मक काल की दोनों वृत्तियों का परमात्मा के विवर्तरूप मात्राओं—कारणशक्तियों से सम्बन्ध न हो तो मुक्ति सिद्ध है। श्रीवृषभ ने व्याख्या की है—'कालस्य प्रतिबन्धानुज्ञालक्षणा वृत्तयः, ता यदा न समाविशन्ति तदा मुक्त इत्युच्यते। समावेशस्तदनुग्रहः। आत्ममात्रासु—परमात्मनो या मात्राः कर्मात्मरूपाः तासु। ते हि कर्मात्मानः कालेनानुगृहीताः प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां प्रवर्तन्ते।' परमात्मा की मात्राएँ हैं; कर्मात्मा स्वरूप जीव इनमें यदि कालव्यापार न चले तो मोक्ष ही है।

अष्टम विकल्प—

सर्वात्मना नैरात्म्य अर्थात् ब्रह्म स्वभाव का निरूपण अशक्य है, अतः नैः स्वाभाव्य या नैरात्म्यभाव की प्राप्ति ही मुक्ति है। वस्तुतः ब्रह्म का संवर्त रूप वाणी का विषय नहीं है। ब्रह्म या तत्त्व में रूप के न होने से तथा ग्राह्य-ग्राहक भेद के अभाव से उसे सर्वात्मना नैरात्म्य के रूप में देखा जा सकता है। जो लोग इसे माध्यमिकों (बौद्धों) का सिद्धान्त मानते हैं, उन्हें यह सोचना चाहिए कि वेद के अनुसार ब्रह्म की प्राप्ति का यहाँ निरूपण किया जा रहा है, निर्वाण (आत्मा का बुझ जाना—सर्वथा अभाव) का नहीं।

ये ब्रह्मप्राप्ति के विकल्प या मतान्तर हैं। श्रीवृषभ ने कहा है—प्राप्तिविकल्पाः–प्राप्ति विकाराः।

वृत्तिः—प्राप्त्युपायो ब्रह्मराशिः। यथाभ्युदयस्य दानतपोब्रह्मचर्यादिः। एवं ह्याहः—

'वेदाभ्यासात् परमान्तरं शुक्लमजरं ज्योतिरस्मिन्नेवापारे तमसि वीते विवर्तते।' इति। अनुकार इति। यां सूक्ष्मां नित्यामतीन्द्रियां वाचमृषयः साक्षात्कृतधर्माणो मन्त्रदृशः पश्यन्ति तामसाक्षात्कृतधर्मभ्योऽपरेभ्यः प्रवेदयिष्यमाणा बिल्मं समामनन्ति स्वप्नवृत्तमिव दृष्टश्रुतानुभूतमाचिख्यासन्त इत्येष पुराकल्पः।

आह खल्वपि—'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽपरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः, उपदेशाय ग्लायन्तोऽपरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं वेदाङ्गानि च। बिल्मं भिल्मं भासनं वा।'

प्राप्ति का उपाय ब्रह्मराशि या वेद है। वेद से तात्पर्य है—चतुष्पाद एक वेद। ब्रह्मराशि शब्द महाभाष्य में 'वर्णमाला' के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। यथा—

'सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्च चन्द्रतारकवत्प्रतिमण्डितः ब्रह्मराशिरिति।' यह पाठ महाभाष्यदीपिका का है। इस पर व्याख्या करते हुए भगवान् भर्तृहरि कहते हैं—

'यथैव संहृतक्रमो ब्रह्मराशिरिति प्रतिपुरुषं व्यवस्थित एवमयं प्रत्याहारः शक्यं वक्तुम्। विज्ञानब्रह्मवदुपसंहृतो ब्रह्मणा।' —महाभाष्यदीपिका

जैसे प्रत्येक पुरुष के हृदयदेश में संहृतक्रम वर्णमाला विद्यमान रहती है, वैसे ही प्रत्याहार को भी कहा जा सकता है। जैसे विज्ञानब्रह्म या स्वप्नविज्ञानपुरुष अपने से ही अनन्त जगज्जाल का स्वप्नावस्था में निर्माण करता है और पुनः समेट लेता है, वैसे ही यह ब्रह्मराशि भी ब्रह्मा के द्वारा उपसंहृत होकर प्रति पुरुष प्रतिष्ठित रहती है। 'उपसम्भृतो' पाठ मानने से अर्थ इस प्रकार होगा—

स्वप्नविज्ञान ब्रह्म के सदृश विधाता द्वारा प्रत्याहृत—संहृत वर्णमाला का बाह्यरूप में उपसम्भरण—प्रसार किया जाता है।

ब्रह्मराशि पर कैयट ने कहा है—

'ब्रह्मतत्त्वमेव शब्दरूपतया प्रातिभातीत्यर्थः।'

ब्रह्मतत्त्व ही वर्णमालात्मक शब्दरूप में प्रकाशित होता है।

जैसे अभ्युदय की प्राप्ति का उपाय दान, तप, ब्रह्मचर्य एवं जप है, वैसे ही ब्रह्मराशि ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय है। श्रीवृषभ ने अभ्युदय का अर्थ 'स्वर्ग' किया है।

इस प्रकार कहा भी है—'वेद-मन्त्र'[1] के अभ्यास-जप द्वारा जब प्रत्यक्ष अपार तम—अविद्या या अज्ञान दूर हो जाता है, तब आन्तर परमोज्ज्वल अजर ज्योति प्रकाशित हो उठती है। श्रीवृषभ अपनी व्याख्या के अनन्तर एतत्परक एक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—'एतदाह—अविद्यायां विगतायां स प्रकाशो विवर्तत' इति।

आगे चलकर कारिकाकार ने भी कहा है—

'प्रत्यस्तमितभेदाया यद्वाचो रूपमुत्तमम्।
यदस्मिन्नेव तमसि ज्योतिःशुद्धं विवर्तते॥ १८॥

सम्पूर्ण भेदों—गो-घटादि तथा अकारादि क्रमों के अस्त हो जाने पर वाणी का जो संवर्तात्मक उत्तम रूप शब्दब्रह्म है, तथा अविद्याकल्पित शब्दार्थात्मक जगत् के रूप में जो शुद्ध ज्योति विवर्त को प्राप्त होती है (उसकी प्राप्ति व्याकरणशास्त्र में होती है)।

यह संहितात्मक एक वेद शब्दब्रह्म का अनुकरण प्रतिच्छन्दक या प्रतिबिम्ब है। शान्तरक्षित की 'ब्रह्म शब्दमयं परम्' इस कारिका की व्याख्या में कमलशील लिखते

---

१. श्रीवृषभ—वेदाभ्यासादिति। वरम् उत्तमम्। आन्तरमिति बाह्यज्योतिषोऽवच्छेदः। शुक्लम्—परिशुद्धम् सत्यवस्तुप्रकाशनात्। अजरम् अविकारि। ज्योतिः-प्रकाशस्वभावत्वात्। अस्मिन्नेवेति नान्यस्मिन् जन्मनि। अपारे इति। अविद्वद्भिः पारयितुमशक्यत्वात्। तमसि इत्यविद्यायायाम्।

हैं—'परमिति प्रणवात्मकम्। प्रणवो हि किल सर्वेषां शब्दानां चार्थानां प्रकृतिः स च वेदः। अयं तु वर्णपदक्रमेणावस्थितो वेदस्तदधिगमोपायः तस्य प्रतिच्छन्दकन्यायेनाव-स्थितः।'

प्रणव ही शब्दब्रह्म है, वही सम्पूर्ण शब्दों और अर्थों की प्रकृति है और वही वेद है। यह वर्णों एवं पदों के क्रम से समन्वित वेद प्रणवात्मक वेद की प्राप्ति का उपाय है। उस प्रणव के प्रतिच्छन्दक या प्रतिमा के रूप में विद्यमान है।

भगवान् भर्तृहरि ने 'विधातुस्तस्य लोकानां–' इस कारिका की वृत्ति में कहा है—'प्रणव[1] एव वेद इत्येके। स हि सर्वशब्दार्थप्रकृतिः।'

कुछ लोग मानते हैं कि प्रणव ही वेद है और वह समस्त शब्दों और अर्थों की प्रकृति है।

दूसरों का मत है—'विधिर्विधेयः तर्कश्च वेदः।' श्रीवृषभ इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—'विध्यादीनपरे वेदमाहुः। विधिः ब्राह्मणम्। विधेयो मन्त्रः। तर्क इति मीमांसा।'

तैत्तिरीय उपनिषद् के अष्टम अनुवाक में पठित है—'ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्। ओमित्येतदनुकृतिः।'

भगवान् शङ्कराचार्य ने 'अनुकृतिः' का अर्थ अनुमोदन किया है।

महाभाष्यदीपिका में भगवान् भर्तृहरि ने एक आगम का उद्धरण प्रस्तुत किया है—

'नित्यः पृथिवीधातुः। पृथिवीधातौ किं सत्यम्? विकल्पः। विकल्पे किं सत्यम्? ज्ञानम्। ज्ञाने किं सत्यम्? ओम्। अथ तद् ब्रह्म।' इसके अनन्तर आचार्य कहते हैं—'तदेतदुक्तं भवति—अतः परं शब्दार्थव्यवहारो निवर्तते, व्यवहारातीतोऽयमर्थ इति।'

तात्पर्य यह है कि ओङ्कार ही ब्रह्म है, इससे परे शब्द या अर्थ का व्यवहार नहीं है; यह 'ओम्' ही व्यवहारातीत पदार्थ या द्रव्य है।

अनुकार या उपाय भी, प्रणव और उपेय भी—यह किस प्रकार? यद्यपि सूत-संहिताकार ने [2]पर और अपर प्रणव स्वीकार किया है। तो भी दोनों में शब्दरूपता है, ऐसा नहीं प्रतीत होता है। यथा—

परः परतरं ब्रह्मप्रज्ञानन्दादिलक्षणम्।
प्रकर्षेण नवं यस्मात्परब्रह्म स्वभावतः॥
अपरः प्रणवः साक्षाच्छब्दरूपः सुनिर्मलः।
प्रकर्षेण नवत्वस्य हेतुत्वात्प्रणवः स्मृतः॥

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् (५।१) में प्रणव या ओङ्कार को वेद कहा गया है—'ॐ खं ब्रह्म। खं पुराणं वायुरं खमिति ह स्माह कौरव्यायणीपुत्रः, वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद् वेदितव्यम्।'

२. 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः।' —प्रश्नोपनिषद् (५।२)

परब्रह्म ज्ञान, आनन्द और सद्रूप है तथा वह प्रकृष्ट रूप से नवीन है। अपर-ब्रह्म निर्मल शब्दस्वरूप है और प्रकृष्ट नवीनता का हेतु है।

आचार्य सूर्यनारायण शुक्ल ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है—

अविवृत्त प्रणव ही परप्रणव है और विवर्तावस्था अपर। अपरप्रणव रूप वेद परप्रणव की प्राप्ति का उपाय है।

'एवं च अपरप्रणवरूपो वेदः परब्रह्मणः प्राप्त्युपायः तत्कार्यत्वात् कार्यकारणयोर-भेदात्।'
—भावप्रदीप

वृत्तिकार अनुकार की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—जिस अतीन्द्रिय नित्य सूक्ष्म वाग्ब्रह्म को साक्षात्कृतधर्मा मन्त्रदृष्टा ऋषि देखते हैं, उस वाग्ब्रह्म को धर्म का साक्षात्कार न करने वाले दूसरे श्रुतर्षियों को समझाने की इच्छा से प्रतिबिम्ब या स्पष्ट रूप में, जैसे कोई स्वप्न के वृत्तान्त को जिस प्रकार देखा-सुना या अनुभव किया है उसे कहे, वैसे ही कहते हैं—यह पुराकल्प है।

श्री मण्डन मिश्र ने सम्भवतः इसी को दृष्टि में रखते हुए कहा है—'अपर-प्रदर्शितविषयास्तु परमर्षयः साक्षात्कृतधर्माणोऽव्याहतान्तःप्रकाशाः विधूतविपर्यासक्रमं च वाक्तत्त्वं प्रतिपेदिरे प्रतिपादयामासुरिति च प्रतिज्ञायते।'

—स्फोटसिद्धि, श्लोक २१ की व्याख्या।

स्वतः ज्ञानवान्—परमर्षि, जिन्होंने अभ्युदय और निःश्रेयस साधन धर्म का साक्षात्कार कर लिया था। अव्याहत—बाधाहीन अन्तःप्रकाश से सम्पन्न होकर विपर्यास एवं क्रमहीन वाक्तत्त्व को प्राप्त करके उसे दूसरों को प्रदान किया।

श्रीवृषभाचार्य वृत्ति का अर्थ इस प्रकार करते हैं—'सूक्ष्मा वाग् ब्रह्मैवोपसंहृत-भेदत्वात्'। शब्दब्रह्म ही सूक्ष्मावाक् है। वह अतीन्द्रिय होने के कारण सूक्ष्मा कही जाती है। वह नित्य अर्थात् उदय और व्यय से रहित है। 'अभ्युदयनिःश्रेयससाधनो धर्मः यैः साक्षात् कृतः प्राप्तः ते धर्मानुगृहीतान्तःकरणाः तां वाचं पश्यन्ति च।'

बिल्म का अर्थ प्रतिच्छन्दक या प्रतिबिम्ब है, जिसे वेदाङ्ग कहा जाता है। स्वप्न में इन्द्रियव्यापार के बिना ही बाह्य तत्त्व से रहित रूपादिकों का अनुभव होता है, उन्हें उसी रूप में नहीं कहा जा सकता। अतः बाह्य रूप में इन्द्रिय द्वारा उनका कथन प्रतिच्छन्दक ही है। पुराकल्प अर्थात् अर्थवाद—श्रीवृषभ।

आगमान्तर निरुक्त में भी कहा है—विशेष तप द्वारा धर्म का साक्षात्कार करने वाले ऋषि हुए। उन्होंने श्रुतर्षियों को जो उनसे अवरकालीन थे और धर्म का साक्षात्कार नहीं कर सके थे, उपदेश द्वारा मन्त्र प्रदान किया। उन्होंने—जो दूसरों को उपदेश देने के लिए खिन्न थे—व्यस्त रूप में ग्रहण करने के लिए 'गो' शब्द से लेकर 'देवपत्नी' शब्दपर्यन्त इस निघण्टु ग्रन्थ का पाठ किया। तथा एक ही वेद को जो अत्यन्त महान् और दुरध्येय था, अनेक शाखा-भेद से पाठ किया तथा वेदाङ्गों का भी भेदपूर्वक ग्रहणार्थ पाठ किया। बिल्म का अर्थ है भिल्म—वेदों का भेदन या

व्यास। अथवा भासन या वेदार्थ-प्रकाशन बिल्म का अर्थ है। यह दुर्गाचार्य-सम्मत अर्थ है। उन्होंने यह भी कहा है कि यहाँ कर्मफल का दर्शन औपचारिक है। धर्म का दर्शन नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म अत्यन्त अपूर्व है।

श्रीवृषभ बिल्म का अर्थ प्रतिच्छन्दक अर्थात् वेदाङ्ग करते हैं। तथा 'इमं ग्रन्थं' से वेद और वेदाङ्ग का निर्देश हुआ है, ऐसा मानते हैं।

स्फोटसिद्धि में उद्धृत इस सन्दर्भ के धर्म शब्द का गोपालिका टीकाकार ऋषिपुत्र परमेश्वर ने अर्थ किया है—"अपि च श्रेयः साधनं धर्मः तत्र मन्त्रोऽप्यन्तर्गत इति मन्त्रभागः साक्षात्कृतो धर्मतयैव, ब्राह्मणभागोऽपि 'यद्ब्राह्मणानि' इति ब्रह्मयज्ञशेषतया विनियुक्तत्वाद्धर्म एवेति तस्यापि धर्मतयैव साक्षात्करणम्। कल्पसूत्रयोरितिहासपुराणयोश्च ब्रह्मयज्ञशेषताः, 'ब्राह्मणेन निष्कारणः षडङ्गो वेदोऽध्येयः' इति अङ्गानामस्ति धर्मशेषता। तथा लौकिकशब्दस्यापि 'शास्त्रेण धर्मनियमः' इति स्थित्या धर्मत्वमस्त्येव।"

श्रेय का साधन धर्म है; मन्त्र, ब्राह्मण, कल्पसूत्र, इतिहास, पुराण और वेदाङ्ग भी धर्म ही हैं। अतः धर्मरूप से ही इनका साक्षात्कार ऋषियों ने किया था। भगवान् भर्तृहरि कृत महाभाष्यदीपिका में यह पाठ है—'ब्राह्मणेन निष्कारणः धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयः'।

'स्फोटसिद्धि' में 'बिम्म' पाठ है। 'गोपालिका' में निरुक्तवार्तिक का प्रस्तुत उद्धरण मिलता है—

> बिम्मं भिम्ममिति त्वाह विभर्त्यर्थविवक्षया।
> उपायो हि विभर्त्यर्थमुपेयं वेदगोचरम्॥
> अथवा भासनं बिम्मं भासतेर्दीप्तिकर्मणः।
> अभ्यासेन हि वेदार्थो भास्यते दीप्यते स्फुटम्॥

वेद की उपलब्धि में ऋषियों की तीन कोटियाँ बतलाई गई हैं—

> प्रथमाः प्रतिभानेन द्वितीयास्तूपदेशतः।
> अभ्यासेन तृतीयास्तु वेदार्थं प्रतिपेदिरे॥

प्रथम अर्थात् महर्षिगण प्रतिभा द्वारा वेद और उसके अर्थ की उपलब्धि करते हैं। ब्राह्मणग्रन्थ में भी कहा है—'तद्यदेनांस्तपस्यामानान् ब्रह्म स्वयम्भु अभ्यानर्षत् तदृषीणां ऋषित्वमिति विज्ञायते।'

जब ये लोग तपस्या कर रहे थे तो इनके हृदयदेश में स्वयम्भू ब्रह्म (शब्दब्रह्म) का आविर्भाव हुआ और तभी ये ऋषि कहलाये। दुर्गाचार्य ने स्वयम्भू ब्रह्म का 'ऋग्यजुःसामाख्य' अर्थ किया है।

द्वितीय श्रुतर्षियों ने उपदेश द्वारा और तीसरी कोटि के ऋषियों ने अभ्यास द्वारा वेदार्थ को उपलब्ध किया।

वृत्तिः—तस्य वेदो महर्षिभिः, एकोऽप्यनेकवर्त्मेव । एकोऽयं वेदाख्यो दर्शनात्मनि स्थितो दृश्योऽर्थः स महर्षिभिर्भेदेनाभेदस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वादभिव्यक्तिनिमित्ताल्लब्धक्रमे वागात्मरूपे प्रापितः, एकत्वानतिक्रमेण संहितापदक्रमविभागेन प्रविभक्तमार्गोऽध्ययननिमित्तमध्येतृणां चरणसमाख्यां व्यवस्थापयद्भिः समाम्नातः ।

'उसकी प्राप्ति का उपाय और प्रतिबिम्ब रूप एक ही वेद महर्षियों के द्वारा अनेक भेदों को प्राप्त हुआ-सा पढ़ा गया'—इस प्रतीक को लेकर वृत्तिकार व्याख्या करते हैं—

दर्शनात्मनि[1] अर्थात् बुद्धि में स्थित, एक यह वेदाख्य दृश्यरूप जो अर्थ था, वह अभेद का प्रतिपादन शक्य न होने के कारण महर्षियों के द्वारा भेदपूर्वक स्थान और करणों के अभिघात रूप अभिव्यक्ति के निमित्त से क्रमरूप, प्रविभक्त अक्षरात्मक, वैखरी वाणी में समारोपित हुआ । तदनन्तर अध्येताओं के अध्ययन के निमित्त चरण नामक संस्था की स्थापना करने वाले उन्हीं महर्षियों के द्वारा वेद के एकत्व का अतिक्रमण किये बिना ही संहितापाठ, पदपाठ और क्रमपाठ रूप विभाग से प्रविभक्त मार्गों वाले वेद का प्रवचन किया गया ।

भगवान् भर्तृहरि यहाँ वेद की चरण नामक समाख्या या संस्था की चर्चा करते हैं । चरण और शाखा एक नहीं है । एक चरण की अनेक अवान्तर शाखाएँ होती हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि चतुष्पाद वेद के एक-एक पाद को लेकर अध्येताओं के स्वाध्यायार्थ पाद या चरण नामक पृथक् संस्था का निर्माण हुआ होगा और आचार्यों के प्रवचन एवं व्याख्यान द्वारा पाठभेद सम्पन्न होने पर एक ही चरण की भिन्न-भिन्न शाखाएँ निर्मित हुई होंगी । प्रमाणस्वरूप भोजवर्मा (विक्रम की १२वीं शती) का ताम्रपत्र द्रष्टव्य है—

[2]'जमदग्निप्रवराय वाजसनेयचरणाय यजुर्वेदकण्वशाखाध्यायिने—।'

जमदग्नि प्रवर, वाजसनेय चरण एवं यजुर्वेद की कण्वशाखाध्यायी के लिए ।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि चरण और शाखा एकार्थक नहीं है । मूल वाजसनेयी याजुष संहिता रूप वाजसनेय चरण के अन्तर्गत माध्यन्दिन, कण्व, गालव आदि प्रोक्त भिन्न-भिन्न १५ शाखाएँ आ जाती है ।

---

१. विशिष्टरचनावतः एव वेदस्येश्वरबुद्धौ दर्शनात्मनि सदावस्थितत्वमिति स्मृतिवद्यथाकालं मन्वादिवदस्य रचनाकर्तापि नास्तीत्युक्तं ब्रह्मकाण्डे—'अनादिमव्यवच्छिन्ना'—जातिस०, कारि० ४६, हेलाराज ।

२. द्रष्टव्य—वैदिकवाङ्मय का इतिहास, प्रथम भाग, एकादश अध्याय—श्री भगवद्दत्त ।

महाभारत-शान्तिपर्व,[1] अध्याय १७१ में गौतम नामक ब्राह्मण के कथानक से सम्बद्ध एक श्लोक आता है—

पृष्टश्च गोत्रचरणं स्वाध्यायं ब्रह्मचारिकम् ।
न तत्र व्याजहारान्यद् गोत्रमात्रादृते द्विजः ।। २ ।।

राक्षसराज ने गौतम से उसका गोत्र, चरण, स्वाध्याय या शाखा और ब्रह्मचारिक अर्थात् गुरुकुल के सम्बन्ध में पूछा । किन्तु वह द्विज गोत्र के अतिरिक्त और कुछ न बता सका ।

यास्क ने निरुक्त में कहा है—

'पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि ।'

समस्त चरणों के पार्षद—प्रातिशाख्य पदप्रकृतिक हैं । अर्थात् वस्तुतः संहिता प्रकृति या मूल है और पद विकृति हैं, किन्तु प्रातिशाख्यों में पद को व्याख्या के लिए प्रकृति माना जाता है । यहाँ 'सर्वचरणानां' का अर्थ दुर्गाचार्य ने 'सर्वशाखान्तराणाम्' किया है ।

श्रीवृषभ 'प्रविभक्तमार्गः' का अर्थ 'सामवेदादिमार्गभेदेन' ऐसा करते हैं । इससे चरण का अर्थ मूल ऋगादि संहिता ही जान पड़ता है । वृत्तिकार ने यहाँ वेद की एकता और अनेकता के सम्बन्ध में एक मत को स्पष्ट किया है—बुद्धिस्थ वेद एक है और संहिता, पद और क्रम पाठ भेद से अनेक ।

वृत्तिः—अपर आह—यथा वाग्देशभेदेन भिन्ना सत्यपि स्वरूपभेदे एकाभिधेयनिबन्धनत्वमव्यतिक्रान्ता । सैव च देशादिभेदप्रकल्पनव्यवस्थाहेतुः । एवं चरणभेदेऽप्येकार्थनिबन्धनत्वमव्यतिक्रान्तानि श्रुतिवाक्यानि । स्वरूपभेद एव चरणभेदप्रकल्पनव्यवस्थाहेतुरिति । अपरे मन्यन्ते—यथाष्टाङ्ग आयुर्वेदः पुराकल्प एक एवासीत् स एव हि कलौ शक्तिवैकल्यान्नृणां प्रविभक्ताङ्गो दृश्यते । तथायमप्यपरिमाणमार्गशक्तिभेदो वेदो ब्रह्मराशिरिति ।। ५ ।।

वेद की एकता और अनेकता के सम्बन्ध में अन्य मत का उल्लेख करते हुए भगवान् भर्तृहरि कहते हैं—दूसरे लोगों का व्याख्यान है कि जैसे एक वाक् या वाचक शब्द देश-भेद से भिन्न होता हुआ स्वरूपतः भिन्न हो जाता है, किन्तु उसका वाच्यार्थ एक ही रहता है, इस प्रकार उसकी एकता का अतिक्रमण नहीं होता । उत्तर भारत में 'ऋषि' का उच्चारण 'रिषि' होता है और महाराष्ट्रदेशीय इसी का उच्चारण 'रुषि' इस प्रकार करते हैं । उभयत्र वाच्यार्थ एक ही है । ज्ञान का उच्चारण कुछ लोग आजकल ज्ञान करते हैं, अन्य जन ग्याँन तथा अन्य प्रदेशीय 'द्याँन' ऐसा करते हैं किन्तु अर्थ एक ही होता है । यह वाक् या वाचक शब्द देश और काल-भेद की

---

१. गीता प्रेस का संस्करण ।

कल्पना का कारण है। इसी प्रकार चरणभेद होने पर भी श्रुतिवाक्य एक अर्थ को नहीं छोड़ते। यहाँ भी स्वरूपभेद ही चरणभेद की कल्पना का विधान करता है।

कुछ लोग वाग्भेद का अर्थ भाषाभेद करते हैं, यह उचित नहीं। श्री वृषभ कहते हैं—

'प्रतिदेशमेकस्यैव वाचकस्य भेदः।' एक ही वाचकशब्द का देश-भेद से भेद देखा जाता है। उन्होंने इसका कोई उदाहरण नहीं दिया है। आगे चलकर वे कहते हैं—'आदिशब्देन कालभेदः। यथा न्याङ्क्व-नैयङ्क्वशब्दावर्थाभेदे स्वरूपभेदात्साधुत्वे कालभेदं गणयतः।' मूलवृत्ति के 'देशादिभेद—' इस सन्दर्भ में 'आदि' शब्द पठित है, जिसका अर्थ है—कालभेद। जैसे न्याङ्क्व और नैयङ्क्व दोनों का अर्थ एक ही है, किन्तु वे स्वरूपतः भिन्न हैं। इनकी साधुता कालभेद से जानी जाती है। कभी न्याङ्क्व साधु था, पुनः आगे चलकर नैयङ्क्व की साधुता स्वीकृत हो गई। इस प्रकार एक ही वाक् भिन्न होकर देश और काल-भेद की कल्पना करती है। जैसे ये दाक्षिणात्य हैं, ये गौड़ हैं इत्यादि।

'वाग्भिद्यमाना देशादिव्यवस्थां कल्पयति।
यथैते दाक्षिणात्याः एते गौडा इति॥' —श्रीवृषभ।

अन्य लोग मानते हैं—जैसे अष्टाङ्ग आयुर्वेद प्राचीन कल्प में एक ही था, वही कलियुग में मनुष्यों की शक्तिविकलता के कारण पृथक्-पृथक् अङ्गों के रूप में दिखाई देता है। उसी प्रकार एक ही ब्रह्मराशि रूप वेद अनन्त मार्गों की शक्ति से युक्त होने के कारण भिन्न हो जाता है।

आयुर्वेद के आठ अङ्ग इस प्रकार परिगणित हैं—१. शल्यचिकित्सा,[१] २. शालाक्य[२] ३. कायचिकित्सा,[३] ४. भूतविद्या,[४] ५. कौमारभृत्य,[५] ६. अगदतन्त्र,[६] ७. वाजीकरणतन्त्र,[७] ८. रसायनतन्त्र[८]।

---

१. व्रणादि को अच्छा करने के लिए शस्त्रचिकित्सा।

२. शलाका इत्यादि के द्वारा नेत्र, कर्ण, घ्राण आदि ऊर्ध्वाङ्गों की चिकित्सा शालाक्य है।

३. ज्वर, रक्तपित्त आदि सम्पूर्ण शरीराश्रित चिकित्सा कायचिकित्सा कही जाती है।

४. देव, गन्धर्व, यक्ष, रक्षः, पितृ, पिशाच, नाग, ग्रहपीडा के उपशमनार्थ बलिहरणादि शान्तिकर्म भूतविद्या है।

५. बच्चों की चिकित्सा।

६. सर्प, कीट, लूता आदि के विष का निवारण।

७. दूषित, क्षीण या शुष्क रेतस् की चिकित्सा अथवा शुक्रवर्द्धक चिकित्सा।

८. वयःस्थापन, आयु, मेधा और बलकारक एवं रोगापहारक चिकित्सा।

द्रष्टव्य—अष्टाङ्गहृदय-सूत्रस्थान १।५

अष्टधा विभाग हो जाने पर एक अंग की कुशलता से शास्त्राध्ययन सफल माना जाने लगा।

उसी प्रकार वेद सम्पूर्ण एक ही था। पुनः वह ऋगादि भेद से चतुष्पाद हुआ। ये पाद पृथक् समाम्नात होकर चरण कहलाये। इन चरणों की भी अनेकानेक शाखाएँ हुईं।

> चातुर्होत्रं कर्मशुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम्।
> व्यदधाद्यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्॥
> ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः।
> तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः॥
> वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत।
> अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः॥ —श्रीमद्भागवत

प्राचीन काल में सम्पूर्ण वेद पढ़ा जाता था। पुनः एक (ऋगादि में से कोई) पढ़ने पर वेद ज्ञाता होने लगे। पुनः ऋगादि एक ही चरण की व्याख्यान भेद से पाठ में विभिन्नता हुई। इस प्रकार व्याख्यान[1] या प्रवचन भेद से अनेक शाखाएँ बनीं। उच्चारण-भेद से भी शाखाओं का जन्म हुआ। इनमें से एक शाखा का अध्ययन करने वाला व्यक्ति भी वैदिक कहा जाने लगा।

पूर्व कारिका में एक ही वेद का आम्नाय या चरण (पाद) भेद निरूपित हुआ; साथ ही 'अनेकवर्त्मेव' के द्वारा शाखा-भेद के बीज या शक्ति की भी सूचना दी गई। प्रस्तुत कारिका में ऋगादि भेदों के अनेक मार्ग या शाखाओं के होने पर भी कर्म की विविधता नहीं हुई, इसका निरूपण निम्न कारिका में करते हैं—

भेदानां बहुमार्गत्वं कर्मण्येकत्र चाङ्गता।
शब्दानां यतशक्तित्वं तस्य शाखासु दृश्यते॥ ६॥

तस्य भेदानां बहुमार्गत्वम्, एकत्र कर्मणि च अङ्गता। तस्य शाखासु शब्दानां यतशक्तित्वं दृश्यते।

उस वेद के सामादि चार भेदों की अनेक शाखाएँ हुईं, किन्तु इनका प्रतिपाद्य विषय एक ही था और इस शाखा-भेद का कारण उनमें पठित शब्दों के रूप एवं स्वरभेद बने।

वृत्तिः—तत्र चतुर्धा भेदे सति एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः,

---

१. तत्र नाटयशास्त्रशब्देन चेदिह ग्रन्थस्तद्ग्रन्थस्येदानीं करणं न तु प्रवचनम्। तद्धि व्याख्यानरूपं करणाद्भिन्नम्। कठेन प्रोक्तमिति यथा।
—अभिनव भारती, अभिनवगुप्त।

एकविंशतिधा बाह्वृच्यं, पञ्चदशधेत्येके। नवधाथर्वणो वेदः। इत्येवं प्रतिभा बहवो मार्गाः। कर्मण्येकत्र चाङ्गता। [1]सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्म।

तद्यथा सर्वभिषक्शाखाप्रत्ययमेकं चिकित्सितम्। शब्दानां यतशक्तित्वम् तथार्थप्रत्यायने सामर्थ्यात्, तथाभ्युदयहेतुत्वात्। तस्य शाखासु दृश्यत इति 'देवसुम्नयोर्यजुषि काठके' (पा० सू० ७।४।३८) 'सिमस्याथर्वणेऽन्त उदात्तः' (फिट्सूत्र ४।७९) इत्येवमादि। येषां त्वयं शाखाप्रविभागो विच्छेदेन पुनः पुनर्भवतीत्यागमः तेषां प्राक् प्रविभागादव्यभिचार एव संहृतक्रमाया वाच इत्येतद्दर्शनम् ॥ ६ ॥

उस एक वेद के चार भेद हो जाने के अनन्तर यजुर्वेद (अध्वर्युवेद) की एक शत शाखाएँ, सामवेद की हजार, ऋग्वेद की इक्कीस, कुछ लोगों के मत में पन्द्रह तथा अथर्ववेद की नव शाखाएँ हुईं। इस प्रकार प्रत्येक भाग के अनेक मार्गों या शाखाओं का निर्माण हुआ। इन शाखाओं द्वारा एक ही कर्म निष्पन्न होता था। जैसे आयुर्वेद की सभी शाखाओं से एक ही चिकित्साकर्म सम्पन्न होता है।

भिन्न-भिन्न शाखाओं में शब्दों की शक्ति नियत है। यह शक्ति दो प्रकार की होती है—एक अर्थप्रत्यायन या अर्थबोधजनकता रूप और द्वितीय अभ्युदय हेतुरूप। श्रीवृषभ नियतशक्तित्व का अर्थ 'नियतकार्योत्पादकता' करते हैं। नियत कार्य से तात्पर्य है—जिस शाखा में जो शब्द जिस रूप और स्वर से युक्त पठित है, वह उसी शाखा में वैसा अर्थ देता है, शाखान्तर में नहीं। तथा वैसे ही शब्द के ज्ञान और प्रयोग से अभ्युदय भी होता है। जैसे शुक्लयजुर्वेद की काठकशाखा स्थित 'देवायन्तो यजमानाः 'सुम्नायन्तो हवामहे'—यहाँ देव और सुम्न शब्द से क्यच् परे रहते 'आत्व' विधानयुक्त रूप ही साधु है। अन्य शाखाओं में 'देवयुः' 'सुम्नयुः' ऐसे रूप मिलते हैं। अथर्ववेद की शाखाओं में 'सिम' शब्द अन्तोदात्त होता है। इसीलिए भगवान् पाणिनि ने कहा है—'देवसुम्नयोर्यजुषि काठके' (पा० सू० ७।४।३८) और स्वर के विषय में शान्तनवाचार्य ने स्पष्ट किया है—'सिमस्याथर्वणेऽन्त उदात्तः' (फिट् सूत्र ४।७९)

कुमारिल भट्ट ने तन्त्रवार्तिक (मीमांसाभाष्य-व्याख्यान, द्वितीय अध्याय, चतुर्थ पाद) में शाखाओं के सम्बन्ध में कहा है—

> एकस्य वेदवृक्षस्य किञ्चित्कर्मफलाश्रयात्।
> एवं शाखाः प्रसिद्धयन्ति बहुशाखैकवृक्षवत् ॥

एक वृक्ष की अनेक शाखाओं के समान एक वेदरूपी वृक्ष के एक कर्मरूप पुष्प-फल के आश्रय से अनेक शाखाएँ हो जाती हैं।

---

१. मीमांसादर्शन, अध्याय २ पाद ४ सूत्र ९ के शाबरभाष्य में कहा गया है—'सर्व शाखाप्रत्ययं सर्वब्राह्मणप्रत्ययं चैकं कर्म।' सूत्र ३३ के भाष्य में इसी वचन द्वारा उपसंहार भी किया गया है।

शाखाओं में किञ्चित् भेद से एक ही कर्म का प्रतिपादन है। उनमें भेदक तत्त्व कौन हैं, इस सम्बन्ध में मीमांसादर्शन (अ० २, पाद ४, अधिकरण २—शाखान्तराधिकरण) में पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत सूत्र पठित है—

'नाम-रूप-धर्मविशेष-पुनरुक्ति-निन्दा—अशक्ति-समाप्तिवचन-प्रायश्चित्त-अन्यार्थ-दर्शनात् शाखान्तरेषु कर्मभेदः स्यात्' ॥ ८ ॥

(१) काठक, कालापक, पैप्पलादक आदि नाम भेद से।

(२) किसी शाखा में अग्नीषोमीय एकादश कपाल का उल्लेख है और किसी में द्वादश का; यह रूप भेद है।

(३) कारीरी वाक्य का अध्ययन करने वाले तैत्तिरीय शाखी लोग भूमि में भोजन करते हैं, दूसरे नहीं। अग्नि का अध्ययन करने वाले किसी शाखा से सम्बद्ध लोग उपाध्याय के लिए उद(जल)कुम्भ का आहरण करते है, अन्य लोग नहीं—यह धर्मविशेष है।

(४) एक शाखा में विहित कर्मवचन दूसरी शाखा में भी आता है, यह पुनरुक्ति है।

(५) किसी शाखा में सूर्योदय से पूर्व अग्निहोत्र करना चाहिए, ऐसा उल्लेख है तथा उदित होम की निन्दा की गई है। अन्य शाखा में सूर्योदय के पश्चात् अग्निहोत्र का विधान है तथा अनुदित होम की निन्दा देखी जाती है।

(६) जो असमर्थ हैं, एक वेद में विहित समग्र अङ्ग-समुदाय का वे आचरण नहीं कर सकते, यही अशक्ति है। किसी शाखा में विधि का आधिक्य और किसी में लाघव देखा जाता है।

(७) किसी शाखा में अङ्ग कर्म की असमाप्ति में समाप्ति वचन सुना जाता है। वस्तुतः अध्ययन की अपेक्षा से समाप्ति सङ्गत है।

(८) उदित होम और अनुदित होम—दोनों में प्रायश्चित्त का कथन है। अतः स्पष्ट है कि यहाँ कालविकल्प इष्ट है, ऐसा समझना चाहिए।

(९) अन्य अर्थ का दर्शन।

जो लोग ऐसा मानते हैं कि सृष्टि के अवसर पर ब्रह्म से एक ही वेद विवृत होता है और पश्चात् अध्येताओं की अशक्ति के कारण अनेक शाखाएँ हो जाती हैं, पुनः प्रलयदशा में शाखाओं के उच्छिन्न हो जाने पर सृष्टि दशा में बारम्बार शाखा भेद घटित होता है, उनके मत में संहृतक्रमा वाक् सुलभ है। स्वरूप की प्रच्युति—विकृत न होना अव्यभिचार है और विरूप—विविध रूप या विकृत रूप ग्रहण करना व्यभिचार है। पूर्वोक्त दर्शन या मत में ही दोनों कारिकाएँ सङ्गत होती हैं। श्रीवृषभ ने कहा है—

'तस्यामवस्थायां स्वरूपाप्रच्युतेरव्यभिचार एव।······रूपग्रहणं हि व्यभिचारः।'
यहाँ का पाठ त्रुटित है। 'विरूपग्रहणं' ऐसा पाठ सम्भव है।

यह वेद शब्दब्रह्म से शाखादि भेदों से युक्त ही विवृत्त होता है और कभी भी इसका उच्छेद नहीं होता। उनके मत में उपसंहृतक्रमा वाक् दुर्लभ है। यह मत मीमांसकों का है। किन्तु वृत्तिकार के 'सर्वास्ववस्थास्वनादिनिधनं ब्रह्मेति प्रतिज्ञायते' इस वचन से ज्ञात होता है कि वैयाकरणों को दोनों मत ग्राह्य हैं; किसी एक मत में उनका आग्रह नहीं है।

अग्रिम कारिका में—वेदगत सङ्केतों से ही स्मृतियों का निर्माण किया गया है—इस बात का निरूपण हुआ है—

स्मृतयो बहुरूपाश्च दृष्टादृष्टप्रयोजनाः।
तमेवाश्रित्य लिङ्गेभ्यो वेदविद्भिः प्रकल्पिताः ॥ ७ ॥

बहुरूपाः दृष्टादृष्टप्रयोजनाः च स्मृतयः लिङ्गेभ्यः तं एव आश्रित्य वेदविद्भिः प्रकल्पिताः।

लिखित एवं आचरित विविध रूप, चिकित्सादि दृष्टफल से युक्त और मन्वादिकों में विहित आचारों से जन्य अदृष्ट प्रयोजन वाली स्मृतियाँ उसी वेद का आश्रय लेकर संकेतों से वेदार्थ के अनुभवी जनों द्वारा रची गईं।

वृत्ति—तत्र काश्चिच्छब्दनिबन्धनाः स्मृतयः। काश्चिदशब्दनिबन्धनाः शिष्टेषु प्रसिद्धसमाचाराः। दृष्टप्रयोजनाश्चिकित्सादिविषयाः। अदृष्टप्रयोजना भक्ष्याभक्ष्यगम्यागम्यवाच्यावाच्यविषयास्तुल्ये विषये प्रसक्तविरोधा दृष्टप्रयोजनाभावे विकल्पिन्यः। शिष्टानां तु विप्रतिपत्तौ यत्र दृष्टं प्रयोजनमस्ति तासामप्रामाण्यम्।

विवरण—कुछ स्मृतियाँ शब्द-निबन्धन अर्थात् लिखित हैं और कुछ अलिखित, अर्थात् शिष्टों के आचरण द्वारा प्रसिद्ध हैं। जिनका फल यहीं दिखलाई देता है, जैसे चिकित्सा आदि। रोग की निवृत्ति दृष्टप्रयोजन है। 'आदि' शब्द से मन्वादि स्मृतियों में कथित 'वैणवीं धारयेद् यष्टिम्' (मनु० ४।३६) अर्थात् बाँस की यष्टि धारण करना चाहिए। इससे वृद्ध पुरुष स्खलित नहीं होता, यह दृष्टप्रयोजन है। अमुक पदार्थ भक्ष्य है अमुक नहीं, अमुक कुल-गोत्र वाली कन्या के साथ विवाह किया जाय अमुक के साथ नहीं, अमुक वचन कथनीय है अमुक अकथनीय—ऐसा निर्देश करने वाली स्मृतियाँ अदृष्टप्रयोजन कहलाती हैं। श्रीवृषभ ने उपर्युक्त वृत्ति की विवृति निम्नाङ्कित रूप में की है—

भक्ष्य और अभक्ष्य—'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः अभक्ष्यो ग्राम कुक्कुटः'।

गम्या और अगम्या—'ऋतावुपेयात्' ऋतुकाल में स्त्री-सहवास करे। माता और पिता के कुल से सम्बद्ध कन्या अगम्या है।

वाच्य और अवाच्य विषय—'मङ्गलवत्यो वाचः वाच्याः। अवाच्याः शुक्ता वाचः।' मनुस्मृति (अध्याय २ श्लोक १७७) में पठित है—'शुक्तानि यानि सर्वाणि'।

इस पर मेधातिथि ने कहा है—'प्राप्ताम्लरसानि। तेन रूक्षपरुषा वाचो निषिद्धा भवन्ति। यदुक्तं गौतमेन—'शुक्ता वाच' इति। अध्याय २ सूत्र १९।

मङ्गल वचन वाच्य हैं और खट्टे कड़वे अवाच्य। यदि एक ही विषय में दो स्मृतियाँ परस्पर विरुद्ध हैं और उस विषय का प्रयोजन दृष्ट नहीं है तो वहाँ विकल्प समझना चाहिए। जैसे गौतमधर्मसूत्र का मत है कि ब्रह्महत्या करनेवाले को द्वादश-वार्षिक प्रायश्चित्त करना चाहिए।

[1]'खट्वाङ्गकपालपाणिर्द्वादशसंवत्सरान् ब्रह्मचारी भैक्षाय ग्रामं प्रविशेत् स्वकर्माचक्षाणः।' —गौतमधर्मसूत्र २२।३

और मनुस्मृति कहती है कि ब्रह्महत्या करने वाले को जलती आग में कूद जाना चाहिए। यहाँ ब्रह्महत्या रूप एक ही विषय है, प्रयोजन भी दृष्ट नहीं है, किन्तु अदृष्ट फल एक ही है। अतः यहाँ विकल्प है।

और जहाँ विषय एक है, किन्तु प्रयोजन दृष्ट है तथा स्मृति-वचन परस्पर विरोधी हैं तथा शिष्ट उस विषय में अपनी सम्मति नहीं देते तो वे सभी स्मृतियाँ अप्रामाणिक हो जाती हैं। जैसे 'हंस का भक्षण करना चाहिए' यह एक स्मृति की उक्ति है और 'नहीं करना चाहिए' यह दूसरी स्मृति का कथन है। ऐसी स्थिति में शिष्ट विरोध के कारण दृष्टप्रयोजन वाली हंसभक्षणस्मृति को अप्रामाणिक समझना चाहिए।

वृत्तिः—अविप्रतिपत्तौ तु दृष्टप्रयोजनसम्भवेऽपि विकल्प एव। तद्यथा मण्डूकवधे प्रायश्चित्तस्य।

तमेवाश्रित्य लिङ्गेभ्य इति। श्रुत्याश्रितानि लिङ्गानि श्रुतिविहितानां स्मृतिविहितानां च कर्मणां कर्तृसामान्यं प्रवेदयन्ते। येषां हि श्रुतिविहितैर्दृष्टादृष्टप्रयोजनैः कर्मभिरधिकारस्ते श्रुत्यैव स्मृतिविहितानामपि कर्मणां कर्तृत्वेनाख्यायन्ते। तद्यथा—'अयं यजमानोऽतिथय आगतायाजमषण्डं महोक्षं वा पचेत्।' इति। क्वचिच्च विषये लिङ्गानि दृष्टानि स्थालीपुलाकवच्छ्रुत्यर्थाविरोधिन्याः स्मृतेः प्रामाण्यकल्पनायालम्॥ ७॥

विवरण—पूर्वोक्त स्थिति में दृष्टप्रयोजन होने पर भी विकल्प समझना चाहिए। जैसे मण्डूकवध के प्रायश्चित्त में कहा गया है कि क्षीर भोजन करे अथवा घृतमिश्रित दधि भोजन; इन दो प्रायश्चित्तों में से कोई एक ही ग्राह्य है। श्रुति में आये हुए संकेत श्रुतिविहित तथा स्मृतिविहित कर्मों के कर्ता सामान्य का बोध कराते हैं। अर्थात् जिन लोगों को श्रुतिविहित दृष्ट और अदृष्ट प्रयोजन वाले कर्मों के करने का अधिकार है, उनका ही स्मृतिविहित कर्मों में अधिकार है—ऐसा श्रुति के द्वारा ही निरूपित किया जाता है। जैसे—'इस यजमान को चाहिए कि समागत अतिथि के

---

१. खट्वाङ्ग और कपाल हाथ में लेकर ब्रह्मचारी के रूप में बारह वर्ष तक गाँव-गाँव में भीख माँगता हुआ घूमता रहे और ब्रह्महत्या रूप कर्म को 'मैंने ऐसा किया है' कहता जाय।

लिए अपण्ड[1] महाज अथवा महोक्ष का पचन करे।' यह स्मृति शतपथब्राह्मण (२।४।१।२) में पठित प्रस्तुत श्रुति पर आश्रित है—

'अथ यस्मादातिथ्यं नाम। अतिथिर्वा एष एतस्यागच्छति यत्सोमः क्रीतस्तस्मा एतद्यथा राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं[2] वा महाजं[3] वा पचेत् तदह मानुषं हविर्देवानामेवमस्या एतदातिथ्यं करोति।'

इस पर श्रीवृषभ ने कहा है—'यतोऽतिथिमुद्दिश्याषण्डस्याजस्य महतो वा बलीवर्दस्य कदनं वर्णत्रयस्य वेदे पठितम्। स्मृतावपि वर्णत्रयस्यातिथिमुद्दिश्य तदेव पठितमिति।

हंसभक्षण का शिष्ट लोग निषेध करते हैं। मण्डूकवध में प्रायश्चित्त की बात कही गई है। और आश्चर्य है कि कम से कम दस मन मांस वाले बैल को मार कर एक ही अतिथि को खिला देने में न कोई प्रायश्चित्त है और न कोई शिष्ट जन ही आड़े आता है। 'अतिथये' में एक वचन है। एक अतिथि उतना मांस खा जाता था। बहुत बड़ा शेर भी एक बार में एक पशु को नहीं खा सकता, किन्तु अतिथि रूपी राक्षस को उसे गड़प कर जाना आवश्यक था। यह श्रुति धन्य है। इसका ऐसा अर्थ समझने वाली बुद्धि भी धन्य है। हंसभक्षण के विषय में तो श्रीवृषभ ने कहा है—'लौल्यादपि स्मृत्युपनिबन्धसम्भवादभक्षणस्मृतिरेव प्रमाणम्।' अर्थात् जिह्वा की लोलुपता से भी स्मृति में ऐसा लिखा जा सकता है, अतः अभक्षण स्मृति ही प्रामाणिक है।

और जिस विषय में श्रुति के संकेत नहीं मिलते, किन्तु स्मृति में उस विषय का निरूपण है, वहाँ स्थालीपुलाकन्याय (बटलोई का एक चावल ही देखा जाता है) से दृष्ट संकेत ही श्रुत्यर्थ की अविरोधिनी स्मृति को प्रमाणित करने में समर्थ माने जाते हैं।

यहाँ श्रीवृषभ ने कहा है कि जिस किसी संकेत को देखकर स्मृति में कपटप्रक्षेप भी सम्भव है, अतः कहा गया है—'श्रुत्यर्थाविरोधिन्याः'। अर्थात् जो स्मृति श्रुति के अर्थ को बाधित नहीं करती, वही प्रमाण है। कपटप्रक्षेप श्रुत्यर्थ को अवश्य बाधित करता है।

'तत्रैतत्स्यात् या काञ्चिल्लिङ्गप्रतिबद्धामुपलभ्य कपटप्रक्षेपोऽपि स्यादित्याह—श्रुत्यर्थाविरोधिन्याः इति। या श्रुत्यर्थं न बाधते सा प्रमाणम्। कपटप्रक्षेपश्चावश्यं बाधते।'

वस्तुतः ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी कपटप्रक्षेप हुआ है। तदर्थानुसारी श्रौतसूत्र और स्मृतियाँ भी भ्रष्ट हो गई हैं। भाष्यकारों ने यत्र-तत्र इस बात का उल्लेख किया है।

---

१. कहीं-कहीं अषण्ड के स्थान पर महाजं पाठ है। अषण्ड प्रक्षिप्त है।

२. महोक्ष—उक्षान्न=सोमरस या ऋषभ नामक औषधि अथवा काकड़ासिंगी।

३. महाज—श्रेष्ठ शालिचावल—'अजसंज्ञानि बीजानि छागान्नो हन्तुमर्हथ।' सात वर्ष पुराने चावल। महाभारत-शान्तिपर्व।—अध्याय ३३७।

कहीं-कहीं श्रुति का अर्थ न समझने से और कहीं-कहीं जिह्वालौल्य के कारण कपट-प्रक्षेप हुआ है।

वेद से ही विभिन्न दर्शनों का भी उद्भव हुआ है, इस बात का निरूपण प्रस्तुत कारिका में किया गया है—

तस्यार्थवादरूपाणि निश्रिताः स्वविकल्पजाः।
एकत्विनां द्वैतिनां च प्रवादा बहुधा मताः ॥ ८ ॥

तस्य अर्थवादरूपाणि निश्रिताः एकत्विनां द्वैतिनां च स्वविकल्पजाः बहुधा प्रवादाः मताः।

उस वेद के अर्थवादरूप वाक्यों का आश्रय लेकर एकत्ववादियों एवं द्वैतवादियों के अपनी-अपनी कल्पनाओं से निर्मित अनेक प्रकार के प्रवाद या दर्शन चल पड़े।

वृत्तिः—अर्थवादानर्थवादप्रकाराणि श्रुतिवाक्यानि पौरुषेयाः प्रवादाः प्रायेणानुपतन्तो दृश्यन्ते। पुरुषबुद्धिविकल्पाश्च प्रवादभेदाः सम्भवन्ति। तद्यथा—'असद् वा इदमग्र आसीत्' इत्यग्निचयनस्थानोपस्तुत्यर्थोऽर्थवादः, तद्रूपपरिकल्पनमिश्रितश्चायमेकान्तत्वप्रवादः।

'असदसतो निरीहान्निरीहमपदादपदमनुपाख्यादनुपाख्येयमवस्तुकादवस्तुकं जायते।' इति।

'अपूर्वापराभ्यां तु सत्त्वासत्त्वाभ्यामेक आत्मा विभज्यते। तत्राद्वये कथं हि स्यात् सोपाख्यनिरुपाख्यता' इति। तथा—'नासदासीन्नो सदासीत्। तम एव खल्विदमग्र आसीत्।' इति।

इदं फेनो न कश्चिद्वा बुद्बुदो वा न कश्चन[1]।
मायेयं बत दुष्पारा विपश्चिददिति पश्यति ॥
अन्धो मणिमविन्दध्यत् तमनङ्गुलिरावयंत्।
तमग्रीवः प्रत्यमुञ्चत् तमजिह्वोऽभ्यपूजयत् ॥

तथा—'आपो वा इदमग्र आसीत्' इति दर्शपूर्णमासविषयोऽर्थवादः। ततश्चायं प्रवादः—

'प्रज्ञानरूपपाकश्चासम्प्रख्यानरूपपाकश्चापां प्राणो रसः। स खल्वावर्ती चानावर्ती च' इति। तदेवं तदेकरूपं सर्वप्रबोधरूपं सर्वप्रभेदरूपतायां समवतिष्ठते।

---

१. योगवाशिष्ठ, निर्वाणप्रकरण, सर्ग १६७ में यह श्लोक इस रूप में मिलता है—
'इदं फेनो न किञ्चिद्वा बुद्बुदो वा न कश्चन।
शून्यताम्भसि चिद्व्योममहार्णवमहोदरे ॥ २१ ॥

विवरण—प्राय: पुरुषों द्वारा कल्पित प्रवाद या दर्शन अर्थवादात्मक श्रुतिवाक्यों का अनुगमन करते हुए दिखलाई देते हैं। पुरुषों की बुद्धियों के भेद से दर्शन-भेद भी सम्भव होता है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में विधि के अङ्गभूत स्तुति और निन्दापरक ग्रन्थखण्ड को अर्थवाद कहते हैं। जैसे 'सोऽरोदीदिति रुद्रस्य रुद्रत्वम्' आदि वाक्य अर्थवाद मात्र हैं। श्रीवृषभ ने 'अर्थार्थो वादः प्रयोजनार्थः' ऐसी व्युत्पत्ति की है। 'अर्थस्य स्तुत्यर्थस्य निन्दार्थस्य वा वादः अर्थवादः' इस व्युत्पत्ति से और अधिक स्पष्टीकरण हो जाता है।

जैसे 'असद् वा इदमग्र आसीत्' सबसे पहले 'असत्' ही था, ऐसा शतपथब्राह्मण (६।१।१।१) में अग्निचयनस्थान[1] की उपस्तुति के लिए अर्थवाद का प्रयोग किया गया है। और इसी अर्थवाद की कल्पना पर आश्रित यह एकान्तत्व प्रवाद अर्थात् 'सृष्टि के पूर्व असत्' था और असत् से ही सृष्टि हुई—ऐसा एकत्ववाद प्रचलित हो गया। भगवान् भर्तृहरि तन्मतानुयायी किसी अज्ञात ग्रन्थ का उद्धरण देते हैं—'असत्, निरीह, अपद, अनुपाख्य और अवस्तुक एक तत्त्व से असत्, निरीह, अपद, अनुपाख्य और अवस्तुक जगत् उत्पन्न होता है।'

श्रीवृषभ ने इसकी प्रस्तुत व्याख्या की है—

'गो, घट आदि सत्ता के अनावेश से ब्रह्म असत् कहा जाता है। क्रिया के अनावेश से निरीह, गुणों के अनाश्रयण से अपद, शब्द-प्रवृत्ति के निबन्धनाभाव के कारण वह अनुपाख्य है। स्वरूपतः अनुरूप्य होने से वह अवस्तुक भी है। इससे उत्पन्न जगत् रूप कार्य भी अनिष्पन्न होने से सत्ता, क्रिया, गुण एवं शब्द का आस्पद नहीं है तथा अनिरूप्य भी है। गो, घट आदि कार्यों में जो सद्रूपता का व्यवहार देखा जाता है, वह असत् में सत्त्व की कल्पना के कारण।' प्रथम चयनस्मृति में एक तत्त्व को 'असत्' के नाम से कहा गया। अग्रिम स्तुति में एक साथ उसे 'सदसत्' कहा है। 'पूर्वापर विहीन सत्त्व और असत्त्व से एक आत्मा अर्थात् ब्रह्म विभक्त हो जाता है।' अर्थात् एक साथ ही वह सत् और असत् रूप में अभिहित होता है। अपने असत् रूप को न छोड़ता हुआ वह गवादि रूप में प्रतिभासित होने के कारण सद्रूप में

---

१. अग्निचयनस्थान का सप्तपुरुषात्मक रूप में निर्माण किया जाता है—
'स वै सप्तपुरुषो वा।

इति चत्वार आत्मानः, त्रयः पक्षपुच्छानि। ते च पुरुषाः प्राणत्वेन स्तूयन्ते—'असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः—किं तदसदासीत्। ऋषयो वाव तेऽग्रे तदसदासीत्। तदाहुः—के त ऋषयः। प्राणा वाव ऋषयः इति'। यतस्तदसत् सप्तप्राणरूप इति यथा विवृत्तं सकलसंसाररूपेणावतिष्ठते, सप्तप्राणमयत्वाज्जगतः। ते चासदित्युच्यन्ते प्राणाः। तस्मात् सप्तपुरुषाः—(सप्तपुरुषात्मकमग्निचयनस्थानम्) अनुतिष्ठता सर्वमनुष्ठितं भवति। न चानेन ब्राह्मणग्रन्थेनासन्नाम एकं किञ्चिद्व्यवस्थाप्यते, किन्तु चयनस्तुतिपरमेतद्।—**पद्धति, श्रीवृषभाचार्य।**

व्यवहृत होता है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अद्वय तत्त्व में सोपाख्यता—नाम-जात्यादि रूप से निर्वचनीयता अर्थात् सद्रूपता और निरुपाख्यता—अनिर्वचनीयता अर्थात् असद् रूपता कैसे सम्भव है। इस अरुचि के आधार पर तीसरी चयनस्तुति है कि 'पहले न तो असत् था और न सत्, किन्तु तम ही विद्यमान था।'

ऋग्वेद, मण्डल १०, सूक्त १२८ ऋचा १ मे निम्नाङ्कित पाठ है—'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं'—साक्षण ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'तदानीं प्रलयदशायामवस्थितं यदस्य जगतो मूलकारणं तदसच्छशविशाणवन्निरुपाख्यं नासीत्। तथा नो सन्नैव सदात्मवत् सत्त्वेन निर्वाच्यमासीत्।'

इसी सूक्त का तीसरा मन्त्र है—

'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे'।

'आत्मतत्त्वस्यावरकत्वान्मायापरसंज्ञं भावरूपाज्ञानमेव तम इत्युच्यते।' —सायण

उपर्युक्त अर्थवाद से निम्नाङ्कित दर्शन उठ खड़ा हुआ—

यह जगत् फेन के सदृश परमार्थतः कुछ नहीं है। बुद्‌बुद् के समान वास्तव में इसका अस्तित्व नहीं है, फिर भी बड़े खेद की बात है कि इस माया को पार करना बड़ा कठिन है, ऐसा ज्ञानी पुरुष देखता है।

इस जगत् की वही स्थिति है जैसे कभी अन्धे को एक मणि प्राप्त हुई और अंगुलि रहित किसी अन्य व्यक्ति ने उसे गूँथा; ग्रीवा रहित किसी व्यक्ति ने उसे पहना और जिह्वा से रहित किसी ने उसका अभिनन्दन किया। इस प्रकार यह जगत् तम या अज्ञान का विजृम्भण मात्र है।

श्रीवृषभ ने उपर्युक्त दोनों श्लोकों को षष्टितन्त्र से उद्‌धृत माना है। अन्तिम श्लोक कुछ परिवर्तित रूप में तैत्तिरीय आरण्यक[1] (१।११।५) में मिलता है। बौद्ध ग्रन्थों में रूप, वेदना आदि को फेन और बुद्‌बुद् के समान बतलाया गया है। द्रष्टव्य—चन्द्रकीर्ति की प्रसन्नपदा और पालिग्रन्थ संयुत्तनिकाय। बौद्धों ने षष्टितन्त्र से ही इन विचारों को लिया होगा।

शतपथब्राह्मण १४।८।६।१ में पठित है—'आपो वा इदमग्र आसीत्' सबसे पहले 'आपः' कारण वारि ही विद्यमान था। यह दर्श और पौर्णमासी कर्म विषयक अर्थवाद है। इससे प्रस्तुत एकान्तवादी दर्शन की स्थापना हुई—

आपः या कारण वारि का रस—सार अंश प्राण है, जो प्रज्ञान या विद्यारूप पाक और असम्प्रख्यान या अविद्यारूप पाक के नाम से ख्यात है। वह एक अविद्या रूप से जगत् में बारम्बार आवर्तन करता है—आता-जाता रहता है और दूसरे विद्या रूप से अनावर्ती है—स्वरूपतः स्थित रहता है।

---

१. योगसूत्र पाद ४, सूत्र ३१ के व्यासभाष्य में भी यह श्लोक उद्‌धृत है। वहाँ 'अविन्दत्' के स्थान पर 'आविध्यत्' पाठ है।

श्रीवृषभाचार्य ने इसका अधोलिखित अर्थ किया है—

पच्यमान जलों का एक अंश चैतन्यरूप से प्रज्ञानात्मक कहा जाता है और दूसरा पृथिव्यादि रूप। प्राणो रसः अर्थात् बलिष्ठ सार। अज्ञानियों की जन्म-मृत्यु रूप पुनः-पुनः आवृत्ति होती है और ज्ञानियों की आवृत्ति—इस संसार में आगमन नहीं होता; इसलिए उसे आवर्ती और अनावर्ती कहा गया है। अथवा शरीरों की आवृत्ति से आवर्ती और आत्मा के नित्य होने से उसे अनावर्ती कहा जाता है।

अथवा प्रज्ञानरूप पाक से विद्यारूप कहा गया है और असम्प्रख्यान से अविद्या-रूप। आवर्ती से अविद्या और अनावर्ती से विद्या रूप अभिप्रेत है।

इस प्रकार वह एक तत्त्व जो सर्वज्ञानरूप है, सांसारिक विविध रूपों में वर्तमान होता है। श्रीवृषभ कहते हैं—वह जो सम्पूर्ण पदार्थों के परिच्छेद या इयत्ता के आकार को धारण करके सर्व प्रबोधात्मा अथवा प्रज्ञान रूप से युक्त है, वही सम्पूर्ण प्रभेद रूपता या भिन्न-भिन्न गवादि आकारों के रूप में प्रतिभासित होता है। समग्र पदार्थ उस तत्त्व की एकरूपता का अतिक्रमण नहीं करते, अतः वह एक है। अविद्या विद्या से भिन्न नहीं है, इस प्रकार वह एक रूप है। विद्या रूप ही अनेक शक्तियोग से सर्वप्रभेदरूपता या विवर्तन को प्राप्त होता है।

वृत्तिः—द्वैतिनः खल्वप्याहुः—[1]'नित्याश्चानित्याश्च मात्रायोनयः, यासु रूपि चारूपि च, सूक्ष्मं च स्थूलं चेदं भुवनं विषक्तम्।' इति यथा—

उभौ सखायौ सयुजौ सुपर्णौ समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।
इन्द्रियग्रामश्चान्तर्यामी च बुद्धिश्च क्षेत्रज्ञश्चेति।

अथापरे—'विवृताविवृत्तं बहुधानकं चैतन्यम्।' इत्याहुः—

'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ इति।

यतश्चैते सर्वविकल्पातीत एकस्मिन्नर्थे सर्वशक्तियोगाद् द्रष्टॄणां दर्शन-विकल्पाः, तत एव खलु॥ ८॥

विवरण—द्वैतवादियों का कहना है कि 'मात्राओं—परिमित प्रमाताओं अर्थात् जीवों और मात्राओं—मूलमात्राओं के कारणरूप नित्य और अनित्य दो प्रकार के तत्त्व

---

१. श्रीवृषभ ने व्याख्या की है—'यतो द्विविधा पदार्था एव पठिताः, नित्यास्त्वात्मादयः, अनित्याः पृथिव्यादयः मात्राः। घटादीनां योनयः कारणानि। रूपि च इति। घटादि। अरूपि इति। बुद्ध्यादि। एवं स्थूलं सूक्ष्मं च।'

२. द्वादशारनयचक्र (पृ० १२७) में 'बहुधानकं' को प्रकृति का पर्याय माना है—तस्माद्योनिबीजप्रकृतिबहुधानकप्रधानाव्यक्तादिपर्यायाख्यं यद्वस्तु, तदतीन्द्रियत्वाद-प्रत्यक्षम्।

हैं। जिनमें आकारवान् गो-घटादि और निराकार मन-बुद्ध्यादिरूप सम्पूर्ण स्थूल और सूक्ष्म यह जगत् बँधा हुआ है।'

यह दर्शन, वेद (ऋग्वेद १।१६४।२०) के निम्नाङ्कित मन्त्रार्थवाद पर आश्रित है—'घटाकाश और महाकाशस्थानीय जीव और परमात्मा नामक दो सुपर्ण (शोभन पतन और गमनशील) पक्षी बिम्ब और प्रतिबिम्बभाव के कारण सयुज प्रकृति और प्राकृततत्वरूप से सखा रूप में देहात्मक एक ही वृक्ष का आलिङ्गन करके विद्यमान होते हैं। कार्योपाधि और कारणोपाधि जीव और ईश्वर में, अन्य–जीव, पिप्पल अर्थात् पुण्य-पाप रूप कर्म-फल से निष्पन्न, स्वादिष्ट, विविध विषयों का उपभोग करता है तथा दूसरा ईश्वर उपभोग के प्रति उदासीन होकर प्रकाशित होता है।'

भर्तृहरि दो पक्षियों से इन्द्रियग्राम और अन्तर्यामी अथवा बुद्धि और क्षेत्रज्ञ को ग्रहण करते हैं। श्रीवृषभ की उक्ति है कि जिस विषय से इन्द्रिय युक्त होती है, उसी से बुद्धि तथा पुरुष और अन्तर्यामी भी; अतः समान योग के कारण उन्हें सयुज कहा गया है। जिस प्रकार इन्द्रिय और बुद्धि विषय का निश्चय करते हैं, वैसे ही पुरुष और अन्तर्यामी भी। क्योंकि पहले इन्द्रिय विषयाकाररूप में परिणत होती है और इन्द्रिय वृत्ति के रूप में पुनः बुद्धि उसका रूप ग्रहण करती है, तदनन्तर पुरुष में उसका प्रतिबिम्ब उदित होता है। अपः समान ख्यातियोग के कारण वे सखा हैं। उपभोग से तात्पर्य है तदाकारपरिणाम और अनश्नन् का अर्थ है अपरिणति।

दूसरे लोगों ने 'तदेजति' इस मन्त्रार्थवाद से प्रस्तुत दर्शन की कल्पना की है—'अनेकरूप, एकरूप तथा बहुवीज सम्पन्न चैतन्य है।' इस कथन से वहुत्ववाद की सूचना मिलती है। नवीन प्रकाशित पुस्तकों में मूलवृत्ति का निम्नाकित पाठ उपलब्ध होता है—

'विवृत्ताविवृत्तं बहुधानकं चैतन्यम्' प्राचीन संक्षिप्त वृत्ति में प्रस्तुत पाठ है—

'विवृतं सत्त्वमेव बहुधा न किञ्चन चैतन्यमित्याहुः।'

श्रीवृषभाचार्य की पद्धति में कहा गया है—

'सामैव चैतन्यमाहुरिति सम्बन्धः।' इसमें सामैव से कोई अर्थ नहीं निकलता किन्तु 'सत्त्वमेव चैतन्यम्' ऐसा वृत्ति का पाठ रहा होगा और 'आहुः' जोड़ कर श्रीवृषभ ने 'अपरे' से सम्बन्ध बतलाया है, ऐसा अनुमान होता है। ऐसी स्थिति में संक्षिप्त वृत्ति का पाठ सर्वथा उपेक्षणीय नहीं प्रतीत होता। जैन-ग्रन्थ द्वादशारनयचक्र के द्वितीय अर, पृष्ठ २३२ में मल्लवादिसूरि ने कहा है—

'येन यत्र यथा यस्माद्यदा यदर्थं प्रवर्तितव्यं तेन तत्र तथा तस्मात्तदा तदर्थंञ्च प्रवृत्तिरन्तरञ्चैतस्य, स एव हीदं सकलं जगत् वृत्तमविवृत्तं च बहुधानकं चेतनाचेतन-सप्रभेदरूपमिति। आह च—तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य वाह्यतः इति। स एवार्हन् बुद्धः ब्रह्मा विष्णु ईश्वर इति।'

जिस हेतु से, जिस क्षेत्र में, जिम प्रकार से जिस आश्रयरूप वस्तु से, जिस काल
में, जिस प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर प्रवृत्ति होनी चाहिए वैसी ही द्रव्य, क्षेत्र, काल
और भावभेद से सब प्रकार की प्रवृत्ति पुरुष के अन्तर्गत ही होती है। पुरुष से व्यति-
रिक्त कोई प्रवृत्ति नहीं है। वह पुरुष ही विभिन्न भेदों के रूप में विवृत होता हुआ
भी स्वरूपतः अविवृत, चेतन और अचेतनात्म सम्पूर्ण जगत् के रूप में दिखलाई देता
है। जैसा कि कहा है 'वह[1] चलता है, और नहीं भी चलता; वह दूर है और निकट
भी। घट, पटादि सम्पूर्ण वस्तुओं के अन्तराल में वह विद्यमान है और बाहर भी।'
इसकी पर्यालोचना एवं श्रीवृषभ के उपर्युक्त पाठ से प्रतीत होता है कि वृत्ति का मूल
उद्धरण इस प्रकार का होना चाहिए—'सत्तामेव विवृत्ताविवृत्तं बहुधानकं चैतन्यम्'
यहाँ 'अपरे' से सत्ताद्वैतवादियों का उल्लेख किया गया जान पड़ता है। इसके लिए
'तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते' (वा० प० तृ० काण्ड, कारिका ३४)
जातिसमुद्देश की हेलाराजकृत टीका द्रष्टव्य है। यथा—

'प्रतिसंसृज्यमानाश्च तस्मिन् सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय यत्तन्निःसत्तासत्तं निःसदसदव्यक्तमलिङ्गं तस्मिन्प्रतियन्तीत्येवं साङ्ख्ये बुद्धितत्त्वं महच्छब्दवाच्यमाद्यं जगत्कारणं निर्दिष्टमित्यतोऽनन्तरस्य विकारग्रामस्य कारणरूपानुगमात् सत्तारूपत्वमविरुद्धमिति सत्तारूपं सर्वं जगदाख्यातं भवतीति सत्ताद्वैतवादः साङ्ख्यनयेनाप्युपबृंहितः।'

इस सत्ताद्वैतवाद का मूल योगसूत्र १९ पाद २ के व्यासभाष्य में इस प्रकार उपलब्ध है—

'एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षडविशेषपरिणामाः। यत्तत्परमविशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति, प्रतिसंसृज्यमानश्च तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय यत्तन्निःसत्तासत्तं निःसदसन्निरसदव्यक्तमलिङ्गं प्रधानं तत्प्रतियन्ति।'

ये पञ्चतन्मात्र तथा अस्मितामात्र छः अविशेष सत्तामात्र महानात्मा के परिणाम हैं। पुरुषार्थं क्रिया में समर्थ पदार्थ को सत् कहते हैं, उसकी स्थिति ही सत्ता है, उसी को महत्तत्त्व कहते हैं। अविशेषों से उत्कृष्ट लिङ्गमात्र महत्तत्त्व है। पञ्चभूत, ज्ञान एवं कर्मेन्द्रिय तथा मन जो पूर्वोक्त अविशेषों के विशेषात्मक कार्य हैं; ये धर्म, लक्षण और अवस्थात्मक परिणामों की काष्ठा या सीमा का अनुभव इस सत्तामात्र महानात्मा में करते हैं। और इस उत्पत्तिक्रम के अनन्तर प्रलयदशा में समस्त विशेष, अविशेषों

---

१. न्यायागमानुसारिणी टीका—तदेजति—चलति स्पन्दते, नैजति—न चलति न स्पन्दते, तद्दूरे—तिर्यग्लोकेऽधोलोकेऽलोके च, तदुपान्तिके—तदेकस्मिन्प्रदेशे दृश्यस्पृश्यादि तदन्तरस्य घटपटादेः सर्वस्य—वस्तुनः साकारानाकारोपयोगलक्षणस्यात्मनस्तत्परिणतेरप्रतिघातात्, तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः—तस्यैवालोकेऽपि सद्भावात्, सर्वस्यास्येति लोकगतभावनिर्देशात्तस्य बाह्यमलोक इति।

में लीन हो जाते हैं। अविशेष भी महानात्मा में विलीन होकर उसके साथ ही अलिङ्गात्मक प्रकृति में लीन होते हैं। यह अव्यक्त प्रकृति कहीं न लीन होने के कारण अलिङ्ग कही जाती है। पुरुषार्थक्रियाक्षमता को सत्ता कहते हैं और तुच्छता ही असत्ता है। सत्ता और असत्ता से निष्क्रान्त प्रकृति को निःसत्तासत्त कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था किसी पुरुषार्थ के लिए उपयोगी नहीं है, अतः उसे सत्ता नहीं कह सकते। और गगनकमलिनी के समान वह तुच्छ स्वभाव भी नहीं है, इसलिए उसे असत्ता भी नहीं कहा जा सकता। सद्रूप कार्य से निष्क्रान्त होने से वह निःसत् है। यद्यपि कारणावस्था में शक्ति रूप से सदात्मक कार्य विद्यमान रहता है तो भी स्वोचित अर्थक्रिया न करने के कारण वह असत् है, किन्तु शशविषाणायमान न होने से वह निरसद्[1] है। यह वाचस्पतिमिश्र सम्मत अर्थ है।

इस प्रकार सांख्यशास्त्र में महत् शब्द वाच्य बुद्धितत्त्व को जगत् का कारण माना गया है। इसके अनन्तर भावी सम्पूर्ण विकारों में कारण की व्याप्ति होने से इसकी सत्तारूपता अविरुद्ध है। इस प्रकार समग्र जगत् को सत्तारूप कहा जा सकता है। वैयाकरण भी सत्ताद्वैतवादी हैं, यह बात 'इति सत्ताद्वैतवादः साङ्ख्यनयेनाभ्युपबृंहितः' इससे सिद्ध है। वैयाकरण प्रतिभा या पश्यन्ती को महानात्मा या सत्ता कहते हैं, यही शब्द और अर्थ जगत् का मूल है, अतः इसकी संज्ञा प्रकृति भी है। इससे परे पराप्रकृति भी वैयाकरणों को स्वीकार्य है। यही कारण है कि वैयाकरणनिकाय में शब्दब्रह्म के सम्बन्ध में दो मत देखे जाते हैं। कुछ लोग पश्यन्ती को शब्दब्रह्म मानते हैं तथा कुछ अन्य पराप्रकृति को। दोनों मतों में कोई अनौचित्य नहीं है।

श्रीवृषभ 'अपरे' का अर्थ इस प्रकार करते हैं—इसी पूर्वोक्त मन्त्रार्थवाद की अन्य प्रकार से कल्पना करके दूसरों ने एकत्व दर्शन की स्थापना की है। बुद्धि और इन्द्रिय शब्द से विवृत्त की व्याख्या की गई है और क्षेत्रज्ञ तथा अन्तर्यामी से अविवृत्त की। धाना का अर्थ है बीज। इसी अर्थ को 'तदेजति' इस मन्त्रान्तर से स्पष्ट करते हैं—वह सम्पूर्ण क्रियाओं से युक्त है तथा निर्व्यापार भी। आसत्ति और विप्रकर्ष भी उसके विषय हैं; भीतर तथा बाहर चारों ओर वह व्याप्त है

समस्त विकल्पों से अतीत एवं सम्पूर्ण शक्तियों से युक्त होने के कारण एक ब्रह्म

---

१. युक्तिदीपिका में उपर्युक्त वाक्य का पाठ इस प्रकार है—'सर्वविकारसाम्यं सर्वशक्तिप्रलयं निःसत्तासत्तं निःसदसदव्यक्तलक्षणम्'। हेलाराज का भी ऐसा ही पाठ है विज्ञानभिक्षु में भी ऐसा ही साम्य है। वहाँ 'निःसदसद्' के स्थान पर 'निःसन्निरसत्' ऐसा भी पाठ उपलब्ध होता है। 'निःसत्तासत्तं निःसदसत् निरसत्' यह वाचस्पतिसम्मत पाठ है। विज्ञानभिक्षु-सम्मत अर्थ—निर्गते पारमार्थिके सत्तासत्ते यस्मात्तत्—पारमार्थिक सत्, कूटस्थत्व नित्यत्व आदि और पारमार्थिक असत्—सत्ता सामान्य का अभाव ही पारमार्थिक असत्त्व है—यह भी प्रकृति में नहीं है।

रूप अर्थ के विषय में विचारकों के इस प्रकार के दृष्टि-भेद पूर्वोक्त कारण से ही सम्भव हुए हैं ॥ ८ ॥

ये सभी दर्शन यदि अर्थवादमूलक हैं, तो वास्तविक दर्शन कौन है ? इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत कारिका द्वारा करते हैं— वेद

सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा ।
युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिना ॥ ९ ॥

तत्र सर्ववादाविरोधिना प्रणवरूपेण युक्ता एकपदागमा विद्या एव सत्या विशुद्धिः उक्ता ॥ ९ ॥

उस वेद में सम्पूर्ण वादों-प्रवादों-दर्शनों के अविरोधी प्रणवरूप से युक्त, एकपदागमा विद्या ही सत्य शोध के रूप में कही गई है ।

वृत्तिः—इहैवैकस्मिन् सर्वरूपे ब्रह्मणि यः परिकल्पः, स विरुद्धरूपाभिमतेभ्यः परिकल्पान्तरेभ्यो न भिद्यते । अपि खलु ब्रह्मविद आहुः—

'प्रदेशोऽपि[1] ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्पश्च' इति । तथा 'सर्वं दर्शनमन्यूनमविकल्पं सविकल्पमिवायमत्रान्तरः पुरुषोऽभिमन्यते ।' इति ।

अत्र प्रणवः सर्वाभ्यनुज्ञाविषयः सर्वश्रुतिरूपः प्रकृतिसर्वनाम सर्वदर्शनोदयप्रत्यस्तमययोनिः सर्वविरुद्धार्थोपग्राही सर्वथेदं ब्रह्माभ्यनुजानाति सर्वथा च प्रतिषेधति । न च प्रतिषेधाभ्यनुज्ञयोरस्य प्रवृत्तितत्त्वं विकल्पते । तथा ह्याहुः –

तदेतदेकं नैकं च तथोभे नाप्युभे न च ।
कर्मस्था विषमं ब्रूयुः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः ॥ इति ॥ ९ ॥

विवरण—वस्तुतः तत्त्व अर्थात् ब्रह्म या एकत्ववाद और अतत्त्व अर्थात् जागतिक प्रपञ्च और विविध दर्शन इनमें वास्तविक भेद नहीं है—यही ज्ञानवृद्धों में विख्यात परम्परागत आगम है । अविचारित तत्त्व को ही लोग अतत्त्व के रूप में जानते हैं । यथा—

न तत्त्वातत्त्वयोर्भेद इति वृद्धेभ्य आगमः ।
अतत्त्वमिति मन्यन्ते तत्त्वमेवाविचारितम् ॥ ७ ॥

—वा० प० तृतीय काण्ड, द्रव्यसमुद्देश ।

हेलाराज ने इस पर टीका करते हुए कहा है—'तत्त्वमेव यथा प्रतिभासं भेदेन चकासदविचारितरमणीयं प्रपञ्चोऽतत्त्वमिति व्यवह्रियत इति ब्रह्म विदः । तथा

---

१. द्वाद० चक्र, पृ० २९५ में उद्धृत है—'तस्य ह्येकोऽपि प्रथनं प्रतिदेशः सर्वाविभक्तभवनवृत्त्यात्मकत्वात् सार्वरूपमनतिक्रान्तः ततोऽभेदपक्ष एव दर्शनम् !' यहाँ 'प्रदेशः' के स्थान पर 'प्रतिदेशः' पाठ है । मल्लवादी ने इस ग्रन्थ को देखा होगा ।

चाविचारितरमणीयं परीक्षया व्यवस्थापितं तत्त्वमेवाभिन्नं तीर्थिका भेददर्शनव्यवस्थिता भेदात्मकमतत्त्वं मन्यन्त इति विचारेणाविद्याविलये ब्रह्मैकनिष्ठता दर्शनानाम्। तदुक्तम्—सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवेत्यादि।'

तत्त्व ही घटपटादि भेदों के रूप में प्रकाशित होता हुआ अविचारित रमणीय प्रपञ्च या अतत्त्व के रूप में व्यवहृत होता है—ऐसा ब्रह्मज्ञानियों का कथन है। परीक्षा द्वारा व्यवस्थापित एक अखण्ड तत्त्व को ही, भेददर्शनवादी शास्त्रज्ञ लोग भेदात्मक अतत्त्व के रूप में जानते हैं। विचार द्वारा अविद्या के शान्त हो जाने पर दर्शनों की ब्रह्मैकनिष्ठता सिद्ध है। जैसा कि कहा गया है—'सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता'।

'एकं पदमागमो यस्याः सा एकपदागमा। ततो हि पदात्सा गम्यते। ततो हि प्राप्यते। तथा हि वेद उक्तम्—'ओमित्यक्षरमुद्गीथमुपासीत'। —पद्धति

एक प्रणवरूप पद ही जिसका आगम या बोधक है, ऐसी विद्या सत्या विशुद्धि या वास्तविक तत्त्व है। विद्या ही ब्रह्म है—'यत्तत् विद्यात्मकं ब्रह्म'—पद्धति। हेलाराज कहते हैं—'तत्र योऽयं प्रकाशः सा विद्या। अप्रकाशस्तु तमोऽविद्या। न च प्रकाशाभावो नाम कश्चित्प्रमाणसिद्धो निरूप्यः। तत्रश्च योऽयं भेदप्रकाशः स एवैकघनप्रकाशाभावः प्रकाशविच्छेदोऽविद्या।' प्रकाश ही विद्या है; अप्रकाश तम को अविद्या कहते हैं। प्रकाश का अभाव अप्रकाश है, ऐसा नहीं। भेदप्रकाश ही एकघनप्रकाशाभाव है; इस प्रकाशविच्छेद का नाम अविद्या है।

पीछे कहा गया है कि शब्दब्रह्म जो एक है विद्या और अविद्या इन दो शक्तियों के रूप में विभक्त होता है। अथवा विद्या उसका अविभक्त रूप है और अविद्या विभक्त—'विद्याविद्याप्रविभागमप्रविभागं-ब्रह्म'—वृत्ति। श्रीवृषभ स्फुटाक्षरा-पद्धति में कहते हैं—विद्या प्रणवस्वभाव से युक्त है, क्योंकि प्रणव ही ब्रह्म है और वही विद्या है। यह प्रणव सम्पूर्ण शक्तियों से युक्त है। सर्ववादाविरोधिना में वाद का अर्थ है शक्ति। 'सर्ववादाविरोधिनी' पाठ भी उपलब्ध होता है।

इस एकमात्र सर्वरूप ब्रह्म में जो परिकल्प या दर्शनभेदावभास है, वह दर्शनान्तरों से, जो परस्पर विरुद्ध हैं भिन्न नहीं है। ब्रह्मवेत्ताओं ने भी कहा है—'ब्रह्म का घट-पटादि रूप प्रदेश भी, ब्रह्म की सर्वरूपता से अतिक्रान्त नहीं है और अविकल्प भी है अर्थात् प्रदेश का प्रदेशान्तर से जो भेद विकल्प है—यह घट है और यह उससे भिन्न पट—ऐसा नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि समस्त दार्शनिक सिद्धान्त पूर्ण हैं और एक-दूसरे से अभिन्न भी, किन्तु यह जीव अविद्यावश अभिन्न वस्तु को भिन्न के समान देखता है।'

वेद में प्रणव समग्र दार्शनिक दृष्टियों का समर्थन करता है। समस्त वेद उसी से विवर्तन को प्राप्त होते है, अतः उसे सर्वश्रुतिरूप कहा जाता है। प्रकृतिगत सभी पदार्थों का सूचक एक मात्र नाम है। अथवा प्रकृति रूप में कल्पित प्रधान, परमाणु

आदि का अभिन्न रूप है। जैसे भिन्न भी घट-पटादि पदार्थ 'यह' 'वह' आदि सर्वनाम के अन्दर अभिन्न रूप से स्थित रहते हैं; जैसे अन्य लिङ्ग नपुंसकलिङ्ग में अभेद रूप से स्थित देखे जाते हैं, इसलिए नपुंसक को लिङ्गसर्वनाम कहते हैं; और जैसे स्वरसर्वनाम एकश्रुति है वैसे ही प्रणव प्रकृति सर्वनाम है। इसी से समस्त दर्शन उदित होते हैं और इसी में लीन हो जाते हैं। यह सब विरुद्ध अर्थों को स्वीकार करता है—अर्थात् प्रधान से कार्य को अव्यतिरिक्त माना जाता है और परमाणु से उत्पन्न कार्य व्यतिरिक्त। ये दोनों दर्शन परस्पर विरुद्ध हैं तो भी ओङ्कार के निकट स्वीकृत हैं। जैसे-जैसे भिन्न-भिन्न दर्शन ब्रह्म से विविध रूपों की कल्पना करते हैं, वैसे-वैसे प्रणव वेद के रूप में विवृत्त होकर और वेद में समस्त दर्शनों के भेदमूलक अर्थवादों के विद्यमान होने के कारण उन्हें सर्वथा स्वीकृति प्रदान करता है। साथ ही भेदरूप के असत्य होने से वेदरूप में विवृत्त प्रणव 'सलिल एवाद्वैत'—इत्यादि श्रुतियों से भेदरूपता का प्रतिषेध भी करता है। ऐसा होने पर भी प्रणव का जो प्रवृत्तितत्त्व ब्रह्म है, वह इस प्रतिषेध और सम्यनुज्ञा द्वारा भिन्न नहीं हो जाता है। तत्त्व के एक रूप से स्थित होने के कारण तथा तद्व्यतिरिक्त अन्य वस्तु के अभाव में प्रतिषेध और अभ्यनुज्ञा के विषय की जो तात्त्विक वृत्ति है उसमें भेद नहीं है। जैसा कि कहा है—'वह प्रसिद्ध ब्रह्म एक है' स्वरूपतः एक होने के कारण यहाँ वस्तु के एकत्व दर्शन की अभ्यनुज्ञा—समर्थन स्पष्ट है। 'वह एक नहीं है'—भेदावभासात्मक विवर्त की दृष्टि से यहाँ एकत्व का निषेध भी किया गया है। वह अभयरूप है; वह उभयरूप नहीं है। जो कर्मस्थ हैं—कर्म से फल की इच्छा रखते हैं वे भेददर्शन मानने वाले विषमवादी हैं। और जो कर्मों को असत्य मानकर उपनिषद् विहित ज्ञान की उपासना में तत्पर सत्त्वस्थ अर्थात् ज्ञानस्थ हैं, वे समदर्शी या अभेद दर्शन के समर्थक हैं।

महाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्व के अध्याय २३२ में यह श्लोक कुछ परिवर्तित रूप में मिलता है। यथा—

एतमेव च नैवं च न चोभे नानुभे न च।
कर्मस्था विषयं (विषमं) ब्रूयुः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः ॥

—गीताप्रेस संस्करण

महाभारत में पौरुष और भाग्य का प्रसङ्ग है। कर्मवादी लोगों में कुछ का कहना है कि पुरुषार्थ सब कुछ है। दूसरे कहते है कि ऐसा नहीं, भाग्य ही सब कुछ है। अन्य जनों का कहना है कि पुरुषकार और भाग्य दोनों मिलकर कार्य करते हैं, ऐसा भी नहीं। कुछ इतर लोगों की उक्ति है कि दोनों मिलकर कार्य करते हैं। इस प्रकार कर्मवादियों का निरूपण संशय युक्त है। योगी लोग समदर्शी हैं; एक मात्र ब्रह्म को ही सर्वत्र कर्त्ता मानते हैं। यहाँ 'विषयं' के स्थान पर 'विशयं' पाठ रहा होगा। यह श्लोक कुछ भिन्न रूप में महाभारत-शान्तिपर्व (अध्याय २३८।६) में भी उपलब्ध है। यथा—

एतदेवं च नैवं च न चोभे नानुभे तथा ।
कर्मस्था विषयं (विशयं) ब्रूयुः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः ।।

न केवल विभिन्न दर्शन अपि तु व्याकरणादि अङ्ग और शकुनज्ञानादि उपाङ्ग रूप विद्याएँ भी वेद से ही उत्पन्न हुईं—ऐसा प्रस्तुत कारिका में निरूपण किया गया है—

विधातुस्तस्य लोकानामङ्गोपाङ्गनिबन्धनाः ।
विद्याभेदाः प्रतायन्ते ज्ञानसंस्कारहेतवः ।। १० ।।

expanded

लोकानां विधातुः तस्य अङ्गोपाङ्गनिबन्धनाः ज्ञानसंस्कार हेतवः विद्याभेदाः प्रतायन्ते ।

तीनों लोकों अथवा मनुष्यों की उत्पत्ति एवं व्यवस्था के कर्ता उस वेद के अङ्ग तथा उपाङ्गों से ज्ञान एवं संस्कार की कारणभूत अनेक विद्याएँ विकसित होती हैं ।

वृत्तिः—वेदो हि लोकानां प्रकृतित्वेन चोपदेष्टृरूपत्वेन च विवर्तेषु व्यवस्थासु च विधाता । प्रणव एव वेद इत्येके । स हि सर्वशब्दार्थप्रकृतिरिति । एतस्मिंश्च दर्शने विद्याभेदाः प्रणवात्मतया वेदतत्त्वं नातिक्रामन्ति । तदाहुः—

सर्वा वाचो वेदमनुप्रविष्टाः । नावेदविन्मनुते ब्रह्म किञ्चित् ।। इति ।

तथा—'विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः' । इति ।

विवरण—समस्त लोकों का मूलकारण वेद है तथा यही ऋगादि रूप वेद उपदेष्टा भी है, अतः घट-पटादि जागतिक विवर्तों का कारण होने से एवं वर्णाश्रम-व्यवस्था का उपदेशक होने से वेद को विधाता कहा जाता है । वेद के सम्बन्ध में दो मत हैं । कुछ लोग कहते है कि प्रणव ही[1] वेद है, क्यों कि वह समस्त शब्द जगत् और अर्थ जगत् का मूलकारण है । प्रणव ही वेद है, इस मत में समग्र विद्याएँ प्रणवात्मक वेदतत्त्व का अतिक्रमण नहीं करतीं । जैसा कि कहा है—

'सारी विद्याएँ वेद के ही अन्तर्गत हैं । जो प्रणवात्मक वेद को नहीं जानता, वह शब्द और अर्थ जगत् के किसी अंश को ब्रह्म नहीं मान सकता ।'

वेद के अर्थ को लेकर दूसरा मत है—'विधि अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थ, विधेय—मन्त्र-भाग और तर्क—मीमांसा, यही वेद है ।

यह उद्धरण पारस्करगृह्यसूत्र का है । वहाँ का पाठ इस प्रकार है—

'विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः षडङ्गात्मकः ।' —पा० गृ० सू० २-६, ५-६ ।

---

१. ॐ खं ब्रह्म । खं पुराणं वायुरं खमिति ह स्माह कौरव्यायणी पुत्रो वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुः वेदैनेन यद्वेक्तिव्यम् । वेदोऽयमोङ्कारः—शङ्कराचार्य ।

—बृहदारण्यक, अध्याय ५, ब्राह्म १

मुम्बई संस्करण में 'षडङ्गमेके' ऐसा पाठ है। स्पष्ट है कि भर्तृहरि के समय 'विधिविधेयस्तकंश्च वेदः' यही पाठ रहा होगा।

वृत्तिः—'प्रणवाङ्गोपाङ्गेभ्यश्च श्रुतिस्मृतित्रय्यन्तादिभ्यो विद्याभेदाः प्रभवन्ति सम्यग्ज्ञानहेतवः पुरुषसंस्कारहेतवश्च। ज्ञानात्मकत्वाद्वा पुरुषस्यैव संस्कारहेतवः। वेदाख्यस्य प्रसिद्धस्य ब्रह्मणोऽङ्गेभ्यो ज्यौतिषादिभ्यः शकुनज्ञानादय उपाङ्गेभ्यश्च स्वप्नविपाकयोनिज्ञानादयो विद्याभेदाः प्रसिद्धा लोके ॥ १० ॥

विवरण—प्रणव के अङ्ग और उपाङ्गरूप श्रुति, स्मृति और उपनिषद् आदिकों से अनेक विद्याएँ प्रादुर्भूत होती हैं, जो मनुष्य के सम्यक् ज्ञान और संस्कार की जननी हैं। अथवा ज्ञानात्मक संस्कार की हेतु हैं। 'ज्ञानसंस्कारहेतवः' इस पद का वृत्तिकार ने द्विधा अर्थ किया है। श्रीवृषभ कहते हैं—'सम्यग्ज्ञानहेतव इति अभेदज्ञानहेतवः। पुरुषसंस्कारहेतव इति। संस्कारो धर्मः तदभिव्यक्तिहेतवः। ज्ञानं च संस्कारश्चेति।'

दूसरे अर्थ के सम्बन्ध में श्रीवृषभाचार्य का कथन है—'वृत्तिव्याख्याता षष्ठीसमासमाह—ज्ञानात्मकत्वाद्वा इति। ज्ञानसंस्कार एव पुरुषसंस्कारः। उत्पन्नज्ञानातिशया हि संस्कृता उच्यन्ते इति।'

यहाँ 'वृत्तिव्याख्याता' इसका वृत्ति के व्याख्याता ऐसा अर्थ नहीं करना चाहिए, किन्तु वृत्तिरूप व्याख्या के रचयिता, यही अर्थ उचित है। अन्यथा श्रीवृषभ से पूर्वभावी किसी अन्य वृत्ति के टीकाकार का व्याख्यान वृत्ति में सन्निविष्ट हो गया है, जिसका निर्देश श्री वृषभ कर रहे हैं, ऐसा मानना होगा।

प्रणवाङ्गोपाङ्गेभ्यश्च का श्रीवृषभ-सम्मत अर्थ है—प्रणव शब्द द्वारा बोध्य जो वेद है, उसके अङ्गों और उपाङ्गों से पातञ्जलादि विद्या विशेष उत्पन्न होते हैं। 'अपरे व्याचक्षते' कह कर आगे पद्धतिकार किसी अन्य व्याख्याकार का अर्थ करते हैं—प्रणवस्वरूप श्रुत्यादिकों से—अपरे व्याचक्षते प्रणवस्वरूपेभ्य श्रुत्यादिभ्य इत्येवमेतद्वेदितव्यम्। श्रुतिः प्रणवः, स्मृतिः काचिदङ्गं व्याकरणादिलक्षणा, काचिदुपाङ्गं चिकित्सादिलक्षणा, त्रय्यन्ता वेदान्ताः।' स्वयं श्रीवृषभ ने श्रुति से अर्थवाद, स्मृति से व्याकरणादिक और त्रय्यन्त से उपनिषद् एवं आदि शब्द से श्लोकादि का ग्रहण किया है। वेद के दूसरे ऋगादिरूप अर्थ को लेकर वृत्तिकार कहते हैं—लोक में प्रसिद्ध अर्थवाद से युक्त उपनिषद्, ब्राह्मण एवं मन्त्र से समन्वित जो वेदाख्य ब्रह्म है, उसके ज्योतिषादिक अङ्गों से तथा शकुनज्ञानादि उपाङ्गों से स्वप्नविपाकज्ञान तथा योनिज्ञान—अनेक द्रव्यसंयोग से विशिष्ट प्राण्युत्पत्ति जिससे जानी जाती है (योनिज्ञानम्, अनेकद्रव्यसंयोगात् विशिष्टप्रामाण्यो (प्राण्यु ?)त्पत्तिर्येन ज्ञायते) तथा आदि शब्द से योगमाला आदि लोकप्रसिद्ध विद्याएँ उत्पन्न होती हैं ॥ १० ॥

अग्रिम कारिका में वेद के मुख्य अङ्ग व्याकरण की प्रशंसा का उपक्रम करते है—

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः ।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः ॥ ११ ॥

most imp

बुधाः तस्य ब्रह्मणः आसन्नं, तपसां उत्तमं तपः, छन्दसां प्रथमं अङ्गं व्याकरणं प्राहुः ॥

विद्वानों ने, उस वेदाख्य ब्रह्म के निकटवर्ती-साक्षात् उपकारक, तपों में उत्तम तपरूप व्याकरण को वेदों का प्रमुख अङ्ग कहा है ।

वृत्तिः—तस्य शब्दब्रह्मणो हि यतः स्वरूपसंस्कारः साधुत्वप्रतिपत्त्यर्थः तदासन्नं साक्षादुपकारि । उपकारविशेषकृता ह्यासत्तिः समाख्याता । ऊह्यं चाम्नायान्तरम् । इदमूह्यमिदमनूह्यमिति न्यायादवस्थिते सम्यग्विपरिणतौ लिङ्गवचनादीनां व्याकरणं निबन्धनमिति, आम्नायान्तरप्रतिपत्तिहेतुत्वादासन्नमिति व्यपदिश्यते ।

विवरण—पीछे लोकविधाता वेद की चर्चा की गई है; उसी को प्रस्तुत कारिका में ब्रह्म के नाम से उल्लिखित किया गया है । वृत्तिकार 'ब्रह्मणः' का अर्थ करते हैं—'शब्दब्रह्मणः' । श्रीवृषभ 'शब्दब्रह्मणः' पर टीका करते हुए कहते हैं—शब्दरूपेण विवृत्तस्य ब्रह्मणः—अर्थात् शब्दरूप में विवृत्त ब्रह्म या ऋगाद्यात्मक वेद ।

वस्तुतः भगवान् भर्तृहरि यहाँ शब्दब्रह्म से ऋगादिरूप वेद का ही उल्लेख करते हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि 'प्राप्तरूपविभागायाः' इस कारिका की वृत्ति में वे कहते हैं—'लक्षणप्रपञ्चाभ्यां शब्दब्रह्मणः कृत्स्नस्य लघुनोपायेन समधिगमनिमित्तम् ।' 'शब्दब्रह्मणः कृत्स्नस्य' का अर्थ है—'शब्दराशि' ।

साधुत्वज्ञान के लिए वेदाख्य शब्दब्रह्म का प्रकृति और प्रत्ययात्मक विभागान्वाख्यान रूप जो स्वरूपसंस्कार है, वह व्याकरण द्वारा सम्पन्न होता है; अतः सम्पूर्ण शब्दराशि का वह साक्षात् उपकारक है । यहाँ संस्कार शब्द से विशिष्टोत्पत्ति रूप अर्थ का ग्रहण नहीं है, किन्तु प्रकृति-प्रत्यय आदि विभाग का अन्वाख्यान ही अभीष्ट है—'प्रकृतिप्रत्ययादिभिर्विभागान्वाख्यानम् ।'—पद्धति । यहाँ आसत्ति या नैकटच उपकार विशेष द्वारा सम्पादित समझना चाहिए । श्रीवृषभ कहते हैं—'उपकारविशेषो हि स्वरूपाधानेन अव्यवधानेन च' ।

व्याकरणशास्त्र की साक्षात् उपकारकता इस बात में है कि वह वेद या शब्दब्रह्म के स्वरूप का संस्कार करता है । दूसरी आसक्ति या उपकारकता है—आम्नायान्तर का ऊहन । 'ऊह्यं चाम्नायान्तरमस्ति'—यह शाबरभाष्य है । 'अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु विभागः—' मीमांसासूत्र २।१।३४ । इस सूत्र के उपर्युक्त भाष्य में कहा गया है कि आम्नायान्तर का भी ऊहन करना चाहिए । मीमांसा केवल यही व्यवस्था देती है कि इसका ऊहन करना और इसका नहीं । वह ऊह्यमान मन्त्र के स्वरूप का बोध

नहीं कराती। यह कार्य अर्थात् लिङ्ग, वचन और विभक्ति की विपरिणति या सम्यक् विनियोग (ऊह) तो व्याकरण का ही व्यापार है। इसलिए भी व्याकरण साक्षात् उपकारक है। आश्रय या प्रकृति, लिङ्ग, वचन और विभक्ति के भेद के ऊह होता है। जैसे 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' इस मन्त्र में 'अग्नये' यह प्रकृति है। इसके स्थान पर 'सूर्याय' पद का समूहन करके सूर्य सम्बन्धी विकृतियाग में मन्त्र को इस प्रकार पढ़ा जायेगा—'सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि।' यह आम्नायान्तर हुआ। इसी प्रकार 'जूरसि धृता मनसा जुष्टा विष्णवे—' मन्त्रगत स्त्रीलिङ्ग के स्थान पर पुंल्लिङ्ग—'जूरसि धृतो मनसा जुष्टो विष्णवे तस्य ते सत्यसवस' इति का ऊहन करते हैं।

इसी प्रकार वचन एवं विभक्ति का ऊह व्याकरण के द्वारा सम्भव है। अतः आम्नायान्तर की प्रतिपत्ति का कारण होने से व्याकरण को आसन्न अर्थात् वेद के अत्यन्त निकट कहा जाता है।

महाभाष्यदीपिका में भी भर्तृहरि ऊह का विवेचन करते हुए कहते हैं—

'एवमिदमूह्यमिदमनूह्यमिति न्यायादवस्थिते लिङ्गवचनविभक्तीनां सम्यग्विनियोगे व्याकरणस्य व्यापारः।'

वृत्तिः—तपसामुत्तमं तपः। यानि लोके तपस्त्वेनाख्यातानि ब्रह्मचर्याधःशयनोदवासचान्द्रायणादीनि, ये च पवित्रतमाः स्वाध्यायास्तेषामिदं दृष्टादृष्टविशेषफलहेतुत्वादभिख्याततमं तपः। यस्याक्षरसमाम्नायस्य ज्ञानमात्रेण सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिरागमेन स्मर्यते, तच्छन्दसां प्रथममङ्गं, प्रधानत्वात्। एवं ह्याह—'प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणं, प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति।' इति॥ ११॥

विवरण—तप दुःखात्मक होता है; इसका फल है—पूर्वकृत अधर्म का क्षय। व्याकरण के अध्ययन में बड़ा दुःख होता है, अतः दुख का हेतु होने से व्याकरण उत्तम तप है। लोक में तप रूप में विख्यात जो ब्रह्मचर्य, अधःशयन, जल में निवास और चान्द्रायण[1] आदि हैं, तथा जो पवित्रतम पुरुषसूक्तादि स्वाध्याय हैं, उनमें यह व्याकरण दृष्ट और अदृष्ट फल का कारण होने से अभिख्याततम तप है। व्याकरण का दृष्ट फल है—पद-पदार्थ का ज्ञान और अदृष्ट फल है—मोक्ष।

जिसके अक्षरसमाम्नाय—वर्णमाला या प्रत्याहार के ज्ञान मात्र से समस्त वेदों के अध्ययन करने पर जो पुण्य मिलता है वही पुण्यफल मिल जाता है—ऐसा आगम-महाभाष्य में कहा गया है। वह व्याकरणशास्त्र-प्रधान होने से वेदों का प्रथम अङ्ग है। जैसा कि महाभाष्यकार ने पस्पशाह्निक में कहा है—

---

१. चान्द्रमयनम्—वृद्धिह्रासानुगमः चान्द्रायणम्। 'श्वोभूतां पौर्णमासीमुपवसेत्' इत्यादिना विधानेन प्रतिपद आरभ्य एकपिण्डाशनोत्कर्षेण पञ्चदश पूरयित्वा पुनस्तथैव ह्रास इत्येवमादिकः। आदिशब्दात् कृच्छ्रादीनि—पद्धति।

छन्द, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष और व्याकरण—इन छः अङ्गों में व्याकरण प्रधान है। प्रधान विषय में किया हुआ यत्न अतिशय फल वाला होता है।'

पुनः व्याकरण की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

प्राप्तरूपविभागाया यो वाचः परमो रसः।
यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः ॥ १२ ॥

प्राप्तरूपविभागायाः वाचः यः परमः रसः, यत् तत् पुण्यतमं ज्योतिः, तस्य अयं आञ्जसः मार्गः।

विविध रूपात्मक विभाग को प्राप्त वाणी का जो साधुशब्द समूहात्मक परम रस है, जिसे अर्थप्रकाशक होने के कारण पुण्यतम ज्योति के नाम से कहा जाता है, उस शुद्ध शब्दराशि के ज्ञान का यह व्याकरणागम सरल मार्ग है।

वृत्तिः—अभिन्नात् संहृतक्रमादन्तःसन्निवेशिनः शब्दतत्त्वाद्वर्णपदवाक्यलक्षणं रूपविभागं स्थानादिभेदेन प्राप्ताया वाचः। अभिधेयत्वेन वा गवादिरूपविभागोपग्रहं नित्येनार्थसम्बन्धेन प्राप्ताया वाचः। वाच एव वा विभागा गवादित्वेनावतिष्ठन्ते। गवादयश्च वाह्यार्थरूपा इव विभागाः पुनः श्रुतिरूपत्वेन परिणमन्ते। तथा एके कार्यकारणभावमेव शब्दार्थयोः सम्बन्धं मन्यन्ते। एवं ह्याह—

नामैवेदं रूपत्वेन ववृते रूपं चेदं नामभावेऽवतस्थे।
एके तदेकमविभक्तं विभेजुः प्रागेवान्ये भेदरूपं वदन्ति ॥

विवरण—व्याकरणागम में शब्द के दो रूप सामान्यतया प्रसिद्ध हैं। एक अविभक्त रूप और दूसरा विभक्त रूप। अविभक्त रूप को ही शब्दतत्त्व कहते हैं। यह अन्तःसन्निवेशी, संहृतक्रम और अखण्ड शब्दब्रह्म के नाम से जाना जाता है। अन्तःसन्निवेशी में अन्तः शब्द बुद्धि का बोधक है। भगवान् भर्तृहरि ने दो प्रकार की बुद्धि का निर्देश किया है। प्रथम प्रतिसंहृतक्रमशक्तियोगा बुद्धि और द्वितीय क्रमरूपोपसंहारविषया बुद्धि। प्रथम में शब्दों के वर्ण-पदादि क्रम का संहार होने पर भी क्रमशक्ति का योग बना रहता है। वर्ण-पदादि क्रमहीन और क्रमशक्ति संयुक्त बुद्धिस्थ शब्द को अन्तःसन्निवेशी संहृत या प्रतिसंहृतक्रम शब्दतत्त्व कहते हैं। यथा—

'यत्र तु प्रतिसंहृतक्रमयोगया बुद्ध्या निमित्तान्तरोपसम्प्राप्तमव्यक्ते शब्देऽध्यारोपितं हि शब्दानां क्रमरूपमिव साक्षात्क्रियते तत् प्रतिसंहृतक्रमम्।'

—द्वितीय काण्ड, का० १९ की वृत्ति।

इसी के सम्बन्ध में कहा गया है—

'नित्यस्तु सर्वव्यवहारयोनिः संहृतक्रमः सर्वेषामन्तःसन्निवेशी, प्रभवो विकाराणा-

माश्रयः कर्मणामधिष्ठानं सुखदुःखयोः, सर्वत्राप्रतिहतकार्यशक्तिः, घटादिनिरुद्ध इव प्रकाशः परिगृहीतभोगक्षेत्रावधिः, सर्वमूर्तीनामपरिमाणा प्रकृतिः।'

—वा० प० काण्ड १, कारि० १२२ की वृत्ति।

प्रथम कारिका की वृत्ति में अन्तःसन्निवेशी के सम्बन्ध में विचार किया गया है। इस अन्तःसन्निवेशी, संहृतक्रम नित्य शब्द को 'अन्तर्यामी स भूतानाम्' द्वारा अन्तर्यामी की आख्या प्रदान की गई है। द्वैतप्रवाद के प्रसङ्ग में भी अन्तर्यामी की चर्चा आई है। यह अन्तर्यामी ईश्वर है और यही शब्दब्रह्म भी। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (गीता १८।६१) की व्याख्या में नीलकण्ठ, मधुसूदनसरस्वती आदि व्याख्याकारों ने 'ईश्वर ईशनशीलोऽन्तर्यामी पृथिव्यादीनामस्माकं च सर्वप्राणिनां हृद्देशे बुद्धिगुहायां सर्वप्राणिप्रवर्तकः तिष्ठति' (नीलकण्ठ); 'ईश्वर ईशनशीलो नारायणः सर्वान्तिर्यामी 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति' 'यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तः बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।' इत्यादिश्रुतिसिद्धः।' —मधुसूदन

भगवान भर्तृहरि भी कहते हैं—'सर्वेश्वरः सर्वशक्तिर्महान् शब्दवृषभः, तस्मिन् खलु वाग्योगविदो विच्छिद्याहङ्कारग्रन्थीन् अत्यन्तविनिर्भागेन संसृज्यन्ते।'

—वा० प० १।११२ की वृत्ति।

बृहदारण्यकोपनिषद् के अन्तर्यामिब्राह्मण में कहा गया है कि अधिदैव (पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु आदि), अधिभूत (प्राणिवर्ग) और अध्यात्म बुद्धयादि में जो वर्तमान रहता है और जिसको पृथिवी तथा बुद्धयादि के देवता नहीं जानते और पृथिव्यादि जिसके शरीर हैं और पृथिव्यादि के देवताओं का जो नियमन करता है, वही अन्तर्यामी अमृत तत्त्व है। अन्तः और हृद्देश एक ही पदार्थ हैं। बृहदारण्यकभाष्य में भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं—'हृच्छब्देन पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डम्, तात्स्थ्याद् बुद्धिर्हृत् तस्यां हृदि बुद्धौ, अन्तरिति बुद्धिव्यतिरेकप्रदर्शनार्थम्।' हृत् शब्द से पुण्डरीकाकार मांसपिण्ड कहा गया है। उसमें रहने के कारण बुद्धि भी हृत् है। उस बुद्धि में विद्यमान आत्मा प्रकाशक होने के कारण ज्योति के नाम से कहा गया है। 'अन्तः' शब्द से आत्मा की बुद्धि व्यतिरिक्तता बोधित होती है। —अध्याय ४ ब्राह्मण ३

उपर्युक्त पुण्डरीकाकार मांसपिण्ड को दहरपुण्डरीक[1] कहते हैं। इसके अन्दर वर्तमान आकाश को भी दहर कहते हैं। यह दहराकाश या चिदाकाश ही ब्रह्म है;

---

१. अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति।

—छान्दोग्योपनिषद्, अध्याय ८ खण्ड १

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति। —वही

बुद्धि इसी के आश्रित विद्यमान रहती है। दहराकाशात्मक ब्रह्मचैतन्य का प्रतिविम्ब बुद्धि में पड़ता है। इस बुद्धिस्थ चैतन्य को संहृतक्रम अन्तःसन्निवेशी शब्दतत्त्व कहते हैं। यही प्रतिसंहृतक्रमा पश्यन्ती वाक् है।

'प्रतिसंहृतक्रमा सत्यप्यभेदे समाविष्टक्रमशक्तिः पश्यन्ती।'

आचार्य सूर्यनारायण शुक्ल इसे आवृता पश्यन्ती कहते हैं। यह सम्पूर्ण वाग्विकारों की प्रकृति या प्रतिभा है। श्री वृषभाचार्य कहते हैं—'येयं समस्तशब्दार्थकारणभूता बुद्धिः या पश्यन्तीत्याहुः। यतः शब्दाः प्राणवृत्तिमनुपतन्ति।'

—'तद्द्वारमपवर्गस्य' की वृत्ति की पद्धति।

इसके अनन्तर बुद्धि की एक ऐसी दशा आती है, जहाँ बुद्धि रहती हुई भी नहीं सी रहती है। यह पूर्वोक्त दहराकाश (चिदाकाश) अथवा साक्षी चेतन में प्रलीन हो जाती है। इस विम्बभूत चैतन्य को शब्दातीत कहने की प्रथा है—

'शब्दानां क्रमरूपोपसंहारविषयायां बुद्धौ असम्प्रख्याततत्त्वमिव प्रतिपद्यमानाया-मारभ्यते शब्दातीतो व्यवहारः।'   —वा० प० द्वि० काण्ड, का० १९ की वृत्ति।

इस दशा को अनावृता या परपश्यन्ती कहते हैं। यही पराप्रकृति या परावाक् है। सत्ता रूप[१] कार्योत्पादनाभिमुख्यात्मक प्रतिभा या प्रकृति अथवा अपरपश्यन्ती के अनन्तर, शब्दपूर्वयोग की अभ्यास भावना से जब सम्पूर्ण विकारों का उल्लेख—अव्यक्त उन्मेष भी अस्त हो जाता है, तब पराप्रकृति की स्थिति आती है।

शब्दतत्त्व या शब्दब्रह्म किसे कहा जाय—यह प्रश्न यहाँ उपस्थित होता है। भगवान् पतञ्जलि ने 'णेरणौ यत्कर्मणौ चेत्स कर्ताऽनाध्याने' (१।३।६७) सूत्र के भाष्य में दो आत्माओं की चर्चा की है—एक अन्तरात्मा[२] और दूसरा शरीरात्मा—

'द्वावात्मानौ अन्तरात्मा शरीरात्मा च। अन्तरात्मा तत्कर्म करोति येन शरीरात्मा सुखदुःखे अनुभवति। शरीरात्मा तत्कर्म करोति येनान्तरात्मा सुखदुःखे अनुभवतीति।'

मनुस्मृति (अ० १२) में आत्माओं का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—

'योऽस्यात्मनः[३] कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते।
यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः॥

---

१. तस्माच्च सत्तानुगुण्यमात्रात्प्रतिभाख्यात् शब्दपूर्वयोगभावनाभ्यासाक्षेपात् प्रत्यस्तमित सर्वविकारोल्लेखमात्रां परां प्रकृतिं प्रतिपद्यते।   —वृत्ति।

२. कैयट ने व्याख्या की है कि सांख्यमत से अन्तरात्मा का अर्थ है—अन्तः-करण, क्योंकि पुरुष अकर्ता है; और न्यायवैशेषिक के मत में पुरुष ही अन्तरात्मा है। शरीरात्मा का अर्थ देह है।

'साङ्ख्यमतेऽन्तःकरणमन्तरात्मा तस्यैव कर्तृत्वसम्भवात् पुरुषस्याकर्तृत्वात्। नैयायिकादीनां तु मते पुरुषस्य कर्तृत्वात् स एवान्तरात्मा विवक्षितः। शरीरात्मा सुखदुःखेति। शरीरस्याचेतनत्वात् सुखदुःखहेतुभ्यां शरीरं सम्बद्ध्यत इति व्याख्येयम्।'

३. जो इस आत्मा को प्रेरित करने वाला है उसे 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं; और जो

जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥

श्रीवृषभ अन्तःसन्निवेशी का अर्थ करते हैं—

'न बुद्धिस्थानकरणसन्निवेशिनः, भिन्नत्वात्तस्य ।'

'शब्दतत्व, बुद्धि, ताल्वादि स्थान और करण सन्निवेशी नहीं है, क्योंकि वह इनसे भिन्न है ।' वस्तुतः बुद्धिस्थ अक्रम शब्द, शब्दचैतन्य का प्रतिबिम्ब रूप है और बिम्व से भिन्न नहीं, अतः उसे भी शब्दतत्त्व कहने में कोई अनौचित्य नहीं है ।

अभिन्न, संहृतक्रम, अन्तःसन्निवेशी शब्दतत्त्व से स्थान, करण और अनुप्रदान द्वारा वाणी, वर्ण, पद और वाक्यात्मक रूपविभाग को प्राप्त करती है । शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य होने से वाणी गो-घटादि अभिधेयात्मक बौद्ध रूपविभागों को प्राप्त करती है । अथवा गो-घट आदि सांसारिक पदार्थ वाणी के ही विभाग हैं । इस प्रकार 'प्राप्तरूपविभागायाः'—इस पद की त्रिधा व्याख्या की गई ।

बाह्यार्थ रूप गवादि विभाग शब्द से ही उत्पन्न होते हैं और पुनः शब्दरूप में ही परिणत हो जाते हैं—अवस्थान करते हैं । यहाँ वृत्ति में 'इव' शब्द पठित है । श्रीवृषभ इसी के आधार पर सम्भवतः अर्थ करते हैं—'गवादिपदार्थाः बाह्यार्थरूपा इति न ते शब्दाः परमार्थतो बहिः सन्ति । बहिस्तु प्रत्यवभासमाना एवमभिहिताः ।' किन्तु प्रतीत होता है कि 'मवादयश्च' से लेकर परिणमन्ते पर्यन्त इस वाक्य में कुछ अपपाठ है ।

वाक् गवादि पदार्थों के रूप में परिणत होती है । वे गवादिक वाक् रूप में प्रलीन होकर विद्यमान रहते हैं । अतः कुछ लोग शब्द और अर्थ में कार्य-कारण भाव सम्बन्ध मानते हैं । जैसा कि कहा है—

कर्म करता है उसे विद्वानों ने 'भूतात्मा' कहा है । समस्त शरीरधारियों में स्वाभाविक रूप से विद्यमान जीवसंज्ञक अन्तरात्मा अन्य है, जिससे जन्म-जन्मान्तरों में सुख और दुःख का अनुभव किया जाता है ।

कुल्लूकभट्ट ने इसकी टीका में कहा है—'यः पुनरेष व्यापारान् करोति शरीराख्यः स पृथिव्यादिभूतारब्धत्वात् भूतात्मेति पण्डितैरुच्यते ।'

जो कर्म करता है तथा पृथिव्यादि भूतों से जिसकी रचना हुई है, वह शरीर ही पण्डितों द्वारा भूतात्मा के नाम से कहा जाता है । मेधातिथि ने इसी पर कहा है— अस्य शरीरस्य क्रियापरिस्पन्दात्मिका क्रियां स्वयं प्रवर्तयिता ' प्रयत्नवशेनास्य कर्तृत्वम् । स क्षेत्रज्ञः । अस्यात्मन इति समानाधिकरणे षष्ठी । आत्मशब्दस्य शरीरे वृत्तिः, तस्यापि आत्मार्थत्वात् । यः करोति पानादिलक्षणं तज्जन्यो यः शरीराख्यः कर्ता स भूतात्मोच्यते, पृथिव्यादिभूतसङ्घातो जघन्यत्वात् । भूतविकार आत्मा भूतात्मा । तदुक्तम्—द्वावात्मानौ अन्तरात्मा शरीरात्मा च ।

यह नाम या शब्द ही रूप या अर्थ के रूप में विवृत्त होता है—विशेष स्थिति को प्राप्त करता है। यह रूपपदार्थ शब्द के रूप में स्थित रहता है। इस प्रकार एक अविभक्त शब्दतत्त्व ही सृष्टि के अवसर पर विभक्त हो जाता है; ऐसा कुछ लोग मानते हैं। और दूसरे लोग शब्द की संवर्तावस्था में विवर्तन काल के पूर्व ही विविक्त रूप में शब्द और अर्थ स्थित रहते हैं, ऐसा मानते हैं।

वृत्तिः—परमो रस इति। वाचकत्वादभ्युदयहेतुत्वाच्च व्यवस्थितसाधुभावः शब्दसमूहोऽभिधीयते। एवं ह्याह—

'ऋजीषमेतद्वाचो यः संस्कारहीनः शब्दः'। इति।

यत्तत् पुण्यतमं ज्योतिः। इह त्रीणि ज्योतींषि त्रयः प्रकाशाः स्वरूपपररूपयोरवद्योतकाः। तद्यथा—

'योऽयं जातवेदा यश्च पुरुषेष्वान्तरः प्रकाशो यश्च प्रकाशाप्रकाशयोः प्रकाशयिता शब्दाख्यः प्रकाशस्तत्रैतत् सर्वमुपनिबद्धं यावत् स्थास्नु चरिष्णु च।' इति।

विवरण—वाचक अर्थात् अर्थप्रत्यायक एवं अभ्युदय का कारण होने से साधु शब्दसमूह सक्रमा वाणी का परम रस या सार है। जैसा कि कहा है—जो संस्कार हीन शब्द है, वह वाणी का किट्ट मात्र है।'

जैसे ईख आदि के निष्पीडन से जनित रस उसका सार है, शेष असार तत्त्व को किट्ट या ऋजीष कहते हैं। वाणी के अपभ्रंश किट्ट स्थानीय हैं और साधुशब्द उसका सार है।

इस संसार में तीन ज्योतियाँ या तीन प्रकाश हैं; जो स्वरूप और पररूप को प्रकाशित करते हैं। इनमें साधु शब्दों को पुण्यतम तमज्योति कहा जाता है। जैसा कि कहा है—

यह जो जातवेदा—अग्नि है, वह अन्धकार के अपनयन से अपने तथा अपने से भिन्न को भी प्रकाशित करता है। पुरुषों में जो आन्तर बुद्धि रूप प्रकाश है, वह बाह्य घटादिकों को प्रकाशित करता है और अपने को भी स्वयं विदित होने से प्रकाशित करता है। और जो तीनों प्रकाशों एवं घटादि अप्रकाशों को भी प्रकाशित करने वाला शब्दाख्य प्रकाश है, उसमें यह सम्पूर्ण स्थावर और जंगम जगत् बँधा हुआ है।

वृत्तिः—तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः। सामान्यविशेषवद्धि लक्षणं लक्षणप्रपञ्चाभ्यां शब्दब्रह्मणः कृत्स्नस्य लघुनोपायेन समधिगमनिमित्तम्। उपदेशं चान्तरेण संस्कारवति निरपभ्रंशे शब्दब्रह्मणि लब्धप्रतिष्ठानां शिष्टानामनुमानम्। शिष्टज्ञानाच्च पृषोदरप्रकाराणां शिष्टप्रयोगत्वात् साधुत्वप्रतिपादने निमित्तं व्याकरणम्। तथा चोक्तम्—

शब्दार्थसम्वन्धनिमित्ततत्त्वं वाच्याविशेषेऽपि च साध्वसाधून् ।
साधुप्रयोगानुमिताँश्च शिष्टान्न वेद यो व्याकरणं न वेद ॥ १२ ॥

यह व्याकरणशास्त्र उस साधुशब्दसमूह के ज्ञान का सरल मार्ग है । इस कारिका द्वारा महाभाष्योक्त लाघवरूप प्रयोजन का उल्लेख किया गया है, क्योंकि प्रतिपदोक्त शब्दपारायण रूप मार्ग अत्यन्त दुर्गम है । जैसा कि कहा है—

'वृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम ।' —महाभाष्य, पश्पशाह्निक ।

लक्षण अर्थात् व्याकरणशास्त्र, सामान्य[1] एवं विशेष सूत्रों से सम्पन्न है । संज्ञा के लक्षक मूलसूत्र[2] और उसके विस्ताररूप सूत्रों से समग्र साधु शब्दराशि रूप शब्दब्रह्म के लघु उपाय द्वारा ज्ञान कराने का यह कारण है । सामान्यविशेषात्मक सूत्रों का श्रीवृषभ ने इस प्रकार उल्लेख किया है—

'उत्सर्गापवादविधिप्रतिषेधनिपातनातिदेशस्थान्यादेशलिङ्गनियमैः सप्तभिः सामान्यविशेषप्रकारैः ।'

सामान्य और विशेष सूत्र सात प्रकार के हैं—१. उत्सर्ग और अपवाद, २. विधि और प्रतिषेध, ३. स्थानी और आदेश आदि (दीपिका, भर्तृहरि), ४. विधि और निपातन, ५. विधि और अतिदेश, ६. लिङ्ग, तथा ७. विधि और नियम (अम्बाकर्तृ) जैसे 'कर्मण्यण्' (पा० ३।२।१) यह सामान्य सूत्र है; इससे कुम्भकारः, कण्डलावः आदि शब्द अण् प्रत्यय होकर निष्पन्न होते हैं । किन्तु गां ददाति का गोदायः न होकर 'आतोऽनुपसर्गे कः' इस विशेष सूत्र से क प्रत्यय होकर 'गोदः' शब्द बनता है ।

यहाँ साधु शब्दराशि के लिए भगवान् पतञ्जलि 'महान् शब्दौघ' शब्द का प्रयोग करते हैं और भगवान् भर्तृहरि 'कृत्स्न शब्दब्रह्म' का; यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है।

उपदेश अर्थात् अष्टाध्यायी के अध्ययन के विना अपभ्रंश रहित, संस्कार-सम्पन्न साधु शब्दसमूह या शब्दब्रह्म में लब्धप्रतिष्ठ शिष्यों का अनुमान किया जाता है। शिष्टों के ज्ञान से 'पृषोदर' जैसे अनन्वाख्यात शब्दों का शिष्ट प्रयोग होने के कारण साधुत्व प्रतिपादन सम्भव होता है । इस प्रकार परम्परा से उनकी साधुत्व प्रतिपत्ति में व्याकरण ही लघूपाय है । जैसा कि कहा है—

---

१. महाभाष्य में भी कहा है—

कथं तर्हीमे शब्दाः प्रतिपत्तव्या ? किञ्चित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम् । येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन् । किं पुनस्तत् ? उत्सर्गापवादौ ।

× × ×

सामान्येनोत्सर्गः कर्तव्यः । तद्यथा—'कर्मण्यण्' । तस्य विशेषेणापवादः तद्यथा—'आतोऽनुपसर्गे कः' । —पश्पशाह्निक ।

२. 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' यह लक्षण है और अग्रिम सूत्र इसी का प्रपञ्च है ।

शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध तथा शब्दों के प्रवृत्ति-निमित्त के तत्त्व को जो नहीं जानता; और जो वाच्याविशेष अर्थात् एक ही अर्थ में एक ही शब्द की साधुता और असाधुता को नहीं जानता तथा साधुप्रयोग से अनुमित शिष्टों को जो नहीं जानता, वह व्याकरण को भी नहीं जानता ॥ १२ ॥

पुनः व्याकरण की प्रशंसा में कहते हैं— Cause

expression अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम् ।
तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते ॥ १३ ॥

अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां निबन्धनं शब्दा एव, शब्दानां तत्त्वावबोधः व्याकरणात् ऋते नास्ति ।

अर्थ की प्रवृत्ति के तत्त्व अर्थात् कुछ कहने की इच्छा के कारण शब्द ही हैं, और शब्दों के तत्त्व साधुत्व का ज्ञान बिना व्याकरण के नहीं हो सकता ।

वृत्तिः—अर्थस्य प्रवृत्तितत्त्वं विवक्षा, न तु वस्तुस्वरूपतया सत्त्वमसत्त्वं वा । विवक्षा हि योग्यशब्दनिबन्धना । योग्यं हि शब्दं प्रयोक्ता विवक्षाप्रापित-सन्निधानेष्वभिधेयेषु प्रत्यर्थमुपादत्ते । तद्यथोपलिप्समानः प्रतिविषयं योग्य-मेवेन्द्रियमुपलब्धौ प्रणिधत्ते ।

विवरण—प्रस्तुत कारिका के प्रथम पद की भर्तृहरि ने छः व्याख्याएँ की हैं । इसके अतिरिक्त द्वादशारनयचक्र नामक जैन ग्रन्थ की न्यायागमानुसारिणी टीका में सिंहसूरिगणि ने तीन अन्य व्याख्याओं का उल्लेख किया है ।

भगवान् भर्तृहरि द्वारा सूचित प्रथम अर्थ इस प्रकार है—

विवक्षा कहने की इच्छा ही शब्दार्थ की प्रवृत्ति का तत्त्व है । घट-पटादि अर्थ विवक्षा में आरूढ़ होकर जब तक अपने को प्रदर्शित नहीं करते, तब तक उनके द्वारा शाब्द व्यवहार नहीं हो सकता । बुद्धि में आरूढ अर्थाकार ही विवक्षा है, क्योंकि इच्छा आकार से भिन्न नहीं होती । बाह्य वस्तुओं के रूप में विद्यमानता या अविद्य-मानता अर्थ के व्यवहार का तत्त्व नहीं है । क्योंकि विद्यमान भी पदार्थ यदि विवक्षा में आरूढ नहीं है तो वह अव्यवहार्य है । और असत् पदार्थ यदि विवक्षा द्वारा निकट उपस्थापित कर दिया गया है तो वह व्यवहार्य हो जाता है । वस्तुतः विवक्षा ही बाह्य पदार्थ की सत्ता या असत्ता की अपेक्षा न करके व्यवहार की प्रवृत्ति या निवृत्ति में कारण बनती है । भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है—'सतोऽप्यविवक्षा भवति । तद्यथा—अलोमिका एडका । अनुदरा कन्येति । असतश्च विवक्षा भवति । समुद्रः कुण्डिका । विन्ध्यो वर्धितकमिति ।' —महाभाष्य, अपादानसंज्ञा-प्रकरण ।

कहने की इच्छा के प्रतिपादन में समर्थ शब्द विवक्षा में हेतु हैं । प्रयोक्ता या वक्ता प्रत्येक अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ शब्द को विवक्षा द्वारा बुद्धि में उपस्थापित किये गये अर्थों को दृष्टि में रखकर ग्रहण करता है । जैसे किसी विषय को ग्रहण करने

वाला व्यक्ति तत्तद्विषय की उपलब्धि के लिए तदनुकूल इन्द्रिय को ही नियुक्त करता है। रूप की उपलब्धि के लिए आँखों को ही नियुक्त करता है न कि कानों को। इसी प्रकार किसी भी अर्थ के बोधन के लिए अनुरूप शब्द को ही वक्ता ग्रहण करता है।

वृत्तिः—अपर आह—अर्थस्य प्रवृत्तौ तत्त्वं व्यवहारे यन्निमित्तम्। यदा हि निमित्तान्निमित्तवत्स्वर्थेषु निमित्तस्वरूपः प्रत्यय उत्पद्यते, तदार्थेन व्यवहर्तुं शक्यते, न तु संसर्गिरूपान्तरविवेके कैवल्यविषयो व्यवहारो विद्यते। तदेवं जातिषु प्राप्तिस्वरूपत्वादभिधानानां सामान्यस्य शब्दनिबन्धत्वमास्थीयते।

विवरण—'अपर आह' के द्वारा इसका अन्य अर्थ उपस्थित किया जाता है।

अन्य व्याख्याकार का कथन है—अर्थ की प्रवृत्ति अर्थात् व्यवहार में जो निमित्त है वही तत्त्व है; और वह है जाति। कोई अर्थ जिस प्रकार से व्यवहार में उतरता है वही प्रकार उसका तत्त्व है। ये विभिन्न व्यक्तियाँ जब तक जाति के द्वारा उपरक्त नहीं होतीं, तब तक यह 'यह अमुक पदार्थ है' ऐसे परिच्छिन्न रूप के व्यवहार्य नहीं हो सकतीं। जब गोत्वादि जातिरूप निमित्त से जातिमान् गवादिपिण्डों में जातिरूपानुकारी ज्ञान उत्पन्न होता है, तभी तद्रूप अर्थ से व्यवहार किया जा सकता है। गोत्वादि जाति रूप से उपरक्त अर्थ द्वारा ही व्यवहार होता है, अन्यथा नहीं। जाति से उपरञ्जित हुए विना शुद्ध वस्तु विषयक व्यवहार सम्भव नहीं। केवल द्रव्यस्वरूप स्वलक्षणात्मक वस्तु अवाच्य होती है, 'यह कुछ है' इस प्रकार का बोध ही स्वलक्षणात्मक शुद्ध वस्तु विषयक बोध है। इस से लोकव्यवहार नहीं चलता।

इस प्रकार जातियों से सम्बद्ध होकर अर्थों के अपना स्वरूप ग्रहण करने से सामान्य या जाति का शब्दनिबन्धनत्व या शब्दहेतुत्व स्थापित किया जाता है। अर्थात् अर्थ के व्यवहार में निमित्तरूप जातियों का निबन्धन या हेतु शब्द ही है। शब्दों से ही शुद्ध वस्तु में जात्यादि की कल्पना की जाती है और तभी 'यह वस्तु ऐसी है' इस रूप से उसका बोध होता है। तदनन्तर वस्तु व्यवहार्य बनती है।

यहाँ वृत्ति में पाठ है—'तदेवं जातिषु प्राप्तस्वरूपत्वादभिधानानाम्'। वस्तुतः 'अभिधेयानाम्' पाठ होना चाहिए, क्यों कि जात्यादि की योजना से अर्थ या अभिधेय का स्वरूप निर्धारित होता है, अभिधान या वाचक शब्द का नहीं। वाचक शब्दों में ही अर्थ की प्रवृत्ति का तत्त्व या जाति बँधी है, यही कारिका का आशय है न कि जाति में वाचक शब्द बँधे हैं। श्रीवृषभ ने कहा है—'सामान्यं शब्दानां निबन्धनं तद्वारेण प्रवृत्तिः'—इससे कारिका का तात्पर्य ही उलट जाता है। श्रीवृषभ के आधार पर 'अभिधानानाम्' पाठ मान कर अन्य लोगों ने भी अर्थ का अनर्थ किया है। कारिकाकार का मत है—'अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां सामान्यानां शब्दाः निबन्धनम्'। श्री वृषभ कहते है—'सामान्यं शब्दानां निबन्धनम्।' इस आधार पर 'अभिधेयानाम्' पाठ ही समीचीन प्रतीत होता है।

वृत्तिः—व्यवहारे वा तत्त्वं संसर्गः। विच्छिन्नरूपेष्विवात्यन्तसंसृष्टेषु पदार्थेषु प्रत्यवभासमानेषु व्यवहारो वाक्यनिबन्धनः। न हि संसर्गदर्शनप्रत्यस्तमये कश्चिदपि पदार्थगतव्यवहारो व्यवतिष्ठते।

विवरण—अथ तीसरी व्याख्या की जाती है—अर्थ के व्यवहार में संसर्ग ही तत्त्व है। संसर्ग से अनुपहित अर्थ का व्यवहार नहीं हो सकता। क्रिया और कारक का परस्पर आत्मानुप्रवेश संसर्ग है। क्रिया-कारक रूप नाना पदार्थ यद्यपि परस्पर अत्यन्त संसृष्ट रहते हैं, फिर भी वे विच्छिन्न से पृथक्-पृथक् अवभासित हैं; इनका व्यवहार वाक्य पर निर्भर करता है। क्रिया तथा साधन के संसर्ग के अभाव में किसी प्रकार का भी पदार्थगत व्यवहार नहीं बन सकता[1]।

वृत्तिः—अपरोऽर्थः। केवलं वस्तु त्यदादीनां वस्तूपलक्षणानां विषयमात्रम्। तस्य प्रवृत्तितत्त्वं संसर्गः। संसृष्टो हि क्रियासु गुणभावेन प्रधानभावेन चोपादीयते।

विवरण—चौथी व्याख्या की उपस्थापना करते हुए कहते हैं—अपरोऽर्थः—दूसरी–अन्य व्याख्या भी है। केवल क्रिया से रहित नामपदवाच्य वस्तु–पदार्थ, त्यत्, तत् आदि जो वस्तु के उपलक्षक मात्र सर्वनाम हैं, उनका विषय है। जैसा कि कहा है—

वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनामप्रयुज्यते।
द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो भेद्यत्वेन विवक्षितः॥ ३॥

—तृतीय काण्ड, भूयोद्रव्यस०

'इदम्' 'तत्' आदि सर्वनामों द्वारा जिनका प्रत्यवमर्श किया जाता है, वे द्रव्य कहलाते हैं। इदम्—यह प्रत्यक्ष अर्थ का वाचक है और तत् यह परोक्ष का अभिधान है। इन शब्दों से वस्तु मात्र लक्षित होती है। वस्तु का स्वभाव इनसे लक्षित नहीं होता है। वह तब लक्षित होता है जब सामान्यादि उपाधियों से वह वस्तु अवच्छेद्य होती है। जाति द्रव्य से सम्बद्ध रहती है और क्रिया से भी। इस व्याख्या में क्रिया जाति अभीष्ट है। द्वितीय व्याख्यान में द्रव्यजाति राहित्य को कैवल्य कहा गया था। यहाँ केवल वस्तु से क्रियाजाति राहित्य की बात कही गई है। केवल वस्तु का प्रवृत्तितत्त्व है—क्रियाजातिरूप संसर्ग। क्रियाजातियों से संसृष्ट होकर ही द्रव्य गौणभाव और प्रधान भाव से गृहीत होता है। जैसे 'एधाः पचन्ति' इस में 'एधाः' का अप्राधान्य है, क्योंकि इन्धन पाक के लिए है। और 'ओदनं पचति' इस व्यवहार में पाक ओदन के लिए है, अतः ओदनात्मक वस्तु का प्राधान्य है। स्थली के अधिश्रयण

१. श्रीवृषभ कहते है—'अर्थो हि साध्यसाधनभेदाद् द्विविधः। शेषस्य साधनान्तर्भूतत्वात्। तत्र नामपदानि अनुप्रविष्टरूपाण्येव साधनानि प्रतिपादयन्ति। आख्यातपदानि अनुप्रविष्टसाधनामेव क्रियाम्। परस्परानुप्रवेशमन्तरेण अनयोः स्वरूपापह्नारात्। स चेदृशः संसर्गः प्रतिपदमेव व्यवस्थापितः।

से अधःश्रयण पर्यन्त पाकक्रिया चलती है। इस प्रकार की क्रिया के संसर्ग के बिना वस्तु में गौण-प्रधान भाव नहीं बनता। 'न हि वस्तुमात्रं क्रियोपयोगमगच्छद्व्यवहाराङ्गम्'—श्रीवृषभ। शुद्ध वस्तु विना क्रिया के उपयोग के व्यवहार का अङ्ग नहीं हो सकती।

वृत्तिः—अथवा प्रवृत्तिर्जन्मादिक्रियाऽऽख्यातपदनिबन्धना। तस्याः प्रवृत्तिरिति समाख्यातायास्तत्त्वं साध्यत्वं साधनाकाङ्क्षता क्रमरूपोपग्रहः कालाभिव्यक्तिहेतुत्वम्। अपरस्त्वर्थः सत्त्वमात्रं त्रिष्वपि कालेषु स्वभावसिद्धमभिधेयत्वेन प्रत्यस्तमितक्रमरूपं नाम पदनिबन्धनम्।

विवरण—पाँचवी व्याख्या की अवतारणा करते हैं—अथवा गो-घटादि द्रव्यों की जन्मादि षड्भाव विकारात्मक प्रवृत्ति या क्रिया का तत्त्व साध्यत्व है। साध्यत्व का अर्थ है—क्रिया की निष्पत्ति। साध्यत्व में तीन बातें होती हैं—साधनों की आकांक्षता, क्रमरूप का उपग्रह या स्वीकार और काल की अभिव्यक्ति की हेतुता।

क्रियाणामभिनिष्पत्तौ सामर्थ्यं साधनं विदुः ॥ १ ॥ —साधनसमु०।

क्रियानिर्वृत्तौ द्रव्यस्य शक्तिः, साधनं साध्यते अनेन क्रियेति भाष्यकारप्रभृतयो विदुः। —हेलाराज।

क्रिया की निष्पत्ति में द्रव्य की शक्ति ही साधन है, ऐसा भाष्यकारादिकों ने कहा है। 'घटेनोदकमानय' में आनयन क्रिया की निष्पत्ति उदक-धारण रूप घट-शक्ति की अपेक्षा रखती है। आनयन में क्रमशक्ति-पूर्वापरीभूत अनेक अवयवता का अस्तित्व अवश्यम्भावी है। व्यक्ति का घट की ओर गमन, जल-धारण, घटोत्थापन आदि क्रमरूपता की स्वीकृति वहाँ द्रष्टव्य है। साथ ही कालवाची 'भवति' आदि शब्दों से निष्पाद्यमान क्रिया में वर्तमानादि काल की भी अभिव्यक्ति होती है। और अर्थ से तात्पर्य है—सत्त्वमात्र या द्रव्य, जो तीनों भूतादि कालों में स्वभावसिद्ध या निष्पन्न है, अतएव साधनों की अपेक्षा नहीं रखता। सिद्धरूप होने से इसमें क्रम नहीं रहता। इस व्याख्या में प्रस्तुत 'अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां' पद की इस प्रकार व्युत्पत्ति होगी—'अर्थश्च सत्त्वमात्रं द्रव्यं, प्रवृत्तिश्च जन्मादिक्रिया तयोस्तत्त्वानि तेषां अर्थप्रवृत्तितत्त्वानाम्'। अर्थ का तत्त्व है—अभिधेयत्व। यह नामपद निबन्धन है; अर्थात् इसका निबन्धन नामशब्द है। और प्रवृत्ति का तत्त्व है साध्यत्व; यह आख्यात पद निवन्धन है। इस प्रकार अर्थ और प्रवृत्ति के तत्त्वों का निवन्धन शब्द है, यह कहा गया है।

वृत्तिः—अथवार्थप्रवृत्तेः किं तत्त्वम्। अर्थरूपाकारः प्रत्ययात्मा बाह्येषु वस्तुषु प्रत्यस्तः। स च शब्दनिबन्धनः।

विवरण—छठी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—व्यवह्रियमाण अर्थ का क्या तत्त्व है? बुद्धिस्थ पदार्थ का जो आकार बाह्य वस्तुओं में निक्षिप्त होता है, वही बुद्धिस्वरूप अर्थ प्रवृत्ति का—पदार्थों के व्यवहार का तत्त्व है। श्री वृषभ ने कहा है—'बुद्धिरेवोपदर्शितवाह्यरूपकारा तेषु प्रत्यस्तेत्युच्यते। बाह्यत्वेन ग्रहणं न बाह्यं

वस्त्वस्तीति । सति बाह्येऽर्थे तन्निबन्धना विवक्षा पूर्वत्र तत्त्वमित्युक्ता, सम्प्रति बुद्धि-रेवेति विशेषः ।

बाह्य पदार्थों को दृष्टि में रखकर प्रथम व्याख्या में विवक्षा को अर्थप्रवृत्ति का तत्त्व कहा गया था और यहाँ अर्थरूपाकार बुद्धिस्वरूप को ही तत्त्व कहा है । श्री वृषभ कहते हैं कि वस्तुओं का बाह्यरूप में ग्रहण होता है; वस्तुतः बाह्य पदार्थ नहीं है । क्या यही वृत्तिकार का आशय है ? ऐसा नहीं जान पड़ता । वस्तुतः—

द्यौः क्षमा वायुरादित्यः सागराः सरितो दिशः ।
अन्तःकरणतत्त्वस्य भागा (भावा) बहिरवस्थिताः ॥

बुद्धिस्थ पदार्थ ही बाहर स्थित हैं । ऐसा कारिकाकार मानते हैं और यही बात वृत्ति में कही गई है । भगवान् पतञ्जलि बाह्य और बौद्ध दोनों पदार्थ स्वीकार करते हैं—

'प्रत्यक्षं तावदाख्यानमुपदेशः । तद्यथा—अगोज्ञाय कश्चिद् गां सक्थनि कर्णे वा गृहीत्वा उपदिशति—अयं गौः इति । स प्रत्यक्षमाख्यातमाह—उपदिष्टो मे गौः इति ।' (१।३।२ का भाष्य) प्रदीपकार कैयट कहते हैं—

'इन्द्रियगोचरार्थस्य यदाख्यानं स उपदेशः ।'

प्रत्यक्ष कथन ही उपदेश है । जैसे कोई गाय को अरुदेश से अथवा कान से पकड़ कर कहे कि यह गाय है । और उस प्रत्यक्ष कथन को देखकर श्रोता कहे कि मैं, 'गाय' क्या है, यह समझ गया । इस प्रकार इन्द्रिय-गोचर पदार्थ का कथन उपदेश है ।

इसके अतिरिक्त कारिकाकार तीन प्रकार के अर्थ मानते ही हैं—

'ज्ञानं प्रयोक्तुर्बाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते ।'   —वा० प०, तृ० काण्ड

प्रयोक्ता का ज्ञानरूप बौद्ध अर्थ, बाह्य अर्थ और स्वरूप अर्थ ये तीन अर्थ उच्च-रित शब्द से जाने जाते हैं ।

इस प्रकार अर्थ की प्रवृत्ति का तत्त्व शब्दों द्वारा जाना जाता है और शब्दों की साधुता व्याकरण से ।

'अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां' के उपर्युक्त अर्थों के अतिरिक्त जैन-ग्रन्थ 'द्वादशारनयचक्र' की न्यायागमानुसारिणी टीका में तीन अर्थ और किये गये हैं । यथा—

१. अर्थाः–अभिधेयाः, प्रवृत्तयः–क्रियाः पुरुषहितहेतवः, अहितहेतवः, तेषा-मुभयेषां तत्त्वानि स्वान्यविपरीतानि रूपाणि शब्दैरेव ज्ञायन्ते, शब्दानां पुनस्तत्त्वं न व्याकरणादृते ज्ञायते ।

२. अथवाऽर्थस्य प्रवृत्तितत्त्वानि–यथास्वमेकैकस्यानन्तधर्मात्मविपरिणामाः, तानि शब्दैर्ज्ञायन्ते, शब्दा व्याकरणेनेति ।

३. अथवाऽर्थाः—धर्मार्थकाममोक्षाः तद्धेतवः प्रवृत्तयः, तासां तत्त्वानि—यथास्वं साध्यसाधनभावाः, इत्यादिव्याख्याविशेषेपु तद्विषयसम्यग्ज्ञानस्य शब्दाः कारणानि, शब्दज्ञानस्य तु व्याकरणमिति । —पृष्ठ ७७८, तृतीय विभाग ।

१. अर्थों–पदार्थों तथा व्यक्ति का हिताहित करनेवाली क्रियाओं का तत्त्व–स्वरूप शब्दों से ही जाना जाता है, और शब्दों का स्वरूप व्याकरण के बिना जानना सम्भव नहीं ।

२. अथवा पदार्थों के जो प्रवृत्तितत्त्व, अर्थात् एक-एक वस्तु के अनन्त धर्मात्मक विपरिणाम है; वे शब्दों से जाने जाते हैं और शब्द व्याकरण से ।

३. अथवा अर्थ से तात्पर्य है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष; तद्धेतुक जो प्रवृत्तियाँ या चेष्टाएँ हैं, उनके तत्त्व अर्थात् साध्य-साधनभाव या कार्यकारणभाव—इत्यादि व्याख्या विशेपों में उन-उन विषयों के सम्यग् ज्ञान में शब्द ही कारण है; और शब्द-ज्ञान का कारण व्याकरण है ।

'न्यायागमानुसारिणी' टीका के रचयिता विक्रम की सातवीं शताब्दी के मध्य में विद्यमान श्री सिंहसूरिगणि ने वाक्यपदीय की किसी अन्य टीका में उपर्युक्त व्याख्याओं देख कर ही लिखा होगा ।

वृत्तिः—तत्त्वावबोधः शब्दानाम् । शब्दस्य तत्त्वमवैकल्यम् । अनपगत-संस्कारं साधुस्वरूपम् । तद्द्वयस्याविकलं रूपम् । अन्ये तु तत्प्रयुयुक्षया प्रयुज्यमाना विकलाः स्युरपभ्रंशा इति ।। १३ ।।

विवरण—अविकलता शब्द का तत्त्व है । संस्कारहीनता का अभाव अविक-लता है । साधुरूप या संस्कृत रूप शब्द का अवैकल्य है । प्रकृति और प्रत्यय विभाग इत्यादि का नाम संस्कार है—'प्रकृतिप्रत्ययविभागादिसंस्कारानपगमात् ।'—(श्रीवृषभ) । आदि शब्द से लोप, आगम और वर्ण-विकार समझना चाहिए । शुक्लयजुःप्रातिशाख्य के प्रथमाध्याय के प्रथम सूत्र में कहा गया है—

'स्वरसंस्कारयोः छन्दसि नियमः ।। १ ।।

स्वर और संस्कार का वेद में नियम है ।

दूसरा सूत्र है—'न, समत्वात् ।।' २ ।।

ऐसा नहीं, लोक में भी समान समझना चाहिए । आचार्य उवट ने प्रथम सूत्र की व्याख्या में कहा है—

'संस्कारो लोपागमवर्णविकारप्रकृतिभावलक्षणः ।'

साधु शब्दों के प्रयोग की इच्छा से प्रयुक्त अन्य शब्द विकल या अपभ्रंश कहलाते हैं । श्रीवृषभ ने अवैकल्य का अर्थ परिपूर्णता किया है ।

कुमारिलभट्ट ने कारिका के उत्तरार्द्ध की आलोचना करते हुए कहा है कि वस्तुतः कारिका का स्वरूप ऐसा होना चाहिए—

'तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति श्रोत्रेन्द्रियादते ।'

एक व्याकरणानभिज्ञ व्यक्ति केवल सुनकर कैसे जान लेगा कि यह शब्द साधु है या असाधु; अर्थ भले जान जाय। यहाँ तत्त्व का अर्थ है—साधुत्व और वह व्याकरण के विना नहीं जाना जा सकता। अतः भट्ट की आलोचना उपहासास्पद है ॥ १३ ॥

प्रस्तुत कारिका में मोक्ष व्याकरण का मुख्य प्रयोजन है। इसका निरूपण करते हैं—

तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते ॥ १४ ॥

तद् अपवर्गस्य द्वारं, वाङ्मलानां चिकित्सितम्; सर्वविद्यानां पवित्रं, अधिविद्यं प्रकाशते।

वह व्याकरण मुक्ति का द्वार या उपाय है; वाणी के मलस्थानीय जो अपभ्रंश हैं, उनका चिकित्सक या अपनयहेतु है; सम्पूर्ण विद्याओं में व्याकरण विद्या पवित्र है, तथा सारी विद्याएँ शब्दसंस्कार के लिए इसी का आश्रय लेती हैं।

वृत्तिः—शब्दपूर्वं हि शब्दस्वरूपस्याभेदतत्त्वज्ञाने क्रमसंहारेण योगं लभते। साधुप्रयोगाच्चाभिव्यक्तधर्मविशेषो महान्तं शब्दात्मानमभिसम्भवन् वैकरण्यं प्राप्नोति। सोऽव्यतिकीर्णां वागवस्थामधिगम्य वाग्विकाराणां प्रकृतिं प्रतिभामनुपरैति।

विवरण—अभेदतत्त्वात्मक शब्दस्वरूप के ज्ञान के विषय में सर्वप्रथम वैयाकरण क्रमसंहार योग के द्वारा शब्दपूर्वयोग को प्राप्त करता है। साधुशब्दों के प्रयोग से उसके अन्तःकरण में पहले से ही धर्मविशेष अभिव्यक्त हो चुका है, ऐसा वह वैयाकरण, शब्दतत्त्वस्वरूप महानात्मा के साथ ऐक्य लाभ करता हुआ वैकरण्य को प्राप्त करता है।

आशय यह है कि व्याकरण के अध्ययन से साधुशब्दों का ज्ञान होता है, तदनन्तर वह व्यक्ति अपभ्रंशों का परित्याग करके साधुशब्दों का प्रयोग करता है। इससे उसके अन्दर धर्मविशेष का आविर्भाव होता है। इस प्रकार साधु शब्द के ज्ञान एवं प्रयोग से वैयाकरण का अभ्युदय निश्चित है। निःश्रेयस् या अपवर्ग के लिए उसे क्रमसंहारयोग का आश्रय लेना होता है। ताल्वादिस्थ शब्द का करणों में, करणस्थ शब्द का प्राण में, प्राण का बुद्धि में उपसंहार करना क्रमसंहारयोग है। इसका निरूपण 'तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः' इस कारिका की वृत्ति मे किया गया है। यथा—

'प्राणवृत्तिमतिक्रान्ते वाचस्तत्त्वे व्यवस्थितः।
क्रमसंहारयोगेन संहृत्यात्मानमात्मनि ॥'

इस क्रमसंहार द्वारा शब्दपूर्वयोग की उपलब्धि होती है। श्रीवृषभ 'शब्दपूर्व' का अर्थ करते हैं—'साधुशब्दप्रयोगज्ञानपूर्वकम्'। योगं लभते—परां वा प्रकृतिं प्रतिपद्यते इत्यनेन सम्बन्धः। यतः साधूनां प्रयोगात् ज्ञानाद्वा सर्वमवाप्यते।'

इससे जान पड़ता है कि वे 'शब्दपूर्व अर्थात् साधुशब्द के ज्ञान और प्रयोगपूर्वक योग या पराप्रकृति को व्यक्ति उपलब्ध करता है' ऐसा अर्थ करना चाहते हैं। किन्तु प्रस्तुत कारिका एवं अन्य कारिकाओं की वृत्ति से विरुद्ध होने के कारण उपर्युक्त अर्थ उचित नहीं।

'तस्माद्यः शब्दसंस्कारः' इस कारिका की वृत्ति में स्पष्ट कहा गया है कि 'व्यवस्थितसाधुभावेन हि रूपेण संस्क्रियमाणे शब्दतत्त्वे अपभ्रंशोपघातापगमात् आविर्भूते धर्मविशेषे नियतोऽभ्युदयः। तदभ्यासाच्च शब्दपूर्वकं योगमधिगम्य प्रतिभां तत्त्वप्रभवां भावविकारप्रकृतिं सत्तां साध्यसाधनशक्तियुक्तां सम्यगवबुद्धय नियता क्षेमप्राप्तिरिति।'

व्याकरण के द्वारा शब्दतत्त्व का संस्कार होता है, अतः व्याकरण के अध्ययन के पश्चात् वैयाकरण अपभ्रंशों का त्याग करता है और साधुशब्दों का प्रयोग करता है। उससे धर्म-विशेष का आविर्भाव होकर उसका निश्चित अभ्युदय होता है। अभ्युदय से तात्पर्य है—ऐहिक सम्पत्ति और स्वर्ग।

जब वैयाकरण पुनः-पुनः साधुशब्दों का प्रयोग करता है, तब उससे अधिकाधिक धर्म की आवृत्ति होती है। इसके अनन्तर उसे शब्दपूर्वक योग की उपलब्धि होती है, इससे उसे प्रतिभा का ज्ञान होकर क्षेम[1] या अपवर्ग की प्राप्ति हो जाती है।

यही बात श्रीवृषभ ने भी अपनी पद्धति में कही है। साधु शब्द के ज्ञान एवं प्रयोग से धर्म का आविर्भाव होता है और उससे अभ्युदय। इसके पश्चात् शब्दपूर्वयोग की चर्चा आती है। अतः साधु शब्द का ज्ञान और प्रयोग शब्दपूर्व या शब्दपूर्वक योग नहीं है। इसका और अधिक स्पष्टीकरण प्रस्तुत वृत्ति से होता है—

'परं तु पश्यन्तीरूपमनपभ्रंशमसङ्कीर्णं लोकव्यवहारातीतम्। तस्या एव वाचो व्याकरणेन साधुत्वज्ञानलभ्येन वा शब्दपूर्वेण योगेनाधिगम्यत इत्येकेषामागमः।'

परपश्यन्ती का रूप अपभ्रंश रहित शुद्ध और लोकव्यवहारातीत है। उस परपश्यन्ती रूप वाणी की उपलब्धि व्याकरण द्वारा अथवा साधुत्वज्ञानलभ्य शब्दपूर्वयोग द्वारा होती है—यह कुछ वैयाकरणों का आगम है।

'रूपादयो यथा दृष्टाः' इस कारिका के पूना संस्करण की वृत्ति में उद्धृत है—'ज्ञाने शब्दपूर्वके वा प्रयोगेऽभ्युदयः'। संस्कृतविश्वविद्यालयीय वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड के संस्करण में कुछ भिन्न पाठ है। यथा—'ज्ञाने शास्त्रपूर्वके वा प्रयोगेऽभ्युदयः'।

---

१. 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः (अ० १ आ० १, २२) इस न्यायसूत्र के भाष्य में वात्स्यायन ने उपनिषद् का उद्धरण प्रस्तुत किया है—'तदभयमजरममृत्युपदं ब्रह्म क्षेमप्राप्तिरिति।

स्पष्ट है कि पहला पाठ अपपाठ है । प्रयोग शब्द का ही होगा, अतः शब्दपूर्वक प्रयोग का कोई अर्थ नहीं । वाग्योग अथवा शास्त्रपूर्वक प्रयोग 'शब्दपूर्वयोग' नहीं है, क्योंकि साधुशब्द का ज्ञान और प्रयोग केवल धर्मसाधन तथा अभ्युदय का हेतु है, निःश्रेयस या अपवर्ग का नहीं । तब शब्दपूर्वयोग क्या है ? व्याकरणदर्शनपीठिका में कहा गया है—'अयमेव शब्दपूर्वको योगो नादानुसन्धानपदेन बहुषु स्थलेषु समुद्दृङ्कितोऽस्ति' ।

यहाँ नादानुसन्धान को शब्दपूर्वकयोग समझा गया है ।

'शब्दपूर्वेण योगेन भासन्ते प्रतिबिम्बवत्' । इसकी व्याख्या में अम्बाकर्तृ के रचयिता आचार्य श्री रघुनाथ शर्मा ने स्पष्ट किया है—'शब्दपूर्वेण योगेन साधुशब्द-तादात्म्यापन्नात्मविषयकसविकल्पसमाधिना ।'

अनाहत शब्द का श्रवण और तेज का अन्तर्दर्शन यही नादानुसन्धान है । किन्तु क्या यह व्याकरण-सम्मत है ? उपनिषदों में अवश्य इसका बहुधा निरूपण मिलता है । जहाँ तक तेज के दर्शन का प्रश्न है, यह ठीक है क्योंकि शब्दब्रह्म का प्रकाश या पर ज्योति के रूप में व्याख्यान व्याकरण-सम्मत है—'प्रकाशं यमुपासते' (कारिका)

'ज्योतिरान्तरमासाद्य छिन्नग्रन्थिपरिग्रहः ।
परेण ज्योतिषैकत्वं छित्वा ग्रन्थीन् प्रपद्यते ॥ —वृत्ति

नादविन्दूपनिषद् में कहा गया है कि शरीर के अन्दर सतत निनदित अनाहत नाद को दक्षिण कर्ण से सुनना चाहिए । और यह नाद ओङ्कार स्वरूप ही है । केवल स्थूल नाद को सुनना वस्तुतः शब्दपूर्वयोग नहीं है । हाँ, इस शब्द के साथ ओङ्कार की भावना भी आवश्यक है । तेजोमय ब्रह्म का ध्यान और प्रणव का जप या प्रणवा-त्मक नाद का अनुसन्धान यह शब्दपूर्वयोग हो सकता है । यही योगदर्शन में स्वाध्याय योग के नाम से कहा गया है । यथा—

'तस्य वाचकः प्रणवः' (२७, योगसूत्र, पाद १)
'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (२८ ,, ,,)

प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम् । तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते । तथा चोक्तम्—

[1]स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमासते ।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥ —व्यासभाष्य ।

स्वाध्याय अर्थात् प्रणव के जप से योग में प्रतिष्ठित हो और योग से प्रणव जप में स्थिर होना चाहिए । इस प्रकार स्वाध्याय योग के विवर्धन से परमात्मा प्रकाशित होता है ।

---

१. जप करते हुए यदि वायु बढ़ने लगे तो उसे छोड़कर केवल ध्यान करने लगे । ध्यान करते हुए कारणवश यदि छोड़ना पड़े तो केवल जप करना चाहिए—यही पञ्चमी का अर्थ है ।

एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णाविभागवान् ।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इहोदितः ।। २१७ ।।

—तन्त्रालोक, आह्निक ६

'ओमित्यन्तर्नदति नियतं यः प्रातिप्राणि शब्दो ।' —साम्बपञ्चाशिका ।

ओमिति स्फुरदुरस्यनाहतं गर्भगुम्फितसमस्तवाङ्मयम् । —जगद्धरभट्ट ।

अन्ये तु 'ओङ्कारोऽनवयवः शब्दः परिकल्पितवर्णपदविभागो वाक्यमित्याहुः' ।

—स्याद्वादरत्नाकर पृ० ६४५

वर्ण, पद और वाक्यों का क्रम जिसमें जाकर उपसंहृत हो जाता है, वह ओङ्कार ही शब्द है । और यह जिसके पूर्व में है, ऐसा योग शब्दपूर्वयोग है । व्याकरणागम में प्रणव को अक्षर के नाम से कहा गया है, क्योंकि वह अक्षरों–वर्णों का निमित्त है—'अक्षराणां निमित्तत्वादक्षरम्' (भर्तृहरि) । 'अक्षरम्' इस विशेषण के द्वारा शब्द-ब्रह्म के अभिधानविवर्त की बात कही गई है । अतः प्रणव न केवल वर्णों का अपितु पदों एवं वाक्यों का भी निमित्त है । वर्णों, पदों एवं वाक्यों का शोधन करते-करते जो शेष रह जाता है, वही प्रणव रूप से युक्त एकपदागमा विद्या है—

सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा ।
युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिना ।। —वाक्यप०

इस सम्बन्ध में और प्राचीन आगम भी उपलब्ध हैं । यथा—

'नित्यः पृथिवीधातुः । पृथिवीधातौ किं सत्यम् ? विकल्पः । विकल्पे किं सत्यम् ? ज्ञानम् । ज्ञाने किं सत्यम् ? ॐ, अथ तद्ब्रह्म ।' —भर्तृहरि, महाभाष्यदीपिका

व्याकरण-दर्शन ओङ्कार को ही चरम सत्य स्वीकार करता है । अतः प्रणव का जप और तेज का ध्यान यही शब्दपूर्वयोग है ।

अम्बाकर्त्रीकार का कथन उचित नहीं जान पड़ता । सविकल्पसमाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय आवश्यक है । यहाँ उन्हीं के कथनानुसार आत्मा ज्ञेय है और ज्ञाता वैयाकरण योगी । 'मैं आत्मा का ध्यान कर रहा हूँ' यह ज्ञान का आकार है । ज्ञेय अथवा ध्येय आत्मा के साथ एकसाधुशब्द अथवा साधुशब्द-समुदाय के तादात्म्य का स्मरण आवश्यक है, तभी वह शब्दपूर्वयोग बनेगा ।

एकसाधुशब्द के साथ आत्मा का तादात्म्य यदि स्वीकार किया जाय तो वह शब्द कौन हो, यह स्पष्ट नहीं । और किसी भी असम्बद्ध एक साधुशब्द को आत्मा से जोड़ देना अनुचित है । यदि अनन्त साधुशब्दों का आत्मा के ध्यान के अवसर पर स्मरण होता रहे तो समाधि होगी ही नहीं ।

'तद्भिन्नत्वे सति तदभेदेन प्रतीयमानत्वं तादात्म्यम् ।' भेद के रहते हुए आरोपित अभेद की प्रतीति तादात्म्य है । अस्तु ।

'शब्दस्वरूपस्याभेदतत्त्वज्ञः' इस पाठ के अनुसार निम्नाङ्कित अर्थ होगा—

शब्दस्वरूप के अभेदतत्त्व को व्याकरण द्वारा जानने वाला वैयाकरण वर्णों, पदों और वाक्यों का ओङ्कार में उपसंहार करके ओङ्कारशब्दपूर्वक योग का आश्रय

लेता है। साधु शब्दों के प्रयोग से धर्म-विशेष की अभिव्यक्ति जिसमें हो चुकी है, ऐसा शब्दपूर्वयोगी महान् शब्दात्मा या 'महो देवो मर्त्यान् आविवेश' (ऋ० ४।५८।३) के अनुसार ब्रह्माख्य पर शब्द के साथ ऐक्य का अनुभव करता हुआ वैकरण्य को प्राप्त कर लेता है।

पीछे प्राप्ति–विकल्पों में वैकरण्य का उल्लेख हो चुका है। यहाँ इसका विशेष रूप से निर्देश वैयाकरणनिकाय द्वारा स्वीकृत मुक्तिरूप का सूचक है।

ब्रह्म की प्राप्ति का क्रम-निरूपण करते हुए कहते हैं—वह वैयाकरण योगी पहले वाणी को अपभ्रंशों से मिश्रित जानता है। तदनन्तर भेद के असत्य होने से अभिन्नात्मक मध्यमा रूप वागवस्था को जानकर सम्पूर्ण वाग्विकारों की प्रकृति रूप प्रतिभा को प्राप्त करता है। जो समस्त शब्दों और अर्थों की कारणात्मा बुद्धि है और जिसे पश्यन्ती के नाम से कहा जाता है; जहाँ से उठकर शब्द प्राणवृत्ति में पतित होते हैं; वही प्रतिभा है।

वृत्तिः—तस्माच्च सत्तानुगुण्यमात्रात् प्रतिभाख्याच्छब्दपूर्वयोगभावनाभ्यासाक्षेपात् प्रत्यस्तमितसर्वविकारोल्लेखमात्रां परां प्रकृतिं प्रतिपद्यते। वाङ्मलानां चिकित्सितम्। आयुर्वेद इव शारीराणां दोषाणाम्। व्याकरणज्ञो हि प्रत्यवायहेतुभूतानपभ्रंशान्न प्रयुङ्क्ते। 'ज्ञानं हि तस्य शरणम्' इत्युक्तम्। पवित्रं सर्वविद्यानाम्। तन्निमित्तत्वात्संस्कारस्य। शब्दोपगृहीतो हि विद्यास्वर्थः। उक्तञ्च—

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्दयते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

विवरण—प्रतिभा को असकृत् 'भावविकारप्रकृति' एवं सत्ता के नाम से कहा गया है। यथा—'प्रतिभां तत्त्वप्रभवां भावविकारप्रकृतिं सत्ताम्'।

—वृत्ति, प्र० का० कारि० १२३

'उसे 'महानात्मा' और 'अविद्या योनि' भी कहा गया है। यथा—

'केचित् प्रतिभात्मनि विवर्तन्ते सत्तालक्षणं महान्तमात्मानमविद्यायोनिम्'।

—वृत्ति, प्रथम काण्ड कारि० १३७

'परस्याः प्रकृतेः प्रथमं सत्तालक्षणमात्मानं महान्तं प्रत्यानुगुण्यं सुषुप्तावस्थस्येव प्रबोधानुगुण्यं फलसत्तामात्रं निद्रायाः।' —वृत्ति, द्वितीय काण्ड, कारिका १५२।

'सत्तानुगुण्यमात्रात्' में सत्ता का अर्थ है—सम्पूर्ण भावविकार[1]। तथा उनकी उत्पत्ति में अनुगुण या उन्मुख होने से प्रतिभा को सत्तानुगुण्य मात्र कहा गया है। उस

---

१. 'सत्तया सर्वभावविकारं लक्षयति। तेषामुत्पत्तावनुगुणत्वात् प्रतिभायास्तद्रूपतया सर्वपदार्थानामेकरूपत्वात् सत्ताव्यपदेशः। तेषां च सा योनिः।'

—श्रीवृषभ, पद्धति

सत्तानुगुण्यमात्र शब्दपूर्वयोग के निरन्तर अभ्यास से आक्षिप्त प्रतिभा नामक तत्त्व से पराप्रकृति को योगी उपलब्ध करता है। जहाँ सम्पूर्ण भावविकारों के उल्लेख या संकल्प भी अस्त हो जाते हैं, वही पराप्रकृति है। श्रीवृषभ कहते हैं—'तदेवं वाग्विकारं प्रतिभायामुपसंहरति। तामपि चास्मिन् ब्रह्मणि। तस्मात्साधुत्वज्ञानपूर्वकत्वाद् अपवर्गस्य, साधुत्वज्ञानस्य च व्याकरणहेतुकत्वाद् द्वारमित्युक्तम्।'

अपभ्रंश वाणी के मल हैं। वे व्याकरण जानने के पश्चात् प्रयुक्त नहीं होते, अतः उन्हें अपनीत समझना चाहिए। मलों का अपनयन ही चिकित्सा है। जैसे शरीर सम्बन्धी दोषों को आयुर्वेद दूर करता है, वैसे ही व्याकरण वाणी के मलों को। व्याकरण का जानकार पाप के हेतुभूत अपभ्रंशों का प्रयोग नहीं करता। महाभाष्यकार ने भी कहा है—

'विज्ञानं हि तस्य शरणम्।' (पश्पशाह्निक) जो प्रकृति-प्रत्यय के सम्बन्ध को जानने वाला वाग्योगवित् है, उसके लिए विज्ञान ही शरण है। व्याकरण समस्त विद्याओं में पवित्र है, क्योंकि इसी के द्वारा शब्दों का संस्कार होता है। अतः व्याकरण शब्द-संस्कार का निमित्त है। सम्पूर्ण विद्याओं में साधुशब्दों द्वारा अर्थ का ग्रहण होता है। कहा भी है—

जो गुरुमुख से पठित है, किन्तु अर्थतः ज्ञात नहीं है। पाठमात्र से ही जिसका नित्य उच्चारण किया जाता है, किन्तु अर्थतः विचार नहीं किया जाता, वह उसी प्रकार प्रकाशित नहीं होता अर्थात् निष्फल हो जाता है, जैसे अग्नि-रहित प्रदेश में सूखा काष्ठ।

निरुक्त, नैघण्टुककाण्ड, अध्याय १, पाद ६ खण्ड २ में 'अधीत' के स्थान पर 'गृहीत' पाठ है। दुर्गाचार्य ने अपनी ऋज्वर्था वृत्ति में कहा है—जो वेद के अर्थ से अनभिज्ञ है, वह अध्येता वेदाध्ययन के भार मात्र से सम्बद्ध रहता है, उसके फल से नहीं। अर्थ का परिज्ञान उसे श्रेय और अभ्युदय से जोड़ देता है।

भगवान् पतञ्जलि ने भी इस श्लोक को उद्धृत किया है। कैयट 'अविज्ञातं'[1] का अर्थ इस प्रकार करते हैं—'अविदितसुबादिसंस्कारत्वात्, अर्थापरिज्ञानाद्वा, निगदेन पाठमात्रेण। न तज्ज्वलति—निष्फलं भवति।'

'छाया' नामक टीका में 'अनग्नाविव' पर कहा गया है—'बहुव्रीहिपक्षे भस्मप्रदेश इवेत्यर्थः। नञा विरोधार्थकेन तत्पुरुषे जलप्रदेश इवेत्यर्थः।'

वृत्तिः—तथायमप्रमत्तगीतः श्लोकः—

आपः पवित्रं परमं पृथिव्यामपां पवित्रं परमं च मन्त्राः।
तेषां च सामर्ग्यजुषां पवित्रं महर्षयो व्याकरणं निराहुः॥

---

१. श्रीवृषभ—अविज्ञातम् अविज्ञातसंस्कारम्। निगदेनैव सम्पाठमात्रेण शब्द्यते, न प्रकृत्यादिविभागेन। तज्ज्वलति। ज्वलनं स्वकार्यकरणम्।

अतश्च अधिविद्यं प्रकाशते । सर्वो हि प्रायेण स्वस्यां विद्यायां व्याकरण-मनुगच्छति, अपभ्रंशप्रयोगेण च नियतमपत्रपते ॥ १४ ॥

इस विषय में शिष्टप्रगती प्रस्तुत श्लोक सुना जाता है—

पृथिवी में जल सबसे बढ़ कर पवित्र या शुद्धिकारक है; जलों में भी मन्त्र परम शुद्धिकर्ता हैं। ऋक्, यजु: और सामवेद के कारण मन्त्रों में भी परम शुद्धि विधाता व्याकरण है—ऐसा महर्षियों ने कहा है।

यही कारण है कि व्याकरण सब विद्याओं के बीच प्रकाशित है। प्राय: समस्त शास्त्रकार अपनी विद्याओं में व्याकरण का ही अनुसरण करते हैं, तथा कहीं अपभ्रंश का प्रयोग न हो जाय, इससे डरते रहते हैं ॥ १४ ॥

प्रस्तुत कारिका द्वारा व्याकरणशास्त्र की पुन: प्रशंसा की जाती है—

यथार्थजातयः सर्वाः शब्दाकृतिनिबन्धनाः ।
तथैव लोके विद्यानामेषा विद्या परायणम् ॥ १५ ॥

यथा सर्वाः अर्थजातयः शब्दाकृतिनिबन्धनाः । तथा एव एषा विद्या विद्यानां परायणम् ।

जिस प्रकार सम्पूर्ण अर्थजातियाँ—अनन्त गो-घटादि जागतिक पदार्थ शब्दों के आकार से बँधे रहते हैं, वैसे ही लोक में यह व्याकरण विद्या सभी विद्याओं का आश्रयस्थान है।

विवरण—प्रस्तुत कारिका से लेकर बाईसवीं कारिका तक की वृत्ति नहीं मिलती। प्राय: टीकाकारों ने इस कारिका का इस प्रकार अर्थ किया है—घटादि अर्थ समवेत समग्र घटत्वादि जातियाँ घटशब्दत्व आदि के द्वारा प्रतिपाद्य होने से जैसे तन्निबन्धन या तद्धेतुक हैं, वैसे ही समस्त विद्याएँ व्याकरण के अधीन हैं। क्यों कि अर्थ की प्रतिपत्ति उन दोनों के ही अधीन है, यही साम्य है। इस प्रकार का अर्थ पुनरुक्ति दोष का आधायक है, अत: अनुवादगत अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। ऊपर अनुवाद में दिया गया अर्थ श्रीनारायणदत्त त्रिपाठी द्वारा ब्रह्मकाण्ड की प्रकाश नामक टीका में उद्भावित है ॥ १५ ॥

अग्रिम दो कारिकाओं द्वारा पुन: व्याकरण की प्रशंसा की जाती है—

इदमाद्यं पदस्थानं [1]सिद्धिसोपानपर्वणाम् ।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ॥ १६ ॥

सिद्धिसोपानपर्वणां इदं आद्यं पदस्थानम् । मोक्षमाणानां सा इयं अजिह्मा राजपद्धतिः ।

---

१. हरदत्त ने पदमञ्जरी में 'मुक्तिसोपानपर्वणाम्' पाठ रखा है।

सिद्धि अर्थात् मोक्ष की सीढ़ी के पर्वों में यह व्याकरणशास्त्र पहला पदस्थान या पर्व हैं। मोक्ष की इच्छा रखने वालों के लिए यह सरल राजमार्ग है।

विवरण—मोक्ष की प्राप्ति में साधन-परम्परा को सहाँ सोपान कहा गया है। अन्तराल अवस्थाएँ ही साधन हैं। इक अवस्था या साधन से दूसरे और दूसरे से तीसरे साधन के विभाग पर्व का कार्य करते हैं। ब्रह्म के प्रतिपादक ग्रन्थों का तब तक श्रवण और मनन नहीं हो सकता, जब तक उनके पद-पदार्थों का ठीक बोध न हो। और यह बोध व्याकरण से ही सम्भव है। अतः व्याकरण को आद्य पदस्थान कहा गया है। सर्वप्रथम व्याकरण द्वारा पद-पदार्थ का बोध, तदनन्तर श्रवण-पठन, तत्पश्चात् मनन। इसके बाद योग क्रिया का अवसर आता है जिसका फल है—मोक्ष।

अत्रातीतविपर्यासः केवलामनुपश्यति।
छन्दस्यश्छन्दसां योनिमात्मा छन्दोमयीं तनुम् ॥१७॥

अत्र अतीतविपर्यासः छन्दस्यः आत्मा छन्दसां योनिं छन्दोमयीं केवलां तनुं पश्यति।

व्याकरण का अध्ययन करके जिसका शब्द और अर्थ सम्बन्धी विपर्यास या भ्रम दूर हो गया है, ऐसा अनेक अवयवों या अक्षरसमूहों से छन्दित–मर्यादित पुरुष, वेदों के कारणरूप छन्दोमय शुद्ध प्रणवस्वरूप[1] को देखता है।

विवरण—श्री वृषभ तथा अन्य टीकाकारों ने 'अत्र' का अर्थ 'व्याकरणे' किया है। वैयाकरणभूषणसार की टीका दर्पण में केवल 'स्फोटे' ऐसा अर्थ किया गया है जो उचित नहीं लगता। दर्पणकार कहते हैं—

'अत्र स्फोटे अतीतविपर्यासः भ्रन्तिशून्य एतत्तत्त्वज्ञानवानिति यावत्। कैवल्यं पराख्यं अनुपश्यतीति योगजधर्मेण प्रत्यक्षीकरोतीत्यर्थः। तथा च योगित्वसिद्धौ न किमप्यवशिष्यते तत्त्वज्ञान इत्यर्थः। तदुक्तं भागवते निरूपणानन्तरम्—

यदुपासनया ब्रह्मयोगिनो मलमात्मनः।
द्रव्यक्रियाकारकाख्यं धूत्वा यान्त्यपुनर्भवम् ॥ ६।३८ ॥

श्रीवृषभ ने 'छन्दस्यः'[2] का अर्थ 'छन्दसां समूहः' किया है। वस्तुतः यह अपपाठ है। 'अक्षराणां समूहः' ऐसा पाठ होना चाहिए। आगे चलकर श्रीवृषभ कहते हैं—

समूहार्थे औपसङ्ख्यानिकस्तद्धितः। ओ श्रावय इति चतुरक्षरम्, ये यजामहे इति पञ्चाक्षरम्, अस्तु श्रौषट् इति चतुरक्षरम्, यज इति द्वयक्षरम्, द्वयक्षरो वषट्कारः।

१. श्रीवृषभ का तात्पर्यसूचक वचन है—एतदाह—छन्दस्यः आत्मा व्याकरणादपगतशब्दार्थविपर्यासः छन्दोमयीं तनुं परमं वेदरूपं पश्यतीति।

२. अन्य लोगों ने 'छन्दसे वेदाय हितः वेदग्रहणसमर्थः' (भावप्रदीप) 'छन्दसि साधुः रक्षकत्वात्' (अम्बाकर्त्री) ऐसा अर्थ किया है।

एष वै सप्तदशाक्षरः छन्दस्यः। एतदाह—छन्दस्यः आत्मा व्याकरणादपगतशब्दार्थ-विपर्यासः छन्दोमयीं तनुं परमं वेदरूपं पश्यतीति।'

महाभाष्य में 'वसोः समूहे च' (४।४।१४०) सूत्र के अन्तर्गत 'अक्षरसमूहे छन्दस उपसङ्ख्यानम्' यह वार्तिक पठित है। इस पर भाष्यकार कहते हैं—'अक्षरसमूहे छन्दस उपसङ्ख्यानं कर्तव्यम्। ओ श्रावयेति—वषट्कारः। एष वै सप्तदशाक्षरः छन्दस्यः प्रजापतिर्यज्ञमनुविहितः।'

काशिका का लेख निम्नांकित है—अक्षरसमूहे छन्दसः स्वार्थे उपसङ्ख्यानम्।' ओश्रावय—वषट्कारः—एष वै सप्तदशाक्षरश्छन्दस्यः प्रजापतिर्यज्ञो मन्त्रे विहितः। सप्तदशाक्षराण्येव छन्दस्य इत्यर्थः। छन्दः शब्दादक्षरसमूहे वर्तमानात् स्वार्थे यत्प्रत्ययः।

पदमञ्जरीकार कहते हैं—

[1]'ओश्रावयेत्यादिकस्याक्षराणि गण्यन्ते, सप्तदशात्मकश्छन्दस्योऽक्षरसमूहः। प्रजाप्रतिः प्रजापतिना दृष्टः।

'छन्दस्यः' में स्वार्थ में यत् प्रत्यय हुआ है, अतः यहाँ अर्थ होगा सत्रह अक्षरों—ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, पञ्च प्राण और मन तथा बुद्धि रूप तत्त्वों से निर्मित छन्दः-स्वरूप परिमित आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप प्रणव को देखता है।

शतपथब्राह्मण के 'आश्रावणप्रत्याश्रावणनिगद' के अन्तर्गत काण्ड १, अध्याय ५, ब्राह्मण २ कण्डिका १६ और १७ में उपर्युक्त व्याहृतियों का निम्नांकित पाठ है—

ता वा एताः पञ्चव्याहृतयो[2] भवन्ति 'ओ श्रावय' 'अस्तु श्रौषड्', 'यज' 'ये यजामहे', वौषट्, इति। पाङ्क्तो यज्ञः, पाङ्क्तः पशुः, पञ्चर्तवः संवत्सरस्य, एषैका यज्ञस्य मात्रा, एषा सम्पत् ॥ १६ ॥

तासां सप्तदशाक्षराणि। सप्तदशो वै प्रजापतिः। प्रजापतिर्यज्ञः। एषैका यज्ञस्य मात्रा, एषा सम्पत् ॥ १७ ॥

वस्तुतः शातपथी श्रुति का सिद्धान्त है कि पुरुष ही यज्ञ है। यह पुरुष जितने अवयवों से विशिष्ट है, उतने ही अवयव विस्तीर्यमाण यज्ञ के भी होते हैं। पुरुष का दूसरा नाम प्रजापति है और प्रजापति ही यज्ञ है। आधिदैविक प्रजापति सत्रह अक्षरों तत्त्वों से निर्मित है। उसी प्रकार आध्यात्मिक प्रजापति रूप पुरुष या आत्मा भी

---

१. सिद्धान्तकौमुदी, वैदिकप्रक्रिया में 'आश्रावय' ऐसा पाठ है। 'ये यजामहे' यह पाठान्तर है।

२. ओ ३ श्रावय—हे यज्ञ, हमारे वचनों को सुनो। इस वाक्य की आश्रावण संज्ञा है। अस्तु श्रौषट्—'अस्तु तथा' ऐसा ही हो, यह प्रत्याश्रावण मन्त्र है। अपक्रान्त यज्ञ इससे उपावर्तित होता है—लौटता है। पहला वचन अध्वर्यु का है दूसरा अग्नीध्र का। पुनः अध्वर्यु कहता है—'यज्'—यह होता के प्रति वचन है। पुनः होता कहता है—'ये यजामहे' हम यज्ञ करते हैं। पुनः हवि-प्रदान का साधनभूत 'वषट्' ऐसा उच्चारण करके होता अग्नि में हवि डालता है।

सत्रह अक्षरों का है। यह आत्मा सत्रह अक्षरों के छन्द–आवरण से छन्दित है। शुक्लयजुर्वेद के नवम अध्यायगत वाजपेययज्ञविधायक मन्त्रों में सत्रह उज्जिति संज्ञक मन्त्र पठित हैं। ये मन्त्र ३१वीं कण्डिका से ३४वीं कण्डिका तक आते हैं। मन्त्रों का स्वरूप इस प्रकार है—

'अग्निरेकाक्षरेण प्राणभुदजयत्तमुज्जेषम्'

\+ \+

प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण सप्तदशं स्तोममुदजयत्तमुज्जेषम् ॥ ३४ ॥

उवट और महीधर ने प्रथम कण्डिका की व्याख्या में कहा है—अथोज्जितीर्वाचयति। अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत्तमुज्जेषम्। ओश्रावयेति चतुरक्षरम्, अस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरम्, यजेति द्व्यक्षरम्, येयजामहे इति पञ्चाक्षरम्, द्व्यक्षरो वषट्कारः। स एष सप्तदश प्रजापतिः (सप्तदशाक्षरात्मकः—महीधर) अधियज्ञं सामासव्यासाभ्यामुज्जीयते। अग्निरेकाक्षरेण छन्दसा प्राणमुदजयत्तमहमप्येकाक्षरेण छन्दसा उज्जेषम्।

यहाँ अग्नि, अश्विनीकुमार, विष्णु, सोम, पूषा, सविता, मरुत्, बृहस्पति, मित्र, वरुण, इन्द्र, विश्वेदेव, वसु, रुद्र, आदित्य, अदिति और प्रजापति—ये १७ देवता और उनके द्वारा विजित प्राण, द्विपद मनुष्य, तीन लोक, चतुष्पद पशु, दिशाएँ, ऋतुएँ, ग्राम्य पशु, गायत्री, त्रिवृत् स्तोम, विराट्, त्रिस्टुभ, जगती, त्रयोदश स्तोम, चतुर्दश स्तोम, पञ्चदश स्तोम, षोडश स्तोम, सप्तदश स्तोम—ये १७ पदार्थ अधिदैव के समान अध्यात्म में भी हैं। अतः यही सब दृष्टि में रखकर कारिका में 'छन्दस्यः आत्मा' कहा गया है। श्रीहरदत्त ने जो 'प्रजापतिः' का अर्थ 'प्रजापतिना दृष्टः' ऐसा किया है, वह उचित नहीं। नागेश ने भी इसी का अनुवाद उद्योत में किया है।

प्रस्तुत पाँच कारिकाओं द्वारा शब्दब्रह्म की चर्चा करते हुए उसे व्याकरण द्वारा वेद्य बतलाया गया है—

प्रत्यस्तमितभेदाया यद्वाचो रूपमुत्तमम्।
यदस्मिन्नेव तमसि ज्योतिः शुद्धं विवर्तते ॥ १८ ॥

प्रत्यस्तमितभेदायाः वाचः यत् उत्तमं रूपम्, यत् शुद्धं ज्योतिः अस्मिन् एव तमसि विवर्तते।

वर्ण, पद, वाक्य एवं महावाक्यादि भेद जिसके अस्त हो गये हैं, ऐसी वाणी का जो उत्तम संवर्तात्मक रूप है, और जो शुद्ध ज्योति इसी अविद्यामय संसार में शब्द और अर्थ के रूप में विवृत्त या परिणत होती है, उस शुद्ध ज्योतिर्मय परब्रह्म का ज्ञान व्याकरण से होता है'—ऐसा बाईसवीं कारिका में कहा गया है।

विवरण—वाक् दो प्रकार की है—एक 'प्राप्तरूपविभागा' और दूसरी 'प्रत्यस्तमित भेदा'। बारहवीं कारिका में स्पष्ट कहा गया है कि प्राप्तरूपविभागा अर्थात्

विवर्तात्मक वाणी का परम रस अथवा पुण्यतम ज्योति, साधुशब्द-समुदाय या सम्पूर्ण (कृत्स्न) शब्दब्रह्म है। यहाँ कहा गया है कि अभेदात्मक या संवर्त रूप वाणी का जो अत्यन्त उत्कृष्ट या लोकव्यवहारातीत रूप है और जिसे शुद्ध ज्योति के नाम से कहा जाता है, वह इस अविद्यामय संसार में स्वर्ण के कुण्डल-कटकादि के समान विविध परिणामों को प्राप्त होता है। अथवा इस अज्ञानात्मक शरीर में चैतन्य रूप से विवृत्त होता है। श्रीवृषभ की व्याख्या निम्नाङ्कित है—'ज्योतिः शुद्धं विवर्तते परिणमत इति। यद्वा शुद्धमपि ब्रह्म अविद्यावशाज्ज्योतिरात्मना शब्दात्मना विवर्तते, शब्दात्मकत्वाज्जगतः इत्युत्तरार्द्धेन विवक्तरूपत्वमुक्तम्। अथवा अस्मिन्नेव शरीरे, तमसि इत्यज्ञानरूपे। ज्योतिः शुद्धमिति चैतन्यमाह।'

शब्दब्रह्म के दो रूप हैं—एक संवर्तात्मक और दूसरा विवर्तात्मक। अनन्त साधुशब्द तथा वेद-शास्त्रादि समस्त वाङ्मय ही विवर्तात्मक शब्दब्रह्म है।

आचार्य सूर्यनारायण शुक्ल ने भावप्रदीप में कहा है—'अस्मिन्नेव वैकृतध्वनिरूपे तमसि अन्धकारे, विवर्तते आच्छादितं वर्तते इत्यर्थः।'

वैकृतं समतिक्रान्ता मूर्तिव्यापारदर्शनम्।
व्यतीत्यालोकतमसो प्रकाशं यमुपासते॥ १९॥

वैकृतं मूर्तिव्यापारदर्शनं समतिक्रान्ताः आलोकतमसी व्यतीत्य यं प्रकाशं उपासते।

विकारात्मक देश और काल के अनुभव का अतिक्रमण करने वाले योगी, आलोक अथवा ज्ञान और अन्धकार अथवा अज्ञान का परित्याग करके जिस प्रकाश (परब्रह्म या शब्दब्रह्म) की उपासना करते हैं।

विवरण—श्रीवृषभ ने कहा है—'विकृतौ भवं वैकृतम्' अर्थात् विकृति में होने वाले मूर्ति–द्रव्य और क्रिया के दर्शन या अनुभव को अतिक्रान्त करनेवाले योगी जो भेद-दर्शन के असत्य होने से अभेद दर्शन में व्यवस्थित हैं; अर्थात् जिनकी दृष्टि में विषयभूत वाह्य विकार अस्त हो गये हैं और विद्या तथा अविद्यारूप आन्तरिक भेद-दर्शन भी नहीं रह गया है, वे जिस प्रकाश रूप परब्रह्म की उपासना या ध्यान[1] करते है।

---

१. भावप्रदीप में निम्नाङ्कित व्याख्या है—

वैकृतं–वैकृतध्वनिसम्बन्धि, मूर्तिव्यापारदर्शनं मूर्तेर्देशस्य (ह्रस्वादिवर्णानाम्), व्यापारस्य क्रियोपलक्षितकालस्य (द्रुतविलम्बितादेः) दर्शनमनुभवं देशकालभेदमिति यावत्; समतिक्रान्ताः स्फोटेऽनारोपयन्तः, आलोकतमसी स्फोटाभिव्यञ्जकत्वात् प्राकृतो ध्वनिरालोकः, स्फोटानभिव्यञ्जकत्वाद्वैकृतो ध्वनिस्तमः, ते व्यतीत्य अतिक्रम्य स्थितं प्राकृतवैकृतध्वनिमिति यावत् प्रकाशं स्फोटाख्यं समुपासते जानन्तीत्यर्थः।

यत्र वाचो निमित्तानि चिह्नानीवाक्षरस्मृतेः ।
शब्दपूर्वेण योगेन भासन्ते प्रतिबिम्बवत् ॥ २० ॥

यत्र, चिह्नानि अक्षरस्मृतेः इव, निमित्तानि वाचः, शब्दपूर्वेण योगेन प्रतिबिम्बवत् भासन्ते ।

जिस प्रकाश रूप शब्दब्रह्म में जैसे लिपि चिह्न अक्षरों—अकार-ककारादिकों का स्मरण कराते हैं, वैसे ही नित्य शब्दतत्त्व की निमित्त या अभिव्यञ्जक तीनों वाणियां (अपरपश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी) शब्दपूर्वयोग के द्वारा प्रतिबिम्ब के सदृश भासित होती हैं ।

विवरण—श्रीवृषभाचार्य की व्याख्या अधोलिखित है—'वाचः–गवादिशब्दानां निमित्तानि–कारणानि' अर्थात् गवादि शब्दों के कारण उत्कीर्ण के समान भासित होते हैं ।'—इस व्याख्या में 'कारण' क्या हैं ? यह स्पष्ट नहीं । दूसरी बात यह है कि इस प्रकार उपमान और उपमेय भाव का औचित्य प्रमाणित नहीं होता । एक ओर स्थूल चिह्न सूक्ष्म अक्षरों के ज्ञापक हैं और दूसरी ओर स्थूल गवादि शब्दों के ज्ञापक हेतु या कारण, जो कोई हों सूक्ष्म होंगे ।

श्रीवृषभ एक सूचना अवश्य देते हैं कि वर्णों के ज्ञापक दो प्रकार के चिह्न उस समय ख्यात थे—एक लिप्यक्षर तथा दूसरे सिंहादि आकृतियाँ । वे कहते हैं—यथा अक्षरस्मृतेः चिह्नानि लिप्यक्षराणि सिंहाकृत्यादीनि वा । कथमभिन्ने भिन्नानां निमित्तानां भासनमित्याह प्रतिबिम्बवदिति । यथानेकतालसालादिरूपं भिन्नमभिन्ने आदर्शे प्रतिबिम्बधर्मेणाभासते । शब्दपूर्वेण इति । ते हि योगिनः पूर्वोक्तशब्दपूर्वेण योगेन तामभिन्नां वाचमुपासीनाः तानि निमित्तानि प्रतिबिम्बधर्मेण पश्यन्ति ।' शब्दपूर्व योग की उन्होंने कहीं भी स्पष्ट व्याख्या नहीं की है ।

प्रस्तुत कारिका की निम्नाङ्कित व्याख्या भी सम्भव है—

प्रत्येक शब्द तीन शब्दों की संघटना मात्र है । ये शब्द हैं—१. अभिधान, २. अभिधेय और ३. निमित्त । व्यवहार के अभ्यास से और श्रुतिसाम्य के कारण इस शब्दत्रितय की पृथक्-पृथक् अवधारणा नहीं होती ।

'व्यवहाराभ्यासाच्छ्रुतिसाम्याच्च नैतत्त्रितयं विवेकेनावाधार्यते ।'

—हेलाराज (तृतीयकाण्ड, सम्बन्धसमुद्देश, कारिका २ की टीका)

अतः यहाँ 'निमित्तानि वाचः' से तात्पर्य है–वर्ण, पद और वाक्यस्फोटात्मक शब्द और ये निमित्त शब्द जैसे अक्षर या प्रणव की स्मृति (अथवा प्रणवात्मक [1]स्मृति—

---

१. महानात्मा मतिर्विष्णुर्जिष्णुः शम्भुश्च वीर्यवान् ।
बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च तथा ख्यातिर्धृतिः स्मृतिः ।
पर्यायवाचकैः शब्दैर्महानात्मा विभाव्यते ॥ २–३ ॥

—महाभारत, अनुगीतापर्व, अध्याय ४० ।

महानात्मा या प्रतिभा) के प्रतीक हों, शब्दपूर्व योग द्वारा जिस प्रकाश में प्रतिविम्ब के समान भासित होते हैं। 'शब्दपूर्वकयोग' का विवरण चौदहवीं कारिका के वृत्ति विवरण में द्रष्टव्य है।

अथर्वणामङ्गिरसां साम्नामृग्यजुषस्य च।
यस्मिन्नुच्चावचा वर्णाः पृथक्स्थितिपरिग्रहाः ॥ २१ ॥

यस्मिन् अथर्वणाम् अङ्गिरसां साम्नाम् ऋग्यजुषस्य च उच्चावचा वर्णाः पृथक्-स्थितिपरिग्रहाः।

जिस प्रकाशरूप शब्दब्रह्म में अथर्वाङ्गिरस सामवेद, ऋक् और यजुर्वेद के विविध वर्ण पृथक् स्थिति को स्वीकार करके विद्यमान रहते हैं।

विवरण—पिछली कारिका में स्फोटात्मक शब्द प्रकाशरूप शब्दब्रह्म में प्रति-विम्वत रहते हैं, यह कहा गया था। प्रस्तुत कारिका में वेदों के वर्ण भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता प्रकाशात्मक शब्दब्रह्म में रखते हैं—यह निरूपित हुआ है। वस्तुतः 'अथर्वणामङ्गिरसाम्' से अथर्ववेद ही समझना चाहिए; क्योंकि अथर्वाङ्गिरस के नाम से अथर्ववेद का वहुधा उल्लेख मिलता है। यथा—

'ऋचां प्राची महती दिगुच्यते दक्षिणामाहुर्यजुषाम्, साम्नामुत्तराम् अथर्वणा-मङ्गिरसां प्रतीची महती दिगुच्यते।' इति।

—तैत्तिरीयब्राह्मण, अन्तिम प्रपाठक, अ० १०

यहाँ अथर्ववेद के लिए ठीक कारिका के सदृश 'अथर्वणामङ्गिरसाम्' का उल्लेख हुआ है। 'अथर्वाङ्गिरस एव मधुकृतः' (छान्दोग्य उप० प्र० ३ ख० ३) 'य एवं विद्वान् अथर्वाङ्गिरसोऽहरहः स्वाध्यायमधीते' (शतपथब्रा० काण्ड ११, प्र० ३ ब्रा० ८) 'श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः' (मनुस्मृति)। 'अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः' (भागवत प्र० स्क० अ० ४)। 'अथर्वाङ्गिरसोभिर्ब्रह्मत्वम्' (गोपथब्राह्मण ३।२)। अथर्ववेद (१०।७।२०) में भी इसका नाम अथर्वाङ्गिरस है। किन्तु श्रीवृषभाचार्य कहते हैं—'अङ्गिरसामित्युपनिषदेकदेशस्य नाम' अर्थात् अङ्गिरस यह उपनिषद् के एकदेश का नाम है।—यह कथन ठीक नहीं जान पड़ता। अथर्ववेद के आङ्गिरस कल्पसूत्र की चर्चा तो मिलती है, किन्तु उपनिषद् की नहीं। 'तुर्यं आङ्गिरसः कल्पः शान्तिकल्पस्तु पञ्चमः' (अथर्वभाष्यभूमिका—सायण)।

वस्तुतः अङ्गिरावेशीय अथर्वा ऋषि द्वारा दृष्ट होने के कारण इस वेद की अथर्वाङ्गिरस संज्ञा है।

पद्धति में श्रीवृषभ ने अपनी व्याख्या के अन्त में कहा है—'एतदाह—नाना-जातीयवर्णप्रतिविम्बपरिग्रहेण यः स्थित इति'। तात्पर्य यह है कि नाना जातीय वर्णों के प्रतिबिम्ब को स्वीकार करके जो (शब्दब्रह्म) स्थित है।

यह वचन श्रीवृषभ का ही प्रतीत होता है। वृत्ति को वे 'यदाह' ऐसा कह कर सूचित करते हैं।

यदेकं प्रक्रियाभेदैर्बहुधा प्रविभज्यते।
तद्व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते ॥ २२ ॥

यत् एकं प्रक्रियाभेदैः बहुधा प्रविभज्यते, तत्परं ब्रह्म व्याकरणं आगम्य अधिगम्यते।

जो एक शब्दब्रह्म प्रक्रियाभेद से—बन्ध और मोक्ष की व्यवस्थाओं से अथवा सांख्यबौद्धादि दर्शनों से अनेकधा सरीसृप, पशु, पक्षी, मनुष्य, देव, पितर, हिरण्यगर्भादि रूप में अथवा प्रकृति, विज्ञान, निर्विशेष ब्रह्म, सविशेष ब्रह्म, शिव, विष्णु, महाशक्ति आदि के रूप में अन्यथा अन्यथा व्यवस्थापित किया जाता है, वह पूर्वोक्त शब्दतत्त्वात्मक परब्रह्म व्याकरण-ज्ञान के अनन्तर उपलब्ध होता है।

विवरण—'परं ब्रह्म' से यहाँ शब्दब्रह्म ही समझना चाहिए, क्योंकि वैयाकरण दर्शन शब्दब्रह्म को ही परब्रह्म कहता है। हेलाराज ने तृतीय काण्ड के व्याख्यान में असकृत् शब्दब्रह्म के लिए परब्रह्म का प्रयोग किया है। यथा—

'अनेकभावग्रामरूपतया चाद्भुतया वृत्त्या विवर्तनादविकृतमित्यपि न शक्यते व्यवहर्तुमिति सर्वव्यपदेशातीतं तत्त्वं परं ब्रह्म।' —तृ० काण्ड, द्रव्यस०, का० १२

इन्द्रियाद्यपेक्षारूपाया अविषयग्रहणे शुद्धेरवगमान्निष्ठायां चाकारकालुष्यापगमात् प्रभास्वरं प्रशान्तकल्लोलं सविन्मात्रमेकघनं शुद्धं ग्राह्यग्राहकशून्यं परं ब्रह्म।

—तृ० काण्ड, सम्बन्धस०, का० ५६

परब्रह्म या शब्दब्रह्म की प्राप्ति ही व्याकरण का परम प्रयोजन है, यह कहा गया है। अब यहाँ से शास्त्र-व्यवस्था का निरूपण करने के लिए उपोद्घात की रचना की जाती है— Introduction

नित्याः शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः ॥ २३ ॥

तत्र सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः महर्षिभिः शब्दार्थसम्बन्धाः नित्याः समाम्नाताः।

वहाँ व्याकरणशास्त्र में सूत्रों, अनुतन्त्रों अर्थात् वार्तिकों के समेत भाष्यों की रचना करने वाले महर्षियों—पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि द्वारा 'शब्द, अर्थ और उनका परस्पर सम्बन्ध नित्य है'—ऐसा बारम्बार कहा गया है।

वृत्तिः—नित्यः शब्दो नित्योऽर्थो नित्यः सम्बन्ध इति शास्त्रव्यवस्था। तत्र हि शब्द इत्यनेन शब्दाकृतिरभिधीयते। एवं ह्याह—

'आकृतिनित्यत्वान्नित्यः शब्दः' इति। आकृतिप्रयुक्तं चेदं शास्त्रम्। तथा हि—

'आकृत्युपदेशात् सिद्धम्' (भा० वा० १।१।२१) इत्याह। सा चेयमाकृतिः शब्दत्वसामान्यविशेषादन्या। शब्दत्वं हि विरुद्धैकार्थसमवायिनीभिराकृतिभिः सर्वाभिरविरुद्धैकार्थसमवायम्। शब्दाकृतिविशेषा हि वृक्षशब्दत्वादयः सति वस्तुसम्प्रमोहे निमित्तसरूपतामापन्ना अभिव्यक्ताः शब्दा इत्यपदिश्यन्ते। यथा हि घटे द्रव्यत्वपृथिवीत्वघटत्वादीनामविरुद्धः समवायः, तथा वृक्षशब्देऽपि गुणत्वशब्दत्ववृक्षशब्दत्वादीनामाकृतिविशेषाणामविरुद्धः समवायः।

विवरण—शब्द नित्य है, अर्थ नित्य है और उनका परस्पर सम्बन्ध भी नित्य है। यदि ये नित्य न हों तो शास्त्र व्यवस्थित नहीं हो सकता। अतः उन तीनों का नित्यत्व शास्त्रव्यवस्था का हेतु है। यदि ये अनित्य हों तो लोग अभिनव शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध को स्वेच्छापूर्वक अन्यथा-अन्यथा बना लेंगे और ऐसी स्थिति में व्याकरणशास्त्र की व्यवस्था नहीं बनेगी।

इस कारिका की वृत्ति में भगवान् भर्तृहरि ने नित्य शब्द से सम्बद्ध चार मतों का उल्लेख किया है। प्रथम मत का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि व्याकरणशास्त्र में शब्द नित्य है, इस कथन के द्वारा शब्द की आकृति या जाति का ग्रहण किया गया है। तात्पर्य यह है कि वृक्षशब्दादिकों में जो वृक्षशब्दत्व आदि जातियाँ हैं, वे 'शब्द' इस शब्द के द्वारा स्वीकृत हैं, केवल 'शब्दत्व' नहीं। शब्द के स्वलक्षण अर्थात् घट-पटादि नाम उदय और व्यय से युक्त रहते हैं, अतः कैसे नित्य हो सकते हैं? और स्वलक्षण—व्यक्तिमात्र या विशेष वाचक नहीं होते, किन्तु सामान्य ही वाचक होता है, अतः जाति—घटशब्दत्व पटशब्दत्वादि जाति को ही शब्द कहा जाता है। जैसा कि कहा है—'आकृति के नित्य होने से शब्द नित्य है।'

श्रीवृषभाचार्य ने कहा है—'एवं ह्याह—इत्यागममाह।' यह आगम कौन है, पता नहीं।

यह व्याकरणशास्त्र आकृतिरूप अभिधेय और आकृत्यात्मक अभिधान को स्वीकार करके प्रवृत्त है। व्यक्तिरूप अभिधान या शब्द स्वीकार करने पर उदात्तादि भेद भिन्न व्यक्तियों का ग्रहण नहीं होगा, इस पर भाष्य में कहा गया है—

'आकृत्युपदेशाद् सिद्धम्' (वार्तिक १९, अध्याय १ पा० १) भाष्य—'आकृत्युपदेशात् सिद्धमेतत्। अवर्णाकृतिरुपदिष्टासर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति। तथेवर्णाकृतिः। तथोवर्णाकृतिः।' (पस्पशाह्निक)

आकृति अर्थात् जाति के उपदेश से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, दीर्घ तथा प्लुत यह सम्पूर्ण अवर्ण का कुल एकमात्र अवर्णाकृति के उपदेश से सिद्ध हो जायेगा। इसी प्रकार इवर्ण की जाति से इवर्ण कुल और उवर्ण की जाति से उवर्ण कुल गृहीत होगा।

वृक्षशब्दत्वरूप जाति में शब्दत्व, गुणत्व (शब्द के गुण होने के कारण) और वृक्षशब्दत्व विद्यमान रहता है, इसको स्पष्ट करने के लिए कहा है—'सा चेयमिति'। वह वृक्षशब्दत्वरूप जाति शब्दत्वरूप जातिविशेष से भिन्न है। गोशब्दत्व, वृक्षशब्दत्व, घटशब्दत्व, पटशब्दत्व आदि समस्त जातियों की एकत्र उपस्थिति या समवाय नहीं बनता, अतः इनका एक अर्थ या वस्तु में समवाय विरुद्ध है। यदि ये एक ही अविरुद्ध अर्थ में समवेत हों तो उसे ही शब्दत्व कहा जाता है। गो, घट, पटशब्दत्वादिकों से केवल 'शब्दत्व' का अविरुद्ध समवाय है। शब्दत्व में गो शब्दत्व और वृक्षशब्दत्वादि सभी जातियाँ रहती हैं। जिसका एकत्र समान काल में नियत सन्निधान है; और जिसका एक स्थान में समान काल में नियत सन्निधि नहीं है उनमें परस्पर भेद माना जाता है। वृक्षशब्द में वृक्षशब्दत्व सन्निहित है, गोशब्दत्व नहीं।

जो भी वृक्षशब्दत्व आदि शब्दजाति विशेष हैं, उन्हें 'शब्दत्व' के नाम से न कह कर 'शब्द' के ही नाम से कहा जाता है, क्योंकि वे निमित्त या जात्यादि की समानरूपता को प्राप्त होकर अभिव्यक्त होते हैं—वृक्षशब्दादि व्यक्ति की इयत्ता को प्राप्त कर लेते हैं। जाति के उपराग, उपरञ्जन या सरूपता की प्राप्ति के बिना वस्तु, वस्तुसामान्य के रूप में प्रतीत होती है और सम्पूर्ण पदशक्तियों का विषय बन जाती है और तब परस्पर एक-दूसरे के भेद की अवधारणा न होने से वह वस्तु सम्प्रमुग्ध—अविविक्त–जात्यादि रहित के सदृश प्रतीत होती है। शब्दत्व कहने से समस्त शब्द व्यक्तियों—वृक्षशब्द, घटशब्द, पटशब्द आदि का भी बोध होगा।

जैसे घट वस्तु में द्रव्यत्व, पृथिवीत्व और घटत्वादिकों का अविरुद्ध समवाय है वैसे ही वृक्षशब्द में भी गुणत्व, शब्दत्व और वृक्षशब्दत्वादिकों का अविरुद्ध समवाय है ही।

वृत्तिः—ननु च व्यवस्थितावयवेषु घटादिष्ववयवी सामान्यविशेषाभिव्यक्तिहेतुः। अनवस्थितावयवास्तु शब्दव्यक्तिविशेषाः। तैस्तु क्रमजन्मभिरयुगपत् कालैरव्यपदेश्यरूपैरवयवैरविद्यमानानेकसमवायिकारणं शब्दान्तरमारब्धुं न शक्यते, यत्राकृतिविशेषाणां समवायः स्यात्। शब्दत्वं तु प्रत्यवयवं परिसमाप्यते। तद्वच्चाकृतिविशेषस्य प्रत्यवयवं परिसमाप्तिर्यदि प्रतिज्ञायते, अवयवमात्रोच्चारणे वृक्षादिशब्दविशेषाकारावग्रहा वकारादिष्ववयवेषूच्चारितेषु केवलेष्वपि बुद्धिः प्राप्नोति। नैष दोषः। यथैवोत्क्षेपणभ्रमणरेचनादीनामुत्पन्नापवर्गिणां कर्मविशेषाणां न च तावदवयवैः कर्मान्तरमवयविस्थानीयं किञ्चिदारभ्यते। न च कर्मत्वव्यतिरेकेणोत्क्षेपणत्वादीनां जातिविशेषाणां समवायो नाभ्युपगम्यते। न च कर्मावयवमात्रदर्शने भ्रमणादिकर्मविशेषाकारावग्रहाः प्रत्यया उत्पद्यन्ते। तानि ह्यवयवकर्माणि विशिष्टप्रयत्नहेतुकानि प्रत्यवयवमुत्क्षेपणत्वादीनामाधारत्वमपि प्रतिपद्यमानानि दुरवधारत्वाद्विशेषस्य विशिष्टजातिविषयां बुद्धिं न प्रकल्पयन्ति।

विवरण—घट वस्तु का दृष्टान्त इस प्रसङ्ग में विषम है; इस बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

जिनके अवयव व्यवस्थित हैं अर्थात् एक साथ ही घट-पटादि अवयवी द्रव्य के निर्माण में उपस्थित रहते हैं, वहाँ तो अवयवी द्रव्यत्व, पृथिवीत्व और घटत्व आदि सामान्य तथा द्रव्य, पृथिवी और घट इन विशेषों की अभिव्यक्ति में हेतु बनता है। अथवा घटरूप आश्रय या अवयवी घटत्व रूप जातिविशेष की अभिव्यक्ति का कारण बनता है, किन्तु वृक्षशब्दादि शब्दव्यक्तिविशेषों के अवयव अनवस्थित रहते हैं। वे क्रमजन्मा होते हैं—स्थान और करणों के अभिघात की उत्पत्ति क्रमवती है, वे एक साथ एक समय में उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि उत्तरोत्तर वर्ण की उत्पत्ति में पूर्व पूर्व वर्ण का विनाश हो जाता है, अतः अव्यपदेश्य रूप अवयवों से अविद्यमान अनेक अवयवों—व्, ऋ, क्ष्, अ इनका समवायिकारण 'वृक्ष' रूप शब्दान्तर का आरम्भ नहीं किया जा सकता, जहाँ वृक्षशब्दत्वादि रूप आकृतियों का समवाय सम्भव हो। और शब्दत्व तो प्रत्येक अवयव में समाप्त हो जाता है। जब एक वर्णात्मक अवयव में शब्द की उत्पत्ति हो गई तो शब्दत्व भी उपलब्ध हो गया। अब शब्दत्व के आश्रयात्मक अवयवी अन्य शब्द की आवश्यकता ही क्या है?

इस प्रकार यदि यह स्वीकार कर लिया जाता है कि वृक्षशब्दत्वरूप आकृति विशेष की भी एकवर्णात्मक अवयव में ही परिसमाप्ति हो जाती है तो अवयव मात्र के उच्चारण में केवल वकारादि पृथक्-पृथक् अवयवों में वृक्षादि शब्द विशेषाकारात्मक बुद्धि की सम्भावना होगी। पूर्वोक्त दृष्टान्त में यही वैषम्य या दोष है।

इस आपत्ति का उत्तर देते हुए कहते हैं—वस्तुतः यह दोष नहीं है। जैसे उत्क्षेपण, भ्रमण और रेचनादिक उत्पन्न और विनष्ट कर्मविशेषों के अवयवों से अवयवी स्थानीय किसी अन्य कर्म का प्रारम्भ नहीं किया जाता; और कर्मत्व सामान्य से अन्य उत्क्षेपणत्व आदि जातिविशेषों का समवाय नहीं स्वीकार किया जाता, ऐसा भी नहीं है। वैशेषिक लोग कर्मत्व जाति से भिन्न उत्क्षेपणत्व आदि जातियों को स्वीकार करते हैं जो भिन्न-भिन्न कर्मांशों में समवेत रहती है। ऐसा भी नहीं है कि कर्म के अवयव मात्र को देखकर भ्रमण आदि कर्मविशेष के आकारात्मक प्रत्यय उत्पन्न होते हों। वे अवयवात्मक कर्म विशेष प्रयत्न के कारण बनकर प्रत्येक अवयव में उत्क्षेपणत्व आदिकों का आधार बनने पर भी दुरवधार अर्थात् ठीक-ठीक उत्क्षेपणादि रूप विशेष की अवधारणा न होने से उत्क्षेपणत्व आदि विशिष्ट जातिविषयक बुद्धि को नहीं उत्पन्न करते।

वृत्तिः—विशिष्टापि हि सा बुद्धिरनभिव्यक्तोपव्यञ्जनविशेषपरिग्रहा। तस्मात्तया व्यवहर्तुं न शक्यते। यदा तु दिग्विशेषावधिपरिच्छिन्नसंयोगविभागकार्याणां कर्मणां प्रबन्धः क्रमेणोपलब्धो भवति; अथ जातिविशेषोपाधियुक्ता व्यवहाराः प्रकल्पन्ते।

तथा वृक्षादिष्वपि शब्देषु प्रयत्नविशेषजनिता विशिष्टा वकारादयो दुर्ज्ञानविशेषा यद्यपि प्रत्यवयवं शब्दजातिविशेषाभिव्यक्तिं कुर्वन्ति, तथाप्यपरिगृहीतानेकोपव्यञ्जनविशेषाभिस्ताभिः शब्दाकृतिभिर्व्यवहर्तुं न शक्यते। यदा तु अवयवप्रबन्धः क्रमेणोपलब्धो भवति, अथ जातिविशेषोपाधियुक्ता व्यवहारा अवतिष्ठन्ते।

विवरण—दुरवधारणा को ही स्पष्ट करने के लिए कहते हैं कि जब तक उत्क्षेपणत्वरूप विशिष्ट बुद्धि के अभिव्यञ्जक समस्त कर्मव्यक्तियों के विशेषों का स्वीकार अस्पष्ट रहता है, तब तक पृथक्-पृथक् कर्मव्यक्ति में वर्तमान भी विशिष्ट बुद्धि द्वारा व्यवहार सम्भव नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि 'उत्क्षिपति' इस विशिष्ट व्यापार में अनेक क्रमिक व्यापार निहित रहते हैं और इन क्रमिक कर्मव्यापार या व्यक्तियों अथवा अवयवों में उत्क्षेपणत्व विद्यमान रहता है तो भी उनसे व्यवहार सम्भव नहीं, जब तक उनकी समाहारात्मिका बुद्धि प्रकट न हो।

और जब दिग्विशेष की अवधि से परिच्छिन्न संयोग-विभागात्मक व्यापारों की कर्मसमष्टि (कर्मणां प्रबन्धः) क्रमशः उपलब्ध हो जाती है, तब उत्क्षेपणत्व आदि जातिविशेष से युक्त उत्क्षेपण (उत्क्षिपति) रूप व्यवहार कल्पित होते हैं। वैसे ही वृक्षादि शब्दों में भी प्रयत्न विशेष से जनित व् ऋ क्ष् आदि दुर्ज्ञानविशेष अवयव यद्यपि अवयवशः शब्दजातिविशेष को अभिव्यक्त करते हैं, तो भी वहाँ वकार आदि अनेक उपव्यञ्जन-विशेषों का परिग्रहण न होने से तत्सम्पन्न शब्दाकृतियों से व्यवहार सम्भव नहीं होता। 'वृक, वृश्चिक, वृक्ष आदि में वकारात्मक अभिव्यञ्जकों में सरूपता होने के कारण भ्रान्त प्रत्यय सम्भव होगा; तथा किसी निश्चित प्रत्यय के अभाव में व्यवहाराशक्यता होगी ही' ऐसी व्याख्या वृषभाचार्य करते हैं। उनका कथन है—

'यद्यपि जातिविशेषा एवाभिव्यक्ताः प्रतिवर्णं तथा न ताभिर्व्यवहर्तुं शक्यते। यतोऽनेकस्योपव्यञ्जनस्य वकारादेर्यो विशेषो भेदो विशिष्टप्रयत्नकृतः, अनेको वा उपव्यञ्जनविशेषः प्रयत्नादिकृतः, सोऽपरिगृहीतोऽपरिच्छिन्न आसामित्युपव्यङ्ग्यचाया अप्यस्फुटता ग्रहणस्य एतदाह—अभिव्यञ्जके सारूप्याद् भ्रान्तप्रत्ययसम्भवेन, प्रत्यवमर्शप्रत्ययाभावाद् व्यवहाराशक्यतेति।'

यद्यपि प्रत्येक वर्ण से जातिविशेष की ही अभिव्यक्ति होती है, किन्तु उनसे व्यवहार–वाग्व्यवहार नहीं बनता। क्योंकि विशिष्ट प्रयत्न से सम्पन्न वृक्ष, वृक, वृश्चिक आदि में विद्यमान वकारादि अनेक उपव्यञ्जनों का विशेष या भेद गृहीत न होने से उपव्यङ्ग्य जाति विशेष की अस्फुटता रहती है। इसी को 'एतदाह' के द्वारा उन्होंने स्पष्ट किया है।

श्रीवृषभ अन्य आचार्य की व्याख्या का प्रस्तुत अनुवाद करते हैं—

'अपरे व्याचक्षते—अंपरिगृहीतोऽपरिच्छिन्न अनेक उपव्यञ्जनविशेषो वर्णभागो यासामिति। यत एकदा एकं वर्णभागं गृह्णाति न सर्वं सकृदिति।'

अर्थात् अनेक उपव्यञ्जनविशेष वर्णभाग, जिन वृक्षशब्दत्व जातियों में गृहीत नहीं है, क्योंकि एक समय में एक ही वर्णभाग गृहीत होता है, सब एक साथ नहीं; ऐसी स्थिति में उन अवयवात्मक शब्दजातिविशेष परिच्छेदों से व्यवहार नहीं होता। और जब अवयवप्रबन्ध–वर्णसमष्टि क्रमशः उपलब्ध होती है तो जातिविशेष की उपाधि से युक्त व्यवहार सम्भव होते हैं।

वृत्तिः—न चावश्यं शास्त्रान्तरे परिदृष्टा जात्यभिव्यक्तिप्रक्रिया वैयाकरणैः परिगृह्यते। न ह्यभिव्यक्तिमतामभिव्यञ्जकैराश्रितानामेवाभिव्यक्तिर्नियमेन क्रियते। तत्रासत्यपि शब्दव्यक्तिसमवाये शब्दाकृतेर्वर्णावयवावग्रहप्राप्तसंस्काराभिः क्रमोत्पन्नाभिर्बुद्धिभिः पूर्वमगृहीता अव्यक्तं गृहीता वा संस्कृतेऽन्तःकरणे चरमविज्ञानेनाकृतिः परिच्छिद्यते। तस्यास्तु शब्दाकृतेरस्तित्वं शुकशारिकामनुष्यादिप्रयुक्तेषु वृक्षादिशब्दव्यक्तिविशेषेषु स एवायमिति प्रत्ययाभेदादनुमीयते।

विवरण—वैयाकरण लोग शास्त्रान्तर में परिदृष्ट जाति की अभिव्यक्तिप्रक्रिया को अवश्य ही मानते हैं, ऐसा नहीं है। प्रदीप और इन्द्रियादिक अभिव्यञ्जकों द्वारा स्वाश्रित रूपादि अभिव्यङ्ग्यों की ही नियमतः अभिव्यक्ति होती है, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि उन अभिव्यञ्जकों से अनाश्रित घटादिकों की भी अभिव्यक्ति देखी जाती है। इसी प्रकार वर्ण भी स्वानाश्रित वृक्षशब्दत्वरूप जाति के अभिव्यञ्जक होते हैं; इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

'वृक्ष' शब्दरूप व्यक्ति के व्+ऋ+क्ष्+अ इन वर्णों में असमवेत भी वृक्षशब्दत्वात्मक जाति; पूर्व-पूर्व वर्णरूप अवयवों के ग्रहण से सुसंस्कृत क्रमशः उत्पन्न उत्तरोत्तर वर्णावयवात्मक बुद्धियों द्वारा पहले अगृहीत अथवा ग्रहणानुकूल प्रत्ययों के विद्यमान होने से अव्यक्त रूप में गृहीत, संस्कृत अन्तःकरण में चरम वर्ण के विज्ञान से इयत्तया निश्चित होती है। 'वृक्षशब्दत्व' रूप जाति के अस्तित्व का अनुमान शुक, सारिका और मनुष्यादिकों द्वारा प्रयुक्त वृक्षशब्दरूप व्यक्ति विशेषों में 'यह वही वृक्ष शब्द है'—इस प्रतीति के अभेद से किया जाता है।

श्रीवृषभाचार्य का कथन है कि शब्दाकृति विशेष की अभिव्यक्ति के विषय में अनेक मत हैं—'अत्रानेकं दर्शनम्। केचिन्मन्यन्ते—अन्त्यवर्णालम्बनं यज्ज्ञानं तत्पूर्ववर्णज्ञानाहितसंस्कारसहायं जातिग्राहकम्। यद्यपि च 'तद्वर्णालम्बनत्वाद् वर्णाकारम्' (अन्त्यवर्णालम्बनं ज्ञानाकारं) तथाप्यभिव्यङ्ग्याभिव्यञ्जकयोरपि जातिवर्णयो ग्राहकम्। यथा रूपग्राहकज्ञानं रूपालोकनयोः।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि 'अन्त्यवर्ण के आलम्बन से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह पूर्व-पूर्व वर्णज्ञान द्वारा स्थापित संस्कार की सहायता से जाति का ग्राहक होता है। तात्पर्य यह है—यद्यपि ज्ञान का आकार अन्त्यवर्ण के आलम्बन से जनित होता है तो भी वह अभिव्यङ्ग्य अर्थात् जाति और अभिव्यञ्जक या वर्ण (अन्त्य वर्ण) का भी ग्राहक होता है। जिस प्रकार रूप का ग्राहक ज्ञान, रूप और आलोकन (दृष्टि) दोनों का ग्राहक होता है।

अपरे मन्यन्ते—अन्त्यवर्णज्ञानसहितैः सर्वैरेव पूर्वपूर्ववर्णज्ञानैः संस्कारारम्भः; अन्त्यवर्णविज्ञानानन्तरं तु जातिग्राहकं ज्ञानमुत्पद्यते। यदुच्यते चरमविज्ञानेन इति। सर्ववर्णग्राहकज्ञानानन्तरं ज्ञानं चरमविज्ञानम्।

दूसरे लोग मानते हैं—अन्तिम वर्ण के ज्ञान के समेत समस्त पूर्व-पूर्व वर्णों के ज्ञानों से संस्कार का आरम्भ होता है और अन्त्य वर्ण के विज्ञान के अनन्तर जाति-ग्राहक ज्ञान उत्पन्न होता है। जैसा कि कहा है—'चरमविज्ञानेन' सम्पूर्ण वर्णों के ग्राहक ज्ञान के अनन्तर जो ज्ञान होता है, वह चरम विज्ञान है।

श्री वृषभाचार्य का कथन है कि ज्ञान के ग्रहण में भी दो मत हैं—कुछ लोग मानते हैं कि यह श्रोत्र विज्ञान है। अन्य लोग इसे मानस ज्ञान कहते हैं। वृक्षशब्दत्व घटशब्दत्व आदि जाति ही शब्द है और वह नित्य है—ऐसा निरूपण यहाँ तक हुआ।

वृत्तिः—यैरयमाकृतिव्यवहारो नाभ्युपगम्यते तेऽप्यनेकध्वनिव्यङ्ग्यां नित्यां शब्दव्यक्तिमेव प्रतिजानते। शब्दव्यक्तिगतस्तु कैश्चिद् वर्णभेदोऽभ्युपगम्यते।

विवरण—शब्द के सम्बन्ध में अब दूसरे मत का उल्लेख किया जाता है—

जो लोग आकृति-व्यवहार को स्वीकार नहीं करते, वे भी अनेक ध्वनियों से व्यङ्ग्य नित्य शब्दव्यक्ति को मानते ही हैं। तात्पर्य यह है कि ये जो आकृति या जातियाँ हैं, वे अपने आश्रयरूप व्यक्ति में स्वानुरूप प्रत्यय और अभिधान से जनित हैं। ऐसी स्थिति में घटादि पदार्थों के समान यह आकृति कैसे स्वतन्त्र हो सकती है? अर्थात् शुक-सारिका आदि द्वारा उच्चारित पदों में 'स एवायं' इस प्रकार का जो अभेद प्रत्यय होता है, वह शब्दव्यक्तिविषयक ही होता है, शब्दाकृतिविषयक नहीं। शुक, सारिका एवं मनुष्य द्वारा उच्चरित 'राम' इस शब्दव्यक्ति का ही संस्कार हमारे अन्तःकरण में पड़ता है, तदनन्तर स्वानुरूप प्रत्यय या व्यक्ति की हमें स्मृति होती है। संस्कार कुछ हो और उससे जनित प्रत्यय कुछ अन्य हो, ऐसा नहीं होता। इसी लिए श्रीवृषभाचार्य कहते हैं—'संस्कारश्च स्वानुरूपस्मृतिहेतुः कथमर्थान्तराकृतिग्रहणे उपयुज्यते'। संस्कार है व्यक्तिविषयक और उससे जनित स्मृति हो अर्थान्तर रूप आकृति की, यह उपयुक्त नहीं।

स्मृति और संस्कार एक रूप माने गये हैं—'जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्।' —योगसूत्र, पाद ४ सूत्र ९

श्रीवृषभाचार्य अनेक ध्वनियों-वर्णों से व्यङ्ग्य नित्यशब्दव्यक्ति को स्फोट कहते हैं, यह पदस्फोट होगा।

'योऽसौ स्फोट इत्याख्यायते।'

इस दर्शन के अन्तर्गत एक दूसरा मत भी है। कुछ लोग पदरूप शब्दव्यक्ति के अन्तर्गत वर्णभेदात्मक स्फोट भी मानते हैं। ये सावयवस्फोटवादी कहे जाते हैं। श्री वृषभ ने कहा है—'परस्परव्यावृत्ता वर्णास्तत्रेति भागवन्तं स्फोटं मन्यन्ते।'

(१) इस प्रकार जातिस्फोट ही नित्यशब्द है, यह एक मत हुआ।

(२) (क) पदव्यक्तिस्फोट ही नित्य शब्द है, यह दूसरा मत है।

(ख) इसी मत के अन्तर्गत कुछ वर्णव्यक्तिस्फोट मानने वाले भी आते हैं।

वृत्तिः—केचित्तु प्रतिवर्णं प्रतिपदं प्रतिवाक्यं चैक एव शब्दात्मा क्रमोत्पन्नावयवरूपप्रत्यवभासः प्रकाशत इति मन्यन्ते।

विवरण—तीसरा मत निरवयवस्फोटवादियों का है। वे लोग मानते हैं कि वर्ण परमाणु-सदृश अवयवभेद से भिन्न होते हैं तथा पद वर्णभेद से और वाक्य पदभेद से। किन्तु यह भेद वर्ण, पद और वाक्यस्फोटों में नहीं है। ये निरवयव होते हैं। वस्तुतः एक ही अखण्ड शब्दात्मा वर्ण, पद और वाक्यात्मक क्रमिक अवयवरूप प्रतिबिम्बों में प्रकाशित होता है।

इस मत की सूचना 'ऐ औच्' सूत्र के प्रस्तुत भाष्य से मिलती है—

'अथवा उभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यतेरश्रुतेर्लश्रुतिर्भवतीति।'

स्थानी 'र' और आदेश 'ल' इन दोनों में एक ही स्फोट रहता है, केवल 'र' श्रुति के स्थान में 'ल' ऐसी श्रुति प्रतीत होती है।

वृत्तिः—अपर आहुः। पारम्पर्याविच्छेदान्नित्यप्रवृत्तेः प्रयोक्तृभिरुत्पत्तावलब्धप्राथम्या व्यवहारनित्यतया नित्याः शब्दा इति।

विवरण—चौथे मत की सूचना देते हुए कहते हैं—दूसरे लोग ऐसा कहते हैं कि शब्दव्यवहार का विच्छेद कभी नहीं होता। अनादि संसार में यह शब्दव्यवहार परम्परया व्यवस्थित है। शब्दों में कूटस्थ नित्यता नहीं किन्तु प्रयोग के अविच्छेद से नित्यवाहिनी नदी के समान इनमें व्यवहारनित्यता देखी जाती है।

ऐसा नहीं है कि जो शब्द पहले कभी प्रयुक्त नहीं हुए उनका प्रथमतः प्रयोग किया जा रहा है। ऐसा कोई काल नहीं है जिसमें इनका प्रयोग न किया गया हो। अतः व्यवहार की नित्यता से शब्द नित्य हैं।

वृत्तिः—अर्थानामपि नित्यत्वं कैश्चिदाकृतिनित्यत्वादेवाभ्युपगम्यते। तथा ह्याह—

'कतरस्मिन् पदार्थे एष विग्रहो न्याय्यः, सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति। आकृतावित्याह।' एतस्मिंश्च भाष्योद्देशे यावन्तः पक्षास्तेष्वर्थस्य नित्यता बहुधा व्याख्याता सा यथा भाष्यमनुगन्तव्या।

विवरण—कुछ लोग आकृति के नित्य होने से ही अर्थों की भी नित्यता स्वीकार करते हैं जैसा कि महाभाष्य में कहा है—

'सिद्धे शब्दे, अर्थे, सम्बन्धे च' यह विग्रह किसे पदार्थ मानकर न्याय्य माना जायेगा—आकृतिरूप पदार्थ को मानकर'।

आकृतिवादी आकृति या जातिरूप अर्थ को ही नित्य मानते हैं। इस भाष्य के स्थल में जितने पक्षों का निरूपण किया गया है, उनमें अर्थ की नित्यता का ही बहुधा व्याख्यान किया गया है। उन्हें भाष्य देखकर समझना चाहिए।

प्रथम पक्ष—आकृतिर्हि नित्या—घटत्वादि आकृति या जाति नित्य है।

द्वितीय पक्ष—द्रव्यं हि नित्यम्—प्रणवात्मक शब्दब्रह्मरूप द्रव्य नित्य है। यह कूटस्थ नित्यता है।

तृतीय पक्ष—नित्याऽऽकृतिः—आकृति या घटादि अवयव-संस्थान नित्य हैं। 'तदपि नित्यं यस्मिँस्तत्त्वं न विहन्यते।' इस भाष्य के अनुसार प्रवाहनित्यता का यहाँ प्रतिपादन है।

चतुर्थ पक्ष—अथवा किं न एतेन इदं नित्यमिदमनित्यमिति। यन्नित्यं तं पदार्थं मत्वैष विग्रहः क्रियते।' अथवा वस्तुगत विचार से क्या लेना है। हमारे शास्त्र में जो नित्य बौद्धपदार्थ है, वही अभिप्रेत है। बाह्य वस्तु चाहे नित्य रहे या अनित्य, शब्द और उसका अभिधेय कभी अनित्य नहीं है, क्योंकि ऐसा नहीं है कि कभी भी कोई शब्द किसी अर्थ में पहले प्रवृत्त न हुआ हो।

'तत्र वस्तु यदि नित्यं यद्यनित्यं शब्दस्तु न कदाचिदभिधेयश्चानित्य इति शब्दे-नार्थेऽप्रवृत्तपूर्वः'। —भर्तृहरि, महाभाष्यदीपिका।

'बुद्धिप्रतिभासः शब्दार्थः। यदा यदा शब्द उच्चारितः तदार्थाकारा बुद्धिरुप-जायते इति प्रवाहनित्यत्वादर्थस्य नित्यत्वमित्यर्थः।' —कैयट।

'बाह्यः पदार्थो न शाब्दबोधे विषयः, किन्तु बौद्धः। स च प्रवाहनित्य इति भावः।' —नागेश

वृत्तिः—नित्यः सम्बन्ध इत्यस्येदंभावे सति शब्दार्थयोः सोऽयमिति यः सम्बन्धः सोऽर्थादेशनस्य कर्तुमशक्यत्वाद् औत्पत्तिकः स्वभावसिद्धो न केनचित् कर्त्रा कश्चित् प्रतिपत्तारं प्रत्यज्ञातपूर्वस्तत्प्रथमं कृत इति। तस्मादनादिर्नित्यं प्राप्ताविच्छेदः शब्दार्थयोः सम्बन्धः।

विवरण—शब्द और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध भी नित्य है। और यह सम्बन्ध अभेदलक्षण या अभिन्नरूपतात्मक माना जाता है। शब्द और अर्थ का इस प्रकार सम्बन्ध 'अस्य इदं भाव' में ही बनता है, अन्यथा नहीं। 'अस्य' अर्थात् इस अर्थ का यह (शब्द) वाचक है; अथवा इस शब्द का यह वाच्य (अर्थ) है। इस प्रकार का सम्बन्ध 'सोऽयम्' इस सारूप्यात्मक स्थिति में औत्पत्तिक अर्थात् नित्य स्वभावतः सिद्ध है; व्याकरण के द्वारा अर्थ का आदेशन या निर्देश करना सम्भव नहीं। यह

सम्बन्ध किसी कर्ता या वक्ता के द्वारा किसी बोद्धा या श्रोता को लक्ष्य करके, जो पहले ज्ञात नहीं था, सर्वप्रथम प्रचलित किया गया हो, ऐसा नहीं है। अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध कभी उच्छिन्न नहीं होता; वह अनादि एवं नित्य है।

श्रीवृषभाचार्य ने यहां कहा है—'यद्यपि सारूप्य उभयगत है, तो भी प्रकाशक स्वभाव होने के कारण शब्द में अर्थ की रूपसंक्रान्ति होती है।'

जैसे स्वच्छ होने के कारण दर्पणतल में रूप की संक्रान्ति होती है, रूप में दर्पण तल की नहीं। यहाँ दोनों का सारूप्य उपाधिकृत है और शब्दों में तो अर्थ प्रतिनियत एवं स्वतः तदवस्थ रहता है। इसलिए ग्रहण किया जाता हुआ शब्द संक्रान्त अर्थ के आकार के रूप में ही गृहीत होता है। यह जो शब्द में अर्थ की अभिन्नरूपता है, वही अर्थ की प्रतिपत्ति का हेतु है।

अथवा शब्द का अर्थ से अत्यागरूप सम्बन्ध माना गया है। तो शब्द का अर्थ में किस प्रकार का व्यापार होता है? वह अर्थ को कहता है—यही व्यापार है। कोई भी केवल शब्द अपने अन्दर अर्थाकार को प्रतिफलित करता हुआ समारोपण नामक व्यापार से युक्त के समान उसे कहता है—ऐसा नहीं कहा जाता। वह इस प्रकार का शब्द और अर्थ का सारूप्य स्वभाव से व्यवस्थित है।

अर्थ का अकृतपूर्व आदेशन प्रथमतः कोई नहीं कर सकता। जैसा कि महाभाष्य के समर्थवार्तिकभाष्य में कहा गया है—

'स्वाभाविकमित्याह। कुत एतत्? **अर्थानादेशनात्**। नहि अर्था आदिश्यन्ते।'

'किं पुनः कारणमर्था नादिश्यन्ते? **तच्च लघ्वर्थम्**। लघ्वर्थं ह्यर्था नादिश्यन्ते।'

'असम्भवः खल्वर्थादेशनस्य। को हि नाम समर्थो धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामर्थानादेष्टुम्।'

—महाभाष्य २।१।१।

वृत्तिः—इन्द्रियविषयवद् वा प्रकाश्यप्रकाशकभावेन समयोपाधिर्योग्यता शब्दार्थयोः सम्बन्धः। अर्थसरूपप्रत्यवभासानां वा प्रत्ययानां बाह्येष्वर्थेषु प्रत्यस्तानामक्षरनिमित्ताक्षरकल्पनावदर्थवदेवैकविषयत्वेऽभ्युपगम्यमाने नित्यमविच्छिन्नपारम्पर्यः कार्यकारणभावः शब्दार्थयोः सम्बन्धः। तया ह्युक्तम्—

'तेऽपि हि तेषामुत्पत्तिप्रभृत्यविनाशाद् बुद्धीर्व्याचक्षाणाः सतो बुद्धिविषयान् प्रकाशयन्ति।' इति।

विवरण—अथवा **योग्यता या सामर्थ्य ही शब्दार्थ का सम्बन्ध है**। यह सामर्थ्य प्रकाश्य-प्रकाशकभावरूप समझना चाहिए। शब्द प्रकाशक है और अर्थ प्रकाश्य। इन[1] दोनों को मिलाकर एक सम्बन्ध बनता है। ऐसा नहीं है कि प्रत्येक शब्द और अर्थ का योग्यता से पृथक् सम्बन्ध का कथन किया जाता है। जैसे नेत्रादि इन्द्रियों की

---

१. एतद् द्वयं संहत्यैकः सम्बन्धः, न पुनः प्रत्येकं शब्दार्थयोर्योग्यतया पृथक् सम्बन्धाभिधानम्।'

—श्रीवृषभ।

रूपादि विषयों के प्रकाशन की शक्ति नियत है और रूपादिकों में प्रकाश्य शक्ति; वैसे ही शब्द और अर्थ में भी समझना चाहिए। यह योग्यता समयोपाधिक होती है। अर्थात् भिन्न-भिन्न शब्दों का भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोगरूप वृद्धव्यवहार-दर्शन ही समय है। और इस समयरूप (शर्त) उपाधि या सहकारी कारण के बल पर ही तत्तत् अर्थ के प्रकाशन में तत्तत् शब्द की योग्यता प्रकट होती है और इसी लिए अनिर्ज्ञात सम्बन्ध वाले विषय का शब्द से प्रकाशन नहीं होता। जिसने वाग्व्यवहार को बहुलता से देखा है, उसके लिए समयोपाधि ही योग्यता के प्रतिपादन की हेतु है।

जैसे नेत्रादि रूप-प्रकाशन की योग्यता होने पर भी आलोक की सहायता के बिना रूप का प्रकाशन नहीं कर सकते, वैसे ही शब्द अर्थ-प्रकाशन की योग्यता रखते हुए भी समयोपाधि की अपेक्षा रखते हैं।

अथवा शब्द और अर्थ का **कार्यकारणभाव सम्बन्ध** है। वस्तुतः शब्द से अर्थाकार बुद्धि उत्पन्न होती है। इस अर्थाकार बुद्धि का नाम प्रत्यय है। ये प्रत्यय बाह्य घटादि अर्थों के समान रूप वाले होते हैं। इनका जब बाह्य अर्थों में आरोपण होता है तो सादृश्य के कारण बुद्धिस्थ और बाह्यस्थ घट-पटादि पदार्थों की एकात्मविषयक स्वीकृति देखी जाती है। जैसे अर्थाकार प्रत्यय या बौद्धार्थ रूप कार्य का कारण शब्द है, वैसे ही बाह्यार्थ का भी बौद्धार्थ के तादात्म्य से शब्द ही कारण उपपन्न होता है। बाह्य अर्थ और बौद्धार्थ में वैसे ही एकता समझनी चाहिए जैसे वास्तविक अक्षरों की स्मृति के निमित्तरूप लिपि के अक्षरों में वास्तविक अक्षर न होते हुए भी अक्षर व्यवहार और एकत्व का अध्यवसाय (निश्चय)। इस प्रकार शब्द और अर्थ का कारण और कार्यभाव परम्परा से अविच्छिन्न एवं नित्य माना जाता है।

श्रीवृषभाचार्य ने कहा है कि यहाँ भी समयोपाधि को जोड़ना चाहिए। उसके सहकार से ही कार्योत्पत्ति सम्भव होती है। अर्थ की बुद्धिरूपता को आगम से प्रतिपादित करने के लिए कहते हैं—

'इह तु कथं वर्तमानकालता, कंसं घातयति, बलिं बन्धयतीत्यादि।'

अत्यन्त भूतकाल में कंस के मारे जाने पर और बलि के बाँधे जाने पर 'कंस का वध कराता है और बलि को बँधवाता है' यहाँ वर्तमानकालता कैसे होगी ?

इस आक्षेप भाष्य का समाधान करते हैं—वर्तमानकालता यहाँ उचित है, क्योंकि ये शौभिक—कंसादिकों का अनुकरण करने वाले नटों के व्याख्यानोपाध्याय सामाजिकों द्वारा कंसबुद्ध्या गृहीत कंसानुकारी नटरूप कंस का प्रत्यक्ष वध कराते हैं।

पुनः आक्षेप किया गया है कि 'चित्रेषु कथम्' इसका समाधान है—चित्रकार चित्रों में कंस और कृष्ण के उद्गूर्ण (उद्यत) और निपतित प्रहार प्रत्यक्ष दिखलाता है।

पुनः आक्षेप है—'ग्रन्थिकेषु कथम्। यत्र शब्दग्रन्थगडुमात्रं लक्ष्यते।' अर्थात् ग्रन्थिक या कथा कहने वालों में कैसे वर्तमानकालता सिद्ध होती है, जहाँ केवल

शब्द–कथक द्वारा उच्चार्यमाण, ग्रन्थ–कथक हाथ में रखी हुई पुस्तक और गढु–मनुष्यसंघात, यही तो दिखलाई देता है; वहाँ न वासुदेव हैं न बलि और कंस और न ही प्रयोजक।

इस पर समाधान भाष्य है—'तेऽपि' इत्यादि। 'वे ग्रन्थिक भी कंसादिकों के जन्म से नाशपर्यन्त ऐश्वर्यों का बखान करते हुए स्वबुद्धिस्थ कंसादिकों को प्रकाशित करते हैं, श्रोताओं की बुद्धि में समर्पित करते हैं।'

तात्पर्य यह है कि कथक लोग शब्दों के द्वारा श्रोताओं की बुद्धियों में उन कंसादिकों के ऐश्वर्य और विनाश का वैसे वर्णन करते हैं जिससे वे श्रोतागण कंसादिकों को अपने प्रत्यय या बुद्धिवृत्ति का अङ्ग स्वीकार करते हुए उन्हें अपने सामने स्थित वाह्य के समान मानने लगते हैं।

महाभाष्य ३।१।२६ में 'ऋद्धीर्व्याचक्षाणाः' यही पाठ दिया गया है, जो उचित है। नागेश ने 'तदैश्वर्याणि' इस प्रकार अर्थ किया है।

श्रीवृषभाचार्य की पद्धति में 'वृद्धीः' ऐसा पाठ दिया गया है, जिसकी व्याख्या की गई है—'सम्पदो विपदश्च'। यह अर्थ भी युक्त है और पाठ 'ऋद्धीः' का अनुवाद मात्र है। वस्तुतः—

शब्दोपहितरूपांश्च बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते॥ ५॥

—तृतीयकाण्ड, साधनोद्देश

वाक्यपदीय की इस कारिका के हेलाराजीय व्याख्यान से भी 'ऋद्धीः' यही शुद्ध पाठ है, ऐसा ज्ञात होता है।

'एतच्च वृद्धीर्व्याचक्षाणा इति भाष्यस्याभिप्रायाद् व्याख्यानम्। प्रभावातिशययुक्ते हि वस्तुन्यादरवशात् स्पष्टरूपः प्रत्ययः प्रस्तूयते। स्पष्टे च ज्ञानेऽवभान आकारो बाह्यात्मकोऽवसीयते। —हेलाराज

बुद्धिप्रतिभास्येव ह्याकारः शब्दार्थो न वस्त्वर्थः। तथा च कथकः श्रोतरि कंसाद्याकारप्रत्ययजननात् बुद्धिवासुदेवेन बुद्धिकंसं घातयति इति प्रयोजकत्वसमारोपात् प्रयोगोपपत्तिः। तथा हि कथकोदीरितशब्दसामर्थ्योपजातरूपविशेषान् श्रोतृबुद्धिगोचरमापतितान् सव्यापाररूपान् कंसादीन् कर्मादिसाधनतया भाष्यकारो मन्यत इति बुद्ध्यवस्थानिबन्धनः साधनव्यवहारः सिद्धः। —हेलाराज।

हेलाराज ने वृत्तिस्थ 'तेऽपि हि—' इस वाक्य को अपनी व्याख्या में उद्धृत किया है। चौखम्बा के प्राचीन संस्करणस्थ इस व्याख्या में 'बुद्धीर्व्याचक्षाणाः' ऐसा अशुद्ध पाठ छपा है।

वृत्तिः—तत्राम्नाता महर्षिभिः। सूत्रादीनां प्रणेतृभिः। व्याकरण एव ये सूत्रादीनां प्रणेतारस्ते व्यपदिश्यन्ते। तत्र सूत्राणामारम्भादेव शब्दानां नित्यत्वमभिमतम्। न ह्यनित्यत्वे शब्दादीनां शास्त्रारम्भे किञ्चिदपि प्रयोजनमस्ति।

व्यवहारमात्रं ह्येतदनर्थकं न महान्तः शिष्टाः समनुगन्तुमर्हन्तीति। तस्मात् व्यवस्थितसाधुत्वेषु शब्देषु स्मृतिशास्त्रं प्रवृत्तमिति।

अपरे तु—

तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् (पा० सू० १।२।५३) इत्येवमादीनि सूत्राणि नित्यत्वं प्रति समर्थयन्ते।

अनुतन्त्रेषु खल्वपि—

'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' (वार्तिक १ पश्पशाह्निक) इति। 'सिद्धं तु नित्यशब्दत्वात्।' इति।

'स्फोटः शब्दो ध्वनिस्तस्य व्यायाम उपजायते'।

'सर्वे सर्वपदादेशाः' इत्येवमादि।

भाष्ये खल्वप्युक्तम्—

'सङ्ग्रहे एतत् प्राधान्येन परीक्षितं नित्यः शब्दः' इति।

अनुतन्त्रभाष्येऽप्युक्तम्—

'नित्येषु शब्देषु कूटस्थैर्वर्णैरविचालिभिर्भवितव्यम्।' इत्येवमादि।

विवरण—महर्षियों से तात्पर्य है—सूत्रादिकों के प्रणेता; अन्य शास्त्रीय सूत्रादिकों के प्रणेता नहीं, अपि तु व्याकरणशास्त्र में ही जो सूत्रादिकों के प्रणेता हैं, वही निर्दिष्ट हैं। व्याकरण में सूत्रों के आरम्भ से ही शब्दों का नित्यत्व अभिमत है। शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध के अनित्य होने से शास्त्र के आरम्भ का कोई प्रयोजन ही नहीं है। यदि ये शब्द वाग्व्यवहार के लिए ही हों, अर्थात् अर्थप्रत्यायन ही इनका उद्देश्य हो तो यह कार्य अपभ्रंशों से भी सिद्ध हो सकता है। ऐसे शब्दों से अभ्युदय नहीं हो सकता है। अतः स्वकल्पित शारक्रीडा (हवा में बनाये गये अक्षरों के खेल) के समान अनर्थक शब्दों का अनुगमन, महान् विदितवेदितव्य शिष्ट लोग नहीं कर सकते। इसलिए व्यवस्थित साधुत्व वाले शब्दों को लेकर ही यह व्याकरणरूप स्मृति-शास्त्र प्रवृत्त हुआ है।

दूसरे लोग—'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्' जैसे सूत्रों का शब्द की नित्यता बतलाने के लिए समर्थन करते हैं।

'लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने' (१।२।५१) इस पूर्वाचार्य के सूत्र का पाणिनि भगवान् 'तदशिष्यं'—इस सूत्र द्वारा प्रत्याख्यान करते हैं।

'तस्य निवासः' (४।२।६९) इस सूत्र से विहित 'अण्' इस चातुरर्थिक प्रत्यय का 'जनपदे लुप्' (४।२।८१) इस सूत्र से लोप होने पर 'लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने' अर्थात् लोप होने पर युक्त-प्रकृतिभूत शब्द के लिङ्ग और संख्या दोनों वर्तमान रहते हैं। यथा पञ्चालानां—पञ्चालसंज्ञकानां राज्ञाम्—निवासो जनपदः पञ्चालाः, कुरूणां निवासः कुरवः आदि।

पाणिनि भगवान् का कथन है कि 'तत् अशिष्यम्'—अर्थात् लिङ्ग और संज्ञा का उपदेश उचित नहीं, क्योंकि इसमें संज्ञा या लोकव्यवहार ही प्रमाण है। जैसे 'आपः' 'दाराः' आदिकों में शास्त्रीय पुंस्त्व विशिष्ट ही स्त्री रूपार्थ का भान होता है, वैसे ही लोप होने पर भी शास्त्रीय प्रकृत्यर्थगत लिङ्ग-संख्या विशिष्ट स्वार्थ का ही लोकव्यवहार से भान होगा, अतः इस अंश में शास्त्रव्यापार की अपेक्षा नहीं है।

श्रीवृषभ ने कहा है—'तदेकदेशेन नित्यतां मन्यन्ते।' अर्थात् वे लोग एकदेश से शब्दों की नित्यता मानते हैं। किन्तु वृत्तिकार का यह आशय है, ऐसा नहीं जान पड़ता। वृत्तिकार कहते हैं कि पाणिनि के पूर्ववर्ती महर्षि शब्द, अर्थ और उसके सम्बन्ध को नित्य मानते थे।

अन्य वैयाकरण पाणिनि के सूत्रों में से कुछ सूत्रों को शब्दनित्यता के सम्बन्ध में उद्धृत करते हैं। उनमें से 'तदशिष्यं' तथा 'लुब्योगाऽप्रख्यानात्' (१।२।५४) 'योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात्' (१।२।५५) 'प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्' (१।२।५६) एवं 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (६।३।१०९)—ये सूत्र हैं, जो शिष्ट प्रयुक्त एवं लोकव्यवहृत शब्दों की साधुता एवं नित्यता का ख्यापन करते हैं। इस प्रकार के शब्दों में शास्त्रव्यापार की आवश्यकता नहीं होती। नागेश ने 'तदशिष्यं' इस सूत्र के शेखर में कहा है—'संज्ञानां लोकव्यवहाराणामेव तत्र प्रमाणत्वं, न तु तदंशे शास्त्रव्यापार इत्यर्थः।' इससे यही ज्ञात होता है कि कुछ शब्द अव्युत्पन्न रूप में व्याकरण से पहले साधु माने जाते थे और व्याकरण शास्त्र ने भी उनकी उसी रूप में मान्यता दे दी। और व्याकरण द्वारा जिनकी व्युत्पत्ति बतलाई जाती है, वे अनित्य हैं, ऐसी कोई बात इससे नहीं सूचित होती।

अतः 'अपरे तु न शब्दमात्रस्य नित्यतां मन्यन्ते, किन्तु तदेकदेशस्य संज्ञादेः।'

तथा इस अम्बाकर्तृ का मूल—'तदेकदेशेन नित्यतां मन्यन्ते।' (श्रीवृषभ) उचित नहीं। व्युत्पत्ति-लभ्य शब्दों की नित्यता के विषय में स्पष्ट कहा गया है—

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते॥ —महाभाष्य

अनुतन्त्र अर्थात् वार्तिकों में भी—'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' (वार्तिक १)—शब्द, अर्थ और उसका सम्बन्ध नित्य होने पर।

'सिद्धं तु नित्य शब्दत्वात्।' (वार्तिक—यह 'वृद्धिरादैच्' सूत्र के अन्तर्गत उपलब्ध है)।

'शब्दों का नित्यत्व स्वीकार करने से यह सिद्ध है कि नित्य शब्दों में वर्तमान आदैच् की संज्ञा मात्र का विधान किया जाता है, न कि संज्ञा द्वारा आदैच् की उत्पत्ति का।

'स्फोटः शब्दो ध्वनिस्तस्य व्यायाम उपजायते'। (श्लोकवार्तिक—यह कुमारिल भट्ट का श्लोकवार्तिक नहीं है) महाभाष्यदीपिका में 'व्यायामादुपजायते' ऐसा पाठ है।

स्फोट शब्द है और ध्वनि उसके व्यायाम या [1]यत्न-विशेष से उत्पन्न होती है।

श्री वृषभ ने कहा है—'ध्वनेर्व्यायामजन्यतया कृतकत्वम्, स्फोटस्य तु तद् व्यतिरेकेण कारणानुपदर्शनेन च नित्यत्वम्।' अर्थात् ध्वनि व्यायामजन्य होने के कारण कृत्रिम है, और स्फोट उससे भिन्न तथा कारण रहित होने से नित्य।

'सर्वे सर्वपदादेशा'—यह श्लोकवार्तिक 'दा धा घ्वदाप्' (१।१।२०) इस सूत्र के भाष्य में वर्तमान है।

दाक्षीपुत्र पाणिनि के मत में सम्पूर्ण स्थानी के स्थान में सम्पूर्णावयव आदेश होता है। यदि एकदेश में विकार माना जायगा तो शब्दों की नित्यता उपपन्न नहीं होगी। वस्तुतः स्थान्यादेशभाव बुद्धि का विपरिणाम मात्र है, शब्दों का नहीं।

महाभाष्य में भी कहा गया है—व्याडि-रचित एकलक्षात्मक 'संग्रह' नामक ग्रन्थ में प्रधान रूप से परीक्षा की गई है कि शब्द नित्य है।

अनुतन्त्र अर्थात् वार्तिकभाष्य में भी कहा गया है—

'नैवं शक्यम्। अनित्यत्वमेवं स्यात्। नित्याश्च शब्दाः। नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः।'

—'अइउण्' सूत्र तथा 'शकुनिवत्स्युः' इस वार्तिक का भाष्य।

वर्णैकत्ववादी का कथन है कि जिस प्रकार चिड़ियाँ पङ्क्ति के आदि में स्थित होते हुए भी आशुगामी होने के कारण पङ्क्ति के अन्त में भी दिखलाई देने लगती हैं, उसी प्रकार एक ही अकार जो 'दण्ड' के 'द' में उपलब्ध था, वह 'ण्ड' में भी उपलब्ध हो रहा है। इस प्रकार वर्णजातिवादी का आक्षेप—१. कालव्यवधान–('दण्ड अग्रम्' में), २. शब्दव्यवधान–('दण्डः' में) तथा ३. युगपत् देशपृथक्त्व-दर्शन–(अर्कः अश्वः अर्थः आदि में) के कारण अकार का नानात्व मानना होगा—निरस्त हो जाता है।

इस पर भाष्यकार कहते हैं कि ऐसा सम्भव नहीं। इस प्रकार वर्ण अनित्य हो जायेंगे और नित्य शब्दों में वर्णों को कूटस्थ, अविचाली, अनपाय, अनुपजन और अविकारी होना चाहिए। यदि अकार जो 'द' में उपलब्ध हुआ 'ण्ड' में भी दिखलाई देता है तो यह कूटस्थ नहीं होगा; क्यों कि स्वर-भेद के कारण वहाँ संसर्गानित्यता तो उपस्थित ही हो जायेगी।

---

१. 'व्यायामे' यही पाठ शुद्ध प्रतीत होता है। अर्थ है—स्फोट के विस्तार में। महाभाष्यकार ने तपरसूत्र के भाष्य में अध्वा (मार्ग) में चिराचिर गति की बात कही है। उस पर—'विषम उपन्यासः। अधिकरणमत्राध्वा व्रजति क्रियायाः। तत्रायुक्तं यदधिकरणस्य वृद्धिह्रासौ स्याताम्। यह आक्षेप भाष्य है। समाधान किया गया है—'तर्हि स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्दगुणः। इससे स्पष्ट है कि स्फोट में ध्वनि आरूढ होती है, जैसे अध्वा में चिराचिर गति। स्फोट ध्वनि का अधिकरण है। जैसे गुण द्रव्य में रहता है, उसी प्रकार प्राकृत और वैकृत ध्वनियाँ स्फोट में।

श्री वृषभाचार्य ने 'नित्येपु शब्देषु' पर कहा है—'वर्णसमुदायात्मकस्य शब्दस्य वर्णनित्यतया तेन नित्येन भवितव्यम् ।'

वृत्तिः—तथा व्यावहारिकेऽपि नित्यत्वे—[1]'खदिरबर्बुरौ सूक्ष्मपर्णौ गौरकाण्डौ'। तत्र 'कण्टकवान् खदिरः।' 'प्राचीनं ग्रामादाम्राः। क्षीरिणः प्ररोहवन्तः पृथुपर्णा न्यग्रोधाः' इति ।

अथवा यैः प्रत्यक्षधर्मभिस्तत्र तत्र प्रवचने सूत्रानुतन्त्रभाष्यांणि प्रणीतानि, तैरेव शिष्टैर्व्याकरणेऽपि नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः इत्याम्नातम्। तेषां च व्यवस्थितं लोके प्रामाण्यमिति ॥ २३ ॥

विवरण—महाभाष्य में व्यावहारिक नित्यता के सम्बन्ध में दृष्टान्त मिलते है; वह नित्यता चाहे आगमों को अपूर्वशब्दोपजन मानकर हो अथवा स्थान्यादेशभाव मान कर। 'आद्यन्तौ टकितौ' (१।१।४६) इस सूत्र के भाष्य में कहा गया है—

'खदिर और बर्बुर दोनों वृक्षों के पत्ते सूक्ष्म होते हैं और तना गौर।' इस प्रकार सर्वत्र खदिर बुद्धि प्राप्त होती है। पुनः बाद में किसी ने कहा कि 'खदिर में काँटे होते हैं'। यहाँ इस कथन द्वारा अविद्यमान कण्टकों का आधान या आरोप नहीं किया जाता, अपितु पूर्वबुद्धि का निवर्तन और अन्य खदिर बुद्धि की स्थापना की जाती है। वैसे ही प्रकृत प्रसङ्ग में—अर्थात् व्यवस्थित 'तव्य' के पीछे असत् इट् रूप आगम या अवयव नहीं जुड़ता, जिससे अनित्यता हो, किन्तु 'इतव्य' शब्द के अन्वाख्यान का यह उपाय मात्र है। अतः यहाँ कूटस्थ नित्यता तो नहीं है, किन्तु वियदादिक के समान व्यावहारिक नित्यता को लेकर परिहार किया जाता है।

'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (१।१।५६) इस सूत्र के भाष्य में महामुनि पतञ्जलि ने एक और उदाहरण प्रस्तुत किया है—

'भूतपूर्वे चापि स्थानशब्दो वर्तते ।'

कथम् ?

बुद्धया। तद्यथा कश्चित्कस्मैचिदुपदिशति—'प्राचीनं ग्रामादाम्राः' इति। तस्य सर्वत्राम्रबुद्धिः प्रसक्ता। ततः पश्चादाह—'ये क्षीरिणोऽवरोहवन्तः पृथुपर्णास्ते न्यग्रोधाः' इति। स तत्राम्रबुद्धया न्यग्रोधबुद्धिं प्रतिपद्यते। स ततः पश्यति बुद्धया आम्रांश्चापकृष्यमाणान्, न्यग्रोधांश्चोपाधीयमानान्। नित्या एव च स्वस्मिन् विषये आम्राः, नित्याश्च न्यग्रोधाः। बुद्धिस्त्वस्य विपरिणम्यते। एवमिहापि अस्तिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः, तस्य सर्वत्रास्तिबुद्धिः प्रसक्ता। सः 'अस्तेर्भूः' इत्यनेनास्तिबुद्धया भवति बुद्धिं

---

१. अथवा यत्तावदयं सामान्येनोपदेष्टुं शक्नोति, तत्तावदुपदिशति—प्रकृतिम्, ततो बलाद्यार्धधातुकम्, ततः पश्चादिकारम्। तेनायं विशेषेण शब्दान्तरं समुदायं प्रतिपद्यते। तद्यथा—खदिरबर्बुरयोः—खदिरबर्बुरौ गौरकाण्डौ सूक्ष्मपर्णौ। ततः पश्चादाह—कण्टकवान् खदिर इति। —महाभाष्य १।१।४६।

प्रतिपद्यते । स ततः पश्यति—बुद्धया अस्ति चापकृष्यमाणं, भवति चोपाधीयमानम्, नित्य एव च स्वस्मिन्विषयेऽस्तिर्नित्यो भवतिश्च । बुद्धिस्त्वस्य विपरिणम्यते ।

स्थान शब्द 'अभूतपूर्व' अर्थ में प्रयुक्त होता है—यह भाष्यकार दिखला चुके हैं । यहाँ कहते हैं कि स्थान शब्द 'भूतपूर्व' अर्थ में प्रयुक्त होता है । किस प्रकार ? बुद्धि द्वारा । जैसे कोई किसी को उपदेश देता है—गाँव से पूर्व आम के वृक्ष हैं । तो उसके मन में सभी वृक्षों में आम्रबुद्धि प्राप्त हुई । बाद में उसने कहा—जो दूधवाले, वरोहियों में युक्त तथा बड़े पत्ते वाले हैं, वे बरगद वृक्ष हैं । वह आम्रबुद्धि से न्यग्रोधबुद्धि को प्राप्त होता है । तब वह देखता है—बुद्धि से आम्रवृक्ष हट रहे हैं और न्यग्रोध उत्पन्न हो रहे हैं । अपने विषय में आम भी नित्य हैं और न्यग्रोध भी । केवल श्रोता की बुद्धि का विपरिणाम होता है ।

वैसे ही प्रकृत प्रसङ्ग में जिस 'अस्ति' का उपदेश दिया गया है, उसे सर्वत्र अस्ति बुद्धि प्रसक्त हुई । पश्चात् वह 'अस्तुर्भूः' द्वारा अस्ति बुद्धि से भवति बुद्धि को प्राप्त हुआ । तब वह देखता है कि बुद्धि से अस्ति का अपनयन हो रहा है और भवति का आघात हो रहा है । अपने विषय में अस्ति भी नित्य है और भवति भी । केवल इसकी बुद्धि का विपरिणाम होता है ।

पहला उदाहरण एकदेश विकार या आगम से सम्बद्ध है और दूसरा सर्वविकार या सर्वपदादेश से ।

शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता के सम्बन्ध में भगवान् भर्तृहरि द्वारा वृत्ति में निबद्ध तीसरा मत इस प्रकार है—

अथवा प्रारम्भ में ही जिन साक्षात्कृतधर्मा महर्षियों द्वारा अपने भिन्न-भिन्न शास्त्रीय प्रवचनों में सूत्र, अनुतन्त्र—वार्तिक और भाष्यों का निर्माण किया गया, उन्हीं शब्दतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले योगियों—शिष्टों द्वारा व्याकरणशास्त्र में भी ऐसा कहा गया है कि शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध नित्य है । और उनका प्रामाण्य लोक में व्यवस्थित है । श्रीवृषभाचार्य ने 'तैरेव' का अर्थ किया है—'पाणिन्यादिभिः', किन्तु पाणिनि-प्रभृति के उदाहरण तो 'अपरे तु' इस वचन में दिये जा चुके हैं, पुनः 'अथवा' के द्वारा उनका कथन कैसे सङ्गत होगा ? ॥ २३ ॥

अब प्रस्तुत तीन कारिकाओं द्वारा प्रकरण के अभिधेय या विषय का निरूपण करते हैं—

अपोद्धारपदार्था ये ये चार्थाः स्थितलक्षणाः ।
अन्वाख्येयाश्च ये शब्दा ये चापि प्रतिपादकाः ॥ २४ ॥
कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिताः ।
धर्मे ये प्रत्यये चाङ्गं सम्बन्धाः साध्वसाधुषु ॥ २५ ॥

ते लिङ्गैश्च स्वशब्दैश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुपवर्णिताः।
स्मृत्यर्थमनुगम्यन्ते केचिदेव यथागमम् ॥ २६ ॥

ये अपोद्धारपदार्थाः, ये च स्थितलक्षणाः अर्थाः ये च अन्वाख्येयाः शब्दाः, ये च प्रतिपादकाः अपि, साध्वसाधुषु ये च कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिताः सम्बन्धाः धर्मे प्रत्यये च अङ्गम्, अस्मिन् शास्त्रे लिङ्गैश्च स्वशब्दैश्च उपवर्णिताः ते केचित् एव यथागमं स्मृत्यर्थम् अनुगम्यन्ते ॥ २४–२५–२६ ॥

जो (१) अपोद्धार या विभागात्मक प्रकृति और प्रत्ययरूप पदों एवं वाक्य से विभक्त पदों के अर्थ हैं, और जो (२) स्थितलक्षण अर्थात् स्वरूपात्मक [1]वाक्यों के अर्थ है; और जो (१) अन्वाख्येय या पद-वाक्यरूप प्रयोगार्ह साधु शब्द तथा जो (२) प्रतिपादक अर्थात् 'भू' 'तृ' 'अ' 'ति' इत्यादि प्रकृति-प्रत्ययात्मक शब्द हैं; साधु (संस्कृत) और असाधु (अपभ्रंश) के बीच जिन साधु शब्दों के (१) कार्य-कारणभावात्मक और (२) योग्यभावात्मक सम्बन्ध हैं, तथा जो साधुशब्द धर्म या अभ्युदय और प्रत्यय या अर्थबोध के अङ्ग या निमित्त हैं, इस व्याकरणशास्त्र में जिनका सङ्केतों और साक्षात् स्वशब्दों से वर्णन किया गया है, उनमें से कुछ साधुशब्दों का ही आगमानुसार स्मरणार्थ अनुगमन किया जा रहा है।

तात्पर्य यह है कि दो प्रकार के अर्थ, दो प्रकार के शब्द, दो प्रकार के सम्बन्ध और दो प्रकार के फल—इन आठ पदार्थों से ही व्याकरणशास्त्र संघटित है। इतना ही प्रस्तुत शास्त्र का शरीर है, जिसका यहाँ आगमानुसारी प्रतिप्रादन किया जा रहा है।

वृत्तिः—त्रिष्वप्येषु श्लोकेषु प्रस्तुतस्य परिसमाप्तिः। तत्रापोद्धारपदार्थो नामात्यन्तसंसृष्टः संसर्गादनुमेयेन परिकल्पितेन रूपेण प्रकृतविवेकः सन्नपोद्ध्रियते। प्रविविक्तस्य हि तस्य वस्तुनो व्यवहारातीतं रूपम्। तत्तु स्वप्रत्ययानुकारेण यथागमं भावनाभ्यासवशादुत्प्रेक्षया प्रायेण व्यवस्थाप्यते। तथैव चाप्रविभागे शब्दात्मनि कार्यार्थमन्वयव्यतिरेकाभ्यां रूपसमनुगमकल्पनया समुदायादपोद्धृतानां शब्दानामभिधेयत्वेनाश्रीयते।

सोऽयमपोद्धारपदार्थः शास्त्रव्यवहारमनुपतति, शास्त्रव्यवहारसदृशं च लौकिकं भेदव्यवहारम्।

---

१. कुछ लोग पदार्थ को भी स्थितलक्षण मानते हैं, ऐसा श्रीवृषभ के प्रस्तुत सन्दर्भ से ज्ञात होता है—'स्थितलक्षणाः पदार्थाः वाक्यार्थाश्च मतभेदेन। प्रकृति-प्रत्ययार्थाः यथोपायतया पदार्थे तिरोधीयन्ते नतु पदार्थाः। तथा पदार्था उपायतया वाक्यार्थप्रतिपत्तौ तिरोधीयन्ते, तत् वाक्यार्थः।

विवरण—'अपोद्धार पदार्थ' में जो पद शब्द आया है, वह पारिभाषिक नहीं है, किन्तु 'पद्यते अनेन अर्थः' जिससे अर्थ जाना जाय; इस व्युत्पत्ति से लभ्य अर्थ में प्रयुक्त समझना चाहिए। श्रीवृषभ ने 'अपोद्धारपदार्थाः' की कई व्युत्पत्तियाँ दी हैं। यथा—

१. पद्यते अनेन अर्थः इति पदम्, तस्यार्थाः पदार्थाः, अपोद्ध्रियन्ते इत्यपोद्धाराः पदार्थाश्चेति।

२. अपोद्धृतानां वा पदानामर्थाः।

३. अपोद्धारेण परिकल्पिनां वा अर्थाः।

४. अपोद्धारसम्बन्धिनो वा पदार्थाः।

१. अपोद्धार का अर्थ है विभाग। विभक्त प्रकृति और प्रत्यय के अर्थ तथा पदार्थ ही अपोद्धार पदार्थ कहे जाते हैं।

२. स्थित है लक्षण-स्वरूप जिनका वे स्थितलक्षण अर्थ हैं। वे पदार्थ भी हैं और वाक्यार्थ भी। इनके स्वरूप की च्युति नहीं होती। अतः ये स्थितलक्षण अर्थ कहलाते हैं।

वस्तुतः स्थितलक्षण अर्थ वाक्यार्थ ही है, पदार्थ नहीं। उसका तिरोधान या च्युति होती है, क्योंकि वह वाक्यार्थ का उपाय है।

भगवान भर्तृहरि इन कारिकाओं की वृत्ति में कहते हैं—

उक्त तीनों श्लोकों में प्रस्तुत वाक्यपदीयाख्य प्रकरण की परिसमाप्ति समझना चाहिए।

उनमें अपोद्धारपदार्थ वह है जो अत्यन्त संसृष्ट अर्थात् सदैव मिले-जुले निरवयव संसर्गरूप पदार्थ से परिकल्पित—असत्य अन्वय-व्यतिरेकात्मक अनुमान द्वारा विवेक या विमोचन करते हुए पृथक् किया जाता है। प्रकृति और प्रत्ययरूप में प्रविभक्त पदार्थों से प्रवृत्ति या निवृत्यात्मक व्यवहार सम्भव नहीं, अतः अर्थ का यह प्रविभक्त रूप व्यवहारातीत कहा जाता है। वह प्रविभक्त—कल्पित रूप आगम से प्राप्त अर्थ के अभ्यासवश[1] होकर अपने प्रत्ययों—ज्ञानों का अनुकरण करते हुए उत्प्रेक्षा या सम्भावना द्वारा प्रायः व्यवस्थापित किया जाता है। श्रीवृषभाचार्य प्रस्तुत वाक्य का इस प्रकार अर्थ करते हैं—

एतदाह—तं तमागममाश्रित्य तदभ्यासात् स्वयं प्रत्ययमनुगच्छन्तः उत्प्रेक्षया व्यवस्थापयन्तीति।

उसी प्रकार विभागरहित पद या वाक्यरूप शब्दात्मा में व्याकरण सम्बन्धी कार्य की सिद्धि के लिए प्रकृति और प्रत्ययरूप तथा पदरूप बोध की कल्पना से अन्वय-व्यतिरेक द्वारा पद या वाक्यात्मक समुदाय से विभक्त शब्दों के अभिधेय रूप में अपोद्धारपदार्थ आश्रित रहता है। इस प्रकार का यह अपोद्धारपदार्थ शास्त्रीय प्रक्रिया

---

१. श्री वृषभ ने 'भावनाभ्यासवशात्' का अर्थ किया है—'आगमतः प्राप्तस्यार्थस्याभ्यासाद्, भावनाभिप्राप्तिः।'

में व्यवहृत होता है और शास्त्रव्यवहार के सदृश लौकिक कर्ता, क्रिया, करण आदि भेद-व्यवहार को भी स्वीकार करता है।

वृत्तिः—स चैकपदनिबन्धनः सत्यासत्यभावेनानुपाख्येयः। वृक्षः, प्लक्ष इत्यनुपसंहृते हि क्रियापदे शब्दोपग्रहाणामर्थात्मनां निरूपणं न विद्यते। यावच्चापवादभूताः क्रियाविशेषाः शब्दप्रवृत्तिकारणमस्तित्वं न निवर्तयन्ति तावदस्ति[1]र्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽपि वृक्षादिभिः पदैराक्षिप्तः प्रतीयते। तानि चैकपदसरूपाण्याक्षिप्तक्रियापदानि वाक्यानीति व्याख्यायन्ते। तथा पूर्वपदार्थः, उत्तरपदार्थः, अन्यपदार्थः, प्रातिपदिकार्थः, धात्वर्थः, प्रत्ययार्थ इत्येकपदवाच्योऽप्यनियतावधिर्बहुधा प्रविभज्य कैश्चित् कथञ्चिदपोद्ध्रियते।

विवरण—वह अपोद्धार पदार्थ यदि एकपदहेतुक है तो उसे सत्य या असत्य नहीं कहा जा सकता। केवल 'वृक्षः' ऐसा कहने पर यद्यपि जातिरूप अर्थ का सम्प्रत्यय होता है तो भी उस अर्थ की सम्पूर्ण क्रियाओं के साथ सम्बन्ध की योग्यता रहने से उसका रूप अनिर्धारित ही रहेगा। 'वृक्षः' 'प्लक्षः' इनमें जब क्रियापद का सम्बन्ध नहीं होता, तब अनुपनीत (असम्बद्ध क्रियापद वाले केवल वृक्षादि पदों से प्रतीयमान अर्थों की सत्यता और असत्यता का निरूपण निश्चय सम्भव नहीं। जब तक 'जायते' विपरिणमते आदि अपवादभूत क्रियाविशेष शब्दप्रवृत्ति की कारणभूत औपचारिकी सत्ता को हटाते नहीं है, तब तक सत्तापरक 'अस्तिरूप' प्रथमपुरुष प्रयुक्त न होते हुए भी वृक्षादि पदों से आक्षिप्त प्रतीत होता है। केवल वृक्षादि पद, जिनमें क्रियापद का आक्षेप किया जाता है, एकपद सदृश वाक्य ही कहे जाते हैं। इस प्रकार यहाँ वाक्यार्थ से भी पदार्थ का अपोद्धार कहा गया।

अब पदार्थ से भी पदार्थ का कैसे अपोद्धार होता है, यह कहा जाता है। समस्त पदार्थ से पूर्वपदार्थ, उत्तरपदार्थ तथा अन्य पदार्थ का अपोद्धार होता है। नाम पदार्थ से केवल प्रातिपदिकार्थ; आख्यातार्थ से धात्वर्थ और प्रातिपदिकार्थ से प्रत्ययार्थ— इस प्रकार एकपदवाच्य भी अर्थ की अवधि के अनियत होने से अनेक प्रकार के विभाग करके कुछ लोगों द्वारा किसी प्रकार अपोद्धार किया जाता है। 'भवति' शब्द से कुछ लोग 'अ' प्रत्यय और अन्य लोग तिप् का उद्धार करते हैं। इस प्रकार वृत्तिकार के मत में प्रकृत्यर्थ, प्रत्ययार्थ और पदार्थ अपोद्धारपदार्थ के अन्तर्गत आते हैं।

---

१. 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग···प्रथमा' (पा० २।३।४६) इस सूत्र के अन्तर्गत पठित 'अभिहितलक्षणायामनभिहिते प्रथमाविधिः' वार्तिक का भाष्य है--'उक्तं वा। किमुक्तम् ? अस्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोप्यस्तीति गम्यते। वृक्षः प्लक्षः 'अस्ति' इति गम्यत इति।

वृत्ति—स्थितलक्षणस्तु वाक्यरूपोपग्रहः कल्पितोद्देशविभागो विशिष्ट एकः क्रियात्मा विच्छिन्न(अविच्छिन्न—पाठान्तर)पदार्थग्रहणोपायप्रतिपाद्यः सन्यामपि विच्छेदप्रतिपत्तौ नमस्यति, सङ्ग्रामयते, मुण्डयति, कुट्टयति चर्वयतीत्येवमादिभिरविशिष्टः प्रतिभोपसंहारकाले। यदुक्तम्—

'न वा पदस्यार्थे प्रयोगात्' (वार्तिक, सूत्र १।२।६४) इति। उपसंहृतक्रियमत्र पदमाश्रीयते। सम्प्रत्ययानुगममात्रं वा परिगृह्यते। तथा हि पदस्यार्थे प्रयोगमभ्युपगम्य पुनरप्याह—

'कृत्तद्धितान्तं चैव ह्यर्थवन्न केवला कृत्तद्धिताः' (महाभाष्य १।४।१४) इति।

विवरण—'स्थितं लक्षणम् एषाम्, स्वरूपस्याप्रच्युतेः'—श्रीवृषभ। स्थिर है लक्षण या स्वरूप जिनका वे स्थितलक्षण अर्थ कहलाते हैं। वाक्यार्थ ही स्थितलक्षण अर्थ है, क्योंकि उसके स्वरूप की च्युति नहीं होती।

वृत्तिकार कहते हैं—वाक्यरूपोपग्रह स्थितलक्षण अर्थ है। वाक्यरूप में इस अर्थ का उपग्रह या स्वीकार होता है, अतः 'वाक्यरूप उपग्रहोऽस्य, उपग्रहणमुपग्रहः स्वीकारः, स च वाक्यरूपाश्रयत्वाद्वाक्यरूपशब्देनोक्तः' इस श्रीवृषभोक्त व्युत्पत्ति के अनुसार वह वाक्यार्थ कहा जायेगा। इसके अतिरिक्त श्रीवृषभ ने किसी अन्य टीकाकार की भी व्युत्पत्ति दी है। यथा—'कर्तर्यचमेके कुर्वन्ति वाक्यरूपमुपग्राहकमस्येति।' कुछ लोग कर्ता में अच् करके वाक्यरूप है उपग्राहक जिसका वह अर्थ—ऐसा विग्रह करते हैं।

यह व्युत्पत्ति अधिक उचित जान पड़ती है। इस प्रकार वाक्यार्थ ही स्थितलक्षण अर्थ है, जिसमें उद्देश—कर्ता, कर्म, करण आदि प्रदेश विभाग कल्पित होते हैं और जो साधनशक्तियों से अनुस्यूत होने के कारण विशिष्ट, फिर भी अविभक्त होने के कारण एक, क्रियारूप तथा विच्छिन्न—उद्धृत पदों का अर्थ ही जिसके ग्रहण का उपाय है, उस उपाय से; वह प्रतिपादित होता है।

'क्रियात्मा विच्छिन्नपदार्थग्रहणोपायप्रतिपाद्यः' यह एक पाठ है। 'क्रियात्मा अविछिन्न' ऐसा पाठ मानने पर अर्थ होगा—'अविच्छिन्नानां नैरन्तर्येणोच्चारितानां पदानामर्थः, तस्य ग्रहणमुपायः।'

अविच्छिन्न अर्थात् बिना व्यवधान के निरन्तर उच्चारित पदों का अर्थ ही ग्रहणोपाय है।

विच्छेद या अपोद्धारात्मक पदार्थों की प्रतिपत्ति होने पर भी नमस्यति, संग्रामयते, मुण्डयति, कुट्टयति, चर्वयति—इस प्रकार के प्रयोगों द्वारा क्रिया और साधन (कारकों) के भेद से रहित—अविशिष्ट, क्रियामात्रात्मक अर्थ की प्रतीति होती है। क्रमशः 'नमः करोति, सङ्ग्रामं करोति, मुण्डं करोति, कुट्टं करोति, चर्वणां करोति—

आदि साधनभेद से नमस्यति आदि का अर्थबोध के लिए व्युत्पादनमात्र है। वस्तुतः वहाँ कोई क्रिया-साधनभेद विद्यमान नहीं है। अतएव अभिन्न वाक्यार्थरूप प्रतिभा के अनुगम के अवसर पर अविशिष्ट क्रिया रूप अखण्ड अर्थ का बोध होता है।

यदि पदविभाग की सत्ता से रहित वाक्य का ही प्रयोग उनमें होता है तो 'सरूपाणामेकशेप एकविभक्तौ' (१।२।६४) इस सूत्र के 'प्रातिपदिकानामेकशेषे मातृमात्रोः प्रतिषेधः सरूपत्वात्' (वार्तिक ७३७) इस वार्तिक में प्रातिपदिकों के एकशेष में माता—जननी और माता—धान्यादि का नापने वाला; इनमें एकशेष का निषेध कहना चाहिए, क्योंकि ये दोनों सरूप हैं। इस प्रकार से आरम्भ करके प्रस्तुत वार्तिक का उल्लेख किया गया है—'न वा पदस्यार्थे प्रयोगात्।'

इस वार्तिक के पूर्व एक और वार्तिक 'हरितहरिणश्येतश्येनरोहितरोहिणानां स्त्रियामुपसङ्ख्यानम्' पढ़ा गया है।

तात्पर्य यह है कि जननी और परिच्छेत्ता अर्थ वाले माता और माता इन दोनों पदों का जो सरूप—समानरूप वाले हैं, एकशेष न हो ऐसा विधान करना चाहिए। और हरितस्य स्त्री हरिणी तथा हरिणस्य स्त्री हरिणी इत्यादि में विरूप होने से एकशेष नहीं होगा; वह हो, ऐसा स्त्रीलिंग में विधान करना चाहिए।

इसका समाधान प्रस्तुत वार्तिक से करते हैं 'न वा' अर्थात् दोनों दोष नहीं होंगे 'पदस्यार्थे प्रयोगात्' रूप पद का अर्थ में प्रयोग करने से।

मातृ और मातृ में अर्थ भेद के कारण वैरूप्य होने से एकशेष नहीं होगा।

हरितस्य स्त्री हरिणी और हरिणस्य स्त्री हरिणी यहाँ सरूपता के कारण एकशेष हो जायेगा।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में भगवान् भर्तृहरि ने इस वार्तिक को जो उद्धृत किया है, उसका तात्पर्य यह है—

व्याकरणदर्शन का सिद्धान्त है कि वाक्य में पद-पदार्थ असत्य हैं। वृत्ति में 'अविशिष्टः प्रतिभोपसंहारकाले' द्वारा यही बात कही गई है। किन्तु वार्तिककार कैसे कहते हैं कि 'न वा पदस्यार्थे प्रयोगात्'। इससे ज्ञात होता है कि वे वाक्य में पद और पदार्थ को स्वीकार करते हैं।

इसके उत्तर में भर्तृहरि कहते हैं—एकपद के समानरूप वाले वाक्य की दृष्टि से यह कहा गया है। और वह पद क्रिया के अर्थ में उपसंहृत है—एक-एक पद सम्पूर्ण वाक्य को उद्देश्य बनाकर प्रयुक्त हुआ है, और जिसमें क्रिया और कारक लोलीभूत हैं—एकीकृत है; ऐसे वाक्यार्थ का प्रतिपादन करता है।

अथवा मुण्डयति इस वाक्य से अपोद्धृत मुण्डादि पद और पदार्थ के सम्प्रत्यय या बोध के आकलन मात्र का ग्रहण किया जाता है। और यह पद का अर्थ असत्य है, केवल शास्त्र के संव्यवहार के लिए कल्पित किया गया है।

इसके अतिरिक्त पद को वाक्यार्थ रूप में स्वीकार करके पुनः भाष्यकार ने कहा है—कृदन्त और तद्धितान्त ही अर्थवान् हैं, केवल कृत् और तद्धित प्रत्यय नहीं। वस्तुतः कृत् और तद्धित प्रत्यय भी अर्थवान् हैं, किन्तु कल्पित अवयवार्थ होने के कारण उनकी वास्तविक अर्थवत्ता स्वीकार नहीं की जाती। हाँ, शास्त्र के संव्यवहार के लिए असत्य एवं कल्पित प्रतीयमान ही अर्थवत्ता मानी जाती है।

वृत्तिः—अन्वाख्येयाश्च ये शब्दाः। केषाञ्चित्पदावधिकमन्वाख्यानं, वाक्यावधिकमेकेषाम्। तत्र पदावधिकेऽन्वाख्याने श्रुत्यभेदादेकपदरूपोपग्रहे सामान्यमात्रे लब्धसंस्काराणि पदानि पदान्तरसम्बन्धप्राप्तसन्निधानेष्वर्थेषु सन्निपतितेष्वपि विशेषेषु सामान्ये प्रतिलब्धमन्तरङ्गं संस्कारमुपादायैव प्रवर्तेरन्। तत्रैकवचनान्तो नपुंसकलिङ्गश्च शुक्लशब्दो भिन्नलिङ्गसङ्ख्यैराश्रयैः सम्बद्धः श्रूयेत। तदर्थम्—'विशेषणानां चाजातेः' (पा० १।२।५२) इत्यनेन योगेन भाविन्याश्रये बहिरङ्गे प्रक्रान्ते गुणवचनानां शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनान्यनुगम्यन्ते।

विवरण—अन्वाख्येय जो शब्द हैं, उनके सम्बन्ध में दो मत हैं। कुछ लोग पदावधिक अन्वाख्यान मानते हैं और कुछ लोग वाक्यावधिक। प्रयोगार्ह साधुशब्दों (पदों और वाक्यों) का व्याकरणशास्त्र से प्रकृति-प्रत्यय विभागादि द्वारा साधुत्व-बोधन ही अन्वाख्यान है। रामः, कृष्णः, भवति, पचति, मुण्डयति आदि प्रयोगार्ह साधुशब्द अन्वाख्येय कहे जाते हैं।

वाक्यवादियों का मत है कि पद असत्य हैं और वे वाक्य के उपायभूत हैं। लोकव्यवहार भी वाक्य से ही होता है, अतः वे वाक्यावधिक अन्वाख्यान मानते हैं।

उन दोनों अन्वाख्यानों में पदावधिक अन्वाख्यान के विषय में ऐसा समझना चाहिए, जैसे शुक्ल आदिक पद सामान्यतया गुणवाची होने पर भी 'शुक्लः गुणः अस्यास्ति इति शुक्लः पटः' इस अर्थ में 'गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः' इस वार्तिक से मतुप् का लोप होने पर द्रव्य का प्रतिपादन करते हैं। ऐसी स्थिति में शुक्ल आदि पद गुणवृत्ति के गौण हो जाने से द्रव्यार्थ का बोध कराने पर विशेषण बन जाते हैं। गुण के स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त होने पर विशेषणता नहीं रहती। जब गुणवाचक शुक्लादि शब्द मतुप् के लोप हो जाने पर गुणोपसर्जन द्रव्य का बोध कराते हैं, उस समय यद्यपि गुण और गुणीवाचक दोनों शुक्ल शब्दों में लिङ्ग और संख्यारूप अर्थ विशेष विद्यमान रहता है तो भी शुक्ल शब्द मात्र के प्रयोग के अवसर पर गुणीवाचक पट आदि शब्दों के प्रयोग न होने से गुणीवाचक शुक्ल शब्द का और केवल गुणमात्र वाचक शुक्ल शब्द का जो प्रतिपाद्य अर्थ है, उसका भान नहीं होता। किन्तु शुक्लत्वरूप सामान्य द्वारा आश्रयसामान्य मात्र का कथन सम्पन्न होता है।

गुणीवाचक शुक्ल शब्द और गुणवाचक शुक्ल शब्द दोनों की वर्णानुपूर्वी रूप श्रुति के अभिन्न होने से एकपद रूप को स्वीकार करने पर शुक्लरूप सामान्य या

जाति का आश्रय लेकर दोनों प्रकार के संस्कारों को लिये हुए द्विविध शुक्ल पद, विशेष्यवाचक पटादि के सन्निधान में अर्थविशेष का बोध कराने पर भी अन्तरङ्ग होने से प्रथम प्रवृत्त शुक्लत्वरूप सामान्य के संस्कार को स्वीकार करके ही शुक्लादि शब्दों को प्रवृत्त होना चाहिए। वहाँ एकवचनान्त नपुंसकलिंग शुक्ल शब्द भिन्न लिङ्ग और संख्या वाले आश्रयों से सम्बद्ध सुना जाना चाहिए। जैसे—'शुक्लं पटाः' इस दोष को दूर करने के लिए अष्टाध्यायी में सूत्र पढ़ा गया है—'विशेषणानां चाजातेः' (पा० १।२।५२) जाति को छोड़ कर विशेषणों के भी वही लिङ्ग और वचन होते हैं, जो लुवन्तार्थ विशेष्य के।

शुक्ल इस गुण शब्द के उच्चारण के अवसर पर, तदाश्रय पटरूप द्रव्य के उच्चारयिष्यमाण पदार्थ अर्थात् भविष्य में उच्चारण किये जाने वाला पदार्थ होने से भावी होने के कारण बहिरङ्ग है। प्रकरणवश इसका पूर्व में ही ज्ञान हो जाता है। अतः उसके लिङ्ग और वचन के अनुरोध से शुक्लादि शब्द रूप गुणवचनों में वैसे ही लिङ्गवचन होते हैं—यह बात उक्त योग या सूत्र से प्रतिपादित[1] की जाती है।

वृत्तिः—वाक्यावधिके त्वन्वाख्याने नित्यसंसृष्टस्य गुणस्याश्रयविशेषेणात्यन्तमविवेकात् सर्वतो व्यवच्छेदे सामान्यार्थत्वमेव न विद्यते। तत्र चेदमुक्तम्—'स्वाभाविकमेतत्'। (महाभाष्य २।२।२९) इति।

विवरण—वाक्यावधिक अन्वाख्यान में तो गुणबोधक शुक्लपद वाक्य में सर्वथा घुला-मिला रहता है, और पटरूप आश्रयविशेष से उसका विभाग सम्भव ही नहीं। यदि उसे आश्रय लिङ्ग और संख्या से सर्वथा पृथक् करके देखा जाय तो शुक्लत्व रूप सामान्यार्थत्व भी वहाँ नहीं मिलेगा, जिससे एकवचनान्त नपुंसकलिङ्ग शुक्ल शब्द का प्रयोग हो सके। ऐसी स्थिति में 'विशेषणानां चाजातेः' यह सूत्र आवश्यक नहीं। इसी अभिप्राय से भाष्य में कहा गया है—

नेदं वाचनिकं—अलिङ्गता असङ्ख्यता च। किं तर्हि ? स्वाभाविकमेतत्।

यह कहना ठीक नहीं कि वहाँ लिङ्ग और संख्या का सम्बन्ध नहीं होगा। तब ? विशेषणों में आश्रय के अनुसार लिङ्ग संख्या का होना स्वाभाविक है।

श्रीवृषभाचार्य ने कहा है—पद सदैव वाक्यगत रहते हैं, अतः पृथक् अर्थ के आश्रित कोई संस्कार इनमें नहीं होता। इस प्रकार केवल गुणादि पद के प्रकान्त या

---

१. कैयट ने 'गुणवचनानां शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति' इस भाष्य की व्याख्या में कहा है—पदसंस्कारपक्षे वाचनिकमेतत्। पदे हि पदान्तरनिरपेक्षे संस्क्रियमाणे नपुंसकं लिङ्गसर्वनामप्राप्तमेकत्वं च वस्त्वन्तरनिरपेक्षत्वात् सन्निहितमिति 'शुक्लं पटाः' इति प्राप्ते भाविनो बहिरङ्गस्याश्रयस्य सम्बन्धिन्यौ लिङ्गसङ्ख्ये अनेन प्रतिपाद्येते।

प्रसक्त न होने पर वाक्यगत विशिष्ट लिङ्ग संख्यता रहती ही है। एक लोलीभूत या सर्वथा मिले-जुले होने के कारण पटादि रूप आश्रय विशेष से अविभक्त ही पद प्रकान्त होते हैं। वाक्यार्थ सर्वतः व्यवच्छिन्न अर्थात् पदातिरिक्त होता है। वाक्यावधिक अन्वाख्यान में पदों और पदार्थों की आकांक्षा का अभाव रहता है। पदों और पदार्थों की स्वतन्त्रता वहाँ नहीं रहती, वे वाक्य और वाक्यार्थ से नित्य संसृष्ट रहते हैं। वाक्यगत पदों में विशेषणता या विशेष्यता स्वभावसिद्ध है, आहार्य नहीं। वाक्यों का ही लोक में प्रयोग होता है, अतः शुक्लादि पदों में सामान्यकृत संस्कार कहाँ ?

इस व्याख्यान से स्पष्ट है कि 'सर्वतो व्यवच्छेदे' द्वारा वाक्य का पदों से अतिरेक बतलाया गया है, न कि पद का वाक्य से पृथक्करण। और यही व्याख्या समुचित प्रतीत होती है।

वृत्तिः—तथा प्रत्यवयवं द्वन्द्वपदसंस्कारे—
'द्वन्द्वेऽबहुषु लुग्वचनम्'। (महाभाष्य २।४।६२) उपन्यस्तम्।
समुदायसंस्कारप्रक्रमे तु—
'न वा सर्वेषां द्वन्द्वे बह्वर्थत्वात्' (महाभाष्य २।४।६२) इत्याह। तथा—
'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (पा० २।१।५७)
'उपमानानि सामान्यवचनैः।' (पा० २।१।५५) इत्यादि सर्वं पदावधिक एवान्वाख्याने परिगृह्यते।

पदस्य चान्वाख्येयत्वमभ्युपगम्य 'भू, भूति, भू अति' इत्येवमादयः शब्दान्तरसमुदायप्रतिपत्तिहेतवः परिकल्पताः प्रतिपादकाः शब्दा उपादीयन्ते।

विवरण—पदावधिक अन्वाख्यान के विषय में वार्तिककार का 'द्वन्द्वेऽबहुषु लुग्वचनम्' यह वार्तिक प्रमाण है। महाभाष्य में 'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' इस सूत्र के अन्तर्गत उपर्युक्त वार्तिक पढ़ा गया है। बहुवचनार्थक 'अञ् यञ्' आदि तद्राजसंज्ञक प्रत्ययों का लुक् होता है—यह सूत्रार्थ है। गार्ग्यश्च, वात्स्यश्च, वाज्यश्च—इस द्वन्द्वसमास में गोत्र प्रत्यय 'यञ्' का लोप होकर 'गर्गवत्सवाजाः' ऐसा रूप होना चाहिए। किन्तु यहाँ गोत्र प्रत्यय का लोप न होगा, क्योंकि यहाँ एक-एक पद की सिद्धि[1] करके द्वन्द्व होगा। अतः सर्वत्र एकवचन की ही उपलब्धि होगी, बहुवचन की नहीं। एतदर्थ उपर्युक्त वार्तिक का उपन्यास किया गया है। इस प्रकार की शङ्का और समाधान पदावधिक अन्वाख्यान में ही संगत है।

---

१. श्रीवृषभ कहते हैं—'इह गार्ग्यश्च वात्स्यश्च वाज्यश्चेति यञन्ता (यञन्ता ?)-श्चेत्यनेन बहुवचने परतो बहुषु वर्तमानयोरिति पक्षद्वयेऽपि लुक् (न ?) प्राप्नोतीति चोदितम्। एतच्च पदावधिक एवान्व्याख्याने, यतोऽत्रैकैकं पदमेकार्थवृत्तिः न समुदाय इति।'

समुदाय-संस्कार या वाक्यावधिक अन्वाख्यान के पक्ष में 'न वा सर्वेषां द्वन्द्वे बह्वर्थत्वात्' यह वार्तिक पठित है। पूर्वोक्त वार्तिक का प्रस्तुत वार्तिक परिहार है। 'अथवा इसमें कोई रोष नहीं है, क्योंकि द्वन्द्वसमास में सभी पद बह्वर्थक होते हैं। किस प्रकार ? युगपत् अधिकरण विवक्षा अर्थात् एक साथ द्रव्यों की एकत्र[1] अन्वय विवक्षा में द्वन्द्व होता है। 'न वा एष दोषः। किं कारणम् ? सर्वेषां द्वन्द्वे बह्वर्थत्वात्। सर्वाणि द्वन्द्वे बह्वर्थानि। कथम् ? युगपदधिकरणविवक्षायां द्वन्द्वो भवति।'—महाभाष्य

इस सम्बन्ध में 'चार्थे द्वन्द्वः' (पा० २।२।२९) के अन्तर्गत वार्तिक है—'सिद्धं तु युगपदधिकरणवचने द्वन्द्ववचनात्। इस पर कैयट कहते हैं—युगपदेकैकेन शब्देनाधिकरणमभिधेयं द्वन्द्ववाक्यं समुदायरूपं यदोच्यते तथा द्वन्द्वः।

एक साथ एक-एक शब्द के द्वारा समुदायात्मक द्वन्द्ववाच्य अधिकरण या अभिधेय जब कहा जाता है, तब द्वन्द्व होता है।

इसके अतिरिक्त 'विशेषण पद का विशेष्य पद के साथ तत्पुरुषसमास होता है।' और 'सादृश्यनिरूपक शब्द जब उभय साधारणधर्मवाची शब्दों से समस्त होते हैं तो तत्पुरुषसमास कहा जाता है।' तथा—'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे' (२।१।५६) ये सूत्र पदावधिक अन्वाख्यान में ही स्वीकृत होते हैं।

दो पदों को पृथक् मानकर ही नील पदार्थ की विशेषणता और उत्पल पदार्थ की विशेष्यता सिद्ध होती है। अन्यथा यदि नीलोत्पल शब्द में विभाग नहीं माना जायेगा तो विशेषणविशेष्य भाव नहीं बनेगा।

'शस्त्री श्यामा देवदत्ता'—इस प्रयोग में शस्त्री (छुरिका) का उपमानवाचित्व और देवदत्तादि शब्द का उपमेयवाचित्व श्यामा शब्द का सामान्य या साधारणधर्मवाचित्व, सभी पदों के पृथक् अर्थ होने पर ही घटित होता है। वस्तुतः शस्त्रीत्व और देवदत्तात्व को लेकर भेद है और श्यामात्वरूप साधारणधर्म के कारण अभेद है। यदि पदों का पार्थक्य न स्वीकार किया जायेगा तो एक-एक पद सर्वथा अभेद का बोध करायेगा, ऐसी स्थिति में उपमान और उपमेय भाव नहीं घटित होगा।

इस प्रकार विशेषण-विशेष्य भाव, उपमानोपमेय भाव और 'पुरुषव्याघ्रः' आदि प्रयोग पदावधिक अन्वाख्यान में ही सम्पन्न हो सकते हैं, यही भर्तृहरि का आशय है।

---

१. श्रीवृषभ का कथन है—'अपोद्धारकल्पनया समुदायसंस्कारप्रक्रमे' तु इत्याह। वाक्यावधिकसंस्कारपक्ष इति यावत्। सर्वेषामिति—एकैकं प्रत्ययान्तमनेकार्थमुपादाय संस्क्रियन्ते युगपदधिकरणं वचने। द्वन्द्वे इति—तत्र प्रत्येकं समुदायार्थपरिसमाप्तिः, तदा च तेनार्थेन सर्वेषा बह्वर्थत्वात्—सर्वेषां बहुवचनपरता बह्वर्थता च। तेन गर्गाश्च, वत्साश्च, वाजाश्चेति सिद्धो लुक्। तथा चोक्तम्—'अथापि निदर्शयितुं बुद्धिरिति वाक्यसंस्कारोऽपरिहारः।'

पद की अन्वाख्येयता को स्वीकार करके भू+ल—यह भू+ति इसका, भू+ति—यह भू+अति इसका तथा भू+अति यह भवति इस शब्दान्तर की प्रतिपत्ति का हेतु है। प्रयोगार्ह 'भवति' इस समुदाय शब्द की प्रतिपत्ति का कारण होने से 'भू+ति' आदि प्रतिपादक शब्द कहे जाते हैं। अन्वाख्येय शब्द के अन्तरालवर्ती होने के कारण ये उसके उपायभूत हैं और असत्य होने से कल्पित हैं।

वृत्तिः—कार्यकारणभावेनार्थाकारनिर्भासमात्रानुगतस्य प्रत्ययस्यार्थेषु प्रत्यस्तरूपस्यार्थत्वेनाध्यवसाये तस्यार्थात्मनः शब्दो निमित्तम्। तथार्थावग्रहदर्शनं सोऽयमिति शब्दार्थयोः सम्बन्धप्रसिद्धेर्नादाभिव्यक्तस्यान्तःकरणसन्निवेशिनः शब्दस्य प्रवृत्तौ कारणम्।

इन्द्रियविषयवत्तु प्रकाश्यप्रकाशनभावेन विशिष्टानां शब्दानां विशिष्टेष्वर्थेषु नित्यमकर्तृव्यापारसाध्यमव्यभिचरितप्रसिद्धसाधुभावानां वाचकानां शब्दानां वाच्येषु योग्यत्वम्, अप्रसिद्धसम्बन्धानां प्रथमप्रतिपादने समयोपाधिकम्।

विवरण—शब्द और अर्थ का परस्पर द्विविध सम्बन्ध इस शास्त्र में स्वीकृत है। एक कार्यकारणभाव सम्बन्ध और दूसरा योग्यभाव सम्बन्ध। पहले कार्यकारणभावात्मक सम्बन्ध का निरूपण करते हैं—

घट-पटादि अर्थों के आकारात्मक निर्भास या प्रतिबिम्ब की मात्राओं—अवयवों में अनुस्यूत प्रत्यय या बुद्धिवृत्ति जब बाह्य अर्थों में प्रत्यस्त या समारोपित होती है, तब यह बाह्यार्थ ही है, ऐसा निश्चय होता है। ऐसी स्थिति में उस अर्थात्मक बुद्धिवृत्ति का शब्द निमित्त कारण है। वैसे ही अर्थावग्रहदर्शन या परिच्छिन्न अर्थाकार प्रत्यय 'सोऽयं' यह वही है—इस प्रकार शब्दार्थ के तादात्म्य सम्बन्ध की प्रसिद्धि से, नाद द्वारा अभिव्यक्त अन्तःकरणसन्निवेशी या बुद्धिस्थ शब्द की प्रवृत्ति में कारण है। शब्द कारण और अर्थ कार्य है; अर्थ कारण[1] और शब्द कार्य है। इस प्रकार परस्पर कार्यकारणभाव समझना चाहिए।

इस कार्यकारणभाव सम्बन्ध को पहले इस प्रकार कहा गया है—

'अर्थसरूपप्रत्यवभासानां वा प्रत्ययानां बाह्येष्वर्थेषु प्रत्यस्तानामक्षरनिमित्ताक्षरकल्पनावदार्थवदेवैकविषयत्वेऽभ्युपगम्यमाने नित्यमविच्छिन्नपारम्पर्यः कार्यकारणभावः शब्दार्थयोः सम्बन्धः।' कारिका २३ की वृत्ति।

योग्यभाव सम्बन्ध—[2]इन्द्रियों और विषयों में जैसे प्रकाश्य-प्रकाशकभाव सम्बन्ध है, वैसे ही शब्द प्रकाशक है और अर्थ प्रकाश्य है। विशिष्ट शब्दों का विशिष्ट अर्थों

---

१. शब्दः कारणमर्थस्य स हि तेनोपजन्यते।
तथा च बुद्धिविषयादर्थाच्छब्दः प्रतीयते॥ ३२॥ —तृ० काण्ड, सम्बन्धस०

२. इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा॥ २२॥ —वही

के प्रकाशन की जो योग्यता है, वह नित्य है; अकर्तृव्यापार साध्य है अर्थात् किसी कर्ता के व्यापार से वह अभिधानशक्ति अभिहित नहीं होती। और जो प्रसिद्ध गवादि शब्द स्वार्थ में अपनी साधुता को कभी छोड़ते नहीं, ऐसे वाचक शब्दों का अपने वाच्य अर्थ में नित्य, अकर्तृव्यापारसाध्य योग्यत्व या सामर्थ्य देखा जाता है। अप्रसिद्ध सम्बन्ध वाले शब्दों के प्रथम या पहले-पहल स्वार्थ-प्रतिपादन में वृद्धव्यवहार-रूप समय की उपाधि से युक्त योग्यता मानी जाती है।

हेलाराज ने तृतीयकाण्ड, सम्बन्धसमुद्देश के प्रथम श्लोक की व्याख्या में दोनों सम्बन्धों के विषय में कहा है—

'आभ्यामर्थस्वरूपाभ्यां शब्दस्य वाच्यवाचकसम्बन्धः। प्रयोक्त्रभिप्रायेण तु सह कार्यभारणभावः'।

प्रत्येक शब्द के तीन अर्थ होते हैं—एक वाह्य घट-पदादि रूप अर्थ, दूसरा स्वरूपार्थ और तीसरा वक्ता का अभिप्राय रूप बौद्धार्थ।

शब्द का बाह्यार्थ और स्वरूपार्थ से वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध है। वक्ता के अभिप्राय रूप बौद्धार्थ से शब्द का कार्यकारणभाव सम्बन्ध होता है। अध्यास या तादात्म्य दोनों में रहता है—'अध्यासस्तु द्वयोरपि परमार्थ एव, न पृथग्रूपः'।

—हेलाराज

वृत्तिः—तत्र साधोर्यः सम्बन्धोऽर्थेन स ज्ञाने शास्त्रपूर्वके वा प्रयोगे धर्माभिव्यक्तावङ्गत्वं प्रतिपद्यते। विशिष्टप्रत्ययोत्पत्तौ च प्रत्यक्षपक्षेण व्यवस्थां प्रकल्पयति। अनुमानपक्षेण तु सम्बन्धिसम्बन्धादक्षिनिकोचादिवदपभ्रंशाः प्रत्ययविशेषेष्वङ्गभावमुपगच्छन्ति।

विवरण—अब यहाँ दो प्रकार के फलों की व्याख्या की जाती है—

साधु शब्द का जो अर्थ के साथ सम्बन्ध है वह 'यह शब्द इस अर्थ में साधु है'—ऐसे ज्ञान अथवा शास्त्रीय प्रक्रिया स्मरण पूर्वक उसके प्रयोग के सम्पन्न होने पर धर्म की अभिव्यक्ति में अङ्ग बनता है और विशिष्ट प्रत्यय या बोध की उत्पित्ति में प्रत्यक्ष ज्ञान के समान व्यवस्था भी देता है।

अपभ्रंश या असाधु शब्द सम्बन्धी के सम्बन्ध से अनुमान द्वारा नेत्रसंकोचरूप चेष्टा के समान प्रत्यय विशेष के उत्पन्न करने में अङ्गभाव को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य यह है कि साधुशब्द के ज्ञान और प्रयोग द्वारा धर्म की अभिव्यक्ति होती है और साक्षात् अर्थ का भी बोध होता है। असाधु शब्द द्वारा धर्म की अभिव्यक्ति का तो प्रश्न ही नहीं है; हाँ, अर्थबोध अवश्य होता है, किन्तु साक्षात् नहीं, परम्परया या अनुमान के आधार पर। अनुमान में पहले जैसे लिङ्ग या हेतु का ज्ञान होता है, तत्पश्चात् लिङ्गी या अनुमेय वस्तु का। वैसे ही गोणी आदि असाधुशब्द गो शब्द स्मरण के व्यवधान पूर्वक स्व सम्बन्धी साधुशब्द से सम्बद्ध अर्थों का परम्परा से बोध

कराते हैं। अथवा जैसे अक्षिनिकोचात्मक[1] चेष्टा नेत्रसंकोच करने वाले के अभिप्राय को समझने के लिए अनुमानात्मक व्यवधान की अपेक्षा रखती है, वैसे ही अपभ्रंश शब्द भी साधु शब्द के स्मरण रूप व्यवधान से भिन्न-भिन्न अर्थों का बोध कराते हैं।

वक्ता के 'गोणी' शब्द के उच्चारण करने पर श्रोता के मन में यह बात आती है कि यह (वक्ता) 'गो' शब्द का उच्चारण करना चाहता था, किन्तु प्रमाद अथवा अशक्ति से 'गोणी' शब्द का उच्चारण कर रहा है। 'गोणी' रूप अपभ्रंश शब्द सुन कर पहले श्रोता को 'गो' शब्द का स्मरण होता है, तदनन्तर सास्नादिमती गाय रूप अर्थ का बोध होता है। यही परम्परा है।

वृत्तिः—ते लिङ्गैश्च। अपोद्धारे हि शास्त्रव्यवहारार्थं समुदायात् संसृष्टायाः कस्याश्चिदर्थमात्रायाः क्रियमाणे तं तमवधिं प्रति निमित्तत्वेनार्थानां पुरुषाधीनो विकल्पभेदः सम्भवति। [2]'कथमिदं विज्ञायते हेतुमत्यभिधेये णिज् भवति, आहोस्विद्धेतुमति यो धातुर्वर्तते इति' (हेतुमति) वर्तमानादिति। तथा—'स्त्रियाम्' (पा० ४।१।३) इति। किं स्त्र्यर्थाभिधाने टाबादयः स्त्र्यर्थवृत्तेः प्रातिपदिकात् स्वार्थे वेति। तथा—'नञ्' (पा० २।२।६)। इति। किं प्रधानोऽयं समास इति। न ह्येते विकल्पा लौकिकाः। समुदायार्थे हि लौकिके व्यभिचाराभावात्। पुरुषविकल्पेष्वनियतेषु यथा शास्त्रव्यवस्थाभेदो न भवति स विकल्पः परिगृह्यते।

विवरण—वे दो प्रकार के अर्थ, दो प्रकार के शब्द, दो प्रकार के सम्बन्ध और दो प्रकार के फल रूप आठ पदार्थ, कहीं लिङ्गों और कहीं स्वशब्दों द्वारा व्याकरण शास्त्र में प्रदर्शित हैं। सर्वप्रथम लिङ्गों द्वारा कैसे अपोद्धार पदार्थ का प्रदर्शन किया गया है, इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

शास्त्रीय व्यवहार या प्रक्रिया के लिए पाचयति, भावयति आदि प्रयोगों में सर्वथा मिले-जुले प्रकृत्यर्थांश अथवा प्रत्ययार्थांश (मात्रा) के समुदाय—पद (पाचयति) रूपप्रकृतिप्रत्ययार्थ समुदाय से अपोद्धार—विभाग करने के अवसर पर उस-उस प्रकृति (पच्) या प्रत्यय (णिच्) रूप अवधि के प्रति निमित्त रूप से अर्थों (प्रकृत्यर्थ अथवा प्रत्ययार्थ) के सम्बन्ध में पुरुषाधीन विकल्पबुद्धि भेद की सम्भावना होती है। तात्पर्य यह है कि कुछ लोग 'पाचयति' में 'णिच्' को प्रेषण अथवा अध्येषण (समानस्याधिकस्य वा ऋत्विगाचार्यादेः प्रवर्तना—अध्येषणम्। प्रार्थनेत्यर्थः) रूप हेतुमत् अर्थ का वाचक मानते हैं और दूसरे लोग पच् धातु को ही। अतः प्रकृति या प्रत्यय रूप अवधि के भेद में पुरुषदर्शन या विकल्प-भेद ही निमित्त है।

---

१. श्रीवृषभ ने कहा है—'यथाक्षिनिकोचादयो वाचकशब्दविशेषव्यवहिता अर्थस्य प्रतिपादकाः।'

२. वृत्ति का यह पाठ महाभाष्य से उद्धृत है। महाभाष्य का पाठ—'कथमिदं विज्ञायते—हेतुमत्यभिधेये णिज्भवतीति, आहोस्वित्—हेतुमति यो धातुर्वर्तते इति।'

भगवान् पाणिनि ने सूत्र बतलाया है—'हेतुमति च' (३।१।२६) प्रयोजक निष्ठ, प्रेषण, अध्येषण, अनुमति, उपदेश और अनुग्रहात्मक व्यापार जब वाच्य हो तो धातु से णिच् प्रत्यय हो। यहाँ प्रयोजक व्यापारात्मक अपोद्धार पदार्थ 'हेतुमति' इस लिङ्ग से प्रदर्शित हुआ है। यहाँ यह संशय होता है कि हेतुमान् अर्थात् प्रयोजकव्यापारात्मक अर्थ में णिच् होता है अथवा प्रयोजकव्यापारार्थक जो धातु है, उससे णिच् होता है। तात्पर्य यह है कि प्रेषणादि प्रत्ययार्थ है या प्रकृत्यर्थ—यह कैसे जाना जा सकता है।

लिङ्ग द्वारा अपोद्धारार्थप्रदर्शन का दूसरा उदाहरण है—'स्त्रियाम्' (४।१।३) यह पाणिनि का सूत्र। यहाँ संशय होता है—स्त्री इस अर्थ के अभिधान में टाप् आदि प्रत्यय होते हैं अथवा स्त्री अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से। अथवा स्वार्थ में प्रत्यय होते हैं। इस प्रकार तीन पक्षों की उपस्थिति होती है। भाष्यकार कहते हैं—

'कथं पुनरिदं विज्ञायते—स्त्रियामभिधेयायां टाबादयो भवन्ति इति। आहोस्वित् स्त्रीसमानाधिकरणात्प्रातिपदिकादिति।

इस पर कैयट ने कहा है—स्त्री-शब्द शुक्लादि शब्द के समान गुणमात्र और गुणी रूप में विद्यमान रहता है। जब स्त्री-शब्द से गुणमात्र स्त्रीत्व कहा जाता है, तब द्रव्यवाची प्रातिपदिक से स्त्रीत्व वाच्य में टावादिक होते हैं—इस प्रकार स्त्रीत्व प्रत्ययार्थ है, यह पक्ष बनता है।

और जब स्त्रीत्व युक्त द्रव्य स्त्री शब्द से कथित होता है, तब दो पक्षों की सम्भावना होती है—

स्त्रीत्व से उपलक्षित द्रव्यवाची प्रातिपदिक से 'टाप्' आदिक होते हैं—यह स्त्री-समानाधिकरण पक्ष है।

स्त्रीत्व युक्त द्रव्यवाची अर्थात् स्वार्थ ही जिसका स्त्रीत्व है, ऐसे प्रातिपदिक से 'टाप्' आदि होते हैं—यह प्रकृत्यर्थ पक्ष है।

इन[1] तीनों पक्षों को भाष्यकार ने 'सिद्धं तु स्त्रियाः प्रातिपदिकविशेषणत्वात् स्वार्थे टाबादयः' इस वार्तिक के भाष्य में स्पष्ट कहा है—

१. 'नैवं विज्ञायते स्त्रियामभिधेयायामिति।

२. नापि स्त्रीसमानाधिकरणादिति।

३. कथं तर्हि ? स्त्रियां यत्प्रातिपदिकं वर्तते तस्माट्टाबादयो भवन्ति। कस्मिन्नर्थे ? स्वार्थ इति।

लिङ्ग द्वारा अपोद्धारार्थ प्रदर्शन का तीसरा उदाहरण है 'नञ्' (पा० २।२।६) यह सूत्र। नञ् का जब सुबन्त के साथ समास होता है तब वह तत्पुरुष कहलाता है।

---

१. श्रीवृषभ ने दो पक्षों का ही उल्लेख किया है—स्त्र्यर्थाभिधाने इति। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रत्ययार्थपक्षः। स्त्रीवृत्ते(स्त्र्यर्थवृत्ते)रिति। अन्तरेणापि प्रत्ययं दृषदादौ स्त्र्यर्थावसायात् प्रकृत्यर्थपक्ष इति।

'किं प्रधानोऽयं समासः ?'—यह वचन महाभाष्यकार का है।

तात्पर्य यह है कि 'नञ्' इस लिङ्ग द्वारा जब समास का निर्देश किया गया है, तो शङ्का होती है कि यहाँ पूर्वपदार्थ-प्राधान्य है, उत्तरपदार्थ-प्राधान्य है अथवा अन्य पदार्थ-प्राधान्य ?

ये विकल्प या पक्षभेद में लोक में प्रचलित नहीं हैं। केवल शास्त्रीय प्रक्रिया के विवरणार्थ यहाँ उपन्यस्त हैं। 'अब्राह्मण' शब्द रूप समुदाय का अर्थ लोक में व्यवस्थित है, वहाँ व्यभिचार सम्भव नहीं। पुरुष अनुमान के आधार पर विकल्प-भेदों की उत्थापना करते हैं, अतः वे अनियत हैं। हाँ, जहाँ तक शास्त्र-व्यवस्था में गड़बड़ी नहीं होती वहाँ तक प्रकृत्यर्थ या प्रत्ययार्थ रूप विकल्प का आश्रय लिया जाता है।

वृत्तिः—तथैकत्वादयो विभक्त्यर्थाः, कर्मादयः पञ्चकः प्रातिपदिकार्थः, चतुष्कः, त्रिक इति पुरुषविकल्पाधीन एवम्प्रकारः पक्षभेदः। क्रियासाधन-कालादयोऽपि कैश्चित् कथञ्चिदभिधेयत्वेन प्रविभक्ताः।

'धातुः[1] साधने दिशि पुरुषे चिति च तदाख्यातम्।' (काशकृत्स्न-सूत्रम्)।

'लिङ्गम् किमि(चि)ति विभक्तौ एतन्नाम।' —काशकृत्स्नसूत्रम्।

विवरण—जैसे कुछ लोगों के मत में एकत्वादि संख्या प्रत्यय से कही जाती है और कर्मादिक प्रातिपदिक से। क्योंकि 'वृक्षौ' 'वृक्षान्' इन प्रयोगों में प्रत्ययभेद से संख्या-भेद देखा जाता है, साधन-भेद नहीं।

अन्य लोग मानते हैं कि कर्मादिक प्रत्यय से बोधित होते हैं और संख्या प्रातिपदिक से। क्योंकि 'अग्निचित्' इस प्रयोग में प्रत्यय के बिना भी एकत्व का ज्ञान होता है किन्तु विभक्ति के बिना कर्मादिक का ज्ञान नहीं होता।

दूसरों का मत है कि संख्या और कर्मादि दोनों प्रातिपदिक से कहे जाते हैं। जैसे 'चर्म पश्य' इस प्रयोग में विभक्ति के बिना भी दोनों का ज्ञान होता है।

कुछ लोग प्रातिपदिक के पाँच अर्थ मानते हैं, अन्य लोग चार और दूसरे लोग तीन। इस प्रकार पुरुषविकल्पाधीन पक्ष भेद होते हैं।

पञ्चकः—१. जाति, २. द्रव्य, ३. लिङ्ग, ४. संख्या तथा ५. कारक।

चतुष्कः—१. सत्ता (जाति), २. द्रव्य, ३. लिङ्ग तथा ४. संख्या।

त्रिकः—१. जाति, २. द्रव्य तथा ३. लिङ्ग।

श्रीवृषभाचार्य ने द्विक का भी उल्लेख किया है—'तथा द्विकादयोऽपि केषाञ्चित्। यदा टाबादिभिः स्त्रीत्वमभिधीयते तदा देवदत्तेत्यादौ प्रत्ययाल्लिङ्गावगतेः।'

---

१. आचार्य अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, प्रथम ज्ञानाधिकार, विमर्श ५, भाग २ पृष्ठ २६५, पङ्क्ति ५ में प्रस्तुत सूत्र को उद्धृत किया है। यथा—'क्वचिद्धि धातुः साधने दिशि पुरुषे चिति तदाख्यातम्' इति कर्त्रादिधातुवाच्यमिति अभ्युपगमम। इसका सूत्र का यही स्वरूप निर्धारित होना है।

कुछ लोग मानते हैं कि जाति और द्रव्य—ये दो ही प्रातिपदिक के अर्थ होते हैं। क्योंकि 'टाप्' आदि प्रत्ययों द्वारा जब स्त्रीत्व का बोधन होता है, तब 'देवदत्ता' इत्यादि में प्रत्यय से ही लिङ्ग का ज्ञान हो जाता है।

इसी प्रकार तिङन्त पदार्थों के अपोद्धार में—१. क्रिया, २. साधन, ३. काल, ४. संख्या, ५. पुरुष और ६. उपग्रह (परस्मैपद और आत्मनेपद) इन्हें कुछ लोग किसी प्रकार प्रकृत्यर्थ अथवा प्रत्ययार्थ रूप में विभक्त करते हैं।

इस पर श्रीवृषभ कहते हैं—

धातुः क्रियामात्रमाह, प्रत्ययः साधनानीति। 'लः कर्मणि (च भावे चाऽकर्मकेभ्यः)' (पा० ३।४।६९) इति वचनात्। कालस्तु प्रकृत्यर्थोपाधिरपि प्रत्ययाभिव्यङ्ग्य एव। वर्तमान एव लट् इति वचनात्। तदादेशैस्तिवादिभिः सङ्ख्या। तन्निबन्धनाश्च प्रत्ययाः, तेषामेकत्वादिनियमाच्च। उपग्रहस्तु कर्त्रभिप्रायादिः प्रकृतिप्रत्ययोपाधिरादेशेभ्य एव गम्यते इति भगवान् पाणिनिः।'

धातु क्रियामात्र की बोधक होती है और प्रत्यय साधनों (कारकों) के बोधक। धातु से कर्म और कर्ता में लकार होते हैं और अकर्मक धातुओं से भाव और कर्ता में। काल प्रकृत्यर्थ की उपाधि होता हुआ भी प्रत्यय के द्वारा अभिव्यङ्ग्य होता है। कहा है—'वर्तमान में ही लट् होता है। लट् के आदेश तिप् आदिकों से संख्या का ज्ञान होता है। संख्या-हेतुक प्रत्यय होते हैं, क्योंकि उनमें एकत्वादि नियम देखा जाता है। और उपग्रह, जो कर्ता के अभिप्राय आदि प्रकृति और प्रत्यय की उपाधि रूप में स्वीकृत है, आदेशों से ही बोधित होता है—यह भगवान् पाणिनि का मत है।

भगवान् भर्तृहरि ने वृत्ति में यहाँ काशकृत्स्नाचार्य के दो व्याकरणसूत्रों को उद्धृत किया है; ऐसा श्रीवृषभ का कथन है—'धातुरिति काशकृत्स्नानां सूत्रम्।' इस सूत्र में आख्यात के पाँच अर्थ बतलाये गये हैं।

काशकृत्स्नाचार्य कृत कन्नड़ भाषीय 'धातुपाठ' के संस्कृत रूपान्तरकार ने उक्त सूत्र को 'धातुः' के स्थान पर 'धातौ' ऐसा करके पढ़ने का आग्रह किया है। उनका तर्क यह है—नामार्थ बोधक काशकृत्स्न के अग्रिम सूत्र की श्रीवृषभ की पद्धति में 'लिङ्गं' के स्थान पर 'लिङ्गे' ऐसा पाठ देकर व्याख्या की गई है, अतः यहाँ भी सप्तम्यन्त 'धातौ' ऐसा पाठ ही शुद्ध होना चाहिए।

श्रीवृषभाचार्य कृत सूत्रार्थ—

'धातुः साधने कर्मादौ वर्तते। दिशि इति। दिक् शब्देन क्रिया कालश्चोच्यते। पुरुषे इति। प्रत्यक्तादयः। चिति इति। आख्यातपदवाच्यायाः सङ्ख्याया एतन्नाम। तदाख्यातमिति। तच्चैतदाख्यातमिति वेदितव्यम्।'

धातु का अर्थ है कर्म, करण आदि साधन या कारक। क्रिया और कालरूप दिक्

प्रत्यक्[1] (उत्तम) पराक् (मध्यम) आदि पुरुष तथा चित् अर्थात् संख्या में आख्यात के अर्थ हैं।

श्रीवृषभ यहाँ दिक् का अर्थ क्रिया और काल दोनों करते हैं और धातु को आख्यात का पर्याय मानते हैं।

'धातौ' पाठ मानने पर सूत्रार्थ इस प्रकार होगा—धातु अर्थात् क्रिया, साधन—कर्तादि कारक दिक् अर्थात् काल, पुरुष—युष्मद् अस्मदादि, चित् अर्थात् संख्या—इन अर्थों में विद्यमान शब्द आख्यात कहलाता है।

'भावः, कर्म, क्रिया, धात्वर्थ इत्यनर्थान्तरम्।' —दुर्गाचार्य।

'क्रियाभावो धातुः' (कातन्त्रव्याकरण ३।३।९) श्रीवृषभ द्वितीय सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

प्रातिपदिकार्थमाह—लिङ्ग इति। लिङ्गे स्त्रीत्वादौ। किमिति। नामपदवाच्यायाः सङ्ख्यायाः (नाम) विभक्तौ कर्मादिषु कारकेषु। एतन्नाम इत्युच्यते। 'काशकृत्स्न-धातुव्याख्यान' पर श्रीचन्नवीर कवि द्वारा रचित कर्नाटकभाषीय टीका के संस्कृत रूपान्तरकार श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने द्वितीय सूत्र और उसकी व्याख्या निम्नाङ्कित रूप में प्रस्तुत की है—

'लिङ्गे किमि(चि)ति विभक्तौ एतन्नाम।' लिङ्ग अर्थात् प्रातिपदिक, किम्—स्त्रीत्वादि, चित्—संख्या, विभक्ति कर्मादि कारक—इन अर्थों में विद्यमान शब्द 'नाम' कहलाता है।

'धातुविभक्तिवर्जमर्थवल्लिङ्गम्' (कातन्त्रव्या० २।१।१) इस सूत्र के अनुसार लिङ्ग का अर्थ प्रातिपदिक है। 'लिङ्गम्' इस प्रकार का पाठ स्वोपज्ञ-विवरण में मुद्रित है। श्रीवृषभ द्वारा प्रतीक रूप में गृहीत 'लिङ्गे' ऐसा पाठ है। 'किमिति' यह मुद्रित पाठ है। हस्तलेख का पाठ 'किति' है। टीकाकार श्रीवृषभ प्रत्येक पद को इति द्वारा निर्दिष्ट करते हैं। अतः शुद्ध पाठ 'किमिति' होना चाहिए। 'चिति' पद सूत्र में त्रुटित है अथवा अनुवर्त्य होगा। श्रीवृषभ प्रथम सूत्रगत चित् का अर्थ संख्या करते हैं और द्वितीय सूत्र में पठित 'किम्' शब्द का—यह असंगति है।[2]

---

१. प्रत्यक्ता परभावश्चाप्युपाधी कर्तृकर्मणोः।
तयोः श्रुतिविशेषेण वाचकौ मध्यमोत्तमौ॥ —तृतीय काण्ड, पुरुषसमु०

प्रतिपुरुषं प्रतिनियतं वाञ्चति चेष्टत इति प्रत्यङ् अन्तर्यामी जीवात्मा। स हि प्रतिदेहं नियतो वर्तते। तद्भाव उत्तमपुरुष वाच्योऽर्थः।

मध्यमस्तुः पुरुषः परत्वम्। —हेलाराज।

२. वस्तुतः पूर्वसूत्र का 'धातुः साधने दिशि पुरुषे चिति च तदाख्यातम्' ऐसा ही पाठ उचित है। और द्वितीय सूत्र का 'लिङ्गं किमि चिति विभक्तौ एतन्नाम' यही पाठ सङ्गत है। दोनों सूत्रों का क्रमशः इस प्रकार अर्थ होगा—

वृत्तिः—भावकर्मभ्यामात्मनेपदं, कर्तुः परस्मैपदम्, इत्यपोद्धारकल्पना-व्यवस्थामाश्रित्य। 'स्वार्थमभिधाय शब्दो निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेतम्' इति प्रतिपत्तिक्रमनियमानुगममात्रं क्रियते।

न हि शब्दस्य क्रमवती विरम्य विरम्य स्वार्थादिषु वृत्तिः सम्भवति। सकृदुच्चारणात्। अर्थेन च नित्यमवियोगात्। प्रतिपत्तिक्रमो ह्ययं श्रोतुरभि-धातुर्वा न व्यवस्थितः। सर्वविशेषणविशिष्टं हि वस्तु संसर्गिणीनां मात्राणां कलापं यौगपद्येनैकस्या बुद्धेर्विषयतामापन्नमुत्तरकालमिच्छन् बुद्ध्यन्तरैः प्रविभज्यते। प्रविभक्तस्यापि चानुसन्धानमन्तरेणार्थक्रियाविषया प्रतिभा नोत्पद्यत इति पुनः संसर्गरूपमेव प्रत्यवमृशति।

विवरण—'भावकर्मभ्यामात्मनेपदम्' और 'कर्तुः परस्मैपदम्' ये दोनों सूत्र भी काशकृत्स्नाचार्य के ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि भगवान् पाणिनि के सूत्र हैं—'भाव कर्मणोः' (१।३।१३) तथा 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' (१।३।७८)

'भावे कर्मणि च यो लकारस्तस्यात्मनेपदपदमित्यर्थः।'

'आत्मनेपदनिमित्तहीनाद्धातोः कर्तरि (लस्य) परस्मैपदं स्यात्।'

उपर्युक्त दोनों सूत्र आचार्य काशकृत्स्न के ही हैं। इसमें श्रीवृषभ का प्रस्तुत सन्दर्भ प्रमाण है—'यदि धातुः साधनमाह कथमात्मनेपदादिविधाने सूत्रपाठ इत्याह 'भाव-कर्मभ्याम्–' इति। भावकर्मवाचिनो धातोरात्मनेपदम्, कर्तृवाचिनः परस्मैपदम् इति।' यदि धातु का अर्थ साधन है तो आत्मनेपद और परस्मैपद-विधान में कैसा सूत्रपाठ होगा? इस पर कहते हैं—

'भावकर्मभ्यामात्मनेपदम्' अर्थात् भावकर्मवाची धातु से आत्मनेपद होता है। और कर्तृवाची धातु से परस्मैपद।

इससे स्पष्ट है कि ये दोनों सूत्र निश्चित रूप से काशकृत्स्नाचार्य के ही हैं। पाणिनि का मत इससे भिन्न है। उनके मत में 'लस्य आत्मनेपदम्' 'लस्य परस्मैपदम्' ऐसा विधान है।

भावकर्मवाची धातु से आत्मनेपद होता है और कर्तृवाची धातु से परस्मैपद—इस प्रकार स्वशब्दोक्त अपोद्धारपरिकल्पनात्मक व्यवस्था का आश्रय लेकर कहा गया है—

'स्वार्थ को कहकर शब्द निरपेक्ष रूप से जाति, लिङ्ग, संख्या आदि स्वार्थ समवेत द्रव्य को कहता है।'

(क) धातु अर्थात् भाव या क्रिया साधन (कारक), दिक् काल, पुरुष और संख्या अर्थ में विद्यमान रहती है और इसी को (धातु को) आख्यात कहते हैं।

(ख) लिङ्ग अर्थात् प्रातिपदिक, लिङ्ग संख्या और कारक अर्थ में विद्यमान है और इसका (लिङ्ग-प्रातिपदिक) नाम भी कहते हैं।

इस कथन से प्रतिपत्ति या बोध के क्रमात्मक (अर्थात् पहले स्वार्थ या जाति का बोध तदनन्तर द्रव्यबोध) नियम का अनुगम मात्र किया जाता है, न कि अभिधान क्रम का व्यवस्थापन।

वस्तुतः शब्द की जाति, लिङ्ग, संख्या, कारक द्रव्य आदि स्वार्थों में रुक-रुक कर क्रमवती कोई अभिधा नामक वृत्ति (व्यापार) सम्भव नहीं। तात्पर्य यह है कि शब्द पहले जाति का बोध कराये फिर कुछ विलम्ब से लिङ्ग का, पुनः रुककर संख्या का, फिर थोड़ी देर बाद कारक का, तदनन्तर द्रव्य का। इस प्रकार क्रमशः उसमें (शब्द में) कोई अभिधारक व्यापार नहीं होता। शब्द का एक बार उच्चारण होता है, अतः एकबारगी ही अर्थबोध भी। साथ ही शब्द के साथ अर्थ का नित्य सम्बन्ध होने से भी सिद्ध है कि सकृत् शब्दोच्चारण से सकृत् अर्थवोध होता है, न कि क्रमशः।

वस्तुतः एक शब्द के उच्चरित होने पर न तो श्रोता की विविध अर्थों की प्रतिपत्ति (बोध) का कोई क्रम नियत है और न वक्ता के अर्थ सम्प्रेषण का। फिर कैसे कहा गया है—'स्वार्थमभिधाय···द्रव्यमाह'। सच तो यह है कि जो प्रतिपत्ति का क्रम प्रतीत होता है, वह कल्पित अपोद्धार से समुत्थित एवं असत्य है। इसी बात को प्रमाणित करने के लिए कहते हैं—

जाति, द्रव्य, लिङ्ग, संख्या और कारकसंज्ञक अर्थरूप सम्पूर्ण विशेषणों से विशिष्ट एक पदार्थ (वस्तु) जो संसर्गिणी–जाति आदि पूर्वोक्त मात्राओं का समूह रूप है और एक साथ एक बुद्धि का विषय बन गया है; उसे उत्तरकाल में स्वेच्छा से श्रोता—यह जाति है, यह द्रव्य है आदि बुद्ध्यन्तरों से विभक्त करता है। एक वस्तु का इस प्रकार विभाग कर लेने पर भी संसृष्टरूपात्मक अनुसन्धान के बिना अर्थक्रिया रूप व्यवहार में समर्थ प्रतिभा या बुद्धि नहीं उत्पन्न होती। अतः श्रोता पुनः वस्तु के संसृष्ट रूप का ही आकलन (प्रत्यवमर्श) करता है।

श्रीवृषभाचार्य का व्याख्यान है कि अर्थप्रत्यायनकाल और अर्थक्रियाकाल इन दोनों कालों में शब्द की अर्थप्रतिपत्ति में कोई क्रम नहीं रहता। हाँ, मध्य अवस्था में जो क्रम की प्रतीति होती है, वह शब्दव्यापार से नहीं, अपि तु शब्दव्यापार के अनन्तर कल्पना द्वारा। प्रतिपत्ति में जो असमर्थ होता है, वह व्यक्ति (श्रोता) अभिन्न शब्दार्थ को जानने के लिए क्रम की कल्पना करता है। जैसे किसी अभिन्न पदार्थ को ग्रहण करने में असमर्थ व्यक्ति प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ का विभाग करके अर्थ को जानता है, उसी प्रकार वाक्यार्थ को भी पदार्थ के अनुगम से कोई कोई समझता है।

वृत्तिः—योऽपि चाभिधाता श्रोता वा विभागेन मात्रासु प्रतिपत्तिं लभते, तस्यापि प्रत्यासत्त्या महाविषयत्वेनाभिव्यक्तिनिमित्तोपव्यञ्जनप्रकर्षेणोपलिप्सया बीजवृत्तिलाभानुगुण्येन वा ग्राह्यासु मात्रास्वनियमेन बुद्धिक्रमो व्यवतिष्ठते। तथा ह्याह—

एकोऽयं शक्तिभेदेन भावात्मा प्रविभज्यते ।
बुद्धिवृत्त्यनुकारेण बहुधा ज्ञानवादिभिः ॥

विवरण—जो भी, चाहे अभिधाता या उच्चारयिता हो, असमर्थ होता हुआ भी जिस विशिष्ट अर्थ को मन में रखकर शब्दों का प्रयोग करता है, अथवा श्रोता हो, जब एक शब्द का विभाग करके जाति-द्रव्यादि मात्राओं का ज्ञान उपलब्ध करता है, तो ग्राह्य जाति-द्रव्यादि मात्राओं में उसका प्रत्यासत्ति आदि पाँच निमित्तों द्वारा अनियमतः बुद्धिक्रम व्यवस्थित होता है। वे निमित्त इस प्रकार हैं—१. प्रत्यासत्ति, २. महाविषयत्व, ३. अभिव्यक्तिनिमित्तोपव्यञ्जनप्रकर्ष, ४. उपलिप्सा तथा ५. बीज-वृत्तिलाभानुगुण्य ।

(१) आसत्ति—प्रतिपत्ता या श्रोता, जब एक शब्द में जाति, द्रव्य, लिङ्गात्मक स्वार्थादिकों के संसृष्ट होने पर जिस अर्थ को उपकारिता के रूप में अत्यन्त प्रत्यासन्न या निकट देखता है, उसी को सबसे पहले ग्रहण करता है। अतः उपकारित या सान्निध्य का नाम आसत्ति है। जाति ही सर्वप्रथम उपकार के लिए आसन्न रहती है। इसलिए जातिस्वरूप से युक्त द्रव्य की द्रव्यान्तर से विविक्त रूप में अवधारणा की जा सकती है। अतः प्रत्यासत्ति के बल से पहले जाति को ही श्रोता ग्रहण करता है। और वह जाति द्रव्य के बिना अनभिव्यक्त रहती है तथा व्यवहार-सम्पादन नहीं कर सकती। लिङ्गादिक भी आश्रय के बिना नहीं जाने जा सकते, अतः इनसे प्रत्यासन्न द्रव्य को पुनः ग्रहण करता है। लिङ्ग अपनी प्रतिपत्ति में द्रव्यान्तर की अपेक्षा नहीं करता, किन्तु संख्या और कारक उनकी अपेक्षा रखते हैं; अतः इनसे पहले लिङ्ग गृहीत होता है।

यद्यपि एकत्व अर्थान्तर की अपेक्षा नहीं करता, किन्तु संख्यात्व तो सापेक्ष देखा ही गया है। अथवा वक्ता एकत्व से अभेद मात्र को कहता है—इस प्रकार द्वित्व का अपाकरण करके स्थित होने से एकत्व संख्या भी सापेक्ष ही है। संख्या और कारक इनका सापेक्षत्व समान है, किन्तु समान जातीय की अपेक्षा रखने से संख्या प्रत्यासन्न है, अतः उसका ग्रहण होता है। संख्या समान जातीय द्रव्य की ही अपेक्षा रखती है, अतः वह अधिक प्रत्यासन्न है।

कारक भिन्न जातीय क्रिया की अपेक्षा रखता है, अतः उसका ग्रहण सबसे अन्त में होता है।

(२) महाविषयत्व—सम्पूर्ण व्यक्तियों में अनुगत होने से जाति महाविषया है। अतः स्फुटतया परिच्छेद्य होने के कारण श्रोता उसे पहले ग्रहण करता है।

सर्व लिङ्गों के लिए साधारण होने से द्रव्य महाविषय है और लिङ्ग लिङ्गान्तर से व्यावृत्त हो जाता है, अतः अल्पविषयक है।

लिङ्ग और संख्या में लिङ्ग महाविषयक है, क्योंकि वह समस्त संख्या को व्याप्त कर लेता है। संख्या संख्यान्तर से भिन्न होती हैं, अतः अल्पविषयक है।

तथा संख्या सकल कारकों में साधारण रूप से व्याप्त रहती है, अतः वह महाविषय है। इसलिए कारक से पूर्व उसका ग्रहण होता है।

(३) अभिव्यक्तिनिमित्तोपव्यञ्जनप्रकर्ष—'अभिव्यक्तेर्निमित्तं यदुपव्यञ्जनं तस्य प्रकर्षो भूयस्ता'—अभिव्यक्ति का निमित्त जो उपव्यञ्जन है, उसका जिसमें बाहुल्य हो तो उसे 'अभिव्यक्तिनिमित्तोपव्यञ्जनप्रकर्ष' कहते हैं। जिसके उपव्यञ्जनों का बाहुल्य रहता है, उसका पहले परिच्छेद या पृथक्करण होता है। जातियाँ अनेक व्यक्तियों से अभिव्यङ्ग्य होती हैं, अतः सर्वसाधारणतया वे बहुलोपव्यञ्जन होती हैं। और प्रत्येक द्रव्य तो स्वावयव द्वारा व्यङ्ग्य होने से अल्पोपव्यञ्जन है।

संस्त्यान[1] आदि संस्थान विशेष की अपेक्षा से लिङ्ग का बोध होता है। एक एक अवयव के देखने से द्रव्य का ज्ञान होता है, अतः लिङ्ग से द्रव्य बहुल उपव्यञ्जन है। उसी प्रकार एक-एक वस्तु के देखने से लिङ्ग का ज्ञान होता है और अनेक पदार्थों के देखने से संख्या का ज्ञान होता है। अतः वह लिङ्ग की अपेक्षा अल्प उपव्यञ्जन है।

उसी प्रकार संख्या अपने आश्रयमात्र के दर्शन में प्रतीत होती है, अतः अधिकोपव्यञ्जन है। और कारक की प्रतीति आश्रय से व्यतिरिक्त वस्तुनिबन्धन है, अतः अल्पोपव्यञ्जन है।

(४) उपलिप्सा—सबसे पहले जो प्राप्त करने के लिए अभीष्ट हो उसको उपलिप्सा कहते हैं।

(५) बीजवृत्तिलाभानुगुण्य—जिस प्रत्यय की उत्पत्ति में जो आन्तरिक कारण होता है, उसे बीज कहते हैं; उसका जो स्व-वृत्ति लाभ या प्रबोध-प्राप्ति है, उसके आनुगुण्य अर्थात् कार्योत्पादन के प्रति आभिमुख्य को 'बीजवृत्तिलाभानुगुण्य' कहते हैं।

समस्त प्रत्यय पूर्वप्रत्यय द्वारा स्थापित संस्कार के जागने से उत्पन्न होते हैं। जाति का प्रत्यय (बोध) द्रव्य बोध के बीजवृत्तिलाभ के प्रति उन्मुखता का वहन करता है। जातिप्रत्यय द्रव्यप्रत्यय का कारण है, अतः सर्वप्रथम जाति का प्रत्यय होता है। जातिप्रत्यय द्वारा आहित—स्थापित वासना (संस्कार) के परिपाक से ही व्यक्ति की उपलब्धि होती है। व्यक्तिबोध, आश्रय परतन्त्र लिङ्गादिकों की प्राप्ति में अनुगुण है और लिङ्ग का प्रत्यय अनेक सार समवेत संख्या की प्रतिपत्ति में अनुगुण

---

१. तथा हि संग्रहकारः पठति—संस्त्यानं संहननं, तमो निवृत्तिः, अशक्तिरुपरतिः, प्रवृत्तिप्रतिबन्धस्तिरोभावः स्त्रीत्वम्। प्रसवो विष्वग्भावो, वृद्धिशक्तिर्वृत्तिलाभोऽभ्युद्रेकः प्रवृत्तिराविर्भाव इति पुंस्त्वम्। अविवक्षातः साम्यं स्थितिरौत्सुक्यनिवृत्तिरपदार्थत्वमङ्गाङ्गिभावनिवृत्तिः कैवल्यमिति नपुंसकत्वमिति।

—तृ० का०, लिङ्गसमु० कारिका २; हेलाराज

है तथा संख्या का ज्ञान भी बहिरङ्ग क्रिया-कर्म की अपेक्षा रखने वाले कर्मादि प्रत्यय के अनुगुण[1] है।

जैसा कि कहा है—"जात्यादि संसृष्ट एक ही यह शब्दार्थ (भावात्मा) जाति, द्रव्य, लिङ्गादि स्वार्थरूप शक्तियों के भेद से ज्ञान को ही जो शब्दार्थ रूप में प्रतिपादित करते हैं, ऐसे ज्ञानवादियों द्वारा बुद्धिवृत्ति का अनुकरण करते हुए 'यह जाति है' 'यह द्रव्य है' इत्यादि रूप में बहुधा विभक्त किया जाता है।"

सम्भवतः यह श्लोक व्याडि के संग्रह नामक ग्रन्थ से ही उद्धृत है, क्योंकि तृतीय उदाहरण को श्रीवृषभ ने संग्रह का बतलाया है तथा द्वितीय एवं आगे वृत्ति में पठित दो श्लोकों को स्वयं वृत्तिकार ने संग्रहकार का ही कहा है।

वृत्तिः—स्थितलक्षणस्तु शास्त्रे पदार्थो वाक्यार्थो वा तथा ह्युक्तम्—'न वा पदस्यार्थे प्रयोगात्।' (वार्तिक)

'यदत्राधिक्यं वाक्यार्थः सः।' (महाभाष्य) इति। सङ्ग्रहेऽप्युक्तम्—

नहि किञ्चित् पदं नाम रूपेण नियतं क्वचित्।
पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते॥

विवरण—व्याकरणशास्त्र में पदार्थ और वाक्यार्थ स्थितलक्षण अर्थ के रूप में स्वीकृत हैं। जैसा कि पदार्थवादी दर्शन के अनुसार कात्यायन के वार्तिक में स्वशब्द से कहा है—'इसमें कोई दोष नहीं, क्योंकि पद का जात्यादि अर्थ के रूप में प्रयोग किया गया है।'

पदवादी लोग पदार्थ को ही सत्य तथा लौकिक व्यवहार के योग्य मानते हैं।

वाक्यार्थवादियों के अनुसार भी प्रमाण महाभाष्य में उपलब्ध है। यथा—'वाक्य में पदार्थों से जो अतिरिक्तता या आधिक्य है, वही वाक्यार्थ है।'

'प्रातिपदिकार्थ' (२।३।४६) इस सूत्र के अन्तर्गत वार्तिक पठित है—

'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमालक्षणे पदसामानाधिकरण्ये उपसङ्ख्यानमधिकत्वात्।'

तात्पर्य यह है कि 'वीरः पुरुषः' आदि में दोनों पदों का एकार्थवृत्तिक या समानाधिकरण्य होने से विशेष्यविशेषणभावरूप आधिक्य की प्रतीति होती है। पुरुष में वीरत्व–वीरनिरूपित विशेष्यत्व अधिक भासित होता है और वीर में पुरुष निरूपित विशेषणत्व की अतिरिक्त प्रतीति होती है, अतः यहाँ प्रथमा नहीं होगी। अतः 'पदसामानाधिकरण्ये' इसका भी सन्निवेश प्रथमा विधान सूत्र में करना चाहिए। यह आक्षेप वार्तिक है।

---

१. यह समग्र व्याख्या श्रीवृषभाचार्य के अनुसार दी गई है। 'अनियमेन' इस वृत्ति के प्रतीक को लेकर उन्होंने इसकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है, किन्तु वह अत्यन्त अशुद्ध रूप में उपलब्ध है। अतः जिज्ञासुओं को उसे वहीं देखना चाहिए।

इसका समाधान प्रस्तुत वार्तिक और उसके भाष्य में किया गया है—'न वा वाक्यार्थत्वात् ।'—वार्तिक

'न वा वक्तव्यम् । किं कारणम् ? वाक्यार्थत्वात् । यदत्राधिक्यं वाक्यार्थः सः ।

वैसा पाठ आवश्यक नहीं है, क्योंकि वह वाक्यार्थ है । और वाक्य में जो आधिक्य की प्रतीति होती है, वही वाक्यार्थ है ।

कैयट की व्याख्या है—

दूसरे शब्द के अर्थ-संसर्ग से उपहित विशेषणभाव की अपेक्षा न रखने वाले 'वीर' इस प्रातिपदिक से, जो कि स्वार्थमात्र में प्रतिष्ठित है, प्रथमा का विधान किया जाता है । इसी प्रकार पुरुष शब्द से भी । अतः प्रथमा को कौन रोक सकता है ? और जो विशेष्य-विशेषणभावरूप आधिक्य की प्रतीति होती है, वह तो वाक्यार्थ है । इस प्रकार का वाक्यार्थबोध बाद में आकाङ्क्षादिवश उत्पन्न होता है और बहिरङ्ग है । अतः वह पूर्वप्रवृत्त प्रथमा विधान रूप अन्तरङ्ग संस्कार को बाधित नहीं कर सकता ।

इस प्रकार पदार्थ और वाक्यार्थ का स्वशब्दों से भाष्य में उल्लेख किया गया है।

वस्तुतः पदार्थ पदसंस्कार के लिए उपयोगी है । पूर्वोक्त वार्तिक से ज्ञात होता है कि पदार्थ से अतिरिक्त भी कोई वाक्यार्थ होता है । पदार्थ और वाक्यार्थ में प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप लौकिक व्यवहार का निमित्त होने से वाक्यार्थ ही स्थितलक्षण है ।

संग्रह नामक ग्रन्थ में कहा गया है—'पद' यह कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है और जब पद नहीं है तो पदार्थ भी स्वतन्त्र रूप से कहाँ ? वस्तुतः 'पद' नामक तत्त्व अपने रूप या आनुपूर्वी से नियत रूप में कहीं किसी प्रयोग में नहीं मिलता । पदों की आनुपूर्वी और अर्थ वाक्यार्थ से ही निष्पन्न होता है ।

जैसे 'अश्वः' यह आख्यातपद है और नाम पद भी । 'अजापयः' यह नामपद है और आख्यातपद भी ।

'टुओश्वि गतिवृद्धयोः' इस धातु से लुङ् लकार मध्यम पुरुष एक वचन में सिप् करने पर 'नित्यं ङितः' (३।४।८९) इससे अनुवर्तमान 'इतश्च' (३।४।१००) इकार का लोप, च्लि प्रत्यय का 'जृस्तम्भुम्रुचु' (३।१।५८) से चङ् आदेश, 'श्वयतेरः' (७।४।१८) से धातु की इकार का अकार आदेश, 'अतो गुणे' (६।१।९७) इससे पररूप, सिप् की सकार का रुत्व और विसर्ग, 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' (६।४।७१) से अडागम करने पर 'अश्वः' यह आख्यात पद कर्तृ विशिष्ट अतीत कालिक श्वयति क्रिया का प्रतिपादक है । और 'अश्वः' यह नामपद सत्त्वभूत अश्वजातीय अर्थ का प्रतिपादक है ।

और अजा+पयः यह नामपद का बोधक है; अ+जापयः—यह जि जये का णिजन्त रूप है । इस से स्पष्ट है कि पद की आनुपूर्वी (रूप) का बोध और अर्थ ज्ञान वाक्यार्थ के अधीन है ।

श्लोक में 'नामरूपेण' ऐसा समस्त पाठ अपपाठ है। वाक्यपदीय, द्वितीयकाण्ड, कारिका २१८ (नामाख्यात सरूपाः) की पुण्यराज की टीका में भी यह श्लोक उद्धृत है। वहाँ 'पदानामर्थरूपं च' इसे अपपाठ समझना चाहिए। 'पदानां रूपमर्थो वा' ऐसा शुद्ध पाठ है।

'पदानां—' इस वाक्य से कहा गया है कि एकान्ततः पद-पदार्थ का निषेध नहीं है; क्यों कि वाक्य से पदरूप और वाक्यार्थ से पदार्थ की अपोद्धारकल्पना द्वारा व्यवस्था की जाती है।

वृत्तिः—अन्वाख्येयस्य खल्वपि पदस्वरूपस्य कृतेऽपि रूपपरिग्रहे प्रकृति-प्रत्ययादीनां विभागे रूपपरिग्रहानियमो दृश्यते। मरुत्तेन्द्राण्यैकागारिकगिरिश-श्रोत्रियक्षत्रियादिषु। वाक्यावधिकेऽन्वाख्याने तदुक्तम्—

अर्थात् पदं साभिधेयं पदाद्वाक्यार्थनिर्णयः।
पदसङ्घातजं वाक्यं वर्णसङ्घातजं पदम्॥ इति।

व्युत्पत्तौ वाक्यस्थं पदं, वर्णसङ्घातजं पदमिति।

विवरण—अन्वाख्येय पदस्वरूप का रूप परिग्रह कर लेने पर भी प्रकृति और प्रत्ययादि विभाग में उसके अवयवों के परिग्रह में अनियम देखा जाता है। जैसे मरुत्त, इन्द्राणी, ऐकागारिक, गिरिश, श्रोत्रिय और क्षत्रिय आदि वाक्यात्मक पदों में।

(१) कुछ लोग 'मरुतः (देवाः) अस्य सन्ति' इस अर्थ में 'पर्वमरुद्भ्यां तप्' इस वार्तिक द्वारा मरुत् शब्द से तप् प्रत्यय करके 'मरुत्त' की सिद्धि करते हैं। अन्य लोग 'मरुद्भिर्दत्तः' इस अर्थ में 'ददातिवृत्तं वा' इस वार्तिक से दा धातु का निष्ठा में औपसंख्यानिक रूप मानते हैं।

(२) इन्द्राणी शब्द में कुछ लोग मानते हैं कि 'इन्द्रस्य स्त्री' इस अर्थ में ङीप् और आनुक् का आगम होता है। दूसरों का मत है कि 'इन्द्रमानयति जीवयति' इस अर्थ में इन्द्राण (इन्द्र+आ+अन प्राणने ण्यन्त) से ङीप् प्रत्यय होता है। अन्य लोगों का कथन है कि यहाँ इन्द्र शब्द से आनी प्रत्यय हुआ है।

(३) ऐकागारिक में 'एकमसहायमगारं प्रयोजनमस्य मुमुषिषोः स ऐकागारिकश्चौरः' इस अर्थ में 'ऐकागारिकट् चौरे' (५।१।११३) इस सूत्र से 'इकट्' प्रत्यय एकागार शब्द से होता है। वार्तिक और भाष्यकार एकागार शब्द से ठञ् प्रत्यय मानते हैं। दूसरे लोग एक शब्द से आगारिकट् प्रत्यय स्वीकार करते हैं। प्रथम और अन्तिम पक्ष में वृद्धि निपातन से होगी। हेलाराज ने तृतीयकाण्ड, वृत्तिसमुद्देश, कारिका ७४ को टीका में आगारिकट् और निकट् प्रत्यय बतलाया है।

(४) 'गिरौ[1] शेते' इस अर्थ में शीङ् स्वप्ने से ड प्रत्यय होता है; यह एक मत

---

१. अन्वाख्यान सम्बन्धी अनियम के विषय में द्वितीय काण्ड की प्रस्तुत कारिका प्रसिद्ध है—

है। 'अधिकरणे शेतेः' (३।२।१५) के अन्तर्गत 'गिरौ डश्छन्दसि' इस वार्तिक से 'गिरि' के उपपद रहते हुए वेद में ही 'ड' प्रत्यय होता है।

अथवा 'गिरिरस्यास्तीति गिरिशः' इस अर्थ में 'लोमादिपामादि' (५।२।१००) से लोमादिगण में पाठ होने के कारण 'श' प्रत्यय होगा। अथवा 'गिरि श्यति' इस अर्थ में 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३) से क प्रत्यय करने पर 'गिरिशः' यह निष्पन्न होगा।

(५) 'छन्दः अधीते' इस वाक्य के अर्थ में 'श्रोत्रियन्' यह पद निपातन से सिद्ध होता है। 'श्रोत्रियँश्छन्दोऽधीत इति वाक्यार्थं पदवचनम्' इस वार्तिक के अनुसार श्रोत्रिय शब्द की निष्पत्ति के सम्बन्ध में यह एक पक्ष है।

'छन्दसो वा श्रोत्रभावः, तदधीत इति घंश्च' इस वार्तिक के अनुसार द्वितीयान्त छन्दस् शब्द से अधीते इस अर्थ में घन प्रत्यय होगा और छन्द शब्द का श्रोत्र यह आदेश निपातन से होता है, यह मतान्तर है।

पूर्वमत में प्रकृतिप्रत्यय विभाग की कल्पना नहीं हैं, द्वितीय मत में है ।

(६) क्षत्रिय शब्द में 'छत्राद्घः' (४।१।१३८) 'क्षत्रस्य अपत्यं क्षत्रियः' इस अर्थ में क्षत्र से घ प्रत्यय होता है। 'क्षत्र एव क्षत्रियः' इस प्रकार कुछ लोग स्वार्थ में इय् प्रत्यय मानते हैं। दूसरे लोग अपत्य अर्थ में ही इय् प्रत्यय होता है; ऐसा स्वीकार करते हैं।

आदि शब्द से 'हरिद्रवः' हरित् खः इत्यादि देखना चाहिए —श्रीवृषभ

वाक्यावधिक अन्वाख्यान में संग्रसकार ने कहा है—

अर्थात् = प्रयोजनवश, पद और साथ ही उसका अर्थ अपोद्धारकल्पना द्वारा व्यवस्थित किया जाता है; पद से ही वाक्यार्थ का निर्णय किया जाता है—यही प्रयोजन है। वाक्य की प्रतिपत्ति पदग्रहणपूर्वक और वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति पदार्थ-ग्रहणपूर्वक होती है। इस प्रकार उपाय होने से पद का असत्यत्व सिद्ध है और वाक्य ही सत्य रूप में अन्वाख्येय है। वाक्य पद-संघात द्वारा वैसे ही निष्पन्न माना जाता है, जैसे पद वर्ण-समुदाय जन्य। जैसे वर्णसमुदाय मात्र को पद कहते हैं, वैसे ही पद-समुदाय को वाक्य। यदि पद संहत होकर वाक्य का निर्माण करते हैं, तो उन्हें सत्य समझना चाहिए। इस आशङ्का पर वृत्तिकार कहते हैं—

वाक्य की व्युत्पत्ति अवस्था में पदात्मक अपोद्धारकल्पना को उपाय के रूप में स्वीकार किया जाता है न कि वस्तुतः। इसी प्रकार व्युत्पाद्यमान पद में वर्णसंघात उपाय मात्र हैं, न कि उनकी कोई सत्यता है। व्युत्पत्ति को ही दृष्टि में रखकर कहा गया है—वाक्य पदसङ्घात जन्य है; और पद वर्णसंघातज।

वैरवाशिष्ठगिरिशास्तथैकागारिकादयः ।
कैश्चित्कथञ्चिदाख्याता निमित्तावधिसङ्करैः ॥ १७१ ॥

वृत्ति में प्रस्तुत पाठ है—'व्युत्पत्तौ वाक्यस्थं पदं, वर्णसङ्घातजं पदमिति'।

सम्भवत: मूल में ऐसा पाठ रहा होगा—'व्युत्पत्तौ वाक्यं पदसङ्घातजं, वर्णसङ्घातजं पदमिति'। यह श्लोक बृहद्देवता (२।११७) में भी उपलब्ध है। वहाँ 'अर्थात् पदं स्वाभिधेयं' ऐसा पाठ है, जो ठीक नहीं जान पड़ता। वाक्यपदीय का यह श्लोकार्ध भी वहाँ पठित है—

'वाक्यात्प्रकरणादर्थादौचित्याद्देशकालतः।[1]

शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात्॥ २।३१४।

वृत्तिः—कार्यकारणभावेन खल्वपि सम्बन्धो निर्दर्शितः। तद्यथा—

'तेऽपि हि तेषामुत्पत्तिप्रभृत्याविनाशाद् बुद्धीर्व्याचक्षाणाः सतो बुद्धिविषयान् प्रकाशयन्ति।' इति।

योग्यभावेनापि सम्बन्ध उपवर्णितस्तत्र तत्र—'अभिधानं पुनः स्वाभाविकम्' (वार्तिक, सूत्र २।२।८९ पर)

'समाने वर्णे शोणकर्कहेमादीनामश्वविषयत्वं गवादिषु चाप्रवृत्तिः।'

(भाष्यसंक्षेप, सूत्र २।२।२९। के वार्तिक पर)

तथेदमुक्तम्—'समानमीहमानानां चाधीयानानां च केचिदर्थैर्युज्यन्ते, अपरे न।' इत्येवमादि।

विवरण—व्याकरणशास्त्र में कार्य-कारणभाव सम्बन्ध भी लिङ्गों द्वारा प्रदर्शित है। यथा—वे ग्रन्थिक=कथक या व्यास कंसादिकों के जन्म से लेकर विनाश पर्यन्त ऐश्वर्यों का बखान करते हुए स्व-बुद्धिगत वासुदेव द्वारा स्व-बुद्धिस्थ कंस को मारा जाता हुआ श्रोताओं की बुद्धि में समर्पित करते हैं।

वक्ता के द्वारा उच्चरित शब्द कारण है; और श्रोता के प्रति सम्प्रेषित स्वाभिप्राय कार्य—'प्रयोक्त्रभिप्रायेण तु सह कार्यकारणभावः'—हेलाराज।

महाभाष्य का उक्त उद्धरण पहले भी आया है। वहाँ कार्यकारणभाव सम्बन्ध के स्वरूप प्रदर्शन के लिए उद्धृत है और यहाँ लिङ्ग रूप में उसका उपन्यास किया गया है, यह वैशिष्ट्य है। अतः पुनरुक्ति की आशङ्का नहीं करनी चाहिए।

शब्दार्थ का योग्यभावरूप सम्बन्ध भी लिङ्गों द्वारा यत्र तत्र भाष्य वार्तिक आदि में वर्णित है। जैसे—

सरूपसूत्र के अन्तर्गत 'अभिधानं तु पुनः स्वाभाविकम्' यह वार्तिक पठित है। भाष्यकार ने कहा है—किं पुनः कारणं सरूपाणामेकेनापि अनेकस्याभिधानं भवति, न पुनर्विरूपाणाम्'। इस पर समाधान वार्तिक है—समान रूप वाले एक शब्द से अनेक का कथन स्वाभाविक है।

---

१. अर्थात्प्रकरणाल्लिङ्गादौचित्याद्देशकालतः।
मन्त्रेष्वर्थविवेकः स्यादितरेष्विति च स्थितिः॥ —बृहद्देवता (२।२१८)

'चार्थे द्वन्द्व' सूत्र में भी आक्षेप भाष्य है—'किं पुनः कारणं सहभूतावेतावन्योन्यस्यार्थमाहतुर्न पृथग्भूतौ ?' इस पर समाधान वार्तिक है—'अभिधानं पुनः स्वाभाविकम् ।' यहाँ लिङ्ग द्वारा योग्यभाव सम्बन्ध प्रदर्शित हुआ है ।

श्रीवृषभाचार्य ने कहा है—

सरूप सूत्र उक्तम्—'पुरुषव्यापारमन्तरेण स्वत एतेषामर्थप्रतिपादनयोग्यता' । किन्तु वचन भाष्य या वार्तिक में नहीं मिलता ।

'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) इस सूत्रगत 'अन्यत्रापि तद्विषयदर्शनात्' इस वार्तिक के भाष्य में लिङ्ग द्वारा योग्यभाव का वर्णन हुआ है । यथा—

'समान रक्तवर्ण होने पर भी शोण, कर्क (शुक्लाश्व), हेम आदि शब्द अश्व विषयक हैं; गवादिकों में इनकी अप्रवृत्ति देखी जाती है ।'

महाभाष्य का मूलपाठ इस प्रकार है—'अन्यत्रापि हि नियतविषयाः शब्दा दृश्यन्ते । तद्यथा—'समाने रक्ते वर्णे गौर्लोहित इति भवति, अश्वः शोण इति । समाने च काले वर्णे गौः कृष्ण इति भवति, अश्वो हेम इति । समाने च शुक्ले वर्णे गौः श्वेत इति भवति अश्वः कर्क इति ।'

अन्यत्र भी नियत विषय वाले शब्द देखे जाते है । जैसे रक्तवर्ण समान होने पर भी बैल लोहित होता है और अश्व शोण । काला वर्ण समान होने पर भी बैल के लिए कृष्ण शब्द का प्रयोग होता है और अश्व के लिए हेम । शुक्ल वर्ण के समान होने पर भी बैल श्वेत होता है और अश्व कर्क (सफेद घोड़ा–सितः कर्कः–अमर कोष) कहलाता है ।

श्रीवृषभाचार्य ने कहा है—'समाने वर्णे इति । चार्थद्वन्द्ववार्तिके नियतविषयता शब्दानामुपदर्शयते । तदुक्तम्—

'सा चेद् यन्नियतविषयता योग्यतावशादेवावतिष्ठते ।'

यह वचन उक्त सूत्र के वार्तिक या भाष्य में नहीं मिलता ।

इसके अतिरिक्त 'चार्थे द्वन्द्व' सूत्र के भाष्य में कहा गया है—'समानरूप से चेष्टा एवं अध्ययन करने वालों में से कुछ लोग अर्थ ज्ञान से युक्त होते हैं, दूसरे नहीं ।'

भाष्यकार आगे कहते हैं—इस समय कोई अर्थज्ञान से युक्त है, इसलिए सभी अर्थ ज्ञान से युक्त होंगे, ऐसा नहीं है और इस समय कोई अर्थज्ञान से युक्त नहीं है, अतः सभी अनर्थक होंगे, ऐसा भी नहीं है ।

श्रीवृषभ की पद्धति है—'यतोऽर्थाभिधानशक्तौ सत्यां उच्चारणे च नियतार्थप्रतिपादकत्वं योग्यतावशेन विविक्तम् । यदाह—'तत्र किमस्माभिः कर्तुं शक्यम् ।'

—भाष्य, सूत्र २।२।२९

इस प्रकार के विविध वचनों से स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ के बीच योग्यता सम्बन्ध नित्य है ।

वृत्तिः—'तथाजातीयकाः खल्वप्याचार्येण स्वरितञितः पठिताः, ये उभयवन्तः, येषां कर्त्रभिप्रायं चाकर्त्रभिप्रायं च क्रियाफलमस्ति ।

—महाभाष्य, सूत्र (१।३।७२)

सङ्ग्रहकारः पठति—

शब्दार्थयोरसम्भेदे व्यवहारे पृथक् क्रिया ।
यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत्समवस्थितम् ।।

स एव पुनराह—

सम्बन्धस्य न कर्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः ।
शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्धः स्यात्कृतः स्वयम् ।।

विवरण—यह वचन 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' (पा० १।३।७२) इस सूत्र के भाष्य में पठित है । स्वरितेत और ञित धातुओं से आत्मनेपद हो यदि क्रिया का फल कर्तृगामी हो—यह सूत्रार्थ है । किन्तु आचार्य पाणिनि ने ऐसी भी स्वरितञित धातुएँ पढ़ी हैं, जो उभयपदी हैं, जिनका क्रियाफल कर्तृगामी है भी और नहीं भी है ।

इससे भगवान् भर्तृहरि यह दिखलाते हैं कि आत्मनेपद के कारण ही धातुओं की शब्दाभिधान में शक्ति नहीं होती, अपि तु स्वाभाविक योग्यता सम्बन्ध के कारण ।

संग्रहकार भी शब्दार्थ के योग्यतात्मक सम्बन्ध के अभिप्राय से पढ़ते हैं—'शब्द और अर्थ के परमार्थतः असम्भिन्न अर्थात् अभिन्न होने पर भी व्यवहार में उनकी पृथक् क्रिया देखी जाती है । वस्तुतः शब्द और अर्थ का तत्त्व एक ही है, जो निश्चित है और वह है—शब्दब्रह्म ।'

श्री वृषभाचार्य ने असम्भेद का अर्थ 'अभिन्न' किया है और यह उचित भी है । चवालीसवीं कारिका की वृत्ति में एक श्लोक उद्धृत है—'शब्दस्तत्रार्थरूपात्मा सम्भेदमुपगच्छति ।' यहाँ सम्भेद का अर्थ श्रीवृषभ ने 'एकत्व' किया है । वस्तुतः सम्भेद का अर्थ सङ्गम या ऐक्य और विश्लेषण दोनों होता है । अतः प्रस्तुत संग्रह के श्लोक में पठित असम्भेद का अर्थ अभिन्न करना ही संगत है ।

संग्रहकार का पुनः कथन है—लोक और वेद में कोई व्यक्ति शब्दों का अर्थों के साथ सम्बन्ध का निर्माण नहीं करता । उनका सम्बन्ध अनादि और अकर्तृक है । शब्दों द्वारा शब्दों का अर्थ के साथ सम्बन्ध कोई व्यक्ति कर ही कैसे सकता है ।

पचीसवीं कारिका में कहा गया है कि साधुशब्द धर्म की अभिव्यक्ति और अर्थ की प्रतिपत्ति के अङ्ग या निमित्त हैं । शब्दों की प्रत्ययाङ्गता तो सरलता से समझ में आ जाती है, किन्तु धर्माङ्गता किस प्रकार है—इसका प्रस्तुत कारिका में प्रदर्शन करते हैं—

शिष्टेभ्य आगमात् सिद्धाः साधवो धर्मसाधनम् ।
अर्थप्रत्यायनाभेदे विपरीतास्त्वसाधवः ।। २७ ।।

शिष्टेभ्यः, आगमात् सिद्धाः साधवः, धर्मसाधनम् । अर्थप्रत्यायनाभेदे असाधवस्तु विपरीताः ।

शिष्ट अर्थात् शब्दतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले योगियों से उपदिष्ट तथा व्याकरण रूप आगम से निष्पन्न साधुशब्द धर्म की अभिव्यक्ति के साधन हैं। यद्यपि साधु और असाधु—दोनों प्रकार के शब्दों से अर्थज्ञान बराबर होता है, फिर भी असाधु शब्द विपरीत अर्थात् अधर्म के साधन हैं।

वृत्तिः—यथैवान्यानि धर्मसाधनानि शिष्टोपदेशपारम्पर्येणागमाविच्छेदेनागतानि अनभिशङ्कनीयानि व्यवस्थितानि । यथा च प्रतिषिद्धानि हिंसानृतस्तेयादीनि [1]अशिष्टाप्रतिषिद्धानि च हिक्कितश्वसितकण्डूयितादीनि व्यवस्थितानि, तथा साध्वसाधुव्यवस्थानमप्यनवच्छिन्नपारम्पर्यमनभिशङ्कनीयं यथागमादेव सिद्धमिति ।। २७ ।।

विवरण—जिस प्रकार भिन्न-भिन्न अष्टकादिक[2] धर्म के साधन, शिष्टों की उपदेश परम्परा द्वारा एवं आगम के अविच्छेद से उपलब्ध होकर व्यवस्थित हो गये है, और इनमें कोई शङ्का भी नहीं करता। और जैसे हिंसा, अनृत और चौर्य आदि कर्म प्रतिषिद्ध हैं तथा खाँसी, श्वास और खुजली आदि अशिष्टों के लिए प्रतिषिद्ध नहीं है—यह आगमिक व्यवस्था है; वैसे ही शब्दों की साधु और असाधु व्यवस्था भी अनवच्छिन्न परम्परा और आगम से सिद्ध हैं और यहाँ भी शङ्का के लिए कोई स्थान नहीं।

श्रीवृषभ ने वृत्ति का 'विशिष्टोपदेश' तथा 'अविशिष्टाप्रतिषिद्ध' ऐसा पाठ पद्धति में रखा है, किन्तु भाष्य को देखते हुए 'शिष्टोपदेश' तथा 'अशिष्टाप्रतिषिद्ध' यही पाठ उचित प्रतीत होता है। 'शिष्टेभ्य आगमात्' पर पद्धतिकार की व्याख्या है—

'शिष्टानां यदिदमविच्छिन्नपारम्पर्यं स्मरणं स आगमः ।'

'अथवा आगमादविच्छिन्ना ये साधवः सिद्धाः ते शिष्टेभ्यः सकाशात् धर्मसाधनमिति सिद्धाः । न तु शिष्टग्रहणेनागमो विशिष्यते । यतोऽनादिरगृह्यमाणकारण आचारोपदेश आगम इत्यागमलक्षणम् । तेनागमाद् ये साधवः सिद्धाः ते शिष्टस्मरणाद्धर्मसाधनम् । यत एव स्मरन्ति—'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः' इति ।। २७ ।।

पूर्वोक्त वार्ता शब्दों के अनादि होने पर ही घटित हो सकती है, अतः अग्रिम कारिका द्वारा उनकी अनादिता का निरूपण करते हैं—

---

१. यच्च पुनरशिष्टाप्रतिषिद्धम्, नैव तद्दोषाय भवति, नाभ्युदयाय । तद्यथा—हिक्कितहसितकण्डूयितानि नैव दोषाय भवन्ति नाभ्युदयाय' ।

—महाभाष्य, पस्पशाह्निक ।

२. अश्नन्ति पितरोऽस्यामिति अष्टका (अश्+तकन्) श्राद्धविशेष । आग्रहायण्या ऊर्ध्वं तिसृषु कृष्णाष्टमीषु श्राद्धनिनित्यानि । —गोभिलः ।

नित्यत्वे कृतकत्वे वा तेषामादिर्न विद्यते ।
प्राणिनामिव सा चैषा व्यवस्थानित्यतोच्यते ॥ २८ ॥

नित्यत्वे कृतकत्वे वा तेषां आदिः न विद्यते । प्राणिनां इव सा च एषा व्यवस्थानित्यता उच्यते ।

शब्द चाहे नित्य हों अथवा कृतक या कार्य रूप माने जायें, फिर भी उनका आदि नहीं है । क्योंकि शब्दों की व्यवहार-परम्परा अनादि है । जैसे प्राणियों के अनित्य होने पर भी उनका शरीरग्रहण अनादि है, अतः उनकी प्रवाहनित्यता मानी जाती है, वैसे ही शब्दों की भी कूटस्थनित्यता से भिन्न व्यवस्थानित्यता संज्ञक व्यवहार-नित्यता कही जाती है ।

वृत्तिः—यदि नित्यानां शब्दानामभिव्यक्तिर्जन्मादिविक्रियापत्तिर्वा सताम्, असतां वा सोपाख्यनिरुपाख्यत्वम्, सर्वथैषामप्रवृत्तशब्दव्यवहारा प्रथमा कोटिर्न विद्यते, न परा ।

ये चेश्वरकालपुरुषविद्याक्षेत्रज्ञान् विभक्ततत्त्वानाहुः, ये चानीश्वरकमकालमपुरुषमविद्यमक्षेत्रज्ञमविद्यामात्रमेव मन्यन्ते । ये चैकत्वानतिक्रमेण सम्मूर्च्छित(समुच्चित)विरुद्धापरिणामशक्तिरूपनिर्भासपरिग्रहमपूर्वापरं विश्वमाचक्षते तेषां सर्वेषां नास्ति कश्चिदप्रवृत्तप्राणिव्यवहारः प्रथमो नाम कालाध्वा । सा चेयमनादिरविच्छिन्ना प्रवृत्तिनित्यता । तथा ह्युक्तम्—

'तदपि नित्यं यस्मिँस्तत्त्वं न विहन्यते' । इति ॥ २८ ॥

विवरण—भगवान् भर्तृहरि शब्दनित्यतावादी दो मतों का पहले उल्लेख करते हैं—

१. शब्द नित्य है और पहले से विद्यमान रहते हैं; कार्यकाल में उनकी अभिव्यक्ति मात्र होती है ।

२. पहले से विद्यमान नित्य शब्दों की जन्म, सत्ता, विपरिणाम आदि छः भावविकारों के रूप में विक्रियापत्ति होती है ।

पहला मत पञ्चाधिकरण नामक सांख्याचार्य का है और दूसरा मत आचार्य वार्षगण्य का, जो प्रसिद्ध सांख्ययोगी हैं । श्रीवृषभ ने इन मतों का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है—

१. [1]प्रधान या प्रकृति में सर्वथा निष्पन्न रूप पदार्थ व्यवस्थित रहते हैं, केवल

---

१. 'प्रधीयन्तेऽत्र विकारा इति प्रधानम् ।' —युक्तिदीपिका, उपोद्घात

'साङ्ख्या मतभेदेन तत्त्वमाहुः । अभिव्यक्तिः इति । परिनिष्पन्नरूपा भावाः प्रधाने व्यवस्थिताः सर्वेऽभिव्यज्यन्ते केवलम्, यथा घटादयः प्रदीपेन, यथा च प्रसवे कार्यंव्यवस्थिता एवाकृष्टा उपलभ्यन्ते, प्रधानं तु केवलं नदीस्रोतस आनुगुण्येन व्यवतिष्ठते इति पञ्चाधिकरणाः ।

उनकी अभिव्यक्ति होती है; जैसे दीपक द्वारा घटादिक की अभिव्यक्ति। और जैसे प्रसव दशा में कार्य रूप में व्यवस्थित प्राणी आकृष्ट होकर उपलब्ध होते हैं, प्रकृति तो केवल नदीस्रोत के अनुरूप विद्यमान रहती है—यह पञ्चाधिकरण मानते हैं।

२. 'प्रधान' में भाव या पदार्थ शक्तिरूप[1] से विद्यमान रहते हैं, तत्पश्चात् शक्ति-रूपता को छोड़कर प्रधान से अव्यतिरिक्त या अपृथक् होकर महत्-तत्त्वाद्यात्मक व्यक्तिरूपता को प्राप्त करते हैं—यह वार्षगण्य का मत है।

अथवा जो लोग शब्दों को कार्यरूप तथा उत्पत्ति से पूर्व अविद्यमान मानते हैं, उनके मत में भी दो पक्ष हैं। यथा—प्रथम सोपाख्य शब्द और दूसरे निरुपाख्य।

१. सोपाख्य—स्थान-प्रयत्नरूप कारणों से उपलब्ध स्वरूप शब्द सोपाख्य है।

२. निरुपाख्य—शशविषाणादि शब्द।

श्रीवृषभ ने कहा है—'प्रागसत्योऽनुपाख्यः। कारणेभ्य उपलब्धात्मा सोपाख्यः। पुनः स्वतोऽन्यतो वा लब्धविनाशो निरुपाख्यः।

उत्पत्ति से पूर्व असत् शब्द को अनुपाख्य कहते हैं। कारणों से उपलब्धात्मा शब्द सोपाख्य है। पुनः अपने से अथवा अन्य से विनाश को प्राप्त शब्द निरुपाख्य है।

यहाँ निरुपाख्य का लक्षण असङ्गत है। इसका अनुसरण करने वाले अन्य टीका-कारों ने यही अर्थ किया है, अतः वह भी उपेक्षणीय है; क्योंकि विनष्ट हो जाने पर वह शब्द रहा ही कहाँ? जब कि वृत्तिकार असत् शब्द की उत्पत्ति-अवस्था में दो भेद बतलाते हैं।

स्वयं वृत्तिकार 'आविर्भूतप्रकाशानां०' इस कारिका की वृत्ति में कहते हैं—

'पक्षान्तरे च विशिष्टव्यक्तिरूपतिरोभावाद् व्यवहारं प्रति तदविधेयं वस्तुनिरु-पाख्यैरेव तुल्यम्।'

अर्थात् सत्कार्यवादपक्ष में—विशिष्ट व्यक्तिरूप के तिरोहित हो जाने पर वह वस्तु अतीत और अनागत में रहते हुए भी वैसे ही अव्यवहार्य होती है, जैसे निरुपाख्य वस्तु—शशविषाणादि।

स्वयं कारिकाकार ने अनुपाख्य, सोपाख्य और निरुपाख्य शब्द की व्याख्या की है। यथा—

'नाभावो जायते भावो नैति भावोऽनुपाख्यताम्' ॥ ६१ ॥

—सम्बन्धसमु०

---

१. 'एवं शक्तिरप्युद्भूतानां कार्याणां सूक्ष्मावस्था।'

—वाचस्पतिमिश्र, योगसू० २।१५

'शक्त्यात्मना व्यवस्थिताः प्रधाने भावा विहाय ताद्रूप्यं प्रधानादव्यतिरिक्ता महदा-द्यात्मना व्यक्तिरूपतां प्रतिपद्यन्त इति वार्षगण्यः।'

'अभावस्यानुपाख्यत्वात् कारणं न प्रसाधकम् ।
सोपाख्यस्य तु भावस्य कारणं किं करिष्यति ।।' ६२ ।।

× × ×

'चतस्रो हि यथावस्था निरुपाख्ये प्रकल्पिताः ।
एवं द्वैविध्यमप्येतद् भावाभावव्यपाश्रयम् ।।' ६६ ।। —वही

प्रागभाव कभी भावरूपता को नहीं प्राप्त होता और न भाव कभी अनुपाख्यता अथवा प्रध्वंसाभावरूपता को। एक ही अद्वय आत्मतत्त्व में अनन्यरूप से व्यवहार-दशा में भाव और अभाव कल्पित हैं।

१. भाव—'प्रकाशरूपस्य हि परस्य तत्त्वस्य सर्वथाऽविभिन्नस्वभावस्य महासत्तात्मनोऽभावप्रतियोगिनोऽविद्यावशात् सांवृतलोकयात्रानिर्वर्तनसमर्थस्य बहिरिदन्तया प्रतिभाने वर्तमानकालोपाधितयार्ऽर्थक्रियाकारिणो भावरूपता।'

२. 'अतीतानागतकालोपाधितया चान्तरेव संस्काररूपतयानुवर्तनाद् बाह्येन्द्रियविषयतानुपगमात् सर्वप्रमातृसाधारणार्थक्रियाऽकरणादभावरूपतया व्यवहारः।'

—हेलाराज

१. परतत्त्व प्रकाशरूप और सर्वथा अभिन्न स्वभाव है। अभावप्रतियोगी वही महासत्ता है, जो अविद्याशक्ति से व्यावहारिक लोकयात्रा के चलाने में समर्थ है तथा बाहर 'यह अमुक पदार्थ है' इस रूप में भासित होती है। वर्तमान काल की उपाधि से युक्त अर्थक्रिया के सम्पादन करने वाले उसके घट-पटादि रूप को ही भाव कहते हैं।

२. अभाव—अतीत और अनागत काल की उपाधि से युक्त, अन्दर ही संस्कार रूप में स्थित, बाहर इन्द्रियों के विषय रूप में अज्ञात, सम्पूर्ण प्रमाताओं की अर्थक्रिया की सिद्धि न करने से वही महासत्ता अभावरूप में व्यवहृत होती है।

अभाव को अनुपाख्य कहते हैं और भाव को सोपाख्य या जात्यादि युक्त। निरुपाख्य या नीरूप अभाव के उपाधिवशात् प्राक्, प्रध्वंस, अत्यन्त और इतरेतराभावस्वरूप ये चार[1] भेद जैसे कल्पित हैं, वैसे ही भाव और अभावरूप द्वैविध्य भी आत्मा में कल्पित हैं।

१. 'बहिरिन्द्रियगोचरार्थक्रियोपाधिर्ब्रह्मभागः कल्पितो भावः'।
२. 'बहिरर्थक्रियाशून्यस्त्वभाव इति सङ्केतः'। —हेलाराज

---

१. कुछ लोग छह अभाव मानते हैं—

५. अपेक्षाभाव—'अपेक्षाभावता तस्य देशोपाधिनिबन्धना।'

६. सामर्थ्याभाव—'सामर्थ्यं पूर्वसिद्धं चेत्प्रध्वंसे तदभावधीः।
नो चेत्तर्हि विशेषोऽस्य दुर्लभः प्रागभावतः ।।'

—न्यायमञ्जरी, प्रमाण-प्रकरण पृष्ठ ५९, चौखम्बा संस्करण

ऊपर निरुपाख्य की ही चार अवस्थाएँ बतलाई गई हैं। वृत्तिसमुद्देश[1] कारिका २६१ और २६३ में सोपाख्य को मुख्य सत्ता और निरुपाख्य को औपचारिक सत्ता कहा गया है।

इस प्रकार शब्द का जो भी पक्ष स्वीकार किया जाय, ऐसी कोई कोटि या आदिम मर्यादा नहीं है, जिसमें कहा जा सके कि इससे पूर्व शब्दव्यवहार प्रचलित नहीं था और यहीं से शब्द-व्यवहार प्रारम्भ हुआ। और न यही कहा जा सकता है कि अमुक इसकी चरम कोटि है, जब कि शब्द-व्यवहार नहीं रहेगा।

जो लोग पृथक्-पृथक् ईश्वर, काल, पुरुष, विद्या और क्षेत्रज्ञ को जगत् का कारण मानते हैं और जो लोग विश्व को ईश्वर रहित, कालहीन पुरुषशून्य, विद्या-विवर्जित, क्षेत्रज्ञाभाव युक्त एवं अविद्यामात्र-प्रसूत मानते हैं; अथवा जो लोग कहते हैं कि संसार शब्दब्रह्मात्मक एकता का अतिक्रमण किये विना ही समुच्चित, विरुद्ध, अपरिमित शक्तियों के रूपनिर्भास या पदार्थों को ग्रहण किये हुए आदि और अन्त से रहित है, उन सभी के मत में कोई ऐसा प्राथमिक कालखण्ड नहीं है, जिसमें प्राणियों का अस्तित्व न रहा हो। वैसे ही यह लोक कभी भी शब्द-व्यवहार से शून्य नहीं था।

(१) अष्टगुणैश्वर्ययोग से जो समग्र भूत-भौतिक जगत् का प्रभु है और प्रवृत्ति तथा निवृत्ति जिसके अधीन है वह ईश्वर है, ऐसा ईश्वरवादी लोग मानते हैं।

(२) कालवादी लोग काल को ही जगत् का कारण मानते हैं। 'कालः स्वभावो—' (श्वेताश्वतर उपनिषद् अध्याय १, श्लोक २) ये लोग काल को उपादान कारण नहीं मानते—'तथा कालवादिभिः कालो नोपादानकारणंत्वेन कल्पितः।'

—श्रीवृषभ

(३) श्रीवृषभ कहते हैं—कुछ लोग पृथिवी आदि संघात को पुरुष कहते हैं। अन्य लोग परमात्मा ही पुरुष है और वही कारण है, ऐसा मानते हैं।

यहाँ पृथिव्यादि संघात पुरुष से विराट्[2] (ब्रह्मा) पुरुष को ही समझना चाहिए, जिसे जगत् का कारण कहा जाता है, न कि कर्मपुरुष,[3] राशिपुरुष या संयोग-

---

१. 'यथा सत्ताभिधानाय सन्नर्थः परिकल्प्यते।
तथाऽसत्ताभिधानाय निरुपाख्यो विकल्प्यते॥
अभाव इति भावस्य प्रतिषेधे विवक्षिते।
सोपाख्यत्वमनाश्रित्य प्रतिषेधो न कल्पते॥'

—वाक्यपदीय, तृ० काण्ड

२. 'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते।
आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत॥' —मनुस्मृति

३. 'तथा चतुर्विंशतिकभेदभिन्नश्च कर्मपुरुष एव शरीरी वाच्यः'।

—चक्रपाणिदत्त

पुरुषात्मक शरीरी जीव, जिसे रथ्यापुरुष भी कहा जाता है। क्योंकि इनमें जगत् की कारणता नहीं है।

(४) कुछ लोग विद्या या ज्ञान को ही जगत् का कारण मानते हैं। 'अविभागाद्विवृत्तानां'—इस कारिका की वृत्ति में भगवान् भर्तृहरि ने कहा है—'केचित् प्रतिभात्मनि विवर्तन्ते'—'केचित्तु विद्यायां विवर्तन्ते।' प्रलयदशा का निरूपण करते हुए निरुक्त के चतुर्दश अध्याय में कहा गया है—'भूतग्रामाः पृथिवीमपि यन्ति, पृथिव्यपः, आपो ज्योतिषं, ज्योतिर्वायुं, वायुराकाशम्, आकाशो मनो, मनो विद्यां, विद्या महान्तमात्मानं महानात्मा प्रतिभां, प्रतिभा प्रकृतिं, सा स्वपिति युगसहस्रं रात्रिः—'।

(५) क्षेत्रज्ञ—सांख्यीय पुरुष। उसके औत्सुक्य से ही प्रधान, महत् तत्त्व आदि के रूप में परिणत होती है। अथवा पुरुष शब्द से पृथिव्यादि संघात को मानने पर क्षेत्रज्ञ शब्द से परमात्मा का ग्रहण होता है। —श्रीवृषभ

श्रीवृषभाचार्य ने 'विभक्ततत्त्वान्' पर कहा है—'एते हि तेभ्यः कार्येभ्यो व्यतिरिक्ता इति'। अर्थात् ये ईश्वर आदि जागतिक पदार्थों से भिन्न हैं, अन्वित नहीं; अपितु संसार से उत्तीर्ण हैं। वस्तुतः पृथक्-पृथक् मतवादीगण इन्हें अपना-अपना अलग-अलग तत्त्व मानते हैं—ऐसा अर्थ अधिक सङ्गत है।

'अविद्यामात्रम्' पर श्रीवृषभ कहते हैं—'ईश्वरादिव्यापारानपेक्षमविद्यामात्रमिति ब्रह्मवादिनः।' यह उचित प्रतीत होता है। किन्तु जब वे कहते हैं—'तदेव ब्रह्मैकत्वमजहदविद्यात्मनिर्मितं नानारूपम्, पृथिव्यादीना तदव्यतिरेकात्'। तो यह व्याख्या ठीक नहीं जान पड़ती। क्योंकि यहाँ 'ये च' कहकर वृत्तिकार प्रस्तुत मत को पूर्वोक्त मत से भिन्न दिखलाते हैं।

'ये चैकत्वानतिक्रमेण' से शब्दब्रह्मवादियों का सिद्धान्त प्रतीत होता है। 'एकमेव यदाम्नातं भिन्नशक्तिव्यपाश्रयात्।' (ब्रह्मकाण्ड २) की वृत्ति में कहा गया है—'एकत्वस्याविरोधेन शब्दतत्त्वे ब्रह्मणि समुच्चिता विरोधिन्य आत्मभूताः शक्तयः।' 'एकत्वानतिक्रमेण' और 'एकत्वस्याविरोधेन' ये वचन समानार्थक हैं। वहाँ 'समुच्चिता' पाठ है और प्रकृत प्रसङ्ग में सम्मूर्च्छित। वैसे अधिकांश हस्तलेखों में 'समुच्चित' पाठ ही उपलब्ध है। अर्थ है—अभिवृद्ध अथवा विस्तीर्ण। 'अपरिणामशक्ति' यह अपपाठ प्रतीत होता है। शब्दब्रह्म के लिए कहा गया है—'सर्वमूर्तीनामपरिमाणा प्रकृतिः'(वृत्ति)। अतः यहाँ 'अपरिमाणा' पाठ ही सुसङ्गत है।

अथवा 'अविद्यामात्रम्' इस वाक्य से सांवृतिक सत्यतावादी माध्यमिकों का सिद्धान्त कहा गया है—

'समन्ताद्वरणं संवृतिः। अज्ञानं हि समन्तात् सर्वपदार्थतत्त्वावच्छादनात् संवृतिरित्युच्यते।' —प्रसन्नपदा

चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः'।—चरकसंहिता, शारीरस्थान, अ० १

'संयोगपुरुषस्येष्टो विशेषो वेदनाकृतः'। —वही

तथा च तत्सूत्रम्—'तानीमानि भिक्षवः संज्ञामात्रं व्यवहारमात्रं कल्पनामात्रं संवृतिमात्रम् ।'
—बौद्धमत, षड्दर्शनसमुच्चय

और 'ये चैकत्वानतिक्रमेण' इस वाक्य से त्रय्यन्तवेत्ताओं और शब्दब्रह्मवादियों, इन दोनों का ग्रहण किया गया है। आचार्य की यह शैली है कि जब उन्हें एक अखण्ड तत्त्व के अन्तर्गत अनेकता के अवभासन की सूचना देनी होती है तो वे 'एकत्वानतिक्रमेण' ऐसा कहते हैं।

द्वितीय काण्ड की बाईसवीं कारिका के उत्तरार्द्ध में पठित 'एकस्यैव तु सा शक्ति-र्यदेवमवभासते' की वृत्ति में वे कहते हैं—

'क्रमप्रत्यवभासत्वमेकत्वानतिक्रमेणाक्रमे बुद्धिलक्षणे क्षणिकवादिनः सर्वस्य विरुद्ध-रूपमिवाविरुद्धं भवति ।'

'त्रय्यन्तविदां तु—'विश्वात्मन्येकत्वानतिक्रमेण क्रमप्रत्यवभासत्वं भवति। तथा शब्देऽपि स्यादिति नास्ति विरोधः ।'

इस प्रकार कूटस्थनित्यता के अतिरिक्त अनादि अविच्छिन्न व्यवहार या प्रवृत्ति-नित्यता मानी जाती है। जैसा कि महाभाष्य में कहा है—

'उसे भी नित्य मानना चाहिए, जिसमें तत्त्व का हनन न होता हो ।'
—पश्पशाह्निक

यह वही है—इस प्रकार का प्रत्यय जिसमें निरस्त न होता हो, वह भी नित्य ही है। शब्दों में देश और कालभेद से उच्चारण किये जाने पर भी 'यह वही है' ऐसा ज्ञान होता है। सर्वथा व्यवहार के अविच्छेद से और तथाविध अध्यवसाय (निश्चय) के अनुवर्तन से व्यवहारनित्यता सिद्ध है। कूटस्थनित्यता के निराकरण के अवसर पर महाभाष्य में इस प्रकार प्रारम्भ किया गया है—

'न खलु तदेव नित्यं यत्कूटस्थमविचालि' उसी को केवल नित्य नहीं समझना चाहिए, जो कूटस्थ और अविचाली है आदि।

लोक-व्यवहार से ही साधुत्व-विषयक एवं असाधुत्व-विषयक व्यवस्था का ज्ञान हो जायेगा, पुनः शास्त्र के निबन्धन का क्या प्रयोजन है ?

नानर्थिकामिमां कश्चिद् व्यवस्थां कर्तुमर्हति ।
तस्मान्निबध्यते शिष्टैः साधुत्वविषया स्मृतिः ।। २९ ।।

कश्चित् अनर्थिकाम् इमां व्यवस्थां कर्तुं न अर्हति। तस्मात् शिष्टैः साधुत्वविषया स्मृतिः निबध्यते ।

कोई भी व्यक्ति, चाहे वह शिष्ट हो अथवा अशिष्ट, ऐसी व्यवस्था का अलिखित रूप में स्वतः विधान नहीं कर सकता। ऐसा समझकर शिष्टों द्वारा साधुत्व-विषयक स्मृति अर्थात् परम्परागत आगम के स्मरण रूप व्याकरणशास्त्र का निबन्धन (लेखन) किया जाता है।

वृत्तिः—को हि शिष्टः सम्भिन्नबुद्धिरपि लोकं प्रत्यभिनिविष्टो (अनभिनिविष्टो) दुर्ज्ञानं दुरध्येयं च स्वरसंस्कारादिनियमं लौकिकवैदिकानां शब्दानां प्रयोजनं व्यवस्थापयितुमुत्सहेत (उत्सहते) । न चानर्थको नियमः । कृतोऽपि शिष्टैरपरैर्न परिगृह्यते । प्रमाणं वा विदुषां लोके न स्यादिति । तस्मादनादिर्गुरुपूर्वक्रमागता शिष्टानुमानहेतुरव्यभिचारा लक्षणप्रपञ्चाभ्यां पर्यायैः शब्दवती चाशब्दा च स्मृतिर्निबध्यते ॥ २९ ॥

विवरण—प्रस्तुत कारिका में आया हुआ 'अनर्थिकाम्' यह पद सर्वप्रथम श्रीवृषभाचार्य के लिए भ्रामक बना; तदनन्तर उनके अनुयायियों के लिए भी । 'अनर्थिकाम्' के दो अर्थ सम्भव हैं—(१) अबद्धाम् = अलिखिताम् अथवा असम्बद्धाम् । 'अबद्धं स्यादनर्थकम्' (अमरकोष १।६।२०) ।

कौन ऐसा शिष्ट व्यक्ति है, जो लोक और वेद इन दोनों विषयों में समान ज्ञान रखता हुआ भी लोक के प्रति अनुरक्त होकर दुर्ज्ञान एवं दुष्पाठ्य लौकिक और वैदिक शब्दों के प्रयोजन रूप उदात्तादि स्वरों एवं प्रकृति-प्रत्ययादि संस्कारों के नियमों की नये शिरे से 'मैं ही इसका प्रथम निर्माण कर रहा हूँ' इस प्रकार व्यवस्था करने के लिए उत्साहित होगा ? कोई नियम अनर्थक या असम्बद्ध नहीं होता । यदि कोई व्यक्ति असम्बद्ध पहले से अप्रचलित किसी नियम का निर्माण करता भी है तो उसे दूसरे शिष्ट स्वीकार नहीं भी कर सकते । अथवा लोक में विद्वानों के बीच उसे प्रमाण मानना भी सम्भव नहीं है ? इसलिए अनादि, गुरुपरम्परा से प्राप्त, शिष्टों के अनुमान का हेतु और सूत्रों के अन्यथा प्रणयन करने पर समान साधु शब्दों का जिसमें निरूपण किया गया है, अतः अव्यभिचरित पुरातन लिखित और अलिखित स्मृति का ही अभिनव सूत्रों एवं भाष्यों द्वारा क्रमशः निबन्धन किया जाता है ।

श्रीवृषभ ने प्रस्तुत कारिका की अवतरणिका इस प्रकार दी है—

'शिष्टेभ्य आगमात्' इसके पूर्वोक्त प्रथम व्याख्यान में कहा है—यद्यपि शिष्टागम के अविच्छेद से साधुशब्द व्यवस्थित हैं, किन्तु वे धर्म के साधन कैसे हैं ? इस पर वे कहते हैं—'नानर्थिकाम् इति' । यह जो शिष्टों की अविच्छिन्न साधु व्यवस्था है, वह अनर्थिका कैसे हो सकती है ? शिष्टों का प्रामाण्य स्वीकृत है । वे निष्प्रयोजन साधु व्यवस्था नहीं करते । साधु शब्द स्वार्थबोध कराने के लिए व्यवस्थापित किये गये हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह कार्य तो अपशब्दों से भी होता है । अतः वे साधुशब्द धर्म के साधन हैं, इसलिए उनकी व्यवस्था की जाती है ।

'शिष्टेभ्य आगमात्' की दूसरी व्याख्या में स्पष्ट है कि न केवल शिष्टों के स्मरण से साधु शब्दों की धर्मसाधनता है, अपितु धर्म-व्यवस्थापन से भी । इसलिए कहते हैं—'नानर्थिकामिमां कश्चित् इति' । निबध्यते इति । अविच्छिन्न रूप से व्याकरण-शास्त्र का उपनिबन्धन पहले से विद्यमान है । और यदि व्याकरण-स्मृति कालवश

अन्तर्हित भी हो गई है तो उसके संस्कार से युक्त अन्तःकरण वाले लोग पुनः स्मरण करके उसका निबन्धन करते हैं।

सम्भिन्नबुद्धि अर्थात् नास्तिक। क्योंकि वह पुण्य और पाप में तुल्य बुद्धि होने के कारण मिश्रित बुद्धि होता है। 'अभिनिविष्टः' इस पाठ को स्वीकार करके वे कहते हैं—'यह लोक खेद और आयास से युक्त हो जाय'—ऐसी व्युत्थितबुद्धि वाला व्यक्ति अभिनिविष्ट कहलाता है। श्रीवृषभ पुनः कहते हैं—'ये तु अनभिनिविष्ट इति पठन्ति तेषां सुगममेव'—जो लोग 'अनभिनिविष्ट' ऐसा पाठ मानते हैं, उनके मत में इसका अर्थ सुगम है। अव्यभिचारा—लक्षणस्यान्यथा प्रणयनेऽपि सारभूतप्रतिपाद्यसाधुशब्दरूपाव्यभिचारात्। पर्यायैः इति। भेदैः। शब्दवती च—साक्षात् शब्देनोपात्ता यथा 'अग्नेर्ढक्' इति। अशब्दा—समाचारनिबन्धनादेव स्मरणात्। यथा—'इष्टमेवैतद् गोनर्दीयस्य' ॥ २९ ॥

आगम से ही वस्तुस्वभाव या धर्म, पुरुषधर्म या स्वभाव, आचार ज्ञान और शुभाशुभ अदृष्ट रूप धर्म का ज्ञान होता है, तर्क या अनुमान से नहीं; इसका प्रस्तुत कारिका में निरूपण करते हुए आगमप्रामाण्य का सर्वोत्कर्ष सूचित करते हैं—

न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।
ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम् ॥ ३० ॥

आगमाद् ऋते च धर्मः तर्केण न व्यवतिष्ठते; यद् ऋषीणाम् अपि ज्ञानं, तद् अपि आगमपूर्वकम्।

आगम के बिना केवल तर्क[1] या अनुमान से धर्म का निर्णय नहीं किया जा सकता; ऋषियों का भी सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों एवं तत्तत् शक्तियों का जो ज्ञान है, वह आगम को पढ़कर उसमें विहित अनुष्ठान के अभ्यास से ही उत्पन्न होता है।

वृत्तिः—सर्वेऽपि (हि) वादिनो दूरमपि गत्वा स्वभावं न व्यतिवर्तन्ते। अदृष्टार्थानां च कर्मणां फलनियमे स्वभावसंविदागमप्रतिबद्धा। को ह्यनवस्थितसाधर्म्यवैधर्म्येषु नित्यमलब्धनिश्चयेषु पुरुषतर्केषु विश्वासः। येष्वपि तर्कातीतः पृथग्विद्याचरणपरिग्रहेषु कश्चिदनुत्तरः पुरुषधर्मः श्रूयते, तेष्वपि तदर्थज्ञानमार्षमृषीणामागमिकेनैव धर्मेण संस्कृतात्मनामाविर्भवतीत्याख्यायते। स्वाभाविके हि तस्मिन् प्रयत्नः फलाद् व्यतिरिच्येत, स्वभावतश्च प्रत्यवायोऽपि तथाभूतः स प्रसज्येत ॥ ३० ॥

---

१. आचार्य अभिनवगुप्त ने नाटचशास्त्र की 'अभिनव भारती' (१।१) में इसे उद्धृत करते हुए स्पष्ट किया है—'न चागमादृते धर्मः अनुमानगम्यः'।

विवरण—श्रीवृषभ द्वारा स्वीकृत 'सर्वे हि' पाठ है। समस्त युक्तिवादी लोग बहुत दूर जाकर भी तर्क के प्रति अत्यन्त आग्रही होते-हुए भी वस्तुस्वभाव या धर्म का अतिवर्तन नहीं करते। उदाहरणस्वरूप जैसे त्रैगुण्यवादी सांख्याचार्य त्रिगुणात्मक प्रधान रूप कारण के अभिन्न होने पर अनेक प्रकार के कार्य कैसे उत्पन्न होते हैं ?—इस प्रश्न पर तर्क देते हैं कि गुणों के अङ्गाङ्गिभाव के कारण कार्य-भेद होता है। गुणों का अङ्गाङ्गिभाव ही क्यों घटित होता है ? इस पर उनका तर्क है—पुरुष के भोगं के निमित्त। अचेतन प्रधान किस प्रकार पुरुष के उपभोग के लिए प्रवृत्त होता है ? इस प्रश्न पर अन्ततः युक्ति को छोड़कर वे मान लेते हैं कि यह प्रकृति का स्वभाव या धर्म ही है, जिससे वह परिणाम को प्राप्त होती है।

इसी प्रकार परमाणुकारणवादी भी अन्ततः स्वभाव को ही स्वीकार करता है। जैसे—

प्रश्न—भौतिकता के तुल्य होने पर पृथिवी क्यों घनस्वभाव है और जल द्रवधर्मा ?

उत्तर—परमाणु-बाहुल्य के कारण।

प्रश्न—ये परमाणु ही क्यों कुछ घनरूप हैं और कुछ द्रवरूप ?

उत्तर—यह उनका स्वभाव या धर्म है।

बौद्ध से भी यदि पूछा जाय कि असत् होने से निरुपाख्य अनुत्पन्न, प्रतिबन्ध रहित शालिधान का अङ्कुर यव बीज के बोने से क्यों नहीं दिखलायी देता ? तो वह—ऐसा ही उसका स्वभाव है—इसके अतिरिक्त और क्या उत्तर देगा ?

इस प्रकार दृष्ट विषय में ही युक्ति काम नहीं देती, अदृष्ट विषय तो बहुत दूर है। अदृष्ट फलों वाले कर्मों का, इस कर्म का यही फल होगा—ऐसे फलों के नियम में, यह कर्म अमुक शक्ति से युक्त है—इस प्रकार का स्वभाव-बोध आगम से ही होता है।

पदार्थों के अपरिमित और अनेक प्रकार का होने से परस्पर उनके साधर्म्य (समानधर्मता) और वैधर्म्य (विपरीतधर्मता) निरूपण में अनवस्था—प्रमाण रहित, अनन्त प्रवाहमूलक प्रसङ्ग की आपत्ति अथवा उपपाद्य और उपपादक की अविश्रान्ति रूप दोष अपरिहार्य है। अतः किसी निर्णय पर न पहुँचने वाले मानवीय तर्कों में कौन विश्वास कर सकता है ? इसके अतिरिक्त पृथक्-पृथक् विद्या एवं तत्सम्बन्धी आचरण को स्वीकार करने वाले जिन कपिल आदि ऋषियों में तर्क से परे कोई लोकोत्तर, सर्वपुरुषातिशायी पुरुषधर्म—अतीन्द्रिय पदार्थदर्शिता थी, ऐसा सुना जाता है, उनमें विद्यमान वह आर्षज्ञान, आगमोपदिष्ट आचार के अनुष्ठान से ही अभिव्यक्त धर्म द्वारा सुसंस्कृतात्मा ऋषियों में आविर्भूत होता है—ऐसी विख्याति है। यदि ईश्वर के समान धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य शक्ति—इन ऋषियों में भी स्वाभाविक या अहेतुक मानी जाय तो अभ्यासादि यत्न से ज्ञानात्मक फल व्यतिरिक्त

होगा। अर्थात् यत्न के बिना ही अधिक ज्ञान के होने से प्रयत्न निरर्थक होगा। और ऐसी स्थिति में अधिक से अधिक प्रत्यवाय (दुरदृष्ट) भी स्वभावतः या निर्हेतुक होने लगेगा ॥ ३० ॥

आगम भिन्न-भिन्न हैं; किससे धर्म का ज्ञान प्राप्त किया जाय ? इस पर कहते हैं—

धर्मस्य चाव्यवच्छिन्नाः पन्थानो ये व्यवस्थिताः ।
न ताँल्लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित् तर्केण बाधते ॥ ३० ॥

ये धर्मस्य पन्थानः व्यवस्थिताः, अव्यवच्छिन्ना च, तान् लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित् तर्केण न बाधते ।

जो धर्म की प्रतिपत्ति के मार्ग या उपाय, श्रुति-स्मृत्यादिक, व्यवस्थित—लोक-प्रसिद्ध तथा विच्छेद रहित शिष्ट-परम्परा के क्रम से प्राप्त हैं, उन आगमों को लोक-प्रसिद्ध—सर्वजनस्वीकृत होने के कारण तर्क से कौन बाधित कर सकता है।

वृत्तिः—बहुविकल्पेष्वपि शिष्टानां चरणेषु सन्ति साधारणाः प्रसिद्धाः पुरुषहितप्रतिपत्तिमार्गाः, येष्वन्यथा प्रवृत्तिर्लोकविरसा। न च ते तर्केण कदाचिदपि व्युदस्तपूर्वाः। काममागमोद्देशनिश्रयेणैव केचिद्विनिन्दितमपि लोकसमाचारविरुद्धाचरणं प्रतिपद्यन्ते ।

विवरण—'श्रुतेर्वाऽपौरुषेयतया स्मृतिनिवन्धनाविच्छेदाद् अविच्छिन्नश्रुतिस्मृत्याख्य आगमः ।'
—श्रीवृषभ

श्रुति के अपौरुषेय होने से तदनुसारी स्मृतियों—दर्शनों के परम्परागत होने के कारण अविच्छिन्न श्रुति और स्मृति को आगम कहते हैं। श्रुति-स्मृति से भिन्न अन्य दर्शन पौरुषेय होने के कारण विच्छिन्न हैं।

प्रधान परमाणु आदि अनेक विकल्प या भेदों वाले शिष्टों के सम्प्रदायों—सिद्धान्तों में लोगों के हित का प्रतिपादन करने वाले मार्ग—उपाय सर्वसाधारण में प्रसिद्ध हैं, जिनसे भिन्न आचरण लोकगर्हित माना जाता है। श्रुति और स्मृतियों में निबद्ध गम्यागम्य, भक्ष्याभक्ष्य, वाच्यावाच्य और कार्याकार्यादि मार्ग समस्त ज्ञानवृद्धों द्वारा स्वीकृत हैं। वैशेषिक लोग 'तद्वचनात्' इस सूत्र से आगमप्रामाण्य को स्वीकार करते हैं। सांख्यवादी 'अपाम सोमम्' आदि श्रौतवचनों को अङ्गीकार करते हैं। बौद्ध भी लोकव्यवहार का त्याग नहीं करते।

पहले कभी भी तर्क या अनुमान द्वारा उन स्वीकृत उपायों का निराकरण नहीं किया गया। भले ही कुछ लोग आगमोक्ति का आश्रय लेकर निन्दित और लोकाचार के विरुद्ध आचरण का प्रतिपादन करने लगें, किन्तु तर्क का आश्रय नहीं लेते।

जैसे वेदान्त में कहा गया है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि' इन वाक्यों के कुछ लोग—जब सब ब्रह्म ही है तो 'हम जो चाहे करें' ऐसा अर्थ करके लोक-विरुद्ध

आचरण करने लगते हैं। ऐसे लोग विरुद्धाचरण के लिए आगम का ही सहारा लेते हैं, भले ही वह उनका कल्पित अर्थ हो ॥ ३१ ॥

प्रस्तुत कारिका द्वारा अर्थबोध में अनुमान का कितना सामर्थ्य है, इसका निरूपण करते हैं—

अवस्थादेशकालानां भेदाद् भिन्नासु शक्तिषु ।
भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरतिदुर्लभा ॥ ३२ ॥

भावानां शक्तिषु अवस्थादेशकालानां भेदाद् भिन्नासु अनुमानेन प्रसिद्धिः अतिदुर्लभा ।

पदार्थों की शक्तियों में अवस्था, देश और काल कृत भेद होने से अनुमान द्वारा उनके सामर्थ्य की अनुमिति अत्यन्त दुर्लभ है ।

वृत्तिः—इहाव्यभिचरिताभिमतसाहचर्यस्य दृष्टस्य सम्बन्धिनस्तत्सदृशस्य वा दर्शनाददृष्टे सम्बन्धिनि यज्ज्ञानमुत्पद्यते तेनाप्रत्यक्षस्यार्थस्य प्रसिद्धिर्दुरवसाना ।

तथा हि—अवस्थान्तरेषु विनिश्चितवलसत्त्वादीनां पुनरवस्थान्तरेषु पुरुषगम्येष्वपुरुषगम्येषु वा दृश्यन्ते स्वभावव्यभिचारिणः । बाह्यानामपि बीजौषधिप्रभृतीनामवस्थाभेदादुपलभ्यते शक्तिव्यभिचारः ।

विवरण—ये अवस्थादिक स्वतः भेदवान् होने से पदार्थों की शक्तियों को भी भेदयुक्त कर देते हैं। इसलिए एक पदार्थ को एक अवस्था में विशेष प्रकार की शक्ति से सम्पन्न देखकर तज्जातीय दूसरे पदार्थ के सम्बन्ध में वैसा ही निश्चय कर लेना समीचीन नहीं है । दुरधिगम होने के कारण पदार्थशक्तियों के विषय में अनुमान नहीं किया जा सकता—इसी आशय से भगवान् भर्तृहरि ने वृत्ति में कहा है—

किन्हीं प्रत्यक्ष विशिष्ट दो पदार्थों अथवा तत्सदृश दो सामान्य पदार्थों (सम्बन्धियों—प्रमेयों) के नियत रूप में अभिमत सहभाव के देखने से अप्रत्यक्ष प्रमेय सम्बन्धी जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उससे परोक्ष पदार्थ की अनुमिति दुरवधार्य है ।

अग्नि और धूम सर्वथा नियमतः एक साथ रहते हैं—यह अभिमान मात्र है । ऐसा कोई नियम (अव्यभिचार) नहीं हो सकता । क्योंकि अवस्थादि के भेद से पदार्थ के अनेक रूप देखे जाते हैं । ऐसा भी धूम हो सकता है, जो अग्नि का न हो । देखा गया है कि शालूक से भी शालूक[1] (कीट-विशेष) उत्पन्न होता है और गोबर से भी ।

जैसे कि भिन्न-भिन्न यौवनादि अवस्थाओं में जिनका बल—शरीर-सामर्थ्य और सत्त्व—साहस आदि[2] रूप स्वभाव-निश्चित है, वही पुनः वार्धक्य आदि अवस्थाओं में

---

१. शालूक गोबरैला हो सकता है ।

२. आदिग्रहणात् प्रज्ञामेधादयः ।   —श्रीवृषभ

नहीं दिखलाई देता। ये अवस्थाएँ सामान्य जन द्वारा जानी जा सकती हैं और नहीं भी। जैसे पहले जिस देवदत्त को पुष्ट एवं बल-सत्त्व से सम्पन्न देखा गया था, वही व्याधि से दुर्बलकाय दिखलाई देता है। अथवा पुष्ट शरीर होने पर भी किसी अदृष्ट व्याधि से वह बल और सत्त्व से शिथिल हो जाता है। पहले उदाहरण में वर्णित अवस्था पुरुषगम्य है और द्वितीय में अपुरुषगम्य।

बीज और औषधि आदि बाह्य पदार्थों में भी अवस्था-भेद से शक्ति का अनियम उपलब्ध होता है। एकजातीय पदार्थों में सहायक भेद से अनेक कार्य-जनन सामर्थ्य देखा जाता है। जैसे धान्यादि के बीजों में एक अवस्था में अङ्कुर-जनन शक्ति रहती है एवं अन्य अवस्था ('मूषिकाघ्रातानाम्'—भावप्रदीप) चूहों से सूँघ लिये जाने पर नहीं रहती। पिप्पली नामक औषधि जब गीली रहती है तो उसमें कफ-जनन शक्ति रहती है और शुष्क अवस्था में वही त्रिदोष का शमन करती है।

वृत्तिः—तथा देशभेदादपि। अतिशीतो हैमवतीनामपां स्पर्शः। स तु बलाहकाग्निकुण्डादिषु तद्रूपाणामेवात्युष्ण उपलभ्यते। तत्र रूपसामान्यादपहृतबुद्धिः परोक्षविशेषो दुर्ज्ञानं भेदमर्वाग्दर्शनो दर्शनमात्रेणागम्यमागमेनैव प्रपद्यते।

विवरण—वैसे ही देशभेद से भी शक्तिभेद हो जाता है। जैसे हिमालयस्थ जल का स्पर्श अत्यन्त शीतल होता है और वह स्पर्श मेघ तथा अग्निकुण्डस्थ एक रूप जलों का अत्यन्त उष्ण पाया जाता है। श्रीवृषभ ने कहा है—'अग्निकुण्डं राजगृहादिपु। आदिशब्दान्निर्झरादयः। तत्र रूपस्याभेदे स्पर्शभेदः।'

रूप सामान्य से अपहृत बुद्धिवाला, जिसके लिए वस्तु का विशेष रूप प्रत्यक्ष नहीं है, ऐसा अर्वाक्‌दर्शी (छिछले ज्ञानवाला) पुरुष दर्शन मात्र से अगम्य, दुर्ज्ञान वस्तुभेद को आगम से ही जानता है।

वृत्तिः—कालभेदादपि। ग्रीष्महेमन्तादिषु कूपजलादीनामत्यन्तभिन्नाः स्पर्शादयो दृश्यन्ते। तत्र सूक्ष्ममवस्थानविशेषं प्राकृतमप्राकृतगम्यमागमचक्षुरन्तरेणाप्रत्यक्षमनुमानमात्रेणानिश्चितं कः साधयितुमसम्मूढः प्रयतते॥ ३२॥

विवरण—कालभेद से भी वस्तुओं में शक्तिभेद देखा जाता है। जैसे ग्रीष्म और हेमन्त आदि ऋतुओं में कूप, नदी और तड़ाग के जलों के न केवल स्पर्श किन्तु उनके स्वाद में भी भेद देखा जाता है। कूपजल ग्रीष्म में शीतल और हेमन्त में उष्ण होता है। श्रीवृषभ ने कहा है—'स्पर्शादय इत्यादिग्रहणाद्रसभेदः। यथा ग्रीष्मे क्षारत्वं, हेमन्ते माधुर्यम्।' वर्षा ऋतु में तड़ाग आदि का जल कफजनक होता है और कूपजल इसके विपरीत। स्त्री और पुरुष का स्पर्श भी कालभेद से भिन्न-भिन्न होता है। यथा—

'कूपोदकं वटच्छाया श्यामा स्त्री चेष्टकागृहम्।
शीतकाले भवेदुष्णमुष्णकाले च शीतलम्॥'

कुएँ का जल, बरगद की छाया, श्यामा[1] स्त्री और ईंटों से बना घर शीतकाल में उष्ण और ग्रीष्मकाल में शीतल रहता है ।

इस प्रकार उन-उन पदार्थों में विद्यमान स्वाभाविक (प्राकृत) सूक्ष्म अवस्थान (अङ्ग) विशेष को, जो सामान्य जनों से नहीं जाना जा सकता, आगमरूपी आँखों के विना जिसे देखना असम्भव है, अनुमान मात्र से कौन बुद्धिमान् व्यक्ति सिद्ध करना चाहेगा ?

उपर्युक्त कारिका को शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में; उत्पलाचार्य ने 'शिवदृष्टि' की टीका में; अर्चट ने धर्मकीर्ति के हेतुबिन्दु के विवरण में तथा वाचस्पतिमिश्र ने 'भामती' में उद्धृत किया है । अर्चट के उद्धरण में 'प्रतीतिरतिदुर्लभा' पाठ है । भामती में 'देशकालादिरूपाणाम्' ऐसा पाठ है ।

कमलशील ने तत्त्वसंग्रह की पञ्जिका में प्रस्तुत कारिका की इस प्रकार व्याख्या की है—

'अवस्थादेशकालभेदेन पदार्थानां शक्तयो भिन्नाः । अतो न शक्यतेऽनुमानात् तद्भावनिश्चयः कर्तुम् । न ह्येवं शक्यतेऽनुमानात्प्रत्येतुम्—देवदत्तो भारोद्वहनसमर्थो न भवति, देवदत्तत्वात्, बालावस्थदेवदत्तवदिति । अत्र हि अवस्थाभेदेन शक्तिभेदसम्भवाद् व्यभिचारः । तथा देशभेदेन आमलकीखर्जूरादीनां रसवीर्यविपाकभेदो दृश्यते । तत्र नैवं शक्यते कर्तुम्—सर्वाऽऽमलकी कषायफला अनुभूयमानामलकीवदिति । तथा कालभेदेन कूपोदकादीनां शीतोष्णादिभेदः सम्भवति । तत्र सर्वा आपः शीता इति न शक्यते निश्चयः कर्तुम् । अवस्थादेशकालानामिति भेदादित्यपेक्ष्य षष्ठी । भावानामिति प्रसिद्ध्यपेक्षया[2] ।

भगवान् शङ्कराचार्य ने भी ब्रह्मसूत्र (२।१।२७) में 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' के भाष्य में इसी आशय का लेख प्रस्तुत करते हुए अन्त में कहा है—'तस्मात् शब्दमूल एव अतीन्द्रियार्थयाथात्म्याधिगमः ।'

---

१. श्यामा स्त्री के सम्बन्ध में भट्टिकाव्य (५।१८) की टीका में एक श्लोक उद्धृत है—

'शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी ग्रीष्मे च सुखशीतला ।
तप्तकाञ्चनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कथ्यते ॥'

२. अवस्था, देश और कालभेद से पदार्थों की शक्तियाँ भिन्न हो जाती हैं । अतः अनुमान से उनकी तद्रूपता का निश्चय करना सम्भव नहीं । अनुमान से ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता कि—देवदत्त भार के ढोने में समर्थ नहीं है, क्योंकि यह देवदत्त है, जैसे बाल्यावस्था में विद्यमान देवदत्त । यहाँ अवस्था के भेद से शक्तिभेद सम्भव होने के कारण पूर्वोक्त अनुमान में व्यभिचार दोष उपस्थित है ।

इसी प्रकार देशभेद से आमलकी और खजूर आदि में रस, वीर्य और विपाक

वस्तुशक्ति के बोध में प्रकारान्तर से अनुमान की अनर्हता को प्रदर्शित करते हैं—

निर्ज्ञातशक्तेर्द्रव्यस्य तां तामर्थक्रियां प्रति।
विशिष्टद्रव्यसम्बन्धे सा शक्तिः प्रतिबध्यते ॥ ३३ ॥

तां ताम् अर्थक्रियां प्रति निर्ज्ञातशक्तेः द्रव्यस्य विशिष्टद्रव्यसम्बन्धे सा शक्तिः प्रतिबध्यते।

भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयोजनों की सिद्धि के प्रति जिस पदार्थ की शक्ति का लोगों को पता रहता है, वह शक्ति विशेष द्रव्य के सन्निधान में अवरुद्ध हो जाती है।

वृत्तिः—अग्न्यादीनां काष्ठादिविकारोत्पादने दृष्टसामर्थ्यानामभ्रपटलादिषु द्रव्येषु तथाभूतं सामर्थ्यं प्रतिबध्यते। तथा मन्त्रौषधिरसादिभिर्योग्येष्वपि द्रव्येषु दाहादिकं प्रतिबध्यते। तथा (तत्र) एकस्मिन् विषये दृष्टसामर्थ्यानां पुनर्विषयान्तरेषु द्रव्याणां दुरवसानाः शक्तयः ॥ ३३ ॥

विवरण—काष्ठादिकों के जलाने में अग्नि आदि की शक्ति देखी गई है, किन्तु मेघमण्डल से आकाश के आच्छादित रहने पर अग्नि के जलाने का उस प्रकार का सामर्थ्य बाधित हो जाता है।

श्रीवृषभाचार्य ने कहा है—'तथाविधम् इति। तत्कार्यंजनकं सामर्थ्यम्। अभ्रपटलं दहत्ययमग्निः, अग्नित्वात्, इति नानुमानम्।'

श्रीवृषभ ने इस प्रकार का असङ्गत अनुमान स्वरूप कैसे प्रदर्शित किया, यह आश्चर्य है। कारिका और वृत्ति में स्पष्ट किया गया है कि अग्नि का दाहात्मक सामर्थ्य, जिसे सब जानते हैं, किसी प्रतिबन्धक द्रव्य के निकट रहने पर अवरुद्ध हो जाता है। वर्षा ऋतु में मेघाडम्बर के विद्यमान रहते हुए अग्नि अपनी वह शक्ति नहीं प्रदर्शित करती, जो अन्य ऋतुओं में करती है। यहाँ इतना ही कहा गया है, किन्तु वे अग्नि के द्वारा अभ्रपटल के जलाने का अनुमान करते हैं, जो सर्वथा असमीचीन है।

कमलशील भी तत्त्वसंग्रह की पञ्जिका में ऐसा ही अनुमान करते हैं, जो कारिका और वृत्ति के आशय से विपरीत होने के कारण अग्राह्य ही है। जैसे—

(रस—मधुर, अम्ल आदि, वीर्य—शीतवीर्य और उष्णवीर्य गुण और त्रिधा विपाक—'जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम्। रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः ॥' मधुर, अम्ल और कटु) का भेद देखा जाता है। वहाँ ऐसा नहीं कहा जा सकता कि सभी आँवले के वृक्ष कषाय फल वाले हैं, अनुभूयमान आँवले के वृक्ष के समान। इसी प्रकार कालभेद से कूपोदकादिकों का शीत और उष्ण आदि भेद सम्भव होता है।

'तथा तृणादिषु निश्चितदहनसामर्थ्यस्याग्नेः अभ्रपटले तत्सामर्थ्यं प्रतिहन्यते । न च तत्रैवमनुमातुं शक्यते—अभ्रपटलमग्निना दह्यते पार्थिवत्वात् तृणवदिति' (१४६१वें श्लोक की पञ्जिका)।

इसी प्रकार एतदनुसारी अन्य लोगों का व्याख्यान भी उपेक्षणीय है।

वैसे ही मन्त्र, औषधि और रसादिकों द्वारा तथाविध योग्यता रखने वाले भी द्रव्यों का सामर्थ्य रोक दिया जाता है। 'प्रतिबन्धो मन्त्रवशादोषधिरसविशेषाच्च दाह-प्रतिघातः। तेन न शक्यते दर्शनमात्रेण दाहशक्तेरनुमानम्।' —श्रीवृषभ

इसी प्रकार जिन पदार्थों का एक विषय में विशिष्ट सामर्थ्य देखा गया है, विषयान्तर में पुनः उनकी शक्ति का निर्णय तर्क द्वारा करना असम्भव है।

तत्त्वसंग्रह में 'निर्ज्ञातशक्तेर्द्रव्यस्य' के स्थान पर 'विज्ञातशक्तेरप्यस्य' ऐसा पाठ है।

अनुमान का पुनः अप्रामाण्य प्रदर्शित करते हैं—

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥ ३४ ॥

कुशलैः अनुमातृभिः यत्नेन अपि अनुमितः अर्थः अन्यैः अभियुक्ततरैः अन्यथा एव उपपाद्यते।

कपिलादिक कुशल अनुमाताओं—निपुण तार्किकों द्वारा 'प्रकृति ही जगत् का कारण है' बड़े यत्न से अनुमित इस प्रकार का अर्थ, अन्य कणाद आदि प्राज्ञतर अनुमाताओं द्वारा 'परमाणु ही जगत् के कारण हैं' इस प्रकार अन्यथा प्रतिपादित होता है।

वृत्तिः—अन्यद् द्रव्यं गुणेभ्यो व्यपदेशाद्। तद्यथा—सति विशेषणविशेष्यभेदे राज्ञा राष्ट्रं विशेष्यते, न परिव्राजकेन। विशेष्यते वा चन्दनेन गन्धो न रूपादिभिः। तस्मादन्यद् द्रव्यं गुणेभ्य इत्यनुमानेन द्रव्ये व्यवस्थापिते नायमपदेशो युक्त इत्याहुः। विशिष्टाविशिष्टाभिधेयनिबन्धनत्वात् शब्दानाम्। चन्दनशब्देन हि विशिष्टरूपादिवचनेन विशेषणमर्थवद् गन्धादीनाम्। रूपादिमात्रवचनत्वात्तु रूपादीनां तावतोऽर्थस्य निर्ज्ञातत्वादनर्थकं विशेषणम्। तथा हि—कस्यायं पुरुष इति प्रश्ने विशेषान्तरावच्छेदार्थं राज्ञ इति व्यपदिश्यते, न तु निर्ज्ञातत्वात् पुरुषस्येति।

विवरण—द्रव्य गुणों से भिन्न है, क्योंकि वह गुणों से व्यपदिष्ट या विशिष्ट बनाया जाता है। 'व्यपदिश्यतेऽनेनेति व्यपदेशो विशेषणम्।' —श्रीवृषभ

विशेषण और विशेष्य में भेद होने पर ही राजा के द्वारा राष्ट्र विशेष्य बनता है, परिव्राजक के द्वारा नहीं। चन्दन से गन्ध की विशेष्यता सम्पन्न होती है, रूपादिकों से नहीं। अतः द्रव्य गुणों से भिन्न है, इस प्रकार अनुमान के द्वारा द्रव्य-सम्बन्धी

व्यवस्था या निगमन स्वीकार किये जाने पर भी कुछ लोगों का मत है कि यह हेतु या अपदेश युक्त नहीं। उपर्युक्त मत नैयायिकों का है किन्तु यह त्रुटि रहित नहीं है, क्योंकि विशेष्य और विशेषण में अभेद भी देखा जाता है। जैसे—'वृक्षाः वनम्' वृक्ष-समुदाय ही वन है, यहाँ अभेद है। और 'आम्रवृक्षाणां वनम्' में विशेषण-विशेष्य-भाव भी दृष्ट ही है। जहाँ भेद होगा वहाँ विशेष्यविशेषणभाव होगा, ऐसा भी नहीं है। परिव्राजक के राष्ट्र से भिन्न होने पर भी—'परिव्राजक का राष्ट्र' ऐसा नहीं कहते। रूपादि गन्ध से पृथक् हैं तो भी 'रूपादिकों का गन्ध' ऐसा कहने की प्रथा नहीं है।

इसके अतिरिक्त शब्द विशिष्ट और सामान्य दो प्रकार के अर्थों का कथन करते हैं। विशिष्ट रूपादि के वाचक चन्दन शब्द द्वारा गन्धादिकों को विशिष्ट बनाना सार्थक है। चन्दन शब्द विशिष्ट सन्निवेश से भिन्न रूपादिकों का कथन करता है, अतः 'चन्दनगन्धः' ऐसा बोध होता है, 'पुष्पगन्धः' नहीं। रूपादिमात्र के बोधक रूपादि शब्दों का 'रूपगन्धः' इत्यादि में उतना अर्थ पहले से ही ज्ञात रहता है, अतः सामान्यरूपवाची रूपशब्द से गन्ध को विशिष्ट बनाना या विशेषणीकरण अनर्थक है। रूपादि शब्द सर्वपदार्थसाधारण—समस्त पदार्थों में विद्यमान रूपादिकों का कथन करते हैं। 'रूपस्य गन्धः' कहने से किसी से गन्ध के भेद की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि रूपादि के बिना गन्ध रह ही नहीं सकती, अतः रूपादि को गन्ध का विशेषण बनाना अनर्थक है। हाँ, गन्ध की रूपादि सहकारिता या सामानाधिकरण्य अवश्य प्रतीत होता है। वह भी गन्ध के कथन मात्र से निश्चित हो जाता है।

इसके अतिरिक्त 'कस्य अयं पुरुषः' यह पुरुष या भृत्य किसका है ? इस प्रश्न में पुरुष की परतन्त्रता तो ज्ञात रहती है, किन्तु स्वामी का पता नहीं रहता, अतः उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में स्वाम्यन्तर से भेद करने के लिए विशेषण दिया जाता है—राज्ञः, अर्थात् राजा का भृत्य है। और ज्ञात होने से पुरुष राजा का विशेषण नहीं हो सकता। जैसे राजा भी पुरुष है अतः दोनों की एकता होने पर भी राजा ही विशेषण बनता है, पुरुष नहीं और पुरुष विशेष से भिन्न होने पर भी राजा ही विशेषण है, पुरुष नहीं, वैसे ही चन्दन के गन्ध से अभिन्न अथवा भिन्न मानने पर चन्दन ही विशेषण बनता है गन्ध नहीं, क्योंकि वह तो ज्ञात ही है। इस प्रकार विशेषणत्व अन्यत्व का साधक नहीं।

वृत्तिः—अपर आहुः—पदसमूहैकदेशभावेऽपि पदमृचा व्यपदिश्यते, न पदेन ऋक्। अपर आह—एकत्वाभ्युपगमेनैव चन्दनेन व्यपदेशो गन्धादीनां, रूपादिभिरव्यपदेश इति विरुद्धत्वादसिद्धमेतत्। श्रुतिविशेषसन्निधानासन्निधानकृतस्तु पूर्वपक्षोपन्यासः। तस्माद् [1]दृष्टाद् दृष्टमनुगम्यत इत्यविरोधात्

१. प्रकाशित पुस्तकों में 'दृष्टाददृष्टमनुगम्यत' ऐसा पाठ है, किन्तु श्रीवृषभ 'दृष्टमिति' इस पाठ को उद्धृत करके व्याख्या करते हैं—'दृष्टात्' लिङ्गात् दृष्टमिति लिङ्गविषयः लिङ्गी। अनुगम्यत इति। एतदाह—दृष्टविषये भवत्यनुमानं प्रमाणम्।

सिद्धमेतत्। तद्यथा पाकाद्यनुमानार्थानि क्रियाविशेषेषु प्रतिनियतान्यङ्गानि विप्रलम्भार्थान्यपि कैश्चित्कथञ्चिदुपादीयन्ते ॥ ३४ ॥

दूसरे लोग तर्क की अनवस्था और अप्रामाण्य प्रदर्शन के लिए अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यथा—सूक्तात्मक पदसमूह का एकदेश पद भी है और ऋचा भी। विशिष्ट सन्निवेश (संस्थान = अवयव) युक्त पद ही ऋचा कहे जाते हैं। इस प्रकार ऋचा और पदों में अभेद है। परन्तु ऋचा ही पद की विशेषण बनती है। जैसा कि कहा जाता है 'ऋचः पदम्' अर्थात् ऋचा का पद। पद से ऋचा विशिष्ट नहीं बनती, क्योंकि पद तो श्लोकादिकों में भी देखे जाते हैं। पद ऋचा को किसी सजातीय या विजातीय से भिन्न नहीं करते, क्योंकि अन्यत्र भी उनके विद्यमान रहने से उनमें व्यभिचार (अनियम) दोष नहीं है। इस प्रकार ऋचाएँ पदों से अभिन्न होने पर भी विशेषण हैं तथा विशेषणत्व गुणों का द्रव्य से पार्थक्य-साधक नहीं है।

दूसरे का कहना है—एकत्व या अभेद मानने से ही चन्दन द्वारा गन्ध का व्यपदेश या विशिष्टता सम्भव है; रूपादि शब्दों से नहीं। इस प्रकार विशेषण और विशेष्य में अभेद सिद्ध होने पर भेद के साधन के लिए प्रयुक्त विशेषणत्वरूप हेतु विरुद्ध है। अतः दोनों की अन्यता असिद्ध हुई।

तब पूर्वपक्ष के रूप में 'अन्यद् द्रव्यं गुणेभ्यो व्यपदेशात्'—ऐसा क्यों कहा गया ? इस पर कहते हैं—श्रुति या शब्दविशेष के बुद्धि में सन्निधान अथवा असन्निधान के कारण पूर्वपक्ष का उपन्यास किया गया है। तात्पर्य यह है कि चन्दन शब्द के श्रवण से चन्दनत्वजातिविशिष्ट अर्थ बुद्धि में रूपायित होता है और गन्धशब्दवाच्य अर्थ का बुद्धि में सन्निधान नहीं होता। इसी प्रकार विपर्यय से गन्धशब्दवाच्य गुणविशेषात्मक अर्थ का गन्ध शब्द के श्रवण से बुद्धि में सन्निधान होता है और चन्दन शब्दार्थ का नहीं होता। इस प्रकार चन्दन शब्द और गन्ध शब्द के अर्थ भेद को स्वीकार करके पूर्वपक्ष की उत्थापना की गई है, वस्तुतः उसकी कोई आवश्यकता नहीं।

जब अनुमानप्रमाण नहीं है तो एक पदार्थ के देखने से अन्य पदार्थ की प्रतीति कैसे होती है ? इस पर उत्तर देते हैं कि दृष्ट लिङ्ग (हेतु) से अदृष्ट लिङ्गी (साध्य–अनुमेय) का अनुमान होता है, जब कि वह अनुमेय भी अन्यत्र दृष्ट रहा हो। एकान्ततः अदृष्ट धर्म और अधर्म के सम्बन्ध में अनुमान प्रमाण नहीं। हाँ, यदि आगम से उसका अविरोध है तो वह अनुमान सिद्ध या प्रमाण है।

दृष्ट लिङ्ग से अन्यत्र दृष्ट विषय का अनुमान भी तब तक प्रमाण नहीं होता जब तक कि प्रत्यक्ष या आगम से उसका निर्णय न कर लिया जाय। जैसे कि पके हुए पदार्थ के अनुमान के साधन रूप पाकक्रिया के लिए प्रतिनियत चूल्हे पर बटलोई के अधिश्रयणात्मक अङ्गों का उपादान कुछ लोग कौवे के मारने और भिक्षुक की प्रवञ्चना के लिए भी करते हैं। तात्पर्य यह है—

चूल्हे के ऊपर खाली बटलोई चढ़ा देने पर अन्न के लोभ से कोई कौवा यदि घर में पैठ जाय तो उसे मारा जा सकता है। अथवा चूल्हे के ऊपर चढ़ी हुई बटलोई को देखकर कोई भिखारी 'अभी अन्न पका नहीं' ऐसा जान कर चुपचाप बिना माँगे चला जायेगा—ऐसा समझ कर कुछ लोग चूल्हे पर बटलोई चढ़ी रहने देते हैं। अब कोई अनुमाता यदि पाकक्रिया के साधनात्मक स्थाली के अधिश्रयणादि को देखकर पाक का अनुमान करता है तो वह अप्रमाण ही है। अतः आगम विरोधी तर्क को अप्रतिष्ठित ही समझना चाहिए।

भगवान् शङ्कराचार्य ने 'तर्का प्रतिष्ठानात्—' (२।१।११) इस सूत्र के भाष्य में प्रस्तुत कारिका का ही अनुवाद करते हुए कहा है—

'तथाहि कैश्चिदभियुक्तैर्यत्नेनोत्प्रेक्षितास्तर्का अभियुक्ततरैरन्यैराभास्यमाना दृश्यन्ते। तैरप्युत्प्रेक्षिताः सन्तस्ततोऽन्यैराभास्यन्त इति न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुं, पुरुषमतिवैरूप्यात्। अथ कस्यचित्प्रसिद्धमाहात्म्यस्य कपिलस्य चान्यस्य वा सम्मतस्तर्कः प्रतिष्ठित इत्याश्रीयेत। एवमप्यप्रतिष्ठितत्वमेव। प्रसिद्धमाहात्म्यानुमतानामपि तीर्थंकराणां कपिलकणभुक्प्रभृतीनां परस्परविप्रतिपत्तिदर्शनात्।'

वाचस्पति मिश्र ने इसकी भामती में प्रस्तुत कारिका को उद्धृत किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी में कहते हैं—

"अथापि च अद्यापि यावदासंसारं प्रवहतां तर्कषट्कतद्भेदसहस्रोत्थाप्यमानानां न्यायानां न पर्यवसानं किञ्चिदपि लभ्यते। यदाह—'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः' इति।"

शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह की अनुमान-परीक्षा में, अर्चट ने हेतुबिन्दु की टीका में तथा कमलशील ने पञ्जिका में इसे भी उद्धृत[1] किया है॥ ३४॥

जो विषय प्रत्यक्ष और अनुमान से नहीं जाना जा सकता, उसे अभ्यासजन्य प्रतिभा नामक प्रमाण से जानते हैं—इस बात का प्रस्तुत कारिका में निरूपण करते हैं—

परेषामसमाख्येयमभ्यासादेव जायते।
मणिरूप्यादिविज्ञानं तद्विदां नानुमानिकम्॥ ३५॥

परेषाम् असमाख्येयं मणिरूप्यादिविज्ञानं तद्विदाम् अभ्यासात् एव जायते न आनुमानिकम्।

जो दूसरे अनभिज्ञों में सञ्चारित नहीं किया जा सकता ऐसा मणि, रजत और सुवर्ण सम्बन्धी ज्ञान (पहचान) जौहरियों को अभ्यासजन्य प्रतिभा से ही होता है, अनुमान से नहीं।

---

१. प्रस्तुत कारिका को मल्लवादी ने द्वादशारनयचक्र, पृष्ठ ९९४ में इस प्रकार उद्धृत किया है—'सर्वथाऽर्थप्रत्यायनात् समुदायः शब्दोऽनवस्थिततर्कत्वात् पुरुषाणां यथोक्तं—'यत्नेनानमितोऽप्यर्थः' इत्यादि।

वृत्तिः– न हि रूपतर्कादयः सूक्ष्मानप्रसिद्धसंविज्ञानपदान् कार्षापणादीनां कल्पयित्वापि समधिगमहेतून् परेभ्य आख्यातुं शक्नुवन्ति। षड्जर्षभगान्धार-धैवतादिभेदं वा प्रत्यक्षप्रमाणविषयमप्यभ्यासमन्तरेणाभियुक्ताः प्रणिधान-वन्तोऽपि न प्रतिपद्यन्ते ।। ३५ ।।

विवरण—रूपतर्क अर्थात् जौहरी या सौवर्णिक—'रूपं रूपकभेदा दीनारादयः, तांस्तर्कयन्ति परीक्षन्ते इति, आदिशब्देन माणिक्यपरीक्षकः' । —श्रीवृषभ ।

स्वर्ण और रजत से घटित मुद्राओं और रत्नों के खरे और खोटे होने की परीक्षा करने वाले पारखी लोग कार्षापण[1] आदिक मुद्राओं के सूक्ष्म तथा जिनके पहचान के शब्द प्रसिद्ध नहीं है, ऐसे ज्ञान के कारणों को मन से जानते हुए भी दूसरों से नहीं कह सकते। प्रत्यक्ष होते हुए भी रत्नादिकों के तारतम्य को सब लोग नहीं जान सकते। पारखी लोग अभ्यासवश रत्नादि के तरतमभाव को जानकर भी दूसरों से 'इस कारण यह रत्न इतने मूल्य का है' ऐसा उल्लेख करने का सामर्थ्य नहीं रखते। ज्ञान के कारण इतने सूक्ष्म और दुरवधार्य होते हैं कि वहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण काम नहीं देते। 'संविज्ञान या पहचान के पदों–विशिष्ट शब्दों के अप्रसिद्ध होने से बोध के हेतुओं की अनागमिकता भी सूचित होती है'—यह श्रीवृषभ का मत है। वस्तुतः यहाँ आगम का वाध अभीष्ट नहीं है। इसी प्रकार सङ्गीत के षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्य, पञ्चम और धैवत इन स्वरों के भेदों को श्रावण प्रत्यक्ष-प्रमाण का विषय होने पर भी बिना अभ्यास के समाहितचेता विद्वज्जन भी नहीं जान पाते। अतः अभ्यास-जन्य प्रतिभा को भी प्रमाण मानना आवश्यक है।

वाचस्पतिमिश्र ने 'तत्त्वबिन्दु' में प्रस्तुत कारिका को इस रूप में उद्धृत किया है; यदाहुः—

'परेषामनुपाख्येयमभ्यासादेव जायते।
मणिरूपादिषु ज्ञानं तद्विदां नानुमानिकम्' ।।

कहीं-कहीं 'यदाहुर्बाह्या[2] अपि'—ऐसा पाठ मिलता है, वहाँ वेदवाह्य अर्थ नहीं लेना चाहिए, अपितु मीमांसेतर ग्रन्थ समझना उचित होगा।

आचार्य अभिनवगुप्त ने ईश्वर प्र० वि० वि० में भी इसे उद्धृत किया है—

"ननु प्रत्यक्षज्ञानमत्र विचार्यते तत्किं निदर्शने सम्भवति—इत्याशङ्क्य सम्भवत्येव इति भर्तृहरिवचनेन दर्शयति—'परेषामसमाख्येयम्—' इति। अनेन आप्तोक्तत्वम् आनुमानिकत्वं च नेति दर्शयता आभ्यासिकप्रत्यक्षत्वमुक्तम्।"

---

१. दो तोले मान वाले सुवर्ण को कर्ष कहते हैं। 'कर्षस्य इदं कार्षं अथवा कर्ष एव कार्षः, तेन आपण्यते व्यवह्रियते इति कार्षापणः कार्षापणं वा—व्यवहारद्रव्यम्।'
वस्तुतः कार्षापण सोने, चाँदी और ताँवे का भी सिक्का होता था, ऐसा प्राचीन ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है।

२. लाजरस एण्ड कम्पनी, बनारस द्वारा प्रकाशित 'तत्त्वबिन्दु' में उक्त पाठ है।

यहाँ आचार्य अनुमान और आप्तोक्ति अर्थात् आगम का भी बाध दिखलाते हैं, जो श्रीवृषभ के अनुरूप प्रतीत होता है। किन्तु 'ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम्' इस पूर्व ग्रन्थ और 'आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बाध्यते'—इस अग्रिम ग्रन्थ से प्रतीत होता है कि कारिका अथवा वृत्ति को आगम का बाध अभीष्ट नहीं है। वस्तुतः अभ्यास के लिए भी आगम की अपेक्षा रहती है। स्वराभ्यास के लिए गन्धर्वशास्त्र और स्वर्णादि के ज्ञान के लिए धातुशास्त्र अत्यन्त आवश्यक है। अतः अभ्यासजन्य प्रतिभा आगमपूर्विका है, इसमें सन्देह नहीं।

'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ—' (१।४।५२) इस सूत्र के भाष्य में रूपतर्क और कार्षापण शब्द पठित है। यथा—

पश्यति रूपतर्कः कार्षापणम्—'दर्शयति रूपतर्कं कार्षापणम्'॥

प्रस्तुत कारिका द्वारा अदृष्टजन्य प्रतिभात्मक प्रमाण का निरूपण करते हैं—

प्रत्यक्षमनुमानं च व्यतिक्रम्य व्यवस्थिताः।
पितृरक्षःपिशाचानां कर्मजा एव सिद्धयः॥ ३६॥

प्रत्यक्षम् अनुमानं च व्यतिक्रम्य व्यवस्थिताः पितृरक्षःपिशाचानां सिद्धयः कर्मजाः एव।

प्रत्यक्ष और अनुमान का उल्लङ्घन करके व्यवस्थित पितरों, राक्षसों और पिशाचों की सिद्धियाँ उनके प्राक्तन कर्मों से ही उत्पन्न होती हैं।

वृत्तिः—स्वप्ने हि बधिरादीनां शब्दादिप्रतिपादनम्, घनसन्निविष्टावयवानां च कुड्यादीनामवयवविभागमन्तरेणान्तर्वेश्मादिषु सूक्ष्माणामर्थानां दर्शनं, यत्सर्वप्रवादेषु सिद्धम्, तत्र कथम्भूतानि साधनानीत्यदृष्टशक्तिमचिन्त्यां हित्वा नान्यानि साधनान्याख्यातुं शक्यन्ते॥ ३६॥

विवरण—सपने में बहरे लोगों को शब्द आदि की उपलब्धि, सघन सन्निवेश युक्त अवयवों वाली दीवार आदि के अन्दर सन्धि किये बिना उस पार के कमरों में विद्यमान सूक्ष्म पदार्थों का दर्शन, जो कि सम्पूर्ण सम्प्रदायों में प्रसिद्ध है, किस प्रकार के साधनों से सम्भव है? इस विषय में अचिन्त्य अदृष्ट शक्ति को छोड़ कर और अन्य साधन नहीं बतलाये जा सकते।

श्रीवृषभ कहते हैं—क्योंकि पितर आदिकों की अन्तर्धान आदिक सिद्धियाँ कर्मज हैं, अतः वहाँ न तो प्रत्यक्ष और न अनुमान की व्याप्ति सम्भव है। 'च' शब्द के उल्लेख से आगम का भी इस विषय में अप्रभाव समझना चाहिए।

सिद्धि का उदाहरण—यद्यपि वह व्यक्ति जो पहले शब्दश्रवण का अनुभव कर चुका है और बाद में बहरा हुआ है, उसके लिए स्वप्न में शब्द का श्रवण सम्भव ही है। किन्तु जो जन्म से बहरा है और पहले कभी भी शब्द का अनुभव नहीं किया, उसका स्वप्न से शब्दादि का अनुभव वृत्तिकार प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार का

अनुभव अचिन्त्य अर्थात् तर्क से नहीं, अपितु अदृष्ट शक्ति—पूर्वकृत कर्मशक्ति से ही सम्भव है। कारिका में 'रक्षःपितृपिशाचानाम्' ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता है ॥३६॥

अब प्रस्तुत कारिका में योगज प्रत्यक्ष या प्रतिभा प्रमाण की चर्चा करते हैं—

आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥ ३७ ॥

अनुपप्लुतचेतसाम् आविर्भूतप्रकाशानाम् अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षात् न विशिष्यते।

जिनका चित्त तप द्वारा वासनाओं के समेत अविद्यात्मक उपप्लव या दोष से रहित हो गया है, अत एव जिनके हृदय में प्रज्ञा का प्रकाश प्रकट है, ऐसे योगियों का अतीत और अनागत सम्बन्धी ज्ञान प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं है।

वृत्तिः—तत्रोत्पत्तिपक्षे तावत्कथमपदमवस्तु निरात्मकमदृष्टाप्रतिनियत-कारणशक्तिपरिग्रहमधिगन्तुं शक्यते।

विवरण—उत्पत्ति से पहले सांसारिक पदार्थों की किसी भी रूप में सत्ता नहीं रहती, पुनः कारण सामग्री के सन्निधान से उनकी उत्पत्ति होती है, यह तार्किकों का असत्कार्यवाद या उत्पत्ति पक्ष है। इस पक्ष में अपनी अतीत और अनागत अवस्था में वस्तु अपद–आश्रयरहित होती है, क्योंकि निरुपाख्य होने से वह न तो कहीं सम्बद्ध रहती है और न वहाँ शक्ति या सूक्ष्म रूप में उसका अवस्थान होता है। उसका शरीर न होने से वह अवस्तु और निरात्मक या निःस्वभाव होती है। ऐसी स्थिति में उसकी अदृष्ट और अनियत कारणशक्ति का परिग्रह न तो पूर्ववत् अनुमान से सम्भव है और न शेषवत् से।

अनुमान तीन प्रकार का होता है—१. पूर्ववत्, २. शेषवत् और ३. सामान्यतो दृष्ट। १. पूर्ववत्—पूर्वं अर्थात् कारणं अस्यास्तीति पूर्ववत्—कारण को देखकर अनागत कार्य का अनुमान। जैसे मेघों को देखकर वृष्टि का अनुमान किया जाता है।

यहाँ पर कारण में कारणशक्ति—तथाविध कार्योत्पादन के सामर्थ्य—का अनुमान करना है। जब कार्य दिखलाई देता है तो उसके दर्शन से कारण में कार्यानुरूप कारणशक्ति का परिग्रह अनुमित होता है। और असत् कार्यवाद में कार्य के अविद्यमान रहने से उस समय कारण में कारणशक्ति के अनुमान का हेतु ही नहीं रहता। अतः अनुमाता को उसका अनुमान नहीं होता, इसलिए पूर्ववत् अनुमान सम्भव नहीं।

इसके अतिरिक्त यदि कहा जाय कि अतीत कार्य से कारणशक्ति की शेषवत् अनुमान से अनुमिति होगी तो ऐसा उचित नहीं, क्योंकि प्रस्तुत कार्य के अभाव में कार्यानुकूल शक्ति का अनुमान असम्भव है। 'शेष इति विकार नाम, शिष्यत इति कृत्वा। शेषोऽस्यास्तीति शेषवत्'—युक्तिदीपिका। कार्य को देखकर कारण का अनुमान शेषवत् कहा जाता है। जैसे—अंकुर को देखकर बीज का अनुमान।

एक समय में दो पदार्थों का अव्यभिचार या नियत रूप से उपस्थिति देखकर देशान्तर या कालान्तर में तज्जातीय दो पदार्थों की अव्यभिचरित रूप में उपस्थिति सामान्यतो दृष्ट अनुमान है। वह अतीत और अनागत वस्तु के प्रसङ्ग में सम्भव नहीं।

वृत्तिकार ने यहाँ 'अदृष्ट' इस विशेषण से पूर्ववत् एवं शेषवत् अनुमान ज्ञान का निषेध किया है और अप्रतिनियत या व्यभिचारी इस विशेषण से सामान्यतो दृष्ट का।

वृत्तिः—पक्षान्तरे च विशिष्टव्यक्तिरूपतिरोभावाद् व्यवहारं प्रति तदविज्ञेयं वस्तु निरुपाख्यैरेव तुल्यम्। अथ च तपसा निर्दग्धदोषा निरावरणख्यातयः शिष्टाः प्रतिबिम्बकल्पेन प्रत्यक्षमिव स्वासु ख्यातिषु सङ्क्रान्ताकारपरिग्रहमव्यभिचरितं सर्वं पश्यन्ति ॥ ३७ ॥

विवरण—पक्षान्तर अर्थात् सत्कार्यवाद में विशेष व्यक्तिरूप के अन्तर्हित रहने से उसमें व्यवहार की योग्यता तो रहती नहीं, भले ही उसका अपने कारण में सूक्ष्म एवं अव्यवहार्य रूप विद्यमान हो। अतः वह वस्तु शशविषाण के समान निरुपाख्य या असत् ही है। अतः अनुमान द्वारा अतीत और अनागत पदार्थ का ज्ञान असम्भव है। इसके अतिरिक्त श्रुति और स्मृति विहित तप के द्वारा जो नीरजस्तम हो गये हैं, अत एव जिनकी ख्याति या बुद्धि अविद्यादि क्लेशों के दूर हो जाने से निरावरण या शुद्ध हो गई है, ऐसे शिष्ट लोग अपनी बुद्धियों में सङ्क्रान्त आकार वाले समस्त सूक्ष्म व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों का प्रतिबिम्ब रूप प्रत्यक्ष के सदृश देखते हैं। वस्तुतः योगजन्य प्रतिभा द्वारा ये लोग अतीन्द्रिय पदार्थों को प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

भगवान् पतञ्जलि ने 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (६।३।१०९) के भाष्य में शिष्टों के विषय में इस प्रकार कहा है—

'एतस्मिन् आर्यावर्ते आर्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद्विद्यायाः पारं गतास्तत्रभवन्तो शिष्टाः'।

कैयट और नागेश के अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ का इस प्रकार अर्थ होगा—

आर्यों के निवासस्थान आर्यावर्त में जो ब्राह्मण कुम्भीमात्र धान्य रखने वाले, लोभरहित लाभ या पूजा-सत्कार आदि बिना किसी कारण के सदाचारानुवर्ती, बिना किसी अभियोग[1]=गुरूपदेश और अभ्यास के तपोबल मात्र से सम्पूर्ण विद्याओं के पारगामी हैं, वही परमादरणीय शिष्ट कहे जाते हैं।

चरकसंहिता में आप्त या शिष्टों की प्रस्तुत परिभाषा मिलती है—

आप्तास्तावत्—

---

१. अभियोग अर्थात् गुरूपदेश से सम्यग् ज्ञान युक्त होने से विद्वान् को अभियुक्त कहते हैं।

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये ।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा ॥ १८ ॥
आप्ताः शिष्टा[1] विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम् ।
सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः ॥ १९ ॥

—सूत्रस्थान, अध्याय ११

तप और ज्ञान के बल से जो रजस् और तमस् से सर्वथा मुक्त हो गये हैं, जिनका त्रैकालिक यथार्थग्राही—अमल ज्ञान सर्वदा अव्याहत रहता है, वे आप्त, शिष्ट अथवा विबुद्ध कहलाते हैं । उनका वचन संशय रहित एवं सत्य होता है; नीरजस्तम वे लोग असत्य भाषण कैसे कर सकते हैं ?

हरदत्त ने पदमञ्जरी में 'पृषोदरादीनि'—इस सूत्र पर कहा है—

"शिष्टाः[2] पुनः अकामात्मानः यथार्थवेदिनः यथाविहितभाषिणश्च किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद्विद्यायाः पारगाः यानधिकृत्येदमुच्यते—'आविर्भूतप्रकाशानाम् ।"

कैयट ने उपर्युक्त कारिका को उद्‌धृत किया है । नागेश उसका इस प्रकार अर्थ करते हैं—

'आविर्भूतेति । अविद्यापगमेन योगाभ्याससहकृतप्रत्यक्षेणाविर्भूतसर्वविषयज्ञानानामित्यर्थः । तत्र कारणम्—अनुपप्लुतेति । विहितकर्मानुष्ठानाच्छुद्धान्तःकरणानामित्यर्थः । प्रत्यक्षात् विद्यमानवस्तुविषयास्मदादिप्रत्यक्षादित्यर्थः ॥ ३७ ॥

अनुमान, इस योगज प्रत्यक्ष या प्रातिभा ज्ञान को बाधित नहीं कर सकता—इस बात का प्रस्तुत कारिका में निरूपण करते हैं—

---

१. चक्रपाणिदत्त ने कहा है—'शासति जगत् कृत्स्नं कार्याकार्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशेनेति शिष्टाः ।'

२. शासु अनुशिष्टौ + क्तः 'शास इदङ्हलोः' (६।४।३४) इति उपधाया इकारः 'शासिवसिघसीनाञ्च' (८।३।६०) इति सस्य षः = शिष्टः ।

'न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो मुनिः ।
न च वागङ्गचपल इति शिष्टस्य लक्षणम् ॥'

—महाभारत, आश्वमे०

'धर्मो नाभिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणाः प्रोक्ता नित्यमात्मगुणान्विताः ॥'

—कूर्मपु०, अ० २४ उपविभाग

'मनुः सप्तर्षयश्चैव लोकसन्तानकारणात् ।
तिष्ठन्तीह च धर्मार्थं तान् शिष्टान् परिचक्षते ॥'

—मत्स्यपु०, अ० १२०

अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ।। ३८ ।।

ये आर्षेण चक्षुषा अतीन्द्रियान् असंवेद्यान् भावान् पश्यन्ति, तेषां वचनम् अनुमानेन न बाध्यते ।

जो शिष्ट लोग या योगिगण दिव्य दृष्टि या प्रातिभज्ञान द्वारा ज्ञानेन्द्रियों से परे एवं मनसा अगम्य पदार्थों–भावों को देखते हैं, उनका कथन अनुमान से निरस्त नहीं किया जा सकता ।

वृत्तिः—अन्तर्यामिणमणुग्राममभिजातिनिमित्तनिबन्धनमनभिव्यक्तं शब्दब्रह्म शक्त्यधिष्ठानं देवताः कर्मणामनुबन्धपरिणामशक्तिवैकल्यानि, सूक्ष्ममातिवाहिकं शरीरं, पृथगन्यांश्च तीर्थप्रवादेषु प्रसिद्धानर्थान् रूपादिवदिन्द्रियैरग्राह्यान् सुखादिवत् प्रत्यात्ममसंवेद्यान् ये शिष्टा व्यावहारिकादन्येनैव चक्षुषा मुक्तसंशयमुपालभन्ते, तेषामनुमानविषयातीतं वचनं व्यभिचारिभिरनुमानैरपाकर्तुमशक्यम् । जात्यन्धानां रूपग्रहणमेवमुत्पद्यत इति सावस्था नैवाभ्युपगतपूर्वा कदाचित् । तस्यां कथमनुमानं प्रवर्तेत ।। ३८ ।।

विवरण—वृत्तिकार यहाँ अतीन्द्रिय एवं मन से भी असंवेद्य कुछ पदार्थों को गिनाते हैं । यथा—

अन्तर्यामी—'नित्यनिरतिशयज्ञानशक्त्युपाधिरात्मान्तर्यामीश्वर उच्यते' (शङ्कराचार्य) । नित्य और निरतिशय ज्ञानशक्ति की उपाधि से युक्त आत्मा को अर्न्तयामी या ईश्वर कहते हैं । जिसके विषय में बृहदारण्यकोपनिषद् के अन्तर्यामिब्राह्मण में कहा गया है—'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति एष त आत्मान्तर्यामी अमृतः ।'

सम्पूर्ण चराचर जगत् के अन्तर्गत होकर जो सब का नियमन करता है, वह आत्मा ही अन्तर्यामी है ।

अणुग्राम—चतुर्विध परमाणु-समूह, जो अभिजाति या सृष्टि के निमित्तभूत कर्म के आश्रय हैं । ये चार प्रकार के परमाणु ही अदृष्ट से प्रेरित होकर संयोग के साहाय्य से द्वयणुकादि के क्रम द्वारा शरीर, इन्द्रिय, पृथिवी आदि कार्यों का आरम्भ करते हैं ।

अनभिव्यक्त शब्दब्रह्म—संवर्तावस्थ शब्दब्रह्म, जो विवृत्त नहीं हुआ है तथा जो समग्र शक्तियों का अधिष्ठान है । जिसके सम्बन्ध में 'समाविष्टं सर्वाभिः शक्तिभिः' (प्रथम कारिका की वृत्ति में) कहा गया है । 'अनभिव्यक्त' इस विशेषण से ज्ञापित होता है कि व्यक्त वाङ्मय को भी शब्दब्रह्म कहा जाता है, किन्तु वह इन्द्रिय और मन द्वारा गम्य है । इसके विपरीत अनभिव्यक्त शब्दब्रह्म मन और इन्द्रियों से अतीत है ।

देवता—मूर्त और अमूर्त देवतागण। इसके सम्बन्ध में निरुक्त दैवतकाण्ड में कहा गया है—

'अथाकारचिन्तनं देवतानाम्—

१. पुरुषविधाः स्युरित्येकम्।

२. अपुरुषविधा स्युरित्यपरम्।

३. अपि वोभयविधाः स्युः।

४. अपि वा पुरुषविधानामेव सताम्।

'कर्मात्मान एते स्युर्यथा यज्ञो यजमानस्य'। एक मत है कि देवता पुरुषाकार होते हैं। दूसरा मत है कि आदित्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु आदि देवता अपुरुषविध ही हैं। तीसरा मत है कि ये उभयविध होते हैं। चौथा मत है कि अधिष्ठातृरूप पुरुषाकार होते हुए भी ये कर्मात्मक अग्न्यादि रूप होते हैं। जैसे—यज्ञ यजमान का ही कर्मात्मक रूप होता है।

देव और देवता के विषय में अन्य जानकारी के लिए द्रष्टव्य—'देवतान्तात्तादर्थ्ये यत्' (५।४।२४) पर महाभाष्य।

कर्मणां अनुबन्ध-परिणाम-शक्तिवैकल्यानि—

शुभाशुभ कर्मों के अनुबन्ध अर्थात् फलप्रद संस्कार, परिणाम—सहायान्तर से प्रबोधित शक्ति वाले अनुबन्ध का फलप्रदान के प्रति आभिमुख्य और शक्तिविकलता अर्थात् कार्यान्तर की उत्पत्ति करने में असामर्थ्य ये अतीन्द्रिय पदार्थ हैं। योगदर्शन के व्यासभाष्य ('क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः'—३।१५) में चित्त के अपरिदृष्ट धर्मों में इनकी गणना की गई है।

यथा—'वस्तुमात्रात्मका अपरिदृष्टा। ते च सप्तैव भवन्त्यनुमानेन प्रापितवस्तुमात्रसद्भावाः'।

'निरोध-धर्म-संस्काराः परिणामोऽथ जीवनम्।
चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः॥'

सत्तामात्र रूप में जानने योग्य अपरिदृष्ट धर्म हैं। वे सात हैं। अनुमान से 'हैं' इतना ही उनके सम्बन्ध में ज्ञान होता है—१. निरोध, २. धर्म, ३. संस्कार, ४. परिणाम, ५. जीवन, ६. चेष्टा और ७. शक्ति। ये सात चित्त के अपरिदृष्ट धर्म हैं। इनका आगम एवं अनुमान से सत्तामात्रात्मक बोध होता है। विशेष ज्ञान योगज प्रत्यक्ष से।

सूक्ष्ममातिवाहिकं शरीरम्—

सूक्ष्म अर्थात् दिव्य या अदृश्य शरीर, जो मृत पुरुष को एक देश से दूसरे देश में शरीरान्तर ग्रहण के लिए ले जाने वाला आन्तरिक या अन्तराभव देह होता है, वह आतिवाहिक शरीर कहलाता है।

'इह मृतस्य देशान्तरे शरीरान्तरग्रहणाय यदन्तराभवं शरीरं तद्देशमतिवाहयतीत्यातिवाहिकम्'। —श्रीवृषभ।

इन से पृथक्, ऋद्धि[1] एवं प्रातिहार्य आदि अन्य पदार्थों को, जो आगमिक सिद्धान्तों में प्रसिद्ध हैं और रूपादि के समान इन्द्रियों से अग्राह्य हैं तथा मन से भी नहीं जाने जाते, शिष्ट लोग व्यावहारिक से भिन्न दिव्य चक्षु द्वारा उन पदार्थों को निःसन्दिग्ध रूप में देखते हैं। उन शिष्ट जनों के अनुमान के विषय से अतीत कथन का व्यभिचारी अनुमानों द्वारा निराकरण नहीं किया जा सकता।

जन्मान्ध पुरुषों का रूप ग्रहण इसी प्रकार का होता है। अर्थात् उन्हें जो रूप का आभास होता है जिससे उनका व्यवहार चलता है, वह प्रतिभा द्वारा ही होता है। इसीलिए उन्हें प्रज्ञाचक्षु भी कहते हैं। इस प्रकार की रूपानुभवावस्था कभी भी उनके द्वारा अनुभूत नहीं थी। ऐसी स्थिति में वहाँ अनुमान की प्रवृत्ति सम्भव नहीं। क्योंकि व्याप्तिग्रहण प्रत्यक्षपूर्वक ही होता है और वह बात जात्यन्ध में कहाँ?

नागेश ने उद्योत में प्रस्तुत कारिका का अर्थ इस प्रकार कहा है—

'अतीन्द्रियान्[2]—बाह्येन्द्रियाग्राह्यान्। असंवेद्यान्—अन्यैर्मनसाऽपि अनुपलभ्यमानान्। आर्षेण—योगाभ्याससहकृतदिव्यचक्षुषा। शिष्टवचनविरुद्धमनुमानं न प्रमाणमिति भावः॥ ३८॥

यद्यपि शिष्टों के वचन अनुमान द्वारा बाधित नहीं होते, किन्तु जो उनके वचनों के आधार पर प्रवृत्त होते हैं उन्हें तो अनुमान बाधित कर सकता है—इस पर कहते हैं—

यो यस्य स्वमिव ज्ञानं दर्शनं नातिशङ्कते।
स्थितं प्रत्यक्षपक्षे तं कथमन्यो निवर्तयेत्॥ ३९॥

यः, यस्य दर्शनं, स्वं ज्ञानम् इव न अतिशङ्कते; प्रत्यक्षपक्षे स्थितं तम् अन्यः कथं निवर्तयेत्?

शिष्टवचनों में श्रद्धा करने वाला जो व्यक्ति शिष्ट-योगी के दर्शन—योगज प्रत्यक्ष पर अपने प्रत्यक्ष ज्ञान के समान आशङ्का नहीं करता; योगियों के वचन को अपने प्रत्यक्ष के तुल्य मानने वाले उस व्यक्ति को अन्य तार्किक कैसे उसकी मान्यता से निवृत्त कर सकता है?

प्रत्यक्ष द्वारा स्वयं विदित विषय को कोई भी व्यक्ति अनुमान के आधार पर न माने ऐसा सम्भव नहीं।

---

१. 'पृथग् इति। ऋद्धिप्रातिहार्यादि'—वृषभ। ऋद्धि से तात्पर्य है एतन्नामक देवता और प्रातिहार्य का अर्थ है माया।

२. प्रस्तुत कारिका 'स्फोटसिद्धि' की गोपालिका टीका में (श्लोक २१ की व्याख्या) इस प्रकार उद्धृत है—

'अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषां कोऽतिवर्तितुमर्हति॥'

वृत्तिः—सन्ति प्रतिचरणं प्रतिपुरुषं चाप्ताः । येषां वचनमविचारितं स्वमिव दर्शनमत्यन्तमनतिशङ्कनीयम् । येषां चादृष्टमपि शिलाप्लवनादि प्रत्ययेन शक्यं श्रद्धातुम् । तथा हि—कर्मणामिह कृतानामूर्ध्वं देहादिष्टानिष्टफलप्राप्तिराप्तवचनपरिग्रहेणैव लोके प्रसिद्धा विनापि शास्त्रोपदेशेन प्रायेण मनुष्यैरनुगम्यते ।

इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन् पदद्वये ।
आचण्डालं मनुष्याणामल्पं शास्त्रप्रयोजनम् ।।

तस्मात् प्रत्यक्षमार्षं च ज्ञानं सत्यपि विरोधे बाधकमनुमानस्य ।। ३९ ।।

विवरण—वेद के ऋगादि चार पादों या चरणों में पृथक्-पृथक् निष्णात आप्त पुरुष होते हैं । चरण से तात्पर्य है—ऋगादि वेदों का पृथक्-पृथक् साहित्य । अथवा शाखा, अथवा तत्तत् आचारों से अनुमोदित सम्प्रदाय भेद । श्रीवृषभाचार्य ने कहा है—'प्रतिचरणमिति एकैकस्मिन् ग्रन्थसिद्धान्ते' । अर्थात् पृथक्-पृथक् ग्रन्थगत सिद्धान्त से सम्बद्ध आप्त होते हैं ।

'आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिरव्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा । साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः तया प्रवर्तत इत्याप्तः ।' ––'वात्स्यायन, न्यायदर्शनभाष्य

'आप्तिः रजस्तमोरूपदोषक्षयः, तद्युक्ता आप्ताः ।' —चक्रपाणिदत्त

एक-एक व्यक्ति के लिए अलग-अलग भी आप्त होते हैं । जिनका वचन बिना विचारे अपने दर्शन या प्रत्यक्ष के सदृश माना जाता है तथा नितरां शङ्का से परे होता है । जिनके द्वारा उक्त अदृष्ट भी शिलाप्लवन (पत्थर का तैरना) आदि कर्म प्रामाणिक तथा श्रद्धेय माना जाता है ।

आप्त पुरुष द्वारा कथित श्रद्धागम्य विषय का उदाहरण देते हुए कहते हैं—जैसे इस लोक में किये गये कर्मों की, देहपात के अनन्तर परलोक में इष्ट और अनिष्ट फलों की प्राप्ति आप्त पुरुष के वचनों की स्वीकृति से ही लोक में प्रसिद्ध है और शास्त्रोपदेश के बिना भी प्रायः लोगों द्वारा मानी जाती है—

'प्रपा और तड़ाग आदि का निर्माण यह पुण्य है और दूसरे का घर जला देना आदि यह पाप है' ऐसा मनुष्यों के बीच चण्डाल तक जानता है । इसमें शास्त्र की अपेक्षा नहीं के बराबर है । क्योंकि आप्त पुरुषों द्वारा उपदिष्ट इस प्रकार का विवेचन लोक में प्रसिद्ध है ।

अतः सामान्य प्रत्यक्ष और योगज प्रत्यक्ष या आर्ष ज्ञान, इन दोनों में विरोध होने पर भी ये अनुमान के बाधक हैं ।

'इदं पुण्यमिदं पापम्—' यह श्लोक वाक्यपदीय की चालीसवीं कारिका के रूप में सर्वत्र मिलता है, किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह वृत्तिगत उद्धरण[1] मात्र है,

---

१. श्रीवृषभ के व्याख्यान से भी स्पष्ट है कि यह कारिका नहीं, क्योंकि वे इस पर कोई अवतरणिका नहीं देते, जैसा कि उनका स्वभाव है । वे वृत्ति के सदृश ही इसकी व्याख्या करते हैं ।

कारिकांश नहीं। यह बात 'तथाहि' से लेकर 'तस्मात्—वाधकमनुमानस्य' इस वृत्ति के परिशीलन से स्पष्ट ज्ञात होती है।

वस्तुतः यह श्लोक किसी पुराण का है, जिसे भगवान् भर्तृहरि ने लोकप्रसिद्ध आप्तोक्ति के प्रामाण्य रूप में वृत्ति में उद्धृत किया है। कुमारिल भट्ट ने जैमिनिसूत्र १।१।५। के श्लोक-वार्तिक में इस प्रकार उद्धृत किया है—

'धार्मिका धार्मिकत्वाभ्यां पीडानुग्रहकारिणी।
प्रसिद्धौ हि तथा चाह पाराशर्योऽत्र वस्तुनि ॥
इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन् पदद्वये।
आचण्डालं मनुष्याणामल्पं शास्त्रप्रयोजनम् ॥

श्लोकवार्तिक के टीकाकार उम्वेक ने इस पर कहा है—

'तामेव लोकप्रसिद्धिं व्यासवचनेन दर्शयति—तथा चेति सशेषेण श्लोकेन।'

दूसरे टीकाकार पार्थसारथिमिश्र का व्याख्यान है—'लोकप्रसिद्धिगम्यत्वं धर्माधर्मयोर्भगवता व्यासेनापि दर्शितमित्याह—तथा चेति। व्यासवचनमुदाहरति—इदमिति। इदं प्रपातडागादिकं पुण्यम् इदम् अगारदहनादिकम् अपुण्यमित्येवम् उपकारापकारविषये धर्माधर्मपदद्वये यावच्चाण्डालप्रसिद्धे सति अल्पं शास्त्रप्रयोजनमिति।'

जयन्तभट्ट ने न्यायमञ्जरी में इसे 'तथाह व्यासः' कहकर उद्धृत किया है।

आचार्य अभिनवगुप्त ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी (भाग ३, पृष्ठ १०२) में—'यह मुनिवचन भर्तृहरि द्वारा गृहीत है' ऐसा कहा है—

इदं पुण्यमिदं पापं—अल्पं शास्त्रप्रयोजनम्। इत्यादिमुनिवचनं भर्तृहरिणा आगमप्रामाण्यदार्ढ्याय उपन्यस्तमिति तन्मुखेन इह लिखितम्। तथा प्रस्ताव दार्ढ्यार्थमेव शास्त्रशब्देन विशिष्टवाक्यरचना अत्र उक्ता इति दर्शयति 'ननु' इति।'

'इदं पुण्यं—' इत्यादि मुनि या व्यास का वचन आगमप्रामाण्य की दृढ़ता के लिए भर्तृहरि द्वारा यहाँ उपन्यस्त हुआ है, उसी के अनुसार यहाँ भी कहा गया है। वैसे प्रस्ताव की दृढ़ता के लिए ही शास्त्र शब्द से विशिष्ट वाक्यरचना यहाँ कही गई है। इसी को विवृतिकार[1] 'ननु' इस शब्द से प्रदर्शित करते हैं।

इन प्रमाणों और वृत्ति के सन्दर्भ से स्पष्ट है कि उपर्युक्त श्लोक उद्धरण है, मूल कारिका नहीं। अतः उसे वृत्ति के अन्तर्गत ही यहाँ कहा गया है ॥ ३९ ॥

लोक.प्रसिद्ध आप्तोपदेश या आर्षज्ञान भी आगममूलक है, यह सिद्ध हो चुका। अब आगमप्रामाण्य में तर्क बाधक नहीं है, इसका निरूपण करते हैं—

चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्तते।
आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बाध्यते ॥ ४० ॥

---

१. 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' पर उत्पलाचार्य ने स्वयं विवृति लिखी थी, जो अब उपलब्ध नहीं है। इस पर आचार्य अभिनवगुप्त ने विमर्शिनी नामक टीका लिखी थी। 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' पर इनकी विमर्शिनी टीका पृथक् है।

चैतन्यम् इव यः च अयम् आगमः अविच्छेदेन वर्तते, तम् उपासीनः हेतुवादैः न बाध्यते ।

चैतन्य के समान, जो यह श्रुतिस्मृतिरूप आगम अनादि अविच्छिन्नरूप से वर्तमान है, उसके अनुसार चलने वाला व्यक्ति हेतुवादों या अनुमान से विचलित नहीं किया जा सकता ।

वृत्तिः—यथा ह्यहमस्मीत्येवमादिप्रत्ययानुगतं सहजमनादि यच्चैतन्यं तन्नास्मि, न ममेत्येवमाप्तोपदेशे सत्यपि लोके रूढत्वान् मुक्तात्मनामपि व्यवहारं प्रति न व्यवच्छिद्यते। तथैवायं श्रुतिस्मृतिलक्षणः सर्वैः शिष्टैः परिगृहीत आगमः। कार्याकार्यभक्ष्याभक्ष्यगम्यागम्यादिषु यो भिन्नानामपि प्रवादिनां प्रायेण नातिलङ्घनीयः, तमित्थम्भूतमुपसेवितं वृद्धैः सम्यगुपासीनो न तार्किकप्रवादैः कैश्चिन्न्यायादपनीयते वर्त्मनः। तत्रस्थश्चानिन्द्यो लोके भवति ॥४०॥

विवरण—जैसे 'मैं हूँ' 'यह मेरा है' इस प्रकार के ज्ञान में अनुगत स्वाभाविक—पुरुषोपदेश के बिना सहज रूप में विद्यमान अनादि जो चैतन्य है, वह 'मैं नहीं हूँ' 'यह मेरा नहीं है' इस प्रकार व्यवहार दशा में जीवन्मुक्तों के लिए भी उच्छिन्न नहीं होता, भले ही अहङ्कार को उच्छिन्न करने वाला आप्तोपदेश लोक में रूढ़ हो और जिस प्रकार आत्मा और आत्मीय प्रत्यय से समन्वित चैतन्य अनादि है, वैसे ही श्रुति-स्मृति-रूप आगम समस्त शिष्टों द्वारा प्रमाणरूप में स्वीकृत है। कार्य और अकार्य, भक्ष्य और अभक्ष्य, गम्या और अगम्या आदि विषयों में, जिसका उल्लङ्घन श्रुति-स्मृति को न मानने वाले विभिन्न सिद्धान्तवादी भी प्रायः नहीं करते, ज्ञानवृद्धों द्वारा सेवित इस प्रकार के उस आगम को मानकर चलने वाला व्यक्ति किन्हीं तार्किकवादों द्वारा न्याय्य पथ से हटाया नहीं जाता। आगम की आज्ञा में निरत पुरुष लोक में निन्दा का पात्र नहीं बनता ॥ ४० ॥

आगमनिरपेक्ष अनुमान से दृष्ट विषय में प्रवृत्ति दोषपूर्ण है, इसका निरूपण करते हैं—

हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमे पथि धावता ।
अनुमानप्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः ॥ ४१ ॥

विषमे पथि हस्तस्पर्शाद् धावता अन्धेन इव विषमे पथि अनुमानप्रधानेन विनिपातः दुर्लभः न ।

ऊँचे-नीचे पर्वतमार्ग में आँख वाले नेता के बिना, किसी मार्ग के एकदेश को हाथ के स्पर्श से जानकर उसी के भरोसे (अनुमान मात्र से) अगले मार्ग पर दौड़ने वाले अन्धे के समान प्रत्यक्ष और अनुमान से अगम्य दृष्ट एवं अदृष्ट फल वाले कर्म मार्ग में आगमरूपी नेता के बिना शुष्क अनुमान को आधार बनाकर प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति का पतन निश्चित है ।

वृत्तिः—यस्य हि स्थालीपुलाकन्यायेनैकदेशं दृष्ट्वा शिष्टेऽर्थे प्रतिपत्तिः सोऽन्ध इव विषमे गिरिमार्गे चक्षुष्मन्तं नेतारमन्तरेण त्वरया परिपतन् कञ्चिदेव मार्गैकदेशं हस्तस्पर्शेनावगम्य समतिक्रान्तस्तत्प्रत्ययादपरमपि तथैव प्रतिपद्यमानो यथा विनाशं लभते, तद्वदागमचक्षुषा विना तर्कानुपाती केवलानुमानेन क्वचिदाहितप्रत्ययो दृष्टादृष्टफलेषु कर्मस्वागममुत्क्रम्य प्रवर्तमानो नियतं महता प्रत्यवायेन संयुज्यते ॥ ४१ ॥

विवरण—स्थालीपुलाकन्याय (बटलोई के एक चावल को देखकर शेष को भी पके होने का अनुमान = स्थाली-बटलोई, पुलाक-भात का एक सीथ पका चावल) से एकदेश को देखकर अवशिष्ट दूसरे देश के विषय में उसी प्रकार के होने के अनुमान करने का जिसका स्वभाव है, वह अन्धे के सदृश विषम गिरिमार्ग में आँख वाले मार्गदर्शक के बिना शीघ्रता से भागता हुआ मार्ग के किसी एकदेश को हाथ के स्पर्श से जानकर उसे तो लाँघ जाता है, किन्तु उसी अनुमान[1] से दूसरे देश को वैसा ही समझता हुआ विनाश को प्राप्त होता है। वैसे ही आगमरूपी आँख के बिना तर्क का अनुसरण करने वाले केवल अनुमान से कदाचित् धूम हेतुक अग्नि का निश्चय करके चिकित्सादि दृष्ट फल वाले और भक्ष्याभक्ष्यादि अदृष्ट फल वाले कर्मों के विषय में आगम की उपेक्षा करके प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति निश्चय ही पाप से संयुक्त होता है।

इस कारिका को मल्लवादी[2] ने द्वादशारनयचक्र (पृष्ठ[3] ९९४) में उद्धृत किया है। वहाँ 'हस्तस्पर्शादिवान्धेन' इतना ही सन्दर्भ उद्धृत है। न्यायागमानुसारिणी टीका में भी इतना ही पाठ है। विजयलब्धिसूरि की व्याख्या में पूरा पाठ है। वहाँ 'विषमे पथि धावता' के स्थान पर 'विषमेष्वभिधावता' पाठ है।

नागार्जुन की मूलमध्यमककारिका की प्रज्ञाप्रदीपवृत्ति में भव्य (६०० ई०) ने प्रस्तुत कारिका को उद्धृत किया है। इनकी वृत्ति के टीकाकार अवलोकितव्रत ने आचार्य भर्तृहरि के नामोल्लेखपूर्वक इस पर व्याख्या की है।

जयन्त भट्ट[4] ने न्यायमञ्जरी (पृष्ठ १०८-१०९) में अनुमानप्रामाण्याक्षेप के रूप में इस श्लोक को प्रस्तुत रूप में उद्धृत किया है—'हस्तस्पर्शादिनाऽन्धेन—'

आगे चलकर (पृ० ११३) में उन्होंने कहा है—

'हेतौ सुप्रतिबद्धे हि नैताः सन्ति विडम्बनाः ॥
तादृशा चानुमानेन पुंसोऽर्थमधिगच्छतः ।
नान्धेन तुल्यता हस्तस्पर्शानुमितवर्त्मना ॥'

---

१. जिस प्रकार हाथ के स्पर्श से—इतनी भूमि को कुशलतापूर्वक पार कर आया हूँ, वैसे ही दूसरी को भी पार कर जाऊँगा। 'तत्प्रत्ययात् इति। यथा हस्तस्पर्शादे—तावतीं भुवं क्षेमेणागमं तथापरामपि गमिष्यामीति' ।—श्रीवृषभ।

२. श्रीमल्लवादिक्षमाश्रमण—।

३. श्रीलब्धिसूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला संस्करण।

४. ८५०-९१० ई०।

प्रकृत उपोद्घात का उपसंहार करते हुए कारिकाकार कहते हैं—

तस्मादकृतकं शास्त्रं स्मृतिं च सनिबन्धनाम् ।

आश्रित्यारभ्यते शिष्टैः शब्दानामनुशासनम् ॥ ४२ ॥

तस्मात् अकृतकं शास्त्रं, सनिबन्धनां स्मृतिं च आश्रित्य, शिष्टैः शब्दानाम् अनुशासनम् आरभ्यते ।

आगमनिरपेक्ष शुष्कतर्क का अवलम्बन ग्रहण करने से प्रत्यवाय निश्चित है, इसलिए अकृतक शास्त्र अर्थात् अपौरुषेय वेद और अविच्छिन्न परम्परामूलक गालव, शाकल्य, शाकटायन, स्फोटायन प्रभृति ऋषियों द्वारा उपदिष्ट व्याकरण-स्मृति का सहारा लेकर पाणिनि आदि शिष्ट शब्दानुशासन का आरम्भ करते हैं ।

वृत्तिः—तस्मादपौरुषेयमनतिशङ्कनीयं पुरुषहितोपदेशाय प्रवृत्तमाम्नायं प्रमाणीकृत्य, पृषोदरादिवच्च साधुशब्दप्रयोगेषु शिष्टाचरितमविच्छिन्नपारम्पर्यं स्वचरणसमाचारं परिगृह्य, विरोधे च स्थितविकल्पान्युत्सर्गापवादवन्ति पूर्वेषामृषीणां स्मृतिशास्त्राणि प्रतिकालं दृष्टशब्दस्वरूपव्यभिचाराणि प्रमाणीकृत्येदमाचार्यैः शब्दानुशासनं प्रक्रान्तमनुगम्यते ॥ ४२ ॥

विवरण—अतः पुरुषों द्वारा अप्रणीत अपौरुषेय अत एव रागादि, करणों के दोष से रहित लोगों के हितोपदेश के लिए प्रवृत्त आम्नाय या वेद को प्रमाण मानकर तथा पृषोदरादि के सदृश साधुशब्दों के प्रयोग के विषय में पूर्वशिष्टों द्वारा प्रयुक्त अविच्छिन्न परम्परा वाले 'शिष्टप्रयुक्ताः साधवः' इस स्वसिद्धान्तीय आचार को ग्रहण करके प्रकृत शब्दानुशासन का आचार्यों ने निर्माण किया था । उस शब्दानुशासन में जहाँ दो आचार्यों में विरोध दिखलाई पड़ा वहाँ विकल्प भी स्वीकार किया गया था । जैसे—'लोपः शाकल्यस्य' (८।३।१९) शाकल्य के मत में—अवर्ण है पूर्व में जिनके ऐसे पदान्त य, व का लोप हो जाता है 'अश्' यदि आगे हो । किन्तु दूसरे आचार्यों के मत में नहीं होता । हर एहि, हरयेहि इस प्रकार यहाँ विधि विकल्प स्वीकृत हुआ है ।

इसी प्रकार उत्सर्ग और अपवाद अथवा सामान्य-विशेष-कार्यात्मक वचनयुक्त प्राचीन ऋषियों के स्मृतिशास्त्रों को प्रमाण माना गया है । इन स्मृतिशास्त्रों में प्रतिपादित शब्दों के स्वरूप में समय-समय पर व्यभिचार या वैविध्य भी देखा गया है । इन सब को प्रमाण मानकर पाणिनि-वररुचि आदि आचार्यों ने अपने शब्दानुशासन की रचना की; उसी का यहाँ अनुगमन किया जा रहा है ।

श्रीवृषभाचार्य ने 'प्रतिकालं दृष्टशब्द(शक्ति)स्वरूपव्यभिचाराणि' का द्विधा अर्थ किया है । यथा—

१. 'यदा मेधाविनः सत्त्वाः तदा महता प्रपञ्चेनोपनिबद्धयन्ते, अन्यदा तु संक्षिप्तेनेति । सन्निवेशव्यभिचाराद् दृष्टशब्दस्वरूपव्यभिचाराणि ।

२. अथवा केचिच्छन्दाः कदाचिदभ्युदयाङ्गमिति ते कालभेदेन तैस्तैः स्मर्तृभिरन्यथोपनिबद्धाः। यथा 'मृजेरजादौ सङ्क्रमे' इति प्रागपि मृजेर्विकल्पितवृद्धितयाभ्युदयाङ्गता सम्प्रत्यपि तथानुगमः कृतः'।

न्यङ्कोस्तु पूर्वेऽकृतैजागमस्याभ्युदयाङ्गता स्मरन्ति। यथाहुः—

'न्यङ्कोः प्रतिषेधान्न्याङ्कवम्।' इति तत्सम्प्रत्यन्यथा, यतो नोपसङ्ख्यातः प्रतिषेधः। नैयङ्कवमित्येवाभ्युदयाय।

१. जिस समय लोग मेधावी होते थे, उस समय बड़े विस्तार से शब्दस्वरूपों का उपनिबन्धन किया जाता था तथा अन्य समय में संक्षिप्त रूप से।

२. अथवा कुछ शब्द कालभेद से कभी अभ्युदय का अङ्ग मानकर विभिन्न व्याकरण-स्मृतिकारों द्वारा अन्यथा उपनिबद्ध किये जाते थे। जैसे—अजादि कित् ङित् के आगे होने पर मृज् धातु की विकल्प से वृद्धि जैसे पहले अभ्युदय का अङ्ग मानी जाती थी वैसे ही अब भी मानी जाती है। श्रीवृषभ ने यहाँ महाभाष्य का एक वचन उद्धृत किया है—'मृजेरजादौ सङ्क्रमे'। महाभाष्य का पाठ इस प्रकार है—'इहान्ये वैयाकरणाः मृजेरजादौ सङ्क्रमे विभाषा वृद्धिमारभन्ते—परिमृजन्ति, परिमार्जन्ति, परिममृजतुः, परिममार्जतुः इत्याद्यर्थम्।'

—'इको गुणवृद्धी' सूत्रगत भाष्य।

'संक्रम' यह गुण और वृद्धि के प्रतिषेध से सम्बद्ध कित्, ङित् की प्राचीन वैयाकरणों द्वारा प्रदत्त संज्ञा है—'सङ्क्रम इति गुणवृद्धिप्रतिषेधविषयक्ङितः प्राचां संज्ञा।'

—उद्योत।

प्राचीन आचार्य न्यङ्कु शब्द से अण् प्रत्यय करने पर 'एच्' आगम के बिना 'न्याङ्कवम्' इस प्रयोग को अभ्युदय का अङ्ग मानते थे। किन्तु अब 'नैयङ्कवम्' को।

इत्युपोद्घातकारिकाः॥

अथ प्रकरणम्

अर्थ, सम्बन्ध और फल शब्दमूलक है, अतः व्याकरण-सम्मत शब्द का क्या स्वरूप है, इसका निरूपण करते हैं—

द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते॥ ४३॥

शब्दविदः उपादानशब्देषु द्वौ शब्दौ विदुः। एकः शब्दानां निमित्तम्, अपरः अर्थे प्रयुज्यते।

शब्दविद् वैयाकरण उपादान या वाचक शब्दों में दो अन्य शब्द निहित हैं, ऐसा मानते हैं। एक शब्दों का निमित्त है, जिसे स्फोट कहते हैं और दूसरा स्वरूपार्थ[1] के रूप में प्रयुक्त होता है।

---

१. प्रायः लोग 'अर्थे प्रयुज्यते' का अर्थ करते हैं—अर्थबोधनाय प्रयुज्यते—अर्थ

इस प्रकार प्रत्येक वाचक शब्द तीन शब्दों का समुदाय होता है—१. वाचक या अभिधान शब्द, २. स्वरूपार्थ या अभिधेय शब्द और ३. निमित्त शब्द।

वृत्तिः—उपादीयते येनार्थः, स्वरूपेऽध्यारोप्यते, तद्भावमिवापाद्यते स उपादानशब्दः। एवं हि सङ्ग्रहे पठ्यते—'वाचक उपादानः स्वरूपवान-व्युत्पत्तिपक्षे। व्युत्पत्तिपक्षे त्वर्थाविहितं समाश्रितं निमित्तं शब्दव्युत्पत्तिकर्मणि प्रयोजकम्। उपादानो द्योतक इत्येके। सोऽयमिति व्यपदेशेन सम्बन्धोपयोगस्य शक्यत्वात्।' इति। उपादेयो वा समुदाय उपादानः। तथाहि—स्वरूपपदार्थ-केष्ववयवानामनुपादेयत्वाद् विभागानामप्रतिपत्तिः।

विवरण—यहाँ उपादान शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। स्वरूपार्थ, बाह्यार्थ तथा निमित्त शब्द को अपने में समेट लेने के कारण ही इसे उपादान शब्द कहते हैं। नदी इत्यादि के घोष के लिए भी शब्द शब्द का प्रयोग होता है, अतः उससे भेद दिखलाने के लिए उपादान शब्द गृहीत हुआ है।

श्रीवृषभाचार्य कहते हैं—

उपादान अर्थात् वाचक, जिनके उच्चारण करते ही दो शब्द लक्षित होते हैं। शब्द की अवधारणा और स्वरूपार्थ की अवधारणा, इन दो कार्यों के देखने से इन भेदों का अनुमान किया जाता है। एक शब्द प्रतिपादक का निमित्त है और दूसरा अर्थप्रतिपत्ति का निमित्त।

अथवा शब्दस्वरूप की अवधारणा और अर्थ की अवधारणा। शब्दस्वरूप के दो अर्थ हो सकते हैं—पहला स्फोट और दूसरा पद। अर्थ के भी दो अर्थ सम्भव हैं—एक स्वरूपार्थ और दूसरा बाह्यार्थ।

'प्रतिपादकस्यैकः शब्दो निमित्तम्। अपरः तु अर्थप्रतिपत्तेः।' —श्रीवृषभ।

वृत्तिकार 'प्रतिपादक' का अर्थ कहते हैं—'पदस्य चान्वाख्येयत्वमभ्युपगम्य भू, भूति, भू अति इत्येवमादयः शब्दान्तरसमुदायप्रतिपत्तिहेतवः परिकल्पिता प्रतिपादकाः शब्दा उपादीयन्ते'।

प्रतिपादक शब्द—भू, भू + ति, भू + अ + ति। —वृत्तिकार।
भू, तृ, अति इत्यादि। —श्रीवृषभ।

१. स्फोटरूप शब्द प्रतिपादक का निमित्त है और अन्वाख्येय का भी, अतः स्फोटरूप शब्द यहाँ अभिप्रेत नहीं हो सकता। हाँ, पदरूप शब्द भले ही हो सकता है।

२. अर्थ की प्रतिपत्ति में निमित्त स्फोटात्मक शब्द सम्भव है।

जिससे अर्थ गृहीत हो, शब्दस्वरूप में अर्थाकारसंक्रान्ति रूप अध्यारोप किया गया हो या तद्भाव अर्थात् तद्रूपता की-सी प्राप्ति कराई जाती हो, वह उपादान शब्द

बोधन के लिए प्रयुक्त होता है, अर्थात् वाचक शब्द। इस प्रकार ये लोग तीन शब्द न मानकर दो ही शब्द मानते हैं। यह उचित नहीं जान पड़ता।

है। प्रतिसंक्रान्त या प्रतिबिम्बित है अर्थ का आकार जिसमें, ऐसे शब्द का उच्चारण करता हुआ प्रयोक्ता यहाँ प्रयोजक है। अतः 'आपाद्यते' ऐसा णिजन्त प्रयोग हुआ है।

इसी प्रकार व्याडि ने संग्रह नामक आगम में पढ़ा है—

१ (क) अव्युत्पत्ति पक्ष में स्वरूप शब्द या स्वरूपार्थ को समेटे हुए होने के कारण अर्थ के वाचक—'रामः' 'कृष्णः' 'अग्निः' आदि शब्द उपादान कहलाते हैं। अर्थ के बोध में वाचक शब्द का स्वरूप ही निमित्त है और इस स्वरूपात्मक निमित्त का अस्तित्व समस्त शब्दों में विद्यमान रहता है।

(ख) व्युत्पत्तिपक्ष में 'गौः' इस शब्द के लिए विशिष्ट गमन, गोजातिरूप एक अर्थ का समवायीस्वरूप अर्थ के निमित्त के रूप में अपेक्षित होता है। इसी बात को संग्रह के प्रस्तुत वाक्य में स्पष्ट किया गया है कि व्युत्पत्ति[1] पक्ष में, शब्द के व्युत्पत्ति-कर्म में प्रयोजक अर्थ में गौ रूप अर्थबोध की निमित्तता निहित है तथा उसी के आश्रित है। यहाँ भी वाचक ही उपादान है, किन्तु निमित्त भिन्न है। पूर्वपक्ष में स्वरूपात्मक शब्द निमित्त है तथा दूसरे पक्ष में विशिष्ट गमन रूप अर्थ निमित्त है।

२. कुछ लोग उपादान को वाचक न मान कर द्योतक मानते हैं, क्योंकि द्योतक मानने पर ही 'सोऽयम्' इस अभेद व्यपदेश द्वारा दोनों के अभेद सम्बन्ध का उपयोग सम्भव है। वाच्यवाचकभावसम्बन्ध तो भेद में ही होगा। अर्थ का प्रतिबिम्ब जिसमें पड़ रहा है, ऐसा शब्द अपने से अभिन्न व्यपदिश्यमान और व्यङ्ग्य अर्थ का द्योतक या संकेतक होगा, वाचक नहीं। इन लोगों के मत में चाहे व्युत्पत्ति पक्ष हो अथवा अव्युत्पत्ति पक्ष, उपादान का अर्थ है—द्योतक।

३. अथवा उपादेय या ग्राह्य समुदाय उपादान है। क्योंकि स्वरूपार्थ वाले शब्दों में शब्दावयव अनुपादेय होते हैं, अतः वहाँ विभागों-वर्णों की पृथक् प्रतिपत्ति नहीं है। 'अग्नेर्ढक्' 'गौः इत्ययमाह' इत्यादि में स्वरूपमात्र का बोध होता है; वहाँ अवयवों का ग्रहण अभीष्ट नहीं, क्योंकि उनसे कोई कार्य सम्पन्न नहीं होगा। प्रत्यय की उत्पत्ति अग्नि शब्द के अवयवों से नहीं होती।

अनुकरण—'अग्निमन्तोदात्तमधीष्व' ऐसा उपदेश होने पर अन्तोदात्त 'अग्निः' शब्द का उच्चारण अनुकरण है—ऐसे अनुकरणात्मक शब्दों में भी यदि अवयवों का ग्रहण अभीष्ट हो तो वे पृथक् अनियतक्रम रूप में प्रतीत होंगे। 'गौः इत्ययमाह'—इससे 'औपगवम्' इसमें स्थित औकारादिकों की प्रतीति होगी। यदि ऐसा है तो वहाँ समुदाय ही प्रयोजक होगा, अवयव नहीं।

---

१. यहाँ द्वितीयकाण्ड, श्लोक २६२ की वृत्ति द्रष्टव्य है—'व्युत्पत्तिपक्षे तु निमित्तान्येव प्रयोजकानि।' अव्युत्पत्ति पक्ष में किसी वस्तु के लिए शब्द प्रयोग का आधार उस शब्द का स्वरूप ही होता है और व्युत्पत्ति पक्ष में प्रयोग शब्द का आधार कोई निमित्त बनता है।

प्रथम पक्ष और प्रस्तुत पक्ष में क्या अन्तर है; यह विचारणीय है। वहाँ भी समुदाय का ही ग्रहण होता है। अवयव तो होते ही नहीं और स्वरूपवत्ता भी स्वीकृत है। वस्तुतः इस व्युत्पत्ति से व्युत्पत्ति और अव्युत्पत्ति दोनों पक्ष गृहीत हो जाते हैं, ऐसा समझना चाहिए।

कारिका में उपादान शब्द विशेष अभिप्राय को लिये हुए प्रयुक्त हुआ है। इसकी पारिभाषिकता को व्याडि ने भी स्वीकार किया था। अभिधान, अभिधेय और निमित्त शब्द को समेटने के कारण इसे उपादान शब्द कहते हैं।

वृत्तिः—एको निमित्तं शब्दानाम्। यदधिष्ठाना यदुपाश्रया यदाधाराः श्रुतयः प्रत्याय्यमर्थं प्रतिपद्यन्ते तस्य निमित्तत्वम्।

अपरोऽर्थे। कारणव्यापारात्तु प्रतिलब्धविक्रियाविशेषः श्रोत्रानुपाती प्रकाशकभावेन नित्यं प्रत्याय्य[1]परतन्त्रोऽर्थेषु प्रयुज्यते।

लब्धानुसंहारो निमित्तम्, उपजनितक्रमस्तु प्रत्यायक इत्येके। तस्यापि क्रमरूपप्रत्यस्तमयेनैव प्रतिपत्तिषु प्राप्तसमावेशस्य प्रत्यायकत्वमाचक्षते।

विवरण—एक, शब्दों का निमित्त है। जिस पर स्थित होकर, जिसका आश्रय लेकर जिसके आधार से पद–वाक्यात्मक श्रुतियाँ, प्रत्याय्य–सम्बोध्य अर्थ को प्राप्त करती है, उनका वह अधिष्ठान ही निमित्त है। यह स्फोटात्मक संहृतक्रम शब्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं। महावैयाकरण हेलाराज ने इसे विस्तार से शब्दप्रभा में उद्धृत किया था। वाक्यपदीयं, तृतीयकाण्ड, वृत्तिसमुद्देशगत—

> यो य उच्चार्यते शब्द स स्वरूपनिबन्धनः।
> यथा तथोपमानेषु व्यपेक्षा न निवर्तते॥ ४५४॥

इस कारिका की व्याख्या में उन्होंने कहा है—

इह करणसन्निवेशी परिगृहीतक्रमः शब्दो वाचकोऽग्निमन्तोदात्तमधीष्वे'ति। तस्य च निरूपाधेर्वाचकताऽयोग इति स्वरूपक्रममुपाधित्वेनासावाश्रयति। तथा च 'यदधिष्ठानाः श्रुतयः प्रत्याय्यमर्थमभिनिविशन्त' इति ब्रह्मकाण्डेऽभिहितम्। तदेव च संहृतक्रमं स्वरूपमस्याभिधेयमत्रार्थमपि स्वरूपाच्छुरितं शब्दो वक्तीति निर्णीतचरम्। तत्र करणसन्निवेशिनः स्वरूपाच्छुरितस्य वाचकत्वे प्रयोगस्थं वाच्यं स्वरूपम्। तदपि यदा करणोपारोहि, तदाप्यपरं वाच्यं सहृतक्रमं कल्पयितव्यमिति सर्वत्र त्रितयमन्वयि, निमित्तं, तद्वानभिधेयं चेति॥'

---

१. करणसन्निविष्टेन प्रत्याय्यमानाद् भेदमाह—यो हि प्रत्याय्यः स प्रतिपत्तृबुद्धौ निविशते, प्रत्यायकस्तु प्रयोक्तृकरणे यदभिघाताच्छब्दनिष्पत्तिः। —श्रीवृषभ

'यो य उच्चार्यते शब्दः नियतं न स कार्यभाक्।६१। उच्चरन् परतन्त्रत्वात् गुणः कार्यैर्न युज्यते॥ ६२॥ —ब्रह्मकाण्ड-कारिका

परतन्त्रत्वात्—प्रत्याय्यपरतन्त्रत्वात्। अनेनाप्रधानतामाह यदत्र पारतन्त्र्येणाप्रधानत्वं तेनाप्यकार्यभाक्त्वम्, गुणत्वात्। —श्रीवृषभ।

'तालु आदि करणों में सन्निविष्ट क्रमयुक्त शब्द वाचक होता है। आचार्य द्वारा उच्चरित 'अन्तोदात्त अग्नि शब्द को पढ़ो' इस वाक्य में अग्नि शब्द वाचक है। किन्तु जब तक वह उपाधि-विहीन रहता है, उसमें वाचकता नहीं आती, अतः वह अक्रम स्वरूप को उपाधि बनाकर उसका आश्रय लेता है। जैसा कि ब्रह्मकाण्ड में कहा है— जिसे अधिष्ठान आश्रय या आधार बना कर श्रुतियाँ या पद प्रत्याय्य अर्थ को प्राप्त करते हैं, वही संहृतक्रम स्वरूप इसका अभिधेय है। यहाँ स्वरूप से उपरञ्जित अर्थ को शब्द कहता है—यह पहले ही निर्णीत हो चुका है। वहाँ स्वरूप से उपरञ्जित करणसन्निवेशी शब्द जब वाचक होता है, तब प्रयोगस्थ उसी शब्द को वाच्य-स्वरूप कहते हैं। वह भी जब करणों में उपारूढ होता है, तब दूसरे वाच्य की कल्पना की की जाती है, जो संहृतक्रम होता है। इस प्रकार सर्वत्र शब्दत्रितय का अन्वय रहता है—पहला निमित्त, दूसरा निमित्तवान् या वाचक और तीसरा अभिधेय।'

तात्पर्य यह है—जिस-जिस शब्द का उच्चारण किया जाता है, वह स्वरूप से बँधा रहता है। स्वरूप दो प्रकार का होता है—एक संहृतक्रम और दूसरा गृहीतक्रम। संहृतक्रम स्वरूप ही वाचकता योग के लिए वाचक शब्द की उपाधि या अधिष्ठान बनता है। हेलाराज यहाँ अक्रम स्वरूप को वाचक शब्द की उपाधि या अधिष्ठान के रूप में स्वीकार करते हैं। वे अपने निर्णय को भगवान् भर्तृहरि की 'तथाहि यदधिष्ठाना' इस वृत्ति का उद्धरण देकर प्रमाणित करते हैं। यह संहृतक्रम स्वरूप ही निमित्त शब्द या स्फोट है।

उपादान शब्द में रहने वाला दूसरा शब्द अर्थ के रूप में प्रयुक्त होता है, अर्थात् करणव्यापार या स्थान और करण के अभिघात से, जो पहले शक्ति के रूप में विद्यमान था, अभिव्यक्त होता है (—जन्मादि क्रियाओं के द्वारा विकार को प्राप्त करता है—श्रीवृषभ) पञ्चाधिकरण,[1] जो सांख्य के प्राचीन आचार्य हैं, उनके मत में अनुपलब्ध वस्तु का उपलब्ध होना ही विकारभाव है।

'पञ्चाधिकरणदर्शने त्वनुपलब्धस्य तत उपलभ्यता विक्रियातिपत्तिः।'

—श्रीवृषभ।

वह जब श्रोता के कानों का विषय बनता है तो प्रकाशकभाव से नित्य प्रत्याय्य या वाच्यार्थ के आकार को ग्रहण करके स्थित होने से तदधीन होता हुआ स्वरूपार्थों या स्वरूपात्मक शब्दों के रूप में प्रयुक्त होता है।

शब्दों के उच्चरित होने पर अर्थत्रितय का ज्ञान होता है—एक आत्मीय रूप (स्वरूप), दूसरा बाह्यार्थ और तीसरा वक्ता का अभिप्राय। इसी प्रकार तीन प्रकार के शब्दों का भी अभिन्न रूप से ज्ञान होता है। कभी-कभी बाह्यार्थ और वक्ता के

---

१. हारीत-बाद्धलि-कैरात-पौरिक-ऋषभेश्वर-पञ्चाधिकरण-पतञ्जलि-वार्षगण्य-कौण्डिन्य-मूकादिक 'शिष्यपरम्परयागतम्'। —युक्तिदीपिका, सां० का० ७० टीका

अभिप्राय की उपलब्धि होती है और कभी-कभी संशय रहता है। हाँ, स्वरूपों की उपलब्धि के अनन्तर तो सन्देह होता ही नहीं।

ज्ञानं प्रयोक्तुर्बाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते।
शब्दैरुच्चरितैस्तेषां सम्बन्धः समवस्थितः॥ १॥
प्रतिपत्तिर्भवत्यर्थे ज्ञाने वा संशयः क्वचित्।
स्वरूपेषूपलब्धेषु व्यभिचारो न विद्यते॥ २॥

अभिधान, अभिधेय और निमित्त भेद से भिन्न रूप होने के कारण 'स्वरूपेषु' ऐसा बहुवचन के रूप में कारिका में कहा गया है। तीनो स्वरूप ही हैं।

१. स्थान और प्रयत्नात्मक करणों में सन्निविष्ट शब्द वाचक है।

२. अर्थ के पक्ष में पतित अर्थात् जिसे अर्थ भी कहा जाता है, बाह्यार्थ के साथ अभिन्न रूप में ज्ञेय जो स्वरूप है, वह वाच्य शब्द है।

३. शब्दार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के ज्ञान के अवसर पर अनुभव में आने वाला, अभिन्न अर्थात् एक वर्ण, पद या वाक्य रूप श्रुति के विषय या देश का नियामक अर्थ की प्रवृत्ति में निमित्त शब्द ही निमित्त है।

व्यवहार के अभ्यास से एवं श्रुतिसाम्य के कारण यह शब्दत्रितय पृथक्-पृथक् भासित नहीं होता। श्रुति में अविशिष्ट होने के कारण वह स्वरूप के नाम से व्यवहृत होता है, सर्वथा अभिन्न होने के कारण नहीं।

'अभिधानाभिधेयनिमित्तभेदाच्च भिन्नरूपमिति स्वरूपेषु इत्याह। तथा हि— करणसन्निवेशि वाचकम्, स्वरूपमर्थपक्षनिक्षिप्तं बाह्याभेदेन सञ्चेत्यमानं वाच्यम्, सम्बन्धसंवेदनसमयानुभूतमभिन्नश्रुतिविषयनियामकत्वादर्थप्रवृत्तिनिमित्तम् इति त्रितयं सर्वत्राव्यभिचारि। व्यवहाराभ्यासच्छ्रुतिसाम्याच्च नैतत्त्रितयं विवेकेनावधार्यते। श्रुत्यविशेषाच्च तत्स्वरूपमिति व्यवह्रियते न तु सर्वथैवाविभेदात्॥' —हेलाराज।

'अर्थे प्रयुज्यते' का अर्थ लोग 'अर्थबोधनाय प्रयुज्यते' ऐसा करते हैं, किन्तु यह वृत्तिग्रन्थ से विरुद्ध है। वहाँ 'अर्थेषु प्रयुज्यते' ऐसी व्याख्या की गई है, जो स्वरूपार्थ के लिए समुचित जान पड़ती है।

कुछ वैयाकरणों का मत है कि अनुसंहार[1] या उपसंहार को प्राप्त शब्द निमित्त है और क्रमात्मक शब्द प्रत्यायक। अन्तर्निविष्ट शब्द को ही लब्धानुसंहार कहते हैं—

'सर्वेषु च पक्षेषु अन्तर्निवेशिन एव प्राप्तानुसंहारात् शब्दात्।'

—वृत्ति, द्वि० काण्ड, कारिका ३१

उस उपजनित क्रम शब्द के भी क्रमरूप के संहृत होने से ही श्रोता की बुद्धियों में समाविष्ट शब्द की प्रत्यायकता वैयाकरण लोग बतलाते हैं। अन्यत्र भी कहा है—

---

१. 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२) के वार्तिक में पठित है—'स्थाने विज्ञातस्यानुसंहारः'। नागेश उद्योत में कहते हैं—अनुसंहारः-उपसंहारः।

'संसृष्टशक्तयश्च क्रमसंहारेण समाविष्टवाचां प्रयोक्तृणां शब्दा बुद्धौ प्रयत्नेन प्राणे करणेषु च क्रमवृत्तितामनुभूय प्रतिपत्तृष्वपि क्रमप्रत्यस्तमयेनैव समावेशं प्रतिपद्यन्ते।'

—वृत्ति, द्वि० काण्ड, कारिका १९।

क्रम-संहार द्वारा जिनकी शक्तियाँ घुल-मिल गई हैं, ऐसे शब्द प्रयोक्ताओं की चेतना के साथ एकात्मरूपता को प्राप्त किये रहते हैं। पुनः विवक्षा द्वारा बुद्धि में प्रयत्न से प्राण एवं करणों में क्रमिक स्थिति का अनुभव करके प्रतिपत्ताओं या श्रोताओं में भी क्रमसंहार द्वारा ही समाविष्ट होते हैं।

मूल में 'प्रतिपत्तिषु' ऐसा पाठ है। श्रीवृषभ भी इसी पाठ को ग्रहण करते हुए व्याख्या करते हैं—'शब्दबुद्धिषु'। किन्तु उपर्युक्त वृत्ति के पाठ से 'प्रतिपत्तृषु' यह पाठ अधिक सङ्गत लगता है।

वृत्तिः—अपर आह—क्रमवानक्रमनिमित्तम्। अक्रमे तु रागात्मनि श्रुत्यर्थ-शक्ती संसृज्येते। एवं ह्याह—

अविभक्तो विभक्तेभ्यो जायतेऽर्थस्य वाचकः।
शब्दस्तत्रार्थरूपात्मा सम्भेदमुपगच्छति॥ ४३॥

विवरण—दूसरा मत है कि क्रमवान् शब्द अक्रम शब्द का निमित्त है। तात्पर्य यह है कि वक्ता द्वारा उच्चरित सक्रम शब्द श्रोता की बुद्धि में व्यवस्थित अक्रम शब्द का, जो कि प्रत्यायक है, निमित्त है। वक्ता के करणव्यापार से क्रमसम्पन्न शब्द श्रोतृबुद्धिस्थ अक्रम शब्द का उपायभूत है। इसी अक्रम-बुद्धिस्थ वागात्मा–वाचक शब्द में श्रुति एवं अर्थ शक्ति अर्थात् प्रत्यायक और प्रत्याय्य शक्ति एकीकृत रूप में विद्यमान रहती है। जैसा कि कहा है—

'अक्रम श्रोतृबुद्धिस्थ शब्द वर्णों, पदों एवं वाक्यों के रूप में विभक्त होकर अर्थ का वाचक बनता है। वहाँ बुद्धि में अर्थाकारात्मक शब्द अभेद को प्राप्त करता है। बौद्ध शब्द और अर्थ का तादात्म्य होता है; बौद्ध शब्द से ही अर्थ की प्रतीति होती है। यही वाच्य-वाचक व्यवस्था है।

प्रस्तुत उद्धरण संग्रह का ही प्रतीत होता है॥ ४३॥

अब पूर्वोक्त निमित्त और स्वरूपात्मक शब्द में भेद और अभेद का निरूपण करते हैं।

आत्मभेदस्तयोः केचिदस्तीत्याहुः पुराणगाः।
बुद्धिभेदादभिन्नस्य भेदमेके प्रचक्षते॥ ४४॥

केचित् पुराणगाः तयोः आत्मभेदः अस्ति इति आहुः। एके अभिन्नस्य बुद्धिभेदात् भेदं प्रचक्षते।

कुछ प्राचीन स्मृतिकार उन दोनों निमित्त या स्फोटात्मक और स्वरूपार्थ या वैखर्यात्मक शब्दों में स्वाभाविक भेद है, ऐसा कहते हैं। कुछ लोग एक अभिन्न शब्द का बुद्धिभेद से भेद बतलाते हैं।

वृत्तिः—आत्मभेदस्य ब्रुविकर्मत्वे द्वितीया, वाक्यस्वरूपानुकरणे तु प्रथमा। तत्र कार्यकारणयोरन्यत्वपक्षे भेदः। पक्षान्तरे त्वेकस्यैवात्मनः शक्तिद्वयप्रविभागरूपपरिग्रहकृताद् बुद्धयवच्छेदान्नानात्वकल्पना। शब्दाकृतिव्यक्तिभेदाभेदव्यपाश्रयो वा पूर्वेषामाचार्याणां दर्शनभेद इति परस्तादेतद्वस्तुगत एव प्रपञ्चो भविष्यति॥ ४४॥

विवरण—'भेदमेके प्रचक्षते' में आत्मभेद के 'ब्रू' का कर्म होने से द्वितीया हुई और 'आत्मभेदस्तयोरस्ति' इसे पुराणगोक्त वाक्य के अनुकरण में प्रथमा।

जिन लोगों का मत है कि कारण से कार्य पृथक् होता है, उनके पक्ष में निमित्त और प्रतिपादक शब्दों में भेद होता है। और पक्षान्तर में एक ही शब्दात्मा के कारण शक्ति और कार्यशक्ति के भेद रूप की स्वीकृति से बुद्धिभेद उत्पन्न होता है और इस बुद्धिभेद के कारण एक अभिन्न शब्दात्मा में नानात्व की कल्पना की जाती है। अथवा शब्द की आकृति और व्यक्ति में भेद तथा अभेद मानने से प्राचीन आचार्यों के बीच मतभेद या दर्शन-भेद देखा जाता है। आगे चलकर इस विषय का विस्तार से निरूपण किया जायेगा।

आचार्य श्रीवृषभ ने कहा है—'शब्दाकृतिव्यक्ति इति।' शब्दस्य ये आकृतिव्यक्ती तयोर्यौ भेदाभेदौ तद्व्यपाश्रयेण। तत्र केषाञ्चिच्छब्दाकृतिर्निमित्तं शब्दव्यक्तिर्वाचिका। अपरेषामेतदेव विपरीतम्। तयोश्च केचिद् भेदं, अभेदं चापरे प्रतिपन्नाः।

कुछ लोग मानते हैं कि शब्दाकृति निमित्त है और शब्दव्यक्ति वाचिका। अन्य लोगों का मत इसके विपरीत है। अर्थात् शब्दव्यक्ति निमित्त है और शब्दाकृति वाचिका। उन दोनों में कुछ लोग भेद मानते हैं तथा अन्य लोग अभेद॥ ४४॥

निमित्त शब्द ही वाचक एवं स्वरूपात्मक शब्दों तथा वक्ता के अभिप्रायात्मक अर्थ, बाह्यार्थ एवं मुख्य अभिधेय का आधार है। अतः सर्वप्रथम उसी का निरूपण करते हैं—

अरणिस्थं यथा ज्योतिः प्रकाशान्तरकारणम्।
तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक्॥ ४५॥

अरणिस्थं ज्योतिः यथा प्रकाशान्तरकारणम्, तद्वत् बुद्धिस्थः शब्दः अपि पृथक् श्रुतीनां कारणम्।

अरणिकाष्ठ के अन्तर्गत ज्योति, जैसे अभिव्यक्त अग्नि का कारण है, वैसे ही बुद्धिस्थ अक्रम स्फोटात्मक शब्द भी भिन्न-भिन्न वर्ण, पद एवं वाक्यात्मक अर्थप्रकाशक श्रुतियों का कारण है।

वृत्तिः—एकत्वपक्षे नानात्वपक्षे वा बीजसत्तावस्थस्याविवृत्तस्य ज्योतिषो यथोत्तरेण प्रकाशात्मनाऽभिप्रज्वलितस्य स्वपररूपप्रतिपत्तिकारणत्वं प्रागसंवेद्य पश्चादुपजायमानं दृश्यते। तथैव शब्दभेदभावना(बीजा)नुगते बुद्धितत्त्वे योऽयं शब्दः प्राप्तपरिपाके स्वबीजे लब्धाभिमुख्यः स्थानकरणाद्यनुगृहीतो विवर्तते स व्यञ्जकध्वनिभेदानुपातेन व्यवच्छिद्यमानोद्देशः पौर्वापर्यवानुपलभ्यमानः स्वरूपपररूपयोः प्रकाशको भवति ॥ ४५ ॥

विवरण—चाहे एकत्व पक्ष अर्थात् सत्कार्यपक्ष माना जाय अथवा नानात्वपक्ष अर्थात् असत्कार्यवाद; अरणिकाष्ठ के अन्तर्गत अविवृत्त (संवर्तात्मक) रूप ज्योति का बीज में अस्तित्व रहता है। पश्चात् काष्ठद्वय के निघर्षण से स्थूल प्रकाश रूप में प्रज्वलित ज्योति स्वरूप और घट-पटादि पररूप के बोध का कारण बनती है। उत्पत्ति से पूर्व सूक्ष्म बीजावस्था में यह असंवेद्य रहती है और पश्चात् विवर्तदशा में उत्पन्न होती हुई दिखलाई देती है। ठीक उसी प्रकार बुद्धितत्त्व में शब्दों के विभिन्न भेद या शब्दशक्तियाँ एक साथ अभिन्न रूप में विद्यमान रहती हैं। पश्चात् जो यह शब्द अपने बीजांश में परिपक्व होकर विवर्ताभिमुख होता हुआ तालु आदि आठ स्थानों, करण–आभ्यन्तरप्रयत्नों एवं अनुप्रदान–बाह्यप्रयत्नों से अनुगृहीत होकर विवर्तावस्था को प्राप्त होता है, वह व्यञ्जक ध्वनिभेद के अनुपात या अनुविधान से परस्पर व्यावृत्त प्रदेश वाले अत एव पौर्वापर्य रूप क्रम से सम्पन्न शब्द, स्वरूप और पर रूप को प्रकाशित करता है।

श्री वृषभ सूचित करते हैं कि यहाँ कुछ लोग समस्त पाठ पढ़ते हैं। यथा—'व्यवच्छिद्यमानोद्देशपौर्वापर्यवान्'। वे इसकी व्याख्या में कहते हैं—व्यवच्छिद्यमाना ये उद्देशाः तेषां यत्पौर्यापर्यं तद्वान्। 'उपलभ्यमानः' पर श्री वृषभाचार्य का लेख है—

'वस्तुतः' शब्द का उद्देश-विभाग नहीं होता, केवल स्थान और करणों के अभिघात से जन्य व्यञ्जक ध्वनि के अनुविधान से उस रूप में उपलब्ध होता है। इस प्रकार का शब्द स्वरूप और पररूप या अर्थ का प्रत्यायक होता है। वक्ता की बुद्धि में स्थित अनभिव्यक्त वह शब्द ही निमित्त है और ध्वनि से व्यक्त शब्द प्रतिपादक। क्योंकि उसे ही अभिव्यक्त करने के लिए वक्ता स्थान और करणों के अभिघात का आश्रय लेता है॥ ४५ ॥

प्रस्तुत कारिका द्वारा निमित्त शब्द के कार्यकारणभाव का निरूपण करते हैं—

वितर्कितः पुरा बुद्धया क्वचिदर्थे निवेशितः ।
करणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते ॥ ४६ ॥

पुरा बुद्धया वितर्कितः क्वचिदर्थे निवेशितः सः करणेभ्यः विवृत्तेन ध्वनिना अनुगृह्यते।

उच्चारण से पूर्व बुद्धिवृत्ति द्वारा विशिष्ट रूप में चिन्तित (अन्य शब्दों को दूर करके पृथक् रूप में निरूपित) तथा किसी अर्थविशेष से तादात्म्यापन्न वह अविकृत शब्दतत्त्व स्थानकरणाभिघात से उपचित या विवर्त को प्राप्त ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्त होता है।

वृत्तिः—इह शब्दार्थयोः सोऽयमिति सम्बन्धानुगमे क्रियमाणे यच्छब्दरूपमर्थे समारोपयितुमिष्यते, यस्मिँश्चार्थरूप(यस्मिन् वार्थरूप)मुपयोगेन व्यावेशं (अनुप्रवेशं) लभते, तत्पूर्वं बुद्धिनिरूपणया कृतसंस्पर्शमभिधेयात्मनि प्राप्यमाणं यथाभिप्रायं रूपविपर्यासिनेव रूपान्तरोपग्राहि स्वरूपं निवेशयति।

विवरण—शब्द और अर्थ का सम्बन्ध (तादात्म्य) पहले से विद्यमान है, उसका नये सिरे से कोई निर्माण नहीं करता। हाँ, उसका अनुगम या बोधमात्र व्यवहार के लिए आवश्यक है। इस बात को ध्यान में रखकर वृत्तिकार कहते हैं—

'यह वही है' इस प्रकार शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का जब अनुगम करना हो तो जो शब्दरूप अर्थ में समारोपित करने के लिए अभीष्ट हो अथवा जिस शब्दरूप में अर्थ का आकार उपयुक्त होकर अनुप्रविष्ट होता हो, वह शब्दरूप उच्चारण से पहले बुद्धि में निरूपित होता है। तात्पर्य यह है कि बुद्धि में सभी शब्द और सभी अर्थ विद्यमान रहते हैं; और जब वक्ता कुछ कहना चाहता है तो उसके अभिप्राय के अनुसार अन्य शब्दों और अर्थों को छोड़कर वही शब्द और अर्थ तादात्म्यापन्न होकर बुद्धि में उभरते हैं, जो तात्कालिक व्यवहार के लिए उपयोगी होते हैं। यही बुद्धिनिरूपणा है। इस स्थिति में ऐसा प्रतीत होता है जैसे शब्द का रूप बदल कर अर्थ रूप को ग्रहण कराने वाला स्वरूप सन्निविष्ट हो गया हो। जैसे दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब पड़ने पर दर्पण का रूप बदल-सा जाता है, वैसे ही यहाँ शब्दरूप में अर्थाकार प्रतिबिम्बित होकर उसके रूप को परिवर्तित-सा कर देता है; परमार्थतः उसके स्वरूप की हानि नहीं होती।

विवक्षा और शब्दार्थ-सम्प्रेषण एवं ग्रहण की प्रक्रिया को समझने के लिए पहले उद्धृत निरुक्त के 'व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य' इस वचन की दुर्गवृत्ति देखना चाहिए।

वृत्तिः—करणेभ्यो विवृत्तेन इति। अविक्रियाधर्मकं हि शब्दतत्त्वं ध्वनिविक्रियाधर्माणमनुविक्रियते। तच्च सूक्ष्मे व्यापिनि ध्वनौ करणव्यापारेण प्रचीयमाने स्थूलेनाभ्रसङ्घातवदुपलभ्येन नादात्मना प्राप्तविवर्तेन तद्विवर्तानुकारेणात्यन्तमविवर्तमानं विवर्तमानमिव गृह्यते ॥ ४६ ॥

विवरण—स्फोटात्मक शब्दतत्त्व अविक्रियाधर्म वाला है। नित्य होने के कारण उसमें वृद्धि अथवा ह्रास नहीं होता। श्रीवृषभ कहते हैं—

'अविक्रियाधर्मकमिति। नोदयव्ययौ तत्र स्तः, नित्यत्वात्। यदाह शब्दतत्त्वम् इति। स्फोटार्थम्।' स्फोटार्थम् के स्थान पर स्फोटाख्यम् पाठ रहा होगा।

विक्रियाधर्मवाली ध्वनि से आच्छादित होने के कारण तद्वशात् उपलब्ध होने वाला शब्दतत्त्व अविकृत होने पर भी ध्वनि के साथ विकृत होता हुआ जान पड़ता है।

वह शब्दतत्त्व उन सूक्ष्म समग्र आकाशव्यापी, परमाणुकल्प, ध्वनि या नादांशों के करणव्यापार (स्थान-प्रयत्न) द्वारा प्रचित (उपचित) होने पर मेघपटल के समान स्थूल नाद के रूप में विवर्तित होता है। ध्वनि या नाद के विवर्त का अनुकरण करता हुआ शब्दतत्त्व अविवृत्त होता हुआ भी विवर्तमान के समान लक्षित होता है।

कारिका और वृत्ति में शब्दतत्त्व, ध्वनि और नाद की चर्चा आई है। बुद्धिस्थ अक्रम अविक्रियाधर्मक शब्द ही शब्दतत्त्व है और यही स्फोट भी है। ऐसा 'नादस्य क्रमजन्यत्वात्—' की वृत्ति 'स धर्मः स्फोटनादयोः' इस कारिका तथा श्रीवृषभ के पूर्वोक्त व्याख्यान से स्पष्ट हो जाता है।

ध्वनि और नाद पर्यायवाची हैं। ध्वनि दो प्रकार की होती है—एक सूक्ष्म एवं आन्तर-बाह्य आकाशव्यापी ध्वनि, जो परमाणु सदृश होती है। ये नादाणु या ध्वनि भाग आन्तरिक आकाश एवं बाह्य व्योम में परिव्याप्त रहते हैं तथा दूसरी स्थूल-ध्वनि या नाद है, जो करणव्यापार से अभिवृद्ध होकर कर्णगोचर होता है। वर्ण, पद और वाक्य ध्वनि (स्थूल) तो ताल्वादि स्थान तथा आभ्यन्तर एवं बाह्य-प्रयत्न जन्य है, किन्तु बाह्याकाश में व्याप्त सूक्ष्मध्वनि संयोग अथवा विभाग से प्रचित (स्थूल) होकर सुनाई देती है। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि संयोग और विभाग स्थान-प्रयत्न में घटित होता है, जिससे सार्थक स्थूल ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं किन्तु भेरी के आघात से जन्य संयोगज तथा बाँस के फाड़ने से उत्पन्न चटचटादि शब्द निरर्थक होते हैं। दोनों ही व्यापक सूक्ष्म, परमाणुकल्प ध्वनियों के विवर्त हैं।

जो लोग ध्वनि और नाद में भेद मानते हैं, वे कारिका और वृत्ति से विरुद्ध होने के कारण उपेक्षणीय हैं॥ ४६॥

बुद्धिस्थ स्फोटात्मक निमित्त शब्द या शब्दतत्त्व अक्रम और एक है, फिर भी वर्ण, पद और वाक्यात्मक उपाधि-भेद से भिन्न-सा प्रतीत होता है; इस बात का निरूपण करते हैं—

नादस्य क्रमजन्मत्वान्न पूर्वो न परश्च सः।
अक्रमः क्रमरूपेण भेदवानिव जायते॥ ४७॥

न पूर्वः न परः च सः अक्रमः, नादस्य क्रमजन्यत्वात् क्रमरूपेण भेदवान् इव जायते।

बुद्धिस्थ शब्दतत्त्व या स्फोट, पूर्वापरीभूत अवयवों के अभाव से स्वतः क्रम रहित है, फिर भी व्यञ्जक नाद या ध्वनि की क्रमिक उत्पत्ति के कारण क्रमयुक्त तथा भिन्न-भिन्न-सा प्रतीत होता है।

वृत्तिः—क्रमवता हि व्यापारेणोपसंह्रियमाणप्रचयरूपो नादः सप्रतिबन्धाभ्यनुज्ञया वृत्त्या स्फोटमवद्योतयति। स तदानीमेकोऽपि विभक्तोद्देशावच्छेद इव प्रत्यवभासते। तस्य तु क्रमयौगपद्ये नित्यत्वैकत्वाभ्यां विरोधान्न विद्येते। तेनासावेकत्वमनतिक्रामन् संसर्गिणो नादस्य भेदरूपमुपसङ्गृह्णाति। संसर्गिधर्म एवायमित्थम्भूतः। तथा ह्यत्यन्तमभिन्नात्मा भिन्नरूपावयवोऽवयवी नानादेशस्थिताधारो वैचित्र्येणोपलभ्यते ॥ ४७ ॥

विवरण—नाद क्रमवाला है, क्योंकि उसको जन्म देने वाले स्थान और करणों के अभिघात भी क्रमवान् देखे जाते हैं। अतः कारणभूत स्थानकरणाभिघातात्मक क्रमिक व्यापार से शब्दाणुओं के उपचय के उपसंहार से जन्य वर्ण, पद या वाक्यात्मक एक नाद या स्थूल ध्वनि प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञात्मक वृत्ति से स्फोट को अभिव्यक्त करती है। 'नारायण' इस पदस्फोट को श्रोता की बुद्धि में अवद्योतित करने के लिए सर्वप्रथम जो 'ना' यह ध्वनि भाग उत्पन्न होता है, वह स्फोट का ही मानों भाग अभिव्यक्त है। इस प्रकार की अभ्यनुज्ञा ध्वनि द्वारा प्रदान की जाती है, साथ ही उसके अतिरिक्त 'रा' 'य' और 'ण' इन भागों की अभिव्यक्ति को मानों वह अवरुद्ध-सी करती है। पश्चात् 'रा' की अभ्यनुज्ञा और 'य' का प्रतिबन्ध इसी प्रकार का क्रम चलता है। चाहे पद हो या वाक्य ध्वनि भागों के प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा से उनमें क्रम उत्पन्न होता है। इस स्थिति में अर्थात् पदस्फोट या वाक्यस्फोट की अभिव्यक्ति के अवसर पर वह एक अक्रम स्फोट, वर्णस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट रूप में क्रमवान् पृथक्-पृथक् अवयव विभागों में विभक्त-सा भासित होता है।

नित्यता और एकता का विरोधी होने के कारण नित्य और एक अखण्ड स्फोट में क्रमभाव और युगपद भाव नहीं रहता। अतः एक अखण्डतारूप स्वरूप का त्याग किये बिना ही यह स्फोट संसर्गी या सम्बन्धी, अभिव्यञ्जक नाद के वर्ण-पदादि भेदरूप को ग्रहण कर लेता है।

संसर्गी या सम्बन्धी का यह ऐसा धर्म ही है कि उसके सम्पर्क में आकर वस्तु अपने स्वरूप को न छोड़ती हुई संसर्गी के रूप में भासित होती है। अर्थात् भिन्नरूप अवयवों वाला अवयवी अत्यन्त अभिन्नात्मक बुद्धिस्थ शब्दतत्त्व या स्फोट नाना देशों में स्थित वर्ण, पद वाक्यादिरूप आधार वाला होने से विचित्र रूप में उपलब्ध होता है।

इस पर श्रीवृषभ ने कहा है—जैसे नीलादि गुणयुक्त तन्तुरूप अवयवों में समवायसम्बन्ध से नीलादिकों के रहने से अविचित्र भी अवयवी पट सम्बन्धीवश विचित्र रूप में भासित होता है।

जिनके मत में अवयव-गुण अवयवी में गुणान्तर का आरम्भ करते हैं ऐसा है, उनके अनुसार भी वैचित्र्य गुणान्तर में ही होता है, उसके आश्रयद्रव्य में नहीं। केवल उसके सम्पर्क से द्रव्य भी उसी प्रकार का भासित होने लगता है—यह दृष्टान्त है।

उन्होंने 'नानादेशस्थिताधारो वैचित्र्येणोपलभ्यते' इसका व्याख्यान्तर भी प्रस्तुत किया है—'यद्वा स्वयमभिन्नत्वाद्देशोऽप्यवयविदेशभेदेनावयविसम्बन्धोऽवभासत इति वैचित्र्यम्।

यहीं पर वृत्ति में सर्वप्रथम 'स्फोट' शब्द का कण्ठरवेण उल्लेख हुआ है। पूर्व कारिका-द्वय की वृत्ति से यह स्पष्ट है कि बुद्धिस्थ अक्रम, अविक्रिया धर्मक, अखण्ड शब्दतत्त्व ही स्फोट है, जिसका विवर्त वर्ण पद एवं वाक्यरूप स्थूल नाद या ध्वनि है। इस स्थूल नाद या ध्वनि के संसर्ग से वह स्फोट अत्यन्त अभिन्नात्मा होते हुए भी भिन्न-भिन्न-सा प्रतीत होता है॥ ४७॥

दृष्टान्त द्वारा पूर्वोक्त बात को स्पष्ट करते हैं—

प्रतिबिम्बं यथान्यत्र स्थितं तोयक्रियावशात्।
तत्प्रवृत्तिमिवान्वेति स धर्मः स्फोटनादयोः॥ ४८॥

यथा अन्यत्र स्थितं प्रतिबिम्बं, तोयक्रियावशात् तत् प्रवृत्ति अन्वेति इव, सः स्फोट-नादयोः धर्मः।

जैसे जल में स्थित चन्द्रादि का प्रतिबिम्ब जल की चञ्चलता के कारण जल की प्रवृत्ति अर्थात् चलनशीलता, विविधता, ह्रास एवं वृद्धि का अनुसरण-सा करता प्रतीत होता है, वैसा ही धर्म या प्रवृत्ति स्फोट और नाद की भी है। अर्थात् नादवर्ती क्रम, वर्णत्व, ह्रस्वत्व, दीर्घत्व, द्रुतत्व आदि धर्मों का अनुसरण अखण्ड, अक्रम अभिन्न स्फोट[1] भी करता हुआ-सा भासित होता है॥ ४८॥

वृत्तिः—तत्त्वपक्षेऽन्यत्वपक्षे वा चन्द्रादिप्रतिबिम्बं यत्राधारे संसृष्टमिवोपलभ्यते नहि तत्तथा। तत्तु निष्क्रियमपि तोयतरङ्गादिक्रियाधर्मोपग्रहेणैव तोयादीनां भिन्नां प्रवृत्तिमनुपतत्येव। प्राकृतस्य वैकृतस्य च नादस्य ह्रस्वदीर्घप्लुतेषु द्रुतमध्यमविलम्बितासु च वृत्तिषु तावानेव स्फोटो विचित्रां वृत्तिमनुविधत्ते॥ ४८॥

विवरण—भगवान् भर्तृहरि यहाँ प्रतिबिम्ब के सम्बन्ध में दो मत उपस्थित करते हैं। श्रीवृषभ का उस पर प्रस्तुत व्याख्यान है—

१. तोयावयव ही प्रतिबिम्ब है, यह तत्त्व या अभेद पक्ष है।
२. प्रतिबिम्ब जल से भिन्न होता है, यह अन्यत्व पक्ष है।

---

१. श्रीवृषभाचार्य कहते हैं—
'तथा स्फोटोऽस्तथाभूतो नादप्रवृत्ति भेदवतीमनुगच्छतीति।' —पद्धति।

(१) चन्द्रादि बिम्ब के सन्निधान या सामीप्य में उसकी छाया से उपरञ्जित जल के अवयव ही चारों ओर प्रतिविम्बित होते हैं। जल की क्रिया से ही जल के अवयव चन्द्रादि प्रतिबिम्बरूप होकर क्रियाशील भासित होते हैं, वस्तुतः जल के अवयवों में क्रिया नहीं होती। यदि ऐसा माना जाय तो अवयव के विभाग के साथ अवयवी का नाश हो जायेगा।

'बिम्बं तोयहेतुरन्यदेव तोयात् प्रतिबिम्बमित्यपरे।' —श्रीवृषभ

बिम्बं तोयहेतुः—यह भ्रष्ट पाठ प्रतीत होता है, किन्तु अगले सन्दर्भ से स्पष्ट है कि जल से प्रतिबिम्ब भिन्न है, ऐसा श्रीवृषभ मानते हैं।

(२) अप्पय दीक्षित ने तत्त्व और अन्यत्व पक्ष का इस प्रकार उल्लेख किया है—

(क) स्वदेशस्थ चन्द्रबिम्ब जलादि स्वच्छ द्रव्य रूप उपाधि के सन्निधान दोष से उपाधि के अन्तर्गत भासित होता है। इस प्रकार बिम्ब ही प्रतिबिम्ब है।

(ख) जल में अनिर्वचनीय मिथ्याभूत चन्द्र-प्रतिबिम्ब शुक्ति में रजत के समान भासित होता है।

पहला मत पञ्चपादिकाविवरणकार का है और दूसरा मत अद्वैतविद्याकार ने विद्यारण्य गुरु आदिकों का बतलाया है। यथा—

'अत्र विवरणानुसारिणः प्राहुः—ग्रीवास्थे एव मुखे दर्पणोपाधिसन्निधानदोषाद् दर्पणस्थत्वप्रत्यङ्मुखत्वबिम्बभेदानामध्याससम्भवात् न दर्पणे मुखाध्यासः कल्पनीयो गौरवात्।' —सिद्धान्तलेशसंग्रह, जीवानन्द विद्यासागर संस्करण, पृ० ४१

'अद्वैतविद्याकृतस्तु वस्तुप्रतिबिम्बस्य मिथ्यात्वमभ्युपगच्छतां त्रिविधजीववादिनां विद्यारण्यगुरुप्रभृतीनामेवमभिप्रायमाहुः—

चैत्रमुखाद् भेदेन तत्सदृशत्वेन पार्श्वस्थितैः स्पष्टं निरीक्ष्यमाणं दर्पणे तत्प्रतिबिम्बं ततो भिन्नं स्वरूपतो मिथ्यैव स्वकरगतादिव रजतात् शुक्तिरजतम्। नच दर्पणे मम मुखं भातीति बिम्बाभेदज्ञानविरोधः, स्पष्टभेदद्वित्वप्रत्यङ्मुखत्वादिज्ञानविरोधेन अभेदासम्भवात्।' —सिद्धान्तलेशसं०, पृ० ४२५

आगे चलकर श्रीवृषभाचार्य कहते हैं—'तथा चक्षूरश्मयो भास्वरद्रव्यप्रतिहताः स्वमेव मुखमीक्षन्त इति नानार्थपक्षः, आदर्शादन्यत्वात्। तत्र च बिम्बमेव प्रतिबिम्बम्। यद्वा आदर्श एव तथोत्पन्न इति। इदमप्रकृतत्वादसम्बद्धम्।'

दर्पण में अपना मुख देखने वाले व्यक्ति की आँखों की किरणें चमकीले द्रव्य (दर्पणादि) से प्रतिहत होकर—लौट कर अपना मुख देखती हैं; इस प्रकार बिम्ब के अतिरिक्त प्रतिबिम्ब कुछ नहीं है। इस अभेद (तत्त्व) पक्ष वाले मत को आचार्य सुरेश्वर ने भी प्रतिपादित किया है—

'नयनरश्मीनां परावृत्य बिम्बग्राहित्वं सुरेश्वराचार्यैरुक्तम्—

दर्पणाभिहता दृष्टिः परावृत्य स्वमाननम्।
व्याप्नुवत्याभिमुख्येन व्यत्यस्तं दर्शयेन्मुखम्॥

इति बिम्बप्रतिबिम्बयोः भेदपक्षनिराकरणपूर्वकं तदभेदपक्षो निरूपितः ।

—सिद्धान्तलेशसंग्रह-टीका ।

श्रीवृषभाचार्य तत्त्व की व्याख्या करते हैं। तोय से अभिन्न और अन्यत्व से उनका तात्पर्य है—तोय से भिन्न प्रतिबिम्ब ।

अप्पय दीक्षित कहते हैं—एक मत है कि बिम्ब से प्रतिबिम्ब अभिन्न है और दूसरा मत है कि बिम्ब तथा प्रतिबिम्ब में भेद है ।

तत्त्व और अन्यत्व से भगवान् भर्तृहरि का क्या तात्पर्य है, यह विचारणीय है। मैं समझता हूँ कि बिम्ब और प्रतिबिम्ब का ही तत्त्व और अन्यत्व उन्हें अभिप्रेत है।

भगवान् भर्तृहरि कहते हैं—तत्त्वपक्ष माना जाय अथवा अन्यत्व पक्ष; दोनों में चन्द्रादि का प्रतिबिम्ब जिस जल या दर्पण रूप आधार में संसृष्ट या सम्बद्ध के सदृश उपलब्ध होता है, वस्तुतः वह वैसा नहीं है ।

'इव' शब्द की व्याख्या में श्रीवृषभ का कथन है—स्वपक्ष (तत्त्वपक्ष) में व्यतिरेक या भेद के अभाव से इव शब्द युक्त है, किन्तु अन्यत्व पक्ष में तो संयोग है ही । अतः इस पक्ष में इव शब्द का क्या औचित्य है ?

इसका उत्तर है—जैसे अन्य पृथक् सिद्ध पदार्थों में संयोग देखा जाता है, वैसा यहाँ नहीं उपलब्ध होता । इसलिए इव शब्द का उपादान किया गया है ।

प्रतिबिम्ब चल दिखलाई देता है किन्तु वस्तुतः वह चञ्चल नहीं है । प्रतिबिम्ब की छाया से उपरञ्जित जलावयव (तत्त्व) पक्ष में जलरूप अवयवी में वह क्रिया उत्पन्न होती है । अवयव तो उसी के कारण सक्रिय भासित होते हैं । यदि अवयवों में क्रिया स्वीकार की जाय तो उसकी उत्पत्ति में अवयव-विभागपूर्वक अवयवी का नाश हो जायेगा ।

अन्यत्व पक्ष में भी प्रतिबिम्ब के तोय से भिन्न होने के कारण वायु का संयोग जल से होता है, अतः प्रतिबिम्ब में क्रियोत्पत्ति न होने से वह निष्क्रिय है । वायु से संयुक्त जल के संयोग से प्रतिबिम्ब में क्रिया होगी, ऐसा वैशेषिक लोग मानते हैं। वहाँ प्रतिबिम्ब बिम्ब से भिन्न नहीं माना जाता। अथवा स्वयं अक्रिय होता हुआ प्रतिबिम्ब उपाधि के आवेश से क्रियावान् प्रतीत होता है ।

इस प्रकार निष्क्रिय भी प्रतिबिम्ब, तोय-तरङ्ग आदि के क्रियारूप धर्म के स्वीकार करने से जलादिकों की भिन्न प्रवृत्ति का अनुसरण करता ही है ।

वैसे ही प्राकृत और वैकृत नाद या ध्वनि की क्रमशः (प्राकृत नाद की) ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत वृत्तियों तथा (वैकृत नाद की) द्रुत, मध्य और विलम्बित वृत्तियों में नित्य और अविकृत रूप उतना ही स्फोट पूर्वोक्त विचित्र वृत्ति का अनुकरण करता है । जैसे स्फोट व्यञ्जक ध्वनि भेद से भेदवान् प्रतीत होता है, वैसे ही प्राकृत और वैकृत इन ध्वनियों के भेद से वह ह्रस्व और द्रुतादि भेदों के रूप में भासित होता है।

करणाभिघात से उत्पन्न ध्वनि प्राकृत कहलाती है और उस ध्वनि से उत्पन्न ध्वनि या नाद वैकृतध्वनि ।

तपरसूत्र के भाष्य में भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—'एवं तर्हि स्फोटः शब्दः, ध्वनिः शब्दगुणः।' कथम् ? 'भेर्याघातवत्' (दृष्टान्तवार्तिक)

तद्यथा—भेर्याघातो भेरीमाहत्य कश्चिद्विंशतिपदानि गच्छति, कश्चित्त्रिंशत्, कश्चिच्चत्वारिंशत्। स्फोटस्तावानेव भवति। ध्वनिकृता वृद्धिः।

ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।
अल्पो महांश्च केषाञ्चिदुभयं तत्स्वभावतः॥

इसके पूर्व भगवान् भाष्यकार ने कहा है कि समस्त वृत्तियों में वर्णों का उपचय अथवा अपचय नहीं होता, जैसे यात्रियों के आलस्य आदि भेद से गतिभेद होने पर भी मार्गभेद नहीं होता। इस पर समाधानबाधक भाष्य है—

'यह तो विषम उपन्यास है, मार्ग गमनक्रिया का अधिकरण मात्र है। अतः अधिकरण की वृद्धि और ह्रास अयुक्त है।' इसके अनन्तर वे समाधान साधक भाष्य देते हैं—

अधिष्ठानभूत स्फोट ही नित्य शब्द है। प्राकृत और वैकृत ध्वनियाँ उस स्फोटात्मक शब्द के गुणरूप हैं। कैसे ? भेरी के आघात के सदृश। जैसे प्रयत्नवश उत्पन्न कोई भेरी-शब्द बीस पग तक सुनाई देता है, कोई तीस पग तक और कोई चालीस पग तक, किन्तु स्फोट उतना ही रहता है, वृद्धि केवल ध्वनिकृत होती है।

ध्वनि और स्फोट अर्थात् व्यञ्जक और व्यङ्ग्य दो प्रकार के शब्द हैं। व्यङ्ग्यों की सम्बन्धिनी ध्वनियाँ ही महान् और अल्प अर्थात् चिरकाल तक उपलब्धिकारक और अचिरकालिक होती है। व्यक्त शब्दों में प्राकृतध्वनि और स्फोट दोनों गृहीत होते हैं और अव्यक्त शब्दों में केवल ध्वनि ही॥ ४८॥

अब प्रस्तुत कारिका द्वारा अर्थाभिधान के प्रकार का निरूपण किया जाता है—

आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते॥ ४९॥

यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपम् आत्मरूपं च दृश्यते; तथा शब्दे अर्थरूपं स्वरूपं च प्रकाशते।

जैसे 'गोपवेश विष्णुरूप को मैं जानता हूँ' इस ज्ञान में ज्ञेयरूप अर्थात् मोरपंख से मण्डित केश-सम्पन्न, अरुणविम्वफल के समान अधरोष्ठ पर मुरली रखे हुए, अतसी पुष्प के सदृश कान्तिशाली; पीताम्वर धारण किये हुए यमुनातटवर्ती निकुञ्जगत कदम्ब-वृक्ष के नीचे खड़े हुए मुरलीवादन के कारण किञ्चित् आकुञ्चित भ्रूयुगल से सुशोभित कृष्ण की आकृति और 'मैं जानता हूँ' ऐसा ज्ञान—ये दोनों लक्षित होते हैं, वैसे ही उच्चरित साधु शब्द में बाह्यार्थ तथा स्वरूपार्थ (प्रयोगस्थ शब्द) ये दोनों प्रकाशित होते हैं।

वृत्तिः—यथा ज्ञानं ज्ञेयपरतन्त्रं ज्ञेयरूपप्रत्यवभासत्वादनिर्देश्यस्वरूपमपि ज्ञानान्तरस्येव भिन्नं स्वस्यैवात्मनः स्वरूपमात्रं दर्शयति, तथा ह्यतीतमनुप-

लब्धमप्यन्येन ज्ञानेन स्मृतिविषयत्वं प्रतिपाद्यते। तद्वदयमर्थे शेषभावमापद्यमानः शब्दोऽभिधेयतन्त्रस्तद्रूपोपग्राही शेषिणीमिव स्वरूपमात्रां प्रत्यवभासयति। सा तु सन्निहितप्रत्यवभासापि लोके भुज्यादिक्रियासम्बन्धविरोधान्नाश्रीयते। व्याकरणे त्वर्थस्य कार्यविरोधित्वात्तस्याश्चाभिधेयरूपेण व्यवस्थानादविरुद्धः कार्यैर्योगः ॥ ४९ ॥

विवरण—जैसे ज्ञान ज्ञेय पदार्थ के आरोपण से समन्वित ही प्रतिभासित होता हैं, अतः वह सदैव विषयाकार के अधीन माना जाता है। ज्ञेयाकार[1] के साथ-साथ ज्ञान के स्वरूप का निर्देश आवश्यक नहीं है तो भी एक, रूपविषयक ज्ञान से रसादिविषयक ज्ञान के परिच्छिन्न होने से भिन्न ज्ञान के समान अपनी ही स्वरूपमात्रा का भी वह प्रदर्शन करता है। और यही कारण है कि ज्ञानान्तर से उपलब्ध न होने वाले अतीत ज्ञान की स्मृतिविषयता प्रतिपादित की जाती है। जिस विषय का अनुभव नहीं होता, उसकी स्मृति भी नहीं होती। अतः यह स्वीकरणीय है कि ज्ञेयाकार के अनुभव के साथ ज्ञानस्वरूप का भी अनुभव होता है। इसीलिए उसकी स्मृति भी होती है।

ठीक उसी प्रकार बाह्यार्थ के विषय में गौणभाव को प्राप्त यह शब्द अभिधेय के अधीन होकर उसके रूप को ग्रहण कराता हुआ प्रधानता को प्राप्त-सा स्वरूप मात्रा को भी प्रकाशित करता है। और वह स्वरूपमात्रा शब्दोच्चारण के साथ ही सर्वत्र प्रतीत होती है, किन्तु लोक में उसका आश्रय इसलिए नहीं लिया जाता, क्योंकि भोजनादि क्रिया के सम्बन्ध से इसका विरोध पड़ता है। व्याकरण में 'अग्नेर्ढक्' इत्यादि में तो अङ्गारादिरूप अर्थ से ढक् प्रत्ययरूप कार्य का विरोध होने से अग्नि आदि शब्दात्मक अभिधेयरूप (स्वरूपार्थ) में उपस्थित उस स्वरूपमात्रा के साथ 'ढक्' प्रत्ययादि रूप कार्ययोग अविरुद्ध ठहरता है ॥ ४९ ॥

पीछे दो मतों का उल्लेख किया गया है। प्रथम—क्रमवान् निमित्त है और अक्रम प्रतिपादक; और दूसरा इसके विपरीत—अक्रम निमित्त है और क्रमवान् प्रतिपादक। इसी बात को उदाहरण-प्रदर्शनपूर्वक स्पष्ट करते हैं—

आण्डभावमिवापन्नो यः क्रतुः शब्दसंज्ञकः।
वृत्तिस्तस्य क्रियाभूता भागशो लभते क्रमम् ॥ ५० ॥

यः शब्दसंज्ञकः क्रतुः आण्डभावं आपन्नः इव (वर्तते), तस्य क्रियाभूता (क्रियारूपा) वृत्तिः भागशः क्रमं लभते (भजते)।

जो शब्दसंज्ञक बाह्य वाग्विस्ताररूप क्रतु या यज्ञ (वक्ता के द्वारा प्रसारित होकर) श्रोता की बुद्धि में अङ्ग, प्रत्यङ्ग, चन्द्रक आदि के सूक्ष्म रूप को लिये हुए

---

१. श्रीवृषभ 'अनिर्देश्यस्वरूपमपि' का अर्थ करते हैं—'न तज्ज्ञेयाकारापोद्धारे स्वेन रूपेण ज्ञातुं शक्यते।'

मयूरादि के अण्डे के रस के समान विद्यमान होता है तथा पुनः दूसरे को बोधन करने की इच्छा से उसकी (अन्तर्लीन शब्द की) आविर्भाव तिरोभावात्मिका क्रियारूप वृत्ति, वर्ण-पदादि अवयव विभागशः क्रम को उपलब्ध करती है।

वृत्तिः—सर्वविभागोद्ग्राहप्रतिसंहारेण बाह्यो व्यावहारिकः शब्दोऽन्तःकरणे मयूराद्यण्डरसवत् पूर्वविभागोद्ग्राहभावनामात्राममव्यतिक्रामन् प्रतिलीयते। यथा चैकस्य शब्दस्य प्रतिलयस्तथा दाशतयादीनामपि। स त्वेवं प्रतिलीनः प्रत्यस्तमितभागः प्राप्तविवक्षाप्रतिबोधायामन्तःशब्दवृत्तौ वाक्यपदविवर्तधर्ममुद्गृह्य प्रत्येकमवयवोद्ग्राहेण क्रमशक्तिं प्रतिगृह्णाति। सा चास्योदयप्रत्यस्तमयनिर्भासमात्राक्रियारूपेणावसीयते॥ ५०॥

विवरण—श्रोत्रानुपाती बाह्य व्यावहारिक शब्द, समस्त वर्णादि विभागों के स्वीकार के तिरोभाव द्वारा अन्तःकरण या बुद्धि में मोर के अण्डे में विद्यमान रस के समान पूर्व विभागों की स्वीकृति की सूक्ष्मरूपता या शक्तिरूपता को न छोड़ते हुए विलय को प्राप्त होता है। जैसे एक शब्द का प्रतिलय होता है, वैसे ही ऋग्वेदादिकों का भी।

वृत्तिकार ऋग्वेद के लिए दाशतय शब्द का प्रयोग करते हैं। श्रीवृषभ कहते हैं—'दश अवयवा आसां ऋचां ता इमाः (दशतयाः) **दशानां** (दशतयानां ?) समूहो **दाशतय्यः** (दाशतयः) चतुःषष्टेरेतन्नाम।'

दश अवयव ऋग्वेद के दश मण्डल हैं। उन्हीं के आधार पर इसे दाशतय कहा गया है। श्रीवृषभ की उक्ति है कि यह चतुःषष्टि का नाम है। ऋग्वेद का दो प्रकार से विभाजन किया गया है। प्रथम—मण्डल, अनुवाक और वर्गरूप तथा द्वितीय—अष्टक, अध्याय और सूक्त।

दूसरे विभाजन में अध्यायों की संख्या चौंसठ है। इसी आधार पर श्रीवृषभाचार्य ने उसे 'चतुःषष्टिः' कहा होगा। निरुक्त-दैवतकाण्ड में दशतयी पाठ ऋग्वेद की शाखाओं लिए प्रयुक्त हुआ है। यथा—

'न त्वृक्दशतयीषु विद्यते।'   —अध्याय ७ पाद ३ खण्ड १

दुर्गाचार्य ने इसकी प्रस्तुत व्याख्या की है—'दशमण्डलावयवप्रविभागेन तायत इति दशतयः ऋग्वेदः, तस्य शाखाः दशतय्यः तासु।'

दश मण्डल रूप अवयव विभाग द्वारा जिसका विस्तार किया गया है, उस ऋग्वेद का नाम दशतय है और उसकी शाखाएँ दशतयी के नाम से जानी जाती हैं।

वाक्यपदीय, कालसमुद्देश की छाछठवीं कारिका में ऋग्वेद के लिए दाशतय शब्द आया है—

'एवं मात्रातुरीयस्य भेदो दाशतयस्य वा।
परिमाणविकल्पेन शब्दात्मनि न विद्यते'॥ ६६॥

बुद्धिस्थ स्फोटरूप शब्दात्मा में वास्तविक कालकृत परिमाण भेद नहीं है, फिर भी मात्रा का चतुर्थ भाग जो अपचिततर ध्वनि से व्यङ्ग्य है, और दश अवयव वाले ऋगात्मक वेदराशि का जो प्रचिततर रूप ध्वनि से व्यङ्ग्य इनमें विद्यमान (व्यञ्जक गत) कालभेद, स्फोटस्वभाव शब्दात्मा में भी उपचरित होता है।

हेलाराज ने 'दाशतय' शब्द की अधोलिखित व्याख्या की है—'दश अवयवा येषां ते दशतयाः ऋगात्मानः, तेषां समूहस्य दाशतयस्य चतुष्षष्ट्यात्मकस्य वेदराशेः।'

आदि शब्द से शतपथ का ग्रहण किया गया है, ऐसा श्रीवृषभ का कथन है। वस्तुतः दूसरे ग्रन्थ भी गृहीत हो सकते हैं।

इस प्रकार वह चाहे एक शब्द हो अथवा सम्पूर्ण ऋग्वेद, अपने विभागों को समेट कर अन्तःकरण में विलीन होता है; पुनः जब आन्तरिक प्रतिसंहृत शब्दवृत्ति (ऋग्वेदादि) विवक्षा द्वारा प्रतिबुद्ध होती है, तो वाक्य-पदात्मक विवर्त के धर्मों को ग्रहण करके एक-एक शब्द के वर्णात्मक अवयवों के स्वीकार से क्रमशक्ति को ग्रहण करती है। उस क्रमशक्ति की जो क्रमिक उदय और अस्त होने की प्रतीति मात्रा है, वह क्रिया के रूप में जानी जाती है।

कारिका का 'क्रियाभूता' यह पाठ श्रीवृषभ-सम्मत है, किन्तु 'क्रियारूपेणावसीयते' इस वृत्ति के पाठ से 'क्रियारूपा' यह पाठ अधिक जँचता है। 'लभते' के स्थान पर 'भजते' ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता है ॥ ५० ॥

प्रस्तुत कारिका द्वारा पूर्वोक्त कथन को दूसरा दृष्टान्त देकर समझाते हैं—

यथैकबुद्धिविषया मूर्तिराक्रियते पटे।
मूर्त्यन्तरस्य त्रितयमेवं शब्देऽपि दृश्यते ॥ ५१ ॥

यथा एकबुद्धिविषया, मूर्त्यन्तरस्य, मूर्तिः पटे आक्रियते, एवं त्रितयं शब्दे अपि दृश्यते।

जैसे देवदत्त आदि पुरुष की (बाह्य) मूर्ति अपनी बुद्धि में स्थापित करके (किसी चित्रकार द्वारा) वस्त्र में पुनः चित्रित की जाती है, इसी प्रकार यह त्रितय शब्द में भी दिखलाई देता है।

जैसे पहले बाह्य मूर्ति अवयवक्रम से युक्त रहती है; पुनः चित्रकार की एक बुद्धि विषय बनकर अक्रम हो जाती है, फिर चित्र में सक्रम दिखलाई देती है। वैसे ही शब्द भी व्यवहार में—१. सक्रम बुद्धिस्थ होने पर प्रतिसंहृतात्मक २. अक्रम रूप तदनन्तर पर सम्बोधन की इच्छा से प्रयुक्त वैखर्यात्मक तथा ३. सक्रम रूप भासित होता है।

वृत्तिः—यथा सावयवा पुरुषादिमूर्तिराचिकीर्षिता क्रमोपलब्धावप्येकबुद्धिनिबन्धनत्वं प्राप्ता पटकुड्यादिषु क्रमेणाक्रियते, तथा व्यावहारिकोऽपि

क्रमग्राह्यः शब्दः प्रतिसंहृतक्रम एकबुद्धिनिबन्धनो भूत्वा निरवयवक्रमं बुद्धिरूपं तस्यामात्मप्रत्यवभासमात्रायां पृथग्भूतायामिव प्रत्ययस्य तद्भावमिवोपनीय करणवृत्तिक्रमध्वनिधर्मंप्रतिपत्त्या पुनरपि व्यवहारमवतरति। तथा चासौ तिसृभिरवस्थाभिरविच्छेदेनावर्तमानो ग्राह्यग्राहकभावं नातिवर्तते ॥ ५१ ॥

विवरण—जैसे हस्त-पदादि अवयवों से युक्त पुरुषादिकों की मूर्ति कोई चित्रकार बनाना चाहता है, तो पहले बाहर अवयवक्रम से उसे देखता है। पश्चात् उसे एकबुद्धि का विषय बनाकर अथवा बुद्धि में अक्रम रूप से सङ्कलित करके पुनः कपड़े या भित्ति आदि में क्रमशः आकार प्रदान करता है। वैसे ही व्यावहारिक श्रोत्रग्राह्य शब्द भी पहले वर्णक्रम से उपलब्ध होता है, पश्चात् एक बुद्धि का विषय बन कर अवयक्रम से रहित वह शब्दरूप अपने को प्रकाशित करने वाली उस बुद्धयंशात्मिका मात्रा में जो तत्काल पृथग्भूत-सी प्रतीत होती है, अपने को आरोपित करके तद्रूपता को प्राप्त करता है। तदनन्तर स्थानकरणाभिघात से जन्य क्रमात्मिका ध्वनि के धर्मों को प्राप्त करके शब्द पुनः व्यवहार-पथ में उतरता है।

इस प्रकार यह शब्द पहले क्रमरूपता, पश्चात् प्रतिलीनरूपता, पुनः सक्रमता—इन तीन अवस्थाओं में श्रोता और वक्ता की परम्परा द्वारा अविच्छिन्न रूप से आवर्तित होकर स्वरूप-प्रकाशन के कारण ग्राह्यरूपता और अर्थ-प्रकाशन के कारण ग्राहकरूपता को कभी नहीं छोड़ता।

वृत्ति में पाठ है—'निरवयवक्रमं बुद्धिरूपं' किन्तु श्रीवृषभ 'शब्दरूपं' ऐसा पाठ ग्रहण करते हैं और यही उचित भी जान पड़ता है। यद्यपि 'तद्धि तदा बुद्धयतिरेकाद् बुद्धिरूपमित्युच्यते' ऐसा वे आगे कहते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि 'बुद्धिरूपं' ही पाठ वे स्वीकार करते हैं, किन्तु 'तस्यां' की व्याख्या में उन्हें कहना पड़ा कि 'तस्या एव शब्दबुद्धेर्या ग्राहकांशस्तत्र'। इससे यह पर्यवसित होता है कि यदि 'शब्दबुद्धिरूपं' ऐसा पाठ होता तो और अच्छा था। किन्तु वृत्तिकार इसके पूर्व कह चुके हैं—'प्रति-संहृतक्रम एकबुद्धिनिबन्धनो भूत्वा'। अतः 'शब्दरूपं' यही पाठ सङ्गत है ॥ ५१ ॥

अब प्रस्तुत कारिका द्वारा 'शब्द स्वरूप का ग्राहक है'—यह सिद्ध करते हैं—

यथा प्रयोक्तुः प्राग्बुद्धिः शब्देष्वेव प्रवर्तते।
व्यवसायो गृहीतॄणामेवं तेष्वेव जायते॥ ५२ ॥

यथा प्रयोक्तुः बुद्धिः प्राक् शब्देषु एव प्रवर्तते। एवं गृहीतॄणां व्यवसायः प्राक् तेषु एव जायते।

जैसे शब्दोच्चारण करने वाले वक्ता की बुद्धि पहले शब्दों में ही प्रवृत्त होती है वैसे ही श्रोता की भी बुद्धि उन्हीं शब्दों की ओर जाती है।

वृत्तिः—यथैव प्रयोक्ता शब्दविशेषविषयं प्रयत्नमभिपद्यमानः प्रतिशब्दं परितः परिच्छिन्नान् शब्दात्मनः संस्पृशन्निव मनः प्रणिधत्ते। तथैव प्रति-

पत्तापि शब्दरूपपरिच्छेदाधीनमर्थग्रहणं मन्यमानस्तं तं शब्दं सर्वैः सम्बन्धिभिर्विशेषणैराश्रितसंसर्गानुग्रहं निर्धारयति। अर्थप्रतिपत्तिभावनाभ्यासात्तु सा शब्दरूपपरिच्छेदावस्था न चित्रीक्रियते। तस्माच्छेषिभावकाष्ठामनुभूय सर्वार्थयोनयः सर्वे शब्दाः शेषभावमर्थेषु प्रतिपद्यन्ते ॥ ५२ ॥

विवरण—जैसे ही प्रयोक्ता या वक्ता शब्दविशेष का उच्चारण करने के लिए तद्विषयक प्रयत्न का आरम्भ करता है तो पहले चारों ओर बुद्धिस्थ शब्दों से पृथग्भूत शब्दात्माओं का स्पर्श-सा करता हुआ प्रत्येक उच्चारणीय शब्द में मन को लगाता है। वैसे ही श्रोता भी अर्थ-ग्रहण को पृथक् शब्दों के अधीन मानता हुआ उस-उस शब्द को समस्त सम्बन्धी विशेषणों द्वारा जात्यादि आश्रितों के संसर्ग से अनुगृहीत रूप में निर्धारित करता है।

श्रीवृषभ ने 'सम्बन्धिभिः' का अर्थ 'उदात्तादिभिः' किया है। आदि शब्द से विशिष्टशब्दत्व और विशिष्टपदार्थवाचकत्व भी लिया जा सकता है।

'आश्रितसंसर्गानुग्रहमिति—स्वसमवेताभिर्जातिभिर्यः संसर्गस्तत्कृतोऽनुग्रहोऽन्यतो व्यवच्छेदः, स आश्रीयते येन। संसर्ग एवानुग्रहः स आश्रितोऽनेन इति (वा)।'

—पद्धति।

१. स्वसमवेत अर्थात् विवक्षित शब्द में रहने वाले जात्यादिकों से जो संसर्ग उससे रचित अनुग्रह अर्थात् अविवक्षित शब्दों से पार्थक्य का आश्रय लेने वाले।

२. अथवा संसर्ग ही अनुग्रह है और उसका आश्रय लेने वाले, ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है।

यदि वाचक शब्द पहले विशिष्ट स्वस्वरूप (स्वरूपार्थ) को प्रतिपादित करके बाद में अर्थबोध कराता है, तो क्यों न उसे ही पहले निमित्त बनाया जाय? इस पर कहते हैं—

अर्थबोध की प्रक्रिया के अभ्यास से वह शब्दरूप परिच्छेद की अवस्था निमित्त के रूप में नहीं स्वीकार की जाती। प्रत्यवमर्शप्रत्यय (यह भी है, इस प्रकार का बोध) ही निमित्तीकरण है। वह अर्थक्रिया से आक्षिप्त होता हुआ पृथक् रूप में नहीं-सा प्रतीत होता है—यह श्रीवृषभाचार्य का व्याख्यान है, जो द्रविण प्राणायाम-सा प्रतीत होता है। वस्तुतः 'अर्थबोध की प्रक्रिया के अभ्यास से वह शब्दस्वरूप-परिच्छेदावस्था लक्षित नहीं होती (न चित्रीक्रियते)'—यह सीधा अर्थ है।

अतः शेषिभाव या प्रधान भाव के चरमोत्कर्ष का अनुभव करके समस्त अर्थों के प्रत्यायन या बोधन के हेतुभूत सभी शब्द प्रतिपाद्य अर्थ के प्रति गौण भाव को प्राप्त करते हैं। तात्पर्य यह है कि अर्थग्रहण से पूर्व वाचक शब्द पहले स्वरूपार्थ का ग्रहण कराता है, अतः बाह्यार्थ की अपेक्षा प्राधान्यात्मक शेषिभाव के उत्कर्ष को प्राप्त कर चुका होता है, पुनः जब वह प्रतिपाद्य अर्थ का बोध कराने को उद्यत होता है तो उस स्थिति में वह गौण हो जाता है ॥ ५२ ॥

'गामानय' इत्यादि में सास्नादिमान गोव्यक्ति रूप अर्थ के सदृश गो शब्द की भी क्रियाङ्गता या क्रियाकारकता क्यों नहीं मानी जाती; इसे स्पष्ट करने के लिए अग्रिम कारिका की अवतारणा करते हैं—

[१]अर्थोपसर्जनीभूतानभिधेयेषु केषुचित् ।
चरितार्थान् परार्थत्वान्न लोकः प्रतिपद्यते ।। ५३ ।।

परार्थत्वात् केषुचिद् अभिधेयेषु चरितार्थान् अर्थोपसर्जनीभूतान् (शब्दान्) लोकः न प्रतिपद्यते ।

बाह्यार्थ का बोध कराना जिसका प्रयोजन है—ऐसा होने के कारण, 'गौरयम्' यह जो गौ शब्द है वही गोपिण्ड है—इस अभेद प्रत्यायन में तथा 'अग्नेर्ढक्' इत्यादि अभिधेयरूप में प्रधान भाव से शब्दों की चरितार्थता देखी जाती है, किन्तु बाह्यार्थ बोधन के अवसर पर वे शब्द उस अर्थ के प्रति विशेषणीभूत या गौणभाव को धारण करते हैं, अतः लोग व्यवहार के अवसर पर उन शब्दों को क्रिया का अङ्ग या साधन नहीं मानते ।

वृत्तिः—यथैवायं शुक्ल इति सगुणे गुणिनि प्रतीयमाने क्रियाविशेषविषयमुपलक्षणत्वमपि गुणस्य क्वचिदेवान्यत्र विशिष्टत्वात् प्रतीयते । यथा यो गोशब्दः सोऽयं पिण्ड इत्यभिसम्बन्धे सति क्रियायोगविवक्षायामर्थस्योपलक्षणे चरितार्थे शब्दं शेषतां प्रतिपन्नमभिधेयमिव क्रियासाधनभावेन (न) लौकिकाः प्रतिपद्यन्ते ।। ५३ ।।

विवरण—जैसे 'अयं शुक्लः' इत्यादि प्रयोगों में सर्वत्र गुण और गुणी दोनों की प्रतीति होती है और क्रिया-विशेष विषयक उपलक्षणता भी कहीं-कहीं देखी जाती है । जैसे 'शुक्लवाससं भोजय' इत्यादि में । यहाँ गुण उपलक्षण मात्र है, विशेषण नहीं । किन्तु 'शुक्लवाससं पश्य' 'अयं शुक्लः' यहाँ गुण विशेषण रूप में अन्वित होता है । विद्यमान रहकर इतर सजातीय से अलग करने वाला विधेयभूत क्रिया का अन्वयी गुण विशेषण के नाम से कहा जाता है—'विद्यमानत्वे सति इतरव्यावर्तकं विधेयान्वयि विशेषणम् ।'

अविद्यमान रहकर भी इतर से पृथक् करने वाला और विधेय के साथ अनन्वित उपलक्षण कहलाता है—'अविद्यमानेऽपीतरव्यावर्तकं विधेयानन्वयि उपलक्षणम् ।'

उपलक्षण का सामान्य अर्थ है—ज्ञापक । इसका प्रसिद्ध दृष्टान्त है 'काकवद् देवदत्तस्य गृहम्' यहाँ घर के समान कौवे में देवदत्त के सम्बन्धित्व रूप विधेय का अन्वय नहीं होता । कौवा तत्काल देवदत्त के घर का ज्ञापन मात्र करता है, पुनः उड़ जाता है ।

---

१. 'अथोपसर्जनीभूतान्' ऐसा भी पाठ श्रीवृषभाचार्य को मिला था । वे कहते हैं—'अन्ये तु अथोपसर्जनीभूतानिति पठन्ति । अथ इति निपातः' । —पद्धति

तात्पर्य यह है कि गुणी या द्रव्य के सदृशशब्द के द्वारा जब गुण की प्रतीति होती है तब गुण का आनयन, भोजन आदि क्रिया के साथ सम्बन्ध गुणी के विशेषण रूप से ही होता है। यद्यपि गुण के द्वारा द्रव्य ही उपलक्षित होता है, क्रिया नहीं; फिर भी 'अपि' शब्द के द्वारा यह सूचित होता है कि कभी-कभी 'शुक्लमानय' आदि में क्रिया सम्बन्ध का भी उपलक्षण बन जाता है। इसी बात को दृष्टि में रखकर श्रीवृषभाचार्य ने कहा है—'अपि शब्दात् क्वचित् क्रियाङ्गतापि साक्षात्पारम्पर्येण वा।'

जब क्रिया के उपकार के लिए ही गुण का उपादान किया जाता है—जैसे 'शुक्लं पश्यति' इत्यादि में तो वहाँ दोनों की प्रतीति होती है। अर्थात् गुण की भी साक्षात् क्रियाङ्गता मानी जाती है। और जब गुणकृत उपकार से विरहित क्रिया का उपयोग होता है, तब परम्परया गुण क्रिया का उपलक्षण बनता है। 'यः शुक्लो दृष्टस्तमानय' यहाँ क्रिया के उपलक्षण रूप में ही गुण का ग्रहण किया गया है, क्योंकि 'अन्यत्र शिष्टत्वात्' अन्यत्र अर्थात् दर्शनादि क्रियोपकारार्थं गुण विहित है।

श्रीवृषभाचार्य के समय में 'अन्यत्र शिष्टत्वात्' तथा 'अन्यत्राविशिष्टत्वात्'—ये दो पाठ प्रचलित थे। 'अन्यत्र शिष्टत्वात्' का एक अर्थ उनके अनुसार ऊपर दिया गया है। दूसरा अर्थ वे करते हैं—'अन्यत्र' अर्थात् गुण से भिन्न द्रव्य में—गुणादन्यस्मिन् द्रव्ये' शिष्टत्वात्—द्रव्य के उपलक्षणार्थ गुण के ग्रहण करने से—'द्रव्योपलक्षणार्थमुपात्तत्वाद् गुणस्य'। अथवा अन्यत्र द्रव्य में भी क्रिया के शिष्ट या विहित होने से। 'अन्यत्राविशिष्टत्वात्' इस पाठ को स्वीकार करने पर अर्थ होगा—गुणयुक्त द्रव्य से अन्यत्र क्रिया के अविहित होने से।

'अयं शुक्लः' के समान ही 'जो गो शब्द है वही यह सास्नादिमान् पिण्ड है' इस शब्द और अर्थ के अभेद सम्बन्ध की प्रतीति में चरितार्थ—अर्थ प्रतिपादन में उपक्षीण शब्द को 'गामानय' इत्यादि क्रियायोग की विवक्षा में अन्यत्र ('गोपयसोर्यत्' इत्यादि में) गौणभाव को प्राप्त अभिधेय के समान क्रिया के साधनरूप में व्यवहारदशा में लोग स्वीकार नहीं करते।

पूर्वकारिका की वृत्ति में विरोध होने से शब्द की क्रियाङ्गता का निषेध किया गया है; और यहाँ अर्थोपलक्षण में चरितार्थ होने से ॥ ५३ ॥

अब शब्द में ग्राह्य और ग्राहक अथवा प्रतिपाद्य और प्रतिपादक दो शक्तियाँ होती हैं; इस बात का निरूपण करते हैं—

ग्राह्यत्वं [1]ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगिव स्थिते ॥ ५४ ॥

---

१. प्रस्तुत कारिका को अभिनव गुप्त ने, ई० प्र० वि० वि० के दूसरे भाग, पृष्ठ २४८ में उद्धृत किया है। वहाँ 'ग्राह्यत्वं ग्रहणत्वं च' ऐसा पाठ है। गोकुलनाथ के

यथा तेजसः ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तथैव एते सर्वशब्दानां पृथग् इव स्थिते।

जैसे तेज की तरु-लतादि के सदृश ग्राह्यत्व आदि तरु-लतादि ज्ञान जनकत्वरूप ग्राहकत्व ये दो शक्तियाँ होती हैं, वैसे ही ये दोनों शक्तियाँ समस्त शब्दों में भिन्न के सदृश भासित होती हैं ॥ ५४ ॥

वृत्तिः—घटादयो हि ग्राह्यत्वेनैव व्यवस्थिता इति घटादीनां ग्रहणकाले नैव काञ्चिदुपलब्धिसहकारित्वेनेन्द्रियस्य विषयस्य वा स्वल्पामप्यनुग्रहमात्रां कुर्वन्ति। तथा ग्राह्यत्वमप्रतिपद्यमानान्येव सर्वेन्द्रियाणि ग्राह्यस्य विषयस्य ग्रहणनिमित्तत्वाय कल्पन्ते।

विवरण—घटादिकों की स्थिति ग्राह्यरूप में ही स्वीकृत है, अतः घटादिकों के ग्रहणकाल में वे अञ्जनरूप से उपलब्धि के सहकारी रूप में इन्द्रिय की अथवा जल-सेचनात्मक सहकारीरूप में विषय की तनिक भी सहायता नहीं करते। श्रीवृषभाचार्य कहते हैं—

घटादिकों में जलाहरणरूप वृत्ति देखी जाती है। अतः वृत्ति-विरोध के कारण वे विषय को अनुगृहीत नहीं करते और इन्द्रिय को भी अनुगृहीत नहीं करते, क्योंकि उन इन्द्रियों में विषयकृत विशेष नहीं देखा जाता। सहकारी रूप में भी उनमें (घटादि में) ग्राहकता नहीं है। यद्यपि घटादि कर्म कारक होने से क्रिया के लिए उपयोगी होते हैं, तथापि ग्राह्य रूप में ही उनकी कारकता स्वीकृत है, ग्राहक रूप में नहीं; क्योंकि इस प्रकार की लोकप्रतीति नहीं देखी जाती। कोई भी व्यक्ति कर्म द्वारा विहित क्रियोत्पत्तिरूप उपकार का अनुभव नहीं करता।

वैसे ही समस्त इन्द्रियाँ ग्राह्यरूपता को उपलब्ध किये विना ही ग्राह्य विषय को ग्रहण करने के लिए निमित्त का कार्य करती है। श्रीवृषभाचार्य की टीका है—'मनसा सह षडिन्द्रियाण्यगृहीतान्येवार्थं प्रकाशयन्ति।'

वृत्तिः—तेजस्तु तमोरूपविरोधिना रूपभेदेन युक्तमवधार्यमाणस्वरूपमनुग्राहकत्वेनोपलब्धौ कारणभावं प्रतिपद्यते। शब्दोऽपि भावान्तरविरोधिना शब्दान्तरविरोधिना च स्वरूपेणावध्रियमाणभेदः परिगृहीतविशेषशब्दस्वरूपः

'पदवाक्यरत्नाकर' पृष्ठ २११ में भी 'पृथगवस्थिते' इस पाठभेद के साथ उद्धृत है। गूढार्थदीपिका टीका में इस प्रकार व्याख्यात है—'तेजसो दीपादेर्यथा ग्राह्यत्वं स्वजन्यज्ञानविषयत्वं, ग्राहकत्वं घटादिप्रत्यक्षकारणत्वं च द्वे शक्ती, ते च कारणतारूपेऽतिरिक्ते वा इत्यन्यदेतत्। सर्वशब्दानां गवादिपदानामपि, तथैव एते ग्राह्यत्वग्राहत्वशक्ती, पृथक् तत्तत्पदत्वावच्छेदेन, अवस्थिते तत्तत्पदवृत्तिनी इत्यर्थः। तथा च दीपादिवत् स्वजन्यान्वयबोधविषयत्वं घटादिविषयकान्वयबोधजनकत्वं च सर्वेषां पदानामिति।

प्रत्याय्यमर्थं प्रकाशयति। ते चास्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्ती नित्यमात्मभूते पृथक्त्वेनेव प्रत्यवभासेते ॥ ५४ ॥

विवरण—तेज तो तमोरूप–काले रूप का विरोधी भास्वररूपात्मक भेद से युक्त होकर विषय या ग्राह्य के रूप में भासित होता है और नेत्रों का अनुग्राहक बनकर रूपादि की उपलब्धि में कारण भी बन जाता है। इस प्रकार तेज की ग्राह्य और ग्राहक दोनों शक्तियाँ देखी जाती हैं।

शब्द भी भाव या वस्त्वन्तर-विरोधी तथा शब्दान्तर-विरोधी स्वरूपात्मक ग्राह्य विषय के रूप में भिन्नतया गृहीत होकर ज्ञेय अर्थ को प्रकाशित करता है। तात्पर्य यह है कि वक्ता के द्वारा 'अश्वः' इस शब्द के उच्चारण करने पर श्रोता इसकी आनुपूर्वी को पहले ग्रहण करता है। यह आनुपूर्वी ही उसका स्वरूप है, जो 'गौः' आदि शब्दस्वरूपों से भिन्न है तथा 'गौः' आदि भावान्तर से भी भिन्न है।

'स्वरूपेण अवध्रियमाणभेदः' से जो बात कही गई है, वही 'परिगृहीतविशेषशब्द-स्वरूपः' से भी स्पष्ट होती है। पहले पद से स्वरूप का कथनमात्र किया गया है और द्वितीय पद से परिगृहीत विशिष्टस्वरूप विशिष्ट शब्द प्रत्याय्य अर्थ को प्रकाशित करता है—यह बतलाने के लिए प्रत्यायन के अङ्गरूप में इस पद का ग्रहण किया गया है।

इस शब्द की वे प्रतिपाद्य और प्रतिपादक दोनों शक्तियाँ नित्य अभिन्न रूप से विद्यमान रहकर पृथक् के समान भासित होती हैं।

कहीं-कहीं 'पृथगवस्थिते' ऐसा पाठ मिलता है, किन्तु शुद्ध पाठ 'पृथगिव स्थिते' यही है। ऐसा वृत्ति और श्रीवृषभ के ग्रन्थ से प्रतीत होता है ॥ ५४ ॥

पिछली कारिका में वाचक शब्द और स्वरूपार्थ शब्द की चर्चा की गई है। अब प्रस्तुत कारिका द्वारा स्वरूपार्थ के महत्त्व का निरूपण करते हैं—

वृत्तिः—यतश्चैतदेवं तस्मात्—

विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते।
न सत्तयैव तेऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः ॥ ५५ ॥

विषयत्वम् अनापन्नैः शब्दैः अर्थः न प्रकाश्यते; ते अगृहीताः सत्तया एव अर्थानां न प्रकाशकाः।

बिना ग्राह्य विषय बने शब्दों के द्वारा अर्थ का बोध नहीं होता। वे शब्द श्रवणेन्द्रिय द्वारा गृहीत हुए बिना सत्ता मात्र से ही (नित्य एवं सर्वदा विद्यमान होने से चक्षु आदि इन्द्रियों के सदृश) अर्थों का प्रकाशन नहीं करते।

वृत्तिः—यदि ग्राह्यत्वेन शेषिभावमप्रतिपन्नाः शब्दाः शेषत्वमर्थेषु प्रतिपद्येरन्, ते सत्तासम्बन्धमात्रेणोपलब्धा अनुपलब्धाश्च विषयत्वमनपेक्षमाणाः स्वं

स्वमर्थं प्रत्याययेयुः, न तु प्रत्याययन्ति । तस्मादङ्गभूत एषामर्थेषु गुणभावापत्तौ प्राधान्यमात्रारूपेण संस्पर्श इति ॥ ५५ ॥

विवरण—कारिका के ऊपर 'यतश्चैतदेवं तस्मात्' यह जो अवतरणिका दी गई है, वह वृत्ति का अंश नहीं प्रतीत होती । श्रीवृषभाचार्य ने इसकी 'यतश्च इति । यस्माद् ग्राह्यग्राहकशक्ती तस्य, तस्माद्' इस प्रकार व्याख्या की है; इससे ज्ञात होता है कि उनके समय में यह सन्दर्भ विद्यमान था । सम्भव है कारिकाओं के किसी अन्य व्याख्याता द्वारा यह अवतरणिका दी गई हो, अस्तु ।

यदि ग्राह्य रूप से प्रधानभाव को प्राप्त हुए विना शब्द स्वार्थबोधन में गौणरूप को प्राप्त कर लें तो वे चाहे उपलब्ध हों अथवा अनुपलब्ध, सत्तामात्र के सम्बन्ध से ज्ञान का विषय विना बने ही उन्हें अपना-अपना अर्थ बतलाना चाहिए, किन्तु वे नहीं बतलाते । इससे स्पष्ट है कि स्वार्थबोधन के अवसर पर शब्दों के गौणभाव की प्राप्ति में उनका प्राधान्यमात्रा के रूप से संस्पर्श या ग्राह्यरूपता अथवा स्वरूपार्थ ग्रहण अङ्ग या निमित्त के रूप में आवश्यक है ।

वैयाकरणभूषण एवं वैयाकरणभूषणसार में 'विषयत्वमनादृत्य' ऐसा पाठ है । उसे 'अनापन्नैः' का अनुवाद मात्र समझना चाहिए ॥ ५५ ॥

अब स्वरूपार्थ के ग्रहण की अत्यन्त आवश्यकता का प्रस्तुत कारिका द्वारा निरूपण करते हैं—

अतोऽनिर्ज्ञातरूपत्वात् किमाहेत्यभिधीयते ।
नेन्द्रियाणां प्रकाश्येऽर्थे स्वरूपं गृह्यते तथा ॥ ५६ ॥

अतः अनिर्ज्ञातरूपत्वात् किम् आह—इति अभिधीयते । इन्द्रियाणां प्रकाश्ये अर्थे तथा स्वरूपं न गृह्यते ।

गृहीत–श्रोता के द्वारा ज्ञात शब्दस्वरूप ही अर्थ के प्रत्यायन में निमित्त (अङ्ग) होता है, अगृहीत या अज्ञात नहीं । अतः वक्ता के द्वारा उच्चरित होने पर भी असावधानी के कारण श्रोता के द्वारा वाचक शब्द के स्वरूप का ग्रहण न होने पर श्रोता तुरन्त पूछता है कि आपने क्या कहा ? किन्तु नेत्रादि इन्द्रियों के द्वारा घटादि पदार्थों के प्रकाशन के अवसर पर शब्दस्वरूप के सदृश इन्द्रियों के स्वरूप का ग्रहण नहीं किया जाता ।

वृत्तिः—शब्दस्वरूपसम्प्रत्ययाधीनमेवार्थप्रत्यायनं मन्यमाना लौकिकाः प्रयुक्तेष्वपि शब्देष्वप्रतीतस्वरूपेषु शब्दस्वरूपविशेषप्रतिपत्त्यर्थं किं भवतना-हेत्याहुः । इन्द्रियाणि तु शेषिभावमात्रासंस्पर्शेनासंसृष्टान्यपरिच्छिन्नस्वलक्ष-णानि विषयोपलब्धौ शेषभावमुपगच्छन्ति ॥ ५६ ॥

विवरण—संसार में लोग अर्थ—घट-पटादि पदार्थ को शब्द के स्वरूप-बोध के अधीन मानते हैं और वक्ता के द्वारा शब्दों के उच्चारण करने पर भी यदि उनके

स्वरूप की प्रतीति नहीं हुई तो उस शब्द के स्वरूप-विशेष की जानकारी के लिए पूछ बैठते हैं कि आपने क्या कहा। इन्द्रियों के विषय में ऐसी बात नहीं है। इन्द्रियाँ तो प्रधानभाव की मात्रा के संस्पर्श से सम्बद्ध हुए बिना ही स्वलक्षण या स्वरूप ज्ञान के अभाव में भी सत्तामात्र से रूपादि विषय की उपलब्धि में गौणभाव को प्राप्त करती हैं ॥ ५६ ॥

पीछे शब्द की ग्राह्य और ग्राहक अथवा अभिधान और अभिधेय (स्वरूपार्थ) नामक अभिन्न शक्तियों का पृथक् के सदृश भासित होने की बात कही गई है। प्रस्तुत कारिका द्वारा भेद-कथन के फल का निरूपण करते हैं—

भेदेनावगृहीतौ द्वौ शब्दधर्मावपोद्धृतौ ।
भेदकार्येषु हेतुत्वमविरोधेन गच्छतः ॥ ५७ ॥

द्वौ शब्दधर्मौ अपोद्धृतौ भेदेन अवगृहीतौ भेदकार्येषु अविरोधेन हेतुत्वं गच्छतः ॥ ५७ ॥

ग्राह्यत्व और ग्राहकत्वरूप दो शब्दधर्म या शक्तियाँ अभिन्न होने पर भी कल्पना द्वारा पृथक् कृत, अत एव भिन्नरूप से ज्ञात होने पर संज्ञा और संज्ञी आदि भेद-निमित्तक कार्यों में अविरुद्धरूप से हेतुत्व को प्राप्त होती हैं। 'अग्नेर्ढक्' (पा० ४।२। ३३) अर्थात् 'अग्नि शब्द से ढक् प्रत्यय हो।' यहाँ सूत्रस्थ अग्नि शब्द संज्ञा है और 'आग्नेय' इस प्रयोग में स्थित अग्नि शब्द संज्ञी है। शब्द एक ही है, किन्तु एक ग्राहक या संज्ञा है और दूसरा ग्राह्य या संज्ञी। परमार्थतः दोनों व्यतिरिक्त नहीं है तो भी वहाँ भेदाश्रयी कार्य विरोधी नहीं माने जाते ॥ ५७ ॥

वृत्तिः—यथैव व्यपदेशिवद्भावविषयेष्वर्थात्मसु निमित्तभेदाद् बुद्धिकल्पनया व्यवस्थापितभेदेषु लोके शास्त्रे च मुख्यभेदविषयाणि सर्वाणि कार्याणि क्रियन्ते। तथा शब्देष्वपि बुद्धचा परिगृहीतग्राह्यग्राहकशक्त्यपोद्धारेषु मुख्यार्थविषयाणीव शास्त्रे संज्ञासंज्ञिसम्बन्धादीनि भेदकार्याणि विधीयन्ते ॥ ५७ ॥

विवरण—जिस प्रकार व्यपदेशिवद्भावात्मक विषय से सम्बद्ध पदार्थों में निमित्त भेद से बुद्धि की प्रकल्पना द्वारा लोक और शास्त्रों में भेद की व्यवस्था सम्पन्न की जाती है; और मुख्य भेद-विषयक समस्त कार्य किये जाते हैं, वैसे ही बुद्धि के द्वारा ग्राह्य और ग्राहक शक्तियों का पृथक्करण जिनमें स्वीकृत है, ऐसे शब्दों में भी मुख्यार्थ विषय के समान शास्त्र में संज्ञा और संज्ञी सम्बन्धादि भेदात्मक कार्य किये जाते हैं।

'व्यपदेशिवद्भाव' यह व्याकरण का पारिभाषिक शब्द है। 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' (पा० ६।१।१) इस सूत्र के अन्तर्गत वार्तिक आता है—'एकवर्णेषु च व्यपदेशिवद् वचनात्।' इस पर महाभाष्यकार कहते हैं—'व्यपदेशवदेकस्मिन् कार्यं भवति, इति वक्तव्यम्। एवमेकवर्णेषु द्विर्वचनं भविष्यति।' इस पर कैयट व्याख्या करते हैं— मुख्य एकाच् है व्यपदेश या नाम जिनका, वे व्यपदेशी कहलाते हैं; जैसे पच्, पठ्

आदि। इनका जैसे पपाच और पपाठ में द्वित्व होता है, वैसे ही 'इयाय' और 'आर' में 'ई' और 'ऋ' इस एक वर्ण का भी द्वित्व होगा। 'मुख्यः एकाज्व्यपदेशो येषामस्ति ते व्यपदेशिनः पचादयस्ते यथा द्विर्वचनं प्रतिपद्यन्ते तथैकवर्णा अपि'।

लोक में 'सुवर्णस्य अङ्गुलीयकम्' ऐसा उदाहरण देखा जाता है। वस्तुतः जो सोना है वही अँगूठी है, किन्तु फिर भी उनका भेदरूप में प्रयोग होता है। सन्निवेश विशेष या विशिष्ट आकार 'अङ्गुलीयक' या अँगूठी—इस शब्द का निमित्त बन जाता है और सुवर्ण शब्द की सुवर्णत्व जाति निमित्त बनती है। यद्यपि वस्तु एक ही है किन्तु निमित्त में भेद है। इस निमित्त-भेद के कारण तदात्मक बुद्धियाँ वहाँ भेद की कल्पना कर लेती हैं। 'सुवर्णस्य अङ्गुलीयकम्' में जो भेदनिबन्धन षष्ठी है, वह लोक में बुद्धि द्वारा कल्पित है। योगदर्शन में जिसे विकल्प कहते हैं, उसे ही यहाँ व्यपदेशिवद्भाव के नाम से कहा जाता है। योगदर्शन में विकल्प का उदाहरण मिलता है—'पुरुषस्य चैतन्यम्' जो पुरुष है वही चैतन्य है; फिर भी बुद्धिकल्पित भेद की यहाँ प्रतीति होती है।

'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' 'राहोः शिरः' में भेदात्मक वस्तु की शून्यता है। जो राहु है वही शिर है तो भी शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धन भेद-व्यवहार देखा जाता है।

कैयट ने लोकगत उदाहरण प्रस्तुत किया है—'शिलापुत्रकस्य शरीरम्'। शास्त्रीय उदाहरण है—'इयाय' अथवा 'आर'।

'एकाचो द्वे प्रथमस्य' के भाष्य में 'एकाचः' का अर्थ किया गया है—'एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्'। यदि इस प्रकार बहुव्रीहि समास किया जायेगा तो पपाच और पपाठ की सिद्धि हो जायेगी, किन्तु 'इयाय' और 'आर' नहीं सिद्ध होंगे। क्योंकि 'पच्' तो एकाच् है, परन्तु इण् या ऋ तो एक वर्ण है, वह एकाच् नहीं। हाँ, 'एकाच्' में यदि 'एकोऽच् एकाच्' इस प्रकार तत्पुरुष समास माना जाय तो इयाय सिद्ध होगा, किन्तु पपाच आदि की सिद्धि नहीं होगी।

इस पर वार्तिककार ने कहा है कि वस्तुतः बहुव्रीहि समास ही होगा और व्यपदेशिवद्भाव से इयाय की भी सिद्धि हो जायेगी। जैसे 'हन्त्यात्मानमात्मना' यहाँ एक आत्मा का बुद्धि द्वारा कल्पित अवस्था-भेद के आश्रित कर्तृ, कर्म और करणभाव देखा जाता है, वैसे ही 'इयाय' यहाँ भी प्रयोग-भेद से एति, इतः यन्ति, आयन् आदि अनन्तरूप इण् धातु का एक 'इकार' एकाच् नाम से व्यपदिष्ट होता है। यही व्यपदेशिवद्भाव है।

मुख्य भेद विषय का उदाहरण है—'राज्ञः पुरुषः' यहाँ राजा पृथक् है और पुरुष पृथक्। दोनों में वास्तविक भेद है। जैसे लोक में गौ का पिण्ड संज्ञी और गौ यह संज्ञा स्वीकृत है। इसी मुख्यार्थ के सदृश शास्त्र में शब्द का 'स्व-रूप' (स्वरूपार्थ—

श्रोता द्वारा गृहीत वाचक शब्द की आनुपूर्वी) संज्ञी और वाचक शब्द संज्ञा के रूप में माना जाता है। इस बात को 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' (पा० ६।१।१) इस सूत्र में स्पष्ट किया गया है। वक्ता के द्वारा उच्चरित 'राम' इस वाचक संज्ञा शब्द का श्रोता के द्वारा गृहीत 'राम' यह स्वरूप संज्ञी है, शब्दशास्त्र में संकेतित घु आदि संज्ञाओं को छोड़कर अर्थात् वहाँ स्वरूप संज्ञी नहीं माना जाता। 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्धादीनि' में पठित 'आदि' शब्द के विषय में श्रीवृषभाचार्य ने कहा है—

आदिशब्दो यथा वक्ष्यति—'प्राक् संज्ञिनाभिसम्बन्धाद्' इति। वृद्धि आदि संज्ञा शब्द अपने संज्ञी आदैच् इत्यादि से सम्बन्ध प्राप्त होने से पूर्व 'वृद्धि' इस व् ऋ आदि आनुपूर्वी रूप अर्थ से सम्पन्न होते हैं॥ ५७॥

संज्ञासंज्ञिभाव को अब दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

वृद्धयादयो यथा शब्दाः स्वरूपोपनिबन्धनाः।
आदैच्प्रत्यायितैः शब्दैः सम्बन्धं यान्ति संज्ञिभिः॥ ५८॥

वृद्धयादयः शब्दाः यथा स्वरूपोपनिबन्धनाः आदैच् प्रत्यायितैः संज्ञिभिः शब्दैः सम्बन्धं यान्ति।

'वृद्धिरादैच्' (पा० १।१।१) इत्यादि सूत्रों में पठित वृद्धि आदि शब्द जैसे व् ऋ आदि वर्ण घटित आनुपूर्वी रूप 'वृद्धि' इस स्वरूप के उपनिबन्धन अर्थात् बोधक होकर अथवा अभिधेय का रूप ग्रहण करके आत् ऐच् द्वारा बोधित आ, ऐ, औ इन संज्ञी शब्दों से सम्बन्धलाभ करते हैं—

वृत्तिः—इह हि भिन्नरूपसंज्ञाप्रतिपाद्येषु 'इको यणचि' इत्यादिषु नोच्चार्यमाण इक्शब्दः स्थानी, नापि यण्शब्द आदेशः, तत्प्रत्यायितानां तु रूपान्तरयुक्तानां संज्ञानां स्थान्यादेशभावः शास्त्रेऽन्वाख्यायते। तुल्यरूपसंज्ञेष्वपि संज्ञिषु तादृशी सम्बन्धप्रतिपत्तिरिति सिद्धमेतत्।

अत्र वृद्धयादयः शब्दाः स्वरूपाधिष्ठानाः स्वेनार्थेनार्थवन्तः स्वरूपेण शब्दान्तरस्वरूपाण्युपजिघृक्षन्तः स्वरानुनासिक्यभिन्नैराकारादिभिरादैच्छब्दादिभिः प्रत्यायितैः सम्बन्धं येन प्रकारेण प्रतिपद्यन्ते, तेनैव प्रकारेण दुरवधारत्वेऽपि भेदस्य॥ ५८॥

विवरण—संज्ञा और संज्ञी सम्बन्ध ग्राह्य और ग्राहक रूप शक्तिभेद द्वारा कल्पित है तथा अमुख्य शब्दभेद हेतुक है, ऐसा पीछे कहा गया है। अब प्रसङ्गतः उस सम्बन्ध की विशिष्ट विषयता प्रदर्शित करने के लिए 'अग्निशब्दस्तथैवायमग्निशब्दनिबन्धनः' इस वक्ष्यमाण अर्थ (दार्ष्टान्तिक) को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं।

स्वरूप (उच्चरित अग्नि आदि शब्दों का अनुकृत या श्रुत अग्नि आदि रूप या आनपूर्वी स्वरूप कही जाती है) है उपनिबन्धन या अभिधेय जिनका, ऐसे वृद्धि आदि

वाचक या उच्चरित शब्द स्वरूपोपनिबन्धन कहलाते हैं। उच्चरित शब्द वाचक या अभिधान शब्द है और श्रुत या अनुकृत वाच्य या अभिधेय।

व्याकरणशास्त्र में 'इको यणचि' इत्यादिक स्थलों में इक् और यण् क्रमशः इकारादि चार और यकारादि चार वर्णों–संज्ञियों की भिन्न रूप संज्ञाएँ हैं। वहाँ जैसे इक् और यण् ये दोनों संज्ञाएँ, संज्ञियों के उपलक्षण में—सूचना देने में चरितार्थ हैं। इनसे कार्यसिद्धि नहीं होती। कार्यसिद्धि तो इनके द्वारा प्रतिपादित इकारादि एवं यकारादि संज्ञियों से होती है। तात्पर्य यह है कि न तो उच्चार्यमाण इक् शब्द स्थानी है और न यण् शब्द आदेश; किन्तु उनसे प्रत्यायित या प्रतिपादित भिन्नरूप वाले इकारादि और यकारादि जो संज्ञी हैं, उनकी इस शास्त्र में स्थानी और आदेश-भाव के रूप में प्रक्रिया बतलाई जाती है।

'रूपान्तरयुक्तानां' के अनन्तर वृत्ति में 'संज्ञानां' ऐसा पाठ उपलब्ध होता हैं। किन्तु इसके स्थान पर 'संज्ञिनां' यह कल्पित पाठ अधिक उचित जान पड़ता है।

जहाँ संज्ञा और संज्ञी भिन्नरूप न होकर तुल्यरूप हैं, जैसे सूत्रस्थ अग्नि शब्द और लक्ष्यस्थ अग्नि शब्द, वहाँ उस प्रकार के सम्बन्ध की प्रतिपत्ति होती ही है, यह सिद्ध है।

'स्वं रूपं शब्दस्य—' इस सूत्र के बल से अग्नि ही अग्नि शब्द की संज्ञा है। उच्चार्यमाण शब्दों में संज्ञा और संज्ञीभाव की प्रतिपत्ति नहीं होती, अपि तु उनके द्वारा प्रत्यायित–बोधित शब्दों में होती है; जैसे वृद्धि शब्द से प्रत्यायित जो स्वरूपात्मक वृद्धि शब्द है, वह संज्ञा है और आदैच् शब्द से प्रत्यायित जो आकारादि हैं, वे संज्ञी हैं।

'वृद्धिरादैच्' इत्यादि में वृद्धि आदि शब्द स्वरूपात्मक अधिष्ठान या अभिधेय के रूप में अपने स्वरूपात्मक अभिधेय या अर्थ से अर्थवान् होकर स्वरूप से ही शब्दान्तर स्वरूपों के ग्रहण की कामना से आदैच् शब्दादिकों से प्रतिपादित उदात्तादि स्वरों एवं सानुनासिक तथा निरनुनासिक भेदों से भिन्न आकारादिकों से जिस प्रकार से सम्बन्ध का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार से भेद के दुरवधार्य होने पर संज्ञा और संज्ञीभाव सम्बन्ध की प्रतीति होती है॥ ५८॥

उपात्त श्लोक में भिन्नरूप संज्ञा और संज्ञी का दृष्टान्त दिया गया है। अग्रिम श्लोक में ग्राह्यग्राहक भेद होने पर भी सारूप्य के कारण अविभावित अथ च दुरवधार्य अग्नि शब्दात्मक संज्ञासंज्ञीभाव का दार्ष्टान्तिक प्रस्तुत है—

अग्निशब्दस्तथैवायमग्निशब्दनिबन्धनः।
अग्निश्रुत्यैति सम्बन्धमग्निशब्दाभिधेयया॥ ५९॥

तथा एव अग्निशब्दनिबन्धनः अग्निशब्दः, अग्निशब्दाभिधेयया अग्निश्रुत्या सम्बन्धं एति।

वैसे ही अग्नि शब्द है निबन्धन-स्वरूप या प्रत्याय्य जिसका, ऐसा सूत्रस्थ-प्रत्यायक अग्नि शब्द अग्निशब्दात्मक अभिधेय या स्वरूपवाली अग्निश्रुति (अग्नि शब्द) से सम्बन्ध-लाभ करता है।

वृत्तिः—'स्वं रूपं शब्दस्ये'ति संज्ञासंज्ञिनौ भेदेनोपादीयेते। तत्र द्वौ शब्दौ श्रूयमाणौ प्रतिपादकौ, प्रतीयमानावपि द्वावेव सम्बन्धभाजौ कार्यिणौ। तस्मादग्निशब्दो येनार्थभूतेनाभिन्नरूपेणाग्निशब्देनार्थवान् तमग्निशब्दान्तराभिधेयस्य तुल्यश्रुतेरग्निशब्दस्य संज्ञाभावं प्रतिपादयतीति ॥ ५९ ॥

विवरण—'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' (१।१।६८) पाणिनि के सूत्र में पठित 'शब्दस्य' में षष्ठी और 'स्वं रूपं' में प्रथमा द्वारा स्पष्ट है कि यहाँ संज्ञा और संज्ञी का भिन्न रूप में ग्रहण किया गया है। पूर्वोक्त कारिकागत दृष्टान्त में वृद्धि और आदैच् ये दो श्रूयमाण शब्द प्रतिपादक हैं और स्वरूपात्मक वृद्धि शब्द तथा आकार, ऐकार तथा औकार ये प्रतीयमान भी दो ही शब्द हैं, जो परस्पर संज्ञा-संज्ञीरूप में भिन्नरूप से सम्बद्ध है तथा इन्हीं के द्वारा व्याकरणशास्त्र में कार्यसिद्धि होती है। वैसे ही, उच्चरित अग्नि शब्द जिस अर्थभूत अभिन्नरूप स्वरूपात्मक अग्नि शब्द से अर्थवान् है, उसे दूसरे अग्निशब्द के अभिधेय से सम्पन्न तुल्यश्रुतिवाले संज्ञात्मक अग्निशब्द के संज्ञीरूप में प्रतिपादित करता है।

वृत्ति के अन्तिम वाक्य में स्थित 'तस्मात्' शब्द को श्रीवृषभ ने स्वीकार नहीं किया है। व्याख्या के लिए वे अपना प्रतीक 'अग्नि शब्द इति' यहाँ से प्रारम्भ करते हैं। 'तम्' का अर्थ वे इस प्रकार स्पष्ट करते है—'योऽयमुपस्थापितोऽर्थभूतोऽग्निशब्दस्तम्। संज्ञाभावं संज्ञात्वम्, प्रतिपादयति गमयति। कस्येत्याह—अग्निशब्दान्तराभिधेयस्य इति।'

इससे ज्ञात होता है कि वे स्वरूपात्मक अर्थभूत अग्निशब्द को संज्ञा कहते हैं। किन्तु यह उचित नहीं। अतः इस सन्दर्भ का पाठ भ्रष्ट है, ऐसा सूचित होता है। वृत्ति का पाठ भी सङ्गत नहीं है। 'संज्ञाभाव' के स्थान पर यदि 'संज्ञीभाव' पढ़ा जाय तभी पाठ ठीक होगा। क्योंकि वैसे 'येन' के साथ 'तम्' का सम्बन्ध होगा और इस प्रकार उस अर्थभूत अग्नि शब्द को ही संज्ञाभाव की प्राप्ति होगी, जो समुचित नहीं। अम्बाकर्त्रीकार व्याख्या करते हैं—'तम् अग्नेर्ढगिति सूत्रघटकमग्निशब्दं तदभिधेयस्य तुल्यानुपूर्वीकस्य प्रयोगघटकस्याग्निशब्दस्य संज्ञाभावं प्रतिपादयति गमयतीति यावत्।' इससे पूर्व का सन्दर्भ है—तस्मात् 'स्वं रूपमि'ति सूत्रं, योऽग्निशब्दः 'अग्नेर्ढक्' इति सूत्रघटकः, येनार्थभूतेनाभिन्नेन प्रयोगघटकेनाग्निशब्देनार्थवान् तम् 'अग्नेर्ढक्' इति।

यहाँ 'येन' के साथ 'तम्' का सम्बन्ध है, यह ध्यान में नहीं रखा गया। 'येन' का अर्थ किया गया है प्रयोगस्थ अग्नि शब्द और 'तम्' का सूत्रस्थ (अग्नेर्ढक् स्थित)

अग्निशब्द; यह कैसे सम्भव है ? वृत्तिस्थ 'अग्निशब्दः' के पूर्व 'यः' की कल्पना से 'तं' का जोड़ा जाना सम्भव है, किन्तु श्रीवृषभ के कथन के विरुद्ध है[1]।

'तत्र द्वौ शब्दौ श्रूयमाणौ'—इस वाक्य का अर्थ अम्बाकर्त्रीकार ने इस प्रकार किया है—'स्वं रूपं शब्दस्य' में शब्दस्य यह प्रतिपादक है प्रयोगस्थ संज्ञी अग्नि शब्द का और 'स्वं रूपं' यह भी प्रतिपादक है 'अग्नेर्ढक्' इस सूत्र घटक संज्ञारूप अग्नि शब्द का। सूत्र घटक संज्ञारूप अग्नि शब्द प्रतीयमान है और प्रयोगस्थ संज्ञी अग्नि शब्द भी। इस प्रकार दो प्रतिपादक और दो प्रतीयमान शब्द हुए।

श्रीवृषभाचार्य की पद्धति—'स्वं रूपं शब्दस्य इति। निमित्तभूतशक्तिभेदे प्रकल्पितनानात्वयोः शब्दरूपयोः षष्ठीप्रथमाभ्यामुपादानम्। × × ×

श्रूयमाणौ इति। यावेतावग्निशब्दावग्निशब्दस्य संज्ञेत्युच्चार्येते तौ। प्रतिपादकौ। यतः शब्दद्वयमेतावुपस्थापयतः। प्रतीयमानौ इति। यौ ताभ्यामुपस्थाप्येते। स्वं रूपमित्यत्र व्यवस्थितमग्निरग्नेः संज्ञेति। ततः संज्ञोपस्थापितौ सम्बन्धादिकार्यभाजौ'।

उच्चरित शब्द से कार्य नहीं होता, अपि तु प्रतीयमान से ही कार्य-सिद्धि होती है—इस बात को दृढ़ करने के लिए कहते हैं—

यो य उच्चार्यते शब्दो नियतं न स कार्यभाक्।
अन्यप्रत्यायने शक्तिर्न तस्य प्रतिबध्यते ॥ ६० ॥

यः यः शब्दः उच्चार्यते सः नियतं कार्यभाक् न भवति। तस्य अन्यप्रत्यायने शक्तिः न प्रतिबध्यते।

जिस-जिस शब्द का उच्चारण किया जाता है, वह नियमतः कार्यभाक् नहीं होता अर्थात् 'अग्नेर्ढक्' में जिस अग्नि शब्द का उच्चारण किया गया है, उससे ढक् प्रत्यय नहीं होगा, किन्तु 'आग्नेयः' इस प्रयोग में विद्यमान जो अग्नि शब्द है, उसी से 'ढक्' प्रत्यय होता है। वह सूत्रस्थ अग्नि शब्द, जिसका प्रत्यायन या बोध कराता है, वही कार्यभाक् होता है। इसीलिए कहा गया है—अन्य अर्थात् प्रयोगस्थ शब्द के बोधन में उस उच्चरित शब्द की प्रत्यायकतात्मक शक्ति प्रतिबन्धित नहीं होती।

वृत्तिः—प्रतिज्ञातस्यार्थस्योत्तरस्मिन् श्लोके हेतुं वक्ष्यति। प्रत्यायको हि परार्थमुच्चारितो यदर्थमुच्चारितस्तं कार्येषु नियुङ्क्ते तत्र कार्याण्यासजति। तस्यापि प्रत्याय्यस्य यदा प्रदर्शनार्थमन्तःकरणसन्निविष्टस्योच्चारणं क्रियते, तदा तुल्यरूपमन्यप्रतिपाद्यं शब्दान्तरं प्रति न तस्य प्रत्यायकत्वं प्रतिबध्यते। सर्वस्यैवायमुच्चार्यमाणस्यात्मधर्म इति ॥ ६० ॥

---

१. श्रीवृषभ कहते हैं—'अग्निशब्द इति। योऽयं संज्ञात्वेन नियुज्यते। अभिन्नरूपेण इति। वस्तुतो भेदाभावात्। तम् इति। योऽयमुपस्थापितोऽर्थभूतोऽग्निस्तम्।' यहाँ स्पष्ट रूप से 'तम्' का सम्बन्ध अर्थभूत अग्नि से ज्ञात होता है।

विवरण—प्रतिज्ञात अर्थ, अर्थात् 'उच्चार्यमाण शब्द कार्यभाक् नहीं होता' इसका कारण अग्रिम श्लोक 'उच्चरन् परतन्त्रत्वात्' में बतलायेंगे। 'वक्ष्यति' इस प्रयोग से ज्ञात होता है कि कारिकाकार और वृत्तिकार भिन्न-भिन्न हैं।

प्रत्यायक—'अग्नेर्ढक्' इत्यादि सूत्रस्थ शब्द, परार्थ—प्रयोगस्थ शब्द के लिए उच्चारित होता है और जिसके लिए उसका उच्चारण किया जाता है, उस प्रत्याय्य को ही कार्यों में नियुक्त करता है तथा वहीं ढगादि कार्य भी होते हैं। उस प्रत्याय्य या स्वरूप शब्द का भी जब ताल्वादि करणों में सन्निविष्ट रूप से प्रदर्शनार्थ उच्चारण किया जाता है, तब तुल्यरूप अन्य प्रतिपाद्य ग्राह्यत्व शक्ति युक्त शब्दान्तर के प्रति उसकी प्रत्यायकता प्रतिबन्धित नहीं होती। समस्त उच्चार्यमाण प्रत्यायक शब्दों का यह आत्मधर्म है।

जो प्रत्याय्य या स्वरूप शब्द है, वह प्रतिपत्ता या श्रोता की बुद्धि में निविष्ट होता है और प्रत्यायक उच्चार्यमाण शब्द प्रयोक्ता या वक्ता के ताल्वादि करणों में प्रविष्ट होता है, जिनके अभिघात से शब्द की निष्पत्ति होती है।

'करणसन्निवेशेन प्रत्याय्यमानाद् भेदमाह—'यो हि प्रत्याय्यः स प्रतिपत्तृबुद्धौ निविशते, प्रत्यायकस्तु प्रयोक्तृकरणे, यदभिघाताच्छब्दनिष्पत्तिः।' —श्रीवृषभ।

इस सम्बन्ध में तृतीयकाण्डस्थ वृत्तिसमुद्देशगत ४५४वीं कारिका और हेलाराज की टीका द्रष्टव्य है। यथा—

> यो य उच्चार्यते शब्दः स स्वरूपनिबन्धनः।
> यथा तथोपमानेषु व्यपेक्षा न निवर्तते॥

इह करणसन्निवेशी परिगृहीतक्रमः शब्दो वाचकोऽग्निमन्तोदात्तमधीष्वेति। तस्य च निरुपाधेर्वाचकतायोग इति स्वरूपक्रममुपाधित्वेनासावाश्रयति। तथा च 'यदधिष्ठानाः श्रुतयः प्रत्याय्यमर्थमभिनिविशन्त—' इति ब्रह्मकाण्डेऽभिहितम्। तदेव च संहृतक्रमं (संगृहीतक्रमं ?) स्वरूपमस्याभिधेयमत्रार्थमपि स्वरूपाच्छुरितं शब्दो वक्तीति निर्णीतचरम्। तत्र करणसन्निवेशिनः स्वरूपाच्छुरितस्य वाचकत्वे प्रयोगस्थं वाच्यं स्वरूपम्। तदपि यदा करणोपारोहि, तदाप्यमरं वाच्यं संहृतक्रमं (संगृहीतक्रमं ?) कल्पयितव्यमिति सर्वत्र त्रितयमन्वयि, निमित्तं, तद्वानभिधेयं चेति। तदेव वीप्सया सार्वत्रिकत्वेन दर्शयति—यो य इति। यदपि हि प्रवृत्तिनिमित्तं स्वरूपं, तदपि यदा करणसन्निवेशि भवति तदापरं प्रवृत्तिनिमित्तमवश्यापेक्ष्यं, निरुपाधेर्वाचकत्वाभावादिति कृतनिर्णयमेतत् काण्डान्तरे पूर्वमिहापीति पुनरिह न वितन्यते।

यहाँ तालु आदि करणों में सन्निविष्ट अर्थात् उच्चरित क्रमवान् शब्द वाचक कहलाता है। जैसे 'अग्निम्' इसे अन्तोदात्त के रूप में पढ़ो। शिष्य के प्रति गुरु के द्वारा उच्चरित यह 'अग्निम्' शब्द वाचक है। किन्तु उपाधि रहित उस शब्द की

वाचकता नहीं बनती, अतः यह शब्द स्वरूपात्मक क्रम को उपाधि के रूप में स्वीकार करता है। जैसा कि ब्रह्मकाण्ड की 'द्वावुपादानशब्देषु–' इस कारिका की वृत्ति में कहा गया है—'यदधिष्ठानाः यदुपाश्रया यदाधाराः श्रुतयः प्रत्यायमर्थं प्रतिपद्यन्ते तस्य निमित्तत्वम्।' जिसे अधिष्ठान आश्रय अथवा आधार बनाकर श्रुतियाँ अथवा वाचक शब्द प्रत्याय्य अर्थ या स्वरूपार्थ को उपलब्ध करते हैं, उसे निमित्त शब्द कहते हैं। वही संगृहीतक्रम स्वरूप इस शब्द का अभिधेय है और बाह्यार्थ को भी जो स्वरूप से रञ्जित है, शब्द कहता है, यह पहले से ही निश्चित है।

वहाँ जब स्वरूप से रञ्जित करणसन्निवेशी शब्द वाचक बनता है तो प्रयोगस्थ स्वरूप वाच्य कहलाता है। वह भी जब करणों में उपारूढ होता है, तब संगृहीतक्रम स्वरूपात्मक दूसरे वाच्य की कल्पना की जाती है। इस प्रकार सर्वत्र तीन शब्द अन्वित होते हैं—पहला निमित्त, दूसरा निमित्तयुक्त वाचक तथा तीसरा स्वरूपात्मक अभिधेय। इसी बात को कारिका में सार्वत्रिक रूप से दिखलाने के लिए द्विरुक्ति की है—'यः यः' इस प्रकार।

जो स्वरूप प्रवृत्ति-निमित्त होता है, वह भी जब करणसन्निवेशी होता है तब दूसरे प्रवृत्तिनिमित्तात्मक स्वरूप की अपेक्षा अवश्य होती है; क्योंकि उपाधिविहीन शब्द वाचक नहीं हो सकता; यह ब्रह्मकाण्ड में पहले ही निर्णीत हो चुका है और यहाँ भी। अतः इसका विस्तार नहीं किया जाता ॥ ६० ॥

उच्चरित शब्द क्यों नहीं कार्यभाक् होता है, इसके कारण का प्रस्तुत कारिका में निरूपण करते हैं—

उच्चरन् परतन्त्रत्वाद् गुणः कार्यैर्न युज्यते।
तस्मात्तदर्थैः कार्याणां सम्बन्धः परिकल्प्यते ॥ ६१ ॥

उच्चरन् परतन्त्रत्वाद् गुणः कार्यैः न युज्यते। तस्मात् तदर्थैः कार्याणां सम्बन्धः परिकल्प्यते।

उच्चरित शब्द परतन्त्र अर्थात् अर्थबोधन के लिए नियत होने से अप्रधान माना जाता है, अतः अर्थ का विशेषणीभूत वह गौण शब्द प्रत्ययोत्पत्ति रूप कार्यों से अन्वित नहीं होता। सूत्रोच्चरित शब्द का कार्यों से अन्वयाभाव के कारण प्रयोगस्थ (आग्नेयः में स्थित) अग्नि शब्दादिकों से 'ढक्' आदि प्रत्ययोत्पत्ति रूप कार्यों का सम्बन्ध परिकल्पित होता है।

वृत्तिः—यथैव 'गामानय, दध्यशाने'त्यर्थतन्त्राः श्रुतिः क्रियासु साधनत्वं न प्रतिलभते, तथा शब्दान्तरतन्त्रापि, पारार्थ्यस्याविशिष्टत्वात्। तस्मात्सर्वस्य प्रत्याय्यस्यार्थस्य चक्षुरादिग्राह्यस्य श्रोत्रग्राह्यस्य च क्रियासाधनत्वं विज्ञायते ॥ ६१ ॥

विवरण—जैसे 'गाम् आनय' 'दधि अशान' इत्यादि प्रयोगों में जो ये —'गो' 'दधि' शब्द हैं, वे अर्थ-प्रतिपादन के लिए प्रयुक्त होते हैं; अर्थ का प्रतिपादन करके चरितार्थ होकर निवृत्त हो जाते हैं। अर्थ के प्रति गुणीभूत होने से ये गवादि शब्द आनयनादि क्रिया के साधन या कारक नहीं बनते। अर्थात् क्रिया के साथ कारकात्मक सम्बन्ध का लाभ नहीं करते। वैसे ही 'अग्नेढंक्' इत्यादि सूत्रघटक अग्न्यादि शब्द प्रयोगस्थ स्वरूपात्मक शब्दान्तर का बोधन करके चरितार्थ हो जाते हैं, अतः कार्यभाक् नहीं होते। क्योंकि परार्थता तो लोक और शास्त्र दोनो में समान ही है। उच्चरित या प्रत्यायक शब्द, चाहे वह लौकिक (गामानय) हो अथवा शास्त्रीय (अग्नेढंक्), लौकिक या शास्त्रीय अर्थ के अधीन होने के कारण कार्यभाक् नहीं होता, अतः सर्वत्र प्रत्याय्य अर्थ ही, चाहे वह चक्षुग्राह्य गो, दधि रूप बाह्यार्थ हो अथवा श्रोत्रग्राह्य प्रयोगस्थ स्वरूपार्थ, इन्हीं का क्रिया के साथ सम्बन्ध जाना जाता है। स्वरूपार्थ के साथ प्रत्यय एवं आदेशात्मक कार्य का सम्बन्ध होता है और बाह्यार्थ गो, दधि आदि के साथ आनयन एवं अशन रूप क्रिया-कारकभाव सम्बन्ध घटित होता है॥ ६१ ॥

'अन्यप्रत्यायने शक्तिर्न तस्य प्रतिबध्यते' अर्थात् प्रत्याय्य या स्वरूप शब्द जब करणसन्निवेशी होता है तो शब्दान्तर स्वरूप की कल्पना की जाती है और पुनः प्रदर्शनार्थ यदि वह उच्चरित हुआ तो उसके अन्य स्वरूप की प्रत्यायकता में कोई बाधा नहीं आती। तथा यह अनवस्था तब तक चलती हैं जब तक विवक्षा में विराम नहीं आता[1]। इसी बात को दृष्टान्त द्वारा अग्रिम कारिका में स्पष्ट करते हैं—

सामान्यमाश्रितं यद् यदुपमानोपमेययोः।
तस्य तस्योपमानेषु धर्मोऽन्यो व्यतिरिच्यते॥ ६२ ॥

उपमानोपमेययोः यद् यत् सामान्यम् आश्रितम्, तस्य तस्य उपमानेषु अन्यः धर्मः व्यतिरिच्यते।

---

१. श्रीवृषभाचार्य ने प्रस्तुत कारिका की अधोलिखित अवतरणिका दी है—'अविद्यमानेऽपि वास्तवभेदे यावन्न कल्प्यते भेदस्तावन्न पर्यवस्यतीति दृष्टान्तमाह——सामान्यमिति।'

चौखम्बा-संस्करण में प्रकाशित संक्षिप्त वृत्ति द्वारा निर्दिष्ट अवतरणिका इस प्रकार है—'नन्वर्थभूतस्याप्यग्निशब्दस्योच्चारणे उच्चारणपरतन्त्रत्वात् कार्ययोगो न स्यात्। उच्चारितेन कार्यबोधनमशक्यमत आह—'।

इन्हीं के आधार पर लोगों ने अपनी-अपनी अवतरणिकाएँ प्रस्तुत की हैं।

उपमान और उपमेय में जिस-जिस सामान्य या साधारण धर्म का आश्रय लिया जाता है, उस-उस साधारण धर्म के उपमेय होने पर (उपमानेषु—उपमिति क्रिया का विषय बनने पर) उससे भिन्न अतिरिक्त साधारण धर्म की कल्पना की जाती है। जैसे 'ब्राह्मणवत् क्षत्रियोऽधीते'=ब्राह्मण के सदृश क्षत्रिय का अध्ययन है। यहाँ ब्राह्मण उपमान और क्षत्रिय उपमेय तथा अध्ययन साधारण धर्म है। अब यदि 'ब्राह्मणाध्ययनवत् क्षत्रियाध्ययनम्' में अध्ययन को ही उपमा का विषय बनाया जाय तो उसके अन्य साधारण धर्म की कल्पना करनी होगी और वह साधारण धर्म होगा—सौष्ठव। अर्थात् जैसा सौष्ठव ब्राह्मण के अध्ययन में है वैसा ही क्षत्रिय के अध्ययन में भी है। अब यह सौष्ठव भी उपमा का विषय होकर प्रधान बना तो इसके भी परिपूर्णता आदि साधारण धर्म अन्वेषणीय होंगे। वैसे ही जो-जो स्वरूप शब्द उच्चार्यमाण होगा, उसके लिए स्वरूपान्तर की कल्पना अपरिहार्य होगी।

इहोपमानमुपमेयं तयोश्च साधारणो धर्म इति त्रितयमेतत् सिद्धम्। तत्र 'ब्राह्मणवदधीते क्षत्रियः' इत्युपमेये श्रूयमाणं सामान्यमुपमानेऽपि प्रतीयते। यदा तु 'ब्राह्मणाध्ययनेन तुल्यं क्षत्रियाध्ययनमित्यध्येतारौ उपमानोपमेययोः सम्बन्धित्वेनोपादीयेते तदाध्ययनयोराश्रयविशेषभिन्नयोः सौष्ठवादयो धर्माः साधारणत्वेन प्रतीयन्ते। सौष्ठवादीनामप्यध्ययनसम्बन्धिनां परिनिष्पत्त्यादयो धर्मा इति नास्ति व्यतिरेकस्यावच्छेदः॥ ६२॥

विवरण—यहाँ उपमान, उपमेय तथा उनका साधारण धर्म, ये तीनों प्रसिद्ध हैं। 'तत्र सिद्धोऽयं यद्गतो धर्मो निवेश्यते तदुपमानम्, यत्र निवेश्यते तदुपमेयम्। स च धर्मः साधारणः।' (पद्धति)।

'ब्राह्मण के समान क्षत्रिय का अध्ययन है' इस दृष्टान्त गत क्षत्रिय रूप उपमेय में श्रूयमाण अध्ययनात्मक सामान्य या साधारण धर्म उपमान रूप ब्राह्मण में भी प्रतीत होता है, क्योंकि उपमान और उपमेयभाव सामान्यहेतुक होता है और 'ब्राह्मण के अध्ययन के सदृश क्षत्रिय का अध्ययन है' इस प्रकार अध्येता जब उपमान और उपमेय के सम्बन्धी रूप में गृहीत होते हैं, तब आश्रय-विशेष के कारण भिन्न-भिन्न अध्ययन के सौष्ठव आदि धर्म साधारण रूप में प्रतीत होते हैं।

यहाँ आदि शब्द से माधुर्य का ग्रहण किया जा सकता है। और जब 'ब्राह्मण के अध्ययन-सौष्ठव के तुल्य क्षत्रिय के अध्ययन का सौष्ठव है' ऐसी उपमा दी जाती है, तो इसके अन्य परिनिष्पत्ति आदि साधारण धर्म कल्पित होते हैं। इस प्रकार व्यतिरेक की कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती। यहाँ भी आदि शब्द से दीप्ति आदि का ग्रहण किया जा सकता है।

वृत्तिसमुद्देश की चार सौ चौवनवीं कारिका के 'तथोपमानेषु व्यपेक्षा न निवर्तते' इस सन्दर्भ द्वारा यही बात कही गई है। इसकी व्याख्या में हेलाराज ने कहा है—

'एवं यथा प्रकर्षे धर्मान्तरस्य यावत् सम्भवो वचसस्तावत्परिकल्पनं स्वरूपे च स्वरूपान्तरस्य, तथौपम्येऽपि तन्निमित्तस्य प्रकल्पनादुपमानमुपमेयं तयोश्च साधारणो धर्म इति सर्वत्र त्रितयमपरिहार्यम्। अतश्च ब्राह्मणवत् क्षत्रियोऽधीत इत्यध्ययनं साधारणो धर्मः। तस्याप्युपमानत्वे ब्राह्मणाध्ययनेन क्षत्रियाध्ययनं तुल्यमिति सौष्ठवादिधर्मान्तरं साधारणं कल्प्यम्। तस्याप्युपमानत्वेऽन्यदिति शब्दव्यापारोपरमान्निवृत्तेर्नानवस्थेयं मूलक्षतिकरी पर्यवसानसम्भवात्।'

इस प्रकार जैसे धर्मान्तर के प्रकर्ष में (अर्थात् स्वरूप शब्द का ही जब अन्य व्यक्ति विशिष्ट रूप में उच्चारण करता है तो इसे ही धर्मान्तर का प्रकर्ष कहा जाता है) जब तक वाग्व्यापार की सम्भावना रहती है, तब तक स्वरूप में स्वरूपान्तर की कल्पना की जाती है; वैसे ही उपमा में भी उसके साधारण धर्मरूप निमित्त की कल्पना से उपमान, उपमेय और साधारण धर्म—यह त्रयी अपरिहार्य है। 'ब्राह्मण के सदृश क्षत्रिय अध्ययन करता है'—यहाँ अध्ययन साधारण धर्म है। यह धर्म भी जब उपमा का विषय बना; जैसे—'ब्राह्मणाध्ययन के तुल्य क्षत्रियाध्ययन है' तो यहाँ सौष्ठवादि अन्य साधारण धर्म की कल्पना आवश्यक हो जाती है। उसके भी उपमा का विषय बनने पर अन्य साधारण धर्म की खोज होगी। और जब शब्द-व्यापार का उपराम होगा तो उस साधारण धर्म की कल्पना का भी अन्त हो जायगा। तथा इस प्रकार उपर्युक्त अनवस्था मूल को नष्ट करने वाली नहीं है, क्योंकि उसके पर्यवसान की सम्भावना तो बनी ही है।

'सामान्यमाश्रितं—' इस कारिका को हेलाराज़ ने वृत्तिसमुद्देश की तीन सौ अठत्तरवीं कारिका की व्याख्या में उद्धृत किया है। यथा—

'धर्मः समानः श्यामादिरुपमानोपमेययोः।
आश्रीयमाणप्राधान्यो धर्मेणान्येन भिद्यते ॥ ३७७ ॥

उपमानोपमेयभावव्यवस्थापको यः श्यामादिर्धर्मः स यदोपकारित्वव्युदासेनाश्रयभिन्नः प्राधान्येनोपमेयतयोपादीयते, तदा द्रव्यायमाणत्वात् तस्यापरेण स्वगतेन धर्मेण विशेष्यमाणत्वमित्यन्यो धर्मोऽत्रोपमानोपमेयभावनिबन्धनम्'।

उपमान और उपमेयभाव का व्यवस्थापक जो श्यामादिक धर्म है, वह जब उपकारित्व (व्यवस्थापकत्व) का परित्याग करके आश्रय से भिन्न (पृथक्) होकर प्रधानतया उपमेय रूप में गृहीत होता है, तब द्रव्य बन जाने के कारण उसके स्वगत अन्य धर्म से विशिष्टता निष्पन्न होती है। इस प्रकार यहाँ अन्य धर्म उपमान और उपमेय भाव का कारण बनता है।

इसी को उदाहरण देकर समझाते हैं—

'शस्त्रीकुमार्योः सदृशः श्याम इत्येवमाश्रिते।
व्यपदेश्यमनेनेति निमित्तं गुणयोः स्थितम् ॥ ३७८ ॥

अनेन करणभूतेन धर्मेण दीप्त्यादिना श्यामगुणगतेन तुल्योऽयं श्यामगुण इति निरूपणीयम् । तत्रापि च श्यामगुणयोरयं दीप्त्याख्यो धर्मः समान इति प्राधान्ये धर्मस्य धर्मान्तरमुपमायाः सव्यापारमन्वेष्यमित्यनवस्थैवात्र ब्रह्मकाण्डे प्रतिपादिता—सामान्यमाश्रितं यद्यदित्यादि' ।

शस्त्री अर्थात् छुरिका और कुमारी, इनमें विद्यमान श्याम नामक समान धर्म क्रमशः उपमान और उपमेयभाव का व्यवस्थापक है । आश्रित उस श्याम गुण या धर्म में विद्यमान इस दीप्ति आदिक करणभूत धर्म से यह श्याम धर्म समान है, ऐसा निरूपण करना है तो वहाँ भी अर्थात् उपमान और उपमेय में विद्यमान श्याम गुण में दीप्ति रूप धर्म समान है, ऐसा जानना होगा और उस दीप्तिरूप धर्म की प्रधानता में (उपमा का विषय बनने पर) अन्य साधारण धर्म या निमित्त अन्वेषणीय होगा; इस प्रकार की अनवस्था या उपराम का अभाव ही ब्रह्मकाण्ड में 'सामान्यमाश्रितं—' द्वारा प्रतिपादित हुआ है ॥ ६२ ॥

अग्रिम कारिका द्वारा इसी विषय में दूसरा दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं—

गुणः प्रकर्षहेतुर्यः स्वातन्त्र्येणोपदिश्यते ।
तस्याश्रिताद् गुणादेव प्रकृष्टत्वं प्रतीयते ॥६३॥

यः प्रकर्षहेतुः गुणः स्वातन्त्र्येण उपदिश्यते, तस्य आश्रिताद् गुणाद् एव प्रकृष्टत्वं प्रतीयते ।

'शुक्लतरः पटः' इत्यादि प्रयोगों में पटरूप द्रव्य के उत्कर्ष का आधायक जो शुक्लात्मक गुण है, वह यदि स्वातन्त्र्य या प्रधानरूप से 'अस्य पटस्य रूपं शुक्लतरम्' इत्यादि में द्रव्य रूप से उपदिष्ट होता है, तो उस स्वतः द्रव्यभूत गुण का प्रकर्ष उसके आश्रित अन्य भास्वरत्व रूप गुण से ही प्रतीत होता है । उस भास्वरत्व की भी यदि द्रव्यत्व विवक्षा होगी तो उसके भी उत्कर्षाधायक अन्य गुण की अपेक्षा होगी ॥ ६३ ॥

वृत्तिः—यावदिदं तदिति प्राधान्येनोपादीयते तद् द्रव्यम् । न च द्रव्यस्य प्रकर्षापकर्षौ स्त इत्याश्रितैर्भेदहेतुभिः परतन्त्रैः संसर्गिभिर्निमित्तैः प्रकर्षे सव्यापारैः प्रचिकीर्षितोऽर्थः प्रकृष्यते ।

विवरण—जब तक 'इदम्' अथवा 'तत्' शब्द द्वारा किसी भी वस्तु को प्रधानरूप में ग्रहण किया जाता है, तब तक वह वस्तु द्रव्य कही जाती है ।

महाभाष्यकार ने 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (५।३।५५) इस सूत्र के भाष्य में कहा है—'न च द्रव्यस्य प्रकर्षापकर्षौ स्तः'=द्रव्य का (स्वतः) प्रकर्ष अथवा अपकर्ष

नहीं होता । हेलाराज ने वृत्तिसमुद्देश की चार सौ तिरपनवीं कारिको[1] की व्याख्या में उपर्युक्त भाष्य को इस प्रकार उद्धृत किया है—

'न वै द्रव्यस्य स्वत: प्रकर्षापकर्षौ स्त:, इति निरुपाधेरतिशयाभावात् संसर्गिधर्मान्तरनिमित्त: प्रकर्षोऽस्य व्यवस्थापित:' ।

'द्रव्य का स्वत: प्रकर्ष अथवा अपकर्ष नही होता' इस कथन के अनुसार उपाधिरहित द्रव्य में अतिशय के अभाव से संसर्गी अर्थात् आधार से संसृष्ट या स्वसमवायी शुक्ल गुण ही इस पटरूप द्रव्य के अतिशयाधान (प्रकर्ष) में हेतु माना जाता है।

भगवान् भर्तृहरि 'यावदिदं तदिति—' इस द्रव्य के लक्षण को—

'वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनाम प्रयुज्यते ।
द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो भेद्यत्वेन विवक्षित:' ॥ ३ ॥

प्रस्तुत कारिका को दृष्टि में रखकर भूयोद्रव्यसमुद्देश करते हैं । सर्वनाम दो प्रकार के होते हैं—

कुछ तो वस्तुमात्र का बोध कराते हैं । जैसे—'सर्व' आदि । दूसरे विशिष्ट वाचक होते हैं । जैसे—अन्यतर आदि । सर्वादिकों से द्रव्य का बोध होता है; जैसा कि कहा गया है—'इदं तदिति सर्वनामप्रत्यवमर्शयोग्यं द्रव्यम्' (हेलाराज द्वारा उद्धृत)। 'इदम्' यह प्रत्यक्ष अर्थ का वोधक है और 'तद्' यह प्रमाणान्तर से अवगत परोक्ष अर्थ का बोध कराता है ।

हेलाराज कहते हैं—'एतदेवं निरुक्तकारेणाप्युक्तम्—अद इति यत् प्रतीयते तद् द्रव्यम्' । वस्तुतः निरुक्त में इस प्रकार का उल्लेख है—'अद इति सत्त्वानामुपदेश: ।'

—नैघण्टुक काण्ड

महाभाष्यकार को उद्धृत करते हुए भर्तृहरि कहते हैं—'द्रव्य का स्वत: प्रकर्ष और अपकर्ष नहीं होता, अत: द्रव्य के आश्रित भेद को बतलाने वाले परतन्त्र एवं संसर्गी अथवा स्वसमवायी और प्रकर्ष में सव्यापार अर्थात् आश्रयान्तर से व्यवच्छेद बतलाने वाले निमित्तों या गुणों से उत्कृष्ट बनाने के लिए इष्ट अर्थ या द्रव्य[2] ही उत्कृष्ट किया जाता है ।

---

१. यथा प्रकर्ष: सर्वत्र निमित्तान्तरहेतुक: ।
द्रव्यवद् गुणशब्देऽपि स निमित्तमपेक्षते ॥ ४५३ ॥

× × × शुक्लतर: पट इति स्वसमवायिशुक्लगुणहेतुकोऽतिशय: । एवं यदासौ शुक्लो गुणोऽतिशयवत्त्वेन विवक्ष्यते तदा द्रव्यायमाण: स्वशब्देनाभिहितो भास्वरतादिस्वगतनिमित्तापेक्षस्तथोच्यते—शुक्लतरमस्य रूपमिति ।

२. व्याकरणागम के अनुसार द्रव्य का लक्षण वह है, जो 'इदम्' और 'तद्' शब्द द्वारा बोध्य हो और 'भेद्यत्वेन' विवक्षित हो । 'भेद्यत्वेन विवक्षित' यह विशेष लक्षण है ।

वृत्तिः—तद्यथा प्रकृष्टः शुक्ल इति शुक्लेन रूपेण सत्यप्युपलक्षणत्वे प्रकर्षं प्रति सव्यापारेण तद्वानप्रकृष्टाश्रयः प्रकृष्टव्यपदेशं लभते। 'शुक्लतरं रूपमस्य' इत्यत्र तु रूपस्य द्रव्यत्वेनोपादाने क्रियमाणे रूपाश्रितनिमित्तात् प्रकृष्टव्यपदेशः प्रकल्पते।

विवरण—पूर्वोक्त सन्दर्भ की व्याख्या में श्रीवृषभाचार्य ने दो शङ्काएँ उठाकर समाधान किया है—(१) 'राज्ञः पुरुषः' यहाँ राजा में भेदहेतुता होने पर भी पुरुषाश्रितता नहीं है, अतः उसमें प्रकर्षहेतुता नहीं बनती। यद्यपि पुरुष में राजाश्रितत्व, राजाभेदहेतुता और राजपरन्त्रता ये सब बातें हैं, किन्तु राजा के साथ तादात्म्यरूप संसर्गिता नहीं है, अतः वह स्वामिप्रकर्ष का हेतु नहीं है।

(२) घटत्व और पटत्व आदि जाति में यद्यपि आश्रितता, स्वाश्रयभेदहेतुता, स्वाश्रयपरतन्त्रता और 'स्वाश्रयसंसर्गिता—ये सब हैं, तो भी उसमें प्रकर्षहेतुता नहीं मानी जाती, क्योंकि जाति द्रव्य के जननमात्र से लभ्य होती है, अतः वह प्रकर्ष में व्यापारहीन रहती है। इसलिए कहा गया है—जो आश्रितभेदक हो, परतन्त्र और तादात्म्यापन्न तथा प्रकर्ष में व्यापृत हो, वह गुण ही द्रव्य में प्रकर्ष का आधान करता है। इसमें उदाहरण देते हैं; जैसे—'अनयोः पटयोरयं प्रकृष्टः शुक्लः'=इन दोनों पटों में यह प्रकृष्ट हैं। इस स्थल में यद्यपि शुक्ल गुण द्रव्य के उपलक्षणार्थ प्रयुक्त हुआ है, तथापि स्वाश्रय पटरूप द्रव्य के प्रकर्ष में व्यापारवान् शुक्लरूप के द्वारा अप्रकृष्ट पट रूप स्वाश्रय 'प्रकृष्ट है' ऐसा समझा जाता है।

और जब 'शुक्लतरं रूपमस्य'=इसका रूप शुक्लतर है, ऐसा अपने पट रूप आश्रय से अलग करके स्वतन्त्ररूप से कहने की इच्छा होती है, तब वह 'रूप' विशेषण नहीं रह जाता, अपि तु विशेष्य बन जाता है और भेद्य होने के कारण द्रव्य कहलाता है। ऐसी स्थिति में रूप के आश्रित भास्वरत्वात्मक निमित्त से वह रूप भी प्रकृष्ट बनाया जाता है। क्योंकि गुण वर्तमान स्थिति में द्रव्य बन जाता है, अतः उसका स्वतः

गुणादि उपाधियों से जो अवच्छेद्य हो–विशेष्य रूप में कथन करने योग्य हो, उसे 'भेद्यत्वेन विवक्षित' कहते हैं। यथा—'द्वितीयमपि विशेषलक्षणमाह–भेद्यत्वेन विवक्षित इति। सामान्यादिभिरुपाधिभिरवच्छेद्यत्वेन विशेष्यत्वेन वक्तुमभिप्रेतमित्यर्थः।'
—हेलाराज

श्रीवृषभ ने कहा है—'यद् यस्य द्रव्यस्य व्यवच्छेदकं स्तवश्च निमित्तान्तरेणावच्छेद्यं तद् द्रव्यमिति स्वसिद्धान्तस्थितं द्रव्यलक्षणमाह। न त्वेवं वैशेषिकप्रकल्पितं 'क्रियावद् गुणवदिति।' रेखाङ्कित सन्दर्भ भ्रष्ट ज्ञात होता है, शेष सङ्गत है।

वैशेषिक दर्शन का सूत्र है—'क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्' ॥ १५ ॥—अध्याय १, आह्निक १। चन्द्रानुन्दीय व्याख्या एवं अन्य प्राचीन व्याख्या में श्रीवृषभसम्मत पाठ है—'क्रियावद् गुणवत्स०'

प्रकर्ष सम्भव नहीं, इसलिए यहाँ उसके आश्रित भास्वरत्वरूप गुण ही निमि
होता है।

वृत्तिः—न च गुणसामान्यं श्वेतसमवायि श्वैत्यमेकत्वाद् भेदहेतुः सम्भव
तीति संसर्गिधर्मान्तराश्रयोऽवान्तरस्यैकस्यापि भेदः परिकल्प्यते। संविज्ञान
पदान्तराभावाद्वा भावप्रत्ययैरनिर्देश्यास्तुल्यश्रुत्युपगृहीताः शौक्ल्यवदेक
रूपाश्रिता विशेषाः प्रकृष्टव्यपदेशहेतवो विज्ञायन्ते। यावच्चेदं तदिति व्यपदे
श्यस्य प्राधान्येनाश्रितस्य प्रकृष्टव्यपदेशः क्रियते, तावदविच्छिन्नोऽयं निमि
त्तान्तरपरिकल्पनाधर्मप्रसङ्ग इति ॥ ६३ ॥

विवरण—जैसे 'पट' में शुक्ल शब्द के द्वारा अभिधीयमान शब्दोपात्त गुण प्रकर्ष
का हेतु बनता है, वैसे ही यहाँ शुक्लगुण-समवेत जाति प्रकर्ष का कारण क्यों नहीं
बनती ? इस शङ्का पर कहते हैं—

श्वैत्यरूप जाति के सर्वत्र तुल्य या एक होने से उसमें भेदकता सम्भव नहीं है
इसलिए अवान्तर भेदवाले एक ही शुक्ल रूप के स्वसंसर्गी भास्वरत्वरूप धर्मान्तर से
भेद की कल्पना की जाती है।

अथवा 'शुक्लतरं रूपमस्य' इस प्रसङ्ग में भास्वरता के संविज्ञान का कोई पद
गृहीत नहीं है और न 'त्व' 'तल्' आदि भावप्रत्ययों द्वारा प्रकर्षहेतुक भास्वरत्वादि
गुण का अभिधान (कथन) किया गया है, तो भी यहाँ शुक्लरूप पद ही शुक्लरू
सामान्य को बतलाते हुए शुक्ल-विशेष भास्वरादिकों को भी कहता है—इस प्रकार
तुल्य शुक्लपदात्मक श्रुति से गृहीत होकर (४५४) शौक्ल्य के सदृश (जैसे शुक्ल
गुण अपने आश्रय पट का भेदक है, वैसे ही भास्वरादिक अपने आश्रय शुक्लरूप गुण
के भेदक हैं) शुक्लरूप सामान्य से क्रोडीकृत शुक्लरूप गत विशेष भास्वरत्व आदि
भी, जो अनियत सन्निधि वाले हैं; आक्षिप्त होकर प्रकृष्ट व्यपदेश के हेतु बन जाते हैं।
और जब तक ये भास्वरत्व आदि गुण द्रव्यता को प्राप्त होकर प्रकृष्ट रूप में विवक्षित
होते हैं (रूपमस्य भास्वरतरम् आदि में), तब तक उसके अपर धर्म की कल्पना की
जाती है और उसके भी अन्य धर्म की; इस प्रकार निमित्तान्तर के परिकल्पनाधर्म
का प्रसंग अविच्छिन्न रूप से चलता रहता है, जब तक कि विवक्षा का ही विराम न
हो जाय ॥ ६३ ॥

अब दार्ष्टान्तिक का प्रदर्शन करते हैं—

वृत्तिः—एवं च कृत्वोच्चार्यमाणस्य—

तस्याभिधेयभावेन यः शब्दः समवस्थितः।
तस्याप्युच्चारणे रूपमन्यत् तस्माद्विविच्यते ॥ ६४ ॥

तस्य अभिधेयभावेन यः शब्दः समवस्थितः, तस्य अपि उच्चारणे तस्मात् अन्यत् रूपं विविच्यते ।

इस प्रकार उच्चार्यमाण उस शब्द के अभिधेयभाव से अर्थात् प्रत्याय्यरूप से जो स्वरूपात्मक शब्द स्वभावतः निरूढ है, उस स्वरूप शब्द का भी जब उच्चारण किया जाता है तो उसका अन्य स्वरूप उससे पृथक् रूप में स्थित होता है ॥ ६४ ॥

वृत्तिः—हेतुदृष्टान्ताभ्यां व्यतिरेकव्यवस्थानिदर्शनं कृत्वा यथाप्रकृतं स्वरूपमेव पुनरनुसंह्रियते । तस्याभिधेयभूतस्य यदा यदा निदर्शनार्थमुच्चारणं प्रक्रम्यते तदा तदा सर्वस्यैवोच्चार्यमाणस्यैवंधर्मत्वात्तस्यापि निबन्धनभूतं रूपान्तरमन्यद्विविच्यते । केचिदाहुः—'अभिधानमावर्तते तदेव त्वभिधेयत्वान्न प्रच्यवते' । एवं हि सङ्ग्रह उक्तम्—

'नहि स्वरूपं शब्दानां गोपिण्डादिवत् करणे सन्निविशते । तत्तु नित्यमभिधेयमेवाभिधानसन्निवेशे सति तुल्यरूपत्वादसन्निविष्टमपि समुच्चार्यमाणत्वेनावसीयते' इति ॥ ६४ ॥

विवरण—प्रस्तुत कारिका से किसी अपूर्व पक्ष की स्थापना नहीं करते अपि तु पहले 'यो य उच्चार्यते–' इससे जो प्रतिज्ञा की थी, उसी को 'उच्चरन् परतन्त्रत्वात्' द्वारा हेतु तथा 'सामान्यमाश्रितं–' एवं 'गुणः 'प्रकर्षहेतुर्यः–' इसे दृष्टान्त देकर पुष्ट किया गया और अब उसी का उपसंहार या उपनय प्रदर्शन करते हैं ।

हेतु और दृष्टान्त से व्यतिरेक-व्यवस्था का निदर्शन प्रस्तुत करके प्रासङ्गिक स्वरूपशब्द का ही पुनः उपसंहार करते हैं—'धर्मोऽन्यो व्यतिरिच्यते' 'प्रकृष्टत्वं प्रतीयते' यही व्यतिरेक-व्यवस्था का प्रदर्शन है ।

उस अभिधेयभूत स्वरूपात्मक शब्द का जब-जब प्रदर्शन के लिए उच्चारण किया जाता है, तब-तब सम्पूर्ण उच्चार्यमाण शब्द के कार्यभाक् न होने से (एवं धर्मत्वात्) उसका भी निबन्धनभूत या प्रवृत्तिनिमित्तात्मक अन्य अभिधेय या स्वरूप उससे भिन्नरूप में गृहीत होता है । कुछ लोगों का कथन है कि अभिधान ही उच्चारण दशा में आवर्तित होता है, अभिधेय अपनी अभिधेयात्मकता छोड़कर कभी अभिधायक नहीं बनता ।

इसी प्रकार संग्रह (व्याडि-निर्मित) में कहा गया है—'शब्दों का स्वरूप[1] या प्रत्याय्यं अर्थात् वाच्य—अभिधेय, अभिधेयान्तरया अन्य प्रत्याय्य गोव्यक्ति और गोजाति

१. स्वरूपमिति । प्रत्याय्यम् । गोपिण्डादिवदिति । आदिग्रहणाज्जातिः । यथा जातिद्रव्ये प्रत्याय्ये तथा स्वरूपम् । करणे इति । उच्चार्यमाणतां प्रतिबेधति । जात्यादिवत्प्रत्याय्यत्वान्नोच्चार्यते स्वरूपमिति । अभिधानसन्निवेशे इति । यत्तदभिधायकं तत्करणं सन्निविशते, स्वरूपं त्वसन्निविष्टमपि सारूप्यात्तथावसीयते ।

—श्रीवृषभाचार्य

(जैसे स्थान और प्रयत्नरूप करणों में सन्निविष्ट नहीं होती—उच्चरित नहीं होती) के सदृश करणों में सन्निविष्ट नहीं होता, किन्तु श्रोता की बुद्धि में स्थित होता है। वह नित्यरूप से अभिधेय ही बना रहता है; किन्तु जो अभिधान या वाचक-अभिधायक है, वही करणों में सन्निविष्ट होता है और स्वरूप शब्द करण में असन्निविष्ट होने पर भी समानरूपता के कारण उच्चरित मान लिया जाता है ।। ६४ ।।

यहाँ तक शब्दों की ग्राहक एवं ग्राह्य शक्ति अथवा वाचक शब्द और स्वरूपार्थ शब्द अथवा अभिधान और अभिधेय शब्द का निरूपण हुआ। प्रसङ्गतः स्वरूप शब्द भी उच्चरित होकर वाचक बनता है और उसके अन्य स्वरूप की कल्पना की जाती है। इस प्रकार की अनवस्था का प्रदर्शन संग्रहकार के मतान्तर के उल्लेखपूर्वक किया गया। अब भेदकार्यों में स्वरूपार्थ शब्द की अविरुद्ध रूप से हेतुता का निरूपण करते हैं; जैसा कि पहले कहा गया है—'भेदकार्येषु हेतुत्वमविरोधेन गच्छतः' (१।५७)

प्राक् संज्ञिनाभिसम्बन्धात् संज्ञा रूपपदार्थिका ।
षष्ठयाश्च प्रथमायाश्च निमित्तत्वाय कल्पते ।। ६५ ।।

संज्ञिना अभिसम्बन्धात् प्राक्, संज्ञा, रूपपदार्थिका; षष्ठ्याः च प्रथमायाः च निमित्तत्वाय कल्पते ।

आदैच् आदि संज्ञी से सम्बन्ध के पूर्व वृद्धि पदरूप संज्ञा स्वरूपात्मक (व् ऋ द्धिः रूप आनुपूर्वी) अर्थ वाली होती है। श्रीवृषभ के कथनानुसार जब तक संज्ञा संज्ञी में अपने स्वरूप को अर्पित नहीं करती, तब तक स्वरूप का ही प्रकाशन करती है।

इस प्रकार अभेद दशा में ('वृद्धिः' आदैच् में) वह प्रथमा विभक्ति का निमित्त बनती है और भेददशा में ('वृद्धेः' वाच्यमादैच् में अथवा आदैचां वृद्धिरिति संज्ञा) षष्ठी विभक्ति का ।। ६५ ।।

वृत्तिः—अभिधेयान्तरप्रविवेकेऽप्यभिधानस्य स्वरूपेणाप्रविवेकं दर्शयति। स्वरूपाधिष्ठानं चोपसर्जनीभूतस्वरूपार्थः शब्दोऽर्थान्तरे वर्तते। यावत् संज्ञिना तु संज्ञा न सम्बद्धा, तावन्न संज्ञिपदार्थिकेत्यर्थान्तराभावे तस्याः प्रातिपदिकसंज्ञाभावाद् विभक्तियोगो न स्यात्। वाचकानां च व्यतिरेकहेतुत्वात् सम्बन्धिनि शब्दान्तरे प्रातिपदिकार्थव्यतिरेको न प्रकल्पते ।। ६५ ।।

विवरण—बाह्य देवदत्त आदि से पृथक् या शून्य होने पर भी अभिधान स्वरूप से अपृथक् या अशून्य ही रहता है; इस बात को प्रस्तुत कारिका द्वारा दिखलाते हैं। श्रीवृषभाचार्य प्रविवेक का एक दूसरा भाव भी प्रस्तुत करते हैं—

'यद्वैकपिण्डत्यागेन पिण्डान्तरेऽपि प्रवृत्तेः प्रविवेकः। स्वरूपेण त्वशून्यता। तदाह—स्वरूपेणाप्रविवेकम् इति।'

स्वरूप से नित्य सम्बन्ध रखता हुआ अथवा स्वरूप का आश्रय लेकर ही अथवा स्वरूप का प्रत्यायन कराने के अनन्तर ही ('स्वरूपमधिष्ठानं प्रत्याय्यमस्येति'—श्री वृषभ) शब्द बाह्यार्थ घटादि का बोध कराता है; हाँ, उस अवसर पर स्वरूपार्थ उपसर्जनीभूत या गौण हो जाता है। जब तक संज्ञी (आदैच् इत्यादि) के साथ संज्ञा (वृद्धि आदि) सम्बद्ध नहीं होते, तब तक संज्ञा का अर्थ संज्ञी नहीं होता। ऐसी स्थिति में अर्थान्तर के अभाव में यदि स्वरूप को अर्थ न माना जाय तो 'अर्थवत्' निबन्धन प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होगी और उसके अभाव में प्रातिपदिकार्थहेतुक प्रथमा विभक्ति का योग भी सम्म्भव नहीं है। वाचक शब्दों के व्यतिरेक का (वाच्यों से भेद का) कारण होने से और स्वरूपार्थ के योग से ही वाचकता के बनने से सम्बन्धी संज्ञा रूप शब्दान्तर में प्रातिपदिकार्थ जो स्वरूपार्थ है, उसके भेद की कल्पना नहीं की जाती। स्वरूपात्मक प्रातिपदिकार्थ संज्ञारूप शब्द में अभिन्नरूप से विद्यमान रहता है। इसी के आधार पर बाह्य वाच्यार्थ के साथ संज्ञा का भेद कल्पित होता है। इसीलिए श्रीवृषभाचार्य ने कहा है—

'नानर्थिका सम्बन्धिनी व्यतिरेकमुपजनयति।'

कारिका[1] में 'प्राक् संज्ञिताभिसम्बन्धात्' ऐसा भी पाठ उपलब्ध होता है। अर्थ में कोई भेद नहीं है—'संज्ञा सञ्जाता अस्य इति' ॥ ६५ ॥

अब षष्ठी और प्रथमा विभक्ति के विषय-विभाग का निरूपण करते हैं—

तत्रार्थवत्त्वात् प्रथमा संज्ञाशब्दात् प्रतीयते।
अस्येति व्यतिरेकश्च तदर्थादेव जायते ॥ ६६ ॥

तत्र संज्ञाशब्दात् अर्थवत्त्वात् प्रथमा विधीयते। तदर्थात् एव अस्य व्यतिरेकश्च जायते।

वहाँ संज्ञा और संज्ञी के बीच में 'वृद्धिः' इस संज्ञा से स्वरूपार्थ को लेकर ही प्रथमा विभक्ति होती है और उसी स्वरूपात्मक प्रातिपदिकार्थ से 'वृद्धेः[2] वाच्यमादैच्' में षष्ठी विभक्तिमूलक व्यतिरेक भी उत्पन्न होता है।

---

१. 'प्राक् संज्ञिना–' यह श्लोकार्ध जातिसमुद्देश के 'स्वाजातिः प्रथमं शब्दैः सर्वैरेवाभिधीयते। 'ततोऽर्थजातिरूपेषु तदध्यारोपकल्पना' ॥ ६ ॥ इस श्लोक की व्याख्या में हेलाराज द्वारा उद्धृत है। यथा—यदि च स्वजात्यभिधानं तदानीं न स्यात् तदानर्थकत्वाद् विभक्तियोगो न स्यादिति—'प्राक् संज्ञिनाभिसम्बन्धात् संज्ञा रूपपदार्थिका।' इत्युक्तम्।

रूपं हि स्वरूपं स्वा जातिर्वेति दर्शनभेदेन कथ्यते—सर्वैरिति। स्वरूपपरैरर्थपरैश्च, तस्या एव स्वरूपतया व्यवहारात्। तथाव्युत्पन्नैरपि शब्दैरविनाभावाच्छब्दस्वरूपेणावस्थिता जातिः प्रतिपद्यते।

२. 'अस्यायं वाचको वाच्य इति षष्ठ्या प्रतीयते' ॥ ३ ॥ —सम्बन्धसमुद्देश

वृत्तिः—स्वरूपाध्यारोपचिकीर्षायां बाह्येष्वर्थात्मसु शब्दार्थानां स्वरूपेणाधिष्ठानभूतेनार्थवत्त्वात् प्रथमा विधीयते । सोऽयमिति च संज्ञिना शक्त्यवच्छेदलक्षणः सम्बन्धो नियम्यते । तद्यथा—'गौर्वाहीकः, सिंहो माणवकः' इति ।

विवरण—बाह्य अर्थात्माओं में स्वरूप के आरोप या तादात्म्याध्यास की इच्छा होने पर अधिष्ठानभूत स्वरूपार्थ से शब्दों तथा अर्थों के अर्थवान् होने से प्रथमा विभक्ति का विधान किया जाता है । जैसे 'वृद्धिरादैच्' अथवा 'देवदत्तोऽयं पिण्डः' यहाँ आदैच् और पिण्ड बाह्य अर्थात्मा या संज्ञी है, उसमें जब वृद्धि या देवदत्तात्मक स्वरूपार्थ को निविष्ट करना चाहते हैं तो अभिधेयभूत स्वरूपार्थ को लेकर वृद्धिरूप शब्द में तथा आदैच् रूप अर्थ में इसी प्रकार देवदत्तरूप शब्द में और पिण्डरूप अर्थ में वाच्यवाचकाध्यासमूलक प्रथमा विभक्ति होती है ।

व्याकरण में शब्द और अर्थ के दो मौलिक सम्बन्ध माने जाते हैं । प्रथम योग्यता रूप वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध और द्वितीय कार्यकारणभाव सम्बन्ध । तादात्म्य या अध्यास दोनों में रहता है, पृथक् नहीं—'अत एव द्विविधः सम्बन्धपदार्थो व्यवतिष्ठते, योग्यता कार्यकारणभावश्च । अध्यासस्तु द्वयोरपि परमार्थ एव, न पृथग्रूपः ।'

—हेलाराज, सम्बसमु०

इस प्रकार 'सोऽयम्' 'गौरयमर्थः' यहाँ सास्नादिमान् पिण्ड रूप अर्थात्मक संज्ञी से गौ शब्दात्मक संज्ञा का नानार्थशक्तिसम्पन्न होने पर भी एकार्थशक्ति में सीमित कर देने वाला (शक्त्यवच्छेदलक्षणः) सम्बन्ध नियत किया जाता है । अर्थान्तर-प्रतिपादन शक्ति को दूर करके तद्विषयक शक्ति का प्रबोधन किया जाता है । हेलाराज ने कहा है—'संज्ञाशब्दानां तु सर्वशक्ति-प्रत्यायनयुक्तत्वेऽपि विशिष्टे संज्ञिनि शक्त्यवच्छेदः सामयिकः' (स० समुद्देश) । व्याकरण की मान्यता है—'अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा ।'—२९, सम्बन्ध० ।

शब्दों का अर्थों के साथ सम्बन्ध अनादि है, इसी को योग्यता सम्बन्ध कहते हैं । सङ्केत या समय केवल इन्हीं अर्थों या एक अर्थ को यथारुचि संकेतित करता है । संज्ञा शब्द के सम्पूर्ण प्रसिद्धार्थ रूप संज्ञियों के प्रत्यायन शक्ति से युक्त होने पर भी विशिष्ट संज्ञी में शक्ति का अवच्छेद या अर्थ-नियमन सामयिक या साङ्केतिक माना जाता है ।

'गौर्वाहीकः' बैल, वाहीक देश-निवासी व्यक्ति है—यह शक्त्यवच्छेद का उदाहरण है । यहाँ गो शब्द की शक्ति का नियमन किया गया है । यहाँ एक की ही गौ यह संज्ञा है । यद्यपि गो शब्द समस्त जात्यादिकों का बोधक है तो भी जब वाहीक शब्द से उसकी शक्ति सीमित हो जाती है; जात्यादिक की निवृत्ति से गो शब्द विशिष्ट अर्थ का बोधक हो जाता है, तब इसी को संज्ञा शब्दों के शक्त्यवच्छेद के नाम से जानते हैं । इसी प्रकार दूसरा उदाहरण है—'सिंह यह लड़का है' । यहाँ तक संज्ञा शब्द और

उसके अर्थ से प्रथमाभिधान का निरूपण हुआ ।

वृत्तिः—प्रातिपदिकार्थव्यतिरेकः[1] षष्ठीप्रवृत्तिहेतुः स्वरूपाभिधेयेनार्थवता तद्वता संज्ञाशब्देन योगात् संज्ञिशब्दानामुपजायते । एवं ह्याह—

अर्थवता व्यपदेशः सोऽयं तस्येति वा यतो भवति ।
नानर्थकेन तस्मान्नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः ॥ ६६ ॥

विवरण—स्वरूपात्मक अभिधेय से अर्थवान् संज्ञा शब्द के साथ युक्त होने पर स्वरूपात्मक अभिधेय से युक्त संज्ञी शब्दों में प्रातिपदिकार्थव्यतिरेक या स्वरूपार्थ के साथ अभेदारोप न करके भेद करना चाहते हैं, तो वही षष्ठी विभक्ति की प्रवृत्ति का कारण बन जाता है । ऐसा ही कहा है—'सोऽयम्, अथवा तस्य में प्रथमा और षष्ठी विभक्ति का निर्देश चूँकि अर्थवान् से ही होता है, अनर्थक से नहीं; अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है ।'

श्रीवृषभ कहते हैं—संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध की व्युत्पत्ति के अवसर पर 'अयं पिण्डः देवदत्तः' 'अस्य देवदत्त इति संज्ञा' इस प्रकार का व्यपदेश अनर्थक नहीं होता । उस समय कोई अन्य अर्थ न होकर स्वरूप ही अर्थ होता है और वह अर्थ सदा सन्निहित रहता है, अतः नित्य है ॥ ६६ ॥

'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' (पा० १।१।६८)—'शब्दः—शब्दशास्त्रं तत्र या संज्ञा तां विना शब्दस्य स्वं रूपम् अर्थवत् स्वरूपं संज्ञि ।'

शब्दशास्त्रीय 'घु' आदि संज्ञाओं को छोड़कर शब्द का जो स्वरूप अर्थात् बाह्यार्थ युक्त स्वरूपार्थ है, वह संज्ञी कहलाता है ।

इस सूत्र से स्पष्ट है कि प्रत्येक शब्द के दो अर्थ होते हैं—एक स्वरूपार्थ और दूसरा बाह्यार्थ । ये दो अर्थ ही शब्द की शक्तियाँ है । पूर्वोक्त कारिकाओं द्वारा शक्ति-भेद की कल्पना से 'स्वं रूपं—इस सूत्रार्थ की विवेचना की गई । अब अग्रिम दो कारिकाओं द्वारा 'स्व रूप–' सूत्र का जाति-व्यक्तिभेद से अन्यथा व्याख्यान करते हैं—

स्वं[2] रूपमिति कैश्चित्तु व्यक्तिः[3] संज्ञोपदिश्यते ।
जातेः[4] कार्याणि संसृष्टा[5] जातिस्तु प्रतिपद्यते ॥ ६७ ॥
संज्ञिनीं व्यक्तिमिच्छन्ति सूत्रे [6]ग्राह्यामथापरे ।
जातिप्रत्यायिता व्यक्तिः प्रदेशेषूपतिष्ठते ॥ ६८ ॥

---

१. 'प्रातिपदिकार्थव्यतिरेकविवक्षायां च षष्ठीत्यर्थः'—लघ्वी वृत्ति, चौखम्बा सं० ।

२. 'स्वरूपमिति' ऐसा भी पाठ उपलब्ध होता है ।

३. 'व्यक्तेः संज्ञा'—पाठान्तर । ४. 'व्यक्तौ' अथवा 'व्यक्तेः' ।

५. संस्पृष्टा । ६. सूत्रग्राह्याम् ।

कैः चित् तु 'स्वं रूपम्' इति जातेः व्यक्तिः संज्ञा उपदिश्यते। संसृष्टा जातिः तु कार्याणि प्रतिपद्यते। अथ अपरे सूत्रे ग्राह्याम् (सूत्रग्राह्याम् इति वा पाठः) व्यक्ति संज्ञिनीम् इच्छन्ति; प्रदेशेषु जातिप्रत्यायिता व्यक्तिः उपतिष्ठते।

कुछ लोग 'स्वं रूपम्–' इस सूत्र में स्वरूप द्वारा अग्न्यादि शब्दव्यक्ति निर्दिष्ट है, जो अग्निशब्दत्व आदि जाति की संज्ञा है, ऐसा मानते हैं। और उनका कहना है कि संसृष्ट अर्थात् व्यक्ति से उपगृहीत या व्यक्त्याश्रित जाति अग्निशब्दत्व आदि ढक् आदि कार्यों को प्राप्त होती है।

और दूसरे लोग स्वरूप सूत्र में 'स्वं रूपं' द्वारा ग्राह्य-बोध्य व्यक्ति ही है, किन्तु वह जात्यात्मक संज्ञाभूत अग्निशब्दत्व की संज्ञिनी है, ऐसा स्वीकार करते हैं और अग्निशब्दत्वादि जाति से प्रत्यायित या बोधित अग्निशब्द आदि व्यक्ति लक्ष्य स्थलों या प्रदेशों में कार्यार्थं उपस्थित हो जाती है॥ ६७-६८॥

वृत्तिः—इह केचिद् वृत्तिकाराः पठन्ति—'स्वं रूपं शब्दस्य ग्राहकं भवति द्योतकं प्रत्यायकम्' इति। अपरे तु—'स्वं रूपं शब्दस्य ग्राह्यं द्योत्यं प्रत्याय्यम्' इति। तदनेन श्लोकद्वयेनोपन्यस्तम्। जातावपि द्वयी प्रतिपत्तिराचार्याणाम्।

केचिदाहुः—'प्रतिनियतस्वरूपभेदा व्यक्तयः। नह्यसंवेद्यमव्यपदेश्यमविद्यमानं वा व्यक्तीनां स्वरूपम्। व्यक्तिरेव हि गौर्नाकृतिः। गुण एव हि नीलः, नहि गुणसामान्यं नीलत्वं नीलम्' इति। आकृतेस्त्वकृतसमवायानामपि स एवायमिति बुद्ध्यनुवृत्तौ भेदवत्स्वर्थेषु निमित्तत्वम्। एतद्धि तस्याः सत्तायामनुमानम्।

विवरण—कुछ अष्टाध्यायी के वृत्तिकार स्वरूपसूत्र पर इस प्रकार वृत्ति-व्याख्यान करते हैं—'शब्द का स्वरूप ग्राहक होते हुए द्योतक और प्रत्यायक होता है।'

संज्ञी तथा जातिरूप शब्द का संज्ञात्मक व्यक्तिरूप स्वरूप ग्राहक, द्योतक और प्रत्यायक है। दूसरे वृत्तिकारों का कथन है—'शब्द का स्वरूप ग्राह्य, द्योत्य और प्रत्याय्य है।'

अर्थात् संज्ञात्मक जातिरूप शब्द का संज्ञी एवं व्यक्तिरूप स्वरूप ग्राह्य, द्योत्य और प्रत्याय्य है।

यही बात उपर्युक्त दो श्लोकों से कही गई है। जाति के सम्बन्ध में भी आचार्यों के दो मत हैं—

कुछ एक मानते हैं कि शब्द व्यक्ति का ही प्रतिपादन करते हैं। अन्य लोग स्वीकार करते हैं कि जाति ही शब्दों द्वारा प्रतिपाद्य है। प्रथम पक्ष का आश्रय लेकर कहा गया है कि व्यक्तियों का स्वरूपभेद प्रतिनियत है। अर्थात् जेसे जातियाँ स्वतः जात्यन्तर से भिन्न होती हैं, वैसे ही गवादि व्यक्तियाँ भी गुण-कर्म आदि व्यक्तियों से नियत भेद वाली हैं। इससे जाति के बिना ही गो शब्द, गोत्व-व्यक्तियों में प्रवृत्त होता

है, कर्मादिव्यक्तियों में नहीं। यदि कोई यह कहता है कि जाति के उपराग के विना गवादि भेद का निश्चय नहीं होगा; हाँ, सम्प्रमुग्ध=यह कुछ है, इस प्रकार अविविक्त रूप वस्तुमात्र का ही बोध होगा; यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि गवादि व्यक्तियाँ स्वतः व्यावृत्त रूप में अपने निरूपण में समर्थ हैं, अतः उनके स्वरूप को असंवेद्य नहीं कहा जा सकता। न उनका स्वरूप अव्यपदेश्य है और न अविद्यमान, किन्तु नाम्ना निर्देश्य और वस्तुभूत है। व्यक्ति स्वतः गौ है, गोत्व के योग से नहीं।

इसी प्रकार गुण ही नील है; वह स्वतः उपलब्ध होकर उस रूप में जाना जाता है, नीलत्व रूप गुण की जाति नील नहीं। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि अभिन्न शब्द प्रवृत्ति के रूप में निर्णीत जाति है ही नहीं, जाति में समवाय सम्बन्ध से न रहने वाले भी व्यक्तिरूप गवादि पदार्थों का जो 'यह वही है' इस प्रकार का भिन्न में अभिन्न ज्ञान रूप जो एकाकार बुद्धयनुवृत्ति है, इसमें आकृति या जाति ही निमित्त है और यही अभिन्नानुवृत्ति निमित्तत्व जाति के अस्तित्व का अनुमापक है। इस प्रकार शब्दव्यक्ति ही शब्दजाति की संज्ञा है, यह प्रथम पक्ष हुआ।

वृत्तिः—अन्ये तु मन्यन्ते—जातौ प्रतिलब्धस्वरूपाः शब्दास्तद्रूपतयैव व्यक्तिमव्यपदेश्यस्वरूपां प्रत्याययन्ति। सर्वत्रैव हि निमित्तान्निमित्तवत्यर्थे निमित्तस्वरूपः प्रत्यय उत्पद्यते। तत्र हि भेदेन दृष्टाभिधानान्यदृष्टाभिधानानि च निमित्तानि शब्दप्रत्ययावेकदेशसारूप्येणात्यन्तसारूप्येण च प्रवर्तयन्ति। तथा च स्वं रूपमिति जातिरेव कैश्चित् प्रतिज्ञायते। शब्दस्येति तु शब्दशब्देन व्यक्तिर्व्यपदिश्यते। केषाञ्चित्तु विपर्ययेणायं व्यपदेशः। तत्र जातेर्व्यक्तिः संज्ञा व्यक्तेर्वा जातिः।

विवरण—दूसरे लोग तो मानते हैं कि शब्दव्यक्ति के आत्मलाभ में शब्दजाति ही प्रयोजिका है; जाति के रूप से उपरक्त अथवा जाति से तादात्म्य प्राप्त करके ही व्यक्तियाँ अभिहित होकर बोध का विषय बनती हैं। व्यक्तियों के स्वरूप को व्यपदिष्ट या नाम्ना निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। यदि स्वरूप को व्यपदेश्य माना जाय तो उसमें जातियोग की कल्पना व्यर्थ हो जायगी।

यद्यपि व्यक्तियों का स्वरूप अव्यपदेश्य है और व्यक्तियाँ जाति से पृथग्भूत स्वभाव वाली होती हैं, तो कैसे जात्यभिधानपूर्वक व्यक्तियों का अभिधान होगा? इस पर कहते हैं कि सर्वत्र मिट्टी अथवा सुवर्ण रूप निमित्त से मिट्टी अथवा सुवर्ण से युक्त घट या कुण्डल रूप निमित्तयुक्त पदार्थ में 'मृद्घट' या सुवर्णकुण्डलात्मक निमित्तस्वरूप ही ज्ञान उत्पन्न होता है।

निमित्त तीन प्रकार का होता है—एक कारक, दूसरा जनक और तीसरा ज्ञापक। 'तदेवं निमित्तसामान्यं त्रिधा विभक्तम्। स्वरूपभेदेन क्रियानिर्वर्तकं कारकम्, सामान्येन जनको हेतुः, ज्ञापके लक्षणम्।' —हेलाराज, सा० स०

जनक का उदाहरण ऊपर दिया गया है। कारक-निमित्त का उदाहरण है—'अध्ययनेन वसीत'।

इसी प्रकार जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छारूप ज्ञापक से भी घटत्व निमित्तयुक्त घटरूप पदार्थ में घटसामान्य रूप प्रत्यय उत्पन्न होता है। ज्ञापक निमित्तों में भी दो भेद देखे जाते हैं—एक दृष्टाभिधान और दूसरा अदृष्टाभिधान। गोत्व आदि दृष्टाभिधान निमित्त हैं; गोशब्दादिक उन निमित्तों का कथन करते हैं। श्रीवृषभाचार्य कहते हैं—

'दृष्टमभिधानं येषां निमित्तानां यथा गोत्वादीनि। गोशब्दादयो हि तेषामभिधातारः।'

उत्पलगन्धादिक अदृष्टाभिधान निमित्त हैं। उत्पलगन्धशब्द न तो उत्पलगन्धरूप गन्ध-विशेष को बतलाता है और न तद्गत जाति-विशेष को। वह 'उत्पल का गन्ध' इस प्रकार सम्बन्ध से युक्त सम्बन्धी का कथन करता है।

'अदृष्टाभिधानानि उत्पलगन्धादीनि। नह्युत्पलगन्धशब्दस्तदाह—सम्बन्धावच्छिन्नसम्बन्ध्यभिधानात्।'
—श्रीवृषभ

यदि कोई कहे कि उत्पलगन्धत्व मिलेगा ही नहीं, क्योंकि एक ही उत्पलजाति एकाश्रय में रहने के कारण गन्ध की अवच्छेदिका होगी।

यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्ट उत्पलरूप द्रव्य के बारम्बार गन्धमात्र के दर्शन में भी 'यह वही है' इस प्रकार की बोधक वृत्ति रहती है। उस समय जाति की अवच्छेदकता नहीं रहती, क्योंकि उस अवसर पर जाति के साथ इसका अनुभव नहीं होता। अथवा राजपुरुषादिक में अदृष्टाभिधानात्मक सम्बन्ध निमित्त है।

ये दोनों प्रकार के निमित्त कहीं एकदेशसादृश्य से और कहीं अत्यन्तसादृश्य से शब्द-प्रत्यय के जनक होते हैं।

पशु-पक्षी और मनुष्यादि में 'प्राणी' इस शब्द का प्रयोग वाक् और काय के व्यापार मात्र को देखकर एकदेश के सादृश्य से किया जाता है।

'गौः' यह शब्द-प्रयोग अत्यन्त सारूप्य का उदाहरण है। यहाँ गोत्व जातिरूप दृष्टाभिधान निमित्त अवयव-संस्थान की समानता से गौ इस शब्द और प्रत्यय दोनों का प्रवर्तन करता है। दृष्टाभिधान में तीन बातें होती हैं—१. जाति, २. शब्द और ३. प्रत्यय। अदृष्टाभिधान में दो—१. जाति और २. बुद्धि (प्रत्यय)।

इस प्रकार प्रस्तुत मत में जाति ही व्यपदेश्य होने के कारण संज्ञा और स्वतः व्यपदेश्य न होने से व्यक्ति संज्ञी है।

'अतः यह सिद्ध है कि दो मतों में से कुछ लोग 'स्वं रूपम्' से जाति संज्ञा है, ऐसा मानते हैं और 'शब्दस्य' के शब्द शब्द से व्यक्ति संज्ञी है, ऐसा स्वीकार करते हैं। इस प्रकार द्वितीय कारिकोपात्त अर्थ हुआ—'स्वं रूपं ग्राहकम्।'

कुछ लोगों का मत इसके विपरीत है। अर्थात् स्वरूप शब्द से व्यक्ति संज्ञा है, यह गृहीत होता है और शब्दशब्द से जाति संज्ञिनी है। इस प्रकार 'स्वं रूपं ग्राहकम्' इसका द्विधा व्याख्यान हुआ है। जाति को संज्ञा मानने पर प्रथम विकल्प है और वह जाति भी केवल उच्चारण के योग्य नहीं है, अतः उसका संसृष्ट रूप में उच्चारण होता है।

जब व्यक्ति को संज्ञा माना जाता है तब दूसरा विकल्प है; उस समय व्यक्ति का संज्ञा रूप में उच्चारण करने वाले लोग जाति से संसृष्ट रूप में ही व्यक्ति का उच्चारण करते हैं।' —श्रीवृषभ, पद्धति।

इस प्रकार मतभेद से जाति की व्यक्ति संज्ञा है अथवा व्यक्ति की जाति।

वृत्तिः—सा च प्रदेशेषूच्चारिता व्यक्ति कार्ययोगेन प्रत्याययति। सा च जातिरसंसृष्टा व्यक्त्या नोच्चरति। व्यक्तिरप्यसंसृष्टा जात्या प्रयोगविषयं नावतरति। तात्पर्येण तु विवक्षा भिद्यते। किञ्चिदत्र प्रधानम्, किञ्चिन्नान्तरीयकमिति। तच्च प्रतिज्ञाभेदमात्रम्। जातिः शास्त्रे कार्ययोगिनी सञ्चिकीर्षिता, व्यक्तिः शास्त्रे कार्ययोगिनी सञ्चिकीर्षितेति।

स्वं रूपं शब्दस्येति[1] बहुविकल्पो वैयाकरणाधिकरणेष्वागमः। तद्यथा—रूपमात्रमेकदेशोऽर्थवतो रूपार्थसमुदायस्य सामान्यविशेषादिशक्तियुक्तस्य शब्दस्य शब्दत्वेनाश्रितस्य संज्ञा। रूपवान् वा संसर्गिणीभिः शक्तिभिर्भिन्नः सार्थकः समुदायः श्रुतिमात्रस्य ग्राहकः। मात्राकलापो हि शब्दः। तदेकदेशाः स्वरूपादयो मात्राः। मात्राभिश्च मात्रावतामप्यस्ति भेदव्यपदेशव्यवहारः। वार्क्षी शाखेति यथा।

विवरण—वह अग्निशब्दत्वादिरूप जाति आग्नेय आदि प्रदेशों में व्यक्त्यविनाभाव से उच्चरित होकर कार्ययोगिनी होती है। और वह जाति व्यक्ति से असंसृष्ट रूप में उच्चरित नहीं होती और न व्यक्ति ही जाति से असंसृष्ट होकर प्रयोग विषय में अवतरित होती है।

यद्यपि जाति-व्यक्ति की परस्पर अविनाभाव से स्थिति रहती है तो भी तात्पर्यभेद से विवक्षा का भेद होता है। जाति विवक्षित होने पर व्यक्ति नान्तरीयक रूप से—अविनाभूत रूप में उपस्थित रहती है, किन्तु वहाँ जाति की प्रधानता मानी जाती है और व्यक्ति के विवक्षित (कहने को इष्ट) होने पर जाति नान्तरीयक होती है तथा वहाँ व्यक्ति का प्राधान्य माना जाता है।

जैसा कि 'सरूपाणां' सूत्र के भाष्य में कहा है—'नह्याकृतिपदार्थकस्य द्रव्यं न पदार्थः, द्रव्यपदार्थकस्य वा आकृतिर्न पदार्थः। उभयोरुभयं पदार्थः। कस्यचित्किञ्चित्-

---

१. कहीं-कहीं 'शब्दस्येत्यत्र' ऐसा पाठ भी मिलता है।

प्रधानभूतं किञ्चिद् गुणभूतम्। आकृतिपदार्थकस्य आकृतिः प्रधानभूता, द्रव्यं गुणभूतम्। द्रव्यपदार्थकस्य द्रव्यं प्रधानभूतमाकृतिर्गुणभूता।'

यदि यह कहा जाय कि संस्कार तो दोनों पक्षों में एक जैसा होता है तो मतभेद कैसा? इस पर भगवान् भर्तृहरि कहते हैं—वहाँ वस्तु भेद नहीं है; प्रतिज्ञाभेद मात्र से पक्षभेद सम्भव हुआ है। शास्त्र में जब कार्ययुक्त जाति का संस्कार करना इष्ट होता है तब व्यक्ति का संस्कार अपने आप हो जाता है। हाँ, वहाँ प्रधानता जाति की ही रहती है और जब कार्ययुक्त व्यक्ति का संस्कार करना चाहते हैं तो जाति का उसके साथ ही संस्कार हो जाता है, किन्तु प्राधान्य व्यक्ति का होता है।

कैयट ने प्रस्तुत 'स्वं रूपं–' सूत्र पर कहा है—"रूपशब्देन चेहाग्निशब्दत्वादिकं शुकसारिकापुरुषोदीरितभिन्नशब्दव्यक्तिसमवेतं सामान्यमभिधीयते। तत्र 'व्यक्तेः सामान्यं' संज्ञा 'सामान्यस्य वा व्यक्तिः' इति व्याख्याने कामचारः। व्यक्तिः कार्यं प्रतिपद्यमाना सामान्यप्रतिबद्धैव प्रतिपद्यते, सामान्यमपि कार्यं प्रतिपद्यमानं व्यक्तिद्वारेणैव प्रतिपद्यते इति फले न कश्चिद् भेदः।"

रूप शब्द से यहाँ अग्निशब्दत्व आदि, शुक, सारिका तथा पुरुष से उच्चरित भिन्न-भिन्न शब्दव्यक्तियों में समवेत (वर्तमान) सामान्य या जाति का कथन किया जाता हैं। वहाँ व्यक्ति संज्ञी है और जाति संज्ञा है, अथवा सामान्य संज्ञी है और व्यक्ति संज्ञा है; स्वेच्छया व्याख्यान किया जा सकता है। व्यक्ति जब कार्य को प्राप्त होगी तो जाति से प्रतिबद्ध या संसृष्ट ही। और जब जाति कार्य को प्राप्त होगी तो व्यक्ति के द्वारा ही। इस प्रकार फल में कोई भेद नहीं होता।

'स्वं रूपं शब्दस्य–' इस सूत्र पर वैयाकरणों के विवेचना ग्रन्थों में (अधिकरणेपु) अनेक मतभेदों वाली व्याख्यान-परम्परा मिलती है। श्रीवृषभाचार्य कहते हैं—'बहुविकल्प इति। अन्येऽपि दर्शनभेदाः सन्तीति। वैयाकरणाधिकरणेपु इति वैयाकरणसिद्धान्तेषु।'

इसके अतिरिक्त अन्यत्र कहा गया है—

'विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्॥'

विषय–विचारार्ह वाक्य, विशय–इसका यह अर्थ है अथवा नहीं? ऐसा संशय, पूर्वपक्ष—प्रकृत अर्थ के विरोधी तर्क का उपन्यास, उत्तर—सिद्धान्तानुकूल तर्क का उपन्यास, निर्णय—तात्पर्य-निश्चय। इस प्रकार पञ्चावयव-विवेचना से युक्त शास्त्रीय सन्दर्भ का नाम अधिकरण है। जैसे ब्रह्मसूत्र में देवताधिकरण' 'वैश्वानराधिकरण'। पूर्वमीमांसा में 'शब्दान्तराधिकरण' 'अभ्यासाधिकरण' आदि।

यहाँ अधिकरण[1] का अर्थ 'विचारगोष्ठी' या विवेचना ग्रन्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है। व्याख्या-विकल्पों का उदाहरण देते हुए कहते हैं—

---

१. यह शब्द ७३वीं कारिका की वृत्ति में भी आया है। यथा—'प्रत्यधिकरणमागम-

जैसे—एकदेश या अवयवात्मक केवल रूप या श्रुतिमात्र 'स्वं रूपम्' संज्ञा है। किसकी? शब्द की। कैसा शब्द? जो अर्थवान् रूप और अर्थ के समुदाय के नाम से जाना जाता है और सामान्य-विशेष आदि शक्तियों से युक्त है तथा सूत्र में 'शब्दस्य' पद द्वारा शब्द शब्द के रूप में स्वीकृत है। यह शब्द संज्ञी है। अर्थात् एकदेश संज्ञा है और समुदाय संज्ञी है। यह एक व्याख्या-विकल्प हुआ।

उपर्युक्त व्याख्या-विकल्प का तात्पर्य यह है—'अग्नि' शब्द एक समुदाय है। इसमें 'शब्दत्व' रूप सामान्य[1] और अग्निशब्दत्वरूप विशेष विद्यमान है। 'आदि' शब्द से 'प्रमेयत्व' आदि की भी इसमें स्थिति मानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त इसमें कर्ता-कर्म आदि कारक शक्तियाँ भी समन्वित हैं। अङ्गार रूप बाह्यार्थ से भी यह अर्थवान् है। इस प्रकार यह 'अग्नि' शब्द अर्थवान् रूपार्थसमुदाय हुआ। यह संज्ञी है और इसका एकदेश 'अग्नि' शब्द (रूपमात्र) मात्र संज्ञा है। श्रीवृषभ इस व्याख्या के अनन्तर कहते हैं—'ततश्चायं पक्षः स्वं रूपं ग्राहकमि'ति।

भगवान् भर्तृहरि दूसरे विकल्प का निरूपण करते हुए कहते हैं—

अथवा पूर्वपक्षोक्त एकदेश रूप से रूपवान् सार्थक समुदाय, जो संसर्गिणी पूर्वोक्त सामान्यादि शक्तियों से भिन्न या विशिष्ट है, वह श्रुतिमात्र एकदेश या स्वरूपमात्र का ग्राहक या संज्ञा है। अर्थात् पूर्वमत में जो समुदाय संज्ञी था, वह इस मत में संज्ञा या ग्राहक वन गया। इस पर श्रीवृषभ का कहना है—'ततश्चायं पक्षः स्वं रूपं ग्राह्य-मिति।' इस प्रकार दो पक्षों में समुदाय और एकदेश के भेद से संज्ञा-संज्ञी भेद होता है, इस वात का प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—मात्राओं का कलाप या समुदाय ही शब्द है। मात्रा अर्थात् अवयव। स्वरूपार्थ, वाह्यार्थ, सामान्य, विशेष, वस्तुत्व और कारकशक्ति—इन मात्राओं का कलाप या पुञ्ज शब्द कहलाता है। इस शब्द के एकदेश स्वरूपादिक उसकी मात्राएँ हैं। मात्राओं से मात्रा वालों का अथवा अवयवों से अवयवियों का भेद के नाम से व्यवहार देखा जाता है। जैसे वृक्ष की शाखा।

वृत्तिः—अपर आह—यद्यपि वस्तु न भिन्नं, शब्दार्थस्तु भिन्नः। शब्दो ह्येकवस्तुविषयाणामपि शक्तीनामवच्छेदेनोपग्रहे वर्तते। तद्यथा—'अयं दण्डः' इति प्रत्यक्षरूपतया तदेव वस्तु सर्वनाम्नाभिधीयते, नोपलभ्यमानेनापि दण्ड-

---

भेदपरिग्रहेण—' यहाँ भी श्रीवृषभ ने 'प्रतिसिद्धान्तम्' अर्थ किया है। यह शब्दकाण्ड २ श्लो० ११६ में भी पठित है—'अत्राधिकरणे वादाः पूर्वेषां बहुधा गताः।' पुण्यराज में अर्थ लिखा है—'अस्मिन्नधिकरणे विचारस्थाने'।

१. 'सामान्यविशेषादिशक्तियुक्तस्य' का श्रीवृषभाचार्य ने द्विधा अर्थ किया है। यथा—'याः काश्चन संसर्गिण्यः सामान्यविशेषादिशक्तयः तत्र समुदाये तस्यानेक-सामान्यादिशक्तियोगात्। आदिग्रहणात् कारकशक्तयः। अथवा सामान्यं शब्दत्वं, विशेषो गोशब्दत्वम्। एवमर्थोऽपि। आदिग्रहणात् प्रमेयत्वादयः। शक्तिशब्देन कारक-शक्तय इति।'

जातियोगेन। दण्डजातियोगाभिधाने हि तस्यासामर्थ्यं सर्वनाम्नः, दण्डशब्दस्य च विशिष्टजातीयार्थाभिधायिनः प्रत्यक्षत्वेऽपि सति तस्य वस्तुनः प्रत्यक्षरूपतया प्रत्यायने प्रतिबध्यते शक्तिः।

तथा 'स्वं रूपमि'त्यनेनाग्न्यादिश्रुतयः सत्यपि शब्दजातियोगेऽग्न्यादिरूपतयैव प्रत्याय्यन्ते, न शब्दजातियोगित्वेन। शब्दशब्देन तु शब्दजातियोगित्वमेवाख्यायते, नाग्न्यादिश्रुतियोगः। तत्र शब्दान्तरार्थः शब्दान्तरार्थस्य प्रसिद्धभेदस्य संज्ञात्वेनोपादीयमानस्य संज्ञिभावं प्रतिपद्यत इति तदेतन्निदर्शनमात्रम्। प्रसक्तानुप्रसक्तविचारणाप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थन्तु न सर्वे स्वं रूपसूत्रमतभेदा उदाह्रियन्ते ॥ ६७-६८ ॥

विवरण—इसके अतिरिक्त अन्य वैयाकरण का कथन है कि यद्यपि वस्तु भिन्न नहीं होती, किन्तु शब्दार्थ अर्थात् अभिप्राय भिन्न होता है। एक वस्तु में अनेक शक्तियों के होते हुए भी शब्द अन्य शक्तियों का स्पर्श न करके किसी एक ही शक्ति को पृथक् रूप से स्वीकार करके प्रवृत्त होता है। जैसे कहा गया है—

'अयं दण्डः'=यह दण्ड है। यहाँ 'अयं' इस सर्वनाम द्वारा वही वस्तु प्रत्यक्षरूप से कही गई है, किन्तु दण्ड में दण्डत्व जाति के रहने पर भी उससे संयुक्त दण्ड का वोध नहीं होता। दण्डत्व रूप जातियोग के कथन में 'अयं' यह सर्वनाम असमर्थ है, क्योंकि 'अयं' शब्द के श्रवण से जातिसमवेत दण्ड की प्रतीति नहीं होती। और दण्ड शब्द दण्डत्वरूप विशिष्टजातीय अर्थ को प्रत्यक्ष कह रहा है, तो भी अयं शब्द के सन्निधान में उस शब्द की जातिरूप वस्तु के प्रत्यक्ष बोधन की शक्ति प्रतिबन्धित हो जाती है।

वैसे ही 'स्वं रूपं' इससे अग्नि आदि श्रुतियाँ शब्दत्वरूप शब्दजाति के योग के रहने पर भी अग्निशब्द आदि रूप से ही बोधित होती है, अग्निशब्दत्वरूप जाति के साथ नहीं। और 'शब्दस्य' इस शब्द-शब्द से शब्दजातियोगिता ही कही जाती है, अग्न्यादि श्रुतियों के योग का कथन नहीं। वहाँ शब्दान्तरार्थ अर्थात् अग्निशब्दत्वरूप जाति का, जो संज्ञा के रूप में उपादीयमान या गृह्यमाण है और जिसका परस्पर भेद प्रसिद्ध है, शब्दान्तरार्थ अर्थात् अग्नि आदि श्रुतिरूप व्यक्ति संज्ञी हो जाता है। और यदि शब्दश्रुतिरूप व्यक्ति संज्ञा है तो शब्दत्वरूप जाति संज्ञी हो जाती है। यह सब निदर्शन मात्र है। स्वरूपसूत्रार्थ को लेकर अन्य भी मतभेद हैं, किन्तु एक के वाद दूसरे उठ खड़े हुए विचार के प्रसङ्ग की निवृत्ति के लिए उनके उदाहरण नहीं दिये जा रहे ॥ ६७–६८ ॥

यहाँ तक अभिधान और अभिधेय अथवा वाचक शब्द और स्वरूपार्थ का निरूपण हुआ। स्वरूपार्थ के विवेचन के अवसर पर जाति व्यक्ति की संज्ञा है अथवा व्यक्ति संज्ञी है और जाति संज्ञा है, ऐसा कहा गया है। यहाँ यह शङ्का होती है कि पृथिव्यादि भिन्न-भिन्न अर्थों वाला गो शब्द एक ही है, वहुत नहीं; वहाँ जाति के विना ही स्वयं एक प्रत्यय हो जायगा, फिर जाति की कल्पना व्यर्थ है। ऐसी स्थिति

में जातिभेद मूलक संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध भी नहीं होगा। जो लोग अर्थभेद से शब्दभेद मानते हैं, वहाँ पूर्वोक्त सम्वन्ध होगा। अतः प्रस्तुत कारिका में दोनों मतों को स्थापित करते हैं—

कार्यत्वे नित्यतायां वा केचिदेकत्ववादिनः।
कार्यत्वे नित्यतायां वा केचिन्नानात्ववादिनः॥ ६९॥

(शब्दस्य) कार्यत्वे नित्यतायां वा केचित् एकत्ववादिनः। (शब्दस्य) कार्यत्वे नित्यतायां वा केचित् नानात्ववादिनः।

शब्द चाहे कार्यरूप हो अथवा नित्य, कुछ लोग अनेक अर्थ रखने वाले गो आदि शब्दों को एक ही मानते हैं, अतः वे एकत्ववादी के नाम से जाने जाते हैं। कुछ लोग भिन्न अर्थ रखने वाले एक शब्द को विभिन्न अर्थों में भिन्न-भिन्न शब्दों को स्वीकार करते हैं। ये नानात्ववादी हैं॥ ६९॥

वृत्तिः—येषामेकशब्दत्वं तेषामयं जातिव्यक्तिव्यवहारो न सम्भवतीति जात्युपन्यासादनन्तरमिदमुपन्यस्तम्। तत्र नित्यतायामत्यन्तमुख्यमेकत्वम्। कार्यत्वे तु सकृदुच्चरितस्य वर्णस्य पदस्य वा पुनरुच्चारणे स एवायमित्यव्यभिचारिप्रत्ययाभेद उत्पद्यमान एकत्वं प्रकल्पयति। एकत्वदर्शनं चाश्रित्योक्तम्—'एकत्वादकारस्य सिद्धम्।' इति। (वार्तिक ५, प्रत्याहारसूत्र १ पर)

विवरण—जो लोग एक शब्द मानते हैं, उनके मत में जाति-व्यक्ति-व्यवहार सम्भव नहीं, इसलिए पूर्वोक्त दो श्लोकों द्वारा जाति के निरूपण के अनन्तर यहाँ दो दर्शनों का उपन्यास किया गया है। जहाँ जिस दर्शन (मत) की आवश्यकता होती है, वहाँ उसी को अङ्गीकार करके कार्य चलाया जाता है। जैसा कि आगे चलकर कहेंगे—'भिन्नं दर्शनमाश्रित्य व्यवहारोऽनुवर्तते।'

एकत्ववादियों में भी जो लोग शब्द को नित्य मानते हैं, उनके मत में एकत्व अत्यन्त मुख्य है—सर्वथा अनुपचरित है। क्योंकि कार्यपक्ष में एकत्व कल्पित या उपचरित होता है और यहाँ भेद का सर्वथा अभाव रहता है। क्योंकि स्थान और करणों के अभिघात जब वर्ण या पद को अन्य की उपलब्धि का विषय बनाते हैं, तो अनेककर्तृक होने पर भी वे अभिघात एकान्ततः उपलब्धि विषय के विपरीत नहीं होते।

कार्यपक्ष में तो एक बार उच्चरित वर्ण या पद के पुनः उच्चारण में 'यह वही है' इस प्रकार का अव्यभिचारी प्रत्ययात्मक अभेद उत्पन्न होकर उनके एकत्व की कल्पना कर लेता है। श्रीवृषभाचार्य कहते हैं—

कार्यपक्ष में स्थानकरणाभिघात जनक का ही विषय बनता है और वह भिन्न-भिन्न होता है, अतः कार्य भी भिन्न-भिन्न उत्पन्न करता है। और प्रत्यय या बोध वहाँ

अभिन्नाकार रूप में अनुवर्तित होकर एकत्व की व्यवस्था करता है। यह एकता उपचरित है। कारणभेद से भेद का निश्चय कर लेने पर भी अभिन्नप्रधानवृत्ति की उपस्थिति से प्रकल्पित एकत्व मुख्यकल्प माना जाता है। इसीलिए प्रथम पक्ष में एकत्व को अत्यन्त मुख्य कहा गया है और यहाँ 'एकत्वं प्रकल्पयति' ऐसा उल्लेख हुआ है। दोनों पक्षों में विद्यमान एकत्व दर्शन का आश्रय लेकर वार्तिककार ने कहा है—'एकत्वादकारस्य सिद्धम् ।'

महाभाष्य में जातिपक्षाधिकरण के प्रारम्भ में पूर्वपक्षी का आक्षेप है—विविध प्रयोजनों के लिए अक्षरसमाम्नाय में अकार को विवृत रूप में पढ़ा गया है। 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यादि में ककारात्मक चिह्न से पूर्वोक्त अकार ही अनुकृत हुआ है यह ज्ञात होता है, अतः अण् होने से इसका ग्रहण तो हो जायेगा; किन्तु 'अस्य च्वौ' (अवर्ण को ईत् हो च्वि के परे) यहाँ तथा 'यस्येति च' (भसंज्ञक अवर्ण और इवर्ण का लोप हो जाय ईकार और तद्धित के परे) में अकार अनण् है, अतः इनका ग्रहण नहीं होगा। और इस प्रकार 'मालीभवति' तथा 'चौडिः' 'बालोकिः' ये रूप नहीं सिद्ध होंगे। इस अभिप्राय को लेकर यह आक्षेप-वार्तिक है—

'तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णाग्रहणमनण्त्वात् ।' 'वृत्ति अर्थात् शास्त्र की लक्ष्य में प्रवृत्ति' तदनुगत निर्देश अर्थात् साक्षात्लक्ष्यसंस्कार के बोध का जनक।—कैयट और नागेश।

इस वार्तिक पर प्रस्तुत भाष्य है—

"तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णानां ग्रहणं न प्राप्नोति 'अस्य च्वौ' 'यस्येति च'। किं कारणम्? अनण्त्वात्। न ह्येतेऽणो येऽनुवृत्तौ। के तर्हि? येऽक्षरसमाम्नाय उपदिश्यन्ते।"

अर्थात् अनुवृत्ति-निर्देश में अनण् होने के कारण सवर्णों का ग्रहण नहीं प्राप्त होता—विशेष रूप से 'अस्य च्वौ' और 'यस्येति च' इत्यादि में। क्यों नहीं प्राप्त होता? अनण् होने से। ये अण् नहीं हैं, जो अनुवृत्ति में पठित हैं। तो अण् कौन हैं? जो अक्षर समाम्नाय में उपदिष्ट है।

उपर्युक्त वार्तिक पर महाभाष्यदीपिका में भगवान् भर्तृहरि कहते हैं—

"'अइउण्' इत्यपरः, 'अकः सवर्णे' इत्यन्यः। शुद्ध एव 'अस्य च्वौ' 'यस्येति च' इति। तत्रानुबन्धेन प्रतिपद्यते सोऽयमिति। शुद्धेषु तु नास्त्यण्त्वम्। तत्र यथैवाकारः प्रत्याय्य एव नित्यं न तु प्रत्यायकः, एवमयमप्यकारः प्रत्याय्य एव। तेन अयमेव कार्यं प्रतिपद्येत शुक्लीभवति। मालीभवतीति न स्यात्। एवं चौडिर्बालाकिरिति।"

उक्त वार्तिक के आक्षेप का प्रस्तुत वार्तिक से परिहार हो जाता है। यथा—

'एकत्वादकारस्य सिद्धम् ।' —वार्तिक।

'एकोऽयमकारो यश्चाक्षरसमाम्नाये यश्चानुवृत्तौ यश्च धात्वादिस्थः'।—महाभाष्य।

यह एक ही अकार है, जो अक्षरसमाम्नाय में (अण् इत्यादि में) अनुवृत्ति अर्थात् 'अकः सवर्णे दीर्घः' के अक् में और धातु, प्रातिपदिक और प्रत्यय में उपलब्ध होता है।

वृत्तिः—उपलब्धिव्यवधानं तु कालशब्दाभ्यां, न वर्णरूपव्यवधानम्। देशपृथक्त्वदर्शनं च सत्ताकृतिजलविम्बदर्शनवत्।

विवरण—यहाँ यह शङ्का होती है कि काल और शब्द से व्यवधान होने के कारण अन्यभावात्मक अकार का नानात्व स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त एक साथ देशपृथक्त्व भी देखा जाता है, अतः वर्णैकत्व असम्भव है। इस आशय से नानात्व के साधक दो वार्तिक पूर्वपक्ष के रूप में श्रीवृषभाचार्य द्वारा उद्धृत किये गये हैं। यथा—'आन्यभाव्यं तु कालशब्दव्यवायात्।'

महाभाष्यकार ने कालव्यवाय का उदाहरण प्रस्तुत किया है—'दण्ड अग्रम्'। शब्दव्यवाय का उदाहरण हैं—'दण्डः'। पूर्व उदाहरण मे ड की अ और अग्रम् की अ में उच्चारण काल पृथक् होने से कालव्यवधान है। और 'दण्ड' में आद्यन्त दो अकारों के वीच में पड़ने वाले 'ण्ड्' शब्द का व्यवधान है। महाभाष्य की दीपिका में भर्तृहरि ने 'दृति' यह शब्दव्यवाय और असंहिता में 'अ इ उ' यह कालव्यवाय का अतिरिक्त उदाहरण दिया है।

यहाँ एक आशङ्का होती है शब्दव्यवधान में भी तो कालव्यवधान देखा जाता है, अतः कालव्यवधान कहने से ही शब्दनानात्व सिद्ध हो जाता, पुनः वैसा क्यों कहा गया ? इस पर कहते हैं—

'उच्यते। कालव्यवायम् एव द्वेधा प्रदर्शितः—शब्दशून्यः शब्दवांश्च।' —दीपिका

उस स्थिति में दो प्रकार का कालव्यवधान ही दिखाया गया है—एक शब्द से शून्य; जैसे 'दण्ड अग्रम्' और दूसरा शब्दयुक्त; जैसे 'दृति' या 'दण्ड'। यहा 'त' और 'ण्ड्' इस शब्द से युक्त कालव्यवधान दिखाया गया है। दूसरा वार्तिक है—

'युगपच्च देशपृथक्त्वदर्शनात्।'

देशपृथक्त्व का उदाहरण महाभाष्यकार ने दिया है—'अश्वः, अर्कः, अर्थ इति। न ह्येको देवदत्तो युगपत् श्रुघ्ने च भवति मधुरायां च।'

अश्वः आदि उदाहरणों में अकार का देशपृथक्त्व देखा जाता है। अतः अकार का नानात्व सिद्ध है, क्योंकि एक ही देवदत्त की उपस्थिति एकसाथ श्रुघ्न और मधुरा में नहीं हो सकती।'

इस पर वृत्तिकार भर्तृहरि कहते हैं—वस्तुतः काल और शब्द से उपलब्धिमात्र का व्यवधान होता है, वर्णरूप का व्यवधान नहीं।

अभिव्यक्ति-निमित्त के निकट होने पर अकार उपलब्ध होता है और निमित्त के विनष्ट होने पर उपलब्ध नहीं होता; पुनः अभिव्यञ्जक निमित्त के प्रवृत्त होने पर

वही अकार उपलब्ध हो जाता है। इस प्रकार कालव्यवधान आदि उपलब्धिनिमित्त के भाव और अभाव में वर्णैकत्व सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार देशपृथक्त्वदर्शन में भी नानात्व नहीं सिद्ध होता। जैसे एक ही सत्ता भिन्नदेशीय द्रव्यादिकों में एक साथ उपलब्ध होती है, एक ही गोत्वादि जाति भिन्न देशों में युगपत् दिखलाई देती है तथा वही चन्द्रबिम्ब अनेक जलपात्रों में एक साथ दिखलाई देता है। उसी प्रकार एक ही अकार भिन्न देशों में स्थित अभिव्यञ्जक निमित्तवश वैसा उपलब्ध होता है।

वृत्तिः—अनेकत्वपक्षेऽपि कार्येष्वपि शब्देष्ववश्यं पुनरुच्चारणे व्यवहारार्थ-मौपचारिकमेकत्वमाश्रयणीयम्। भिन्नार्थानां तु पदानां भिन्नपदस्थानां च वर्णानामत्यन्तनानात्वं नित्यपक्षे कार्यपक्षे वा नानात्ववादिभिरभ्युप-गम्यते ॥ ६९ ॥

विवरण—अनेकत्व पक्ष में भी प्रति उच्चारण भिन्न कार्यशब्दों में भी अवश्य ही व्यवहारार्थ औपचारिक एकत्व का आश्रय लेना चाहिए।

विना एकत्व के शब्द-व्यवहार घटित नहीं होता। भेद मानने पर एक व्यक्ति के द्वारा उच्चारित गो शब्द में सङ्केतित अर्थ अन्य द्वारा उच्चारित गोशब्द में उपलब्ध नहीं होगा, क्योंकि उस अर्थ में शब्द का सङ्केत नहीं किया गया है। ऐसी स्थिति में एकत्व पक्ष से नानात्व पक्ष में क्या वैशिष्टच होगा, यह विचारणीय है।

नानात्ववादी लोग, चाहे शब्दनित्यत्व पक्ष माना जाय अथवा शब्दकार्यत्व पक्ष, उभयत्र भिन्नार्थक पदों एवं भिन्न पदस्थ वर्णों का अत्यन्त नानात्व मानते हैं। इनकी स्वीकृति है कि पृथिव्यादि नवों अर्थों में नव भिन्न गोशब्द होते हैं।

आचार्य श्रीवृषभ कहते हैं—'वर्णों के अनर्थक होने से भेद की परम्परा के निमित्त को दिखलाने के लिए उपलक्षणार्थ कहा गया है—'भिन्नपदस्थानाम्'। भिन्न पदों में स्थित ही नहीं, एकपद में व्यवस्थित 'अक्ष' आदि पदों में कारणभेद से भेद है ही। एक वर्ण वाला भी पद हो सकता है; जैसे मान लीजिए—'अ' यह किसी की संज्ञा है। अब उसके पुनः-पुनः उच्चारण में आद्यन्त तो एक ही है, अतः वहाँ एकत्व की औपचारिक स्वीकृति नहीं है। अतः यह मतभेद प्रतिज्ञामात्र को लेकर है ॥६९॥

अग्रिम कारिका द्वारा एकत्ववादियों के मत का वर्णन करते हैं—

पदभेदेऽपि वर्णानामेकत्वं न निवर्तते।
वाक्येषु पदमेकं च भिन्नेष्वप्युपलभ्यते ॥ ७० ॥

पदभेदे अपि वर्णानाम् एकत्वं न निवर्तते। भिन्नेषु अपि वाक्येषु एकं च पदम् उपलभ्यते।

पदभेद होने पर भी अकारादि वर्णों का एकत्व निवृत्त नहीं होता और भिन्न वाक्यों में भी एक पद की उपलब्धि होती है।

वृत्तिः—अर्कः, अश्वः, अर्थ इति भिन्नेष्वप्येतेषु पदेषु कालशब्दान्तराभ्यां व्यवहितोपलब्धिरभिव्यक्तिनिमित्तासन्निधानात् तिरोभूतरूपो निमित्तभेदाद्भिन्नेषु प्रयोक्तृषु देशपृथक्त्वे भेदरूपेण प्रत्यवभासमान एक एवायमकारश्छायादर्शजलादिप्रतिविम्वभेदकल्पेन लोके प्रयुज्यते। वाक्येषु च प्रविवेकि निर्ज्ञातार्थभेदं वा यावत्तुल्यरूपं पदं गौरक्ष इति सर्वं तदेकम्। नामाख्यातभेदेऽपि चैकमेवाक्ष्यश्व इत्येवम्प्रकारं पदम् ॥ ७० ॥

विवरण—अर्क, अश्व और अर्थ, इन भिन्न पदों में काल और शब्दान्तर से व्यवहित रूप में अकार की उपलब्धि होती है। अभिव्यक्ति देने वाले निमित्त की अनुपस्थिति में कभी वह अकार छिपा रहता है। करणान्तर के अभिघात एवं उनसे उत्पन्न ध्वनियाँ अभिव्यक्ति के निमित्त हैं। इनके निकट न होने से इस अकार का रूप तिरोहित रहता है।

स्थान और करणों के अभिघात से जनित ध्वनि रूप अभिव्यक्ति-निमित्त के भेद से भिन्न-भिन्न प्रयोक्ताओं में जो भिन्न देशों में वर्तमान होकर उच्चारण करते हैं, उस समय यह एक ही अकार देशभेद से भिन्न रूप में अवभासित होता है। जैसे—छाया, दर्पण एवं जलादि में पुरुष एक होने पर भी भिन्न-भिन्न दिखलाई देता है, वैसे ही एक अकार लोक में भिन्न रूप में प्रयुक्त होता है।

वाक्यों में भी अपोद्धार के अवसर पर विविक्त रूप में गृहीत पद, भले ही उनका अर्थ भिन्न-भिन्न हो; तुल्य श्रुति होने के कारण एक ही माने जाते हैं। जैसे एक ही गो शब्द—पृथिवी, वाणी, स्वर्ग, किरण, वज्र, चन्द्र, सूर्य, नेत्र, वाण, दिक्, गो पशु, लोभ, जल—इन भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है, किन्तु है एक ही। और जैसे अक्ष शब्द–इन्द्रिय, पाशक्रीडा, विभीतक (वहेड़े का वृक्ष), रुद्राक्ष, धुरा, शकट, चक्र, आत्मा, शिव, गरुड एवं ज्योतिष में प्रसिद्ध अक्ष, इन अनेक अर्थों को रखते हुए भी एक ही है।

इतना ही नहीं, नाम और आख्यात का अत्यन्त विलक्षण भेद होने पर भी अक्षि और अश्व में पद का एकत्व माना जाता है। नेत्रवाचक अक्षि, अक्षिणी यह नामपद प्रसिद्ध है। और 'अक्षू व्याप्तौ' अथवा 'अशू व्याप्तौ' इससे लट् लकार मध्यमपुरुष एकवचन में 'अक्षि' यह रूप सिद्ध होगा, ऐसा श्रीवृषभाचार्य का कथन है। अथवा अद् धातु से लुङ् लकार में अद् को घस्लृभाव करने पर कर्म में उत्तमपुरुष एकवचन में च्लि का लुक् करने पर 'अक्षि' यह रूप बनता है। 'अश्वः' यह नामरूप तो प्रसिद्ध ही है। 'टुओश्वि गतिवृद्धयोः' इससे लुङ् लकार, मध्यमपुरुष एकवचन में 'अश्वः' यह 'अगमः' के अर्थ में धातुरूप भी सिद्ध होगा।

'पदे भेदेऽपि' ऐसा भी कारिका का पाठ उपलब्ध होता है, किन्तु श्रीवृषभ 'पदभेदे' यही प्रतीक ग्रहण करके व्याख्या करते हैं ॥ ७० ॥

वर्णों से ही पद एवं पदों से ही वाक्य का निर्माण होता है, इस बात का प्रस्तुत कारिका द्वारा निरूपण करते हैं—

न वर्णव्यतिरेकेण पदमन्यच्च विद्यते ।
वाक्यं वर्णपदाभ्यां च व्यतिरिक्तं न किञ्चन ॥७१॥

वर्णव्यतिरेकेण पदं च अन्यत् न विद्यते, वर्णपदाभ्यां व्यतिरिक्तं वाक्यं च किञ्चन न ।

पद वर्णों से पृथक् अन्यरूप वाला नहीं होता तथा वाक्य भी वर्णों एवं पदों से भिन्न कुछ नहीं ।

वृत्तिः—नहि क्रमजन्मभिरुच्चरितप्रध्वंसिभिरयुगपत्कालैः सावयवैर्वर्णैः शब्दान्तरारम्भः सम्भवतीति वर्णमात्रमेव पदम् । तेषामपि सावयवत्वात् क्रमप्रवृत्तावयवानामाव्यवहारविच्छेदात् तुरीयतुरीयकं किमप्यव्यपदेश्यं रूपं व्यवहारातीतमस्तीति न वर्णपदे विद्येते । वर्णपदाभावे कुतो वाक्यस्य व्यतिरेकः ? तथा चोक्तम्—'अनित्यत्वमेवं सम्प्राप्नोति' इति । समुदायाभावादुपगृहीतार्थं उपगृहीतो वा न कश्चिच्छब्दो विद्यत इति ॥ ७१ ॥

विवरण—यहाँ कारिका में निरूपित मत का वृत्ति में खण्डन लक्षित होता है। वृत्तिकार भगवान् भर्तृहरि कहते हैं—क्रमशः जन्म प्राप्त करने वाले और उच्चरित प्रध्वंसी एक साथ एक समय में अविद्यमान तथा स्वतः अवयवों से युक्त वर्णों द्वारा शब्दान्तर का आरम्भ सम्भव नहीं है, अतः क्या वर्णमात्र ही पद है ? उन वर्णों के भी सावयव होने से तथा उन अवयवों के भी क्रमशः प्रवृत्त होने पर जबतक व्यवहार का विच्छेद नहीं हो जाता अर्थात् अपकर्ष-पर्यन्त चौथे का चौथा भाग या षोडशी कलात्मक कोई अव्यपदेश्य एवं व्यवहारातीत रूप है; अतः व्यावहारिक वर्ण और पद की असत्ता स्पष्ट है । और जब वर्ण और पद ही अनिष्पन्न हैं तो उनके अतिरिक्त वाक्य की सम्भावना ही कहाँ है ? महाभाष्य में कहा भी है—

'इस प्रकार वर्णों का अनित्यत्व प्राप्त होता है ।' अतः समुदाय के अभाव में अर्थ से सम्पन्न अथवा वर्ण, पद और वाक्यरूप में स्वीकृत कोई शब्द ही नहीं है ।

कारिका में स्पष्ट रूप से वर्णों को मान्यता दी गई है और पद तथा वाच्य उन्हीं से बनते हैं, अतः वर्णों के अतिरिक्त पद और वाक्य कुछ नहीं हैं । इस कारिका में पूर्वमीमांसा के वर्णनित्यतावाद का निरूपण है; क्योंकि शाबरभाष्य में कहा गया है—

'गोरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः ।'

ब्रह्मसूत्र के देवताधिकरणभाष्य में भी कहा है—'वर्णा एव तु शब्द इति भगवानुपवर्षः ।

वर्णों के अवयवों के विषय में यजुःप्रातिशाख्य में इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

१. 'अमात्रस्वरो ह्रस्वः' ॥ —सूत्र ५५ ॥
अकार मात्रस्वर इत्यर्थः—भाष्य, उवट ।
२. 'मात्रा च' ॥ —सू० ५६ ॥
ह्रस्वो मात्रेति पर्यायौ—भाष्य ।
३. 'व्यञ्जनमर्द्धमात्रा' ॥ ५९ ॥
४. 'तदर्द्धमणु' ॥ ६० ॥
५. 'परमाण्वर्द्धाणुमात्रा' ॥ सू० ६१ ॥ —अध्याय ८

१. परमाणु, २. अणु, ३. अर्द्धमात्रा, ४. मात्रा या वर्ण । वर्ण के तीन अवयव तो स्पष्ट ही हैं ।

वाक्यपदीय-द्वितीयकाण्ड की प्रथम कारिका में वाक्य को परिभाषित करने के लिए आठ मत निर्दिष्ट हैं । उनमें एक संघातवाद भी है । 'पदसङ्घातजं वाक्यं वर्ण-संघातजं पदम्' । यह श्लोक चौवीसवीं कारिका की वृत्ति में उद्धृत है और सम्भवतः व्याडि के संग्रह नामक ग्रन्थ का है । यही संघातवाद है । इनमें भी तीन दर्शन हैं—

१. जैसे ब्राह्मणत्व आदि जाति समुदाय में तो रहती है, किन्तु एक ब्राह्मण-व्यक्ति में पूर्ण रूप से रहती है, वैसे ही जाति के सदृश अनेक पद संश्रित होने पर भी एक वाक्य पदाश्रित भी होता है ।

२. जैसे वीस इस संख्या की पूर्णता वीस इस समुदाय में है, एक अङ्क में नहीं, फिर भी प्रत्येक अङ्क उक्त संख्या के प्रत्यायन में निमित्त बनता है, वैसे ही संख्या के समान पद-समुदाय में वाक्य की परिसमाप्ति मानी जाती है ।

३. सामान्य अर्थ में वर्तमान पद जिस अवस्था में विशेष का अभिधान करते हैं, वही वाक्य है ।

पुण्यराज का कथन है कि प्राथमिक दो दर्शन अभिहितान्वयवाद से सम्बद्ध हैं और तीसरा अन्विताभिधानवाद से । और इन दोनो पक्षों[1] का 'पदानि वाक्ये तान्येव–' इन दो श्लोकों से खण्डन किया गया है । ये श्लोक निम्नाङ्कित हैं—

'पदानि वाक्ये तान्येव वर्णास्ते च पदे यदि ।
वर्णेषु वर्णभागानां भेदः स्यात् परमाणुवत् ॥ २८ ॥
भागानामनुपश्लेषान्न वर्णो न पदं भवेत् ।
तेषामव्यपदेश्यत्वात् किमन्यदपदिश्यताम्' ॥ २९ ॥

जो लोग ऐसा मानते हैं कि पृथक् उपलब्ध पद ही वाक्य में घटित होते हैं तथा पृथक् उपलब्ध वर्ण समुदाय रूप में पदों में आश्रय ग्रहण किये हुए रहते हैं, वर्णों से अतिरिक्त पद और वाक्य का कोई स्वतन्त्र स्वरूप नहीं है, यह उचित नहीं । क्योंकि

---

१. 'शब्दभागसमाश्रयणेन द्वयोरपि पक्षयोर्दूषणं 'पदानि वाक्ये तान्येवेत्यादि श्लोकद्वयेनाभिधास्येति' । —पुण्यराज, काण्ड २, कारिका १८ की टीका ।

वैसी स्थिति में वर्णों में उनके भागों के अपकर्षपर्यन्त परमाणुसदृश भेद प्रसक्त होगा। इसके अतिरिक्त क्रमिक और एक साथ न उत्पन्न होने वाले भागों का भी परस्पर संस्पर्श नहीं होगा, तो न तो कोई एक वर्ण ही निष्पन्न होगा और न पद। ऐसी स्थिति में भागों के अव्यपदेश्य एवं व्यवहारातीत होने से कौन वाचक शब्द रूप होगा, जिसे 'यह अमुक शब्द है' ऐसा कहा जा सके ?

ऐसा प्रतीत होता हैं कि ये आठों मत महामति व्याडि के संग्रह नामक ग्रन्थ में चर्चित रहे होंगे और वहीं से वाक्यपदीय में लिये गये हैं। करणों के ही मत हैं, ऐसा मानकर कुमारिलभट्ट तथा उनके टीकाकार शालिकनाथ मिश्र आदि ने इन मतों का खण्डन किया है। ये मत शबरस्वामी से प्राचीन हैं, इसमें सन्देह नहीं। शबर यथारुचि वर्णसंघातवाद को ही स्वीकार करते हैं।

कारिका का 'तद्वर्णव्यतिरेकेण पदमन्यन्न विद्यते' ऐसा भी पाठ मिलता है। अर्थ में कोई अन्तर नहीं। श्रीवृषभ ने 'न वर्णव्यतिरेकेण' यही पाठ माना है।

यहाँ वर्ण ही पद और वाक्य का निर्माण करते हैं, अतः वर्णैकत्व को लेकर एकत्ववाद सम्भव है। पूर्वोक्त कारिका में निरूपित एकत्व इस एकत्व से भिन्न है। वहाँ अर्थ, अर्क और अश्व में एक ही अकार की बात कही गई थी और यहाँ वर्णों का एकत्व है; पद और वाक्य उससे भिन्न नहीं। अत एव श्रीवृषभ ने कहा है— 'वर्णमात्रमिति। एकमेकत्वं समधिगतम्' ॥ ७१ ॥

अपर आह—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा इव।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥७२॥

वर्णेषु अवयवा इव पदे वर्णाः न विद्यन्ते, वाक्यात् पदानां कश्चन अत्यन्तं प्रविवेकः न।

दूसरे मतवादी का कथन है—

वर्णों में अवयवों के समान पद में वर्णों की सत्ता नहीं होती और वाक्य से पदों का कोई अत्यन्त पार्थक्य नहीं। इस प्रकार वर्ण और पद के भेद से रहित एक अनवयव वाक्यरूप शब्दात्मा है, ऐसा अखण्डवाक्यस्फोटवादी मानते हैं ॥ ७२ ॥

वृत्तिः—वर्णप्रतिपत्तिनिर्भासाभ्यो बह्वीभ्यः प्रतिपत्तिभ्यः समुदायविषयस्य प्रयत्नस्य भेदात् सत्यपि पदाभिव्यक्तिविषयस्य ध्वनेर्भेदे सादृश्यानुगमाद्वर्ण-विभागप्रतिपत्त्युपाया पदे प्रतिपत्तिरुत्पद्यते। तत्त्वक्रममपूर्वापरमेकमेव नित्य-मभेद्यं वर्णतुरीयोपपादित इवैकात्मा।

विवरण—वर्णात्मक इकाई अथवा परमार्थ या सत्य वर्ण की प्रतिपत्ति अर्थात् अवयवबोधपूर्वक निष्पत्ति का जिनमें आभास हो रहा है। ऐसी अनेक अवयवज्ञान-पूर्वक वर्णप्रतिपत्तियों से समुदायात्मक वर्ण की विवक्षा या प्रयत्न से निष्पादित ध्वनि

से अभिव्यक्त वर्ण भिन्न होता है तथा पद से अपोद्धार कल्पना द्वारा अपोद्धृत, अविवक्षा निष्पादित ध्वनि से अभिव्यक्त वर्ण-विषयक बुद्धि में भेद होता है। जैसे परमाणु, अर्द्धाणु, अर्द्धमात्रा, मात्रा या 'अ' 'अड' 'अमर' इन त्रिकोटचात्मक अवर्णों में भेद होते हुए भी केवल 'अ' वर्ण और पद में पठित 'अ' वर्ण में सादृश्य के अनुगम या उत्प्रेक्षा से वर्णात्मक विभागरूप प्रतिपत्ति ही जिसमें उपाय या साधन है, ऐसी पद-विषयक बुद्धि उत्पन्न होती है।

श्रीवृषभाचार्य ने प्रस्तुत सन्दर्भ की अधोलिखित व्याख्या की है—

१. 'प्रतिपत्तिशब्देन वर्णाख्ये विषये ज्ञानस्य व्यापार उच्यते। तस्मिँश्च यत्तस्य कर्तृत्वं तद्धि निर्भासशब्देनोच्यते—निर्भासत इति। तेन वर्णप्रतिपादनाख्ये व्यापारे ये निर्भासाः प्रतिपत्तय इति।'

प्रतिपत्ति शब्द के द्वारा वर्णाख्य विषय में ज्ञान का व्यापार कहा जाता है और उस व्यापार में जो कर्तृत्व है, वह निर्भास शब्द से उक्त होता है। अतः वर्णप्रतिपादन नामक व्यापार में जो निर्भास हैं, वे ही प्रतिपत्तियाँ हैं।

इस व्याख्यान में कुछ अरुचि समझकर वे दूसरी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

२. 'यद्वा परमार्थवर्णपरिच्छेदनवन्निर्भासनं यासामिति। वर्णविवक्षानिष्पादितध्वन्यभिव्यक्तवर्णविषया बुद्धिरन्या। तदविवक्षानिष्पादितध्वन्यभिव्यक्तात् पदादपोद्धारकल्पनापोद्धृतवर्णविषयान्या। सादृश्यात्तद्वन्निर्भासत इति युज्यतेऽन्यपदार्थः। ताभ्यः प्रतिपत्तिभ्यः पदे प्रतिपत्तिरुत्पद्यत इति सम्बन्धः।'

इस सन्दर्भ के अनुसार पीछे व्याख्या दी जा चुकी है। वर्णप्रतिपत्ति की आचार्य श्रीवृषभ तीसरी व्याख्या देते हैं—

३. 'अथवा वर्णा एव प्रतिपत्तयः, प्रतिपद्यन्त इति। तन्निर्भासाभ्यस्तदाकाराभ्यः इति'।

इस दृष्टि से उक्त सन्दर्भ का अर्थ प्रस्तुत रूप में किया जा सकता है—

वर्ण ही प्रतिपत्तियाँ हैं, क्योंकि वे उस रूप में उपलब्ध होते हैं। तन्निर्भास या तदाकारात्मक वर्णों से समुदाय या पदों में विद्यमान वर्ण-विषयक प्रयत्न का भेद होता है। गवय इस पद में स्थित ग, व और य के उच्चारणार्थ प्रयत्न से पृथक्-पृथक् 'ग' 'व' और 'य' के बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयत्न में भेद होता है। इस प्रकार पदाभिव्यक्तिविषयक ध्वनि से भेद होने पर भी केवल वर्ण और पदगत वर्णों के सादृश्य की उत्प्रेक्षा से वर्णात्मक प्रविभागों में प्रतिपत्ति होती है, जो कि पदप्रतिपत्ति का उपाय है। तात्पर्य यह है कि उपायगत (वर्णरूप) भेद को उपेय (पद) में निविष्ठ करके पद को भी लोग भेदयुक्त समझते हैं। पद का तात्त्विक रूप तो इस प्रकार का है—वह पद तो क्रमहीन, पूर्वापरात्मक अवयव शून्य एक नित्य एवं अभेद्य है, जैसे वर्ण के भागों से निष्पादित एक वर्णात्मा। श्रीवृषभ कहते हैं—'तात्त्विकं तु तस्य रूपमाह—अक्रमम् इति। कालभेदाभावः। अपूर्वापरम् इति। यौगपद्येन सावयवभेदाभावः।

यतोऽपूर्वापरस्तत एकम्, यतोऽक्रमं ततो नित्यमभेद्यम् । वर्णतुरीय इति । यैषा वर्ण-प्रतिपत्तिर्वर्णभेदोपाया तदेतल्लोके वर्णानां भागवत्ता अप्रतीतेति दर्शनम् ।'

वृत्तिः—वर्णानां त्वव्यपदेश्यानि व्यवहारातीतानि भिन्नरूपाभिमतान्य-कारादीनां तुरीयाणि प्रतिपादकानि कल्पितानि । तेन तेषां सुज्ञानतरमेकत्वं प्रसिद्धं शास्त्रव्यवहारे । वाक्यस्य चैकानेकपदस्वरूपस्यार्थे प्रयोगाद् वाक्यप्रति-पत्त्युपायभूता पदे प्रतिपत्तिरुत्पद्यते । अतत्त्वभूतास्तस्मिन्नेव वाक्यात्मनि वर्ण-पदरूपनिर्भासाः क्रमवत्यो बुद्धय उत्पद्यन्ते । तस्मादेवम्भूताद्वाक्यादभेद्यान्नि-र्भागाच्छब्दात्मनो वर्णानां पदानां चात्यन्तमविवेक इति ।। ७२ ।।

विवरण—अकारादिक वर्णों के तो अव्यपदेश्य अतएव व्यवहार से परे किन्तु भिन्न रूप में अभिमत चौथाई भाग, प्रतिपादक रूप में कल्पित किये गये हैं । लोक में तो वर्णों के भागों की प्रतीति नहीं होती, किन्तु शास्त्र-व्यवहार के लिए इनका आश्रय लिया गया है । जैसे—'तस्यादित उदात्तमर्द्धह्रस्वम्' (पा० १।२।३२) । स्वरित अच् का पूर्वभाग उदात्त समझना चाहिए और उत्तरार्द्ध को अनुदात्त । यहाँ भगवान् पाणिनि स्पष्ट रूप से 'अ' 'ई' आदि के भागों का निर्देश करते हैं और यह परम्परा वेदानुमोदित है ।

कौण्डभट्ट महोदय स्फोटनिर्णयान्तर्गत (वैयाकरण भूषणसार) इस कारिका का अधोलिखित अर्थ करते हैं—

'पदे, पचतीत्यादौ, न वर्णाः, नातो वर्णसमूहः पदमिति शेषः । दृष्टान्तव्याजेनाह वर्णेष्विति । एकारौकारल्कारऋकारादिवर्णेषु अवयवाः प्रतीयमाना अपि यथा नेत्यर्थः । क्वचिदिवेत्येव पाठः । एवं वाक्येऽप्याह—वाक्यादिति । पदानामपि वाक्याद्विवेको भेदो नास्तीत्यर्थः' ।

यहाँ कौण्डभट्ट अकार-इकारादि के भागों का उल्लेख नहीं करते, जो भगवान् भर्तृहरि के कथन में अभिमत हैं, किन्तु एकारादि का करते हैं, जो सन्ध्यक्षर[1] रूप में प्रसिद्ध हैं । उनके अनुयायी, अन्य विद्वान् भी आ, ए, ओ के स्फुट प्रतीयमान भागों का निर्देश करते हैं, अकारादिक का नहीं । भर्तृहरि स्पष्ट रूप से कहते हैं—

'अकारादीनां तुरीयाणि प्रतिपादिकानि कल्पितानि ।' अकारादिक के तुरीय भाग प्रतिपादक रूप में कल्पित हैं । इस पर कौण्डभट्ट को कुछ भी कहने का साहस नहीं हुआ, जब कि वर्णभाग प्रातिशाख्य में विवृत है ।

'प्रत्येकं व्यञ्जकाः—' इस कारिका की वृत्ति में भगवान् भर्तृहरि कहते हैं—

'ततश्चायं निरवयवेषु वर्णेषु मात्राविभागाध्यवसायः' । इस प्रकार अवयव रहित वर्णों में मात्राओं के विभाग का निश्चय होता है । श्रीवृषभ कहते हैं—'ह्रस्वाद्यव-

---

१. 'सन्ध्यक्षराणीति पूर्वाचार्यसंज्ञैषा । तेषां चान्वर्थ्यं सन्धीयमानावयवत्वात् ।'
—महाभाष्यदीपिका, द्वितीय आह्निक

साय:' किन्तु ह्रस्व तो 'अ' वर्ण की संज्ञा है। इससे आगे बढ़कर 'मीयते अनया इति मात्रा' अर्थात् अंशात्मक विभाग का निश्चय किया जाता है; ऐसा यहाँ अर्थ करना होगा।

इसके अतिरिक्त 'भागवत्स्वपि तेष्वेव—' इस कारिका की वृत्ति में भी कहा गया है—

'—तेषां क्रमेणाव्यपदेश्यवर्णतुरीयांशाभिव्यक्तौ स्वरूपानवधारणमविषयत्वं चान्त्यस्य व्यक्तरूपोपग्राहिण: परिच्छेदस्य प्रसज्यते।'

जो लोग 'गौ:' इस पद में गकार, ओकार और विसर्जनीय मात्रा को ही तत्त्व मानते हैं और इनसे अतिरिक्त, वर्णरूप के ग्रहणात्मक उपाय से ग्राह्य अखण्ड पद नामक शब्दात्मा को नहीं मानते और उन वर्णों को नित्य भी मानते हैं—उनके मत में, व्यपदेश या संज्ञा से रहित वर्णों के अपकर्ष की सीमा को प्राप्त या तुरीयांश रूप ध्वनि भागों की क्रमिक अभिव्यक्ति में स्वरूप का अनवधारण प्रसक्त होगा और साथ ही व्यक्तरूप को ग्रहण कराने वाले अन्तिम परिच्छेद या वर्ण के खण्ड की अविषयता अर्थात् अभिव्यक्ति का अभाव भी प्रसक्त होगा।

यहाँ भी वर्ण के घटक ध्वनिभागों की चर्चा आती है। वृत्तिकार भगवान् भर्तृहरि कहते हैं—इससे उन वर्णों का सुज्ञानतर एकत्व शास्त्र व्यवहार में प्रसिद्ध है। लोक में तो ध्वनिभागों को समेट कर वर्ण की एकता की प्रतीति नहीं होती। वैयाकरण सिद्धान्त में तो यह सिद्ध है। जैसा कि कहा है—'वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते।'

—श्रीवृषभाचार्य

एक[1] अथवा अनेक पदात्मक स्वरूप वाले वाक्य का ही प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति रूप व्यवहार के लिए प्रयोग होता है, अत: वाक्य की निष्पत्ति के उपाय रूप में पद की प्रतिपत्ति होती है। और उस उच्चार्यमाण वाक्यात्मा में ही अतात्त्विक वर्णों तथा पदों के रूप को आभासित करने वाली क्रमिक बुद्धियाँ या ज्ञानवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। अत: ऐसे वाक्य से, जो अखण्ड, अवयवरहित शब्दात्मा के रूप में स्वीकृत है, वर्णों एवं पदों का अत्यन्त अविवेक या अभेद माना जाता है।

स्याद्वादरत्नाकर में वादिदेव सूरि ने भी इस कारिका की व्याख्या की है।

'वर्णेष्वयवा न च' यह पाठ ही प्राय: सर्वत्र उपलब्ध होता है। कहीं-कहीं 'अवयवा इव' भी पाठ मिलता है। श्रीवृषभ की टीका अंशत: होते हुए भी उच्छिन्न है, अत: पाठ का सन्धान उससे उपलब्ध नहीं होता। हाँ, वृत्ति में 'वर्णतुरीयोपपादित इवैकात्मा' से कुछ अनुमान किया जा सकता है कि 'अवयवा इव' यही मौलिक पाठ रहा होगा।

---

१. 'पिधेहि' यह एकपदात्मक वाक्य है। 'बन्द करो' इससे द्वार का अपने आप आक्षेप हो जाता है। 'देवदत्त ! गामभ्याज शुक्लाम्'=देवदत्त ! श्वेत गाय को लाओ। यह अनेकपदात्मक वाक्य है।

इस कारिका में श्रीवृषभ ने नानात्वदर्शन की कल्पना की है, यद्यपि बात ऐसी नहीं है। 'कार्यत्वे नित्यतायां वा' इस कारिका में जो एकत्व और नानात्व की बात कही गई है, वह भिन्न है, ऐसा उक्त कारिका की वृत्ति एवं 'भिन्नं दर्शनमाश्रित्य' इस अग्रिम कारिका की वृत्ति से स्पष्ट हो जाता है। हाँ, कथञ्चित् वाक्य में अपोद्धार कल्पनया प्रतीत पद वर्ण एवं वर्णभागों की दृष्टि से नानात्व दर्शन माना जा सकता है। जैसा कि श्रीवृषभ ने कहा है—'नानात्वं भागत्वात् तेषाम्।'

वास्तव में स्वरूपार्थ या स्वरूपात्मक शब्द के निरूपण-प्रसङ्ग में संक्षेप से एकत्व-नानात्व और संघात शब्द एवं एक अनवयव शब्द की बात कही गई है ॥ ७२ ॥

अब प्रस्तुत कारिका द्वारा प्रासङ्गिक विवरण का उपसंहार करते हैं—

भिन्नं दर्शनमाश्रित्य व्यवहारोऽनुगम्यते।
तत्र यन्मुख्यमेकेषां तत्रान्येषां विपर्ययः ॥ ७३ ॥

भिन्नं दर्शनम् आश्रित्य व्यवहारः अनुगम्यते। तत्र एकेषां यत् मुख्यं तत्र अन्येषां विपर्ययः।

भिन्न-भिन्न दृष्टियों का आश्रय लेकर शास्त्रव्यवहार चलाया जाता है। यदि वहाँ जो दर्शन एक के मत में मुख्य है वही दूसरों के मत में विपरीत या गौण हो जाता है। यदि कुछ लोगों के मत में जो एकत्व मुख्य है और नानात्व को उपचरित माना जाता है, तो वही दूसरों के मत में उलटा गृहीत होता है; अर्थात् नानात्व को मुख्य और एकत्व को गौण माना जाता है।

वृत्तिः—आचार्या हि परस्मिन्नक्रमेऽन्तःसन्निवेशिनि शब्दतत्त्वे प्रत्यधिकरणमागमभेदपरिग्रहेण भिन्नानि दर्शनानि श्रिताः शास्त्रव्यवहारमनुगच्छन्ति। तद्यथा—श्रुत्यभेदादनेकार्थत्वेऽप्येकशब्दत्वम्, अर्थभेदादेकश्रुतित्वेऽप्यनेकशब्दत्वमिति। तत्र चैकेषामौपचारिको भेदो मुख्यमेकत्वम्। अन्येषां तु पृथक्त्वं मुख्यं व्यावहारिकमेकत्वमिति। तथा ह्युक्तम्—

'एकश्च शब्दो बह्वर्थोऽक्षाः पादा माषाः।' इति।

(महाभाष्य, पाणि० सू० १।२।४५ के वा० ९ पर)

तथा—'ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः' इत्युक्त्वा भेदेनोपसंहारं करोति—

'तद्यः सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते तस्येदं ग्रहणम्।' इति।

(महाभा०, पा० सू० १।१।७ वा० ८)

विवरण—बुद्धि[1] से अव्यतिरिक्त ज्ञानरूप अतएव परम, क्रमरहित, पारमार्थिक शब्द या शब्दतत्त्व के विषय में आचार्य लोग अधिकरण या विचारस्थान के अनुसार

1. श्रीवृषभ की व्याख्या है—'परस्मिन्निति। योऽसौ बुद्ध्यव्यतिरिक्तपरशब्दः यस्यैव परमार्थतः शब्दत्वम्, तदनुकारात्तु बाह्यस्य शब्दत्वम्।'

अथवा श्रीवृषभ के मत में सिद्धान्त भेद से आगमभेद को स्वीकार करते हुए विरोधी मतों का आश्रय लेकर शास्त्र-व्यवहार चलाते हैं। यहाँ अधिकरण या विचार स्थान है—शब्द की एकता और अनेकता। आगमभेद है—'श्रुत्यभेदात्' तथा 'अर्थ-भेदात्। दर्शन भेद है—एकत्ववाद और नानात्ववाद।

भिन्न दर्शनों का उल्लेख करने के लिए कहते हैं—'तद्यथा'। जैसे श्रुति या आनुपूर्वी के अभेद से अनेकार्थ होने पर भी एकशब्दत्व माना जाता है तथा अर्थभेद होने से एकश्रुति होने पर भी अनेक शब्दत्व स्वीकार किया जाता है। उसमें भी कुछ लोगों के मत में भेद या नानात्व औपचारिक है, किन्तु एकत्व मुख्य है। दूसरों के मत में पृथक्त्व मुख्य है और एकत्व व्यावहारिक या गौण। जैसा कि महाभाष्य में कहा है—

'शब्द एक है किन्तु अर्थ अनेक हैं; जैसे—

अक्षाः—धुरा, पाँसा, इन्द्रिय, आदि।

पादाः—चरण, चौथा भाग, माप आदि।

माषाः—उड़द, माप, त्वग्दोष आदि।

इसके अतिरिक्त—ग्राम शब्द बह्वर्थक है (ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः), ऐसा कह कर भेदपूर्वक उपसंहार करते हैं—

'तो जो ग्राम शब्द जंगल, सीमा और यज्ञ भूमि से युक्त ग्राम का अर्थ देता है, उसी का यहाँ ग्रहण है। श्रीवृषभ ने 'तद्यः—' इस उपसंहार वचन को भेद पक्ष का ही पोषक माना है। किन्तु कैयट इसे अभेद पक्ष का उदाहरण मानते हैं। यथा—

'ग्रामशब्दोऽयमिति। केचिदर्थभेदेन शब्दभेदमिच्छन्ति। प्रत्यभिज्ञानं तु सामान्यनिबन्धनम्। अन्ये तु एकशब्दत्वं, तत्र चानेकशक्तियोगः एकशक्तित्वं चेति दर्शनविकल्पः। तत्र यदा एकशब्दत्वपक्षस्तदा 'तद्यः सारण्यके—' इति भाष्यं शक्तिभेदादुपचरितभेदाश्रयम्। भेदपक्षे तु ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थं इति भाष्यम्। अभिन्नसामान्यनिमित्तैकत्वाध्यवसायाश्रयम्।'

कुछ लोग अर्थभेद से शब्दभेद मानते हैं। किन्तु उन शब्दों में एकत्व की पहचान 'स एवायम्' इस ग्रामशब्द रूप सामान्य से होती है। अन्य लोग एकशब्दत्ववादी होते हैं, उनमें भी कुछ उस शब्द में अनेक[1] शक्तियों का योग मानते हैं तथा अन्य एक शक्तित्व[2] स्वीकार करते हैं। इस प्रकार दर्शन-विकल्प देखा जाता है।

प्रथम कारिका की वृत्ति में पठित 'अन्तः सन्निवेशितस्य' का भी इन्होंने यही अर्थ किया है—'न बुद्धेर्विषयभावगमनेन सन्निवेशः किन्तु बुद्धितत्त्वाव्यतिरेकात्।'

'वायोरणूनां—' इस कारिका की वृत्ति में पठित 'अन्तः सन्निवेशिनः का अर्थ लिखा है—'बुद्धिस्थस्य'।

१. निरूपकभेदाच्छक्तिभेद इति भावः। —नागेश।

२. समवायस्यैकत्वनये रसो रूपवानित्यादिप्रयोगवदन्यार्थबोधकालेऽन्यार्थबोधो वारणीयः। —नागेश।

एकशब्दत्व पक्ष में 'तद्यः सारण्यके–' यह भाष्य है। शक्ति या अर्थभेद से भेद उपचरित है। भेदपक्ष में 'ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः' यह भाष्य है। यहाँ एकत्व का निश्चय सामान्य निमित्तक है। अभिन्न यदि वृत्ति का पाठ 'इत्युक्त्वाऽभेदेनोपसंहारं करोति' ऐसा माना जाय तो कैयट की व्याख्या संगत होगी।

आचार्य सूर्यनारायण शुक्ल प्रस्तुत कारिका का पूर्वोक्त दो कारिकाओं से सम्बद्ध अर्थ भी 'यद्वा भिन्नं दर्शनं वर्णाः सत्याः–' इस रूप में प्रदर्शित करते हैं। यथा—

(१) वर्ण सत्य है और पद तथा वाक्य असत्य; इस एक दर्शन का आश्रय लेकर 'गकारौकारविसर्जनीयाः शब्दः' ऐसा व्यवहार होता है।

(२) वाक्य सत्य है और वर्ण तथा पद असत्य हैं, इस अन्य दर्शन का आश्रय लेकर 'श्लोकादर्थं प्रतिपद्यामहे' यह व्यवहार चलता है॥ ७३॥

वाचक शब्द और स्वरूपार्थ शब्द का निरूपण हो चुका, अब यहाँ से स्फोट रूप नित्य शब्द की विवेचना का प्रारम्भ करते हैं। सर्वप्रथम प्रस्तुत कारिका द्वारा यह स्पष्ट करते हैं कि स्फोट नित्य शब्द है, वह काल एवं वृत्ति से परे है, तो भी ध्वनि-काल के आधार पर उसमें कालप्रतीति होती है और उपाधिभेद के कारण उसमें वृत्तिभेद भी देखा जाता है—

स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः।
ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते॥ ७४॥

अभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः स्फोटस्य ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते।

नित्य होने से जिसमें कालकृत भेद नहीं है, फिर भी अभिव्यञ्जक ध्वनियों के कालिक होने से उनके काल की सीमा का अनुसरण करने वाले अर्थात् ध्वनियों के काल पर्यन्त उपलब्ध स्फोट के ग्रहण अर्थात् बुद्धि या ध्वनि रूप उपाधि के भेद से वैयाकरण लोग, द्रुत आदि तथा ह्रस्वादि वृत्ति रूप भेदों का निर्देश करते हैं।

वृत्तिः—इह नित्यत्वादात्मतत्त्वस्य स्फोटानां स्थितौ नास्ति कालपरिमाण-वृत्तेः स्वल्पोऽपि व्यापारः। ध्वनिना तु संसृष्टं स्फोटस्य स्वरूपमुपलभ्यते यस्मात्तस्माद् ध्वनेः स्थितिकालः स्फोटोपलब्धिरूपः परिवर्तते। तेन च स्फोट-विषयेण ग्रहणेनोपाधिना भिन्नकालेन प्रकल्पितभेदाः स्फोटस्य द्रुतमध्यम-विलम्बिता वृत्तयस्त्रिभागोत्कर्षेण युक्ताः समाख्यायन्ते।

विवरण—आत्मतत्त्व नित्य है, अतः वर्ण, पद एवं वाक्य में आत्मारूप से विद्यमान स्फोटों की स्थिति में, कालकृत परिमाणात्मक चिरक्षिप्र एवं क्रम-यौगपद्य आदि वृत्तियों का स्वल्प भी व्यापार सम्भव नहीं। यतः ध्वनि से संसृष्ट-अविभक्त स्फोट का स्वरूप उपलब्ध होता है, अतः ध्वनि का स्थिति काल, स्फोट की उपलब्धि के रूप में परिवर्तित हो जाता है। ध्वनि और स्फोट में विभागात्मक परिच्छेद न होने से ध्वनि-कृत भेद को ही लोग स्फोट में देखते हैं। और उस स्फोट-विषयक ध्वनि या बुद्धिरूप

ग्रहणात्मक उपाधि से, जो कि कालभेद से भिन्न होती है; द्रुत, मध्य और बिलम्बित रूप वृत्तिभेदों की कल्पना की जाती है। त्रिभागोत्कर्ष से युक्त ये वृत्तियाँ यद्यपि ध्वनिनिष्ठ होती हैं तो भी स्फोट की वृत्तियाँ कही जाती है।

यहाँ भगवान् भर्तृहरि आत्मतंत्त्व में एकवचन का निर्देश करके उसे नित्य बतलाते हैं और 'स्फोटानाम्' में जो आत्मतत्त्वस्वरूप ही है, बहुवचन का निर्देश करते हैं—इसका अभिप्राय यह है कि उन्होंने वर्ण, पद और वाक्यस्फोट को ही दृष्टि में रख-कर ऐसा उल्लेख किया है। कारिका में 'स्फोटस्य' एकवचन का ही प्रयोग हुआ है। आगे चलकर उन्होंने कहा है—'वर्णपदवाक्यविपयाः प्रयत्नविशेपसाध्या ध्वनयो वर्णपदवाक्याख्यान् स्फोटान् पुनः पुनराविर्भावयन्तो बुद्धिष्वध्यारोपयन्ति।' (कारिका ८१, वृत्ति)

पीछे वृत्ति और कारिका में पठित स्फोट शब्द का प्रकाश या परज्योति अर्थ किया गया है और यही परमात्मा है—'यस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' स्फोट यह विशिष्ट आख्या इसलिए दी गई जान पड़ती है, जिससे 'प्रकाश' में शब्द की प्रमुखता का भान हो। प्रकाशात्मा में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द सभी रहते हैं, किन्तु व्याकरणागम शब्द को लेकर ही प्रवृत्त है, अतः प्रकाश की स्फोट यह आख्या वैया-करण निकाय के लिए उचित है।

भगवान् पाणिनि 'अवङ् स्फोटायनस्य' (६।१।१२३) इस सूत्र में स्फोटायना-चार्य का नाम लेते हैं। हरदत्त ने उपर्युक्त सूत्र-वृत्ति की पदमञ्जरी में कहा है—

'स्फोटोऽयनं परायणं यस्य सः स्फोटायनः, स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः। ये त्वौकारं पठन्ति ते नडादिषु अश्वादिषु वा पाठं मन्यन्ते।'

स्फोट का प्रतिपादन करने वाला वैयाकरण आचार्य स्फोटायन नाम से प्रसिद्ध हुआ। जो लोग पाणिनि-रचित नडादिगण अथवा अश्वादिगण में स्फोट शब्द का पाठ मानते हैं, उनके मत में स्फौटायन यह नाम होगा। इस दृष्टि से स्फोट, स्फोटायनाचार्य का पूर्व पुरुष होना चाहिए।

आज कल गणपाठ अत्यन्त अशुद्धरूप में मिलता है। सिद्धान्तकौमुदी के अन्त में मुद्रित गणपाठ के अन्तर्गत नडादिगण एवं अश्वादिगण में स्फोट यह नाम नहीं मिलता। हाँ, स्फुट शब्द का अश्वादिगण में अवश्य उल्लेख है। गणपाठ के पठन-पाठन का क्रम टूट जाने से ही इसकी ऐसी दुर्दशा है। उपर्युक्त गणों में 'स्फोट' शब्द का पाठ है या नहीं इस विषय में हरदत्त को भी सन्देह था, ऐसा उनके उपर्युक्त कथन से ही स्पष्ट प्रतीत होता है।

भरद्वाज मुनि-निर्मित बृहद्विमानशास्त्र एवं उसकी बौधायन वृत्ति में स्फोटायन का नाम उपलब्ध होता है—

'चित्रिण्येवेति स्फोटायनः।'—सूत्र। 'तदुक्तं शक्तिसर्वस्वे वैमानिकगतिवैचित्र्यादि-द्वात्रिंशतिक्रियायोग एकैव चित्रिणीशक्त्यलमिति शास्त्रे निर्णीतं भवति इत्यनुभवतः शास्त्राच्च मन्यते स्फोटायनाचार्यः।' —वृत्ति।

स्फोटायन का दूसरा नाम कक्षीवान् मिलता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उनका मूल नाम कक्षीवान् रहा होगा और स्फोटतत्त्व की उपज्ञातृता के कारण स्फोटायन यह नाम बाद में पड़ा होगा।

पदमञ्जरी का अनुसरण करते हुए नागेश ने 'स्फोटवाद' में कहा है—

'वैयाकरणनागेशः स्फोटायनऋषेर्मतम्।
परिष्कृत्योक्तवांस्तत्र प्रीयतां जगदीश्वरः॥'

वैयाकरण नागेश ने स्फोटायन ऋषि के मत को परिष्कृत करके कहा है; इससे जगदीश्वर प्रसन्न हों।

गर्गसंहिता (गोलोकखण्ड, अध्याय ३) में अभिधाशक्ति के अर्थ में स्फोट शब्द का प्रयोग मिलता है—

'व्यङ्ग्येन वा न नहि लक्षणया कदापि
स्फोटेन यच्च कवयो न विशन्ति मुख्याः।
निर्देश्यभावरहितं प्रकृतेः परं च,
त्वां ब्रह्म निर्गुणमलं शरणं व्रजामः'॥ १७॥

प्रमुख कवि, जिनका पता न व्यञ्जना से न लक्षणा से और न अभिधाशक्ति से पाते हैं, जो निर्देश करने योग्य स्थिति से रहित एवं प्रकृति से परे हैं, उन निर्गुण ब्रह्म की हम शरण ग्रहण करते हैं।

श्रीमद्भागवत (स्कन्ध १०, अध्याय ८५) में भी स्फोट की चर्चा आती है—

'दिशां त्वमवकाशोऽसि दिशः खं स्फोट आश्रयः।
नादो वर्णस्त्वमोङ्कार आकृतीनां पृथक् कृतिः'॥ ९॥

तुम दिशाओं के अवकाश, स्वयं दिग्रूप, आकाश, स्फोट तथा आश्रय अथवा स्फोटात्मक अधिष्ठान हो; तुम ध्वनि, वर्ण, ओङ्कार तथा आकृतियों के पृथक्करण हो।

श्रीमद्भागवत (स्कन्ध १२, अध्याय ६ श्लोक ४०) में भी स्फोट का उल्लेख है। यथा—

'शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक्।
येन वाग्व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः'॥

हरिवंश पुराण, भविष्य पर्व १६, ५२ में स्फोट को वर्णों का आश्रय एवं भगवत्स्वरूप बतलाया गया है—

'अक्षराणामकारस्त्वं स्फोटस्त्वं वर्णसंश्रयः। योगवाशिष्ठ, निर्वाण प्रकरण २।४२ में स्फोट की चर्चा निम्नाङ्कित रूप में मिलती है—

'जातान्धमूकबधिरस्यान्तः स्वीयपरामृशि।
स्ववाक्शब्दार्थयोर्बोध आन्तरस्फोट एव सः'॥

जन्म से अन्ध, मूक एवं बहरे व्यक्ति के हृदय में, स्वकीय विचाररूप में जो शब्द और अर्थ का बोध होता है, वही आन्तर स्फोट है। अस्तु।

भगवान् भर्तृहरि वृत्ति में 'इह नित्यत्वादात्मतत्त्वस्य–' इस सन्दर्भ द्वारा आत्मतत्त्व और स्फोट को एक या अभिन्न तथा नित्य कहते हैं। अतः पाश्चात्य मतानुयायी आधुनिकों का यह कहना कि स्फोट में रहस्यमयता जैसी कोई बात नहीं है और भट्टोजिदीक्षितादि परवर्ती वैयाकरणों का स्फोट-सम्बन्धी विचार पतञ्जलि और भर्तृहरि से नहीं मिलता, असङ्गत हो जाता है।

वृत्ति में पठित 'त्रिभागोत्कर्षेण' का मूल प्रस्तुत महाभाष्य है—'कालभेदात्। ये हि द्रुतायां वृत्तौ वर्णास्त्रिभागाधिकास्ते मध्यमायाम्। ये च मध्यमायां वर्णास्त्रिभागाधिकास्ते विलम्बितायाम्।' —तपरसूत्रवार्तिक 'द्रुतायां–' पर भाष्य।

इस पर कैयट की व्याख्या है—

'द्रुतं श्लोकं ऋचं वोच्चारयति वक्तरि नाडिकाया[1] यस्या नव पानीयपलानि स्रवन्ति तस्या एव मध्यमायां वृत्तौ द्वादश पलानि स्रवन्ति। नवानां त्रिभागास्त्रीणि पलानि, तदधिकानि नव द्वादश सम्पद्यन्ते। विलम्बितायां वृत्तौ षोडश पलानि स्रवन्ति।'

नाटिका, घटिका का पर्याय है। एकघटिका या नाडिका में साठ पल होते हैं। पल यहाँ कालमान के रूप में प्रयुक्त हुआ है, द्रव्यमान के रूप में नहीं। चार सुवर्ण या कर्ष का एक पल माना जाता है, जो यहाँ अभीष्ट नहीं है। विष्णुपुराण, अंश ६, उध्याय ३ में नाडिका का प्रस्तुत विवरण मिलता है—

'निमेषो मानुषो योऽसौ मात्रा मात्राप्रमाणतः।
तैः पञ्चदशभिः काष्ठा त्रिंशत् काष्ठा कला स्मृता॥ ६॥
नाडिका तु प्रमाणेन सा कला दशपञ्च च।
उन्मानेनाम्भसः सा तु पलान्यर्धत्रयोदश॥ ७॥
मागधेन तु मानेन जलप्रस्थस्तु स स्मृतः।
हेममाषैः कृतच्छिद्रश्चतुर्भिश्चतुरङ्गुलैः'॥ ८॥

श्रीधरस्वामी की टीका के अनुसार इन श्लोकों का निम्नाङ्कित अर्थ होगा—

एक लघु अक्षर के उच्चारण काल के बराबर निमेष होता है, अतः उसे मात्रा कहते हैं। ब्रह्माण्ड पुराण में कहा गया है—'निमेषकालतुल्या हि मात्रा लघ्वक्षरं च

---

१. कालमान के ज्ञान के लिए सूर्यसिद्धान्त में अनेक यन्त्रों की चर्चा मिलती है। नाडिका-ज्ञान के लिए कपालयन्त्र या घटीयन्त्र का वहाँ इस प्रकार उल्लेख है—

'ताम्रपात्रमधश्छिद्रं न्यस्तं कुण्डेऽमलाम्भसि।
षष्टिर्मज्जत्यहोरात्रे स्फुटं यन्त्रं कपालकम्'॥ २३॥ —अध्या० १३

घट के अधः खण्डाकार ताम्रपात्र को, जिसके नीचे छिद्र बना हुआ है, अमल जल वाले बृहद् भाण्ड में स्थापित करने पर दिन-रात मिलाकर साठ बार वह बड़े जलपात्र में डूबता है, इसे कपाल यन्त्र कहते हैं। एक बार डूबने से उतना काल नाडिका कहलाता है। घटी नामक कालमान को बतलाने के कारण अथवा घट के अधोभाग सदृश होने से इसे घटीयन्त्र भी कहते हैं।

यन्' उन पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा और तीस काष्ठाओं की एक कला मानी जाती है। नाडिका का प्रमाण पन्द्रह कला है। साढ़े बारह पल ताम्र से निर्मित जल के पात्र से नाडिका का ज्ञान होता है। मगधदेशीय माप से वह पात्र जलप्रस्थ के नाम से जाना जाता है। उस पात्र के अधस्तल में चार अङ्गुल लम्बी चार मासे की सुवर्ण-शलाका से छिद्र किया रहता है; उसे जल में स्थापित करने पर जितनी देर में उस छिद्र द्वारा पात्र में जल भर जाय, उस काल को नाडिका कहते हैं।

सूर्यसिद्धान्त और उसकी टीका में नाडिका का प्रमाण इस प्रकार दिया गया है—

'षड्भिः प्राणैर्विनाडी स्यात् तत् षष्ट्या नाडिका स्मृताः।'

छः प्राणों का एक पानीयपल होता है और साठ पलों की एक घटिका या नाडिका। 'दशगुर्वक्षरोच्चारकालः प्राणः षडात्मकैः। तैः पलं स्यात्तु ॥'—ज्योतिस्तत्त्व।

दश गुरु अक्षरों का उच्चारण काल एक प्राण के नाम से कहा जाता है और छः प्राणों का एक पानीय पल।

अब कैयट का उपर्युक्त सन्दर्भ इस प्रकार स्पष्ट होगा—

जब वक्ता किसी श्लोक या ऋचा का द्रुत गति से उच्चारण करता है तो जिस नाडिका या घटिका के नव पानीय पल टपकते हैं, उसी घटिका के मध्यमा वृत्ति में बारह पानीय पल टपकते हैं। नव संख्या का त्रिभाग[1] = तृतीय भाग अर्थात् तीन पल; उनसे अधिक नव, बारह हो जाते हैं। इसी प्रकार त्रिभागोत्कर्ष से विलम्बिता वृत्ति में सोलह पानीय पल क्षरित होते हैं। आश्चर्य है कि महावैयाकरण नागेश ने नाडिका का अर्थ सुषुम्ना और पल का अर्थ विन्दु लिखा है, जो इस प्रसङ्ग में असङ्गत है। इन वृत्तियों के सम्बन्ध में अधोलिखित श्लोक प्रसिद्ध है—

'अभ्यासार्थे द्रुता वृत्तिः प्रयोगार्थे तु मध्यमा।
शिष्याणामुपदेशार्थं वृत्तिरिष्टा विलम्बिता ॥'

पाठ के अवसर पर द्रुता वृत्ति प्रयोग में मध्यमा और शिष्य के उपदेश के लिए विलम्बिता वृत्ति का लोग आश्रय लेते हैं।

कुछ लोग 'ध्वनिकालानुपातिनः' का अर्थ प्राकृतध्वनि के काल में अनुपतित, ऐसा अर्थ करते हैं और 'ग्रहणोपाधिभेदेन' का वैकृतध्वनिरूप उपाधि के भेद से, ऐसा सङ्केत करते हैं ॥ ७४ ॥

वृत्तिः—यद्येवं ह्रस्वदीर्घप्लुतेष्वपि ध्वनिरेव कालभेदहेतुः। 'तपरस्तत्कालस्य' (पा० १।१।७०) इति दीर्घप्लुतयोर्यथैव, वृत्तिभेदेऽपि तथैव तत्कालव्यपदेशप्रसङ्गः। 'द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानं कालभेदात्' (वार्तिक, पा० १।१।७०) इत्येतस्मिन् पर्यनुयोगे प्रसक्ते प्रतिविधीयते—

---

१. द्रष्टव्य नागेश का उद्योत—'तृतीयभागाधिका इत्यर्थः, कैयटात्तथा प्रतीतेः।'

विवरण—कारिकाओं के ऊपर अवतरणिका देने का वृत्तिकार का स्वभाव नहीं है। प्रतीत होता है किसी विद्वान् लिपिकार ने इस वृत्त्यंश को अवतरणिका के रूप में ऊपर लिख दिया होगा और तब से इसी प्रकार लिखा और छापा जाने लगा। कुछ कारिकाओं पर बहुत संक्षिप्त अवतरणिकाएँ उपलब्ध होती हैं।

वृत्तिकार यहाँ कहते हैं कि यदि इस प्रकार ह्रस्व, दीर्घ और प्लुतों में भी ध्वनि ही कालभेद का कारण है, स्फोट जो कालभेद रहित हैं, उसमें कालभेद प्रयुक्त ह्रस्वत्वादि धर्म नहीं होते, तो जैसे दीर्घ और प्लुत में तत्काल के व्यपदेशप्रसङ्ग से 'तपरस्तत्कालस्य' इस सूत्र की प्राप्ति होती है, वैसे ही द्रुतादि वृत्तिभेद में भी तत्काल व्यपदेश-प्रसङ्ग से तपरसूत्र की प्राप्ति होगी। जैसे अतत्काल वाले दीर्घ और प्लुत की तपरसूत्र से व्यावृत्ति की जाती है और 'अतो भिस ऐस्' की प्रवृत्ति दीर्घ और प्लुत में नहीं होती, वैसे ही कालभेद का आश्रय लेकर द्रुतादि वृत्तियों में भी अतत्काल व्यावृत्ति होगी। इस प्रकार 'द्रुतायां तपरकरणे–' इस वार्तिक की आवश्यकता अपरिहार्य हो जायेगी ? इस प्रश्न या आशंका प्रसक्त होने पर अग्रिम कारिका द्वारा इसका समाधान या परिहार करते हैं—

स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु ।
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते ।। ७५ ।।

स्वभावभेदात् ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्य इति नित्यत्वे उपचर्यते।

अपचित अर्थात् क्षीण ध्वनि से द्योत्य या व्यङ्ग्य ह्रस्व कहलाता है, प्रचित या वर्द्धित ध्वनि द्वारा द्योत्य दीर्घ होता है और प्रचिततर ध्वनि से द्योत्य प्लुत कहा जाता है। यही ह्रस्वादिकों का स्वभावभेद है। इस स्वभावभेद से ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और चतुर्मात्रिक वर्णों (आदिग्रहणाच्चतुर्मात्रिकग्रहणम्। न पुनर्द्रुतादिवृत्तिषु—श्रीवृषभ) में विद्यमान प्राकृतध्वनि का काल उपचारतः स्फोटरूप शब्द का काल कहा जाता है। यद्यपि स्फोटरूप शब्द नित्य है, उसमें कालभेद नहीं होता, फिर भी प्राकृत ध्वनिकाल ही स्फोटकाल के रूप में उपचरित होता है।

वृत्तिः—इह द्विविधो ध्वनिः—प्राकृतो वैकृतश्च। तत्र प्राकृतो नाम येन विना स्फोटरूपमनभिव्यक्तं न परिच्छिद्यते। वैकृतस्तु येनाभिव्यक्तं स्फोटरूपं पुनः पुनरविच्छेदेन प्रचिततरकालमुपलभ्यते। एवं हि सङ्ग्रहकारः पठति—

शब्दस्य[1] ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
स्थितिभेदे[2] निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते।।

---

१. लघुमञ्जूषा एवं परमलघुमञ्जूषा में 'स्फोटस्य' यह पाठ है। गंगाधर शास्त्री द्वारा सम्पादित वाक्यपदीय के चौखम्बा संस्करण में 'वर्णस्य' पाठ है।

२. चौखम्बा संस्करण में 'वृत्तिभेदे' पाठ है।

विवरण—व्याकरणशास्त्र में दो प्रकार की ध्वनि स्वीकृत है—एक प्राकृत और दूसरी वैकृत। उनमें प्राकृत ध्वनि उसे कहते हैं, जिसके विना स्फोटरूप अभिव्यक्त नहीं होता और अनभिव्यक्त रहने से परिच्छिन्नरूप में गृहीत नहीं होता। अभिव्यक्त स्फोटरूप बारम्बार अविच्छिन्न रूप से अधिक बढे हुए काल तक जिसके द्वारा उपलब्ध हो, वह वैकृत ध्वनि है। इसी प्रकार संग्रहकार व्याडि ने कहा है—

स्फोटरूप शब्द के ग्रहण में प्राकृत ध्वनि हेतु मानी जाती है और स्थिति या वृत्ति के भेद में वैकृत ध्वनि निमित्त बनती है,

'अइउण्' सूत्रभाष्य की दीपिका में भर्तृहरि ने दो प्रकार की प्राकृत ध्वनि का उल्लेख किया है। यथा—

'यः करणसन्निपातादुत्पद्यते यश्च तस्मात् तौ प्राकृतौ। ताभ्यां विशेषोपलब्धिः। यस्तु ध्वनितो ध्वनिरुत्पद्यते स वैकृतः। ततो विशेषाभावात्। केवलं तु स एवमुपलब्धो वैकृत इत्येष विशेषः।'

जो ध्वनि करण या मुखस्थ वायु के सन्निपात से उत्पन्न होती है, वह प्रथम प्राकृत ध्वनि है। कारिकाकार ने 'आद्यः करणविन्यासः—' इस कारिका में इसे ही 'करणविन्यास' द्वारा कहा है। करण का तात्पर्य है—आभ्यन्तर प्रयत्न। श्रीवृषभाचार्य कहते हैं—'अशिक्षितशब्दोच्चारणस्य प्रथमतो यः करणानां शब्दोच्चारणे नियोगः स विन्यासः।' करणाभिघात शब्द की भी चर्चा आती है, स्थान का करण से प्रहार करणाभिघात है।

करणसन्निपातज ध्वनि से जो वर्णात्मक ध्वनि उत्पन्न होती है, वह भी प्राकृत ध्वनि है। इन दोनों से विशेष की उपलब्धि होती है। वर्णात्मक ध्वनि से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, वह वैकृत कहलाती है। उसमें विशेषता नहीं होती। हाँ, एतादृश उपलब्धि ही उसका वैशिष्ट्य है।

श्रीवृषभाचार्य ने प्राकृत[1] शब्द का इस प्रकार व्याख्यान किया है—

(१) 'ध्वनिस्फोटयोः पृथक्त्वेनानुपलम्भात् तं स्फोटं तस्य ध्वनेः प्रकृतिमिव मन्यन्ते। तत्र भवः प्राकृतः। तदुत्तरकालभावी तस्माद्विलक्षण एवोपलभ्यत इति विकारापत्तिरिव स्फोटस्य इति वैकृत उच्यते।'

ध्वनि और स्फोट की पृथक्-पृथक् उपलब्धि नहीं होती, अतः स्फोट को ध्वनि की प्रकृति के समान मानते हैं। और उस स्फोटरूप प्रकृति में होने से प्राथमिक ध्वनि प्राकृत कहलाती है। प्राकृत के उत्तरकालभावी तथा उससे विलक्षणरूप में उपलब्ध होने से स्फोट की विकारापत्ति सदृश भासित होने से वैकृत ध्वनि कही जाती है।

---

१. स्फोटस्वभावाभिव्यञ्जकः प्राकृतः, उपलब्धस्य तूत्तरकालभावी प्रबन्धवृत्तिरुपलब्धिप्रबन्धनिमित्तं वैकृतः। —श्रीवृषभ

स्फोट-स्वरूप की अभिव्यञ्जक ध्वनि प्राकृत है और उस उपलब्ध ध्वनि के उत्तरकाल में होने वाली एवं उपलब्धि के सातत्य की निमित्तात्मिका निरन्तर प्रवाह रूप ध्वनि वैकृत कहलाती है।

(२) 'ध्वनिसङ्घातस्य वा प्रकृतिः करणाभिघातः, ततः प्रथमतो भवः प्राकृतः। ततस्तु वैकृतः।' करणाभिघात वर्णात्मक ध्वनियों की प्रकृति है और उससे होने वाली ध्वनि प्राकृत है। यह दूसरी व्याख्या है।

जब तक एक ध्वनि उपरत नहीं होती, तब तक स्फोट की उपलब्धि होती रहती है। श्रीवृषभ ने यहाँ एक शङ्का उठाई है—यदि वैकृत ध्वनि अभिव्यक्त का ही अभिव्यञ्जन करती है, तो दो-तीन बार अकार के उच्चारण में उस ध्वनि को वैकृत कहा जाना चाहिए ? इस प्रश्न का समाधान यह है—

पूर्व प्रयत्न के उपसंहृत होने पर प्रयत्नान्तर की अपेक्षा से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, वह प्राकृत ही है। एक प्रयत्न से आक्षिप्त उत्तर ध्वनियाँ वैकृत कहलाती हैं। जिन ध्वनियों से विना अन्तराल के एकघन की उपलब्धि होती है, वही वैकृत ध्वनियाँ हैं।

श्रीवृषभ ने 'ग्रहणं' का अर्थ 'प्रथमतो ग्रहणमात्रे' लिखा है, जो उचित है। ग्रहण तो वैकृत का भी होता है, किन्तु उसमें स्थितिभेद की अतिरिक्त प्रतीति होती है।

वृत्तिः—तत्र तथा सन्निवेशविशेषात् तुल्यमात्राविभागपरिमाणानि गर्गादिवाक्यानि कानिचिदुच्चारणावृत्तिप्रचयग्राह्याणि। कानिचिदपचितरूपावृत्तिग्राह्याणि। तथा स्वभावभेदादपचितध्वनिद्योत्यो ह्रस्वः। तावताऽभिव्यक्तिनिमित्तेन स्वरूपस्य ग्राहिका बुद्धिस्तत्रोत्पद्यते। प्रचितध्वनिद्योत्यस्तु दीर्घः। प्रचिततरध्वनिप्रतिपाद्यस्तु प्लुतः। स च प्राकृतध्वनिकालो व्यतिरेकाग्रहणादध्यारोप्यमाणः स्फोटे स्फोटकाल इत्युपचर्यते शास्त्रे।

विवरण—उसी प्रकार गर्ग आदि के श्लोकात्मक वाक्य यद्यपि काल-कृत मात्राविभाग या संख्यापरिमाण में तुल्य होते हैं (वत्तीस अक्षरों के परिमाण वाले होते हैं) तो भी सन्निवेश-विशेष के कारण कुछ तो उच्चारण की अनेक आवृत्तियों द्वारा ग्राह्य होते हैं और कुछ न्यून आवृत्तियों द्वारा गृहीत होते हैं। जिन श्लोकों के पद प्रसाद गुण युक्त होते हैं अथवा जो श्लोक प्रसन्न सन्निवेश या संघटना वाले होते हैं, उनकी अवधारणा शीघ्र होती है। उनकी आवृत्ति की कम आवश्यकता रहती है। और जो विषम सन्निवेश वाले श्लोक होते हैं, वे दुरवधार्य होने के कारण अधिक आवृत्तियों की अपेक्षा रखते हैं। वैसे ही स्वभावभेद के कारण ह्रस्व, अपचित या न्यून ध्वनि द्वारा द्योतित होता है। वस्तुतः अभिव्यक्ति-निमित्तक उतनी (तावत्कालव्यापी) ध्वनि द्वारा वर्णस्वरूप की ग्राहिका बुद्धि वहाँ उत्पन्न होती है।

दीर्घ प्रचित ध्वनि द्वारा व्यङ्ग्य होता है और प्लुत प्रचिततर ध्वनि द्वारा प्रतिपाद्य माना जाता है। स्फोट प्राकृत ध्वनिकाल से व्यतिरिक्त रूप में उपलब्ध नहीं होता, अतः वह प्राकृत ध्वनि का काल स्फोट में अध्यारोपित होकर उपचारतः व्याकरणशास्त्र में स्फोटकाल ही कहा जाता है ॥ ७५ ॥

अब प्रस्तुत कारिका द्वारा वैकृत ध्वनि का निरूपण करते हैं—

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदं तु वैकृताः ।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ।। ७६ ।।

शब्दस्य अभिव्यक्तेः ऊर्ध्वं वैकृताः ध्वनयः तु वृत्तिभेदं समुपोहन्ते; तैः स्फोटात्मा न भिद्यते ।

शब्द की अभिव्यक्ति के अनन्तर वैकृत ध्वनियाँ तो द्रुत, मध्यम आदि वृत्ति-भेदों का सम्पादन करती हैं और उन वृत्तियों के भेद द्वारा स्फोटात्मा में भेद उत्पन्न नहीं होता, वह अखण्ड ही रहता है ।

वृत्तिः—तद्यथा प्रकाशो जन्मानन्तरमेव घटादीनां ग्रहणे हेतुः, अवतिष्ठमानस्तु ग्रहणप्रवन्धहेतुर्भवति; एवमभिव्यक्ते शब्दे ध्वनिरुत्तरकालमनुवर्तमानो बुद्धयनुवृत्तिं शब्दविषयां विषयाभिव्यक्तिवलाधानादुपसंहरति । तस्मादुपलक्षितव्यतिरेकेण वैकृतेन ध्वनिना संसृज्यमानोऽपि स्फोटात्मा ताद्रूप्यस्यारोपात् शास्त्रे ह्रस्वादिवत् कालभेदव्यवहारं नावतरति ।। ७६ ।।

विवरण—जैसे बाह्य प्रदीपादिक का प्रकाश उत्पन्न होते ही घटादि के ग्रहण में (अभिव्यक्ति में) हेतु बनता है और ठहरा हुआ वही प्रकाश ग्रहण या अभिव्यक्ति के सातत्य का कारण होता है, न कि उपलब्ध घटादि में किसी प्रकार की अभिवृद्धि या धर्मान्तर का प्रदर्शन करता है । इसी प्रकार प्राकृत ध्वनि द्वारा स्फोटात्मक शब्द के अभिव्यक्त हो जाने पर उत्तरकाल में अनुवर्तमान वैकृत ध्वनि, विषय की अभिव्यक्ति से सम्बद्ध वल के आधार से स्फोटात्मक शब्द-विषयक अविच्छेदात्मिका वुद्धयनुवृत्ति का उपसंहार करती है । तात्पर्य यह है कि अभिव्यक्त शब्द का अविच्छिन्न रूप से ग्रहण ही बुद्धयनुवृत्ति का उपसंहार है । विषयाभिव्यक्ति ही वल का आधान करती है, क्योंकि पुनः-पुनः उसकी स्थिति होती है और इसीलिए बुद्धयनुवृत्ति घटित होती है ।

प्राकृत ध्वनि के द्वारा स्फोट के अभिव्यक्त हो जाने पर उपलब्धि के पश्चाद्भावी होने से जिसका स्फोट से व्यतिरेक उपलक्षित है, ऐसी वैकृत ध्वनि से संसृज्यमान—सम्वद्ध होने पर भी स्फोटात्मा में वैकृत ध्वनि का रूप अध्यारोपित नहीं होता । और इस प्रकार व्याकरणशास्त्र में प्राकृत ध्वनिगत ह्रस्वादि भेद-व्यवहार के समान वैकृत ध्वनि-भेद द्वारा निष्पन्न कालभेद-व्यवहार स्फोट में घटित नहीं होता ।

तपरसूत्र के 'सिद्धं त्ववस्थिता वर्णा वक्तुश्चिराचिरवचनाद् वृत्तयो विशिष्यन्ते' इस वार्तिक के भाष्य में पतञ्जलि ने कहा है—

द्रुत, मध्यम और विलम्बित वृत्तियों में वर्ण स्थिर रहते हैं, उनमें कालकृत वृद्धि और ह्रास नहीं होता । केवल वक्ता के शीघ्र विलम्ब और अधिक विलम्ब से वोलने के कारण वृत्तियों में उपलब्धि कृत वैशिष्ट्य आ जाता है । जैसे एक ही मार्ग में कोई देर से जाता है, कोई शीघ्र और कोई अधिक देर से । रथिक शीघ्र जाता है, आश्विक देर से तथा पैदल और अधिक देर से ।

यहाँ यह आशङ्का होती है कि मार्ग तो गमन रूप क्रिया का अधिकरण है, अतः उसकी स्थिरता में कोई बाधा नहीं। किन्तु वर्णों के साथ मार्ग की तुलना करना अनुचित है–विषम है; क्योंकि वर्ण जिस प्रयत्न से उत्पन्न होते हैं, उस प्रयत्न के भेद से द्रुतादि वृत्तियों में भेद होता है और उससे वर्ण भी वृद्धि-ह्रास आदि कालभेद से युक्त हो जाते हैं। मार्ग तो व्यवस्थित ही रहता है, वह गन्ता की क्रिया से उत्पन्न नहीं होता।

भाष्यकार इसका समाधान करते हैं—यदि ऐसी बात है तो हम स्फोट को शब्द मानते हैं और वह वर्णों एवं वैकृत ध्वनियों का मार्ग के समान अधिकरण है। दोनों प्रकार की ध्वनियाँ उस अधिष्ठान रूप स्फोटात्मक शब्द की गुण या उपरञ्जिका है।

यहाँ वार्तिककार का दृष्टान्त है, जैसे—'भेरी का आघात'। प्रयत्न से उत्पन्न भेरी का शब्द कोई तो बीस पग तक सुनाई देता है, अर्थात् अल्पकाल तक उपलब्ध होता है; कोई तीस पग तक और कोई चालीस पग तक अर्थात् कोई चिरकाल तक तथा कोई चिरतर काल तक उपलब्ध होता है। इस प्रकार वृत्तियों में उपलब्धिजन्य कालभेद होता है, स्फोट तो उतना ही रहता है। हाँ, वृद्धि वैकृत ध्वनिकृत होती है। ध्वनि अर्थात् (वैकृत) और स्फोट ये प्राकृत शब्दों में विद्यमान रहते हैं, ध्वनियाँ (वैकृत) ही अल्प और महान् रूप में लक्षित होती है; कुछ शब्दों अर्थात् व्यक्त शब्दों में ध्वनि और स्फोट दोनों लक्षित होते हैं और अव्यक्त शब्दों (बाह्य आघातज) में केवल ध्वनि ही गृहीत होती है और यह स्वभावतः अर्थात् योगिप्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध है।

'ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते[1]।
अल्पो महांश्च केषाञ्चिदुभयं तत्स्वभावतः॥' —महाभाष्य

इन सभी बातों को ध्यान में रखकर श्रीवृषभाचार्य ने भगवान् भर्तृहरि के 'ह्रस्वादिवत्' इस प्रतीक को लेकर कहा है—

जैसे प्राकृत ध्वनिरूप के अध्यारोप से स्फोटात्मा ह्रस्वादि भेद द्वारा कालभेद के व्यवहार-पथ में उतरता है, वैसे वैकृतध्वनि के भेद द्वारा कालभेद के व्यवहार को नहीं प्राप्त होता। इसी से तपरसूत्र में द्रुतादिवृत्तियों की तत्कालता स्वीकार करके अतत्कालता का निरास किया गया है—

'ह्रस्वादिवदिति—यथाप्राकृतध्वनिरूपाध्यारोपात्, ह्रस्वादिभेदेन कालभेद-व्यवहारमवतरति तथा वैकृतेन ध्वनिभेदेन कालभेदव्यवहारं नावतरति। ततस्तपरसूत्रे तत्काला एव ते इति द्रुतादयो निरस्यन्ते'॥ ७६॥

---

१. प्रसङ्गतः इस भाष्य-श्लोक का यही अर्थ है—

'शब्दानां प्राकृतानां ध्वनिः वैकृतः स्फोटश्च स्तः। तत्र ध्वनिः वैकृतः अल्पो महांश्च लक्ष्यते। केषाञ्चिद् व्यक्तवाचां वैकृतः ध्वनिः स्फोटश्च उभयं गृह्यते, अव्यक्त-वाचां तु ध्वनिरेव।'

वृत्तिः—कथं पुनर्ध्वनिः शब्दोपलब्धिनिमित्तत्वं प्रतिपद्यते ?—

विवरण—अब ध्वनियाँ कैसे शब्द की उपलब्धि में निमित्त बनती हैं, इस बात का अग्रिम कारिका में प्रतिपादन किया जाता है—

इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्यैवोभयस्य वा।
क्रियते ध्वनिभिर्वादास्त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम् ॥ ७७ ॥

ध्वनिभिः इन्द्रियस्य एव संस्कारः क्रियते, शब्दस्य, उभयस्य वा, (इति) अभिव्यक्तिवादिनां त्रयः वादाः।

१. ध्वनियों–प्राकृत ध्वनियों द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय का ही संस्कार किया जाता है।

२. ध्वनियों द्वारा शब्द–स्फोट रूप शब्द का संस्कार किया जाता है।

३. ध्वनियों के द्वारा विषय और इन्द्रिय, इन दोनों का संस्कार किया जाता है।

इस प्रकार शब्दाभिव्यक्ति की प्रक्रिया से सम्बद्ध अभिव्यक्तिवादियों के तीन मत प्रसिद्ध हैं।

वृत्तिः—एतस्मिन् श्लोके शब्दाभिव्यक्तिप्रक्रियामात्रं प्रतिज्ञायते। उत्तरौ तु दृष्टान्तप्रदर्शनविषयौ। तत्र केचिन्मन्यन्ते ध्वनिरुत्पद्यमानः श्रोत्रं संस्करोति। तच्च संस्क्रियमाणं शब्दोपलब्धौ द्वारतां प्रतिपद्यते। अन्ये त्वभिव्यक्तिवादिनो मन्यन्ते—शब्द एव ध्वनिसंसर्गात् प्राप्तसंस्कारः श्रोत्रस्य विषयत्वमुपगच्छति। केषाञ्चिद् ध्वनिरुभयोः शब्दश्रोत्रयोरनुग्रहे वर्तते।

विवरण—प्रस्तुत श्लोक में शब्द की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया मात्र का कथन किया गया है। अग्रिम दो श्लोकों में दृष्टान्त देकर इसे समझाया गया है। इस विषय में कुछ लोगों का मत है कि ध्वनि उत्पन्न होकर श्रोत्रेन्द्रिय का संस्कार करती है। संस्कार तीन प्रकार का होता है—

१. ग्रहण करने में असमर्थ श्रोत्रेन्द्रिय में अपूर्व शक्ति का आधान संस्कार है।

२. विद्यमान किन्तु सुप्त शक्ति का जागना संस्कार है।

३. विषय और इन्द्रिय का सान्निध्यमात्र ही संस्कार है।

इस प्रकार वह श्रोत्रेन्द्रिय संस्क्रियमाण होकर शब्द की उपलब्धि में साधन बनती है। और तब संस्कृत इन्द्रिय से उत्पन्न बुद्धि अपने स्फोट रूप शब्दात्मक विषय को परिच्छिन्न रूप में ग्रहण करने के लिए समर्थ होती है।

अन्य अभिव्यक्तिवादियों का मत है—स्फोट रूप शब्द ही ध्वनि के व्यङ्ग्यव्यञ्जक रूप संसर्ग से संस्कृत होकर श्रोत्र का विषय बन जाता है।

कुछ लोग मानते हैं कि ध्वनि शब्द और श्रोत्रेन्द्रिय इन दोनों को त्रिविध संस्कार द्वारा अनुगृहीत करती है।

वृत्तिः—ताभ्यामिन्द्रियविषयाभ्यां सहकारिणा निमित्तान्तरेणानुगृहीताभ्यां शब्दविषया बुद्धिरुत्पाद्यते। प्रदीपप्रकाशानुग्रहादिवद् दृश्येष्वर्थेषु सहकारिनिमित्तान्तरापेक्षया हि शक्तयो निमित्तानां समग्रतां नातिक्रामन्ति।

विवरण—ध्वनि रूप सहकारी निमित्तान्तर से अनुगृहीत उस इन्द्रिय और विषय द्वारा शब्द-विषयक बुद्धि उत्पन्न की जाती है। जैसे दृश्यघटादि पदार्थों के विषय में प्रदीप का प्रकाश चक्षु और रूप दोनों को संस्कार के आधान द्वारा अनुगृहीत करता है, वैसे ही न केवल ज्ञानोदय के विषय में यह विधि लागू होती है, अपि तु अन्यत्र भी निमित्त शक्तियाँ सहकारी निमित्तान्तर की अपेक्षा से कार्योत्पत्ति में कारणसामग्री का अतिक्रमण नहीं करतीं॥ ७७॥

प्रस्तुत कारिका में दृष्टान्त द्वारा इन्द्रिय और विषय के संस्कार को स्पष्ट करते हैं—

इन्द्रियस्यैव संस्कारः समाधानाञ्जनादिभिः।
विषयस्य तु संस्कारस्तद्गन्धप्रतिपत्तये॥ ७८॥

समाधानाञ्जनादिभिः इन्द्रियस्य एव संस्कारः; विषयस्य तु तद्गन्धप्रतिपत्तये संस्कारः।

समाधान या एकाग्रता, अञ्जन और पादाभ्यङ्ग आदि से मन और नेत्रेन्द्रिय का ही संस्कार किया जाता है; द्रव्य-विशेष के गन्ध की प्रतिपत्ति या प्रबोधन के लिए विषय या द्रव्य का संस्कार अपेक्षित है।

वृत्तिः—समाधानं हि प्राकृतमलौकिकं वा न विषयात्मनि दृश्ये विशेषमादधाति। तथाञ्जनादिद्रव्यं चक्षुरेव संस्करोति, न बाह्यं विषयम्। अलौकिकमपि समाधानं सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टोपलब्धौ चक्षुरेवानुगृह्णाति विषयानुग्रहे हि तस्यान्यैरपि ग्रहणं प्रसज्येत, विशेषाभावात्।

विवरण—समाधान या चित्त का एकाग्रतारूप अभिसंस्कार, चाहे वह प्राकृत या लौकिक हो अथवा अलौकिक, विषयात्मक दृश्य पदार्थ में विशेष का आधान नहीं करता। और अञ्जन आदि द्रव्य भी नेत्र का ही संस्कार करता है, बाह्य विषय का नहीं। अलौकिक अर्थात् दिव्यदर्शियों का समाधान सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थ की उपलब्धि में चक्षु को ही अनुगृहीत करता है। संस्कार द्वारा विषय के अनुगृहीत किये जाने पर असंस्कृत इन्द्रिय वालों के द्वारा भी पूर्वोक्त सूक्ष्मादि विषयों का ग्रहण होने लगेगा, क्योंकि उनमें कोई वैशिष्ट्य तो रहेगा नहीं।

वृत्तिः—विषयसंस्कारस्तु तैलादीनामातपादिभिः, पृथिव्याश्चोदकेन गन्धप्रतिपत्तिकाले दृष्टो न घ्राणेन्द्रियस्य। घ्राणेन्द्रियसंस्कारे तु संस्कृतासंस्कृतेषु विषयेषु प्रतिपत्तिभेदो न स्यात्, विशेषाभावात्॥ ७८॥

विवरण—विषय का संस्कार तो तैलादिकों का आतप आदि से तथा पृथिवी का जल के सेचन से गन्ध की प्रतिपत्ति के अवसर पर देखा जाता है, घ्राणेन्द्रिय का नहीं। यदि घ्राणेन्द्रिय का संस्कार माना जाय तो संस्कार युक्त और संस्कार रहित दोनों विषयों में बोध-सम्बन्धी भेद नहीं होगा; क्योंकि उनमें कोई विशेष नहीं रहेगा ॥ ७८ ॥

अब शब्द और श्रोत्र दोनों का ध्वनि से संस्कार होता है, इस मत में दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं—

चक्षुषः प्राप्यकारित्वे तेजसा तु द्वयोरपि ।
विषयेन्द्रिययोरिष्टः संस्कारः स क्रमो ध्वनेः ॥ ७९ ॥

चक्षुषः प्राप्यकारित्वे तेजसा तु द्वयोः अपि विषयेन्द्रिययोः संस्कारः इष्टः, सः ध्वनेः क्रमः ।

चक्षु के प्राप्यकारी होने से अर्थात् चक्षु विषयदेश में जाकर वस्तु को ग्रहण करती हैं, इस मत में दीपादि के तेज से इन्द्रिय और विषय दोनों का संस्कार इष्ट है और यही क्रम या उभय संस्कारकत्व ध्वनि का भी है।

वृत्तिः—इहालोकानुगृहीतं घटादिविषयं सन्तमसेऽवस्थितोऽयं प्रतिपद्यते। तत्र येषामप्राप्यकारि चक्षुस्तेषामालोकेन विषयः प्रायेणानुगृह्यते। प्राप्यकारित्वे तु चक्षुषस्तुल्यजातीयेन तेजसा नयनरश्म्यनुग्रहः क्रियते ॥ ७९ ॥

विवरण—संसार में देखा जाता है कि जो व्यक्ति अन्धकार में स्थित रहता है, वह आलोक से संस्कृत घटादि विषय को देख लेता है। जो लोग ऐसा मानते हैं कि चक्षु विषय देश में न जाकर गोलकस्थ ही विषय को ग्रहण करता है, उनके मत में आलोक से प्रायः विषय ही संस्कृत होता है। जो लोग चक्षु को प्राप्यकारी मानते हैं, उनके मत में तैजस चक्षु के तुल्यजातीय तेज द्वारा नयनरश्मियों का संस्कार किया जाता है। यह मत वैयाकरणों एवं मीमांसकों का है।

चक्षु अप्राप्यकारी है—इस मत में जो व्यक्ति अन्धकार में स्थित है, उसकी चक्षु का आलोक से सम्बन्ध न होने से उसका संस्कार नहीं किया जाता और विषय आलोक से सम्बद्ध रहता है, अतः उसका संस्कार होता है।

तुल्यजातीय से तात्पर्य है कि चक्षु तेजोमय है, ऐसा सभी स्वीकार करते हैं। चक्षु के सम्बन्ध में दो दर्शन हैं—

१. चक्षु का परिमाण बुद्बुद के सदृश है।

२. रश्मिमात्र ही चक्षु है।

जब चारों ओर फैले हुए अन्धकार में स्थित कोई व्यक्ति आलोक सम्पन्न देश में स्थित द्रव्य को उपलब्ध करता है (देखता है), उस अवसर पर सूक्ष्म नेत्ररश्मियाँ धारावाहिक रूप में नेत्र से निकलकर व्यापक तेजःपरमाणुओं से, जो अन्तरालवर्ती

हैं, सम्बद्ध हो जाती हैं। और तब वे अपने को सूक्ष्मतर रश्मि रूप द्रव्यान्तर के रूप में, जिनका अग्रभाग बृहदाकार में परिवर्तित है, रचती हुई वहाँ तक जाती है, जहाँ तक प्रकाश रहता है। इस प्रकार तेज से रश्मियों का संस्कार सम्पन्न होता है। इसी बात को श्रीवृषभाचार्य ने कहा है—

'तुल्यजातीयेन इति। चक्षुस्तेजोमयम्। तत्र द्वे दर्शने बुद्बुदमानं रश्मिमात्रं वेति। तत्र यदा सन्तमसेऽवस्थितो भिन्नदेश आलोके स्थितं द्रव्यमुपलभते तदा नयनरश्मयः सूक्ष्मानयनात् सन्ततं निर्गत्य व्यापित्वात् तेजःपरमाणूनामन्तरालवर्तिभिस्तेजःपरमाणुभिः सम्बध्यमानाः सूक्ष्मतरं रश्मिद्रव्यान्तरं पृथ्वग्रमारभमाणास्तावद् गच्छन्ति यावदालोकः। ततस्तेन संस्कारस्तेषां रश्मीनामिति।'

ये तीनों मत वैयाकरणों के हैं; मीमांसक उभयसंस्कारवादी हैं। स्फोटात्मक शब्द के ग्रहण की प्रक्रिया से सम्बद्ध तीन मतों का उल्लेख पीछे किया गया। इस प्रक्रिया में ध्वनि का विशेष हाथ था। अब वह ध्वनि कैसे गृहीत होती है, इस सम्बन्ध में अभिव्यक्तिवादियों के ही तीन मतों का निरूपण प्रस्तुत कारिका से किया जाता है—

स्फोटरूपाविभागेन ध्वनेर्ग्रहणमिष्यते ।
कैश्चिद् ध्वनिरसंवेद्यः स्वतन्त्रोऽन्यैः प्रकल्पितः ॥ ८० ॥

(कैश्चित्) ध्वनेः ग्रहणं स्फोटरूपाविभागेन इष्यते, कैश्चित् ध्वनिः असंवेद्यः, अन्यैः स्वतन्त्रः प्रकल्पितः।

कुछ लोग मानते हैं कि ध्वनि का ग्रहण स्फोट से अविभक्त रूप में होता है। दूसरों का मत है कि स्फोट की अभिव्यञ्जना के अवसर पर ध्वनि संवेद्य नहीं रहती, अन्य लोगों ने माना है कि ध्वनि की स्वतन्त्र रूप में अर्थात् स्फोट की अवधारणा से रहित उपलब्धि होती है।

वृत्तिः—अथापरेऽभिव्यक्तिवादिनां त्रयो दर्शनभेदाः। शब्देन संसृष्टो ध्वनिरूपाश्रयानुराग इव स्फटिकादीनामविभक्त उपलभ्यते।

केषाञ्चित्तु यथेन्द्रियाणीन्द्रियगुणाश्चासंवेद्यरूपा एव विषयोपलब्धिहेतवस्तथायं ध्वनिरगृह्यमाणरूपः शब्दग्रहे निमित्तं भवति।

अन्ये त्वाहुः—दृष्टा केवलस्य ध्वनेः स्फोटरूपानवधारणे दूरादुपलब्धिः। शब्दोपलब्धिकल्प एवासावित्यपरे। तद्यथा – मरुष्वपचितपरिमाणानां द्रव्याणां परिमाणोपचयग्रहणं दृष्टम्, चन्द्रादीनां च परिमाणापचयग्रहणम्, वृक्षाद्यरूपग्रहणं च। शकलकोटरादीनां सामान्यविशेषाणां च धवखदिरादीनामप्रतिपत्तिः॥ ८० ॥

विवरण—इस सम्बन्ध में अभिव्यक्तिवादियों के अन्य तीन दर्शन भेद हैं—

१. शब्द से संसृष्ट या सम्बद्ध ध्वनि वैसे ही अविभक्त या एकता को प्राप्त रूप में उपलब्ध होती है, जैसे उपाश्रय या उपधानभूत जपाकुसुमादि के अनुराग या लौहित्य से उपरक्त स्फटिक आदि।

२. कुछ लोगों का मत है कि जैसे इन्द्रियाँ और इन्द्रियों में विद्यमान रूप-गन्धादि सूक्ष्म गुण स्वयं असंवेद्य होते हुए विषय की उपलब्धि में कारण बनते हैं, वैसे ही ध्वनि असंवेद्य रहकर ही स्फोट रूप शब्द के ग्रहण में निमित्त बनती है।

श्रीवृषभ ने इन्द्रिय गुण को प्रस्तुत रूप में स्पष्ट किया है—

"येषां दर्शनं भौतिकानीन्द्रियाणीति। भौतिकत्वेऽपीन्द्रियाणां तत्तद्भूयस्त्वेन तदाश्रिता रूपादयः समानजातीयरूपादिग्रहणहेतवः। तदुक्तम्—'भूयस्त्वाद् गन्धवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धवत्त्वज्ञाने हेतुः।' इति। तत्र यथा घ्राणेन्द्रियस्य पृथिवीभूयिष्ठगन्धवत्त्वात् समवेतो गन्धस्तत्समवायिकारणमिन्द्रियमनुगृह्णन् गन्धोपलब्धेर्निमित्तम्। न च समवेतो गन्धः संवेद्यते। तथा ध्वनिरसंवेदित एवान्येनोपायेन स्फोटोपलब्धेर्निमित्तं भवतीति।'

जिन वैशेषिकों का यह दर्शन (मत) है कि इन्द्रियाँ भौतिक हैं अर्थात् भूतों से उत्पन्न होती हैं। इन्द्रियों के भौतिक होने पर भी उस-उस भूत के आधिक्य से तदाश्रित रूपादि गुण समानजातीय रूपादि के ग्रहण में कारण बनते हैं। जैसा कि वैशेषिक सूत्र में कहा है—

'अधिक होने से तथा गन्धयुक्त होने से पृथिवी गन्धवत्त्वज्ञान अर्थात् घ्राणेन्द्रिय की उपादान कारण है।'

प्रस्तुत वैशेषिकसूत्र का स्वरूप वैशेषिक दर्शन (अध्याय ८, आह्निक २, सूत्र ५) में इस प्रकार है—

'भूयस्त्वाद् गन्धवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः।'

गन्धज्ञान का अर्थ है—'गन्धो ज्ञायते अनेन इति गन्धज्ञानं घ्राणम्।'=जिससे गन्ध का ज्ञान हो, उस घ्राणेन्द्रिय को गन्धज्ञान कहते हैं।

वहाँ जैसे घ्राणेन्द्रिय का पृथिवी के आधिक्य और गन्धवत्त्व होने से, समवेत गन्ध समवायिकारण होने से इन्द्रिय को अनुगृहीत करता हुआ बाह्य गन्ध की उपलब्धि में निमित्त बनता है, किन्तु वह समवेत गन्ध संवेद्य नहीं होता; वैसे ही असंवेदित ध्वनि (अगृहीत ध्वनि) ही अन्य उपाय से स्फोट की उपलब्धि में निमित्त बनती है।

'न्याय वैशेषिक इन्द्रियों को पञ्चभूतात्मक भी नहीं मानता। उसकी मान्यता है कि एक-एक इन्द्रिय एक-एक भूत से उत्पन्न है'—ऐसा कुछ लोग 'द्रव्येषु पञ्चात्मकत्वं प्रतिषिद्धम्' (वै० सू० ८।२।४) के आधार पर कहते हैं, किन्तु बात ऐसी नहीं है। वहीं अ० ४ आह्निक २ सूत्र ४ में कहा गया है—

'अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः।'

इसीलिए पृथिवी में गन्ध के अतिरिक्त अन्य रूपादि चार गुण भी उपलब्ध होते हैं; क्योंकि वहाँ अणु-संयोग तो रहता ही है। फिर गन्ध का ही उसके (घ्राणेन्द्रिय) द्वारा क्यों ग्रहण होता है, इस पर न्यायसूत्रकार कहते हैं—

'तद्व्यवस्थानं तु भूयस्त्वात्'। —न्यायदर्शन अ० ३, आ० १ सूत्र ६८।

सांख्यदर्शन वैकृत अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति मानता है—

'सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्' । युक्तिदीपिका टीका में भौतिकेन्द्रियवाद (कारिका २५) खण्डित हुआ है ।

३. स्फोटरूप की अवधारणा न होने पर केवल ध्वनि की दूर से उपलब्धि देखी गई है । दूरत्व दोष के कारण स्फोट की उपलब्धि नहीं होती, ऐसा लघ्वीवृत्तिकार ने कहा है ।

यह जो केवल ध्वनि का श्रवण होता है, वह स्फोटरूप शब्द की उपलब्धि के सदृश ही है, ऐसा कुछ लाग मानते हैं । इसे दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है कि जैसे मरु प्रदेश में स्वल्पपरिमाण वाला द्रव्य पर्वत परिमाण सदृश दिखलाई देता है और महापरिमाण चन्द्रमण्डल आदि अपचित परिमाणवाले दिखलाई देते हैं, इस प्रकार जैसे जिन वस्तुओं का शास्त्रों में भिन्न आकार के रूप में वर्णन किया गया है, उनका दर्शन देश-विशेष के सम्वन्ध से वर्णित आकार से भिन्न रूप में होता है, वैसे ही विभक्तरूप में स्थित स्फोट आरूप या समुच्चित रूप में प्रतीत होता है ।

दूर से उपलभ्यमान वृक्षादिक पृथक्-पृथक् आकार रूप में नहीं प्रतीत होते, किन्तु समुच्चित रूप में ही गृहीत होते हैं । उस समय उनमें न तो 'यह धव का वृक्ष है, यह खदिर का' इस प्रकार के वैशिष्टच तथा 'यह शकज या शाखात्मक खण्ड है और यह कोटर है' इस प्रकार के वैशिष्टच का वोध होता है और नहीं तो इतने धव के वृक्ष हैं और इतने खदिर के, इस सामान्य का ही वोध होता है । इसी प्रकार दूर से स्फोट का आरूप मात्र उपलव्ध होता है और न ही समीप से विशेष रूप में ।

'आरूप'[1] शव्द का प्रयोग मण्डनमिश्र ने अपनी 'स्फोटसिद्धि' में भी किया है । यथा—'आरूपालोचितेष्वस्ति ह्यन्यथात्वप्रकाशनम् ।। १९ ।।'

'आरूपमव्यक्तरूपम्' गोपालिका टीकाकार ऋषिपुत्र परमेश्वर ने आरूप का अर्थ अव्यक्तरूप किया है । इसी श्लोक की व्याख्या में मण्डनमिश्र स्वयं कहते हैं—

'यथा दूराद्वनस्पतयो हस्त्यादिरूपप्रख्यानाः, वहुतरालोकाच्च देशान्मन्दतरालोकगर्भगृहादिषु प्रविष्टस्य रज्ज्वादिषु व्यक्तमप्रकाशमानेषु सर्पाद्याकारप्रकाशोदयः ।'

'जैसे दूर से वनस्पतियाँ हाथी आदि के रूप में प्रतीत होती हैं; अधिक प्रकाश से युक्त स्थान से मन्दतर प्रकाश वाले गर्भगृह आदि में प्रविष्ट होने वाले व्यक्ति को व्यक्त रूप में अप्रकाशित रस्सी आदि में सर्पादि आकारों की प्रतीति होती है ।' इससे भी आरूप का अर्थ अव्यक्तरूप ही ज्ञात होता है । अव्यक्त रूप अर्थात् अस्पष्ट रूप ।। ८० ।।

---

१. इस शव्द का प्रयोग महाभाष्यदीपिका (भर्तृहरिकृत) पृष्ठ ७६, पूना संस्करण में हुआ है । यथा—'विद्यमानेऽपि तत्राविशेषे आरूपमात्रं, यथा गोविशेषेऽश्वोपलव्धिरारूपमात्रेण वोपलव्धिः तस्मादारूपमात्रग्रहणमुभयोः ।'

ध्वनियां एक-एक करके किस प्रकार स्फोटरूप शब्द के ग्रहण में सहायक बनती हैं, इसे दृष्टान्त द्वारा प्रस्तुत कारिका में स्पष्ट करते हैं। श्रीवृषभाचार्य प्रस्तुत कारिका की अवतरणिका इस प्रकार देते हैं—

यदि एक ध्वनि स्फोट की अभिव्यक्ति में समर्थ है तो द्वितीय ध्वनि का उच्चारण अनर्थक हो जायेगा और यदि अन्तिम ध्वनि द्वारा स्फोट अभिव्यक्त होता है, तो अन्य प्रागुच्चरित समग्र ध्वनियाँ व्यर्थ हो जाती हैं। यदि एक-एक ध्वनि के उच्चारण द्वारा शब्दाभिव्यक्ति मानी जाय, तो ध्वनियों के उच्चरितप्रध्वंसी होने के कारण समुदाय नहीं बनेगा, अतः स्फोट की अभिव्यक्ति कैसे होगी ? इस आशङ्का पर कहते हैं—'यथानुवाकः–' आदि।

यथाऽनुवाकः[1] श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति।
आवृत्त्या न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्ति निरूप्यते ॥ ८१ ॥

यथा अनुवाकः श्लोकः वा आवृत्त्या सोढत्वम् उपगच्छति; प्रत्यावृत्ति तु सः ग्रन्थः न निरूप्यते।

जैसे वेद का अनुवाक या परिच्छेद तथा लौकिक श्लोक पुनः-पुनः उच्चारणरूप आवृत्ति से स्मृत्यात्मक बुद्धि का विषय बनता है–कण्ठस्थ हो जाता है, किन्तु वह ग्रन्थ, श्लोक या अनुवाक, प्रत्येक आवृत्ति प्रथम, द्वितीय आदि आवर्तनो में निरुपित नहीं होता–स्वरूपज्ञान का विषय नहीं बनता।

वृत्तिः—वर्णपदवाक्यविषयाः प्रयत्नविशेषसाध्या ध्वनयो वर्णपदवाक्याख्यान् स्फोटान् पुनः पुनराविर्भावयन्तो बुद्धिष्वध्यारोपयन्ति। क्रमेण तु वर्णतुरीयग्रहणे सति समुदायाभावादविषयत्वमन्त्याया बुद्धेः प्राप्नोतीति संहितासूत्रभाष्यविवरणे बहुधा विचारितम्। कृत्स्नमपि शब्दरूपं प्रकाशीकृतं यावदस्वीकृताकारमनुपगृहीतविशेषं बुद्धावसन्निविष्टं तावदनुपलब्धेनैव तेन व्यवहारो न कश्चिदपि प्रकल्पते।

विवरण—प्रयत्न-विशेष के द्वारा साध्य निष्पाद्य वर्ण, पद और वाक्य से सम्बद्ध ध्वनियाँ, वर्ण, पद और वाक्य नामक स्फोटों को बारम्बार द्योतित करती हुई बुद्धि का विषय बनाती हैं।

श्रीवृषभ ने व्याख्या प्रस्तुत की है—'मैं गो शब्द का उच्चारण करूँगा' इस प्रसंग में गोशब्द-विषयक प्रयत्न से जायमान गकार ध्वनि गवयशब्द की द्योतक गकार ध्वनि

---

१. स्फोट-सिद्धि की गोपालिका टीका में प्रस्तुत कारिका की व्याख्या–यथेति उत्तरश्लोकगतेन तथाशब्देन सम्बन्धः। अनुवाकः श्लोको वेति। अनुवाको वैदिकः श्लोकस्तु लौकिकः। सोढत्वं जितत्वं वशतामिति यावत्। आवृत्त्योपगच्छतीत्यन्वयः। न तु स ग्रन्थः अनुवाकः श्लोको वा प्रत्यावृत्ति निरूप्यते स्वरूपतो ज्ञायते।

से भिन्न हो जाती हैं; क्योंकि कारणभेद ही पदार्थों का भेदक होता है—'कारणभेदो भेदकः पदार्थानामिति।'

इस प्रकार आवृत्ति से प्रकाशन ही स्फुटदर्शन या स्फोट है। अतः[1] एक-एक ध्वनि से अवयवहीन सम्पूर्ण वर्ण, पद या वाक्य-विषयक स्फोट अभिव्यक्त होता है, इसे स्वीकार करना होगा। स्फोट की भागशः अभिव्यक्ति या उत्पत्ति में दोष का 'क्रमेण तु' इस सन्दर्भ द्वारा प्रदर्शन करते हैं—

क्रमशः वर्णतुरीय या अन्तिम वर्ण के ग्रहण पक्ष में वर्णों के उच्चरित प्रध्वंसी होने से वर्णसमुदाय की उपलब्धि नहीं होगी, इस प्रकार अन्त्य बुद्धि वर्णसमुदाय के अभाव में निर्विषय ही रह जायगी; इस बात पर 'परः सन्निकर्षः संहिता' इस सूत्र के भाष्य के विवरण में बहुधा विचार किया गया है।

श्रीवृषभ ने 'क्रमेण–' इस वाक्य की प्रस्तुत व्याख्या की है—

उत्पत्तिपक्ष में वर्णविभाग परमाणुकल्प क्रमशः उत्पन्न तथा अतीन्द्रिय ही होते हैं, अतः समुदाय ग्रहण के अभाव में बुद्धि की निर्विषयता सुगम ही है।

निरवयव वर्णपक्ष में अथवा वर्णभागों की इन्द्रियगम्यतापक्ष में वर्णों या वर्ण-भागों के क्रमशः उत्पन्न होने से पश्चात् उनके नष्ट हो जाने से समुदायभाव की स्मृति भी नहीं होगी। यद्यपि प्रत्येक वर्ण का अनुभव होगा, तो भी समुदाय की स्मृति नहीं होगी। वर्णों के स्मृति रूप बीज के आधान की शक्ति मानना उचित नहीं है, क्योंकि वर्ण-विषयक पटुता के अभाव और अनभ्यास के कारण समुदाय-स्मृति के अनुकूल बीजाधान शक्ति सम्भव नहीं है।

यदि यह माना जाय कि निरवयव वर्ण ध्वनियों से अभिव्यक्त होते हैं तो भी व्यञ्जक ध्वनि द्वारा व्यङ्ग्य ग्रहण होने पर अन्त में उन समुदित व्यञ्जनों–वर्णों के अभाव से सम्पूर्ण स्फोटात्मक शब्द का ग्रहण कैसे होगा? इसी प्रकार खण्डस्फोट मानने पर उनके खण्डशः गृहीत होने से समस्त स्फोटात्मक शब्द के ग्रहण में दोष उपस्थित होगा।

यदि यह माना जाय कि पूर्व-पूर्व वर्ण, उत्तर-उत्तर वर्णों में अन्त्यवर्णपर्यन्त संस्कार का आधान करता है और इस प्रकार तदालम्बनात्मक या वर्णों के संस्कार से सम्पन्न बुद्धि समस्त शब्दाकार रूप में आविर्भूत होगी, तो ऐसा सम्भव नहीं है। क्योंकि वर्ण अभिव्यक्त होकर संस्कार का आधान करता है और जब उत्तर वर्ण अभिव्यक्त ही नहीं है तो पूर्व वर्ण कहाँ संस्कार का आधान करेगा? तथा जब उत्तर वर्ण अभि-व्यक्त होगा तब पूर्व वर्ण अनभिव्यक्त हो जायगा; ऐसी स्थिति में कौन संस्कार का आधान करेगा? अभिव्यक्त का ही अभिव्यक्त में संस्काराधान होता है, अनभिव्यक्त में नहीं, अन्यथा सब वर्णों द्वारा सर्वत्र संस्काराधान होने लगेगा।

---

१. 'तस्मादेकैकेन ध्वनिना निरवयवं कृत्स्नस्फोटोऽभिव्यज्यत इत्यभ्युपगन्तव्यम्।'
—श्रवृषभ।

यदि प्रथम ध्वनिभाग से समग्र स्फोट की अभिव्यक्ति स्वीकार की जाती है तो उसी समय उसके आकार का ग्रहण क्यों नहीं होता ? इस शङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हैं—

एक ध्वनि द्वारा सम्पूर्ण शब्दरूप के प्रकाशित होने पर भी जब तक उसका तथाविध रूप बुद्धि को स्वीकार नहीं होता और आरूप मात्र के ग्रहण से विशिष्ट रूप में ग्रहण के अभाव के कारण बुद्धि में सन्निविष्ट नहीं होता, तब तक अनुपलब्ध स्फोटरूप से कोई भी व्यवहार नहीं चल सकता ॥ ८१ ॥

अब उपर्युक्त दृष्टान्त को दार्ष्टान्तिक में घटाते हैं—

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥ ८२ ॥

तथा अनुपाख्येयैः ग्रहणानुगुणैः प्रत्ययैः (सह) ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपम् अवधार्यते ।

वैसे ही—'इदं तत्' = यह वैसा है, इस प्रकार स्फुट रूप में अव्यपदेश्य एवं स्फोटग्रहण के लिए उन्मुख प्रत्ययों—बुद्धियों के सहकार से, जो कि पूर्व-पूर्व ध्वनियों द्वारा अविकल स्फोट रूप शब्द के प्रकाश्यमान दशा में उत्पन्न होती हैं, स्फुट रूप में शब्द की अवधारणा होती है ।

वृत्तिः—व्यक्तरूपग्रहणानुगुणा अनुपाख्येयाकारा बहव उपायभूताः प्रत्यया ध्वनिभिः प्रकाश्यमाने शब्दे समुत्पद्यमानाः शब्दस्वरूपावग्रहहेतवो भवन्ति ॥ ८३ ॥

विवरण—स्फोटात्मक व्यक्त रूप के ग्रहण के अनुकूल एवं जिनका आकार 'इदं तत्' इस रूप में उपाख्येय नहीं है और जो ध्वनियों द्वारा शब्द की प्रकाश्यमान दशा में उत्पन्न होते हैं, ऐसे अनेक अन्तरालवर्ती उपायभूत प्रत्यय स्फोटात्मक शब्दस्वरूप के अवग्रह या स्फुट परिच्छेद के कारण बनते हैं । श्रीवृषभ ने कहा है—'तेन प्रत्ययाः तत्परिच्छेदहेतुरिति तथोक्ताः । न तु तत्परिच्छेदका एवेति ।'

मण्डनमिश्र की स्फोटसिद्धि में उद्धृत इस कारिका की व्याख्या गोपालिका में ऋषिपुत्र परमेश्वर ने अधोलिखित रूप में की है—

'यथैतत्तथा प्रत्ययैरनुपाख्येयैः पूर्वध्वनिजनितैरन्त्यध्वनिजन्यव्यक्तग्रहणानुगुणै स्वजन्यसंस्कारद्वारा करणभूतैः ध्वनिप्रकाशितेऽन्त्यध्वनिना प्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते स्वं रूपं स्वाभाविकं रूपमवधार्यते निश्चीयते ।'

श्लोक अथवा अनुवाक के सदृश अनुपाख्येय प्रत्ययों द्वारा, जो पूर्वध्वनिजनित हैं तथा अन्त्यध्वनिजन्य व्यक्त शब्द के ग्रहण के अनुकूल होते हैं एवं स्वजन्य संस्कार द्वारा करण बनते हैं, अन्त्य ध्वनि द्वारा शब्द के प्रकाशित होने पर स्फोटरूप शब्द का निश्चय होता है ॥ ८२ ॥

अवतरणिका—तत्र त्वयमाकारपरिग्रहक्रमः—

'स्वरूपमवधार्यते' इसी की व्याख्या करते हैं। जिस प्रकार स्फोट का रूप बुद्धि में आरूढ होता है, उस प्रक्रिया का अग्रिम कारिका में वर्णन करते हैं अर्थात् स्फोट के आकार का ग्रहण-क्रम प्रस्तुत है—

नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ॥ ८३ ॥

नादैः आहितबीजायाम् अन्त्येन ध्वनिना सह आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दः अवधार्यते।

नादों—ध्वनियों या वर्णों के द्वारा जिसमें बीज—शक्ति या संस्कारों का आधान किया गया है तथा अन्तिम ध्वनि के साथ जिसमें पूर्व-पूर्व ध्वनिबीजों का परिपाक-कार्यजनन-शक्तिविशेष का आवर्तन घटित हुआ है, ऐसी बुद्धि में स्फोटरूप शब्द की अवधारणा होती है।

वृत्तिः—नादैः शब्दात्मानमवद्योतयद्भिर्यथोत्तरोत्कर्षेणाधीयन्ते व्यक्तपरिच्छेदानुगुणसंस्कारभावनाबीजानि। ततश्चान्त्यो ध्वनिविशेषः परिच्छेदसंस्कारभावनाबीजवृत्तिलाभप्राप्तयोग्यतापरिपाकायां बुद्धावुपग्रहेण शब्दस्वरूपाकारं सन्निवेशयति ॥ ८३ ॥

विवरण—स्फोटरूप शब्दात्मा को द्योतित करने वाले नादात्मक वर्णों द्वारा, यथोत्तर उत्कर्षपूर्वक स्फोट के विशिष्टस्वरूपावधारण के अनुकूल संस्कारभावनात्मक बीजों का आधान किया जाता है। संस्कार पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर स्फोट के विशिष्टतर रूप के ग्राहक होते हैं। पहली ध्वनि से आरूपमात्र स्फोट का ग्रहण कराने वाले बीज का आधान होता है, पुनः उत्तरोत्तर विशिष्ट, विशिष्टतर और विशिष्टतम रूप ग्रहण कराने वाले बीज का आधान होता है।

'प्रथमेन भावेनाभिव्यक्ते स्फोट आरूपमात्रग्रहणेन बीजाधानम्। तत उत्तरोत्तरेण विशिष्टतररूपग्रहणबीजाधानम्।' —श्रीवृषभ

वस्तुतः शक्तियों का ही आधान होता है और वे संस्कार आदि शब्दों से कही जाती हैं। शक्तियाँ चित्त का संस्कार करती हैं और विशिष्ट का उत्पादन करती है, अतः संस्कार शब्द वाच्य हैं। तद्रूप का भावन ही भावना है, क्योंकि वे चेतस् को तयाकाररूप से भावित करती हैं। विशिष्ट, उत्तर बुद्धि के जनक होने से उन्हें बीज कहा जाता है।

'शक्तय एवाधीयन्ते। तास्तु संस्कारादिशब्दैरुच्यन्ते। तथाहि—शक्तयः चेतः संस्कुर्वन्ति विशिष्टं जनयन्तीति संस्कारशब्दोक्ताः। तद्रूपभावनं च भावना। यतश्चेतनेना(चेतस्तेना)कारेण भावयन्ति। विशिष्टोत्तरबुद्धिजनकत्वेन बीजानि, तेन संस्कारश्चासौ भावना च बीजं चेति समानाधिकरणसमासः।' —श्रीवृषभ।

तदनन्तर अन्तिम विशिष्ट ध्वनि, स्फोट के स्फुट परिच्छेद के उपायभूत संस्कार-भावनाबीजों के कार्योन्मुखतारूप वृत्तिलाभ द्वारा जिसमें स्फोटपरिच्छेदसामर्थ्यात्मक योग्यता रूप परिपाक घटित हुआ है, ऐसी बुद्धि में उपग्रह (प्रतिबिम्बन) द्वारा शब्दस्वरूप के आकार को सन्निविष्ट कर देती है।

भगवान् शङ्कराचार्य ने (ब्रह्मसूत्र, देवताधिकरण, सूत्र २८) के भाष्य में इसी कारिका का अनुवाद करते हुए पूर्वपक्षरूप में कहा है—

'तस्मात् स्फोट एव शब्दः। स चैकैकवर्णप्रत्ययाहितसंस्कारबीजेऽन्त्यवर्णप्रत्यय-जनितपरिपाके प्रत्ययिन्येकप्रत्ययविषयतया झटिति प्रत्यवभासते। न चायमेकप्रत्ययो वर्णविषया स्मृतिः। वर्णानामनेकत्वादेकप्रत्ययविषयत्वानुपपत्तेः। तस्य च प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमानत्वान्नित्यत्वम्। भेदप्रत्ययस्य वर्णविषयत्वात्। तस्मान्नित्याच्छब्दात् स्फोटरूपादभिधायकात् क्रियाकारकफललक्षणं जगदभिधेयभूतं प्रभवतीति।'

स्फोटसिद्धि (मण्डनमिश्रकृत) की गोपालिका टीका में प्रस्तुत कारिका की अधोलिखित व्याख्या की गई है—

'एतदेव विवृणोति—नादैर्ध्वनिभिराहितबीजायाम् आहितं भावनाबीजं यस्यां सा तथोक्ता। आवृत्तपरिपाकायामिति। आवृत्तोऽभ्यस्तः परिपाको यस्याः सा तथोक्ता। प्रथमेन ध्वनिना किञ्चिद् भावनाबीजमाहितं तेन च कश्चित्परिपाकः कार्यजननशक्ति-विशेषः। एवं द्वितीयेनेति। यद्यपि परिपाका भिन्नाः, तथापि जातिमाश्रित्यावृत्तवाचो-युक्तिरष्टकृत्वो ब्राह्मणा भुक्तवन्त इतिवत्। आवृत्तेत्यस्यान्या व्याख्या—आवृत्तोऽव-धारणविघ्नभूतस्य रागादिकषायस्य परिपाकः परिपाचनं यस्यामिति। आवृत्तेन वावृत्त्या कषायपरिपाको यस्यामिति। क्वचित् त्वावृत्तीति पाठः। बुद्धावन्तःकरणे शब्दो-ऽवधार्यतेऽन्त्येन ध्वनिना सह; यदान्त्यो ध्वनिरवधार्यते, तदा 'गौः' इत्येवं शब्दोऽप्य-वधार्यत इत्यर्थः। अवधारणापरपर्यायं ज्ञानमपि बुद्ध्याख्यान्तःकरणाधिकरणमिति सांख्या मन्यन्ते।

अथवा अन्त्येन ध्वनिना सह पूर्वनादैराहितबीजायां बुद्धौ पश्चिमध्वन्यनन्तरं शब्दोऽवधार्यते 'गौः' इत्येकं पदम्—इति यदवधारणं समस्तवर्णविषयं स्मरणमित्या-चक्षते। परमार्थतस्तु प्रत्यक्षज्ञानमेवैतत्, ध्वनिसंस्कृतश्रोत्रेन्द्रियजनितत्त्वात्, नह्यन्यथा स्फुटप्रकाश उपपद्यत इत्यत्राप्यनुसन्धातव्यम्।

अभिनवगुप्तकृत ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी (द्वि० भाग पृष्ठ १८८) में 'नादेनाहितबीजानाम्–' ऐसा पाठ है। प्रमेयकमलमार्तण्ड पृष्ठ ४५६ में—

'नादेनाहितबीजायामन्ये(न्त्ये)न ध्वनिना सह।
आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवभासते॥'

ऐसा पाठ उपलब्ध होता है॥ ८३॥

यदि (प्रत्येक) ध्वनिभाग सम्पूर्ण शब्द को अभिव्यक्त करता है तो बीच में असमस्त शब्दों (वर्णों में अवयव, पदों में वर्ण और वाक्यों में पद) का ग्रहण क्यों होता है?—श्रीवृषभ की अवतरणिका।

चौखम्बा संस्करण की संक्षिप्त वृत्ति की अवतरणिका—'नन्वान्तरस्य स्फोटस्याखण्डतया मध्ये मध्ये वर्णपदावभासोऽसङ्गतः स्यादत आह।'

आन्तर स्फोट के अखण्ड होने के कारण बीच-बीच में वर्ण और पद का अवभास असङ्गत होगा; इस पर कहते हैं—

असतश्चान्तराले याञ्छब्दानस्तीति मन्यते।
प्रतिपत्तुरशक्तिः सा, ग्रहणोपाय एव सः॥ ८४॥

अन्तराले असतः यान् शब्दान् अस्ति इति मन्यते सा प्रतिपत्तुः अशक्तिः, सः ग्रहणोपाय एव।

स्पष्टशब्द-ग्रहण के पूर्व बीच-बीच में वर्ण, पद और वाक्य में अविद्यमान वर्णावयव, वर्ण और पदरूप जिन शब्दों की पृथक्-पृथक् सत्ता है, ऐसा जो मानता है, वह प्रतिपत्ता या श्रोता का असामर्थ्य है। उन ध्वनियों से अभिव्यक्त अक्रम स्फोट की, ध्वनि-व्यतिरिक्त रूप में अवधारण की अक्षमता के कारण उन्हें (श्रोताओं को) अन्तराल में अंशतः शब्दग्रहण का अभिमान मात्र होता है।

वृत्तिः—इह निर्भागेष्वपूर्वापरेष्वभेद्येषु वर्णपदवाक्येषु ध्वनिनाभिव्यज्यमानेषु वर्णे तावद्वर्णावयवग्रहणसरूपा भागाभिनिवेशिन्य इव बुद्धय उपजायन्ते, पदे वर्णग्रहणसरूपाः, वाक्ये पदग्रहणसरूपाः। ताभिश्च बुद्धिभिरुपलब्धारो भागभूतानसतः शब्दानस्तित्वेनाभिमन्यन्ते। सा खलु परप्रदर्शितविषयग्राहिणामशक्तिः प्रतिपत्तॄणाम्। तथाभूतोपायक्रमवर्णान्तिरसाध्यमेव हि तेषां शब्ददर्शनम्। निष्क्रमं तु दाशतयमप्युपायान्तरेण प्रतिपद्यन्ते प्रतिपादयन्ति च॥ ८४॥

विवरण—'शब्दान् अस्ति इति मन्यते' में प्रयुक्त अस्ति शब्द पर श्रीवृषभ का कथन है—'अस्ति' यह क्रिया शब्दकर्तृक है, अतः यहाँ बहुवचन होना चाहिए था। यदि 'अस्ति' को निपात माना जाय तो निपात भी 'अस्ति, स्तः, सन्ति' ये तीन हैं और विशिष्ट संख्या से ही सम्बद्ध हैं, अतः यह भी कहना ठीक नहीं। वस्तुतः शब्द में मनन का 'अस्ति' द्वारा आरोप किया जाता है। वे शब्द मनन के समुदायरूप में कर्म हैं अथवा अवयव रूप में—इस प्रकार के निरूपण के अवसर पर 'अस्ति' इस एकवचन की श्रुति से 'प्रत्येक शब्द की सत्ता है' ऐसा व्यञ्जनया बोध होता है।

यहाँ भागरहित, पूर्वापरभावहीन तथा अभेद्य वर्ण, पद और वाक्य में जो ध्वनि से अभिव्यक्त किये जा रहे हैं, वर्ण में वर्णावयवग्रहण के समानरूप वाले भागों में अभिनिवेश रखने वाली बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। वस्तुतः भागों में अभिनिवेश असत्य है, इसलिए यहाँ 'इव' शब्द का प्रयोग किया गया है। यद्यपि वर्ण में वर्णभाग कोई हैं नहीं, जिनसे समानरूपता हो, तो भी न होते हुए भी भाग के समान दिखलाई देते हैं और इन्हीं भागों से व्याकरणतन्त्र (शास्त्र) का व्यवहार चलता है।

इसी प्रकार पद में वर्णग्रहण के समानरूप वाली तथा वाक्य में पदग्रहण के समानरूप वाली बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। उन्हीं बुद्धियों से श्रोता लोग, भागभूत असत्य शब्दों के अस्तित्व का अभिमान करने लगते हैं और वह अभिमति पर अर्थात् व्यञ्जक ध्वनियों द्वारा उपदर्शित विषय को ग्रहण करने वाले श्रोताओं की अशक्ति मात्र है। उन लोगों का शब्ददर्शन पूर्वोक्त उपाय अर्थात् व्यञ्जक ध्वनियों के क्रम और असत्वर्णभागरूप वर्णान्तर से साध्य है।

जो लोग अभिव्यञ्जक ध्वनियों द्वारा क्रमशः उच्चारण के बिना ही आर्ष ज्ञानरूप उपायान्तर से दाशतय[1] अर्थात् चतुःषष्टि अध्यायात्मक ऋग्वेद को निष्क्रम रूप में जान लेते हैं और आराधित होकर दूसरों को भी बतला देते हैं, उनका शब्ददर्शन निष्क्रम होता है। 'स्फोटसिद्धि' में प्रस्तुत कारिका का अधोलिखित पाठ उपलब्ध होता है—

'असतश्चान्तराले यः शब्दो नास्तीति मन्यते। 'यः शब्दः' के स्थान पर 'यच्छाब्दम्' ऐसा पाठ भी मिलता है; यह बात गोपालिका टीका में कही गई है। उपर्युक्त कारिका की गोपालिका व्याख्या—

"असतश्चेति। अन्तराल इति। विवक्षाया 'गौरित्येकं पदमि'ति ज्ञानस्य च मध्य इत्यर्थः। यच्छाब्दमिति पाठः। परमार्थतोऽसतो गकारादेरन्तराले शाब्दं परमार्थशब्दविषयं ज्ञानमुदीयमानं नास्तीति लौकिकः प्रतिपत्ता मन्यत इति यद् वर्णग्रहणं च यदभिमन्यते सा प्रतिपत्तुरशक्तिरेव ऋषिवत्साक्षात्कर्तुमशक्तिरेव अशक्तिकृतमित्यर्थः। कार्ये कारणोपचारः। तथापि कथं नियमः ? अत आह—ग्रहणोपाय एव स इति। निरवयवविषयं ज्ञानं नास्ति गकाराद्येव प्रतीयत इति योऽभिमानः, स तत्त्वग्रहणाभ्युपाय एव; नानुपायः। स एव वा तत्त्वग्रहणोपाय इति। क्वचित् पाठः—'यः शब्द' इति—यः प्रतिपत्ता, असतोऽन्तराले गकारादिषु प्रतीयमानेषु तदतिरिक्तः शब्दो नास्तीति मन्यते, तस्य प्रतिपत्तुरशक्तिः सेति पूर्ववत् यच्छब्दाभावेऽपि पूर्वोक्तं नास्तीति मननं तच्छब्दाभ्यामुच्यते। अन्यः पाठो—यान् शब्दानस्तीति।

एनं पाठमधिकृत्यान्तरालस्य विवक्षेत्यादिका पूर्वव्याख्या। विवक्षातः प्रभृति एकपदज्ञानात् प्रागन्तराले यानसतः शब्दानस्तीति प्रतिपत्ता मन्यते। उद्देश्यैः शब्दैरस्तीति मननस्य प्रत्येकसम्बन्धादस्तीत्येकवचनप्रयोगः। अस्तिक्षीरासमासवदस्तीत्यव्ययं वा तेन सन्त इत्यर्थः। प्रतिपत्तुरशक्तिः सेति। यान् शब्दानित्युक्तानां तु सेति तच्छब्देन परामर्शः। अशक्तिरिति विशेष्यद्वारा लिङ्गवचनव्यत्यासः। एवं ग्रहणोपाय एव स इत्यत्रापि द्रष्टव्यम्" ॥ ८४ ॥

स्फोट के एक होने पर वर्ण, पद और वाक्यभेद क्यों ? इस पर कहते हैं—

भेदानुकारो ज्ञानस्य वाचश्चोपप्लवो ध्रुवः।
क्रमोपसृष्टरूपा वाग् ज्ञानं ज्ञेयव्यपाश्रयम् ॥ ८५ ॥

---

१. द्रष्टव्य—काण्ड १ कारिका ५१ की वृत्ति का विवरण।

ज्ञानस्य वाचः च भेदानुकारः ध्रुवः उपप्लवः। (यतः) वाक् क्रमोपसृष्टरूपा, ज्ञानं ज्ञेयव्यपाश्रयम्।

जैसे एक अखण्ड ज्ञान में घट-पटादि आकारभेद का अनुकरण या ज्ञेयगत आकार-भेद की ज्ञान में कल्पना या आरोप निश्चय ही ज्ञान का उपप्लव—उपसर्ग या उत्पात है, वैसे ही अखण्ड अक्रम स्फोटरूप वाक् में वर्ण-पदादिरूप क्रमात्मक भेदानुगम उपप्लव है। किन्तु जैसे अभिन्न ज्ञान लोक में ज्ञेय पदार्थ का आश्रय लेकर ही व्यवहार योग्य बनता है, वैसे ही वाक् तत्त्व भी व्यञ्जक ध्वनिरूप क्रम से संसृष्ट होकर ही शास्त्र तथा लोक में व्यवहार्य होता है॥ ८५॥

वृत्तिः—अभिन्नमपि ज्ञानमरूपं सर्वज्ञेयरूपोपग्राहित्वाद् भेदरूपतया प्रत्यवभासते—पञ्च वृक्षा, विंशतिर्गाव इति। संहृतसर्वबीजश्चायमान्तरः शब्दात्मा व्यञ्जकध्वनिभेदक्रमानुकारेणाविर्भावकाले प्रत्यवभासते। तेन चान्यभेदरूपोपग्रहेणोपप्लुतं शब्दतत्त्वमेवेदं वाङ्मनसाख्यमविभागमन्यथा प्रतीयत इति। एवं ह्याह—

ज्ञेयेन न विना ज्ञानं व्यवहारेऽवतिष्ठते।
नालब्धक्रमया वाचा कश्चिदर्थोऽभिधीयते॥ ८५॥

विवरण—ज्ञान[1] एक होने से अभिन्न एवं अरूप (निराकार) होता है, तथापि सम्पूर्ण घट-पटादि ज्ञेयों का उपग्राही होने से भेदरूप में प्रतिभासित होता हैं; जैसे—पाँच वृक्ष, बीस गायें। श्रीवृषभाचार्य कहते हैं—

परस्पर भिन्न आकार वाले पाँच वृक्ष एक बुद्धि द्वारा परिच्छिन्न या सीमित किये जाते हैं और जब भिन्नाकार वस्तुएँ एकविषयात्मक बुद्धि को नहीं प्राप्त होतीं, तब पाँच भिन्न बुद्धियाँ हो जाती है। उस दशा में समुच्चित (प्रचित), वस्तु के प्रत्यवमर्श का अभाव रहता है। और जब एकबुद्धि वृक्षों को एकरूप में ग्रहण करती है, उस समय वनादि अविभाग की प्रतिपत्ति होती है। अतः बुद्धि अभिन्न होने पर भी विषयों के भेद का अनुकरण करती हुई स्वयं भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है—

---

१. प्रस्तुत कारिका की गोपालिकान्त. व्याख्या—"तत्र ज्ञाने तावदाकारभेदानुकारो ज्ञेयगतस्याकारभेदस्य ज्ञानेऽपि कल्पना वासनागतस्य वा नीलपीतादिरूपभेदस्य ज्ञानेऽध्यारोपः। एवं भेदकल्पकोऽनुकारो भेदानुकार इ... व्याख्यातम्। भेदकर्तृको वा भेदानुकारः। यथा किलाकारभेदो ज्ञेयस्थतया वासनास्थतया वा प्रतिभासते तथा ज्ञानधर्मतयापि भासते, इत्यस्ति भेदस्यानुकर्तृत्वम्, वाचि पुनर्ध्वनिभेदानुकारः। स च पूर्ववद् द्विधा व्याख्येयः। क्वचित्पाठः 'वेद्यानुकार' इति ज्ञानं हि वेद्य..नुकरोति 'गौः' इति ज्ञानम् 'गौः' इत्यर्थः। तथा वाच्यपि वेद्यानुकारोऽन्येषां वेद्यानां ध्वनीनां वर्णानां वा निरवयवे शब्दानुकार इति। कुतः? इत्याह—'क्रमोपसृष्टरूपा वाग् ज्ञा.. ' इति। भागक्रमेणोपसृष्टमुपप्लुतं रूपं यस्याः सा तथोक्ता। ज्ञानं च किञ्चन ज्ञेयं व्यपा.. '..यै-वोत्पद्यते।"
—गोपालिका

'परस्परतो भिन्नाकाराः पञ्च वृक्षा एकया बुद्धया परिच्छिद्यन्ते । यदा न (एक) विषयरूपबुद्धिर्वस्तुनः प्रतिपद्यन्ते तदा पञ्च बुद्धयः । ततश्च प्रचितवस्तुप्रत्यवमर्शाभावः । अथैकबुद्धिस्तानेकतया गृह्णाति वनादिविभागाप्रतिपत्तिः (वनादिविभागाः प्रतिपद्यन्ते ? अथवा—वनाद्यविभागप्रतिपत्तिः ?) । अतो बुद्धिरभिन्नापि विषयभेदमनुकरोति ।'

—पद्धति ।

यहाँ 'वनाद्यविभागप्रतिपत्तिः' इस पाठ की कल्पना, जो मेरे द्वारा की गई है, अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है । इस प्रकार पुनरुक्तिदोष नहीं होगा । 'प्रचितवस्तुप्रत्यवमर्शाभावः' और 'वनादिविभागाप्रतिपत्तिः' यह एक ही बात है :

और यह आन्तर शब्दात्मा अर्थात् स्फोट, जहाँ समग्र वाग्विकारों के बीज उपसंहृत होकर स्थित रहते हैं, आविर्भाव या अभिव्यक्ति काल में व्यञ्जक ध्वनि के भेद और क्रम का अनुकरण करते हुए भासित होता है । इससे यह स्पष्ट है कि अन्य अर्थात् विषयों के भेदात्मक रूपों के ग्रहण से उपप्लुत या उपद्रुत होकर यह शब्दतत्त्व ही, जो कि अविभक्त है, वाक् और मन के नाम से प्रविभक्त होकर अन्यथा प्रतीत होता है । ध्वनि से उपप्लुत होकर वह 'वाक्' कहलाता है और विषय से उपप्लुत होकर मन के नाम से कहा जाता है । श्रीवृषभाचार्य ने 'शब्दतत्त्वमिति सर्वबीजां बुद्धिमाह ।'

इस सन्दर्भ द्वारा सर्ववीजात्मक बुद्धि को शब्दतत्त्व कहा है । वस्तुतः इनका तात्पर्य बुद्धिस्थ अक्रम शब्द से है अथवा ज्ञान से, जो अखण्ड शब्दरूप ही होता है । इसी से स्थूल शब्द की उत्पत्ति होती है, जैसा कि आगे चलकर 'वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते' इस कारिका की वृत्ति में कहा गया है—

'ज्ञानस्य खल्वपि शब्दत्वापत्तिमपरे वर्णयन्ति ।'

[1]'अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मे वागात्मनि स्थितः ।'

इस पर श्रीवृषभ ने कहा है—

"ज्ञानात्मकेऽपि तस्मिन् ग्रहीतृव्यवहारोऽस्ति । यथा—'शब्दतत्त्वमेवेदं वाङ्मनसाख्यप्रविभागम्' इति । तेन ज्ञातर्यपि वाग्रूपानुषङ्गः । सूक्ष्मे इति । भेदरूपोपसंहारादतीन्द्रिये । स्थितः इति । सारूप्यानुषक्ते ज्ञानात्मनि स्थितो वाचि स्थित इत्युक्तः ।"

—पद्धति, कारि० १०७ ।

प्रस्तुत कारिका की वृत्ति में पाठ है—

'वाङ्मनसाख्यमविभागम्' और एक सौ सातवीं कारिका की वृत्ति-व्याख्या में उपर्युक्त अर्थात् 'वाङ्मनसाख्यप्रविभागम्' पाठ है । उपर्युक्त 'पद्धति' का पाठ ही समुचित प्रतीत होता है ।

---

१. इस उद्धरण का पाठान्तर भी मिलता है—'अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मनि स्थितम् ।'

अनादिनिधन कारिका में ब्रह्म को ही शब्दतत्त्व के नाम से कहा गया है। यहाँ शब्द तत्त्व स्फोट-निरूपण के प्रसङ्ग में ही गृहीत है, अतः यह आन्तर शब्दात्मा तो है ही, इसे स्फोट भी होना चाहिए। इसमें मण्डनमिश्र की स्फोटसिद्धि भी प्रमाण है। यथा—

'उपायत्वाच्च नियमः परदर्शितदर्शिनाम्।
ज्ञानस्येव च वाचोऽयं लोके ध्रुव उपप्लवः॥ २१॥

निमित्तमेवेदमीदृशं शब्दतत्त्वोपलब्धेर्यद् विपर्यासयदेव शब्दमुपलम्भयतीति।'

पर अर्थात् ऋषियों द्वारा दिखलाये मार्ग को देखने वाले सामान्य लोगों के लिए शब्दबोध में विपर्यास ही उपाय है और यह विपर्यासात्मक उपायरूप उपप्लव लोक में ज्ञान के समान वाणी का भी नियत है।

शब्दतत्त्व की उपलब्धि में ध्वनियाँ ही निमित्त हैं और ये क्रम भाग तथा संसर्ग रूप विपर्यास द्वारा ही शब्दबोध कराती हैं। यहाँ शब्दतत्त्व की उपलब्धि और स्फोट की उपलब्धि एक ही बात है।

वृत्तिकार पूर्वोक्त कथन में प्रमाण रूप सम्भवतः संग्रह नामक ग्रन्थ का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। जैसा कि कहा है—

घट-पटादि ज्ञेयरूप के उपरञ्जन विना शुद्ध निराकार ज्ञान से व्यवहार नहीं बनता। इसी प्रकार क्रमहीन वाक् के द्वारा किसी अर्थ का बोध नहीं कराया जा सकता॥ ८५॥

शब्द-प्रतिपत्ति का उपाय अत्यन्त विलक्षण क्यों है? इस आशङ्का पर दृष्टान्त द्वारा 'ग्रहणोपाय एव सः' इसे स्पष्ट करते हैं—

यथाद्यसङ्ख्याग्रहणमुपायः प्रतिपत्तये।
सङ्ख्यान्तराणां भेदेऽपि तथा शब्दान्तरश्रुतिः॥ ८६॥

यथा सङ्ख्यान्तराणां भेदे अपि आद्यसङ्ख्याग्रहणं प्रतिपत्तये उपायः, तथा शब्दान्तरश्रुतिः।

जैसे शत, सहस्र आदि संख्याओं का एकत्वादि से भेद होने पर भी आद्य अर्थात् एकत्व आदि संख्याओं का ग्रहण शतादि संख्याओं के ग्रहण में उपाय है, वैसे ही वर्ण, पद और वाक्य स्फोट में क्रमशः वर्णावयव, वर्ण और पदरूप शब्दान्तर श्रुति भी उपाय है।

वृत्तिः—यथा शतसंख्यां सहस्रसंख्यां वा भेदिकामाश्रयस्य प्रतिपित्समानस्तदुपायभूतानेकत्वादीन् भिन्नकार्यान् शतादीनामवयवानिव प्रतिपद्यते, तथा देवदत्तादिशब्दान्तरश्रुतिपरिच्छेदोपाया वाक्यरूपप्रतिपत्तिरिति नान्तरीयकं तासामुपादानम्।

विवरण—जैसे शत या सहस्र संख्या को, जो अपने आश्रयरूप द्रव्य की भेदिका है, उपलब्ध करने की इच्छावाला व्यक्ति स्वानुरूप अभिधान और प्रत्यय या बोधरूप

भिन्न कार्यवाली एकत्व आदि संख्याओं को, जो पूर्वोक्त संख्या की उपायभूत हैं, शतादि के अवयव के समान जानता है; वैसे ही 'देवदत्त गाय लाओ' इस वाक्य में वाक्य-विलक्षण देवदत्त आदि पद वाक्य के रूप की प्रतिपत्ति में उपायभूत हैं। अतः उन एकत्व आदि संख्याओं और शब्दान्तरश्रुतियों का ग्रहण अनिवार्य है।

संख्या अपने आश्रय की भेदिका होती है। श्रीवृषभ ने कहा है—भेदिका अर्थात् व्यवच्छेदिका। भेद[1] और अपोद्धार से विलक्षण होने के कारण संख्या अपने आश्रय को आश्रयान्तर से भिन्न करती है। जैसे एक घट, दो घट, चार घट आदि। एक घट में एकत्व संख्या रहती है और दो घटों में द्वित्व और चार घटों में चतुष्ट्व; इस प्रकार संख्या एक आश्रय को दूसरे आश्रय से भिन्न करती है। 'भिन्नकार्यान्' पर श्रीवृषभाचार्य ने कहा है—कार्यभेद से भी संख्याओं में विलक्षणता होती है। अर्थात् स्वानुरूपाभिधान और प्रत्यय, ये कार्य से भिन्न किये जाते हैं—'स्वानुरूपाभिधानप्रत्ययौ कार्यतश्च भिद्येते।' स्व से तात्पर्य है—आश्रय और तदनुरूप अभिधान अर्थात् नाम एक, दो आदि और प्रत्यय का अर्थ है—संख्यान या गणना। मण्डनमिश्र ने भी कहा है—

'सङ्ख्यायाः परिच्छेदरूपत्वात्'।

इस पर गोपालिका का कथन है—अपेक्षाबुद्ध्या यः परिच्छेदो जन्यते स एव सङ्ख्याभावे प्रत्ययः, सङ्ख्यानमित्यर्थः।'

अपेक्षा-बुद्धि द्वारा जो परिच्छेद या भेद उत्पन्न किया जाता है, वही संख्या की सत्ता का बोधक है और इसी का नाम संख्यान या गणना है।

श्रीवृषभाचार्य का कथन है कि उपर्युक्त दृष्टान्त वैशेषिक दर्शन का आश्रय लेकर प्रयुक्त है, क्योंकि वहाँ संख्याएँ परस्पर व्यावृत्त लक्षण या भेदात्मक मानी गई हैं।

'वैशेषिकदर्शनसमाश्रयेण चेह दृष्टान्तः, यतो व्यावृत्तलक्षणाः परस्परतः सङ्ख्या इति।'

अपेक्षाबुद्धि—'अयमेकः, अयमेकः' इस प्रकार अनेक द्रव्यों के समूह को विषय बनाकर उत्पन्न होने वाला ज्ञान अपेक्षाबुद्धि है। यह ज्ञान सजातीय अथवा विजातीय दो द्रव्यों का चक्षु के साथ सन्निकर्ष होने पर होता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि दो द्रव्यों के विजातीय होने पर भी उनमें द्वित्व आदि संख्या की उत्पत्ति उनके किसी साजात्य के आधार पर सम्भव होती है।

'अपेक्षाबुद्धिश्च नानैकत्वसमूहालम्बनरूपा सजातीययोर्विजातीययोर्वा द्रव्ययोश्चक्षुषा सन्निकर्षे।' —उपस्कार ४।१।११

'अनेकैकत्वबुद्धिर्या सापेक्षाबुद्धिरिष्यते—' —भाषापरिच्छेद

---

१. 'यदा बोद्धुश्चक्षुषा समानासमानजातीययोर्द्रव्ययोः सन्निकर्षे सति तत्संयुक्तसमवेतसमवेतैकत्वसामान्यज्ञानोत्पत्तौ एकत्वसामान्यतत्सम्बन्धतज्ज्ञानेभ्य एकत्वगुणयोरनेकविषयिण्येका बुद्धिरुत्पद्यते तदा तामपेक्ष्यैकत्वाभ्यां स्वाश्रययोर्द्वित्वमारभ्यते।' —प्रशस्तपादभाष्य

प्रस्तुत कारिका की व्याख्या मण्डनमिश्र की स्फोटसिद्धि की गोपालिका में इस प्रकार की गई है—

'यथा ह्याद्यानां सङ्ख्यानां ग्रहणं सङ्ख्यान्तराणां प्रतिपत्त्युपायो भवति भेदेऽपि परस्परं तेषां तथा शब्दान्तराणां गकारादीनां श्रुतिः श्रवणमेकस्य शब्दतत्त्वस्य प्रतिपत्तय उपायः परस्परं भेदेऽपीति' ॥ ८६ ॥

ध्वनियाँ शब्दतत्त्व की प्रतिपत्ति में उपाय भले हों, किन्तु वे अत्यन्त विलक्षण होती हुई अपने रूप को शब्द में सन्निविष्ट करके कैसे उसका बोध करा सकती हैं ? धूम अग्नि का प्रतिपादन करते हुए अग्नि को धूमरूपता प्रदान करके उसका बोध नहीं कराता; इस आशङ्का पर कहते हैं—

प्रत्येकं व्यञ्जका भिन्ना वर्णवाक्यपदेषु ये ।
तेषामत्यन्तभेदेऽपि सङ्कीर्णा इव शक्तयः ॥ ८७ ॥

वर्णवाक्यपदेषु व्यञ्जकाः प्रत्येकं ये भिन्नाः, तेषाम् अत्यन्तभेदे अपि शक्तयः सङ्कीर्णाः इव ।

वर्णों में वर्णावयवरूप, पदों में वर्णरूप तथा वाक्यों में पदरूप व्यञ्जक ध्वनियाँ भिन्न-भिन्न हैं। अत्यन्त भिन्न होने पर भी उनमें विद्यमान शक्तियाँ (वर्णावयव, वर्ण एवं पदरूप ध्वनियों के सामर्थ्य) भेद के अनवबोध के कारण एकरूप से लक्षित होती हैं।

वृत्तिः—वर्णपदवाक्यविषया हि विशिष्टाः प्रयत्नास्तत्प्रेरिताश्च वायवः स्थानान्यभिघ्नन्ति। स्थानाभिघातप्राप्तसंस्काराश्च ध्वनयो यद्यपि परस्परव्यावृत्तस्वभावास्तथापि गोगवयजात्युपव्यञ्जनवद् भ्रमणरेचनादिकर्मसामान्यविशेषाश्रयवच्च तेषामुपव्यञ्जनानां दुर्ज्ञानो भेदः। सामान्यमात्रया कयाचिदनुगतः प्रविभक्तकार्याणामपि शक्तीनामात्मा कुतश्चित्कार्यविशेषात् संस्कारेणैवावस्थितः। ततश्चायं निरवयवेषु वर्णेषु मात्राविभागाध्यवसायः, पदेषु च वर्णविभागाध्यवसायः, वाक्येषु च पदविभागाध्यवसाय इति।

विवरण—वर्ण, पद और वाक्य-विषयक प्रयत्न विशिष्ट अर्थात् भिन्न होते हैं। 'ग' 'गौः' और 'गौर्गच्छति' में गकार के उच्चारण के प्रयत्न भिन्न हैं, अतः गकारों में भी भेद हो जाता है। उन-उन विशिष्ट प्रयत्नों से प्रेरित वायु भी भिन्न हो जाती है। यह वायु नियत स्थानों में आघात करती है। किन्तु विशिष्ट स्थानाभिघात रूप कार्य से वायु में भी भेद हो जाता है। स्थान के अभिघात से संस्कृत ध्वनियाँ यद्यपि कार्य और कारण भेद से परस्पर पृथक् स्वभाव वाली होती हैं, तो भी गो और गवय जाति-सादृश्य के उपव्यञ्जन (व्यञ्जक) अत्यन्त भिन्न पिण्डावयवों के समान अथवा भ्रमण और रेचनादिरूप क्रियागत भ्रमणत्व और रेचनत्वादिरूप जाति-विशेष के

आश्रय के समान (पिण्डावयवों और क्रिया के क्षणों के समान) उन-उन उपव्यञ्जन ध्वनियों में भेद की प्रतीति नहीं होती ।

ध्वनियों में कारणभेद और कार्यभेद, यह दो प्रकार का भेद होता है । कारण-भेद—"मैं 'ग' का उच्चारण कर रहा हूँ" यहाँ व्यञ्जक प्रयत्न भिन्न है; "मैं 'गो शब्द' का उच्चारण कर रहा हूँ" यहाँ का प्रयत्न उससे भिन्न है और 'गामम्याज' इस वाक्य में उच्चरित गकार का प्रयत्न अत्यन्त भिन्न है । यद्यपि गकार एक ही है, किन्तु प्रयत्न रूप कारण के भेद से 'ग' इस ध्वनि में अत्यन्त भेद हो जाता है ।

भिन्न-भिन्न प्रयत्नों ने प्रेरित वायु में जो भेद होता है, वह कार्यभेद है। विशिष्ट स्थानाभिघातरूप कार्य से वायु में भेद घटित होता है । यही वायुरूप कार्य-भेद है ।

भेद में अभेद प्रतीति कैसे होती है ? इस सम्बन्ध में दो दृष्टान्त प्रस्तुत किये गये हैं । एक—गो और गवय (नील गाय) जाति सादृश्य । गो और गवय के उपव्यञ्जक पिण्डावयवों अथवा संस्थान अर्थात् सम्पूर्ण आकृति के संयोग और विभागों में अत्यन्त भेद होने पर भी उनके अनुगम दशा में भेद-प्रतीति नहीं होती, इसलिए सदृश प्रत्यय होता है । गो और गवय इन दोनों के शरीर में अनेक अवयव होते हैं, अतः उनमें अवयव सादृश्य या अनुषङ्ग सम्भव हो सकता है, अतः दूसरा दृष्टान्त देते हैं । जैसे—भ्रमण और रेचन दोनों कर्म हैं और वह कर्म ही जाति[1] विशेष का आश्रय है, अतएव भ्रमण और रेचन यह पृथक्-पृथक् व्यपदेश होता है । भ्रमण और रेचन के क्षणों में भिन्न-भिन्न जाति से अन्वित होने पर भी भेद दुर्ज्ञान ही रहता है ।

दुर्ज्ञान में हेतु का निरूपण करते हुए शक्तियों की सङ्कीर्णता का निरूपण करते हैं—

सदृशज्ञानहेतुक किसी वस्तुभूत सामान्य मात्रा या कल्पना से अभेद रूप में अनुगत, ध्वनि शक्तियों का आत्मा या स्वरूप, वर्णजन्य अभिव्यक्ति रूप कार्य से प्रविभक्त होने पर भी सादृश्यमूलक अभेदप्रत्ययरूप किसी कार्य-विशेष से संकर या घुले-मिले रूप में स्थित रहता है ।

तात्पर्य यह है—'गौः' इस पद की अभिव्यञ्जक ध्वनि में श्रुतिसामान्यमूलक सादृश्य कल्पना द्वारा, गकारस्फोटव्यञ्जक ध्वनि की सम्भावना करके गोपदस्फोट की अभिव्यक्ति में गकार को व्यज्यमान रूप में देखते हैं; अतः गकारादि वर्णरूप से अवि-

---

१. 'द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च ।'

—वैशेषिक दर्शन, आह्निक २ सू० ५

ये सामान्य हैं और विशेष भी, अतः ऊपर कर्म को जाति-विशेष का आश्रय कहा गया है ।

भक्त गोपदस्फोट का निश्चय लोग कर लेते हैं। इसी प्रकार 'गामभ्याज' इस वाक्य की व्यञ्जक ध्वनि में गोपदस्फोटव्यञ्जक ध्वनि शक्ति का आरोप करके वहाँ वाक्यावयव रूप में पद का निश्चय किया जाता है।

इस प्रकार अवयव रहित वर्णों में मात्रा या अवयवरूप विभाग का निश्चय, पदों में वर्णविभाग का निश्चय और वाक्यों में पदविभाग का निश्चय किया जाता है। श्रीवृषभाचार्य ने मात्राविभाग पर कहा है—'ह्रस्वाद्यवसायः'=ह्रस्वादि मात्राओं का निश्चय। यह अर्थ चिन्त्य है, क्योंकि यहाँ निरवयव में अवयव की कल्पना की बात कही गई है। वस्तुतः शक्तियों का साङ्कर्य यही है कि लोग पदव्यञ्जक शक्ति को वर्णव्यञ्जिका भी मान लेते हैं। और इस कल्पना के कारण वर्णव्यञ्जक ही संहृत होकर पदव्यञ्जक होते हैं तथा पदव्यञ्जक संहृत होकर वाक्यव्यञ्जक होते हैं, ऐसी विपरीत कल्पना लोग कर लेते हैं॥ ८७॥

जो[1] जैसा नहीं है, वह उस प्रकार का भासित होता है—यह निर्णय कैसे हो? गत दृष्टान्तों में भी यह बात विचारणीय ही ठहरती है, अतः प्रस्तुत कारिका में अत्यन्त प्रसिद्ध निदर्शन (दृष्टान्त) उपस्थित करते हैं—

यथैव दर्शनैः पूर्वैर्दूरात् सन्तमसेऽपि वा।
अन्यथाकृत्य विषयमन्यथैवाध्यवस्यति॥ ८८॥

यथा एव दूरात् सन्तमसे अपि वा पूर्वैः दर्शनैः विषयम् अन्यथाकृत्य, अन्यथा एव अध्यवस्यति।

जैसे दूर से अथवा अन्धकार में व्यक्ति प्राथमिक दृष्टियों से वृक्ष अथवा रज्जु आदि विषय को हाथी अथवा सर्प के रूप में अन्यथा ग्रहण करके पश्चात् निकटस्थ होने पर अथवा सावधानी के साथ देखने पर वृक्ष अथवा रज्जु के रूप में पहले से पृथक् सत्य निर्णय करता है।

वृत्तिः—यथा विषयेन्द्रियधर्म एवायं प्राकृतचक्षुषां दूरादाकृतिमात्रोपलब्धौ वृक्षादीन् हस्त्यादिवत् प्रतिपद्यन्ते। तद्देशावस्थिता एव प्रणिधानाभ्यासात् क्रमेण पुनर्यथावयवमुपलभन्ते। व्यक्तालोकाच्च देशात् सहसा मन्दसन्निविष्टप्रकाशान् अपवरकादीन् प्रविश्य रज्ज्वादीन् सर्पादिवत् प्रतिपद्य तथैव प्रणिधानाभ्यासाच्चक्षुषि प्रकृतिस्थे यथावदुपलभन्ते॥ ८८॥

विवरण—प्रकृतिजन्य दृष्टि वाले (दिव्यदृष्टिहीन) सामान्य जनों का जैसे यह विषय और इन्द्रिय धर्म ही है कि वे दूर से अवयवविभाग से रहित आकृति

---

१. वर्णस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट, पहली दृष्टि में क्रमशः वर्णावयवरूप, वर्णरूप एवं पदरूप ध्वनि-धर्मों एवं उनके क्रमों के रूप में गृहीत होते हैं, पश्चात् अपने यथावत् रूप में।

मात्र को ही उपलब्ध करते हैं; जैसे वृक्ष को हाथी इत्यादि के रूप में। पुनः उसी दूर-देश में स्थित होकर ही यत्नपूर्वक उस वस्तु-विशेष में चक्षु: इन्द्रिय को केन्द्रित करके (प्रणिधान द्वारा) बारम्बार निरीक्षण करते हुए क्रमशः उसे यथावयव वास्तविक रूप में उपलब्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त स्फुटप्रकाश वाले प्रदेश से सहसा मन्दप्रकाश-युक्त अपवरक या अन्तर्गृह आदि में प्रवेश करके लोग पहले रज्जु आदिक को सर्पादि के रूप में देखते हैं, पश्चात् पूर्वोक्त प्रणिधान के अभ्यास से नेत्रेन्द्रिय के प्रकृतिस्थ होने पर यथावत् रज्जु आदि को उपलब्ध करते हैं।

उपर्युक्त बात को मण्डनमिश्र ने स्फोटसिद्धि की कारिका १९ में इस प्रकार कहा है—

'आरूपालोचितेष्वस्ति ह्यन्यथात्वप्रकाशनम्।
तत्संस्कारक्रमाच्चापि व्यक्तं तत्त्वं प्रकाशते॥'

इसकी व्याख्या में उपर्युक्त सन्दर्भ को और स्पष्ट किया गया है॥ ८८॥

पूर्वोक्त दृष्टान्त को अब दार्ष्टान्तिक में घटाते हैं—

व्यज्यमाने तथा वाक्ये वाक्याभिव्यक्तिहेतुभिः।
भागावग्रहरूपेण पूर्वं बुद्धिः प्रवर्तते॥ ८९॥

तथा वाक्ये व्यज्यमाने वाक्याभिव्यक्तिहेतुभिः पूर्वं भागावग्रहरूपेण बुद्धि प्रवर्तते।

पूर्वोक्त दृष्टान्त के अनुसार वैसे ही भाग रहित एवं परमार्थतः वाचक, वाक्य-स्फोट की व्यञ्जना के अवसर पर वाक्य की अभिव्यक्ति के हेतुभूत विशिष्ट प्रयत्न-जनित ध्वनियों द्वारा पहले वर्ण-पद रूप भागग्रहणात्मिका बुद्धि प्रवृत्त होती है।

वृत्तिः—वाक्ये हि निर्भागे तदभिव्यक्तिविषयैः प्रयत्नविशेषैः समुत्थाप्य-माना ध्वनयः सत्यपि भेदे सामान्यशक्तिसमन्वयाद् वर्णपदप्रत्यवभासभागाव-ग्रहरूपां बुद्धिं प्रवर्तयन्ति।

विवरण—वाक्य के निर्भाग होने पर भी, उसको अभिव्यक्त करने वाले प्रयत्न-विशेषों से उत्थापित ध्वनियाँ भिन्न होने पर भी ध्वनिशक्तियों के सादृश्य से वर्ण-पद-प्रत्यवभासात्मक बुद्धि को प्रवर्तित करती हैं।

स्फोटसिद्धि की गोपालिका टीका में उपर्युक्त दोनों कारिकाएँ अधोलिखित रूप में व्याख्यात हैं—

'प्रथमं वृक्षरज्ज्वादिविषयं पूर्वदर्शनैरन्यथाकृत्य हस्त्यादिरूपेण गृहीत्वा, पश्चादारो-पितहस्त्यादिरूपादन्यथैव यः पारमार्थिक आकारस्तेन रूपेण व्यक्ततरमध्यवस्यति लौकिकः प्रतिपत्तेत्यर्थः। दार्ष्टान्तिके योजयति—व्यज्यमान इति। अभिव्यज्यमान

इत्यर्थः । तयेति पूर्वश्लोकगतेन यथाशब्देनानुसन्धातव्यम् । वाक्य इति । स्फोटात्मनि वाक्य इत्यर्थः । वाक्याभिव्यक्तिहेतुभिरिति । वाक्यस्य नित्यसतोऽनभिव्यक्तस्य याभिव्यक्तिः तस्या हेतुभिर्ध्वनिभिरभिव्यज्यमाने इत्यन्वयः । किं पुनस्तस्मिन् भवति । तदाह—भागावग्रहरूपेणेत्यादि । तस्मिन् वाक्ये भागविषयावग्रहरूपेण भागविपर्यासरूपतया पूर्वं—व्यक्तपरिच्छेदात्पूर्वं, बुद्धिः प्रवर्तते श्रोतॄणाम्, पश्चाच्च व्यक्तरूपेत्यर्थः ॥ ८९ ॥

यदि वाक्यस्फोट में असत्य वर्ण-पद रूप ध्वनिभागों की कल्पना की जाती है तो कल्पना के अनियत होने के कारण वाक्य में क्रम—ध्वनियों का क्रम या आनुपूर्वी और ध्वनिभागाख्य रूप कैसे नियत रूप में प्रतीत होते हैं ? क्योंकि दूरतरस्थ वृक्ष को कुछ लोग हाथी तथा अन्य लोग वल्मीक रूप में कल्पित करते हैं । वहाँ कोई क्रम तो नहीं प्रतीत होता ? अतः इस आशङ्का पर दूसरा दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं—

यथानुपूर्वीनियमो विकारे क्षीरबीजयोः ।
तथैव प्रतिपत्तॄणां नियतो बुद्धिषु क्रमः ॥ ९० ॥

यथा क्षीरवीजयोः विकारे आनुपूर्वीनियमः तथा एव प्रतिपत्तॄणां बुद्धिषु क्रमः नियतः ।

जैसे दूध और बीज के घृत और चावल रूप विकार में—दूध-दधि-मण्ड[1]-(दधि-जल) गोरस-तक्र-नवनीत-घृत तथा बीज-मूल-नाल-अंकुर-धान्यगुच्छ-तण्डुल—इस प्रकार आनुपूर्वी या क्रम का नियम देखा जाता है, वैसे ही श्रोताओं की बुद्धियों में भी 'गौः' इस पदस्फोट के ज्ञान के पूर्व गकार, औकार और विसर्ग का क्रम नियत रूप से प्रतीत होता है ।

वृत्तिः—यथा क्षीरमुत्पत्तिपक्षेऽभिव्यक्तिपक्षे वा सर्पिरादिविकारप्रयुक्तं नियतरूपैर्मण्डकादिभिरवस्थाविशेषैर्विशिष्टसंविज्ञानपदनिबन्धनैरसंविज्ञानपदैश्च युज्यमानं यथायथं प्रकृतिधर्मप्रत्यासत्तिमनुवर्तमानमन्यतमानुपूर्वीनियमानतिक्रमेण प्रयोजिकां विकारशक्तिं प्रदर्शयति ।

विवरण—चाहे उत्पत्तिपक्ष माना जाय अथवा अभिव्यक्तिपक्ष, दोनों मतों में जैसे दूध अपने प्रधान परिणाम घृत दशा की प्राप्ति के बीच नियत रूप वाले मण्डकादि अवस्था-विशेषों द्वारा युक्त होता है। इन द्रव्यात्मक अवस्थाओं में कुछ

---

१. चौखम्वा सं० की संक्षिप्त वृत्ति में मण्डक, निलीनक और उत्तरक, इन अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है, जो घृत का द्रव्यात्मक क्रमिक रूप नहीं है अपि तु उसकी निगूढ़ और प्रकाशित कालिकी दशा मात्र है। यह पाठ श्रीवृषभाचार्य की प्रस्तुत त्रुटित पद्धति से लिया गया होगा । यथा—

'मतकः·········न्निकमुत्तरकं सङ्घातध्वनि ।' संक्षिप्त वृत्तिकार को उपर्युक्त पाठ शुद्ध रूप में मिला होगा ।

के नाम या पद मण्डक आदि ज्ञात रहते हैं और कुछ सूक्ष्म दशाबोधक पद अज्ञात ही रह जाते हैं। फिर भी ये अवस्थाएँ अपनी निरन्तरता को नहीं छोड़तीं। इस प्रकार क्षीर यथानुरूप—अपनी प्रकृति के पूर्व धर्म का अनुवर्तन करते हुए अर्थात् सहसा अत्यन्त विलक्षण कार्य को न उत्पन्न करके स्वानुरूप अवस्था-विशेषों का अनुभव करते हुए उनमें से एक भी क्रम का उल्लङ्घन किये बिना अपनी प्रयोजिका घृतादि रूप विकारशक्ति का प्रदर्शन करता है।

वृत्तिः—शाल्यादिबीजं च तण्डुलादिप्रधानविकारप्रयुक्तं नान्तरीयकैर्नालाङ्कुरादिभिरवस्थाविशेषैर्युज्यमानं प्रयोजकेन प्रधानविकारधर्मेण प्रत्यवभासते।

विवरण—और शालि धान आदि का बीज, चावल आदि प्रधान परिणाम की प्राप्ति के लिए दोनों के अन्तराल में अवश्यम्भावी नाल तथा अंकुर आदि अवस्था-विशेषों से युक्त होकर प्रयोजकरूप प्रधान तण्डुलादि परिणाम धर्म के रूप में प्रतिभासित होता है।

वृत्तिः—तथैषामर्वाग्दर्शनानां प्रतिपत्तॄणां वाक्यस्वरूपग्रहणपूर्वकेण वाक्यार्थग्रहणेन प्रधानेन प्रयुक्तानां नियतोपाये साध्ये तस्मिन्नर्थे नियतक्रमपरिणामभागाकारप्रत्यवभासमात्रायुक्ता बुद्धयः प्रवर्तन्ते स्फोटेषु।

विवरण—वैसे ही अर्वाक्दर्शी–दिव्यदृष्टिरहित क्रमसंस्पर्शयुक्त वाणी से व्यवहार करने वाले श्रोतागण वाक्य के स्वरूपग्रहणपूर्वक प्रधानभूत वाक्यार्थ को ग्रहण करते हैं। और वर्ण तथा पदों की आनुपूर्वी-ग्रहणरूप नियत उपाय द्वारा साध्य वाक्यस्वरूप-ग्रहण के लिए श्रोताओं में पहले जिनका क्रम नियत है, ऐसे वर्णस्फोट और पदस्फोटात्मक भागों के कल्पित आकारों की मात्राओं या अवयवों से युक्त वाक्यस्फोट-विषयात्मक बुद्धियाँ प्रवृत्त होती हैं। अर्थात् 'वृक्ष' यह पद पहले वकार रूप में, पुनः ऋकार रूप में, तदनन्तर ककाररूप में, पश्चात् षकार रूप में परिणत होकर भासित होता है। अन्त में वाक्यग्रहणपूर्वक वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होती है॥ ९०॥

अब तक निर्भाग शब्दात्मा या अखण्डवाक्यस्फोट को दृष्टि में रखकर क्रम का विचार किया गया। प्रस्तुत कारिका में जो सभाग शब्दात्मवादी (मीमांसक ?) या अन्य वैयाकरण हैं, उन्हें भी ध्वनिक्रम स्वीकार करके ही नदी, दीन आदि में रूपभेद अपेक्षित होगा; इस बात का निरूपण किया गया है—

भागवत्स्वपि तेष्वेव रूपभेदो ध्वनेः क्रमात्।
निर्भागेष्वभ्युपायो वा भागभेदप्रकल्पनम्॥ ९१॥

भागवत्सु अपि तेषु ध्वनेः क्रमाद् एव रूपभेदः; वा निर्भागेषु भागभेदप्रकल्पनम् उपायः।

भागवादियों अथवा सखण्डस्फोटवादियों के मत में वर्णों, पदों एवं वाक्यों में ध्वनि के क्रम से ही 'गौ' 'गगन' 'गम्य' आदि में वर्णरूप भेद नदी, दीन आदि में पदरूप भेद घटित होता है। और निर्भाग या अखण्डस्फोटवादियों के मत में भागभेद अर्थात् वर्णस्फोट, पदस्फोट एवं अवान्तर वाक्यस्फोट की कल्पना महावाक्यस्फोट की उपलब्धि में उपाय है।

वृत्तिः—येऽपि भेदवादिनो गौरिति गकारौकारविसर्जनीयमात्रमेव प्रतिपन्नाः, नान्यस्तद्व्यतिरिक्तो वर्णरूपग्रहणोपायग्राह्यो निर्भागः शब्दात्मा विद्यत इति मन्यन्ते, नित्यत्वं च शब्दानामभ्युपगच्छन्ति, तेषां क्रमेणाव्यपदेश्यवर्णतुरीयांशाभिव्यक्तौ स्वरूपानवधारणमविषयत्वं चान्त्यस्य व्यक्तरूपोपग्राहिणः परिच्छेदस्य प्रसज्यते। यौगपद्येन तु सर्वावयवाभिव्यक्तौ श्रुत्यविशेषप्रसङ्गो गवे इति च, वेग इति च, तेन इति च, न ते इति च।

तत्र शब्दान्तरेऽर्थान्तरसम्बन्धिनि नैवायं दोषः। तस्मिन्नपि तु शब्देऽभिव्यञ्जकध्वनिक्रमकृता भेदेन प्रतिपत्तिः। दृष्टो हि मण्डूकादिवसासम्बद्धप्रदीपाभिव्यक्तेषु रज्ज्वादिषु सर्पादिप्रतिपत्तिभेदः।

निर्भागेषु वा भागभेदप्रकल्पनाकृतशक्तिविशेषपरिग्रहा बुद्धयो यथोपायत्वं प्रतिपद्यन्ते, तदनन्तरश्लोकेषु वर्णितम् ॥ ९१ ॥

विवरण—भागवादी या भेदवादी कौन हैं? क्या यहाँ मीमांसकों का निर्देश किया गया है? श्रीवृषभाचार्य की सम्मति इसके विरुद्ध है। वे कहते हैं—'भागवत्तु इति। ये भागवन्तं स्फोटमास्थिताः।'

मीमांसकों को स्फोट स्वीकार ही नहीं है। स्पष्ट है कि यहाँ भागस्फोटवादियों को दृष्टि में रखकर ही विचार किया गया है और ये वैयाकरणों में से ही हैं। 'नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः–' (२३) इस कारिका की वृत्ति में नित्य शब्द के सम्बन्ध में चार मतों का उल्लेख हुआ है—

१. शब्द जाति नित्य शब्द है और यही स्फोट है।

२. (क) अनेक ध्वनिव्यङ्ग्य पद और वाक्य रूप शब्दव्यक्ति नित्य शब्द है। यही स्फोट है—'योऽसौ स्फोट इत्याख्यायते।' —श्रीवृषभ

(ख) शब्दव्यक्तिवादियों में ही कुछ लोग मानते हैं कि पद और वाक्यरूप शब्दव्यक्ति के अन्तर्गत परस्पर व्यावृत्त नित्यवर्ण विद्यमान रहते हैं; ये लोग भागवान् स्फोटवादी हैं। 'शब्दव्यक्तिगतस्तु कैश्चिद्वर्णभेदोऽभ्युपगम्यते'—वृत्ति। 'तस्यामेव शब्दव्यक्तौ दर्शनभेदः। यदाह—वर्णभेद इति। परस्परव्यावृत्ता वर्णास्तत्रेति भागवन्तं स्फोटं मन्यन्ते।' —श्रीवृषभ।

३. निरवयवस्फोट या निरवयवशब्दात्मवाद। 'केचित्तु प्रतिवर्णं प्रतिपदं प्रतिवाक्यं चैक एवायं शब्दात्मा क्रमोत्पन्नावयवरूपप्रत्यवभासः प्रकाशते इति मन्यन्ते।' —वृत्ति।

४. व्यवहारनित्यतावाद ।

उपर्युक्त मतों में से द्वितीय मत के अन्तर्गत जो दूसरा दर्शन है, वही यहाँ भेदवादी या भागवादी मत के नाम से गृहीत हुआ है । निरवयव या निर्भागशब्दात्मवाद आचार्य औदुम्बरायण को अभिमत था, ऐसा अज्ञातकर्तृक एक महाभाष्य की हस्तलिखित (मद्रास, आर–४४३६) टीका से ज्ञात होता है । यथा—

'निर्भागस्फोटवादिनस्तु भगवदौदुम्बरायणमतानुसारिण एवमाहुः—'

भरतमिश्र ने भी स्फोटसिद्धि में औदुम्बरायण को अखण्डस्फोट का उपदेष्टा बतलाया है, साथ ही शबरस्वामी पर यह आक्षेप भी किया है कि उन्होंने आचार्य उपवर्ष को, जिन्होंने व्यावहारिक वाक् का ही निदर्शन (गकारौकारविसर्जनीयाः) कराया था, तात्त्विक का नहीं, आचार्य औदुम्बरायण की प्रतिद्वंद्विता में अनुचित रूप से ला खड़ा किया है । यथा—

'भगवदौदुम्बरायणाद्युपदिष्टाखण्डभावमपि व्यञ्जकारोपितनान्तरीयकभेदक्रमविच्छेदाभिनिविष्टैः परैरेकाकारनिर्भासमन्यथासिद्धीकृत्यार्थधीहेतुतां चान्यत्र सञ्चार्य भगवदौदुम्बरायणादीनपि भगवदुपवर्षादिभिर्निमायापलपितमिति तत्समर्थनमपेक्षते ।'

—स्फोटसिद्धि० पृष्ठ १

'भगवान् औदुम्बरायण आदि ने शब्द के जिस अखण्डभाव (स्फोट) का उपदेश दिया था, उस एकाकारनिर्भासात्मक ज्ञान को व्यञ्जक ध्वनियों द्वारा आरोपित अनिवार्य भेदक्रमरूप भागों में अभिनिवेश रखने वाले अन्य (शबरस्वामी) आदिकों ने अन्यथासिद्ध रूप में प्रस्तुत किया और अर्थबोध की कारणता को अन्यत्र प्रतिपादित किया है । इस प्रकार औदुम्बरायण आदिकों की भगवान् उपवर्षादि से तुलना करके उन्होंने पूर्वोक्त अखण्डभाव का अपलाप किया, अतः उसका (अखण्डभाव का) समर्थन अपेक्षित है ।'

प्रस्तुत सन्दर्भ के साथ भगवान् भर्तृहरि की वृत्ति का तात्पर्य द्रष्टव्य है—

जो भी भाग या भेदवादी 'गौः' इस पद में गकार, औकार और विसर्गमात्र को स्वीकार करते हैं तथा इसके अतिरिक्त वर्णात्मक ग्रहणोपाय द्वारा ग्राह्य निर्भाग पद या वाक्य रूप शब्दात्मा नहीं है, ऐसा मानते हैं और उन वर्णों को नित्य भी मानते हैं, उनके मत में दो दोष उपस्थित होते हैं । पहला यह कि क्रमशः वर्ण के अव्यपदेश्य तुरीयांश की अभिव्यक्ति के अवसर पर अपकर्ष की सीमा को प्राप्त होने से वर्ण के 'इस भाग का यह रूप है' ऐसा व्यपदेश सम्भव न होने के कारण उनके स्वरूप की अवधारणा न हो सकेगी । वे वर्णभाग सूक्ष्म होने के कारण अतीन्द्रिय होंगे । उन्हें कथञ्चित् इन्द्रियगम्य भी माना जाय तो भी वे व्यवहारातीत होंगे । अतः उनका स्वरूपज्ञान असम्भव होगा ।

दूसरा दोष यह होगा कि व्यक्त वर्णरूप के उपग्राही, अन्तिम[१] वर्णांश का कोई विषय ही नहीं रहेगा, जिसे वह अभिव्यक्ति दे, क्योंकि आशु विनाशी अंशों के साकल्य के अभाव में उसकी अविषयता सिद्ध है।

यदि एक साथ सम्पूर्ण अवयवों की अभिव्यक्ति मानी जाय, क्रमशः नहीं तो 'गवे' और 'वेग' तथा 'तेन' और 'न ते' यहाँ वर्णस्फोट के एक ही होने से दोनों में कोई भेद न होगा और इस प्रकार श्रुत्यविशेष का प्रसङ्ग उपस्थित होगा।

इस भागवाद में ही अर्थान्तर से सम्बद्ध शब्दान्तर या वर्णंतरस्फोट अथवा पद-स्फोट मान लेते हैं तो वहाँ यह दोष न होगा और उस पदस्फोटात्मक शब्द में भी व्यञ्जक ध्वनियों के क्रम से जनित 'गवे' और 'वेग' आदि में भेदप्रतिपत्ति हो जायेगी।

अन्यगत भेद से अन्यत्र भेद का निश्चय कैसे होगा ? इस पर कहते हैं—

मण्डूक (मेढक) आदि की चर्बी से निर्मित दीपक से अभिव्यक्त रज्जु आदिक में सर्पादिक का ज्ञानात्मक भेद देखा जाता है। अर्थात् रस्सी, सांप की तरह दिखलाई देती है। इससे यह स्पष्ट है कि अभिव्यञ्जकवश वस्तुएँ अन्यथा प्रतीति होने लगती हैं।

निर्भाग या अखण्डस्फोटवादियों के मत में भागभेद की कल्पना मात्र की जाती है और उस कल्पना से ही शक्ति-विशेष के परिग्रह से सम्पन्न बुद्धियाँ कैसे अखण्ड पद या वाक्यस्फोट के ग्रहण में उपाय बनती हैं ? यह बात 'यथाद्यसंख्याग्रहणम्–' आदि पूर्व श्लोकों में बतलाई गई है॥ ९१॥

पिछली कारिका में खण्डस्फोट एवं अखण्डस्फोट विषयक क्रम तथा क्रमाभास की चर्चा की गई। अब प्रस्तुत कारिका द्वारा जातिस्फोट का निरूपण करते हैं—

अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृता।
कैश्चिद् व्यक्तय एवास्या ध्वनित्वेन प्रकल्पिताः॥ ९२॥

कैश्चित् अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोटः इति स्मृता; अस्याः ध्वनित्वेन व्यक्तयः एव प्रकल्पिताः।

कुछ लोग 'घत्व' 'घटपदत्व' और वाक्यत्वरूप जाति को, जो अनेक वर्ण, पद एवं वाक्यात्मक व्यक्तियों द्वारा अभिव्यङ्ग्य है, स्फोट के रूप में स्वीकार करते हैं;

---

१. 'यथानुवाकः श्लोको वा–' ८१। इस कारिका की वृत्ति में भी यही बात कही गई है—'क्रमेण तु वर्णतुरीयग्रहणे सति समुदायाभावादविषयत्वमन्त्याया बुद्धेः प्राप्नोतीति संहितासूत्रभाष्यविवरणे बहुधा विचारितम्।' 'अन्त्यायाः' पर आचार्य श्री वृषभ का लेख है—'समस्तशब्दाकारायाः पश्चिमध्वन्यभिव्यक्तशब्दावग्रहाया विषयो न स्यात् समुदायाभावाद् इति।'

पूर्वोक्त शब्दव्यक्तियाँ ही इस जातिरूप स्फोट की द्योतक या व्यञ्जक होने से ध्वनि के रूप में कल्पित की गई हैं।

वृत्तिः—आकृतिनित्यत्वाच्छब्दनित्यत्वं केचिदाचक्षाणाः 'उभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते, रश्रुतेर्लश्रुतिर्भवति।' इत्येवमादिषु स्फोटशब्दवाच्यां शब्दत्वादन्यां क्रमजन्मभिरयुगपत्कालैराश्रयैः क्रमेण प्रकल्पितोपलब्धिनिमित्तसंस्कारां शब्दाकृतिमाचक्षते। उत्पत्तिमत्यस्तु शब्दव्यक्तयः सत्यव्यपदेश्यरूपत्वे स्फोटं व्यपदेश्यरूपगवद्योतयन्त्यो ध्वनिव्यपदेशं लभन्ते ॥ ९२ ॥

विवरण—कुछ लोग आकृति की नित्यता को लेकर शब्द की नित्यता का कथन करते हैं। 'ऐऔच्' सूत्रस्थ 'अग्रहणं चेन्नुड्विधिलादेशविनामेषु ऋकारग्रहणम्।' इस वार्तिक के भाष्य में भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—'उभयतः–' आदि। अर्थात् रेफात्मकस्थानी और लकारात्मक आदेश यहाँ उभयत्र स्फोट या जातिमात्र का निर्देश किया जाता है।'

'स्फोटमात्रं प्रतिनिर्दिश्यते।' इस प्रतीक को लेकर भगवान् भर्तृहरि ने महाभाष्य दीपिका में कहा है—

१. 'अध्वनिकः स्फोट इत्युक्तं भवति।' अर्थात् 'ध्वनि-रहित स्फोट' यह तात्पर्य है। 'ननु च ध्वनिमन्तरेण स्फोटस्योपलब्धिरेवं नास्ति।'

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ध्वनि के बिना स्फोट की उपलब्धि ही नहीं होती? उत्तर है कि—'एवं तर्हि य एवासौ आद्यो ध्वनिः आरूपमात्रस्य प्रतिपादकस्तावानेवाश्रीयते। यस्त्वसौ विशेषस्य प्रतिपादकः, यः समुदायस्थो, यः स्वतन्त्र इति नासावाश्रीयते। विद्यमानेऽपि तत्र विशेषे आरूपमात्रं, यथा गोविशेषेऽश्वोपलब्धिरारूपमात्रेण वोपलब्धिः तस्मादारूपमात्रग्रहणमुभयोः।

यदि ऐसा है तो जो आरूप–अस्फुटरूप (अविशिष्टरूप) की प्रतिपादिका आद्य ध्वनि है, उसी का आश्रय लिया जाता है। जो विशेष की प्रतिपादिका है, जो समुदाय में स्थित रहती है और जो स्वतन्त्र है, उसका आश्रय नहीं लिया जाता। यद्यपि वहाँ विशेष विद्यमान रहता है तो भी वह आरूप मात्र या अस्फुटरूप कहा जाता है। जैसे गो-विशेष में अश्व की उपलब्धि अथवा आरूपमात्र की उपलब्धि; अतः रेफात्मक स्थानी और लकारात्मक आदेश, दोनों में आरूपमात्र का ग्रहण होता है।

२. 'अथवा कार्यवद्बुद्धि कृत्वा इदमुच्यते। तत्र कार्यपक्षे स्फोट एव संयोगाद् विभागात् संयोगविभागाभ्यां वा निष्पद्यते। यत्त्वनुरणनं तत् शब्दत एव। तेन य एवासौ स्फोटस्य निष्पादकः कारणस्य व्यापारस्तावत एवाश्रयणम्।'

अथवा कार्यवत् बुद्धि या अनित्य शब्दबुद्धि के आधार पर यह कहा गया है। वहाँ कार्य या अनित्य पक्ष में स्फोट ही संयोग या विभाग से अथवा संयोग और विभाग दोनों के द्वारा निष्पन्न होता है। और जो अनुरणन है, वह स्फोटात्मक शब्द

से ही होता है। अतः जो स्फोट का निष्पादक ताल्वादि करण व्यापार है, उसी का आश्रय लिया जाता है।

३. 'अथवा स्फोटमात्रमिति आकृतिनिर्देशोऽयमित्युक्तं भवति। तत्राकृति[1] निर्देशे नान्तरेण ध्वनिमाकृतिः प्रतिपद्यते इति नान्तरीयकं द्रव्यं प्रतिपत्तव्यमिति। द्रव्यनिर्देशे श्रुतस्य द्रव्यस्य कार्यायोगित्वमिति आकृत्याश्रयणस्येदं प्रयोजनमन्तर्भूतानन्तर्भूतयो रेफयोः प्रतिपत्त्यर्थम्।'

अथवा स्फोटमात्र से यहाँ आकृति का निर्देश किया गया है। आकृति के निर्देश करने पर ध्वनिपूर्वक आकृति का ग्रहण होता है। अतः वहाँ द्रव्य की उपलब्धि अनिवार्य हो जाती है। यदि द्रव्य का ही निर्देश किया जाता तो श्रुतरेफादि द्रव्य का कार्य के साथ (साधनिका में) योग न बनता। आकृति के आश्रयण का यह प्रयोजन है कि अन्तर्भूत और अनन्तर्भूत दोनों प्रकार के रेफों का ग्रहण हो।

वृत्ति में कहा है—'इत्येवमादिषु' यहाँ आदि शब्द से 'स्फोटः[2] शब्दः, ध्वनिस्तस्य आयाम उपजायते'। इत्यादि का ग्रहण किया गया है, ऐसा श्रीवृषभ का कथन है।

वर्णत्व, पदत्व और वाक्यत्व रूप जाति या आकृति को ही 'उभयतः स्फोटमात्रं–' आदि वचनों में स्फोट के रूप में निरूपण किया गया है, ऐसा मानते हैं। यह जाति-स्फोट, शब्दत्व रूप सर्वशब्दसाधारण जाति से भिन्न होता है। क्रमजन्मा, एक साथ न उत्पन्न होने वाले गंकार, औकारादि व्यक्ति रूप आश्रयों से, उपलब्धि के निमित्तरूप संस्कार जिसमें क्रमशः कल्पित किये गये हैं, ऐसी वर्णत्व, पदत्वादिरूप स्फोट के रूप में स्वीकृत हुई है। उत्पत्तिमती, वर्णावयव तथा पदरूप शब्दव्यक्तियाँ स्वतः अव्यपदेश्य रूप होने पर भी व्यपदेश्य स्फोट को द्योतित करती हुई 'ध्वनि' इस आख्या को प्राप्त करती हैं।

इस बात को 'नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः' इस कारिका की वृत्ति में 'सा चेयमाकृतिः शब्दत्वसामान्यविशेषादन्या।' तथा 'यदा त्ववयवप्रबन्धः क्रमेणोपलब्धो भवति, अथ जातिविशेषोपाधियुक्ता व्यवहारा अवतिष्ठन्ते।' आदि सन्दर्भों द्वारा पहले ही कहा जा चुका है।

महाभाष्यदीपिका में भी भगवान् भर्तृहरि ने कहा है—

'य एते शब्दाः, किं ते शब्दाकृतयः आहोस्वित् शब्दव्यक्तय इति। तत्र यदायं वृक्षो वृक्ष इति वृक्षादयः शब्दाः क्रमजन्मान अयुगपत्कालाः वृक्षशब्दत्वाकृतेरक्रमाया अभिव्यक्तिहेतवो भवन्ति यथा सास्नादयो गोत्वस्येति तदा वृक्षशब्दत्वादर्थप्रतिपत्तिः।

---

१. श्रीवृषभाचार्य ने कहा है—'प्रधानस्य तत्र निर्देशो नान्तरीयकं तु व्यक्त्युपादानम्। अतो न तत्राश्रितस्यानवस्थिततायामादरः।'

२. स्फोट नित्य शब्द है, ध्वनि तो उसके व्यञ्जक व्यापार के साथ उत्पन्न होती है, अतः कृतक है।

सा च नित्या। अभ्यासाच्च साकृतिः केनचित् पुरुषेण कतिभिश्चिदेव वर्णव्यक्तिभिरव-गृह्यते। ये वा रेखामात्रेणैव चित्रे प्रतिपद्यन्ते पुरुषोऽयं लिख्यते हस्ती नेति एतस्मिन् दर्शने नित्यः शब्दः। तत्र चैतदुक्तम्—उभयतः स्फोटमात्रं प्रतिनिर्दिश्यते रश्रुतेर्लश्रुति-रिति।'

ये जो शब्द है, उन्हें शब्दजाति रूप माना जाय या शब्दव्यक्तिरूप ? जब 'यह वृक्ष है' 'यह वृक्ष है' इस व्यवहार में क्रमजन्मा, अयुगपत्कालिक वृक्षादि शब्द अक्रम वृक्षशब्दत्वरूप आकृति की अभिव्यक्ति के कारण बनते हैं; जैसे सास्ना (गलकम्बल) आदि गोत्वात्मक जाति के, तब वृक्षशब्दत्व से अर्थ की उपलब्धि होती है। यह जाति ही नित्य है। अभ्यास के कारण वह आकृति (जाति) किसी पुरुष के द्वारा कुछ वर्णव्यक्तियों के माध्यम से ही गृहीत होती है। जो लोग चित्र में रेखामात्र से ही यह पुरुष चित्रित किया जा रहा है, हाथी नहीं; ऐसा समझते हैं, इस मत (दर्शन) में शब्द नित्य है। इसी के अनुसार कहा गया है—उभयतः 'र' के स्थान में 'ल' आदेश होने पर स्फोट मात्र का ही निर्देश किया जाता है।

'कैश्चिद् व्यक्तय एवास्या ध्वनित्वेन प्रकल्पिताः।' तथा 'उत्पत्तिमत्यस्तु शब्द-व्यक्तयः······स्फोटं व्यपदेश्यरूपमवद्योतयन्त्यो ध्वनिव्यपदेशं लभन्ते'–यह कारिका और वृत्ति ही मम्मटाचार्य के 'बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानीभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः।' इस सन्दर्भ की उपजीव्य है।

नागेश ने स्फोटवाद में इसका उल्लेख किया है। यथा—

'अनेकाभिः वर्णव्यक्तिभिः व्यङ्ग्या जातिरेव स्फोटो वाचिकाभिप्रेता कैश्चित्। तद्व्यञ्जकव्यक्तयश्च ध्वनय एव न तदतिरिक्ता इति तदर्थः। इदमेवाभिप्रेत्योक्तं काव्यप्रकाशे—'बुधैर्वैयाकरणैः'।

पदवाक्यरत्नाकर में गोकुलनाथ ने 'काश्चिद् व्यक्तय एवास्याः' ऐसा पाठ रक्खा है और टीकाकार यदुनाथ मिश्र ने 'काश्चित्' का अर्थ कहा है—

'मृदङ्गादिप्रभववर्णव्यक्तयः'। किन्तु वृत्ति और पद्धति के विरुद्ध होने के कारण उक्त पाठ और उसकी व्याख्या उपेक्षणीय है॥ ९२॥

प्रस्तुत कारिका में जातिस्फोट और व्यक्तिस्फोट के विपरीत एक अविकृत शब्द-तत्त्ववादी मत का निरूपण किया गया है—

अविकारस्य शब्दस्य निमित्तैर्विकृतो ध्वनिः।
उपलब्धौ निमित्तत्वमुपयाति प्रकाशवत्॥ ९३॥

निमित्तैः विकृतः ध्वनिः, अविकारस्य शब्दस्य उपलब्धौ प्रकाशवत् निमित्तत्वम् उपयाति।

निमित्त अर्थात् वर्ण, पद एवं वाक्य-विषयक प्रयत्नों से प्रेरित वायु के अभिघात-रूप कारणों से विकृत उत्पादित ध्वनि, विकारहीन शब्दतत्त्व की उपलब्धि में प्रदीप के प्रकाश के समान निमित्त बन जाती है।

वृत्तिः—अन्ये त्वाकृतिव्यक्तिव्यवहारप्रक्रियावैधर्म्यादेकमेव शब्दतत्त्वं नित्यमलब्धपरिणामं स्वनिमित्तेभ्यः प्राप्तविकारैर्ध्वनिभिरनाश्रितं ध्वनिषु प्रदीपादिप्रकाशन्यायेनासति वस्तुसम्प्रमोहे प्राप्तव्यञ्जकध्वनिविक्रियानुराग-मुपलब्धरूपमिवाभिव्यज्यत इत्याहुः ॥ ९३ ॥

विवरण—आकृति और व्यक्ति के व्यवहार की प्रक्रिया घटत्व और घटादि के अनुरूप भले हो, किन्तु शब्द में यह साधर्म्य घटित नहीं होता, अपि तु वैधर्म्य ही देखा जाता है; अतः अन्य लोग, स्वगत भेदाभाव के कारण एक कालभेद के न होने से नित्य, परिणामहीन शब्दतत्त्व तत्तद् स्थानकरणाभिघातरूप स्वनिमित्तों से विकार को प्राप्त (उत्पन्न) ध्वनियों द्वारा अभिव्यक्त होता है, ऐसा कहते हैं। यह शब्द-तत्त्व ध्वनियों का आश्रय लेकर नहीं रहता। जैसे प्रदीप का प्रकाश घटादिक को अभिव्यक्त करता है, वैसे ही ध्वनियाँ शब्द को। शब्दरूप वस्तु का कोलाहलात्मक सम्प्रमोह या अस्पष्टता यदि न हो तो व्यञ्जक ध्वनियों द्वारा उत्पत्तिरूप विक्रिया के अनुराग या सरूपता को प्राप्त करके, उपलब्ध रूप के समान शब्दतत्त्व अभिव्यक्त किया जाता है। अर्थात् 'व्यञ्जक जो ध्वनियाँ, उनकी जो विक्रिया–अपने कारणों से भेद–उसके अनुराग या अनुरञ्जन को जिसने प्राप्त किया है ऐसा शब्दतत्त्व, निर्भाग होने पर भी सभाग के समान भासित होता है; नित्य भी कदाचित् उपलब्ध हो जाता है—यह आचार्य श्रीवृषभ की व्याख्या है।

श्रीवृषभाचार्य ने 'अविकारस्य शब्दस्य' की प्रस्तुत व्याख्या की है—

'अपरे त्वाकाशगत एकः स्फोटवर्ण इत्याहुः अविकारस्य इति। यदुक्तम्—

'तस्मिन् नित्यां शब्दव्यक्तिं प्रतिजानते।' इति।

अन्य लोग तो आकाशगत एक स्फोट वर्ण को अविकार शब्द के नाम से कहते हैं। जैसा कि 'नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः' इस कारिका की वृत्ति में कहा गया है—

'यैरप्ययमाकृतिव्यवहारो नाभ्युपगम्यते तेऽप्यनेकध्वनिव्यङ्ग्यां नित्यां शब्दव्यक्ति-मेव प्रतिजानते।'

जो लोग आकृति-व्यवहार को नहीं मानते, वे भी अनेक ध्वनियों से व्यङ्ग्य नित्य शब्दव्यक्ति को ही स्वीकार करते हैं।

किन्तु वृत्ति में भगवान् भर्तृहरि ने शब्दतत्त्व में आकृति और व्यक्ति के व्यवहार की प्रक्रिया का वैधर्म्य माना है, तब उसे 'शब्दव्यक्तिं प्रतिजानते' इसके द्वारा व्याख्यायित करना कहाँ तक सङ्गत है, यह विचारणीय है।

प्रक्रियावैधर्म्य पर आचार्य श्रीवृषभ ने कहा है—

देखा[1] जाता है कि घटादि की उत्पत्ति और स्थिति में उनके अवयव कारण बनते हुए घटादि अवयवी के आधार होते हैं; किन्तु व्यक्तियाँ, जाति के नित्य होने से उसकी उत्पादकत्वेन आधार नहीं होती। स्थिति में भी आधार नहीं होतीं, क्योंकि महाप्रलय में व्यक्तियों के बिना भी घटादि जातियाँ रहती हैं। अतः दोनों, अवयवरूप आधार और अवयवीरूप व्यक्ति, उन जातियों के केवल स्वानुरूप ज्ञान के कथन में कारण हैं। ऐसा शब्द के विषय में नहीं कहा जा सकता; क्योंकि शब्दों के भाग क्षणिक होने से एक साथ कभी नहीं मिल सकते। अतः शब्दतत्त्व के स्वानुरूप प्रत्यय का जनक न होने से उसमें जातिसाधर्म्य सम्भव नहीं। इसीलिए 'अनाश्रितं ध्वनिषु' —ऐसा कहा गया है। इस कथन से शब्द में जाति-विशेष का होना सम्भव नहीं। 'यदसमवेतं ध्वनिषु, एतेन न जातेर्विशेष उक्तः।' —श्रीवृषभ।

और यदि शब्द में शब्दभागों का यौगपद्य स्वीकार कर लिया जाता है तो शब्दभागों के व्यक्त होने से उन्हीं से स्फोटोपलब्धि हो जायेगी—यह दोष आ जाता है, अतः 'अविकारस्य शब्दस्य–' इस पक्षान्तर का आश्रय लिया गया है। यही सिद्धान्तपक्ष है, ऐसा संक्षिप्तवृत्तिकार ने स्वीकार किया है। यथा—

'सिद्धान्तिसम्मतत्वेन मुख्यत्वं च तस्य दर्शयितुं पुनः पूर्वमतमेवाह–अविकारस्य–'।

'एकमेव यदात्म्नातं–' इस कारिका की वृत्ति में भगवान् भर्तृहरि ने कहा है—

'न खलु जातिव्यक्तिव्यवहारवदन्याः काश्चिच्छक्तयो ब्रह्मणो व्यतिरेकिण्यो विद्यन्ते। तत्तु प्रकाशवत् प्रकाश्यावग्रहाभ्यो वहिस्तत्त्वाभ्य इवात्ममात्राभ्यस्तादात्म्येऽपि सति पृथक् तत्त्वमिवावसीयते।'

क्या इस सन्दर्भ से पूर्वोक्त कथन की तुलना की जा सकती है ?॥ ९३॥

एक, नित्य, अलब्धपरिणाम शब्दतत्त्व ध्वनियों में आश्रित न होता हुआ भी व्यञ्जक ध्वनियों से उपरञ्जित होकर विभक्त-सा अभिव्यक्त होता है—इस सिद्धान्त पक्ष पर आशङ्काएँ उठाकर अग्रिम 'न चानित्येषु–' से लेकर 'विरुद्धपरिणामेषु–' इन छह कारिकाओं में समाधान प्रस्तुत किया गया है।

शब्द की यदि अभिव्यक्ति मानी जाती है तो प्रदीप-प्रकाश से अभिव्यक्त घट के समान उसकी अनित्यता सिद्ध है। यदि उत्पत्ति स्वीकार्य हो तो शब्द सुतरां अनित्य हो जाता है ? इस शङ्का का समाधान करते हैं—

---

१. इहोत्पत्तौ स्थितौ चावयवाः कारणतामुपगच्छन्तोऽवयविन आधारः, न तावन्नित्यत्वाज्जातीनामुत्पादकत्वेन व्यक्तय आधारः। नापि स्थित्याम्, महाप्रलये घटादिजातीनां व्यक्तिभिरव्यवस्थानात् (व्यक्तिभिर्विनाप्यवस्थानात्)। तस्माद् द्वयं तदाधारो व्यक्तिश्च तासां जातीनां स्वानुरूपप्रत्ययाभिधाने हेतुः। न चैतच्छब्देऽस्ति। यौगपद्याभावाच्छब्दभागानाम्। एतस्मिंश्च तदस्याभ्युपगमे व्यक्तत्वात् तत एव स्फोटोपलब्धिः स्यादिति दोषत्वात् पक्षान्तराश्रयणम्; एकमेव इति।

न चानित्येष्वभिव्यक्तिर्नियमेन व्यवस्थिता ।
आश्रयैरपि नित्यानां जातीनां व्यक्तिरिष्यते ।। ९४ ।।

अनित्येषु नियमेन अभिव्यक्तिः न च व्यवस्थिता; नित्यानां आश्रयैः अपि व्यक्तिः इष्यते ।

यह कोई नियम नहीं है कि अनित्य पदार्थों की ही अभिव्यक्ति होती हो । नित्य जातियों की भी अभिव्यक्ति उनके आश्रयरूप व्यक्तियों द्वारा होती है—ऐसा प्रत्येक मतवादी मानता है ।

वृत्तिः—इह केचिदभिव्यक्तिमेवानित्यत्वसमधिगमहेतुत्वेनापदिशन्ति । अनित्यः शब्दोऽभिव्यङ्ग्यत्वाद् घटवत् । इहानित्यानां घटादीनां प्रदीपादिभिरभिव्यक्तिर्दृष्टा, शब्दश्चायं ध्वनिभिरभिव्यज्यत इत्युपगम्यते, तस्मादनित्यः । अथ नाभिव्यज्यते, प्राप्तमिदमुत्पद्यत इति । अतोऽप्यनित्य एव । तत्र येषां जातयः सन्ति नित्याश्च तान् प्रत्युच्यते—

विवरण—कुछ लोग अभिव्यक्ति को ही अनित्यत्व के ज्ञान का कारण कहते हैं । प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण द्वारा ये तार्किक लोग उसे इस प्रकार सिद्ध करते हैं—प्रतिज्ञा—शब्द अनित्य है । हेतु—अभिव्यङ्ग्य होने से । उदाहरण—घट के समान । उपनय—यहाँ अनित्य घटादिकों की अभिव्यक्ति प्रदीपादि से देखी गई है और यह शब्द भी ध्वनियों से अभिव्यक्त होता है, यह स्वीकार किया जाता है । निगमन—अतः शब्द अनित्य है । यदि यह माना जाय कि शब्द अभिव्यक्त नहीं होता तो उत्पन्न होता होगा, इसलिए भी यह अनित्य ही है ।

इनमें जो वैशेषिक आदि जातिं को स्वीकार करते हुए उसे नित्य मानते हैं, उनके प्रति समाधान प्रस्तुत किया जाता है—

वृत्तिः—उभयथा दृष्टत्वादनपदेश इति । येषां तु नैव किञ्चिन्नित्यमस्ति तेष्वसिद्धत्वेन प्रत्यवतिष्ठमानेष्वनैकान्तिकत्वस्य नित्यशब्दवादिनः प्रथमतरमसिद्धत्वेनैव प्रत्यवतिष्ठन्ते । कथम् ? परं हि प्रत्यभिव्यङ्ग्यत्वादित्यनपदेशः, सन्दिग्धत्वाद् विकल्पप्रसङ्गो वानुषङ्गिणामित्यनवस्था स्यात् तर्कस्य ।। ९४ ।।

विवरण—वे वैशेषिकादिक नित्य जातियों की अभिव्यक्ति मानते हैं और अनित्य घटादिकों की भी; अतः उभयथा अभिव्यक्ति के देखने से अभिव्यङ्ग्यत्व हेतु न होकर सव्यभिचार हेत्वाभास हो जाता है । अतः उसे अनपदेश या अनैकान्तिक कहना उचित है । 'यत्र यत्राभिव्यङ्ग्यत्वं तत्र तत्रानित्यत्वम्' यह व्याप्ति, उपर्युक्त कथन के अनुसार नियतरूप से व्यवस्थित नहीं है ।

और जो लोग कुछ भी नित्य नहीं मानते, उन बौद्धों के मत में प्रकृत हेतु में अनैकान्तिकत्व असिद्ध है और 'नित्यशब्दवादी' साधन (प्रकृत हेतु) के प्रयोगकाल

में उससे पहले ही अनैकान्तिकता को असिद्ध मानते हैं। किस प्रकार? पर अर्थात् नित्यशब्दवादी के प्रति अभिव्यङ्ग्यत्व अहेतु हो जाता है, क्योंकि उसमें व्यतिरेक व्याप्ति का अभाव है। इस प्रकार उसकी हेतुता संदिग्ध है।

व्यतिरेक व्याप्ति का स्वरूप इस प्रकार होगा—'यत्राभिव्यङ्ग्यत्वं नास्ति तत्रानित्यत्यत्वमपि नास्ति'। जैसे अनित्यवादी बौद्ध, नित्यत्व को अस्वीकार करके अनैकान्तिकता को असिद्ध करता है, वैसे अभिव्यक्तिवादी भी नित्य जात्यादि के स्वीकार से व्यतिरेक-व्याप्ति के अभाव के कारण अनैकान्तिकता को असिद्ध मानता है।

यदि व्यतिरेक की अपेक्षा न करके घटसाम्य से आप अनित्यत्व सिद्ध करते हैं तो नित्य जाति के साधर्म्य से नित्यत्व भी प्राप्त होता है। इस प्रकार शब्द में नित्यत्व और अनित्यत्व का विकल्प प्रसक्त होता है। इसके अतिरिक्त घटादि अनित्य पदार्थ के साधर्म्य से शब्द की अनित्यत्व सिद्धि के अवसर पर जितने अनुषङ्गी धर्म वाच्यत्व और चाक्षुषत्व आदि घट और जाति में होंगे, वे सब शब्द में भी प्रसक्त होंगे और इस प्रकार तर्क की कहीं समाप्ति ही नहीं होगी। श्रीवृषभाचार्य ने व्याख्या की है—'विकल्पानां जात्युत्तरत्वेन अनवस्था तर्कस्य इति।' यहाँ 'जाति' यह शब्द नैयायिकों का पारिभाषिक शब्द है। न्यायदर्शन का सूत्र है—'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः' (प्रथम अध्याय, द्वि० आह्निक, १८ सूत्र)। साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा वादी के उपस्थापित हेतु का प्रतिषेध करना जाति नामक पदार्थ है। न्यायदर्शन के पञ्चम अध्याय, प्रथम आह्निक में जाति-प्रयोग के चौबीस भेदों की चर्चा की गई है। साधर्म्यसम वैधर्म्यसम आदि जातियों के प्रयोग से तर्क की अनवस्था होगी—यह श्रीवृषभ का तात्पर्य है॥ ९४॥

प्रस्तुत कारिका में अन्य पूर्वपक्ष की मन में उद्भावना करके समाधान करते हैं—अभिव्यङ्ग्य और अभिव्यञ्जक अर्थात् शब्द और ध्वनि में देशभेद होने से शब्द अभिव्यक्त नहीं होता—यह आशङ्का है (पूर्वपक्ष है)—

देशादिभिश्च सम्बन्धो दृष्टः कायवतामपि।
देशभेदविकल्पेऽपि न भेदो ध्वनिशब्दयोः॥ ९५॥

अपि च कायवतां देशादिभिः सम्बन्धः दृष्टः; ध्वनिशब्दयोः देशभेदविकल्पे अपि न भेदः।

शरीरी अथवा मूर्त गो-घटादिकों का ही ९५ देश और नाना देशों से सम्बन्ध देखा गया है। ध्वनि और शब्द दोनो अमूर्त हैं, अतः इनमें देशभेद की कल्पना मात्र की जाती है, वास्तव में देशभेद नहीं है। श्रोत्राकाश और हृदयाकाश में औपाधिक भेद भले हो, वास्तविक देशभेद नहीं है॥ ९५॥

वृत्तिः—अथापरः पूर्वपक्ष इहोपादीयते—देशभेदान्नाभिव्यज्यते शब्दः। समानदेशस्था हि घटादयः प्रदीपादिभिर्व्यज्यन्ते। करणसंयोगविभागाभ्यां तु

व्यञ्जकाभ्यामन्यत्र शब्दोपलब्धिरिति। स चायं ध्वनिषु व्यञ्जकेष्वप्रसङ्गः। तत्रापि ब्रुवते—कथमेकदेशस्थः शब्दो नानादेशैरतिविप्रकृष्टैर्ध्वनिभिर्व्यज्यत इति। तत्रेदं प्रतिविधीयते—

विवरण—अब दूसरा पूर्वपक्ष यहाँ उठाया जाता है। देशभेद होने के कारण शब्द अभिव्यक्त नहीं होता। समानदेश में स्थित ही घटादिक प्रदीपादिकों से अभिव्यक्त होते हैं। जहाँ तक आलोक जाता है, वह एक या समानदेश है और उससे बाहर भिन्न देश।

तालु और ओष्ठपुट रूप करणों के संयोग और विभागव्यापाररूप व्यञ्जकों से, अन्यत्र अर्थात् आकाश में शब्द की उपलब्धि होती है तथा संयोग और विभागरूप व्यापार करणों में होता है। किन्तु वस्तुतः 'देशभेदात्' यह हेतु व्यञ्जक ध्वनियों के सम्बन्ध में प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि ध्वनि और शब्द देश रहित होते हैं।

इस पर पुनः तर्क उपस्थित करते हैं—एक आकाशरूप देश में स्थित स्फोटात्मक शब्द किस प्रकार वक्ताओं के अनेक ताल्वादि देशों में समुत्पन्न अत्यन्त दूरस्थ ध्वनियों के द्वारा अभिव्यक्त होता है ? इसका समाधान इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है।

वृत्तिः—देशैकत्वं देशनानात्वमिति कायवतामेष धर्मः। कायवन्तोऽपि तावदादित्यादयः परिच्छिन्नदेशा नानाधिकरणस्था इह (इव) उपलभ्यन्ते। अमूर्तयोस्तु ध्वनिशब्दयोर्देशदेशिव्यवहारातिक्रमात् सत्यपि देशभेदविकल्पाभिमाने नैवासौ तयोर्भेदो विद्यत इति ॥ ९५ ॥

विवरण—मूर्त पदार्थों का ही एकदेश में वर्तमान रहना अथवा नाना देशों में स्थिति रूप धर्म देखा जाता है। मूर्तिमान् पदार्थों में भी सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र किसी एक सीमित देश में विद्यमान होते हुए भी नानादेशस्थ के समान प्रतीत होते हैं। ध्वनि और शब्द में, जो कि अमूर्त है, देश और देशी अथवा आधार-आधेय का व्यवहार नहीं होता। हाँ, वहाँ देशभेदरूप विकल्प[1] का अभिमान मात्र होता है। कारिकागत 'देशादिभिश्च' में आदि शब्द से एकदेश और नानादेश का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वृत्ति और पद्धति से ऐसा ही प्रतीत होता है। यहाँ काल का कोई सङ्केत नहीं है, क्योंकि ध्वनि तो निश्चित रूप से कालिक होती है।

'कायवतामपि' में 'अपि' शब्द का पाठ सूर्यादि शरीरी ग्रहों के एकदेश में होते हुए भी नानादेशस्थात्मिका प्रतीति को लेकर ही उचित जान पड़ता है, अन्यथा 'इह' पाठ ही सङ्गत है।

---

१. श्रीवृषभ ने कहा है—'सत्यदेशभेदस्याभावाद्विकल्पशब्देनाह।' विकल्प का लक्षण है—'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।' —योगदर्शन

वृत्ति में 'नानाधिकरणस्था इहोपलभ्यन्ते' इस सन्दर्भगत इह के स्थान पर 'इव' पाठ रहा होगा। लिपिकार के प्रमाद से वैसा हो गया, यह बात श्रीवृषभाचार्य की पद्धति से स्पष्ट हो जाती है। यथा—

'येऽपि मूर्तिमत्त्वाद् देशभेदार्हास्तेऽप्येकदेशस्थाः सन्तो नानादेशस्था इवोपलभ्यन्ते ॥' ९५ ॥

दूसरी आशङ्का को मन में रखकर पुनः समाधान करते हैं—

ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा योग्यता नियता यथा।
व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेन तथैव स्फोटनादयोः ॥ ९६ ॥

यथा ग्रहणग्राह्ययोः योग्यता नियता सिद्धा; तथैव स्फोटनादयोः व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेन (योग्यता नियता)।

जैसे ग्रहण अर्थात् चक्षु इन्द्रिय और घटादि रूपात्मक ग्राह्य की योग्यता या शक्ति नियतरूप से सिद्ध है। नेत्रेन्द्रिय रूप के ग्रहण करने के लिए नियत है, वह स्पर्श का ग्रहण नहीं कर सकती, वैसे ही स्फोट और नाद का व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव नियत सिद्ध है।

वृत्तिः—अथापरः पूर्वपक्षः—अभिव्यञ्जकनियमान्नाभिव्यज्यते शब्दः। इहाभिव्यङ्क्तव्यं नाभिव्यञ्जकं नियतमपेक्षते। घटादीनां हि मणिप्रदीपौषधिग्रहनक्षत्रैः सर्वैः सर्वेषामभिव्यक्तिः क्रियते। नियतनादाभिव्यञ्जकाश्चाभ्युपगम्यन्ते शब्दाः। वर्णान्तराभिव्यक्तिहेतुभिर्नादैर्वर्णान्तराणामनभिव्यक्तेः। तस्मान्नाभिव्यज्यन्त इति। तत्र प्रतिविधीयते—ग्रहणग्राह्ययोरिति।

तद्यथा—चक्षुःसमवेतं रूपमेव बाह्यरूपस्याभिव्यक्तौ निमित्तं न गुणान्तराणि, नापीतराणीन्द्रियाणि, नेन्द्रियान्तरगुणाः, तथा बाह्यार्थाभिव्यक्तिहेतवो भवन्ति ॥ ९६ ॥

विवरण—अब दूसरा पूर्वपक्ष या अन्य आशङ्का इस प्रकार उपस्थित हो सकती है—

'शब्द अभिव्यङ्ग्य है'—यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें नियत अभिव्यञ्जकों की अपेक्षा होती है। संसार में जिन पदार्थों की अभिव्यञ्जना होती है, वे नियत अभिव्यञ्जकों की अपेक्षा नहीं रखते। घटादिक सभी पदार्थों की अभिव्यक्ति मणि, प्रदीप, औषधि, ग्रह और नक्षत्र इन सभी के द्वारा होती है और शब्दों के सम्बन्ध में यह मान्यता है कि उनके अभिव्यञ्जक नियत नाद ही होते हैं। कादि वर्णों की अभिव्यक्ति के हेतु कण्ठाभिघातज नादों (ध्वनियों) द्वारा चकारादि वर्णों की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः शब्द अभिव्यक्त नहीं होते अपि तु उत्पाद्य होते है।'—इस प्रश्न का 'ग्रहणग्राह्ययोः—' इस कारिका का उत्तर प्रस्तुत करते हैं—

जैसे चक्षुः समवेत रूप ही बाह्य घटादि रूपों की अभिव्यक्ति में निमित्त बनता है, स्पर्शादि गुणान्तर, जो चक्षु में समवेत रहते हैं, निमित्त नहीं होते। वैशेषिक दर्शन में कहा गया है—'तेजो रूपस्पर्शवत्' ॥ ३ ॥ चक्षुरूप तेज से रूप और स्पर्श दो गुण ही विद्यमान रहते हैं। ऐसी स्थिति में भगवान् भर्तृहरि ने 'गुणान्तराणि' किस अभिप्राय से कहा और श्रीवृषभाचार्य ने 'सन्तोऽपि तस्मिन् स्पर्शादयः' इस सन्दर्भ में स्पर्शादि गत आदि शब्द से क्या कहना चाहा है, यह विवेचनीय है; वस्तुतः संख्या और पृथक्त्वादि गुण आदि शब्द से गृहीत हो सकते हैं।

श्रोत्रादि इन्द्रियान्तर और तद्गतगुणान्तर चक्षु में सन्निविष्ट रूप के समान नीलादि बाह्यार्थ अभिव्यक्ति में कारण नहीं बनते ॥ ९६ ॥

एक अन्य आशङ्का को उपस्थित करके प्रस्तुत कारिका द्वारा समाधान करते हैं। आशङ्का इस प्रकार है—विगत कारिका द्वारा विसदृशेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य विषय का अभिव्यङ्ग्य-अभिव्यञ्जक भाव नियत कहा गया है, किन्तु सदृशेन्द्रिय ग्राह्य को लेकर यह नियम नहीं बनता, अतः शब्द अभिव्यङ्ग्य न होकर उत्पाद्य है, अतः अनित्य है।

सदृशग्रहणानां च गन्धादीनां प्रकाशकम्।
निमित्तं नियत लोके प्रतिद्रव्यमवस्थितम् ॥ ९७ ॥

सदृशग्रहणानां च गन्धादीनां प्रकाशकं निमित्तं लोके प्रतिद्रव्यं नियतम् अवस्थितम्।

सदृश अर्थात् एक ग्रहण या इन्द्रिय द्वारा बाह्य गन्धादिकों का प्रकाशक या अभिव्यञ्जक निमित्त, प्रत्येक द्रव्य में नियत रूप से अवस्थित देखा जाता है ॥ ९७ ॥

वृत्तिः—तुल्येन्द्रियग्राह्येष्वयं नियमो न विद्यत इति पर्यनुयोगे प्रतिविधीयते—तुल्येन्द्रियग्राह्येष्वप्ययं धर्मो दृश्यते। तद्यथा—नदी(नखी ?)-शैलेयादीनां द्रव्याणां किञ्चिदेव संयोगिद्रव्यान्तरं कस्यचिदेव द्रव्यस्य गन्धविशेषाभिव्यक्तौ समर्थं भवति ॥ ९७ ॥

विवरण—ग्रहण और ग्राह्य का जो व्यञ्जक एवं व्यङ्ग्यभावरूप नियम आपने प्रदर्शित किया है, वह भिन्न इन्द्रिय विषयगत है; तुल्य इन्द्रिय ग्राह्य विषयों में यह नियम प्रसक्त नहीं होता। इस आक्षेप का उत्तर देते हैं—समानेन्द्रिय ग्राह्य विषयों में भी यह धर्म देखा जाता है। जैसे नखी नामक गन्ध द्रव्य तथा शैलेय[1] अर्थात् शिलाजतु आदि द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य का संयोगी द्रव्यान्तर ही गन्ध-विशेष की अभिव्यक्ति में समर्थ होता है।

---

१. रघुवंश (सर्ग ६ श्लोक ५१) में 'शैलेय' शब्द आया है। यथा—'शैलेयगन्धीनि शिलातलानि' लोबान से सुगन्धित शिलातल चारित्रवर्धन, वल्लभ, सुमतिविजय, दिनकर आदि अनेक रघुवंश के टीकाकारों ने 'शैलेयनद्धानि' पाठ दिया है। हेमाद्रि ने 'शैलेयबद्धानि' पाठ माना है। अर्थ है—शिलोद्भव कुसुमों से व्याप्त।

वृत्ति में 'नदी शैलेय' ऐसा पाठ सर्वत्र उपलब्ध है, किन्तु नदी शब्द का प्रस्तुत प्रसङ्ग में कोई अर्थ नहीं है। प्रतीत होता है यहाँ 'नखी' पाठ रहा होगा उसके स्थान पर 'नदी' पाठ नखी शब्द के अर्थ को न समझ कर प्रचलित हुआ होगा। कोषों में नखी का अर्थ गन्धद्रव्य-विशेष मिलता है। चौखम्बा द्वारा प्रकाशित संक्षिप्त वृत्ति में 'नदी' शब्द छोड़ दिया गया है। वहाँ 'तद्यथा शैलेयादीनां–' उद्धृत है।

श्रीवृषभ ने 'नदीशैलेयादीनाम् इति' इस प्रतीक तो ग्रहण किया है, किन्तु कोई व्याख्या प्रस्तुत नहीं की। अन्य आधुनिक व्याख्याकारों ने नदी और शैलेय में किसी की भी व्याख्या नहीं की।

भावप्रकाश नामक आयुर्वेद के निघण्टु-ग्रन्थ के कर्पूरादिवर्ग में नख और नखी शब्द पठित है। यह एक सुगन्धित द्रव्य है। यथा—

'नखं व्याघ्रनखं व्याघ्रायुधं तच्चक्रकारकम्।
नखं स्वल्पं नखी प्रोक्ता हनुर्हट्टविलासिनी'॥ ७२॥

छोटे नख को नखी कहते हैं—

'व्याघ्रायुधं व्याघ्रनखं करजं चक्रकारकम्।' —अमरकोष, वनौषधिवर्ग

इस पर टीकाकार कृष्णमित्र ने कहा है—'नखनखी इति सुगन्धद्रव्यस्य'।

अथवा नदी शब्द के स्थान पर नटी पाठ सम्भव है। नटी या नली यह भी एक सुगन्धित द्रव्य है—

'नलिका विद्रुमलता कपोतचरणा नटी।' —भावप्रकाश, कर्पूरा०

'सुषिरा विद्रुमलता कपोताङ्घ्रिर्नटी नली।' —अमरकोष

इस पर कृष्णमित्र कहते हैं—'उत्तरापथे प्रसिद्धं सुगन्धद्रव्यम्।'

शैलेय को शिलापुष्प भी कहते हैं, जो लोक में 'छरीला' के नाम से प्रसिद्ध है।

'शैलेयं तु शिलापुष्पं वृद्धं कालानुसार्य्यकम्।' —भावप्रकाश।

श्रीवृषभाचार्य ने 'सदृशग्रहणानां' का अर्थ कहा है—एक इन्द्रिय द्वारा जिनका ग्रहण किया जाता है। 'सदृशमेकं ग्रहणमिन्द्रियं येषामिति।'

तात्पर्य यह है कि नखी[1] या शैलेय में विद्यमान स्वाभाविक गन्ध और किसी अन्य द्रव्य द्वारा उसके सुसंस्कृत किये जाने पर अभिव्यक्त विशेष गन्ध, दोनों का ग्रहण एक ही घ्राणेन्द्रिय से होता है। यहाँ जो गन्ध-विशेष की अभिव्यक्ति होती है, वह नियत अभिव्यञ्जक के संयोग से ही होती है। और वह गन्ध-विशेष भी उस-उस

---

१. वृत्तिसमुद्देश, कारिका ३७१—'गन्धानां सति भेदे तु सादृश्यमुपलभ्यते' पर हेलाराज ने कहा है—'तथा हि—गन्धयुक्तद्रव्यैर्नखशैलेयादिभिरवान्तरभेदभिन्न-सुरभिगन्धैरपि कस्यचित् स्वभावप्रत्यासत्त्या पद्मादिसुरभिसदृशगन्धं द्रव्यान्तरं निर्वर्त्यते, पद्मगन्धि, किञ्जल्कगन्धि मालतीगन्धि इत्यादि।'

इससे 'नख' या 'नखी' पाठ ही शुद्ध प्रतीत होता है।

द्रव्य में अवस्थित रहता हुआ ही अभिव्यक्त होता है। वह सर्वथा अभिनव रूप में उत्पाद्य नहीं है।

प्रस्तुत कारिका में 'सदृशग्रहणानाम्' यह पद दुरूह है। श्रीवृषभाचार्य ने सदृश-ग्रहण का एक इन्द्रिय अर्थ किया है। श्लोकवार्तिक का टीका 'न्यायरत्नाकार' में पार्थ-सारथिमिश्र ने इस पर कहा है—'सदृशं विषयसदृशमिन्द्रियगतं रूपादिकं ग्रहणं ग्राहकं येषामिति विग्रहः शेषं पूर्ववत्। अस्मिन् पक्षे सदृशग्रहणा रूपादयः विसदृश-ग्रहणा घटादय इति बोध्यम्।'

सदृश अर्थात् विषय के सदृश इन्द्रियगत रूपादिक हैं ग्रहण या ग्राहक जिनके। सदृश ग्रहण रूपादि विषय होंगे और विसदृश ग्रहण घटादिक।

तात्पर्य यह है—चक्षु इन्द्रियगत रूप गुण द्वारा घटात्मक द्रव्य का साक्षात्कार, विसदृश ग्रहणग्राह्य का प्रत्यक्ष हुआ। रूप गुण है और घट द्रव्य, अतः गुण के द्वारा द्रव्य के साक्षात्कार में वैजात्य या विसदृशता है। इन्द्रियगत रूप द्वारा बाह्य रूप के ग्रहण में सादृश्य या साजात्य है।

एक अन्य टीकाकार ने कहा है—

'सदृशं तुल्यमिन्द्रियद्वयेन ग्रहणमुपलब्धिर्येषां द्वीन्द्रियग्राह्याणां द्रव्याणाम्' ॥ ९७ ॥

अग्रिम कारिका में एक अन्य आशङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हैं—

प्रकाशकानां भेदांश्च प्रकाश्योऽर्थोऽनुवर्तते।
तैलोदकादिभेदे तत्प्रत्यक्षं प्रतिबिम्बके ॥ ९८ ॥

प्रकाशकानां भेदान् च प्रकाश्यः अर्थः अनुवर्तते। तत् तैलोदकादिभेदे प्रतिबिम्बके प्रत्यक्षम्।

प्रकाशक अर्थात् अभिव्यञ्जकों की संख्या वृद्धि और ह्रास रूपी भेदों को, प्रकाश्य अर्थ (पदार्थ) अनुसरण करता है। यह बात तेज, जल और खड्ग आदि के प्रतिबिम्ब में देखी जाती है।

वृत्तिः—अथापरः पूर्वपक्षः—नाभिव्यज्यते शब्दः। वृद्धिह्लाससङ्ख्याभेदेष्व-भिव्यञ्जकानामभिव्यङ्ग्यस्य तद्धर्मसमन्वयात्। नह्यभिव्यञ्जकानां वृद्धि-ह्रासयोरभिव्यङ्ग्यानामर्थानां वृद्धिह्रासावुपलभ्येते। तद्यथा—प्रदीपस्य वृद्धि-ह्रासौ न घटादीनाम्। न खल्वपि प्रदीपस्य सङ्ख्याभेदे सङ्ख्यान्तरयुक्तानां घटादीनां प्रदीपसङ्ख्याभेदनिमित्तः सङ्ख्यान्तरयोगो दृश्यते। शब्दस्य त्वभि-घातभेदे दृश्यते सङ्ख्यापरिमाणभेदः। तस्मान्नाभिव्यज्यत इति। तत्र प्रति-विधीयते—

विवरण—अब अन्य पूर्वपक्ष। शब्द अभिव्यक्त नहीं होता, क्योंकि अभिव्यञ्जक नाद के वृद्धि, ह्रास और संख्याभेद अभिव्यङ्ग्य शब्द में भी देखे जाते हैं। किन्तु

अन्य अभिव्यञ्जकों के वृद्धि और ह्रास से अभिव्यंग्य पदार्थों में वृद्धि और ह्रास उपलब्ध नहीं होते। जैसे प्रदीप की वृद्धि और ह्रास से घटादि में वृद्धि आदि नहीं होती। इसके अतिरिक्त प्रदीप के संख्याभेद होने पर संख्यान्तरयुक्त घटादिकों का, प्रदीप की संख्याभेद के कारण संख्यान्तर योग अर्थात् मूल संख्या में बढती नहीं दिखलाई देती। किन्तु शब्द में अभिघातभेद से संख्या और परिमाण भेद लक्षित होता है। अल्प अभिघात से अल्पशब्द और महदभिघात से महान् शब्द। इस प्रकार यह परिमाणभेद स्पष्ट है।

एक अभिघात से एक शब्द और दो से दो, यह संख्याभेद हुआ। अतः शब्द अभिव्यक्त नहीं होता, यह स्पष्ट है। इस आशङ्का का समाधान प्रस्तुत किया जाता है।

वृत्तिः—दृष्टमभिव्यङ्ग्यानामभिव्यञ्जकभेदानुविधानम्। तद्यथा—निम्नेष्वादर्शतलादिषु मुखप्रतिबिम्बमुन्नतं दृश्यते, उन्नतेषु निम्नं, खड्गे दीर्घं, प्रियङ्गुतैले श्यामं, चीनशस्त्रयवनकाचादिष्वादर्शप्रमाणभेदानुपातीत्यपरिमाणो भेदविकल्पः। सङ्ख्याभेदोऽप्यादर्शभेदे जलतरङ्गभेदे च दृश्यते सूर्यादिप्रतिबिम्बानाम् ॥ ९८ ॥

विवरण—अभिव्यञ्जक के भेदों का अनुसरण अन्यत्र अभिव्यङ्ग्यों में देखा गया है। जैसे—निम्न दर्पण-तलो में मुख का प्रतिबिम्ब ऊँचा दिखलाई देता है तथा उन्नत दर्पण-तलों में निम्न; इस प्रकार संस्थान या आकार भेद हुआ। तलवार में मुख का प्रतिबिम्ब दीर्घ या लम्बा परिदृष्ट होता है, यह प्रमाणभेद हुआ। फूल-प्रियंगु के तेल में मुख का प्रतिविम्ब श्यामवर्ण दिखलाई देता है, यह वर्णभेद हुआ। चीन देश के बने शास्त्रों, यवन तथा पारसीक देशोद्भव काच से निर्मित दर्पणों के प्रमाणभेद का अनुसरण करने वाले अनन्त भेदों के विकल्प देखे जाते हैं। सूर्यादि के प्रतिबिम्बों का संख्याभेद भी दर्पणभेद एवं जलतरङ्गभेद से देखा जाता है। जैसे उक्त एक ही विम्ब अनेक रूपों में लक्षित होता है, वैसे ही एक स्फोट भी ॥ ९८ ॥

वृत्तिः—(गत अवतरणिका) तत्रैतत् स्यात्—प्रतिबिम्बमादर्शादिषु चन्द्रादिभ्यो भावान्तरमेव सन्निविष्टमुपलभ्यत इति। तत्र प्रतिविधीयते—

विवरण—उपर्युक्त विषय में यह कहा जा सकता है कि दर्पण आदि में जो प्रतिबिम्ब दिखलाई देता है, वह चन्द्रादिक से भिन्न पदार्थान्तर ही इनमें सन्निविष्ट उपलब्ध होता है। अग्रिम कारिका द्वारा इस आक्षेप का समाधान प्रस्तुत करते हैं—

विरुद्धपरिमाणेषु वज्रादर्शतलादिषु।
पर्वतादिसरूपाणां भावानां नास्ति सम्भवः ॥ ९९ ॥

विरुद्धपरिमाणेषु वज्रादर्शतलादिषु पर्वतादिसरूपाणां भावानां सम्भवः नास्ति।

विरुद्ध अर्थात् अल्पपरिमाण वाले हीरा, दर्पणतल और जलादिक में पर्वत एवं तत्सदृश महापरिमाण वाले पदार्थों की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

वृत्तिः—नहि वज्रादिष्वाधारेषु विरुद्धपरिमाणानामन्तःसन्निवेशिनां पर्वतादिसरूपाणां भावानामुत्पत्तिः सम्भवतीति ॥ ९९ ॥

विवरण—हीरा आदि आधार लघुपरिमाण वाले हैं और वंतादि महापरिमाण वाले हैं, अतः महत्परिमाणवाले पर्वतादिकों का हीरा इत्यादि लघुपरिमाण वाले आधारों में समावेश न होने से उनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं। वज्र अत्यन्त निविड़ या सघन अवयववाला होता है, उसमें सूक्ष्मतर अवयव वाले किसी अपूर्व पदार्थ का सन्निवेश नहीं हो सकता।

'वज्रादर्शजलादिषु' तथा 'वज्रादर्शनखादिषु' ये पाठ भी उपलब्ध होते हैं, किन्तु बहुल पाठ 'वज्रादर्शतलादिषु' ही है। श्रीवृषभाचार्य ने आदि शब्द से 'जलतरङ्गेषु च' ऐसा अर्थ किया है। उनका अभीष्ट पाठ 'वज्रादर्शतलादिषु' ही है ॥ ९९ ॥

इस प्रकार व्यङ्ग्य स्फोट में व्यञ्जक ध्वनियों द्वारा कालभेद उपचरित होता है, इस बात का प्रतिपादन करके निगमन (उपसंहार) करते हैं—

तस्मादभिन्नकालेषु वर्णवाक्यपदादिषु।
वृत्तिकालः स्वकालश्च नादभेदाद्विभज्यते ॥ १०० ॥

तस्माद् अभिन्नकालेषु वर्णवाक्यपदादिषु नादभेदाद् वृत्तिकालः स्वकालः च विभज्यते।

यतः अभिव्यङ्ग्य अभिव्यञ्जक धर्म का अनुवर्तन करता है, इसलिए कालभेद-रहित वर्ण, पद और वाक्य तथा अनुवाक्य, स्फोटों में नाद या ध्वनि के भेद से द्रुत, मध्यम और विलम्बित रूप वृत्तिकाल, ह्रस्वादि स्वकाल एवं पौर्वापर्य व्यवहार विभक्त हो जाता है ॥ १०० ॥

वृत्तिः—नित्यानां हि स्थितौ सहकारिण्याः कालशक्तेर्व्यापारो न विद्यते। लोके व्यवहारेण तु बुद्ध्या पूर्वान्तापरान्तयोरनुगम्यमानात्मतत्त्वाः स्थितिं प्रति न भिद्यन्ते सर्व एव प्रचितापचितरूपा वर्णपदवाक्याख्याः स्फोटाः। उपलब्धिविषयतापत्तौ तु तेषामभिन्नकालानामुपलब्धिस्थित्यभिमानः।

विवरण—नित्य पदार्थों की स्थिति (सतत विद्यमानता) में सहकारी कारण कालशक्ति का व्यापार नहीं चलता। अनित्य पदार्थ अनुकूल कालशक्ति से अनुगृहीत होकर चिरकाल तक वर्तमान रहते हैं तथा प्रतिकूल कालशक्ति से अनुगृहीत होकर शीघ्र ही तिरोहित हो जाते हैं। शब्द (स्फोट) नित्य है, अतः वहाँ उसकी स्थिति के प्रति काल का व्यापार नहीं होता। स्फोट की प्रत्यक्ष उपलब्धि का पूर्वकाल पूर्वान्त है और पश्चाद्भावी काल अपरान्त है। वर्ण, पद एवं वाक्य नामक

समस्त स्फोट, जो ध्वनि के कारण दीर्घ एवं प्लुत रूप में प्रचित और ह्रस्वरूप में अपचित प्रतीत होते हैं, उनकी सतत वर्तमानता रूप स्थिति में कालभेद नहीं होता। लो.क-व्यवहार में प्रत्यक्ष उपलभ्यमान स्फोट का जब अभिव्यक्ति के पहले और पश्चात् उपलम्भ नहीं होता तो उसे पूर्वान्त और अपरान्त कहते हैं। वस्तुतः उन दोनों अवस्थाओं में स्फोट की प्रत्यक्ष अनुपलब्धि में भी उन स्फोटों के स्वरूप का अनुमान होने से भेद नहीं है, क्योंकि उनकी स्थिति सदा रहती है।

स्फोटों में स्वतः प्रचय और अपचय नहीं होता। उपलब्धि काल में तो उनके अभिन्नकालिक होने पर भी बुद्धि से सम्बद्ध स्थिति का अभिमान मात्र होता है।

वृत्ति में 'प्रचितापचित' के स्थान पर 'अप्रचितप्रचित' पाठ भी कुछ लोग मानते हैं—ऐसा श्रीवृषभाचार्य ने कहा है। 'अप्रचितप्रचित इति केचित् पठन्ति। सर्वेष्वेव प्रचयापचयौ स्वतो न विद्येते इति।' —पद्धति।

वृत्तिः—वृत्तिकालः स्वकालश्चेति। नादो हि प्राकृतः शब्दात्मनि प्रत्यस्यमानस्थितिरूपो भेदस्याग्रहणार्थं ह्रस्वदीर्घप्लुतकालभेदव्यवहारव्यवस्थाहेतुः। वैकृतस्तु नादो बाह्यद्रुतादिवृत्तिकालव्यवस्थां प्रकल्पयति ॥ १०० ॥

विवरण—वृत्तिकाल और स्वकाल क्या है? इसका निरूपण करते हुए कहते हैं कि प्राकृत नाद ही स्थान और करण से आक्षिप्त होकर शब्दात्मा स्फोट में स्थितिरूपता को प्राप्त करके परस्पर (नाद और स्फोट में) भेद के अग्रहण से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत इस भेद-व्यवहार की व्यवस्था का कारण बनता है। अतः प्राकृत नाद का काल ही स्वकाल है। प्राकृत ध्वनि के धर्म ह्रस्वत्व आदि स्फोट में तादात्म्याध्यास से स्फोट के धर्म के समान प्रतीत होते हैं, अतः इनका काल स्वकाल के नाम से कहा जाता है। और वैकृत नाद, स्फोटात्मक शब्द की अवधारणा के अनन्तर उत्पन्न होता हुआ भिन्न रूप में गृहीत होकर अध्यारोप का कारण बनने से बाह्य रूप द्रुतादि वृत्तियों के काल-व्यवस्था की कल्पना करता है तथा उतने काल तक स्फोट की उपलब्धि का कारण बनता है। प्राकृत नाद के साथ ही अभिन्न रूप में स्फोट का प्रत्यक्ष होता है और वैकृत नाद स्फोटात्मक शब्द की अवधारणा के अनन्तर उत्पन्न होता है, यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है।

श्रीवृषभाचार्य ने कहा है—'वैकृतस्तु इति। स शब्देऽवधारिते पश्चाः भवन्नवसितभेदत्वान्नाध्यारोपनिबन्धनमिति तदीयकालेन द्रुतादिवृत्तिकालः।'

वृत्ति का बहुल पाठ 'भेदस्याग्रहणार्थम्' है। श्रीवृषभ 'भेदस्याग्रहणात्' ऐसा पाठ मानते हैं, जो अधिक उचित प्रतीत होता है। कारिकागत 'विभाज्यते' के स्थान पर 'विभिद्यते' और 'विभाव्यते' के दो पाठ भी उपलब्ध होते हैं ॥ १०० ॥

प्रस्तुत कारिका द्वारा कार्य या अनित्य पक्ष में स्फोट और ध्वनि का भेद प्रदर्शित करते हैं—

यः संयोगविभागाभ्यां करणैरुपजन्यते ।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः ॥१०१॥

करणैः संयोगवियोगाभ्यां यः उपजन्यते सः स्फोटः शब्दजाः शब्दाः अन्यैः ध्वनयः उदाहृताः ।

स्थान और प्रयत्नों द्वारा जिह्वा के अग्र उपाग्र, मध्य और मूलादि भागों के संयोग और विभाग से जो उत्पन्न होता है, वह स्फोट है और उस स्फोटाख्य शब्द से उत्पन्न जो शब्द हैं, उन्हें नित्यशब्दाभिव्यक्तिवादियों से भिन्न उत्पत्तिवादी आचार्यों ने ध्वनि कहा है । अनित्यस्फोटवादी कौन वैयाकरण हैं ? यह स्पष्ट नहीं है । वैशेषिक, जो अनित्यशब्दोत्पत्तिवादी हैं, वे स्फोट इस आख्या को स्वीकार नहीं करते ।

वृत्तिः—अनित्यपक्षे स्थानकरणप्राप्तिविभागहेतुकः प्रथमाभिनिर्वृत्तो यः शब्दः स स्फोट इत्युच्यते । तज्जातस्तु सर्वदिक्कालस्तद्रूपप्रतिविम्वोपग्राहिणः सर्वद्रव्याणां स्वेनात्मना निरवयवत्वाद् आकाशस्यापि मुख्यसमवायिदेशवत् संयोगिद्रव्यान्तरदेशप्रविभागोपचारे सति, देशनैरन्तर्यप्रत्यासत्त्या कार्यकारण-सन्तानाविच्छेदेन यथोत्तरमपचीयमानपूर्वप्रतिविम्वोपग्रहशक्तयो मन्दप्रदीप-प्रकाशितरूपकल्पाः क्रमेण प्रध्वंसमाना ये वर्णश्रुतिं विभजन्ति ते ध्वनय इत्युच्यन्ते ।

विवरण—अनित्य पक्ष में स्थान-ताल्वादि और करण—आभ्यन्तर प्रयत्न की प्राप्ति और विभाग जिसमें कारण है, ऐसा प्रथम उत्पन्न शब्द स्फोट कहलाता है । और स्थानकरण की प्राप्ति एवं विभाग से जन्य स्फोटात्मक शब्द से उत्पन्न कदम्बकोरक के समान अथवा वीचिसन्तान के सदृश दशदिग्व्यापी होकर शब्द दशों दिशाओं में स्थित श्रोताओं के कर्णदेश को प्राप्त होते हैं । अनित्य पक्ष में प्राकृत-ध्वनि ही स्फोट है और उससे उत्पन्न शब्द प्राकृतध्वनि का ही अनुकरण करते हैं, अतः उसकी छाया से उपरक्त होकर या उसके प्रतिबिम्ब को ग्रहण करते हुए दूरदेशों में सुने जाते हैं । समस्त पदार्थ (घटादि) स्वरूपतः निरवयव होते हैं, अतः उनमें देशभेद औपचारिक होता है । घटादिकों के आरम्भक जो कपालादि अवयव हैं, उन्हीं में घटादि देश का व्यवहार होता है । वे अवयव घटादि से भिन्न—अर्थान्तर हैं, अतः उनमें घटादि देशत्व उपचरित है । समस्त जन्य वस्तुओं का मुख्य समवायी तो काल और दिशा ही है । अतः काल के जो क्षणादि देश हैं और दिशा के जो पूर्वादि देश हैं, वे जन्य पदार्थ अर्थात् घटादि में आरोपित होते हैं ।

इसी प्रकार एक ही आकाश में आकाश के संयोगी घटादि द्रव्यान्तर के सम्बन्ध से जनित देशभेद के उपचरित होने पर आकाशवर्ती वर्णों के देशनैरन्तर्यात्मक प्रत्या-सत्ति के साथ, पूर्व-पूर्व ध्वनिकारण बनती हैं और उत्तर-उत्तर कार्य । इस प्रकार उत्तरोत्तर उत्पन्न ध्वनियों में विद्यमान पूर्व प्रतिबिम्ब के ग्रहण की शक्ति, क्षीण

होती जाती है; जिससे दूरदेशवर्ती लोग क्षीण ध्वनि का ग्रहण करते हैं और उससे भी दूरवर्ती लोग अव्यक्त ध्वनिमात्र। जैसे मन्दप्रदीप से प्रकाशित अस्पष्ट (आरूप मात्र) पदार्थ। वैसे ही जो क्रमशः मन्द, मन्दतर एवं मन्दतम होती हुई वर्ण रूप श्रुतियों का विभाग करती हैं, वे ध्वनि कहलाती हैं।

श्रीवृषभाचार्य ने 'मन्दप्रदीप प्रकाशित' पर कहा है—'मन्द प्रदीप से प्रकाशित जो आरूप—अर्थात् अस्पष्ट रूप, उसके तुल्य ध्वनियाँ। क्योंकि प्रदीप के समीपवर्ती जो पदार्थ-व्यक्तियाँ हैं, वे स्पष्ट रूप से ग्राह्य होती हैं और दूरवर्ती आरूपमात्रग्राह्य। यद्यपि ध्वनि प्रदीप के तुल्य होती है, प्रकाश्य रूप के सदृश नहीं, तो भी जो स्फोट या प्राकृत ध्वनि या वर्ण हैं, वह मन्द स्फोट (ध्वनि ?) से उपलभ्य होता है। इस प्रकार ध्वनि और स्फोट के अभेदाभिमान से उक्त रूप में कहा गया है।

'वर्णश्रुतिम्' पर टीका करते हुए श्रीवृषभ कहते हैं—'ये अन्तरालवर्तिनः प्रविभक्ताक्षराः ते स्फोटरूपोपग्रहा व्यञ्जका एव ध्वनयः। ये त्वनिष्क्रान्ताक्षरभागाः तेऽपि ध्वनय इति वक्ष्यति।'

अनित्यस्फोटवादी कौन लोग थे, यह स्पष्ट नहीं। यद्यपि तान्त्रिकों[1] के यहाँ 'स्फोट' यह आख्या सुनी जाती है, फिर भी वह अव्यक्त अष्ट नादों के अन्तर्गत होने से उपर्युक्त वर्णना का अनुसरण नहीं करती।

वृत्तिः—नित्यपक्षे तु संयोगजविभागजध्वनिव्यङ्ग्यः स्फोटः। एकेषां संयोगविभागजध्वनिसम्भूतनादाभिव्यङ्ग्यः। स्फोटरूपानुग्राहिणस्तु यथोत्तरमपचीयमानाभिव्यक्तिसामर्थ्या द्रुतादिवृत्तिभेदव्यवस्थाहेतवोऽपचयात्मका ध्वनयः ॥ १०१ ॥

विवरण—नित्यस्फोटवादियों के मत में संयोग और विभाग से उत्पन्न ध्वनि द्वारा स्फोट अभिव्यक्त होता है। कुछ लोगों का मत है कि संयोग और विभाग से उत्पन्न ध्वनि से सम्भूत नाद द्वारा स्फोट अभिव्यङ्ग्य है। स्फोटरूप को बराबर ग्रहण करने वाली यथोत्तर क्षीण होने वाली अभिव्यक्ति के सामर्थ्य से युक्त द्रुतादि वृत्तियों के भेद की व्यवस्था की हेतुभूत अपचयात्मक ध्वनि कहलाती है।

---

१. स्वच्छन्दतन्त्र—

'अष्टधा स तु देवेशि व्यक्तः शब्दप्रभेदतः।
घोषो रावः स्वनः शब्दः स्फोटाख्यो ध्वनिरेव च ॥ ६ ॥
झाङ्कारो ध्वङ्कृतश्चैव अष्टौ शब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ७ ॥ —पटल ११।
वाक्यस्य स्फुटतां धत्ते वर्णभेदावभासकः।
स्फोट इत्युदितो नादः पञ्चमः शास्त्रभिस्ततः ॥

—स्वच्छन्दतन्त्रोद्योत में उद्धृत धर्मशिवाचार्य की पद्धति

यहाँ नित्यपक्ष में अभिव्यङ्ग्य स्फोट को लेकर दो मतों का उल्लेख हुआ है। श्रीवृषभाचार्य ने 'एकेषामिति। शब्दव्यक्तिस्फोटवादिनाम्।' अर्थात् द्वितीय मत शब्दव्यक्तिस्फोटवादियों का है, ऐसा कहा है।

चौखम्बा संस्करण की लघ्वी वृत्ति में अधोलिखित व्याख्या प्रस्तुत है—

'नित्यत्वपक्षे तु संयोगविभागध्वनिव्यङ्ग्यस्फोट इति केषाञ्चिन्मतम्। अन्येषां संयोगविभागफलजध्वनिसम्भूतनादाभिव्यङ्ग्य इति मतम्। तत्र पूर्वावस्थास्ते ह्रस्व-दीर्घादिव्यवहारहेतवो यथोत्तरमपचीयमानाभिव्यक्तयस्तु ध्वनयो नादा वा द्रुतादि-वृत्तिभेदव्यवस्थाहेतव इति बोध्यम्।'

'केषाञ्चिन्मतम्' तथा 'अन्येषां मतम्' के द्वारा दोनो मतों को स्पष्ट किया गया। तदनन्तर 'तत्र पूर्वावस्थास्ते' के द्वारा द्वितीय मतान्तर्गत संयोग और विभाग के परिणामस्वरूप निष्पन्न वे ध्वनियाँ ह्रस्व और दीर्घ आदि के व्यवहार की हेतु बनती हैं। —यह बात कही गई। इसके अनन्तर यथोत्तर क्षीण और क्षीणतर अभिव्यक्ति-वाली ध्वनियाँ अथवा नाद द्रुतादि वृत्तियों के भेद की व्यवस्था का कारण बनती हैं— ऐसा विवरण प्रस्तुत किया गया।

यह विवरण श्रीवृषभ के प्रस्तुत व्याख्यान पर आधृत है—'संयोगविभागजनित-ध्वनिसम्भूतेन नादेन यदभिव्यङ्ग्यं स्फोटरूपं तस्योत्तरे ध्वनिजा ध्वनयोऽपचीयमाना-भिव्यक्तिशक्तयो द्रुतादिव्यवस्थाहेतवः, येषामन्तेऽनुरणनमात्रं भवति। ते चापि ध्वनय उच्यन्ते।' इसके आगे का पाठ भ्रष्ट एवं त्रुटित है।

श्री नृसिंह त्रिपाठी ने अपनी टीका में कहा है—

'नित्यत्वपक्षेऽपि जातिव्यक्तिवादिनां मतद्वयम्—तत्राद्ये कण्ठादिनिष्ठसंयोगविभाग-जान्यनेकध्वनिव्यङ्ग्यो निरवयववर्णत्वादिजातिस्फोटः। द्वितीये तु संयोगविभागज-ध्वनिसम्भूतनादाभिव्यङ्ग्यः स्फोटः। तत्र प्राथमिकप्राकृतध्वनिहेतुको ह्रस्वादिव्यवहारः यथोत्तरमु(म ?)पचीयमानाभिव्यङ्ग्यव्यञ्जनासमर्था वैकृता ध्वनयो द्रुतादिवृत्ति-व्यवहारहेतव इति।'

श्रीवृषभाचार्य के 'एकेषां शब्दव्यक्तिस्फोटवादिनाम्' के आधार पर प्रथम मत को ऊपर जातिस्फोटवादिसम्मत माना गया। किन्तु श्रीवृषभ का मत ही विचारणीय है, अन्य के लिए क्या कहना। 'नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः–' इस कारिका की वृत्ति में शब्दाकृति(जाति)वाद और शब्दव्यक्तिवाद विवृत हुआ है, किन्तु वहाँ इस प्रकार का कोई सङ्केत उपलब्ध नहीं।

ध्वनि और नाद में कोई भेद है, ऐसा एक ही उदाहरण कारिका या वृत्ति में उपलब्ध नहीं। 'वितर्कितः पुरा बुद्ध्या–' इस कारिका की वृत्ति में प्रस्तुत सन्दर्भ उपलब्ध होता हैं, जिसमें ध्वनि और नाद शब्द का प्रयोग हुआ है—

'तच्च सूक्ष्मे व्यापिनि ध्वनौ करणव्यापारेण प्रचीयमाते स्थूलेनाभ्रसङ्घातवदुप-

लभ्येन नादात्मना प्राप्तविवर्तेन तद्विवर्तानुकारेणात्यन्तमविवर्तमानं विवर्तमानमिव गृह्यते' ।। ४७ ।।

यहाँ प्रतीत होता है कि ध्वनि सूक्ष्म होती है और नाद स्थूल; किन्तु बात ऐसी नहीं है। दोनों ही पर्याय हैं। स्वयं श्रीवृषभ कहते हैं—'सूक्ष्मे इति। परमाणुकल्पत्वान्नादभागानाम्। व्यापिनि इति। तेषां च नादभागानां सकलव्योमव्यापित्वात्।'

'नादस्य क्रमजन्मत्वात्–' का अर्थ श्रीवृषभ इस प्रकार करते हैं—'ध्वनेर्व्यञ्जकस्य क्रमोत्पत्त्या–' ।। ४८ ।। 'नादैराहितबीजायाम्–' की पद्धति में 'नादैः इति। ध्वनिभिः।' ऐसा कहा है।

वस्तुतः प्रस्तुत वृत्ति के ध्वनि और नाद शब्द पर्याय नहीं हैं। श्रीवृषभाचार्य का 'एकेषाम्' का अर्थ 'शब्दव्यक्तिवादिनाम्' भी समुचित है और अमूलक नहीं है। इसका मूल भगवान् भर्तृहरि की महाभाष्य-दीपिका में उपलब्ध है।

ध्वनि और नाद में इस प्रकार भेद समझना चाहिए—'पदनियतो नादः' (महाभाष्यदीपिका)। जैसे ध्वनि है 'क' वर्ण; यह ध्वनि 'कवि' 'काम' 'कौतुक' 'कम्र' आदि पदों में एक है, किन्तु प्रत्येक पद में इसका उच्चारण नियत है और यह उच्चारण ही नाद है। एक ही ध्वनि नादभेद से भिन्न हो जाती है—'शब्दा अपि नादभेदेन भिद्यन्ते।'

१. संयोगविभागजध्वनिव्यङ्ग्यस्फोट और २. संयोगविभागजध्वनिसम्भूतनादव्यङ्ग्यस्फोट ये क्रमशः शब्दजातिस्फोट और शब्दव्यक्तिस्फोटवादी मत हैं। इन्हें समझने के लिए प्रस्तुत महाभाष्य-दीपिका का सन्दर्भ द्रष्टव्य है—

'य एते शब्दाः किं ते शब्दाकृतय आहोस्वित् शब्दव्यक्तय इति ?

१. तत्र यदायं वृक्षो वृक्ष इति वृक्षादयः शब्दाः क्रमजन्मानः, अयुगपत्कालाः वृक्षशब्दत्वाकृतेरक्रमाया अभिव्यक्तिहेतवो भवन्ति यथा सास्नादयो गोत्वस्येति तदा वृक्षशब्दत्वादर्थप्रतिपत्तिः। सा च नित्या। अभ्यासाच्च सा कृतिः केनचित्पुरुषेण कतिभिश्चिदेव वर्णव्यक्तिभिरवगृह्यते। ये वा (येषां) रेखामात्रेणैव चित्रे प्रतिपद्यन्ते पुरुषोऽयं लिख्यते हस्ती नेति एतस्मिन्दर्शने नित्यः शब्दः। तत्र चैतदुक्तमुभयतः स्फोटमात्रं प्रतिनिर्दिश्यते रश्रुतेर्लश्रुतिरिति।'

२. 'यस्यापि शब्दव्यक्तिस्तस्यापि नित्यः शब्दः। स तु नादाभिव्यङ्ग्यः। पदनियतो नादः। यथा चक्षुरादयो नियता अभिव्यञ्जका अभिव्यङ्ग्येषु रूपादिषु रूपवृद्धिह्रासानुविधायिनश्च। यथादर्शमण्डलादिषु प्रतिबिम्बानि दीर्घाणि परिमण्डलानि महान्ति अन्यानि च दृश्यन्ते एवं शब्दा अपि नादभेदेन भिद्यन्ते। यथा सलिले तरङ्गभेदेन एकश्चन्द्रोऽनेक उपलभ्यते। प्रदीपभेदाच्च छाया भिद्यते। आदर्शभेदाच्च प्रतिबिम्बभेदः। तस्मान्नियता नादाभिव्यङ्ग्या ह्लादवृद्धिह्रासानुविधायिनो व्यक्तिशब्दा अपि नित्याः।'—महाभाष्यदीपिका

अर्थात् जो ये शब्द हैं, वे शब्दजातिरूप हैं अथवा शब्दव्यक्तिरूप ?

१. इनमें जब यह वृक्ष है, यह वृक्ष है, यह भी वृक्ष है—इस प्रकार वृक्षादि शब्द, जो क्रमजन्मा हैं और एक कालिका नहीं हैं, वे वृक्षशब्दत्वरूप अक्रम जाति (आकृति) की अभिव्यञ्जना का कारण बनते हैं, जैसे सास्नादिक (गलकम्बल आदि) गोत्व के, तब वृक्षशब्दत्व से अर्थ की प्रतीति होती है। और यह वृक्षशब्दत्वरूप जाति नित्य है। अभ्यास के कारण वह आकृति (जाति) किसी पुरुष के द्वारा कुछ ही वर्णव्यक्तियों के सहारे गृहीत होती है। अथवा जो लोग रेखामात्र से ही चित्र में यह पुरुष की आकृति अङ्कित है, हाथी की नहीं—ऐसा समझते हैं; इस दर्शन (मत) में शब्द नित्य है। इस विषय में महाभाष्य में कहा गया है—उभयतः अर्थात् स्थानी और आदेश दोनों में स्फोटमात्र (जातिमात्र) का निर्देश किया जाता है—रेफावभासी स्फोट के स्थान पर लकारावभासी स्फोट होता है।

यहाँ यह ककार है, यह ककार है, यह भी ककार है; इस प्रकार जैसे कत्वरूप जातिस्फोट का बोध होता है, वैसे ही यह वृक्ष है आदि में वृक्षशब्दत्व रूपजाति का बोध होता है। और यह जातिस्फोट अनेक वर्णात्मक ध्वनियों से अभिव्यक्त होता है। इसी मत के अन्तर्गत यह एक भेद हुआ। दूसरे भेद को 'ये वा' के द्वारा दिखलाते हैं—जैसे चित्रगत हस्ती या पुरुष रेखामात्र है, वैसे ही विविध वर्णाविभासिता रहने पर स्फोट जातिरूप ही होता है।

२. दूसरा मत है कि जो शब्द व्यक्तिवादी हैं, उनके मत में भी शब्द नित्य है। किन्तु वह नाद के द्वारा अभिव्यङ्ग्य है। नाद पद में नियत होता है। जैसे नेत्रादि, रूपादि अभिव्यङ्ग्यों के नियत अभिव्यञ्जक हैं और रूप की वृद्धि तथा ह्रास का अनुविधान करने वाले हैं। जैसे दर्पणमण्डलादि में प्रतिबिम्ब दीर्घ, परिमण्डल (गोल) विशाल तथा भिन्न रूप दिखलाई देते हैं, वैसे ही शब्द भी नाद-भेद से भिन्न हो जाते हैं। जैसे जल में तरङ्ग-भेद से एक चन्द्रमा अनेक हो जाता है। जैसे प्रदीप के भेद से छाया भिन्न होती है। आदर्श-भेद से प्रतिबिम्ब भेद होता है। अतः व्यक्ति शब्द भी नियत नाद से अभिव्यङ्ग्य तथा शब्द (ह्राद) की वृद्धि एवं ह्रास के अनुविधायी होते हुए नित्य होते हैं॥ १०१॥

प्रस्तुत दो श्लोकों से प्राकृत और वैकृत नाद का भेद (विशेष) कहते हैं। इस अग्रिम कारिका से वैकृत ध्वनि का वैशिष्ट्य कहा गया है। आचार्य श्रीवृषभ इस कारिका की अवतरणिका प्रस्तुत रूप में उपस्थित करते हैं—

'संयोगजो ध्वनिः स्फोटः तज्जास्तु ध्वनय इति अनित्यपक्षे प्रक्रियावर्णनायाह अल्पे इति।'

किन्तु 'दूरातप्रभेव'–इस कारिका की वृत्ति के अन्तिम—'स चायं श्लोकद्वयेनान्तरेण प्राकृतवैकृतयोर्नादयोर्विशेष आख्यातः।'—सन्दर्भ के अनुरोध से मैंने उपर्युक्त अवतरणिका को स्वीकार किया है। स्वयं श्रीवृषभ ने 'स चायम्' इसकी व्याख्या में कहा है—

'नापूर्वो दर्शनभेदः किन्तु पूर्वेणानेन श्लोकेन प्राकृतवैकृतध्वनिभेद एवोपन्यस्तः। 'अल्पे महति वा' इत्यनेन वैकृतध्वनिविशेष उक्तः। 'दूरात्प्रभेव' इति प्राकृतध्वनिभेदः।'

अतः प्रस्तुत दोनों कारिकाओं में अनित्य पक्ष की प्रक्रिया का वर्णन नहीं है।

अल्पे महति वा शब्दे स्फोटकालो न भिद्यते।
परस्तु शब्दसन्तानः प्रचयापचयात्मकः॥ १०२॥

शब्दे अल्पे महति वा स्फोटकालः न भिद्यते। परः शब्दसन्तानः तु प्रचयापचयात्मकः।

शब्द अर्थात् नित्यपक्ष में स्फोटात्मक शब्द चाहे अल्प अर्थात् स्वल्पदेशव्यापी हो अथवा महान् या दूरदेशव्यापी हो, स्फोटकाल में भेद नहीं होता। उत्तरवर्ती जो ध्वनि-धारा है, वही प्रचय या अधिकदेशव्यापी और अपचय या अल्पदेशव्यापी होती है॥ १०२॥

वृत्तिः—देशव्याप्तिसामान्यादल्पमहत्त्वे शब्दस्योपचर्येते। प्रसिद्धेर्वा। सर्वत्र हि प्रसिद्धिरेवार्थव्यवस्थाकारणम्। अनवस्थितैव हि तर्कागमाभ्यां भिन्नेषु प्रवादेषु वस्तुगता व्यवस्था।

तत्राविशेषेण कार्यशब्दानां कारणशब्दानां चोत्पन्नापवर्गित्वान्नास्ति महतोऽल्पस्य वा शब्दस्य सूक्ष्मोऽपि कश्चित्कालभेदः। हस्तिमशकज्ञानवत्। निमित्तभेदात्तु कार्यारम्भे शब्दस्य सामर्थ्यं भिद्यते। कस्यचिद्धि भेरीदण्डाभिघातजस्येव कार्यपरम्परा दूरमनुपतति। कश्चित्तु लोहकंसाभिघात इव प्रत्यासन्नदेशग्राह्यं दीर्घकालं सन्तानमविच्छेदेनारभते॥ १०२॥

विवरण—जैसे सूची और पर्वत आदि मूर्त पदार्थ अल्प और महान् देश में व्याप्त होते हैं, इसी सामान्य को लेकर स्फोटात्मक शब्द में भी अल्पत्व और महत्त्व उपचरित होते हैं। वस्तुतः उसमें अल्पत्व-महत्त्व रूप भेद नहीं होते।

अथवा लोकप्रसिद्धि से अल्पत्व और महत्त्व शब्द का स्वभाव हो सकता है, क्योंकि सर्वत्र लोक में प्रसिद्धि ही पदार्थ के स्वभाव की व्यवस्था का कारण होती है। पुरुषों की प्रतिभा के वश से तर्क अनवस्थित है (उसकी कोई सीमा नहीं) और आगम में सिद्धान्तों का भेद देखा जाता है, अतः इनसे (तर्क और आगम से) वस्तु के स्वभाव की व्यवस्था नहीं हो सकती। इस विषय में अविशिष्ट रूप से चाहे कार्यशब्द या वैकृतध्वनियाँ हों अथवा कारणशब्द या प्राकृतध्वनियाँ हों, वे उत्पन्न होकर नष्ट होने वाली हैं। अतः महान् अथवा अल्प रूप में भासित शब्द में (स्फोट में) सूक्ष्म—प्रत्यक्षगम्य अथवा अनुमानगम्य—कोई भी कालभेद नहीं होता। जैसे

हाथी और मच्छर में परिमाण-भेद होने पर भी उनके ज्ञान में कोई कालभेद नहीं होता।

तब शब्द में अल्प और महत् का भेद कैसे घटित होता है? इस पर वृत्तिकार कहते हैं—निमित्त के भेद से कार्य के आरम्भ में शब्द का सामर्थ्य भिन्न हो जाता है। निमित्त अर्थात् करणाभिघात। [1]करण से तात्पर्य है—जिह्वा के अग्र, उपाग्र, मध्य और मूल भाग; इनका तत्तत् स्थानों में (तात्वादि में) अभिघात। यह स्पृष्टादि प्रयत्न-भेद से भिन्न हो जाता है।

भेरी में दण्ड के अभिघात से उत्पन्न शब्द के समान किसी स्फोटात्मक शब्द की कार्य या ध्वनिपरम्परा दूर तक जाती है। और कोई स्फोटात्मक शब्द लोह द्वारा काँसे में अभिघात के समान निकट देश में ही ग्राह्य होता हुआ दीर्घकाल तक अविच्छिन्न रूप से ध्वनिसन्तान का आरम्भ करता है।

श्रीवृषाभाचार्य कारिकागत 'अल्पे' और 'महति' का दो प्रकार से अर्थ करते हैं—

१. अल्प अर्थात् ह्रस्व और महान् अर्थात् दीर्घ और प्लुत।

२. अल्पत्व और महत्त्व ये परिमाण को बताते हैं और गुण हैं। अतः इनका द्रव्य में रहना उचित है; तथा शब्द भी गुण है इसलिए उसमें अल्पत्व और महत्त्व कैसे सम्भव है? इस पर वृत्तिकार ने कहा है—'देशव्याप्तिसामान्यात्।'

अल्पत्व और महत्त्व यह मूर्त पदार्थों का धर्म है। शब्द तो अमूर्त हैं, अतः उनमें उक्त धर्म कैसे रह सकते है? शब्द भी अल्प और महान् देश को व्याप्त करके स्थित होते हैं। अतः उन्हें अल्प और महान् कहा जाता है।

'अल्पसूच्यल्पदेशं व्याप्नोति, महान् पर्वतो महान्तम्। शब्दोऽपि चाल्पमहान्तौ देशौ व्याप्नुवन् तथा व्युपदिश्यते। सा चेयं व्याप्तिः शब्दस्य कार्यानुमेया।'—पद्धति।

'स्फोटकालो न भिद्यते' इस पर श्रीवृषभ कहते हैं—उन ह्रस्वादिकों का, जो प्राथमिक हैं, अभिन्न काल रहता है, क्योंकि वे एक क्षण भर अवस्थित रहते हैं। तब कालभेद कैसे होता है? वे स्फोटशब्द स्वकार्यभूत उत्तरवर्ती शब्दों के वश होकर कालभेद को प्रदर्शित करते हैं। श्रीवृषभ ने यहाँ स्फोट को अनित्य मानकर व्याख्या की है, यह ज्ञातव्य है।

चौखम्बा संस्करण की लघ्वीवृत्ति में कारिकागत 'शब्द' का अर्थ ध्वनि किया गया है। यह ध्वनि दो प्रकार की है—उत्तरोत्तर शब्दों की कारणरूप आद्यध्वनि और कार्यरूप उत्तरध्वनि। आद्य स्फोटव्यञ्जक है अथवा स्फोटरूप ही है। आद्य प्राकृत है और पर वैकृतध्वनि।

'शब्दोऽत्र ध्वनिः, स च द्विविध उत्तरोत्तर शब्दानां कारणरूप आद्यः कार्यरूप उत्तरश्च। तत्राद्यः स्फोटव्यञ्जकः स्फोट एव वा। ··· ··· ···तत्राद्यः प्राकृतः

---

१. 'करणं केषाञ्चित् स्पृष्टतादि। केषाञ्चित् जिह्वाया अग्रोपाग्रमध्यमूलानि।'
—महाभाष्यदीपिका, पृ० १४५, पूना संस्करण

परो वैकृत इति बोध्यम्।' यह व्याख्या नित्य और अनित्य स्फोट को मानकर की गई है ।। १०२ ।।

प्रस्तुत कारिका में अनित्यशब्दवादियों का ही मतान्तर प्रस्तुत किया गया है—यह श्रीवृषभ का कथन है—'अनित्यशब्दवादिभिरेव पूर्वमन्यथोक्तम्। इदं तु दर्शनान्तरमिति'।

दूरात्प्रभेव दीपस्य ध्वनिमात्रं तु लक्ष्यते ।
घण्टादीनां च शब्देषु व्यक्तो भेदः स दृश्यते ।। १०३ ।।

दूरात् दीपस्य प्रभा इव, दूरात् ध्वनिमात्रं तु लक्ष्यते । घण्टादीनां च शब्देषु सः भेदः व्यक्तः दृश्यते ।

जैसे दीपक प्रभा के साथ ही उत्पन्न होता है, किन्तु दूर से प्रभामात्र लक्षित होती है, दीपक नहीं; वैसे ही दूर से ध्वनिमात्र लक्षित होती है, स्फोट नहीं। घण्टा या कांस्यपात्र के शब्दों में वह स्फोट और नाद का भेद स्पष्ट प्रतीत होता है।१०३।

वृत्तिः—इह केचिदाचार्या व्यक्तं स्फोटं सहजेन ध्वनिना सर्वतो दूरव्यापिना प्रकाशस्थानीयेन गन्धेन युक्तं द्रव्यविशेषमिवाविर्भावकाल एव सम्बद्धं मन्यन्ते ध्वनिना । यथैव प्रदीपे घट(न ?)सन्निविष्टावयवं प्रत्युपादानं तेजोद्रव्यं तदाश्रितश्च तद्विक्रियानुपरिवर्ती प्रकाशः । घण्टायाश्चाभिघातेन व्यक्ततरौ स्फोटनादौ सर्वेषां वर्णानामभिनिष्पत्तौ धर्म इति । स चायं श्लोकद्वयेनानन्तरेण प्राकृतवैकृतयोर्नादयोर्विशेष आख्यातः ।। १०४ ।।

विवरण—इस विषय में कुछ आचार्यों की मान्यता है कि स्फोट के साथ ही स्वभावतः उत्पन्न चारों ओर दूरदेशव्यापी प्रकाश स्थानीय ध्वनि से अभिव्यक्त स्फोट, आविर्भाव काल में ही ध्वनि से सम्बद्ध रहता है, जैसे कोई सुगन्धित द्रव्य परितः व्यापक गन्ध से युक्त रहता है। अर्थात् जिस प्रकार द्रव्य-विशेष का आविर्भाव गन्ध के साथ ही होता है, वैसे ही स्फोट का आविर्भाव या अभिव्यक्ति ध्वनि के साथ ही होती है।

श्रीवृषभ ने 'व्यक्तम्' का अर्थ 'अभिव्यक्तम्' किया है 'आविर्भाव काल एव' का 'उत्पत्तिकाले' अर्थ किया है और ध्वनि के साथ स्फोट की उत्पत्ति की बात कही है—'यथा द्रव्यस्य गन्धेन सहैवोत्पत्तिस्तथा स्फोटस्य ध्वनिना ।'

इसे अनित्यस्फोटवादियों का ही मत समझ कर श्रीवृषभाचार्य वैसा अर्थ करते हैं, किन्तु क्या यह वृत्ति का विरोध नहीं ?

वृत्तिकार दृष्टान्त को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—प्रदीप में घनरूप से जिसके अवयव सन्निविष्ट हैं, ऐसा उपादानभूत तेजोद्रव्य विद्यमान रहता है और उसी के आश्रित तथा उसी का अनुवर्ती विकार या परिणति ही प्रभा या प्रकाश है ;

यहाँ 'प्रत्युपादानम्' को एक ही शब्द समझना चाहिए। यदि तेजोद्रव्य को घनतर सन्निविष्टावयव का उपादान या समवायिकारण माना जायेगा तो तेजोद्रव्य का क्या स्वरूप होगा ? घनतरसन्निविष्टावयव ही तो तेजोद्रव्य है। इसीलिए श्रीवृषभाचार्य ने कहा है—

'घट(न ?)सन्निविष्टावयवं तत् प्रत्युपादानं चेति समासः। 'यहाँ चकार से घनसन्निविष्टावयव ही प्रत्युपादान भी है, यह सूचित किया गया है। वे पुनः कहते हैं—'प्रदीपे तेजोद्रव्यं तद्घनतरसन्निवेशावयवात् सम्पिण्डितरूपम्, प्रकाशस्तु प्रभावन्त एव तेजोऽवयवाः समन्ततः प्रशिथिलसन्धयः। तादृशः स्फोटनादयोर्भेदः।'

घण्टा के अभिघात से स्फोट और नाद व्यक्ततर प्रतीत होते हैं। अभिघात से उत्पन्न प्रथम शब्द तारतर होता है और नाद उससे अतिरिक्त होता है; यह स्पष्ट भेद है। कार्यशब्दपक्ष में भी स्फोट और नाद में भेद होता है, ऐसा पद्धति में श्रीवृषभ कहते हैं—'स्फोटनादयोर्भेदो हि कार्यपक्षेऽपीष्यते।' उनके मतानुसार यह कार्यपक्ष का ही प्रकरण है, फिर भी ऐसा उल्लेख सूचित करता है कि यह नित्यपक्ष का ही प्रसङ्ग है।

ये स्फोट और नाद समस्त वर्णों की अभिनिष्पत्ति में धर्मरूप से कार्य करते हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त दो श्लोकों से प्राकृत और वैकृतनाद का भेद कहा गया॥ १०३॥

पूर्वोक्त दो श्लोकों में निर्दिष्ट प्राकृत और वैकृत ध्वनि के भेद को और स्पष्ट करते हैं—

द्रव्याभिघातात् प्रचितौ भिन्नौ दीर्घप्लुतावपि।
कम्पे तूपरते जाता नादा वृत्तेर्विशेषकाः॥ १०४॥

द्रव्याभिघातात् प्रचितौ दीर्घप्लुतौ अपि भिन्नौ। उपरते तु कम्पे जाताः नादाः वृत्तेः विशेषकाः।

द्रव्य अर्थात् स्थान और करण, इनके अभिघात अर्थात् तात्वादि स्थान का जिह्वा के अग्र या उपाग्र आदि रूप करण से प्रहार—इस द्रव्याभिघात से प्रचित—अभिवृद्ध दीर्घ और प्लुत् परस्पर भिन्न हो जाते हैं। वेगवान् दो द्रव्यों का संयोग अभिघात कहलाता है—'वेगवद्द्रव्यसंयोगोऽभिघातः—' (पद्धति)। इस अभिघात से उत्पन्न कम्प या अभिघात कृत चलन (कम्प इत्यभिघातकृतचलनम्—पद्धति) के शान्त हो जाने पर जो वैकृत नाद उत्पन्न होते हैं, वे द्रुत आदि वृत्तियों के भेदक हैं।

वृत्तिः—अनित्यपक्षेऽपि नैव शब्दानां प्रचये दीर्घप्लुतौ प्रचीयते। किं तर्हि द्रव्याभिघातप्रचयादेव। स्वरूपमेव हि तयोस्तावद्भिरभिघातैर्निष्पादयितुं शक्यते। तस्मादास्वरूपलाभात् तयोः करणानामभिघातविशेषादितरेतरावयवसंस्पर्शी व्यक्तवायुप्रस्कन्दनानुगतः कम्पोऽनुवर्तते। कम्पे तूपरते ये नादजा नादास्ते द्रुतादिवृत्तिभेदव्यवस्थाहेतवो भवन्ति॥ १०४॥

विवरण—कुछ हस्तलेखों में 'नित्यपक्षेऽपि' ऐसा भी पाठ उपलब्ध होता है, किन्तु श्रीवृषभ ने 'अनित्यपक्षेऽपि' इसी पाठ को उद्धृत करके सम्पूर्ण वृत्ति का व्याख्यान अनित्य पक्ष को लेकर ही किया है। अतः 'अनित्यपक्षे' यही पाठ उचित प्रतीत होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त कारिकाओं में नित्यपक्ष ही गृहीत है। अस्तु।

अनित्यपक्ष में भी शब्दों के प्रचय (अभिवृद्धि) के कारण दीर्घ और प्लुत प्रचित होते है—ऐसी बात नहीं। 'अपि' शब्द से यह सूचित होता है कि नित्यपक्ष में तो अकारादि वर्ण स्फोटों के प्रचय से दीर्घ और प्लुत प्रचित होते नहीं, यह स्पष्ट है; अनित्यपक्ष में भी संयोगविभागज स्फोट या प्राकृत ध्वनि के प्रचय द्वारा दीर्घादि भेद नहीं होते। तब ? द्रव्याभिघात के प्रचय से ही दीर्घ और प्लुत प्रचित होते हैं। स्फोट (नित्यपक्ष में) या स्फोटव्यञ्जक प्राकृत ध्वनि (अनित्यपक्ष में संयोगविभागज स्फोट) में प्रचय नहीं होता।

श्रीवृषभाचार्य कहते है—'आद्यस्य ध्वनेः स्फोटाख्यस्य स्थितिकालस्तुल्यः। परः शब्दसन्तानः प्रचयापचयात्मक इति द्रुतादिभ्यो न कश्चिद्विशेषो दीर्घप्लुतयोरित्युपक्षिप्य परिहरति 'अनित्यपक्षेऽपि' इति। नायं नादप्रचयकृतो दीर्घादिभेदः। किन्तर्हि ? स्फोटात्मरूपभेदः।

अर्थात् स्फोट नामक आद्य ध्वनि (संयोगविभागज अनित्यस्फोट) का स्थिति काल दीर्घ और प्लुतावस्था में तुल्य होता है। उत्तरवर्ती शब्दप्रवाह प्रचय और अपचय को प्राप्त होता है; अतः द्रुतादि वृत्तियों से दीर्घ और प्लुत का कोई भेद नहीं होगा; इस शङ्का को उपस्थित करके उसका परिहार 'अनित्यपक्षेऽपि–' इस कथन के द्वारा वृत्तिकार करते हैं। यह दीर्घादि भेद नाद या अनित्य स्फोट के प्रचय से निष्पन्न नहीं होता। किन्तु यह स्फोट का रूपभेद है। जैसा कि वृत्तिकार कहते हैं—

दीर्घ और प्लुत स्वरूप ही उस प्रकार के अभिघात से अर्थात् प्रयत्नप्रेरित व्यक्त वायुजनित कम्प द्वारा निष्पादित होता है। निरवयव दीर्घ और प्लुत बहुत से अभिघातों द्वारा अनेक अवयवों के उपसंहार रूप में निष्पादित होते हैं। अतः जब तक दीर्घ और प्लुत का स्वरूपलाभ अपरिपूर्ण की पूर्ति से अथवा विशिष्ट स्वरूप की निष्पत्ति से नहीं हो जाता, तब तक करणों या जिह्वा के अग्र, उपाग्रादि का ताल्वादि स्थानो से अभिधात विशेष से पारस्परिक (जिह्वा का ताल्वादि के) अवयवों का स्पर्श करने वाला व्यक्त वायु के स्पन्दन से युक्त कम्प अविच्छिन्न रूप से वर्तमान रहता है।

अनेक अवयवों के उपसंहार रूप होने पर भी अभिघातों के एकप्रयत्न द्वारा निष्पन्न होने से दीर्घ और प्लुत की एकवर्णता ही है—'अनेकावयवोपसंहाररूपत्वेऽपि एकप्रयत्ननिष्पन्नत्वादभिघातानामेकवर्णतैव दीर्घप्लुतयोः। कर्म वेति (कम्पे तूपरते ?) इति सुगमः।' —पद्धति।

'द्रव्यं स्थानकरणानि । अभिघातः स्थानस्य करणेन प्रहारः । वेगवद् द्रव्यसंयोगोऽभिघातः ।' —पद्धति ।

वृत्तिकार ने 'तावद्भिरभिघातैः' ऐसा कहा है । श्रीवृषभ इसका अर्थ 'बहुभिरभिघातैः' ऐसा करते हैं । कारिकाकार कहते हैं—'द्रव्याभिघातात्' । यहाँ अभिघात में एकवचन है । इससे स्पष्ट है कि ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत में अभिघात तो एक ही होता है, किन्तु उसके प्रचय से ये तीन भेद घटित होते हैं । अर्थात् तत्तत् स्थानों में जिस प्रकार का करणों से अभिघात होता है, प्राकृत नाद या अनित्य स्फोट उस-उस रूप में भासित होता है । लघुरूप एकमात्रावाले अभिघात से ह्रस्व, उच्च या दो मात्रावाले अभिघात से दीर्घ तथा उच्चैस्तर या तीन मात्रावाले अभिघात से प्लुत होता है ।

वृत्तिकार ने भी 'कहा है—द्रव्याभिघातप्रचयादेव ।' इसी को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—'तावद्भिः अभिघातैः' । इसका अर्थ उतनी मात्राओं से ही करना उचित होगा । अथवा उस प्रकार के अभिघातप्रचय से—यह अर्थ संगत् होगा । श्रीवृषभ ने भी 'द्रव्याभिघातप्रचयादेव' की व्याख्या में कहा है—'निरवयवं दीर्घप्लुतयोः स्वरूपमेव तत्तादृशादभिघातप्रचयादभिनिष्पद्यते ।' इतना ही नहीं, वृत्तिकार आगे चलकर कहते हैं—'करणानामभिघातविशेषात्' । यहाँ भी एकवचन ही प्रयुक्त है—अभिघात विशेषात् और वैशिष्टय का अर्थ है—मात्रात्मक प्रचय । श्रीवृषभ भी कहते हैं—विशिष्टैकप्रयत्नजनितेन वायुनाभिघातो विशिष्टशक्तिको निष्पाद्यते येन कम्पोऽनुवर्तते; यतोऽभिघातप्रबन्धः ।'

वक्ता की इच्छानुरूप विशेष प्रकार के एकप्रयत्न से जनित वायु द्वारा विशिष्ट अर्थात् मात्रारूप शक्तियुक्त अभिघात निष्पादित होता है, जिससे कम्प या स्पन्दन होता रहता है और जिससे अभिघात का प्रबन्ध या सातत्य बना रहता है । अभिघात-प्रचय ही कम्प है ।

कम्प[1] के उपरत या निवृत्त हो जाने पर जो प्राकृतनाद से उत्पन्न वैकृतनाद हैं । वे द्रुत, मध्यम और विलम्बित वृत्तियों में भेद-व्यवस्था के जनक बनते हैं ॥१०४॥

---

१. शिक्षा-ग्रन्थों में पारिभाषिक 'कम्प' शब्द का उल्लेख मिलता है । पाणिनीय शिक्षा में रङ्गवर्णोच्चारण के अवसर पर कम्प के प्रयोग की चर्चा मिलती है । यथा—'सरङ्गं कम्पयेत् कम्पं रथीवेति निदर्शनम् । स्वराङ्कुशशिक्षा, नारदीयशिक्षा, व्यासशिक्षा तथा शैशरीयशिक्षा में कम्प-विधि चर्चित है । वहाँ स्वशाखानुसारी शाकल्य का वचन है—

'अप्राकृतस्तु यः स्वारः स्वरितोदात्तपूर्वगः ।
उदादायाधमंस्याथ शिष्टं निघ्नन्ति कम्पितम् ॥'

तैत्तिरीयप्रातिशाख्य के व्याख्यान 'वैदिकाभरण' में कहा गया है—'अस्य शास्त्रस्य मूलभूतं व्याकरणं पूर्वशास्त्रमित्युच्यते । तस्मिन् कम्पो न विधीयते साक्षात् शिक्षायां तु विधीयते ।' (२१५)

अग्रिम कारिका द्वारा इसी विषय से सम्बद्ध मतान्तर प्रस्तुत करते हैं—

अनवस्थितकम्पेऽपि करणे ध्वनयोऽपरे ।
स्फोटादेवोपजायन्ते ज्वाला ज्वालान्तरादिव ।। १०५ ।।

करणे अनवस्थितकम्पे अपि अपरे ध्वनयः, स्फोटात् एव ज्वालान्तरात् ज्वाला इव उपजायन्ते ।

करण अर्थात् वागिन्द्रिय में कम्प के अविच्छिन्न रूप से विद्यमान रहने पर भी अन्य वैकृतध्वनियाँ स्फोट से ही उत्पन्न होती है, जैसे ज्वालान्तर से अन्य ज्वालाएँ ।। १०५ ।।

वृत्तिः—कम्पेष्वप्यविच्छेदेनानुवर्तमानेषु यावानभिघातजः शब्दो नासौ कदाचिदप्यनारब्धकार्यो निवर्तते । तत्र ये कम्पजा शब्दाः समानकाला ध्वनयः स्फोटात्मानमभिसंस्कुर्वन्ति ताँश्चाभिमर्शिनोऽनुप्रकाशान् नादान्तरालाननुषङ्गानित्याचक्षते ।

विवरण—कम्पों के अविच्छिन्नरूप से वर्तमान रहने पर भी जितना अभिघातज शब्द होता है, वह कभी भी स्वकार्यरूप शब्द का आरम्भ किये बिना निवृत्त नहीं होता । उस समय जो कम्पज शब्द या स्फोट (अनित्य) समानकालिक वैकृतध्वनियाँ स्फोटात्मा को संस्कृत करती हैं, उनको अभिमर्शी, अनुप्रकाश, मध्यवर्ती नाद और प्रासंगिक नाद कहते हैं ।

वृत्तिः—तेषामपि च प्रत्यनुषङ्गं कार्यपरम्परा यावत्कम्पो न विच्छिद्यते तावत्स्फोटानुग्रहमात्रयानुवर्तत इत्याहुः । सा चेयमुत्पत्तिरिन्धनज्वालाप्रवृत्तिप्रबन्धधर्मेणाख्यायते । तद्यथेन्धनाश्रिताभिर्ज्वालाभिर्ज्वालाकार्यसन्तानसमुद्भवा ज्वालाः सम्प्रवर्तन्ते । तत्प्रकाशनेन चार्थार्थिनामुपकुर्वन्ति, तथेयमपि नादप्रवृत्तिरिति ।

विवरण—उनमें भी प्रत्येक ध्वनि से सम्बद्ध कार्यपरम्परा, जब तक कम्प का विच्छेद नहीं हो जाता तब तक, स्फोटानुग्रह करती हुई वर्तमान रहती है—ऐसा कहते हैं । उस प्रकार की यह नादोत्पत्ति, इन्धन की ज्वाला के प्रवर्तन प्रवाहरूप धर्म से तुलनीय कही जाती है । जैसे इन्धन के आश्रित ज़्वालाओं द्वारा अन्य ज्वालात्मक कार्यपरम्परा से समुद्भूत ज्वालाएँ प्रवृत्त होती हैं और उस प्रकाशन से घटादि रूप अर्थों का उपकार करती हैं; उसी प्रकार यह नाद प्रवृत्ति भी होती है ।। १०५ ।।

वैखरी वाक् की निष्पत्ति किस उपादान होती है, इस सम्बन्ध में मतभेद प्रदर्शन पूर्वक विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते ।
कैश्चिद् दर्शनभेदो हि प्रवादेष्वनवस्थितः ।। १०६ ।।

कैश्चित् वायोः (कैश्चित्) अणूनां (कैश्चित्) ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिः इष्यते। हि प्रवादेषु दर्शनभेदः अनवस्थितः।

कुछ शिक्षाकार मानते हैं कि वायु शब्द (स्थूल) के रूप में परिणत हो जाती है। अन्य शिक्षाकार शब्दपरमाणुओं को वैखरी वाक् का जनक मानते हैं। वैयाकरणों का मत है कि ज्ञान ही शब्द के रूप में परिणत होता है। इस प्रकार सिद्धान्तों में मतभेद की इयत्ता नहीं है।

वृत्तिः—तत्र वायोस्तावच्छब्दभावापत्तिमाचक्षते—

लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिना।
स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते॥ १०७॥

तस्य कारणसामर्थ्याद् वेगप्रचयधर्मणः।
सन्निपाताद्विभज्यन्ते सारवत्योऽपि मूर्तयः॥ १०८॥

इत्येवमादि सर्वमनुगन्तव्यम्।

विवरण—वृत्ति के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि 'लब्धक्रियः–' (१०८) इस श्लोक से लेकर 'विभजन् स्वात्मनो ग्रन्थीन्–' (११५) इस श्लोकपर्यन्त समग्र श्लोक वृत्त्यन्तर्गत उद्धरण मात्र हैं। लिपिकार के प्रमाद वश ये कारिकाओं के अन्तर्गत परिगणित कर लिये गये थे। त्रिवेन्द्रम् के हस्तलेख में ये श्लोक कारिकान्तर्गत नहीं मिलते।

इस विषय में कुछ (शिक्षाकार) लोगों का कथन है कि वायु शब्द के रूप में परिणत हो जाती है—वक्ता की इच्छा से अनुवर्तित या जन्य प्रयत्न द्वारा सक्रिय (प्रेरित) वायु कण्ठ, तालु आदि स्थानों में अभिहत होकर वैखरी शब्द के रूप में परिणत हो जाती है।

वायु शब्द के रूप में परिणत होती है, ऐसी मान्यता 'शुक्लयजुःप्रातिशाख्य' में उपवब्ध होती है। यथा—'स सङ्घातादीन् वाक्' (अध्या० १ सूत्र ९) अर्थात् जो वायु वेणु-शङ्खादि से संयुक्त होकर शब्द का रूप ग्रहण करती है, वह संघात अर्थात् बाह्य एवं आभ्यन्तरप्रयत्न तथा ताल्वादि स्थानों को प्राप्त करके वाक् या वर्ण में परिणत हो जाती है।

'शब्दार्थप्रत्ययानाम्–' (पाद ३ सूत्र १७) इस योगसूत्र के व्यासभाष्य—'श्रोत्रं च ध्वनिपरिणाममात्रविषयं' की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र ने कहा है—'श्रोत्रं पुनः ध्वनेरुदानस्य वागिन्द्रियाभिघातिनो यः परिणतिभेदो वर्णात्मा तेनाकारेण परिणतं तन्मात्रविषयम्।'

विज्ञानभिक्षु ने इसे और स्पष्ट किया है। यथा—'वागिन्द्रिय द्वारा शंख आदि में अभिहत उदानवायु का परिणाम भेद ध्वनि है। जिस परिणाम से उदानवायु वक्ता की देह से उठकर शब्दधारा को उत्पन्न करता हुआ श्रोता के श्रोत्र को प्राप्त

होता है, उस ध्वनि का परिणामभूत वर्णावर्णसाधारण नाद नामक शब्दसामान्य ही श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होता है।'

नागेश ने योगसूत्रवृत्ति में इस सम्बन्ध में कहा है—'ध्वनिर्नाम वागिन्द्रियादिषु अभिहतस्योदानवायोः परिणतिभेदः तदभिघाततदवच्छिन्नाकाशोपादानको वा।'

यहाँ आचार्यों ने वायु का अर्थ उदानवायु ही किया है और यही उचित भी है। महाभारत में ध्वनि का कारण उदानवायु को ही बतलाया गया है। यथा—

'उदानादुच्छ्वसिति ध्वनिभेदश्च जायते।'

—कृत्यकल्पतरु, मोक्षकाण्ड में उद्धृत।

यह श्लोक महाभारत में पाठभेद के साथ उपलब्ध होता है। यथा—

'उदानादुच्छ्वसिति च प्रतिभेदाच्च भाषते॥ २५॥'

—शान्तिप० मोक्षधर्म, अ० १८४

चरकसंहिता, चिकित्सास्थान, अध्याय २८ श्लोक ७ में कहा गया है—

'उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरःकण्ठ एव च।
वाक्प्रवृत्तिः प्रयत्नौर्जोबलवर्णादि कर्म च॥'

महाभारत के वनपर्व में भी कहा गया है—

'उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः।
तेन भाषितगीतादिविशेषोऽभिप्रवर्तते॥'

पुनः मञ्जूषा में नागेश ने 'वायोः' का अर्थ इस प्रकार किया है—'प्राणादिरूपस्य'। वस्तुतः वायुपञ्चक का सामान्यतः प्राण के नाम से ही उपदेश मिलता है। अतः शिक्षाकारों का वायु से प्राण अर्थ लेना असङ्गत नहीं है। 'प्राणादि' में आदि शब्द से उदानवायु अथवा वायु से अवच्छिन्न आकाश को ग्रहण किया जा सकता है, जैसा कि नागेश ने योगसूत्रवृत्ति में कहा है।

इस समग्र अंश की श्रीवृषभाचार्य कृत पद्धति त्रुटित है, अतः उससे कोई सहायता नहीं मिलती। अग्रिम उद्धरण के 'सन्निपातात्' इस प्रतीक को लेकर व्याख्यान उपलब्ध होता है, किन्तु वह भी भ्रष्ट है।

वेग अर्थात् प्रवाह और प्रचय[1] अर्थात् शैथिल्य रूप धर्म से सम्पन्न उस वायु के जिह्वाग्र एवं उपाग्रादि करण एवं तालवादि के योग और विभाग रूप विशिष्ट प्रयत्नात्मक सामर्थ्य से युक्त संश्लेष से अकार, ककारादि अनेक शब्दमूर्तियाँ क्यों न निष्पन्न होंगी, जब कि उक्त प्रकार की वायु सारवान् पर्वतादिकों को भी विभक्त कर देती है। श्रीवृषभ ने कहा है—

---

१. प्रचयः शिथिलाख्यो यः संयोगस्तेन जन्यते॥ ११२॥

परिमाणं तूलकादौ—(न्यायसिद्धान्तमुक्तावली) तूलकादौ—कार्पासतूले यन्मध्यममहत्परिमाणं तत्तु यः शिथिलः कार्पासावयवसंयोगः तज्जन्यं बोध्यमित्यर्थः।

---किरणावली

'सारवतां पर्वतादीनामपि वायुना विभागः क्रियते, किमङ्ग पुनस्ताल्वादीनामिति ।'
—पद्धति ।

वस्तुतः ताल्वादि के विभाग से वर्ण-निष्पत्ति नहीं होती, किन्तु ताल्वादि स्थानों में करणों के प्रहार से जन्य वायु के ही तत् तत् ध्वनि-विभाग होते हैं । तब श्रीवृषभाचार्य का यह पाठ भी त्रुटित हो सकता है । यदि 'सारवत्योऽपि मूर्तयः' यह वायु का ही विशेषण माना जाय तो अर्थ होगा—घनीभूत वायु के रूप नाना शब्दों के आकार में विभक्त हो जाते हैं । पूर्ण श्लोक का अर्थ इस प्रकार होगा—

विशिष्ट प्रयत्नरूप सामर्थ्य से वेग और प्रचय धर्मशाली वायु के ताल्वादि स्थानों में सन्निपात से उस वायु की सारवती—सघन मूर्तियाँ भी अकारादि रूपों में विभक्त हो जाती हैं ।

इनका और इस प्रकार के अन्य सभी उदाहरणों का इस विषय में अनुसरण करना चाहिए । ये श्लोक किस शिक्षाग्रन्थ से उद्धृत किये गये हैं, यह अन्वेषणीय है ।

वृत्तिः—अणूनां शब्दत्वापत्तिमपरे प्रतिपन्नास्त एवमाहुः—

अणवः सर्वशक्तित्वाद् भेदसंसर्गवृत्तयः ।
छायातपतमःशब्दभावेन परिणामिनः ॥ १०९ ॥
स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्नेन समीरिताः ।
अभ्राणीव प्रचीयन्ते[1] शब्दाख्याः परमाणवः ॥ ११० ॥

इत्यादि सर्वमनुगन्तव्यम् ।

विवरण—अणु शब्द के रूप में परिणत हो जाते हैं, ऐसा अन्य शिक्षाकारों का मत है । इस विषय में वे इस प्रकार कहते हैं—

सर्वशक्ति-सम्पन्न होने से भेद या विभाग और संसर्ग या संयोग वृत्तिक अणु या परमाणु छाया, आतप, तम एवं शब्द के रूप में परिणत होते या सन्निवेश विशेष को स्वीकार करते हैं ।

श्रीवृषभाचार्य ने 'अणवः' का द्विधा अर्थ किया है । पहला अर्थ है—वायु के परमाणु । प्रथम मत से इस मत में भेद यह है कि 'पूर्वत्र दर्शने वायुरेकघन इति विशेषः ।' पहले मत में एकघन वायु की बात कही गई थी, यह वैशिष्ट्य है । अथवा

वैशेषिकदर्शन, दशम अध्याय, द्वितीय आह्निक, छठा सूत्र—'कारणकारणसमवायाच्च' इस पर शङ्कर मिश्र की उपस्कार व्याख्या इस प्रकार है—

'तूलपिण्डावयवे वर्तमानः प्रचयाख्यः संयोगस्तूलकपिण्डे महत्त्वमारभते तत्र कारणैकार्थसमवायः प्रत्यासत्तिः ।'

अर्थात् धुनी हुई रुई के पिण्डों के अवयवों में बहुत शिथिल संयोग रहता है । इसी का नाम प्रचय है ।

१. उद्योत (प्रदीप टीका) में 'प्रतीयन्ते' ऐसा पाठ है ।

'अणवः' का अर्थ है—शब्द के परमाणु। वे सूक्ष्म परमाणु ही भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को स्वीकार करने से उन-उन संज्ञाओं को प्राप्त होते हैं।

कुछ लोग इस प्रकार अर्थ करते हैं—अणु अर्थात् नभःस्थित सूक्ष्म शब्द, छायाशब्द, आतपशब्द और तमः शब्द के रूप में परिणत हो जाते हैं।

अन्य लोगों का मत है कि यहाँ अणुशब्द से सांख्य-सम्मत तन्मात्र[1] गृहीत हैं। नीलरूप परमाणु छाया और तम रूप में, शुक्लरूप परमाणु आतप रूप में और शब्द परमाणु स्थूल शब्द रूप में परिणत होते हैं।

यहाँ ऐसा सम्भव है कि प्रस्तुत श्लोक से सामान्यतया रूपादि परमाणुओं से सभी प्रकार के पदार्थों की परिणति की बात कही गई हो और अग्रिम श्लोक से केवल शब्दाणुओं से स्थूल शब्द की। प्रसङ्गतः 'अणूनां शब्दत्वापत्तिः' इस कथन से 'अणवः' का अर्थ 'शब्दाणवः' यही उचित जान पड़ता है। छाया, आतप आदि की उत्पत्ति का यहाँ कोई प्रसङ्ग नहीं है, अतः छाया आदि शब्दों की उत्पत्ति का ही कथन सम्भव है। किन्तु अग्रिम श्लोक की व्याख्या में श्रीवृषभाचार्य कहते हैं—

'छायादिभावानां शब्दपरिणामत्वात् शब्दा इत्याख्याताः।' छाया आदि भावों-पदार्थों के शब्द के परिणामरूप होने से 'शब्दाः' ऐसा कहा गया है। आगे का पाठ है—'ननु शब्दत्वया। शब्दपरिणामपक्षे तु स्पष्टमेव'। यहाँ का पाठ त्रुटित है। श्रीवृषभ 'अणवः' में दो पक्ष मानते हैं—एक वायु के परमाणु और दूसरा शब्द के। इसीलिए वे कहते हैं कि शब्दपरिणाम पक्ष में तो स्पष्ट ही है। 'ननु' द्वारा उन्होंने वायुपरिणाम पक्ष उठाया होगा, जो त्रुटित है।

द्वितीय श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—

'स्थूलशब्दत्व की प्राप्ति रूप शक्ति से सम्पन्न सूक्ष्मशब्दाख्य परमाणु अपनी पूर्वोक्त शक्ति की अभिव्यक्ति के अवसर पर प्रयत्न द्वारा प्रेरित होकर मेघों के समान महदाकार धारण कर लेते हैं। प्रयत्न द्वारा देहान्तःस्थित परमाणु ही प्रेरित होते हैं, बाह्य नहीं।' इत्यादि शिक्षाओं में निरूपित मतों का अनुसरण करना चाहिए।

वृत्तिः—ज्ञानस्य खल्वपि शब्दत्वापत्तिमपरे वर्णयन्ति—

अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मे वागात्मनि स्थितः।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते॥ ११२॥

विवरण—अन्य लोग कहते हैं कि ज्ञान ही शब्द के रूप में परिणत हो जाता है—यह सूक्ष्म अर्थात् भिन्न-भिन्न रूपों के उपसंहार के कारण अतीन्द्रिय, वाक्तत्त्व में स्थित आन्तरिक ज्ञाता या जीवात्मा अपने रूप की अभिव्यक्ति के लिए स्थूल शब्द के रूप में परिणत हो जाता है।

---

१. लघुमञ्जूषा में नागेश ने कहा है—'शब्दतन्मात्रादिरूपपरमाणूनाम्।' उद्योत में यही कहा गया है।

श्रीवृषभ कहते हैं—यद्यपि ज्ञाता ज्ञानस्वरूप ही है, तथापि उसमें गृहीता का व्यवहार चलता है। अर्थात् ज्ञान ही ज्ञाता या गृहीता माना जाता है। जैसे 'यह शब्दतत्त्व ही वाक् और मन के विभाग को प्राप्त होता है'। इसलिए ज्ञाता में भी वाग्रूप लगा रहता हैं। 'ज्ञानात्मकेऽपि तस्मिन् गृहीतृव्यवहारोऽस्ति। यथा शब्दतत्त्वमेवेदं वाङ्मनसाख्यप्रविभागम्[1] इति। तेन ज्ञातर्यपि वाग्रूपानुषङ्गः।' —पद्धति।

'अथायमान्तरो ज्ञाता' के स्थान पर 'अथेदमान्तरं ज्ञानम्' ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता है। और यह पाठ 'ज्ञानस्य खल्वपि शब्दत्वापत्तिम्–' इस वृत्ति के अनुरोध से प्रतीत होता है और ठीक भी जान पड़ता है। 'सूक्ष्मे वागात्मनि स्थितः' यह पाठ और 'अथायमान्तरो ज्ञाता' यह पाठ श्रीवृषभाचार्य को उपलब्ध था। 'सूक्ष्मे वागात्मनि–' इस पाठ के स्थान पर 'सूक्ष्मवागात्मना[2] स्थितः' यह पाठ भी उपलब्ध होता है, जो सर्वथा उचित है। श्रीवृषभ को इन दोनों पाठों के अभाव में क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ी है।

वे कहते हैं—'सूक्ष्मे इति। भेदरूपोपसंहारादतीन्द्रिये। स्थितः इति। सारूप्यानुषक्ते ज्ञानात्मनि स्थितो, वाचि स्थित इत्युक्तः।' सारूप्य के कारण ज्ञानात्मा में स्थित होने पर वाणी में स्थित, ऐसा कहा गया है।

आगे वे पुनः कहते हैं—'व्यक्तये इति। तस्यामवस्थायां शब्दरूपस्य ज्ञानस्यानविवेकेनानवधारणेन शब्दरूपव्यक्त्यर्थं स्थूलेन्द्रियगम्येन रूपेण विवर्तत इति।' अर्थात् उस अवस्था में (ज्ञातावस्था में) सूक्ष्म शब्दरूप और ज्ञान की पृथक् अवधारणा नहीं होती, अतः शब्दरूप की व्यञ्जना के लिए वह ज्ञान स्थूल इन्द्रियगम्य रूप में विवर्तित होता है।

ज्ञान, विज्ञान, आत्मा और चैतन्य ये पर्याय हैं। ज्ञान या चैतन्य में सूक्ष्मवाग्रूप विद्यमान रहता है—यह कुछ वैयाकरणों का मत है। ज्ञान या चैतन्य ही वाक्तत्त्व है, यह दूसरा मत है; जैसा कि 'सैषा संसारिणां संज्ञा–' इस कारिका की वृत्ति में कहा गया है—'तस्माच्चितिक्रियारूपमलब्धवाक्शक्तिपरिग्रहं न विद्यते। वाक्तत्त्वरूपमेव चितिक्रियारूपमित्यन्ये।' ज्ञानात्मा या चैतन्य में वाक्तत्त्व निहित रहता है, यही कहना उचित है। अतः—

'अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम्' यही पाठ सङ्गत है। 'स मनोभावमापद्य–'इस श्लोक के 'सः' इस पद के अनुरोध से 'अथायमान्तरो ज्ञाता' ऐसा पाठ

---

१. 'भेदानुकारो ज्ञानस्य–' इस कारिका की वृत्ति में पाठ है—'शब्दतत्त्वमेवेदं वाङ्मनसाख्यमविभागमन्यथा प्रतीयत इति।' वस्तुतः 'प्रविभागम्' यही पाठ ठीक है।

२. उद्योत (प्रदीप टीका) में 'अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मवागात्मना स्थितः' ऐसा पाठ है। ज्ञाता—वृत्तिविशिष्टमन्तःकरणम्।

'स्वस्य रूपस्य' के स्थान पर 'स्वस्वरूपस्य'—नागेश, उद्योत।

कल्पित किया गया ज्ञान पड़ता है; किन्तु वस्तुतः ये श्लोकरूप उद्धरण क्रम से नहीं प्रस्तुत किये गये। पहला श्लोक पृथक् है और अग्रिम श्लोक पृथक्। इस श्लोक में 'सः' का अर्थ आत्मा करना होगा। 'शब्दत्वेन विवर्तते' से एक बात कही गई और 'अथासौ समुदीर्यते' से दूसरा प्रकार बतलाया गया। ये उद्धरण विविध शिक्षा-ग्रन्थों में अन्वेषणीय हैं।

'आख्यातोपयोगे' (पाणिनि १।४।२९) इस सूत्र के भाष्य में भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—'अथवा ज्योतिर्वज्ज्ञानानि भवन्ति'। इस पर कैयट कहते हैं—'यथा ज्वालारूपं ज्योतिरविच्छेदेनोत्पद्यमानं सन्ततं तथैवोपाध्यायज्ञानानि भिन्नानि भिन्न-शब्दरूपतामापद्यमानानि सन्ततान्युच्यन्ते। ज्ञानस्य शब्दरूपापत्तिरिति दर्शनमत्र भाष्य-कारस्य। तथा चोक्तम्—'वायोरणूनां–।' —प्रदीप

अथवा ज्योति के सदृश ज्ञान होते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे ज्वालारूप ज्योति अविच्छिन्न रूप से उत्पन्न होती हुई फैलती है, वैसे ही उपाध्याय से उत्पन्न ज्ञान भिन्न-भिन्न शब्दरूपता को प्राप्त होकर सन्तत हो (फैल) रहा है, ऐसा कहा जाता है। ज्ञान ही शब्दरूप में परिणत होता है, यह भाष्यकार का दर्शन है। जैसा कि कहा है—'वायु अणु अथवा ज्ञान शब्दरूपता को प्राप्त होते हैं।'

नागेश के मतानुसार यदि ज्ञान का अर्थ वक्तृज्ञान और ज्ञाता का वृत्तिविशिष्ट अन्तःकरण किया जाय तो 'आन्तर' पद व्यर्थ सिद्ध होता है। वक्ता का ज्ञान और वाचकशब्द इनमें कार्यकारणभाव सम्बन्ध है, ऐसा भगवान् भर्तृहरि ने कहा है। यथा—

'ज्ञानं प्रयोक्तुर्बाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते।
शब्दैरुच्चरितैस्तेषां सम्बन्धः समवस्थितः' ॥ १ ॥ —सम्बन्धसमुद्देश।

कैयट के कथनानुसार उपाध्याय का ज्ञान ही शब्द के रूप में परिणत होकर सन्तत होता हुआ शिष्य में सङ्क्रान्त होता है। यद्यपि वाक्यपदीय के सम्बन्धसमुद्देश्य में यह भी कहा गया है कि ज्ञान शब्द का कारण है वक्ता की दृष्टि से और शब्द ज्ञान का कारण है श्रोता की दृष्टि से। यथा—

'शब्दः कारणमर्थस्य स हि तेनोपजन्यते।
तथा च बुद्धिविषयादर्थाच्छब्दः प्रतीयते' ॥ ३२ ॥

तथापि यह पृथक् बात है।

ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक सोपाधिक या अशुद्ध और दूसरा निरुपाधिक या शुद्ध। सोपाधिक ज्ञान ही वक्ता का ज्ञान या वृत्ति विशिष्ट अन्तःकरण है। शुद्ध ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक सर्वार्थरूप और दूसरा अरूप। इन्द्रियसन्निकर्षादिरूप उपाश्रय से निरपेक्ष अशेष अर्थों की प्रतीति से खचित जो सर्वज्ञ का ज्ञान है, वह आदिम शुद्ध ज्ञान है। और अपने विषय के ग्रहण में इन्द्रियादि अपेक्षारूप अशुद्धि के

अवबुद्ध न होने से अन्त में आकाररूप कालुष्य के दूर हो जाने पर तेजोमय, प्रशान्त-कल्लोल, संविन्मात्र, एकघन, ग्राह्य-ग्राहक प्रपञ्चशून्य परब्रह्म ही चरम शुद्ध[1] ज्ञान है।

उपनिषद् का भी कथन है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' आन्तर ज्ञान अथवा आन्तर ज्ञाता शब्द से शुद्ध आत्मा अर्थ लेना सङ्गत प्रतीत होता है। आन्तर शब्द की सार्थकता भी तभी होगी। आचार्य रामकण्ठ ने स्पन्दकारिका की विवृति में कहा है—'तथा च शब्दाद्वयवादे सामान्येन शब्दार्थोभयरूपोऽपर्यन्तावान्तरभेदो योऽयमीश्वरस्य शक्तिप्रसरः, तं विवर्तवाचोयुक्त्या व्यवहरति स्म यदाह—

अथायमान्तरो ज्ञाता ... . ।
... . ॥

अनादिनिधनं ब्रह्म ... ... ।
... ... ॥

इति। अत्र ब्रह्मपर्यायशब्दतत्त्वतया पारमेश्वरमेव रूपं निर्दिष्टम्'।—कारिका १८ की वृत्ति।

अथवा शब्दार्थोभयरूप ज्ञान जीवात्मा में धर्म रूप में विद्यमान रहता है। जब दूसरों को सम्बोधित करना होता है, तब वही उभयरूप ज्ञान वर्ण, पद और वाक्य-व्यक्ति के रूप में क्षरित होता है। इस बात को प्रारम्भ में ही भर्तृहरि ने कहा है—'प्रत्यक्चैतन्येऽन्तःसन्निवेशितस्य परसम्बोधनार्था व्यक्तिरभिष्यन्दते।'

'द्रव्यं हि नित्यम्' इस महाभाष्य पर दीपिकाकार भगवान् भर्तृहरि ने एक आगम उद्धृत किया है—'नित्यः पृथिवीधातुः। पृथिवीधातौ किं सत्यम्? विकल्पः। विकल्पे किं सत्यम्? ज्ञानम्। ज्ञाने किं सत्यम्? ओम्। अथ तद्ब्रह्म।'

विक्रम की पञ्चमशती[2] में विद्यमान श्रीमल्लवादिसूरि ने द्वादशारनयचक्र में दीपिका[3] से लेकर पूर्वोक्त वचन को इस प्रकार उद्धृत किया है—

---

१. सर्वार्थरूपता शुद्धिर्ज्ञानस्य निरुपाश्रया।
ततोऽप्यस्य परां शुद्धिमेके प्राहुररूपिकाम् ॥ ५६ ॥ सम्बन्धसमुद्देश
—वाक्यपदीय, तृ० काण्ड

'द्वे दशे शुद्धेरुपक्रमपरिसमाप्तिरूपे। इन्द्रियसन्निकर्षादिरूपोपाश्रयनिरपेक्षतयाऽशेषार्थाभासखचितं सर्वज्ञज्ञानमुपक्रमे शुद्धमित्युच्यते। इन्द्रियाद्यपेक्षारूपायाः स्वविषयग्रहणेऽशुद्धेरनवगमात् निष्ठायां चाकारकालुष्यापगमात् प्रभास्वरं प्रशान्तकल्लोलं संविन्मात्रमेकघनं शुद्धं ग्राह्यग्राहकप्रपञ्चशून्यं परं ब्रह्म।' —हेलाराज

२. तस्य सद्भावसमयस्तु 'श्रीवीरवत्सरादथ शताष्टके चतुरशीतिसंयुक्ते। जिग्ये स मल्लवादी बौद्धास्तद्व्यन्तरांश्चापि' इति विजयसिंहसूरिप्रबन्धगतेन गाथावृत्तेन श्रीवीरवत्सरात् (८८४) नवमशतकः विक्रमाच्च (४१४) पञ्चमशतकोऽवगम्यते।

३. दीपिका में उद्धरण के अनन्तर जो पङ्क्तियाँ लिखित हैं, वे भी 'एतदुक्तं भवति—अतः परं शब्दार्थव्यवहारो निवर्तते (निर्विकल्पत्वात्) व्यवहारातीतोऽयमर्थः।' इस प्रकार मल्लवादी द्वारा उद्धृत हैं।

'अन्वाह च पृथिवीधातौ किं सत्यम् ? विकल्पः, विकल्पे किं सत्यम् ? ज्ञानम्, ज्ञाने किं सत्यम् ? ओम्, तदेतद्ब्रह्म ।'

महावैयाकरण हेलाराज ने इसी वचन को जातिसमुद्देश के 'सत्यासत्यौ तु यौ भावौ ।'—॥ ३२ ॥ इस कारिका की टीका में इस प्रकार उद्धृत किया है—'पृथिवीधातौ किं सत्यम्, विकल्पः, विकल्पे किं सत्यम्, विज्ञानम्, विज्ञाने किं सत्यम्, ॐ अथ तद्ब्रह्म ।'

विक्रम की सातवीं शती में विद्यमान सिंहसूरगणि ने मल्लवादी के ग्रन्थ पर न्यायागमामुसारिणी टीका में ज्ञान शब्द पर कहा है—'ज्ञानमेवात्मकर्मलक्षणं चैतन्यं तथा तथा विजृम्भते ।'

ब्रह्मकाण्ड की नवीं कारिका की वृत्ति में ब्रह्मवादियों के दो वचन उद्धृत हैं। दूसरे उद्धरण में उल्लेख है—'आन्तरः पुरुषोऽभिमन्यते ।' श्रीवृषभ ने आन्तरः पुरुषः का अर्थ 'कर्मात्मा' किया है ।

वृत्तिः—स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागतः ।
वायुमाविशति प्राणमथासौ समुदीर्यते ॥ ११३ ॥

विवरण—यह वृत्ति के अन्तर्गत किसी शिक्षा-ग्रन्थ का उद्धरण है। वह सूक्ष्म वागात्मा मनरूपता को प्राप्त करके तेज अर्थात् शरीरान्तःस्थित ऊष्मा द्वारा परिपक्व होकर प्राण नामक वायु में प्रविष्ट होता है। तदनन्तर सक्रिय होकर वह स्थूलरूप में उच्चरित होता है। श्रीवृषभ 'उदीर्यते' का अर्थ 'ऊर्ध्वस्थितानि स्थानान्युपसर्पति' अर्थात् ऊपर स्थित स्थानों में पहुँचता है—ऐसा करते हैं। उनके मत में 'सः' का अर्थ आत्मा या ज्ञाता है। वे कहते हैं—

'स्थूलशब्दभावापत्तौ आत्मनः क्रममाह—स मनोभावमिति' मन विषयों का परिच्छेदक है, अतः आत्मा मनोऽवस्था को प्राप्त करता है। 'तेजसा—अर्थात् शरीरान्तःस्थितेनोष्मणा ।' इसे जाठराग्नि नहीं समझना चाहिए। 'पाकम् इति। मनोरूपतामापन्नस्य ज्ञातुरतिशयः विषयावग्रहसामर्थ्यख्यापकः ।' मन के रूप को प्राप्त ज्ञाता में विषयग्रहण के सामर्थ्य का ख्यापक जो अतिशय है, वही पाक है। इन्होंने प्रस्तुत श्लोक को पूर्वश्लोक से क्रम में मान कर व्याख्या की है।

यद्यपि 'सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो—' में उदीर्णः का अर्थ 'ऊर्ध्वं प्रेरितः' उचित है। किन्तु यहाँ 'उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम् ।' —कुमारसम्भव २।१२

'ओङ्कार जिन वेदवाणियों का प्रारम्भ है तथा उदात्तादि स्वरों से जिनका उच्चारण किया जाता है' । कालिदास के इस वचन से तथा 'उदीरणमुच्चारणम्' मल्लिनाथ की इस व्याख्या के अनुसार 'समुदीर्यते' का 'उच्चरित होता है' यही अर्थ सङ्गत है।

वृत्तिः—अन्तःकरणतत्त्वस्य वायुराश्रयतां गतः ।
तद्धर्मेण समाविष्टस्तेजसैव विवर्तते ॥ ११४ ॥

विवरण—प्राण वायु अन्तःकरण की आश्रयता को प्राप्त करके, अर्थात् अन्तः-करणतत्त्व या अन्तःस्थित का जो करण या व्यापार वह चैतन्य ही अन्तःकरण है। जैसा कि हेलाराज ने कहा है—'अन्तरवस्थितस्य करणं व्यापारोऽस्येति चैतन्यमेवोच्यते।' (दिक्समुद्देश्य श्लो० २३ की टीका)

'अन्तःकरणं क्रिया यस्यासावनुसन्धाता प्रमातैवं कथ्यते।' (वृत्ति० श्लो० ९१)

'सर्वार्थग्राहकं वा मनोऽन्तःकरणम्'—हेलाराज अन्तःकरण अर्थात् प्रमाता का अधिष्ठान बना हुआ प्राणवायु शब्दभावनात्मक ज्ञानबीज रूप धर्म से समाविष्ट होकर ('अनादिश्चैषा शब्दभावना प्रतिपुरुषमवस्थितज्ञानबीजपरिग्रहा–' ब्रह्म-काण्ड—'आद्यःकरणविन्यासः की वृत्ति) आन्तरिक ऊष्मा की सहायता से स्थूल रूप में परिणत होता है।

श्रीवृषभाचार्य 'अन्तःकरणतत्त्वस्य' का अर्थ करते हैं—'मनोरूपतामापन्नस्य ज्ञातुः' मनोरूपता को प्राप्त ज्ञाता का आधार रूपवायु अर्थात् वायु में मनोरूप प्रविष्ट रहता है। पश्चात् मन के धर्म से समाविष्ट होकर वह विवृत्त होता है। 'समाविष्टः' की व्याख्या त्रुटित है। श्रीवृषभ 'तेजसैव' के स्थान पर 'तेजसेव' पाठ मान कर व्याख्या करते हैं कि जैसे तेज इन्धनरूप आश्रय को प्राप्त करके अग्नि के समावेश से इन्धनरूपता को छोड़ कर तेजोरूप हो जाता है, वैसे ही वायु स्वरूप को त्याग कर मनोरूपता को प्राप्त कर लेती है।

वस्तुतः 'तेजसेव' यह अपपाठ है।

वृत्तिः—विभजन् स्वात्मनो ग्रन्थीन् श्रुतिरूपैः पृथग्विधैः।
प्राणो वर्णानभिव्यज्य वर्णेष्वेवोपलीयते ॥ ११५ ॥

इत्येवमादि सर्वमनुगन्तव्यम्।

विवरण—प्राणवायु अनेक प्रकार के श्रुति[1] रूपों या श्रुतियों—उदात्तादि स्वर-कृत, ह्रस्वादि कालकृत, अकारादि स्थानकृत तथा प्रयत्नकृत द्वारा अपनी ग्रन्थियों या विकारों को विभक्त करता हुआ 'क' 'ख' आदि वर्णों के रूप में ढल जाता है।

आदि-आदि सभी मतों का अनुगमन करना चाहिए।

वृत्तिः—निदर्शनमात्रं चेदम्। बहुधा शिक्षासूत्रकारभाष्यकारमतानि दृश्यन्ते। तद्यथा—'अन्तर्वर्तिना प्रयत्नेनोर्ध्वमुदीरितोऽन्तः प्राणो वायुस्तेज-सानुगृहीतः शब्दवहाभ्यः शुषिभ्यः सूक्ष्मांशं धूमसन्तानवत् संहति। स स्थानेषु शब्दघनः संहन्यमानः प्रकाशमात्रया कयाचिदन्तःसन्निवेशिनः शब्दस्याविभक्तं बिम्बमुपगृह्णाति।'

---

१. महाभाष्यकार ने ६।४।१७४ सूत्र के भाष्य में एक श्रुति का अर्थ किया है—एकश्रुतिः, स्वरसर्वनाम' 'यथा नपुंसकं लिङ्गसर्वनाम।' 'उदात्तादीनां स्वराणाम-विभागेनावस्थानमेकश्रुतिः–' (सुबोधिनी) संगीत की श्रुतियाँ भिन्न हैं—'श्रुतिर्नाम स्वरारम्भकावयवः शब्दविशेषः'—मल्लिनाथ। 'षडजाद्यारम्भिका श्रुतिः'—हेमचन्द्र।

विवरण—यह दृष्टान्त मात्र है। अनेक प्रकार के शिक्षासूत्रकारों एवं शिक्षासूत्र के भाष्यकारों के मत देखे जाते हैं। जैसे—

'अन्तर्वर्ती प्रयत्न के द्वारा ऊपर की ओर प्रेरित प्राणवायु आन्तरिक ऊष्मा से अनुगृहीत (उपरक्त–उपराग को प्राप्त) होकर शब्दों का वहन करने वाले नाड़ी-छिद्रों से होती हुई सूक्ष्म शब्दांशों को वैसे ही संघटित कर देती है, जैसे धूम के अवयव वायु से प्रेरित होकर सघन हो जाते हैं। तात्वादि स्थानों में वह घनीभूत बाह्य शब्द किसी प्रकाशमात्रा के माध्यम से अन्तःसन्निवेशी शब्द के अविभक्त बिम्ब को ग्रहण कर लेता है।'

श्रीवृषभाचार्य 'भाष्यकारमतानि' से शिक्षाभाष्यकार रूप अर्थ ग्रहण करते हैं—'शिक्षाकारमतस्योक्तत्वात् शिक्षाणामेव ये भाष्यकारास्ते गृह्यन्ते। यथा—'विवृतमूष्मणां स्वराणाम्' इत्यत्र ईषदिति वर्तते निवृत्तं इति मतभेदः'। पहला मत पाणिनि का है और दूसरा भाष्यकार का। 'नाज्झलौ' (१।१।१०) इस सूत्र का उपर्युक्त भाष्य इस प्रकार है—'विवृतमूष्मणाम्' ईषदित्यनुवर्तते 'स्वराणां च' विवृतम्, ईषदिति निवृत्तम्।' अर्थात् ऊष्माओं का ईषद्विवृत प्रयत्न है; यहाँ ईषत् की अनुवृति आती है। स्वरों का विवृत प्रयत्न है; यहाँ 'ईषत्' की निवृत्ति हो जाती है।

श्रीवृषभ द्वारा धृत पाठ भ्रष्ट है। आगे चलकर श्रीवृषभ कहते हैं—

शरीर और वाणी का बाह्य स्पन्दन भी लोक में प्रयत्न के नाम से कहा जाता है, उससे भेद करने के लिए 'अन्तर्वर्तिना' ऐसा कहा गया है। तेज द्वारा आन्तरिक वायु में सारता या सघनता-सी निष्पन्न होती है, यही अनुग्रह है। इसीलिए बाह्य वायु तेज से अनुगृहीत न होने के कारण ओष्ठादिक के संयोग होने पर भी वर्णों को व्यक्त नहीं कर सकती।

प्रकाश मात्रा को वे 'करणभूतया' कहते हैं। यह प्रकाशमात्रा स्वार्थप्रकाशन से भिन्न है, अतः 'कयाचित्' कहा गया है। अथवा बुद्धि ही कारण है, उसी की प्रकाशमात्रा से वह शब्दसंघात अनुगत होता है। 'अथवा बुद्धिरत्र कारणमतद्रूपानुगम्योऽप्यस्तीति प्रकाशमात्रया स शब्दसङ्घातोऽनुगम्यत इत्यध्याहरणीयम्'—श्रीवृषभ। यह पाठ भी कुछ असंगत प्रतीत होता है।

'अन्तःसन्निवेशिनः' का अर्थ वे 'बुद्धिस्थस्य' करते हैं। 'अविभक्तम्' पर उनकी व्याख्या है—'अत्यन्तसारूप्यान्न तयोरन्तर्बहिःस्थितयो, शब्दरूपयोर्भेदः। यादृशमन्तः तादृगेव बहिरिति। न तु मुखादर्शतलप्रतिबिम्बयोरिव भेदावधारणमिति। अन्तःस्थितशब्दाकारानुगमात् तस्य शब्दत्वम्। एतावांश्च तस्योपयोगो नार्थप्रकाशनमिति।'

अत्यन्त समानरूपता के कारण अन्तः और बहिः स्थित उन शब्दरूपों में भेद नहीं होता; जैसा अन्दर वैसा ही बाहर। मुख और दर्पणगत प्रतिबिम्ब के समान यहाँ भेद का अवधारण नहीं होता। अन्तःस्थित शब्द के अनुकरण के अनुगम से बाह्य का भी शब्दत्व है। इतना ही उसका उपयोग है, अर्थप्रकाशन नहीं।

वृत्तिः—इत्येवमादि सर्वमनुगन्तव्यम्। तद्यथा—'नाभिप्रदेशात् प्रयत्न-प्रेरितो वायुरूर्ध्वमाक्रामन्नुरस्यादीनां स्थानानामन्यतमं स्थानमभिहन्ति, ततः शब्दनिष्पत्तिः।'

इत्यादिशिक्षाकारमतभेदप्रबन्धोऽनुगन्तव्यः। आचार्यः खल्वप्याह—

आत्मा बुद्ध्या समर्थ्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥

इत्येवमादि। तथापरः पठति—

'वायुः कोष्ठस्थानमनुप्रदानमापद्यते। स कण्ठगतः श्वासतां नादतां वा।' इत्यादि।

अथापर आह—

'मनोऽभिहतः कायाग्निः प्राणमुदीरयति। स नाभेरुद्यन्मूर्धन्यभिहतोऽन्येन पुनरुद्यता मरुताभिहन्यमानो ध्वनिः सम्पद्यते क इति वा ख इति वा।' इत्येव-मादि प्रतिशाखं शिक्षासु भिन्नमागमदर्शनं दृश्यमानं सर्वं प्रपञ्चेन समर्थयित-व्यम्।

विवरण—इस प्रकार अन्य सभी मतों का अनुसरण करना चाहिए। जैसा कि आपिशलिशिक्षा में कहा गया है—'तथा इत्यापिशलीयशिक्षादर्शनम्'। —श्रीवृषभ।

नाभिप्रदेश से प्रयत्न द्वारा प्रेरित वायु ऊपर की ओर उठता हुआ हृदय आदि आठ स्थानों में से जब अन्यतम स्थान में आघात करता है, तब शब्द की निष्पत्ति होती है। —इत्यादि शिक्षाकारों के मतभेद प्रबन्धों का अनुगमन करना चाहिए। आचार्य पाणिनि ने भी कहा है—

आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थों का समर्थन (निश्चय) करती हुई, कहने की इच्छा से मन को नियुक्त करती है। यह मन जब कायाग्नि या कोष्ठाग्नि पर आघात करता है तब आहत अग्नि उदान वायु को प्रेरित करती है। ऊर्ध्व की ओर प्रेरित यह उदान वायु मूर्ध देश से टक्कर खाकर मुख में आकर वर्णों को उत्पन्न करती है।

सांख्यकारिका की टीका युक्तदीपिका में प्रासङ्गिक वायु को उदान ही माना गया है—'मूर्धारोहणादात्मोत्कर्षणाच्चोदानः। यस्त्वयं प्राणापानसमानानां स्थानान्यतिक्रम्य रसं धातूँश्चादाय मूर्धानमारोहति ततश्च प्रतिहतो निवृत्तः स्थानकरणानुप्रदानविशेषाद्वर्ण-पदवाक्यश्लोकग्रन्थलक्षणस्य शब्दस्याभिव्यक्तिनिमित्तं भवति अयमन्तर्वृत्तिर्वायुरुदान इत्युच्यते।'

—प्राणाद्या वायवः पञ्च की टीका

शिरो देश में आरोहण करने तथा आत्मोत्कर्ष[1] के कारण इस वायु को उदान कहते हैं, जो प्राण, अपान और समान वायु के स्थानों का अतिक्रमण करके रस और

१. युक्तिदीपिका प्राणादिकों को बहिर्वृत्तिक भी मानती है। आत्मोत्कर्ष बाह्य-वृत्तिक उदान का लक्षण है। द्रष्टव्य—सांख्यकारिका २९ की टीका।

धातुओं को लेकर शिरोदेश पर चढ़ती है और वहाँ से प्रतिहत होकर लौटी हुई वायु स्थान, करण और अनुप्रदान विशेष से वर्ण, पद, वाक्य श्लोक और ग्रन्थात्मक शब्द की अभिव्यक्ति में निमित्त बनती है, उस अन्तर्वृत्तिक वायु को उदान कहा जाता है।

श्रीवृषभाचार्य की व्याख्या इस प्रकार है—'पहले आत्मा बुद्धिरूप करण से अर्थ की आलोचना (सामान्य रूप से ग्रहण) करती है, तब उस अर्थ को प्राप्त करके उस बुद्धि से उस अर्थ का निरूपण (दर्शन) करती है। पश्चात् उस अर्थ के वाचक शब्द को बुद्धि से ही देखती है। इसके अनन्तर योग्य शब्द के उच्चारण में मन को कुछ कहने की इच्छा से लगाती है। इच्छा आत्मा में ही रहती है। वह मन, जो इच्छा द्वारा प्रयुक्त है, कोष्ठाग्नि को प्रज्वलित कर देता है और यह अग्नि ऊर्ध्वज्वलन-कर्म या तेजःकर्म को उत्पन्न करती है। इत्यादि।

अन्य शिक्षाकार का कथन है—'वायु कोष्ठस्थानगत अनुप्रदान (बाह्यप्रयत्न) रूपता को प्राप्त होती है और वही कण्ठगत होकर श्वास और नादात्मक प्रयत्न रूप हो जाती है।'

श्रीवृषभाचार्य ने अनुप्रदान पर कहा है कि यह ध्वनिविशेष की संज्ञा है। वायु ध्वनि-विशेष के रूप में परिणत हो जाती है। ध्वनिज बाह्य ध्वनियाँ ही अनुप्रदान के नाम से कही जाती हैं। वह अनुप्रदान रूप वायु पहले कोष्ठ स्थित रहती है, फिर कण्ठगत होकर श्वास और नाद कहलाती है। जैसा कि ऋक्प्रातिशाख्य में कहा है—'श्वासतां नादतां वा' (१३।१)। कण्ठ के विवृत होने पर श्वासानुप्रदान और संवृत होने पर नादानुप्रदान कहलाती है। बह्वृचप्रातिशाख्य में शौनक का सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकार है—

'वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानं कण्ठस्य खे विवृते संवृते च।
आपद्येत श्वासतां नादतां च वक्त्रीहायामुभयं वान्तरोभौ'[1] ॥ १३।१ ॥

वाण वायु, जो कोष्ठ्य अनुप्रदान की संज्ञा को प्राप्त हो चुकी है, कण्ठगत आकाश के विवृत और संवृत होने पर वक्ता की इच्छा पर क्रमशः श्वास और नाद रूप को प्राप्त होती है। कण्ठबिल के विवृत और संवृत न होने पर (उभौ अन्तरा) वायु उभयरूपता को प्राप्त होती है।

'अनुप्रदानमिति ध्वनिविशेषस्य संज्ञा। वायुः तथा परिणमते। ध्वनिजा ध्वनयो बाह्या अनुप्रदानमित्यवच्छिनत्ति कोष्ठस्थानमिति। कोष्ठं स्थानमस्य। स चानुप्रदान-रूपो वायुः कण्ठगतः श्वासतां नादतां च प्रतिपद्यते।

आपिशलिशिक्षा में अनुप्रदान पर कहा गया है—'तत्र यदा कण्ठबिलं संवृतं भवति तदा नादो जायते। (८।९) विवृते कण्ठबिले श्वासो जायते। (८।१०) तौ श्वास-नादानुप्रदानमित्याचक्षते' ॥ ९।११ ॥

---

१. पाठान्तर—'उभयं चान्तरेतौ।' 'उभयं चान्तरे तदपि।'

पाणिनीयशिक्षा में भी अनुप्रदान की चर्चा मिलती है। वहाँ कहा गया है—स्वर, काल, स्थान, प्रयत्न और अनुप्रदान इनसे वर्णभेद होता है।

'स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः।
इति वर्णविदः प्राहुर्निपुणं तन्निबोधत'॥ १०॥

महाभाष्य के प्रस्तुत सन्दर्भगत अनुप्रदान शब्द की व्याख्या नागेश ने बाह्यप्रयत्न के रूप में की है—

'तेभ्यस्तत्तत्स्थानकरणानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते।' (पस्पशाह्निक)
'करणम्—आभ्यन्तरप्रयत्नः, अनुप्रदानम्—नादादिबाह्यप्रयत्नः।' —उद्योत, नागेश

'वायुम् अनुप्रदीयते इत्यनुप्रदानम्'—(उवट-ऋक्प्रातिशाख्यभाष्य)

अन्य शिक्षाकार का कथन है—'मन के द्वारा अभिहत कायाग्नि (जाठराग्नि अथवा धात्वग्नि) प्राण को ऊपर की ओर प्रेरित करती है। वह प्राणवायु नाभिदेश से ऊपर उठकर मूर्धदेश से टकराता है, उससे एक अन्य मरुत् उत्पन्न होता है; उससे अभिघात प्राप्त करके वह मूल वायु 'क' 'ख' आदि ध्वनियों के रूप में परिणत हो जाती है।

इस प्रकार प्रत्येक शाखा के शिक्षा-ग्रन्थों में दिखलाई देने वाले विविध आगममतों का विस्तार से समर्थन करना चाहिए॥ १०६॥

अग्रिम कारिका में शब्द सम्बन्धी मतान्तर उपस्थापित किया गया है—

अजस्रवृत्तिर्यः शब्दः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते।
व्यजनाद्वायुरिव स स्वनिमित्तात् प्रचीयते॥ १०७॥

यः अजस्रवृत्तिः शब्दः सूक्ष्मत्वात् न उपलभ्यते, सः व्यजनाद् वायुः इव स्वनिमित्तात् प्रचीयते।

सतत वर्तमान रहने वाला अर्थात् नित्य जो शब्द, सूक्ष्म होने के कारण उपलब्ध नहीं होता वह पंखे से वायु के समान अपना निमित्त पाकर स्थूल रूप में प्रतीत होता है। जैसे वायु के सूक्ष्म परमाणु व्यजन (पंखे) के अभिघात से सघन हो जाते हैं, वैसे ही शब्द परमाणु अपने निमित्तभूत करणाभिघात (ताल्वादि स्थानों में जिह्वाग्रोपाग्रादि के आघात) से संहत (घनीभूत) हो जाते हैं॥ १०७॥

वृत्तिः—अथापर आगमोऽनुगम्यते। सूक्ष्मो वायुसन्निचय इवान्तर्बहिश्च सर्वमूर्तीनां ध्वनिरवस्थितः। स चैषामाकाश इति प्रतिपद्यते। स यथैव तु सर्वत्र परमाणुसम्भवे संहतत्वाद् व्यजनाभिघातेन वायुराश्रयस्थानात् प्रविभज्यमानः क्रियाभिराविश्यते, तथैव ध्वनिः स्वनिमित्तैरभिव्यक्तप्रचितविक्रियारूपः श्रोत्रप्रदेशं प्राप्त उपलभ्यते संस्करोति च॥ १०७॥

विवरण—प्रस्तुत कारिका में अन्य शिक्षागम सम्बन्धी मतभेद का अनुगमन किया गया है। जैसे सूक्ष्म वायुनिचय (समूह) समस्त मूर्तियों के अन्दर और बाहर विद्यमान रहता है, वैसे ही ध्वनि भी प्राणियों एवं घटादि समस्त मूर्तियों के अन्दर और बाहर विद्यमान रहती है।

श्रीवृषभ ने 'सर्वमूर्तीनाम्' के व्याख्यान में कहा है—'प्राणिनामन्येषां च घटादीनामिति। अत एव शब्दपरमाणुपक्षादस्य विशेषः। तत्र ह्यन्तरेवावस्थिताः शब्दपरमाणव इति ख्याताः।' —पद्धति।

इसीलिए पूर्वोक्त शब्दपरमाणुपक्ष से इसमें वैशिष्ट्य है। शब्दपरमाणु पक्ष में, जो पहले कहा गया है—'शब्दपरमाणु शरीरान्तर्गत ही विद्यमान रहते हैं' ऐसा निरूपित हुआ है।

'वायुसंनिचय' पर श्रीवृषभ कहते हैं—'असंहत्यापि प्रकीर्णा एवमुक्ताः।' एकत्र न होने पर भी बिखरे हुए वायुपरमाणुओं को संनिचय के रूप में कहा गया है।

'वह ध्वनि इन शिक्षाकारों के मत में आकाश में विद्यमान रहती है। 'स चैषामाकाश इति प्रतिपद्यते।' इस वाक्य की व्याख्या पद्धति में नहीं मिलती। सम्भव है यह अंश श्रीवृषभ की व्याख्या की आधारभूत पुस्तक में न रहा हो।

जैसे सर्वत्र वायु परमाणुओं के रहने पर व्यजन के आघात से घनीभूत वह वायु अपने आश्रयस्थान से प्रच्युत होकर त्वगिन्द्रियग्राह्य स्थूल वायु द्रव्य की कारणता को प्राप्त होती है, वैसे ही ध्वनि करणाभिघातरूप अपने निमित्तों से सूक्ष्मरूप परित्यागपूर्वक व्यक्त, स्थूलरूप विकार को प्राप्त करके कर्णदेश में पहुँच कर उपलब्ध होती है और उपलब्धि के लिए श्रोत्रदेश को संस्कृत भी करती है।

'व्यञ्जनाद्वायुरिव' ऐसा पाठ अधिकांश हस्तलेखों में उपलब्ध होता है, किन्तु एक हस्तलेख में 'व्यजनात्' ऐसा पाठ है। यह पाठ ठीक प्रतीत होता है। 'प्रचीयते' के पर प्रायः सर्वत्र 'प्रतीयते' पाठ मिलता है जो उचित जान पड़ता है। 'प्रचितविक्रियारूपः' इस वृत्ति से 'प्रचीयते' इस पाठ का औचित्य भी प्रमाणित होता है।

श्रीवृषभ ने 'श्रोत्रप्रदेशम्' पर टीका की है—'अनित्यपक्षे स एव ध्वनिरुपलभ्यते। संस्करोति इति। नित्यपक्षे स ध्वनिरेवम्भूतः श्रोत्रमाकाशस्थं स्फोटमुभयं वा संस्करोति।' अनित्यपक्ष में वही प्रचित ध्वनि उपलब्ध होती है। नित्य पक्ष में इस प्रकार की अर्थात् प्रचित ध्वनि श्रोत्र को अथवा आकाशस्थ स्फोट को अथवा दोनों को संस्कृत करती है॥ १०७॥

अब शब्द सम्बन्धी पक्षान्तर उपस्थित किया जाता है—

तस्य प्राणे च या शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता।
विवर्तमाना स्थानेषु सैषा भेदं प्रपद्यते॥ १०८॥

तस्य या च प्राणे शक्तिः, बुद्धौ च या व्यवस्थिता; सा एषा स्थानेषु विवर्तमाना भेदं प्रपद्यते ।

उस वाचक शब्द की जो प्राण में शक्ति (सूक्ष्मरूपता) विद्यमान रहती है और जो बुद्धि में व्यवस्थित रहती है वही ताल्वादि स्थानों में विवर्तन—सन्निवेश-विशेष को प्राप्त होकर परस्पर भिन्न वाचकात्मक शब्दभेदों को प्राप्त होती है ॥ १०८ ॥

वृत्तिः—पक्षभेदा एवैते । नायमनन्तरः प्रचयधर्मा ध्वनिरिह श्लोके निर्दिश्यते । शब्दस्तु पूर्वप्रकृतः प्रवादभेदैरन्वाख्यायते । शब्दः खलु प्राणाधिष्ठानो बुद्धयधिष्ठानश्च । स तु द्वाभ्यां प्राणबुद्धिमात्राशक्तिभ्यां संसृष्टाभ्यां प्रतिलब्धाभिव्यक्तिरर्थं प्रत्याययति ।

विवरण—'तस्य' इस सर्वनाम द्वारा पूर्वोक्त प्रचयधर्मी ध्वनि को लोग ग्रहण न करें, इसलिए वृत्तिकार ने कहा कि ये सब पक्षभेद हैं । शब्दनिष्पत्ति में कौन-सी आनुपूर्वी या क्रम अपेक्षित है; इसके प्रतिपादन के लिए ये सभी पक्ष प्रक्रान्त हैं । इनमें प्रस्तुत कारिका के द्वारा एक भिन्न मत उपस्थापित किया जा रहा है । अजस्रवृत्तिक प्रचयधर्मा ध्वनि ही इस श्लोक में निर्दिष्ट है, ऐसा नहीं समझना चाहिए । 'तस्य' के द्वारा पूर्व प्रकृत—प्रासङ्गिक शब्द ही मतभेद-प्रदर्शनपूर्वक अन्वाख्यात हो रहा है । प्रस्तुत मत में शब्द सूक्ष्मरूप में बुद्धि और प्राण में रहता है । यह सूक्ष्मरूप कारिका में शक्ति के नाम से कहा गया है ।

श्रीवृषभ ने कहा है—'स बुद्धिस्थ आकारो योग्यः शब्दोत्पत्ताविति शक्तिरुक्ता ।' अर्थात् बुद्धिस्थ शब्दाकार स्थूल शब्द की उत्पत्ति के योग्य होता है, अतः उसे शक्ति कहते हैं ।

योगसूत्र (३।१४) के भाष्य में कहा गया है—'योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः ।' विशेषक्रियाकारित्वसामर्थ्य ही योग्यता है और इस योग्यता को धर्मी का धर्म या शक्ति के नाम से कहा जाता है । उदित धर्म को वृत्ति और शान्त धर्म को शक्ति कहते हैं । एक तीसरा भी प्रत्येक पदार्थ का धर्म होता है, जिसे अव्यपदेश्य कहते हैं । पदार्थ में नाना धर्म रहते हैं । सिद्धान्त है—'सर्वं सर्वात्मकम्' (व्यासभाष्य ३।१४) प्रत्येक पदार्थ में समस्त पदार्थ अव्यपदेश्य रूप में वर्तमान रहते हैं । देश, काल, आकार और निमित्त के अभाव में वे सब युगपत् (एक साथ) व्यक्त नहीं होते । ये जो अव्यपदेश्य (अकथनीय) धर्म हैं, वे भी शक्ति के नाम से कहे जाते हैं ।

प्राण और बुद्धि दोनों की आंशिक शक्तियों से, जो कि परस्पर संसृष्ट, सम्बद्ध या उपरञ्जित होती हैं, अभिव्यक्ति को प्राप्त करके शब्द, अर्थ का प्रत्यायन या बोध कराता है ।

पहले वक्ता की बुद्धि में विशिष्ट शब्द का आकार आरूढ या उदित होता है; वह बुद्धिस्थ आकार शब्द की उत्पत्ति के योग्य होता है; अतः उसे शक्ति कहा गया है ।

बुद्धि प्राण को प्रेरित करती है अर्थात् उस शब्दाकार को प्राणवायु में सन्निविष्ट कर देती है। वह प्राण उक्त शब्दाकार से उपरक्त होकर प्रतिविम्ब के सदृश उस आकार को ग्रहण कर लेता है। वहाँ भी वह आकार भावी व्यवहार के योग्य होता है, अतः शक्ति के नाम से कहा गया है। बुद्धिशक्ति के द्वारा प्राणशक्ति अनुगृहीत या उपरञ्जित होती है। विशिष्ट शब्द का आकार जिसमें अर्पित है, ऐसा प्राण विशिष्ट स्थानाभिघात से विशिष्ट स्थूल शब्द को उत्पन्न करता है। विशिष्ट शब्दाकार से उपरक्त न होने पर बुद्धिमात्रा से प्रेरित प्राण अभिघात से अव्यक्ताक्षर ध्वनि मात्र को उत्पन्न करता है।

'बुद्धिशक्त्या प्राणशक्तेरनुग्रहः विशिष्टशब्दाकारार्पणं, येन स प्राणो विशिष्टस्थानाभिघातेन विशिष्टं शब्दं जनयति। अप्राप्तोपरागस्तु मात्राप्रेरितः प्राणोऽभिघातादव्यक्ताक्षरध्वनिमात्रं जनयति।' —श्रीवृषभ, पद्धति।

श्रीवृषभ कहते हैं—प्राणशक्ति से भी बुद्धिशक्ति अनुगृहीत या उपरञ्जित होती है, जिससे उपराग को प्राप्त प्राणवृत्ति द्वारा बुद्धिशक्ति शब्द के रूप में विवृत्त होती है। प्राणशक्ति के विना केवल बुद्धिशक्ति शब्द के रूप में विवर्तित नहीं हो सकती। कारणभूत इन दोनों शक्तियों से तात्वादि स्थानों में व्यवहार योग्य स्थूल शब्द की निष्पत्ति होती है। करणाधिष्ठित यह तृतीय शब्द है—'स चायं तृतीयशब्दः करणाधिष्ठानः।' —पद्धति।

वृत्तिः—तत्र प्राणो बुद्धितत्त्वेनान्तराविष्टः। स चोर्ध्वमभिप्रवृत्तो ज्वालावद् वर्णस्थानेषु आक्षेपकप्रयत्नानुविधायी प्रतिविघातविवर्तेन नित्यशब्दोपग्राहिणा विवर्तते। स च संसृष्टप्राप्तशक्तिविवर्तः पृथिवीकललन्यग्रोधधानादिवद् भेदमुपगृह्णाति। भेदानुरागमात्रं च परस्मिन्नभेदे शब्दात्मनि सन्निवेशयति ॥ १०८ ॥

विवरण—शब्दाकार से उपरञ्जित बुद्धि प्राण में सङ्क्रान्त-सी हो जाती है, जिससे अन्तःप्रविष्ट बुद्धि प्राण को प्रेरित करती है। बुद्धि द्वारा प्रेरित वह प्राण ज्वाला के सदृश ऊपर उठकर जिस वर्ण से सम्बद्ध प्रयत्न द्वारा प्रेषित होता है, उन्हीं वर्णस्थानों में आघात करता हैं। इस प्रकार स्फोटाख्य शब्द से उपरक्त प्रतिघातविवर्त अर्थात् वेगवान् प्राण से तत्तत् स्थान के संयोगात्मक विवर्त के रूप में परिणत होता है। श्रीवृषभ कहते हैं—'तदाकारावग्रहाच्च करणाधिष्ठानस्य शब्दार्थत्वम्।' नित्य स्फोटात्मक शब्द के आकार से आकारित होने के कारण करणाधिष्ठान शब्द की शब्दार्थता सिद्ध होती है।

बुद्धि और प्राण इन दोनों की शक्ति प्रतिघात विवर्त को प्राप्त होकर क्रमशः वर्ण, पद और वाक्यरूप भेद को वैसे ही ग्रहण करती है जैसे पृथिवी चूर्ण, पिण्ड घटादि भेदों को, कलल या भ्रूण क्रमिक भेदों को पार करता हुआ मनुष्य-पश्वादि भेदों को तथा वट का बीज प्ररोहादि भेदों को प्राप्त करता है। परन्तु भेदरहित प्रतिभाख्य

शब्दतत्त्व में उक्त विवर्तन को प्राप्त प्राणवायु भेदोपराग का सन्निवेश कर देती है। अभेद में भेद का आरोपण कर देती है। अनुराग, उपराग, उपग्रह, अनुग्रह, उपरञ्जन ये सभी यहाँ पर्याय हैं। श्री वृषभाचार्य ने निम्न टीका की है—

'परस्मिस्मिन्निति प्रतिभाख्ये शब्दतत्त्वेऽभिव्यज्यमानस्तत्र भेदमारोपयति। भेद-ग्रहणात् प्राप्तस्तदुपराग इव। यदाह—भेदानुरागमात्रं च इति ॥ १०८ ॥

अब अग्रिम कारिका में शब्दशक्ति का माहात्म्य प्रदर्शित करते हैं—

शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी।
यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते ॥ १०९ ॥

अस्य विश्वस्य निबन्धनी शक्तिः शब्देषु एव आश्रिता; यन्नेत्रः अयं प्रतिमात्मा भेदरूपः प्रतीयते।

इस विश्व को बाँधने वाली शक्ति (स्वप्न और प्रबोध रूपा) सूक्ष्म शब्दों या वाक्तत्त्व में ही निहित है, जिस शक्ति के नेतृत्व में यह प्रतिभात्मा या शब्दात्मा अभिन्न होते हुए भी भिन्न रूप प्रतीत होता है।

वृत्तिः—तत्र केषाञ्चिदाकृतयः सूक्ष्मशब्दाधिष्ठाननिबन्धनाः। ताः खल्वात्माभिव्यक्तिमधिष्ठानपरिणामेन प्रतिलभमाना वाच्यवाचकभावेन व्यवतिष्ठन्ते।

यथापरेषामिन्द्रियेषु विषयमात्राशक्तयः प्रतिलयं गच्छन्ति, तथेन्द्रियमात्राशक्तयो बुद्धिषु, बुद्धिमात्राशक्तयः प्रतिसंहृतक्रमे वागात्मनि। सा चेयं स्वप्नबोधवृत्तिः[1] प्रविभक्तपुरुषानुकारा महत्यपि वाक्तत्त्वे कारणे नित्यमवस्थिता।

विवरण—श्रीवृषभाचार्य का कथन है कि पूर्वोक्त शब्द सम्बन्धी मतभेद शिक्षाकारों के अनुसार निरूपित हुआ है। वे विश्व का अर्थ वाच्य-वाचक रूप करते हैं। 'यन्नेत्रः–' इस अर्द्धभाग पर उनकी पद्धति इस प्रकार है—

'नेत्रं हि परिच्छेदोपाय इति। तेन हि शब्देन विशिष्टशक्तिकेन भिन्नगवादिपदार्थविषया प्रतिभोत्पद्यते। यदाश्रयो वा प्रतिभात्मानेकप्रकारः प्रतिपुरुषं विवर्तते।'

'नेत्र, परिच्छेद या भेद का उपाय है। विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न उस नेत्रात्मक शब्द के द्वारा भिन्न गवादिपदार्थ-विषयक प्रतिभा उत्पन्न होती है। अथवा जिसका आश्रय लेकर (नेत्र = आश्रय) प्रतिभात्मा अनेक प्रकार का होकर प्रत्येक पुरुष में विवृत्त होता है।'

वृत्तिकार कहते हैं—कुछ लोगों का मत है कि आकृतियाँ—गोत्व, वृक्षत्व तथा गोशब्दत्व और वृक्षशब्दत्वादि जातियाँ सूक्ष्म शब्द या वाक्तत्त्व का आश्रय लेकर विद्यमान रहती हैं। वाक्तत्त्व ही उनकी अभिव्यक्ति का निबन्धन या कारण है।

---

१. पाठान्तर—प्रवृत्तिः।

क्योंकि उसी में गोत्व और गोशब्दत्वादि जातियों की अभिव्यक्ति होती है। और वे जातियाँ वाक्तत्त्व रूप अधिष्ठान के परिणाम द्वारा अभिव्यक्ति को प्राप्त होकर गोत्वादि रूप वाच्य तथा गो-शब्दत्वादि वाचक रूप में स्थित होती हैं।

श्रीवृषभ कहते हैं—'तदेवमाश्रयस्योत्पत्तौ जातीनामभिव्यक्त्या वाच्यवाचकरूपस्य विश्वस्य वाक्तत्त्वं निबन्धनमिति।' इस प्रकार आश्रय या अधिष्ठान के उत्पन्न या परिणत होने पर जातियों की अभिव्यक्ति से वाच्यवाचक रूप विश्व का वाक्तत्त्व ही निबन्धन है। प्रस्तुत मत में कारिका के पूर्वार्द्ध का यही अर्थ है।

अन्य लोगों का मत है कि प्रलय उपस्थित होने पर पहले रूपादिक विषय शक्ति रूप से इन्द्रियों में लीन हो जाते हैं; इन्द्रियमात्रा-शक्तियाँ बुद्धियों में, बुद्धियाँ भी प्रतिसंहृतक्रम अर्थात् पर-वाक्तत्त्व में लीन हो ज़ाती हैं। यही परा काष्ठा है—'एतावद्धि सर्वम्'—पद्धति।

प्रलय से लेकर सृष्टि के बीच में आंशिक रूप में भी पदार्थों का दर्शन न होने से इसे स्वप्नवृत्ति कहा जाता है। सृष्टि से प्रलयपर्यन्त भावों या पदार्थों के प्रकट होने से इसे प्रबोधवृत्ति कहते हैं। चैत्र, मैत्रात्मक प्रविभाग का अनुकरण करने वाली वही वृत्तिरूप शक्ति, जिसे 'महोदेवः' कहा गया है, ऐसे वाक्तत्त्व रूप कारण में सदा अवस्थित रहती है। सर्वोपसंहाररूप उस पुरुष या शब्दब्रह्म में भेद का अनुकरण सम्भव नहीं, पुनः विवर्तरूप भेद की बात ही क्या? वस्तुतः शक्तिरूप से स्वप्नप्रबोध वृत्ति वहाँ रहती है, उसे ही विश्व की निबन्धनी शक्ति कहा गया है।

'अवस्थिता स्वप्नप्रबोधवृत्तिः। इयं च सा विश्वस्य निबन्धनी शक्तिरित्युक्ता।'
—पद्धति।

पहले मत में वाक्तत्त्व ही शक्ति है। दूसरे मत में स्वप्नप्रबोधरूप वृत्ति शक्ति है, जो वाक्तत्त्व में विद्यमान रहती है।

वृत्तिः—तथाऽपरेऽप्याहुः—

वागेवार्थं पश्यति वाग्ब्रवीति वागेवार्थं निहितं सन्तनोति।
वाच्येव विश्वं बहुरूपं निबद्धं तदेतदेकं प्रविभज्योपभुङ्क्ते ॥१०९॥

विवरण—इसी प्रकार अन्य लोगों ने भी कहा है—वाक् ही ज्ञातारूप से गवादि पदार्थों को देखती है; वाक् ही वक्ता रूप से स्थूल शब्दों का उच्चारण करती है, वाक् ही अपने में शक्ति रूप से निहित समग्र अर्थ या विषयों का विस्तार करती है—व्यक्त रूप में उत्पन्न करती है। वाक्तत्त्व में ही नानाविध विश्व स्थित है; वही एक वाक्तत्त्व भोक्ता और भोग्य रूप में अपने को विभक्त करके उपभोग करता है।

श्रीवृषभ ने कहा है—'तदेव हि वाक्तत्त्वं बुद्धिरूपेण विवृत्तमर्थं जानाति। स्थूला वाक् करणस्था तर्हि ततोऽन्येत्याह—वाग्ब्रवीति इति। सा व्यतिरिक्ता तत इति'॥ १०९॥

विगत कारिका का यह अर्थ भी किया जा सकता है—विश्व से व्यवहार की जननी शक्ति शब्दों में ही निहित रहती है; जिनके सहारे प्रतिभात्मक यह विश्व भिन्न-भिन्न गो, घट, पटादि पदार्थ विषयक प्रतिभाओं से अनेक प्रकार का प्रतीत होता है।

इसी बात को अग्रिम कारिका द्वारा पुष्ट करते हैं। श्रीवृषभाचार्य भी ऐसी ही अवतरणिका प्रस्तुत की है—'तथा शब्दशक्तिनिबन्धनं भेदाववोधं भावानां कथयति षड्जादिभेद: इति।

'षड्जादिभेद:—' इस कारिका द्वारा भावों—पदार्थों का भेद-ज्ञान शब्दशक्ति के ही कारण होता है, यह कहते हैं—

षड्जादिभेद: शब्देन व्याख्यातो रूप्यते यत:।
तस्मादर्थविधा: सर्वा: शब्दमात्रासु निश्रिता: ॥ ११० ॥

यत: शब्देन व्याख्यात: षड्जादिभेद: रूप्यते, तस्मात् सर्वा: अर्थविधा: शब्दमात्रासु निश्रिता:।

यत: शब्द के द्वारा प्रतिपादित होकर ही षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्य, पञ्चम और धैवत ये शब्द या स्वरभेद जाने जाते हैं, इशलिए समग्र अर्थविधाएँ या अर्थ-प्रकार शब्दमात्राओं के ही आश्रित रहते हैं। शब्द, अर्थ और ज्ञान यही अर्थविधाएँ हैं, जो शब्द के द्वारा प्रतिपादित होकर जानी जाती हैं। व्यवहारमात्र शब्द के अधीन है।

वृत्तिः—संविज्ञानपदनिबन्धनो हि सर्वोऽर्थ: स्मृतिनिरूपणयाऽभिजल्पनिरूपणयाऽऽकारनिरूपणया च निरूप्यमाणो व्यवहारमवतरति। षड्जर्षभगान्धारधैवतनिषादपञ्चममध्यमानां चानवस्थिताप्रसिद्ध(प्रसिद्ध)संविज्ञानपदानां विशेषोऽवधारणनिबन्धनपदप्रत्ययमन्तरेण नावधार्यंते।

विवरण—गो, घट, पट आदि समस्त अर्थ, पहचान (संविज्ञान) कराने वाले पद या शब्द से सम्वद्ध भी तीन प्रकार से—स्मृतिनिरूपण द्वारा, अभिजल्पनिरूपण आकारनिरूपण द्वारा निरूपित होकर अर्थव्यवहार के अवसर पर सर्वप्रथम वक्ता द्वारा और के चित्त में अनुभूत पदार्थ का संनिविष्ट संस्कार सम्पूर्णतया स्मृति के रूप में उदित होता है, तदनन्तर वह शब्द और अर्थ के अध्यास अभिजल्प या तादात्म्य के रूप में चिन्तन का विषय बनता है, पश्चात् श्रोता के प्रति बाह्याकार रूप में शब्द के द्वारा निरूपित होता है।

द्वितीय काण्ड के प्रस्तुत श्लोक में अभिजल्प के विपक में कहा गया है—

'सोऽयमित्यभिसम्बन्धाद् रूपमेकीकृतं यदा।
शब्दस्यार्थेन तं शब्दमभिजल्पं प्रचक्षते ॥'

'यह वही है' इस सम्बम्ध से शब्द का अर्थ के साथ जब एकीकरण होता है तो उस शब्द को अभिजल्प कहते हैं। अभिजल्प या अध्यास रूप को प्राप्त शब्द ही स्वरूपलक्षणात्मक शब्द का वाच्य होता है।

स्मृति और आकार के सम्बन्ध में भी वहीं कहा है—

'आकारवन्तः संवेद्याः व्यक्तस्मृतिनिबन्धनाः' ॥ १३३ ॥

शब्दों द्वारा संवेद्य बाह्य आकार वाले पदार्थ स्पष्ट स्मृति-हेतुक होते हैं।

श्रीवृषभाचार्य ने वृत्ति की व्याख्या में कहा है—परिच्छन्न—विभक्त भी पदार्थ का, बिना नाम-निर्देश के व्यवहार नहीं होता। पदार्थ के परिच्छेद के अनन्तर शब्दानुविद्ध बुद्धि से 'इदं एवम्' यह ऐसा है—इस प्रकार स्मृति रूप में ज्ञात होता है। शब्द और अर्थ का अभेद दर्शन ही अभिजल्पनिरूपणा है।

"इदमस्याः साधनम्, 'इयमेषां साध्या' इत्याकारनिरूपणा। व्रतो व्यवहारमवतरति।"

'अस्याः' और 'इयं' से श्रीवृषभाचार्य को क्या अभिप्रेत है, यह स्पष्ट नहीं। क्या ऐसा अर्थ उन्हें अभीष्ट है—यह घट वस्तु (इदम्) जलाहरणादि क्रिया का (अस्याः) साधन है; और यह जलाहरणादि क्रिया (इयम्) इन घट वस्तुओं (एषाम्) का साध्य है। इसके पश्चात् ही वह पदार्थ लोकव्यवहार के लिए उपयोगी होता है।

तीनों निरूपणाओं का श्रीवृषभ दूसरा अर्थ भी करते हैं—'अथवा स्मृतिनिरूपणया इति ज्ञानस्य निरूपणमाह। अभिजल्पनिरूपणया इति शब्दस्य। आकारनिरूपणया इत्यर्थस्याह। सर्वं एते शब्दानुविद्धा व्यवहाराङ्गं न स्वलक्षणरूपेणेति।'

अथवा स्मृतिनिरूपण द्वारा ज्ञान के निरूपण की बात कही गई है और अभिजल्पनिरूपणा से शब्द की और आकारनिरूपणा से अर्थ की। ज्ञान, शब्द और अर्थ ये सभी शब्द से अनुविद्ध होकर व्यवहार का अङ्ग बनते हैं, स्वलक्षण रूप से नहीं।

षड्ज, ऋषभ, गान्धार, धैवत, निषाद, पञ्चम और मध्यम, जिनका संविज्ञान (परिचायक) शब्दलोक में अनवस्थित एवं अप्रसिद्ध अर्थात् सुव्याख्यात और सुपरिचित नहीं है, उनके वैशिष्ट्य की अवधारणा तत् निबन्धन या तद्धेतुक पदज्ञान के बिना नहीं हो सकती। 'अनवस्थितप्रसिद्धसंविज्ञानपदानाम्' ऐसा पाठ होने पर अर्थ होगा—'जिनका प्रसिद्ध परिचायक पद सुव्याख्यात नहीं है।'

जैसे—जहाँ तारतरस्वर एवं कण्ठविवर संवृत होता है, वह षड्ज स्वर कहलाता है। यह व्याख्या हुई। 'यत्र तारतरस्वरः कण्ठविवरस्य च वृत्तित्वं 'संवृतत्वम्' स षड्जः इत्यादि।' —श्रीवृषभ।

वृत्तिः—गोपालाविपालादयो हि निबन्धनपदानि प्रकल्प्य गवादिषु विशेषविषयं व्यवहारमारभन्ते। तस्मात् समाख्येयेष्वसमाख्येयेषु च सामान्यविशेषशब्देष्वध्यारूढो भेदवानर्थः शब्दशक्तिसंसृष्टया शब्दानुविद्धया शब्दात्मिकया बुद्धया प्रकाश्यत उपगृह्यते स्वीक्रियते ॥ ११० ॥

विवरण—गाय पालने वाले और भेड़ी पालने वाले गोपाल और अविपाल आदि नाम पदों (धौरी, कबरी आदि) की कल्पना करके गवादि विषयों में विशेष विषयक व्यवहार प्रारम्भ करते हैं। गायों या भेड़ों में भेद-व्यवहार करने के लिए वे लोग भी हेतुक पदों की कल्पना करते हैं। इसलिए समाख्येय गवादि और असमाख्येय षड्जादि सामान्य विशेष शब्दों में आरूढ भेदवान् गवादि पदार्थ शब्दशक्ति से संसृष्ट या शब्दानुविद्ध अथवा शब्दात्मिका—उपगृहीत अर्थाकार शब्दरूप बुद्धि से प्रकाशित या प्रतिपादित किया जाता है, उपगृहीत होता है या तद्रूपता द्वारा एकता को प्राप्त कराया जाता है ॥ ११० ॥

न केवल पदार्थों का भेदरूप से ग्रहण शब्दों से होता है, अपि तु पदार्थमय जगत् की उत्पत्ति में भी शब्द ही कारण है—यह अग्रिम कारिका द्वारा प्रतिपादित करते हैं—

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत ॥ १११ ॥

अयं शब्दस्य परिणामः इति आम्नायविदः विदुः। प्रथमम् एतत् विश्वं छन्दोभ्य एव व्यवर्तत।

यह प्रत्यक्ष स्थावर-जङ्गम जगत् शब्द का ही परिणाम है, ऐसा वेदवेत्ता जनों का मत है। आदि में यह विश्व छन्दों या पर वाक्तत्त्व से ही विकसित हुआ।

वृत्तिः—यथैवान्ये कार्यकारणभावमाचक्षाणाः कार्येषु कारणधर्मसमन्वयं दृष्ट्वा व्यावृत्तभेदं सूक्ष्ममसंवेद्यं सर्वविकारशक्त्यनुगतं प्रत्यस्तमितव्यक्तिशक्तिरूपमणुग्रामं, प्रधानशक्तिसमूहमविद्याकारणं जन्मपरिणामासंसर्गं विवर्तं व्यवस्थापयन्ति, तथैवाम्नाये संहृतभोग्यभोक्तृशक्तेर्वागात्मनो बहुधा कारणत्वमाम्नातम्।

विवरण—जैसे अन्य वैशेषिकादि दार्शनिक कार्यकारणभाव का विवेचन करते हुए कार्यों में कारण के धर्मों का समन्वय देख कर भेदरहित सूक्ष्म, अज्ञेय, सम्पूर्ण विकारों की शक्ति से समन्वित तथा व्यक्तिशक्तियाँ जिसमें जाकर प्रलीन हो जाती हैं, ऐसे अणु-समुदाय (वायवीय, तैजस, आप्य एवं पार्थिव परमाणु) प्रकृति, शक्तिसमूह, जन्मरूप परिणाम के संसर्ग से रहित विवर्त वाले अविद्या रूप कारण की स्थापना करते हैं, वैसे ही वेद में भोक्ता और भोग्य शक्ति जिसमें उपसंहृत हो गई है, ऐसी वागात्मा को बहुधा कारण माना है।

शक्तिसमूहवादी कौन थे ? यह स्पष्ट नहीं है। श्रीवृषभाचार्य की पद्धति यहाँ त्रुटित है। 'परास्य शक्तिर्विवधैव श्रूयते' इस उपनिषद्-वचन में 'अस्य' के श्रवण से शक्तिमान् शिव का बोध होता है। अतः यह व्याख्या सङ्गत नहीं। 'शक्तयोऽस्य

जगत्कृत्स्नं शक्तिमाँस्तु महेश्वरः ।' इस तान्त्रिक वचन में महेश्वर की कारणता स्पष्ट है । अतः इसे भी शक्तिसमूहवाद की व्याख्या में अङ्गीकार नहीं किया जा सकता। अथवा उपादानकारणता को लेकर उपर्युक्त व्याख्याएँ सङ्गत हो सकती हैं । अथवा तृतीय काण्ड के साधनसमुद्देश में एक कारिका पठित है—

'शक्तिमात्रासमूहस्य विश्वस्यानेकधर्मणः ।
सर्वदा सर्वथा भावात् क्वचित् किञ्चिद् विवक्ष्यते' ॥ २ ॥

घटादि पदार्थ ही विश्व शब्द वाच्य है; और ये पदार्थ शक्ति की मात्राओं—भागों के समूह मात्र हैं । इनमें अनेकविध शक्तियाँ सदैव सब प्रकार से विद्यमान रहती हैं, किन्तु इनमें से कुछ की कमी विवक्षा होती है ।

शक्तिसमूहवादियों में भी दो भेद हैं—१. द्रव्यव्यतिरिक्तदर्शनवाद तथा २. अव्यतिरिक्तशक्तिदर्शनवादी । अव्यतिरिक्तशक्तिदर्शनवादियों को संसर्गवादी वैशेषिक के नाम से जाना जाता है । जैसा कि 'शक्तयः शक्तिमन्तश्च सर्वे संसर्गवादिनाम्' (९, साधनसमुद्देश) की व्याख्या में हेलाराज कहते हैं—

'समवायवशाद्धर्मधर्मिणोरभेदमिव भेदेऽपि ये वदन्ति ते संसर्गवादिनो वैशेषिकाः ।' मीमांसक व्यतिरेकवादी हैं ।

श्रीवृषभाचार्य को भी उपर्युक्त व्याख्यान अभीष्ट प्रतीत होता है । वे कहते हैं—'शक्तिसमूहवादिनामपि यतो विकारास्तत्कार्यजनकत्वेन संसृष्टरूपाः तेनैषां कारणतत्त्वं समूहमात्राभ्यो बहिश्चैकत्र समवायात् ।'

यद्यपि पद्धति का यह पाठ भी भ्रष्ट है तो भी इसका अर्थ इस प्रकार हो सकता है—

शक्तिसमूहवादियों के मत में भी—चूँकि विकार कार्यों के जनक होने से उस कारणतत्त्व से संसृष्ट रहते हैं, इसलिए इन विकारों का कारणतत्त्व समूहमात्राओं से बाहर नहीं, क्योंकि वे एकत्र इसी में समवेत रहती हैं । 'बहिः' को मैंने 'अवहिः' माना है। दो हस्तलेखों में इसका पाठान्तर 'हिश्चैव' मिलता है । इससे जान पड़ता है कि यह पाठ त्रुटित है ।

'अविद्याकारणं जन्मपरिणामासंसर्गं विवर्तं व्यवस्थापयन्ति' यह वृत्ति का पाठ है। इस पर श्रीवृषभ की व्याख्या लुप्त है, अतः उपयुक्त पाठ की उनसे सूचना नहीं मिलती।

यहाँ जन्मपरिणामासंसर्गविवर्तं' पाठ स्वीकार किया जाय तो अर्थ होगा—जन्म-भोक्ताओं का और परिणाम भोग्यों का—इन भोक्ता और भोग्यों के संसर्ग से रहित जगत् रूप विवर्त वाले अज्ञानात्मक कारण की स्थापना करते हैं । अन्यथा 'विवर्त' यह विशेष्य हो जायगा और तब अभीष्ट सिद्धि नहीं होगी । विवर्त का अर्थ यहाँ अतात्त्विक अन्यथाभाव (रज्जु में सर्प-प्रतीति) ही लेना होगा । तो क्या भर्तृहरि के समय विवर्त का यह अर्थ भी होता था ?

गौड़पादपादकारिका का श्लोक है—

ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा ।

ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा' ॥ ४७ ॥ —अलातशान्तिप्रकरण

इस पर शङ्कराचार्य का भाष्य है—'यथोक्तं परमार्थदर्शनं प्रपञ्चयिष्यन्नाह—यथा हि लोक ऋजुवक्रादिप्रकाराभासमलातस्पन्दितमुल्काचलनं तथा ग्रहणग्राहकाभासं विषयिविषयाभासमित्यर्थः किं तद्विज्ञानस्पन्दितम् । स्पन्दितमिव स्पन्दितमविद्यया । न ह्यचलस्य विज्ञानस्य स्पन्दनमस्ति । अजाचलमिति ह्युक्तम् ।

जैसे लोक में अलात (उल्का = लुकुवाई) चक्र का भ्रमण सीधे, टेढ़े और वृत्ताकार रूप में आभासित होता है, वैसे ही विषयी और विषय का आभास अविद्या द्वारा स्पन्दित होते हुए से चेतन का स्पन्दन है । वस्तुतः अचल विज्ञान या आत्मा का स्पन्दन नहीं होता, क्योंकि पीछे इसे अज और अचल कहा है ।

यहाँ परवर्ती आनन्दगिरि ने विज्ञानस्पन्दित का अर्थ विवर्त किया है—[1]'अप्रच्युतपूर्वस्वरूपस्य असत्यनानाकारावभासो विवर्तस्तदत्र विज्ञानस्य स्पन्दितत्वम् ।'

गौड़पाद ने इसे अन्यत्र विकल्प शब्द से ही कहा है । यथा—

'अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता ।

सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः' ॥ १७ ॥

जैसे लोक में अपने रूप में निश्चित न की गई रस्सी अन्धकार में सर्प, जलधारा, दण्ड, भू-विवर आदि रूपों में कल्पित की जाती है, वैसे ही आत्मा भी अनेक रूपों में विकल्प का विषय बन रहा है ।

विकल्प अथवा भ्रम शब्द प्रस्तुत अर्थ में प्राचीनकाल में उपलब्ध था, विवर्त नहीं । अस्तु ।

वृत्तिः—'स उ एवैष ऋङ्मयो यजुर्मयः साममयो वैराजः पुरुषः । पुरुषो वै लोकः । पुरुषो यज्ञः । तस्यैताः लोकम्पृणास्तिस्र आहुतयस्ता एव त्र्यालिखिता वै त्रयो लोकाः ।' इति ।

विवरण—प्रस्तुत उद्धरण किसी ब्राह्मण-ग्रन्थ का है । कहाँ का है, यह अन्वेषणीय है । इस पर श्रीवृषभ की टीका त्रुटित है । 'वही यह ऋक्, यजु और साममय वैराज पुरुष है । पुरुष ही लोक है और पुरुष ही यज्ञ । उसके लिए ये लोक को तृप्त करने वाली तीन आहुतियाँ है, जो त्रिधा आलिखित होने से तीन लोक कहलाती हैं ।'

---

१. इस परिभाषा का अर्थ अधोलिखित हो सकता है जो व्याकरण-सम्मत है—पूर्वरूप के च्युत न होते हुए भी सुवर्णादि वस्तु में असत्य अनेक आकारों—कुण्डल, कटक, केयूर हार आदि की प्रतीति ही विवर्त है । 'अतात्त्विक अन्यथाभावरूप अर्थ भी सम्भव है ।

वैदिक-साहित्य में 'विराट्' को महाशक्ति के नाम से जाना जाता है। पुरुषसूक्त के भाष्य में रङ्गनाथमुनि ने 'विराट् प्रकृतिः बर्हिरिति समाननामानीति योगरत्ने' ऐसा कहा है। अथर्ववेद (८।९।९) में एक मन्त्र आता है—

'विश्वं मृशन्तीमभिरूपां विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे पश्यन्त्येनाम् ।'

विश्व को व्याप्त करने वाली सौन्दर्य या ज्ञानमयी विराट् नामक शक्ति को कुछ लोग देख पाते हैं, कुछ लोग नहीं। इस शक्ति का अधिष्ठाता पुरुष ही वैराज पुरुष है, जो ऋक्, यजु: और साममय होने के कारण वागात्मा है। पुरुष लोक के रूप में अपने को प्रकट करता है, अतः वह लोक है। लोक और पुरुष के जो संघटक तत्त्व हैं, वे यज्ञ द्वारा दिखलाये जाते हैं, इसलिए यज्ञ ही पुरुष है—'पुरुषसम्मितो यज्ञः'।

'पुरुषो वै यज्ञः। पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तनुते। एष वै तांयमानो यावानेव पुरुषस्तावान् विधीयते तस्मात्पुरुषो यज्ञः।' —बृहदारण्यक

'पुरुष ही यज्ञ है। पुरुष इसलिए यज्ञ है, क्योंकि पुरुष उसका विस्तार करता है। जब इसको ताना जाता है तो जितना पुरुष है—पुरुष में जितने घटक तत्त्व हैं, उतने ही यज्ञ में भी होते हैं। इसलिए पुरुष को यज्ञ कहा जाता है।'

उस पुरुष की ऋक्, यजुष् और साम से उपलक्षित अग्नि, वायु और सूर्यात्मक तीन विसृष्टियाँ, जो लोक की पूर्ति करने वाली हैं, त्रिधा आलिखित होने से तीन लोक हो गईं।

वृत्तिः—तथा—'एष वै छन्दस्यः साममयः प्रथमोऽक्षन् वैराजः पुरुषो योऽन्नमसृजत। तस्मात् पशवोऽन्वजायन्त, पशुभ्यो वनस्पतयः, वनस्पतिभ्योऽग्निः। तस्मादाहुन दारुपात्रेण दुह्यादग्निर्वा एष दारुपात्रम्। तस्मान्न दारुपात्रेण दुह्यते।'

विवरण—और—यह सप्तदशाक्षर छन्द से छन्दित साममय समस्त चराचर को आत्मसात् (अक्षन्) किए हुए जो वैराज पुरुष है, उसने पहले अन्न या प्राण की रचना की। उस प्राण से पशु[1] उत्पन्न हुए, पशुओं से वनस्पतियाँ और वनस्पतियों से अग्नि। इसीलिए कहते हैं कि लकड़ी के पात्र में दूध नहीं दुहना चाहिए। दारुपात्र अग्नि ही है। इसलिए दारुपात्र से नहीं दुहा जाता।'

कुछ लोग 'प्रथमोक्षन्' में 'उक्षन्' पाठ मानकर व्याख्या करते हैं, किन्तु वैराजः पुरुषः का विशेषण 'उक्षा' होना चाहिए 'उक्षन्' नहीं। वैदिक साहित्य में प्रथमान्त उक्षा का ही प्रयोग मिलता है। यथा—

---

१. पशु—शतपथब्रा० (३।७।३।९) में कहा है—'दैव्या वा एता विशो यत्पशवः' पशु दैवी प्रजाएँ हैं; वस्तुतः आग्नेय कण ही पशु समझे जाने चाहिए—'आग्नेयाः पशवः'—ऐ० ब्रा० १।१।४।३।

ऋग्वेद (९।६९।४) में 'उक्षा मिमाति प्रतियन्ति धेनवः'। यजुर्वेद में भी 'उक्षा' मिलता है—'उक्षा समुद्रो अरुणः सुपर्णः'(१७।६०) शत्रन्त मानने पर उक्षन् भी होगा, किन्तु सृष्टि के पूर्व 'सींचते हुए' इस विशेषण का क्या स्वारस्य होगा ? अथवा सृष्टि की उत्पत्ति के लिए सेचन करने वाला यह अर्थ सङ्गत हो सकता है।

यजुर्वेद (३।५१) में 'अक्षन्नमीमदन्त–' ऐसा प्रयोग मिलता है। उवट और महीधर ने अद् धातु का घस्लृ आदेश के साथ लुङ् लकार वहुवचन में 'अक्षन्' रूप सिद्ध किया है, जिसका अर्थ होता है—'भुक्तवन्तः पितरः।'

वस्तुतः 'अक्षू व्याप्तौ' से शत्रन्त अक्षन् सिद्ध करना चाहिए, जिसका अर्थ 'व्यापक' होगा।

वृत्तिः—ऋग्वर्णः खल्वपि—

इन्द्राच्छन्दः प्रथमं प्रास्यदन्नं तस्मादिमे नामरूपे विषूची।
नाम प्राणाच्छन्दसो रूपमुत्पन्नमेकं छन्दो वहुधा चाकशीति ॥

विवरण—ऋग्वेद का मन्त्र भी इस वात को कहता है—

सर्वप्रथम, इन्द्र या आत्मा से छन्दोरूप अन्न या प्राण विभक्त हुआ और उससे चारों और फैलने वाले नाम और रूप। छन्द या वागात्मारूप प्राण से नाम और रूप उत्पन्न हुए। इस प्रकार एक ही छन्द या वागात्मा अनेकधा प्रकाशित होता है।

अथवा इन्द्र से छन्द या त्रयीविद्या अभिव्यक्त हुई और उससे अन्न या प्राणात्मक भोग्य पदार्थ तथा उससे विविध गति वाले नाम और रूप। 'त्रयी विद्या काव्यं छन्दः।'—इति श्रुतेः। 'काव्यं कवेः परमात्मन इदं काव्यं वेदत्रयीरूपः छन्दः'।—महीधर (यजुः १५।४ की व्याख्या)

उपर्युक्त व्याख्याओं से स्पष्ट है कि छन्द या वागात्मा पराकाष्ठा नहीं है। छन्द से परे इन्द्र या आत्मा है, जिससे वह विभक्त या अभिव्यक्त होता है। अथवा इन्द्र और छन्द का वही सम्वन्ध है, जो परा प्रकृति और प्रकृति या प्रतिभा का अथवा परपश्यन्ती और पश्यन्ती का। इस प्रकार पश्यन्ती या छन्द को चरम तत्त्व नहीं कहा जा सकता, फिर भी एक ही छन्द समस्त जागतिक पदार्थों के रूप में भासित हो रहा है—इस कथन से छन्द का महत्त्व उसी प्रकार स्पष्ट है जैसा कि हिरण्यगर्भ या महानात्मा का। यह महानात्मा या हिरण्यगर्भ परमात्मा की प्रथम अभिव्यक्ति है। एक ही सुषुप्तावस्थ पुरुष की प्रबोधावस्था के समान परमात्मा और हिरण्यगर्भ में अथवा इन्द्र और छन्द में अन्तर और अभेद समझना चाहिए।

यह मन्त्र उपलब्ध ऋग्वेद की शाकल या वाष्कल शाखा में नहीं मिलता। सम्भवतः वर्तमान समय में अनुपलब्ध किसी शाखा में रहा होगा।

वृत्तिः—तथा पुनराह—

वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत्सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्।
अथेद्वाग् बुभुजे वागुवाच पुरुत्रा वाचो न परं यच्च नाह ॥

विवरण—पुनः ऋग्वेद में कहा है—वाक्तत्त्व ही सम्पूर्ण भुवनों के रूप में उत्पन्न होता है, वाक् से ही नित्य और अनित्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वाक् ही भोक्त्री है; वाक् ही अनेक अर्थों को कहती है अथवा वाक् ही अनन्त प्राणियों में उपस्थित होकर बोलती है, वाक् से परे कोई और अभिधेय नहीं है। 'पुरुत्रा' की पुरु (बह्वर्थक) शब्द से द्वितीया और सप्तमी के अर्थ में 'देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यः–' (पा० ५।४।५६) से त्रा प्रत्यय करने पर निष्पत्ति होती है। अर्थ होगा—'पुरून् (बहून्) पुरुषु (बहुषु) वा।' श्रीवृषभ ने 'पुरुत्रा' को 'वाचो न परं' से जोड़ कर दूसरा अर्थ किया है—

'न वाचोऽन्यत्किञ्चित् बहूनर्थान् प्रत्याययति।' वाक् से अतिरिक्त अन्य कोई बहुत अर्थों का बोध नहीं कराता।'

श्रीवृषभ द्वारा लिखित प्रथम अर्थ—'वाचो न परम् इति। वाचो व्यतिरेकेण अन्यदभिधेयं नास्ति। वाच्यापि सैवेति।'

वाक् से अतिरिक्त अन्य कोई अभिधेय नहीं है, अर्थात् वाच्य भी वही है।

'यच्चनाह' में दो प्रकार से विच्छेद होगा—१. यच्चन अह, २. यच्चन आह। पुरुत्रा को मिलाकर अन्वय होगा—

(क) 'वाचः परं न यच्चन पुरुत्रा आह।'

(ख) 'यच्चन अह वाचः न परम्।'

'अह इति च ह इति च विनिग्रहार्थीयौ।' —निरुक्त, नैघण्टुककाण्ड

प्रस्तुत मन्त्र भी वर्तमान [1]ऋग्वेद में नहीं मिलता।

वृत्तिः—पुराकल्पोऽप्याह—

विभज्य बहुधात्मानं स छन्दस्यः प्रजापतिः।
छन्दोमयीभिर्मात्राभिर्बहुधैव विवेश तम्॥
साध्वी वाग् भूयसी येषु पुरुषेषु व्यवस्थिता।
अधिकं वर्तते तेषु पुण्यं रूपं प्रजापतेः॥
प्राजापत्यं महत्तेजस्तत्पात्रैरिय संवृतम्।
शरीरभेदे विदुषां स्वां योनिमुपधावति॥

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १४ में एक श्लोक पठित है—

वाङ्मयानीह शास्त्राणि वाङ्निष्ठानि तथैव च।
तस्माद्वाचः परं नास्ति वाग् हि सर्वस्य कारणम्॥ ३॥

इस पर आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं—

सैवेयमुपयोगिनी किन्तु चतुर्थंगोपायभूता परमपुरुषार्थस्वभावा विश्वकारणभूता भगवती भारतीत्याह—वाङ्मयानीति। × × ×

तदाह—वाग्घि सर्वस्येति। 'वागेव विश्वा भुवनानी'ति श्रुतेः शब्दविवर्तादिरूपत्वं च प्रसाधितं तत्र भवद्भिर्भर्तृहरिप्रभृतिभिरिति तदिहानुसरणीयम्। —अभिनवभारती

यदेतन्मण्डलं भास्वद् धाम चित्रस्य राधसः ।
तद्भावमभिसम्भूय विद्यायां प्रविलीयते ।। १११ ।।

विवरण—सप्तदशाक्षर छन्द से छन्दित जगत्कारण वागात्मा प्रजापति अपने को जड़ जङ्गमात्मक पदार्थों के रूप में बहुधा विभक्त करके वाङ्मयी शक्तियों के साथ उस विभक्त विश्व में अनेकधा प्रविष्ट हो गया ।। १ ।।

जिन पुरुषों में साध्वी या संस्कृता वाक् अधिकांश रूप में अवस्थित है, उनमें प्रजापति (वाक्तत्त्वाख्य) का पुण्य रूप अधिकाधिक मात्रा में विद्यमान रहता है ।२।

वह महान् प्राजापत्य तेज, घटादि पात्रों से आवृत प्रदीप के तेज के समान शरीर रूपी पात्रों से ढँका रहता है । ज्ञानियों के शरीर के नाशानन्तर वह तेज स्वकारण वाक्तत्त्व की ओर दौड़ता है ।। ३ ।।

तथा जो यह विलक्षण परमानन्द का तेजोमय सूर्यमण्डल रूपस्थान है; समग्र शक्तियों के समावेश के कारण जिसे मण्डल कहा जाता है, उससे तद्रूपता प्राप्त करके, वह बहिर्विनिर्गत विद्वत्तेज, विद्या या शब्दब्रह्म में लीन हो जाता है ।। ४ ।।

श्रीवृषभाचार्यानुमत व्याख्या—

'विभज्य इति । वागादिरूपेण । प्रजापतिः इति । सर्वेषां कारणम् । तद्द्वारेण वाक्तत्त्वमाह । कथं विभज्येत्याह—छन्दोमयीभिः इति । तस्मात् काश्चन न व्यतिरिक्ता व्यक्तयो विभज्यन्ते सर्गकाले इति कथयति । विवेश इति । तंमेव च्छन्दस्यं ताभिर्विकार-मात्राभिः प्राविशत् । स्वात्मानमेव प्रलयकाले प्रविष्ट इति । व्यक्तिरूपेण भूत्वा शक्ति-रूपेणावतिष्ठत इति ।

'सभी का कारण वाक्तत्त्वात्मक प्रजापति वागादिरूप से सृष्टि के अवसर पर स्वरूपमयी व्यक्तियों को, जो उससे व्यतिरिक्त नहीं है, विभक्त करता है और प्रलय काल में विकारमात्राओं के साथ उसी छन्दस्य प्रजापति में प्रविष्ट हो जाता है । सर्ग काल में व्यक्ति रूप बन कर प्रलयकाल में शक्तिरूप से वर्तमान होता है ।। १ ।।

साध्वी वाक् अर्थात् संस्कृता वाक् जिन पुरुषों अर्थात् वैयाकरणों में रहती है, पुण्यरूप अर्थात् साधु शब्द ।। २ ।।

अर्थप्रकाशक होने के कारण वाक्तत्त्व रूप प्रजापति से व्यक्त वे साधु शब्द ही प्राजापत्य महत्तेज कहलाते हैं ।

'विदुषाम्' अर्थात् वैयाकरणों का शरीर-भेद होने पर, वह साधुशब्दाख्य तेज वाक्तत्त्व में प्रविष्ट हो जाता है ।। ३ ।।

'यद्' अर्थात् प्रक्रान्त वाक्तत्त्वरूप शब्दब्रह्म, जो सर्वशक्तियों के समावेश के कारण मण्डल के नाम से कहा जाता है । परिशुद्ध शब्दरूप होने के कारण जो प्रकाश स्वरूप है, ऐसा धाम अर्थात् स्थान । 'राधसः इति । योऽसौ मुक्तात्मनां परम आनन्दः तं राधः शब्देनाह' ।

'तद्भावम्'—अर्थात् शब्दब्रह्म भाव या तद्रूपता 'अभिसम्भूये'—प्राप्त करके विद्या या ज्ञान के उदित होने पर—'विद्यायां सत्यां तत्प्राप्तिरिति' उसी में प्रतिलीन हो जाता है—'यतस्तत्प्राप्तिरेव प्रतिलयस्तेनाह प्राप्य प्रतिलीयत इति। अथवा तदेव वाक्तत्त्वमभिसम्भूय देवदत्तादिरूपतां प्रतिपद्य विद्यायां सत्यां तत्रैव प्रतिलीयत इति।

पूर्व व्याख्या को अरोचक समझकर श्रीवृषभ कहते हैं—अथवा वही वाक्तत्त्व देवदत्तादि व्यक्तिरूपता को प्राप्त करके (अभिसम्भूय) विद्या की उत्पत्ति के अनन्तर वहीं लीन हो जाता है। कारिका में 'प्रविलीयते' पाठ भी उपलब्ध होता है, किन्तु श्रीवृषभ द्वारा स्वीकृत पाठ 'प्रतिलीयते' है।

श्रीवृषभ को 'विद्यायां' के अनन्तर 'सत्यां' ऐसा अध्याहार करके किसी प्रकार अर्थ का उन्नयन करना पड़ा है ॥ १११ ॥

इस प्रकार शब्द की विश्वोत्पत्ति में कारणता का निरूपण करके समस्त लोक व्यवहार में शब्द ही निमित्त है, इसका प्रतिपादन करते हैं—

इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया।
यां पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते ॥ ११२ ॥

लोके सर्वा इतिकर्तव्यता शब्दव्यपाश्रया। पूर्वाहितसंस्कारः बालः अपि यां प्रतिपद्यते।

लोक में समग्र कार्य-व्यवहार शब्द का आश्रय लेकर चलता है। यहाँ तक कि पूर्व जन्म में चित्त में डाले गये शब्दभावनात्मक संस्कार से सम्पन्न बालक भी इस जन्म में उसी संस्कार द्वारा इतिकर्तव्यता का निर्वाह करता है।

वृत्तिः—सदपि वाग्व्यवहारेणानुपगृहीतमर्थरूपमसता तुल्यम्। अत्यन्तासच्च प्रसिद्धं लोके शशविषाणादि, प्राप्ताविर्भावतिरोभावं च गन्धर्वनगरादि वाचा समुत्थाप्यमानं मुख्यसत्तायुक्तमिव तेषु तेषु कार्येषु प्रत्यवभासते। समाविष्टवाचां च स्वजातिषु बालानामपि पूर्वशब्दावेशभावनासंस्काराधानात् तासु तास्वर्थक्रियास्वनाख्येयशब्दनिबन्धना प्रतिपत्तिरुत्पद्यते ॥ ११२ ॥

विवरण—वाग्व्यवहार से असम्बद्ध वास्तविक भी घट-पटादि अर्थरूप असत् के समान होता है। वस्तु की सद् रूपता और असद् रूपता व्यवहार का अङ्ग नहीं होती, किन्तु शब्द द्वारा कल्पित आकार ही व्यवहारजनक होता है। लोक में प्रसिद्ध अत्यन्त असत् शश-विषाण (खरहे के सींग) आदि तथा आकाश में आविर्भूत एवं तिरोहित गन्धर्वनगर आदि शब्द द्वारा ही समुत्थापित होकर—रूपलाभ करके, मुख्यसत्ता युक्त पदार्थ के समान भिन्न-भिन्न कार्यों में भासित होता है।

असत् भी वस्तु शब्दप्रकल्पित आकार द्वारा सद्वस्तु के समान व्यवहारजनक होती है। शश-विषाणादि का असत्त्व लोक में प्रसिद्ध है। वह भी शब्द में आरोपित होकर दृष्टान्त का स्वरूप ग्रहण करता है।

श्रीवृषभाचार्य ने 'प्राप्ताविर्भावतिरोभावं' की दो प्रकार से व्याख्या की है—

(१) गन्धर्वनगर परिच्छेदक ज्ञान का विषय बन कर आविर्भूत होता है, प्राप्ताविर्भाव कहा जाता है और जब ज्ञान का विषय नहीं बनता तो लुप्त या प्राप्त तिरोभाव। अतः उसकी कल्पना शब्द द्वारा होती हैं, अतः वह सत् ही है।

(२) अथवा शब्द के द्वारा स्फुट गन्धर्वनगर दिखलाई देता है और नष्ट होता है; अर्थात् जन्म और विनाश का अनुभव करता है। इस प्रकार के सभी असत् पदार्थ उक्त रीति से प्राप्ताविर्भाव और प्राप्ततिरोभाव कहलाते हैं।

श्रीवृषभ यहाँ वृत्ति में एक पाठ और सूचित करते हैं—"अपरे पठन्ति—'बलिकंसादयश्च' इति। बलिं बन्धयति, कंसं घातयति। ते बहिरसन्तोऽपि शब्देन समुत्थापिता जन्मविनाशावनुभवन्ति।" —पद्धति।

वस्तुतः 'बलिकंसादि च' ऐसा पाठ होता तो 'प्रत्यवभासते' इस क्रिया की सङ्गति होती। बाहर अस्तित्व न होते हुए भी नाटक में बलि का बन्धन और कंस का वध शब्द से समुत्थापित होने पर ही सम्भव होता है।

छोटे बच्चों को, जिन्हें शब्द-व्यवहार का पता नहीं है, इतिकर्तव्यता का ज्ञान कैसे होता है?

जिनमें सूक्ष्मवाग्रूप समाविष्ट है, ऐसे बच्चों को अपनी-अपनी जातियों में पूर्वजन्मगत शब्दानुगम के अभ्यासजन्य संस्काराधान में भिन्न-भिन्न अर्थक्रियाओं में बुद्धिसंस्कारानुगत होने के कारण अनाख्येय शब्द से जन्म ज्ञान उत्पन्न होता है।

'स्वजातिषु' से मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जातियाँ समझना चाहिए। श्रीवृषभाचार्य की त्रुटित व्याख्या से ऐसा ज्ञात होता है। यथा—'स्वजातिषु इति। जातिभेदादपीतिकर्तव्यतासम्प्रतिपत्तिभेदः। यथा जातमात्रस्य गोरुत्पद्यते—।'

श्रीवृषभ 'समाविष्टवाचां' का दूसरा अर्थ भी प्रस्तुत करते हैं—

'अथवा समाविष्टवाचां च इति। ये वाचमुच्चारयितुं समर्थास्ते शब्दादर्थं प्रतिपद्यन्ते। तत्र निरूपयितुं शक्नुवन्ति शब्दार्थोऽयमस्येति। ते बालाः।' यह व्याख्या सङ्गत नहीं प्रतीत होती, क्योंकि इससे कारिका का अर्थ संगृहीत नहीं होता।

'स्वजातिषु' का अर्थ 'जन्मान्तरेषु' यह भी सम्भव है। तब व्याख्या होगी—जन्मान्तरों में सञ्चित भिन्न-भिन्न अर्थों से युक्त शब्द जिनके अन्तःकरण में समाविष्ट हैं, ऐसे बच्चों को।

वृत्ति में मुख्य सत्ता की चर्चा आई है। घट-पटादि बाह्य पदार्थों की यहाँ मुख्य सत्ता मानी गई है। महाभाष्य में (मतुब् सूत्र के भाष्य में ५।२।९४) उपचार-सत्ता भी व्यञ्जनतया स्वीकृत हुई है। इस बात को तृतीय काण्ड, सम्बन्धसमुद्देश में इस प्रकार कहा है—

[१]'तस्माद् भिन्नेषु धर्मेषु विरोधिष्वविरोधिनीम् ।
विरोधिख्यापनायैव शब्दैस्तैस्तैरुपाश्रिताम् ॥ ४९ ॥
अभिन्नकालामर्थेषु भिन्नकालेष्ववस्थिताम् ।
प्रवृत्तिहेतुं सर्वेषां शब्दानामौपचारिकीम् ॥ ५० ॥
एतां सत्तां पदार्थो हि न कश्चिदतिवर्तते ।
सा च सम्प्रति सत्तायाः पृथग्भाष्ये निर्दशिता ॥ ५१ ॥

इस पर हेलाराज ने कहा है—"मतुब् वार्तिके 'न सत्तां पदार्थो व्यभिचरति' इत्यस्ति शब्दार्थाक्षेपे तत्समर्थनाय 'सम्प्रति सत्तायां यथा स्यात्, भूतभविष्यत्सत्तायां मा भूत् । गावोऽस्यासन्, गावोऽस्य भवितारः' इति भाष्यवचनादुपचारसत्तास्तीति गम्यते ।"

उक्त कारिका का समर्थन द्वितीयकाण्ड की प्रस्तुत कारिका से भी किया गया है—

'साक्षात् शब्देन जनितां भावनानुगमेन वा ।
इतिकर्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्तते' ॥ १४६ ॥

प्रत्यक्ष शब्द से जनित अथवा अन्तःकरण में निहित अनादि शब्द भावना से जन्य प्रतिभा के सहारे ही सारा व्यवहार चलता[२] है ॥ ११२ ॥

---

१. उपचार सत्ता ही समस्त शब्दों की प्रवृति का हेतु है । 'चैत्र हुआ था, चैत्र होगा' इस प्रकार बुद्धि से अर्थ का निरूपण करके ही उस विषय में शब्द की प्रवृत्ति होती है । विद्यमान भी वर्तमानकालिक अर्थ जब तक बुद्धि में उपारूढ़ नहीं होता तब तक वह शब्दों का विषय नहीं बनता । इस प्रकार सर्वत्र शब्दार्थ उपचारसत्तारूढ़ ही रहता है । अतीत और अनागत कालव्यांपी होने से नियत काल वाले बाह्यार्थों में भी यह औपचारिकी सत्ता अभिन्नकालिक रूप से रहती है, अतः सार्वत्रिकी है । धर्म का अर्थ है—पदार्थ । ये दो प्रकार के होते हैं—अविरोधी और विरोधी । अविरोधी भावात्मक धर्म है, जैसे स्फटिक के लिए मल्लिका (श्वेत) कुसुमादि; ये स्फटिक के रूप का तिरस्कार नहीं करते । ये स्फटिक रूप उपचार-सत्ता के अनुगुण होते हैं । विरोधी धर्म अभावात्मक होते हैं (प्रतिषेधात्मक होते हैं) । ये उपचार-सत्ता का वैसे ही तिरोधान करते हैं जैसे जपाकुसुमादि स्फटिक का । अतः उपचार-सत्ता दोनो दशाओं में रहती ही है । इसीलिए कहा कि वह (सत्ता) विरोधी धर्मों में भी अविरोधिनी है । विरोधी (नीलादि) धर्म के ख्यापन के लिए ही नीलोत्प-लादि शब्दों से उसका आश्रय लिया जाता है । कोई भी पदार्थ इस सत्ता का अति-क्रमण नहीं कर सकता ।

२. शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह (१२१६) में 'इतिकर्तव्यता लोके–' इस कारिका का अनुवाद प्रस्तुत रूप में किया है—

अग्रिम कारिका में चित्त-निहित जन्मान्तरीय शब्दभावना ही शब्द की निष्पत्ति में भी कारण है, यह स्पष्ट करते हैं—

आद्यः करणविन्यासः प्राणस्योर्ध्वं समीरणम् ।
स्थानानामभिघातश्च न विना शब्दभावनाम् ॥ ११३ ॥

आद्यः करणविन्यासः प्राणस्य ऊर्ध्वं समीरणम् । स्थानानाम् अभिघातः च शब्दभावनां विना न ।

जिस बालक को शब्दोच्चारण की शिक्षा नहीं मिली, उसका शब्दोच्चारण के के लिए प्राथमिक प्रयत्न, प्राणवायु को ऊपर की ओर प्रेरित करना तथा उस वायु का लौटकर वर्णोच्चारण के लिए ताल्वादि तत्तत् स्थानों पर आघात करना जन्मान्तरीय शब्दभावना के विना सम्भव नहीं ।

वृत्तिः—अनादिश्चैषा शब्दभावना प्रतिपुरुषमवस्थितज्ञानबीजपरिग्रहा । न ह्येतस्याः कथञ्चित् पौरुषेयत्वं सम्भवति । तथा ह्यनुपदेशसाध्याः प्रतिभागम्या एव करणविन्यासादयः । को ह्येतान् पुरुषधर्मानन्यत्र शब्दात्मिकतायाः कर्तुं प्रतिपादयितुं वा समर्थं इति ।

विवरण—शब्दभावना अनादि है, यह प्रत्येक पुरुष की वुद्धि में ज्ञानवीज के रूप में विद्यमान रहती है । किसी प्रकार भी इस पौरुषेय–पुरुषप्रयत्नजन्य नहीं कहा जा सकता । अनादि शब्द से ही उसकी अपौरुपेयता समझना चाहिए । वालक के करण-विन्यासादि उपदेश साध्य नहीं अपि तु प्रतिभागम्य ही होते हैं । यद्यपि वृद्ध के द्वारा, अपनी जिह्वा के अग्रभाग या उपाग्र को ताल्वादि स्थानों की ओर व्यापृत करो, ऐसा उपदेश किया जाता है, तथापि ये उपदेश शब्द बालक की प्रतिभा मात्र का उद्घाटन करते हैं । क्योंकि इन उपदेश शब्दों से बालक का कोई सम्वन्ध प्रसिद्ध नहीं है ।

उपदेश का केवल यही कार्य है कि वह बालक में विद्यमान पूर्वशब्दभावना के बीज को, जो शक्ति के या प्रतिभा के रूप में था, वृत्ति के रूप में परिणत करती है

'अतीतभवनामार्थभावनावासनान्वयात् ।
सद्योजातोऽपि यद्योगादितिकर्तव्यता पटुः ॥'

इस पर कमलशील कहते हैं—'अतीतो भवः अतीतं जन्म । तत्र नामार्थभावना शब्दार्थाभ्यासः । तेनाहिता या वासनासामर्थ्यं तस्या अन्वयः अनुगमो यतो वालस्याप्यस्ति तेनाभिलापिनी प्रतीतिः तस्यापि भवत्येव । यस्याः कल्पनाया योगात् इतिकर्तव्यतायां स्मित-रुदित-स्तनपानप्रहर्षादिलक्षणायां पटुः चतुरो भवति । अतोऽनया कार्यभूतया यथोक्ता कल्पना वालस्याप्यनुमीयत एव । यथोक्तम् 'इतिकर्तव्यतां लोके··· प्रतिपद्यते ।' सा पुनः सम्मूर्च्छिताक्षराकारध्वनिविशिष्टम् अन्तर्भावाविपरिवर्तितम् अर्थं बहिरिवादर्शयन्ती तेषां समुपजायते यया पश्चात् सङ्केतग्रहणकुशला भवन्ति ।'

अथवा जगा देती है। कौन ऐसा उच्चारयिता या उपदेष्टा व्यक्ति है, जो करणविन्यासादि पुरुष-धर्मों को शब्दात्मिकता या बुद्धिस्थ शब्दभावना के बिना निष्पन्न करने या उद्घाटन करने में समर्थ हो सके।

विधि-विवेक की टीका न्यायकणिका में वाचस्पति मिश्र ने इस कारिका की प्रस्तुत व्याख्या की है—

'जातमात्र बालक पिता के द्वारा मुख में दिये गये मधु और घृत को जीभ से चाटता है, यही उसका प्रथम करणविन्यास है। वह जो उच्छ्वास लेता है, यही प्राणों का ऊर्ध्व समीरण है। इसके अतिरिक्त प्रेरित वायु के द्वारा हृदयादि स्थानों पर आघात करता है, जिससे शब्दभेद की अभिव्यक्ति होती है। यह सब जन्मान्तरीय शब्दभावना का ही कार्य है।

इसी आशय का एक श्लोक द्वितीयकाण्ड में उपलब्ध होता है। यथा—

'साक्षाच्छब्देन जनितां भावनानुगमेन वा।
इतिकर्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्तते॥ १४६॥

वक्ता द्वारा उच्चरित प्रत्यक्ष शब्द से जनित अथवा जन्मान्तरीय शब्दभावना के अनुगम से जन्य प्रतिभा को कोई भी व्यक्ति व्यवहार के अवसर पर भूल नहीं सकता॥ ११३॥

अब प्रस्तुत कारिका द्वारा 'प्रत्येक ज्ञान में शब्दरूप अनुषक्त रहता है' इस बात का निरूपण करते हैं—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ ११४॥

लोके सः प्रत्ययः नास्ति, यः शब्दानुगमात् ऋते; सर्वं ज्ञानं शब्देन अनुविद्धम् इव भासते।

संसार में ऐसी कोई प्रमा या ज्ञान नहीं है, जो शब्द से सम्बद्ध हुए बिना सम्भव हो। समस्त ज्ञान शब्द के साथ तादात्म्य लाभ करके ही भासित होता है। प्रथम श्लोकार्द्ध श्रोता की दृष्टि से कहा गया है और उत्तरार्द्ध उपदेष्टा की दृष्टि से, अतः यहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं है।

श्रीवृषभाचार्य ने प्रस्तुत कारिका का अर्थ इस प्रकार कहा है—'सर्वस्मिन् ज्ञाने शब्दानुगमः, केवलमनुवृत्तिः क्वचिद् यथा निमित्तशून्यवस्तुग्राहिणि ज्ञानेऽलब्धवृत्तिः क्वचित् यथा तदुत्तम(र ?)भाविषु भूतेषु (च)। तमेवानुषङ्गमाह—अनुविद्धमिव इति। उपदेष्ट्रापि प्रतिपन्नशब्दरूपम्।' —पद्धति।

अर्थात् समस्त ज्ञान में शब्द का अनुगम या सहचार रहता है; कहीं केवल अनुवृत्ति या स्मृति मात्र होती है; जैसे निमित्तशून्य वस्तुग्राही ज्ञान में और कहीं शब्द

अलब्धवृत्ति होता है; जैसे प्रत्यक्ष से अतिरिक्त भविष्यत् और भूत पदार्थों के विषय में।'

निमित्तशून्य वस्तुग्राही ज्ञान मृगतृष्णा या गन्धर्वनगर का ज्ञान है। यहाँ बहते हुए जल (मरुदेश में) या आकाश में नगररूप वस्तु के आभास से शब्द की स्मृति होती है।

अलब्धवृत्ति से तात्पर्य है—प्राप्त नहीं किया है स्थूल शब्दरूप वृत्ति को जिसने, ऐसा व्यवहार के अयोग्य ज्ञान।

वृत्तिः—यथास्य संहृतरूपा शब्दभावना तथा ज्ञेयेष्वर्थेषूत्पन्नेनाप्यविकल्पेन[1] ज्ञानेन कार्यं न क्रियते। तद्यथा त्वरितं गच्छतस्तृणलोष्टादिसंस्पर्शात् सत्यपि ज्ञाने काचिदेव सा ज्ञानावस्था, यस्यामभिमुखीभूतशब्दभावनाबीजायामाविर्भूतासु अर्थोपग्राहिणामाख्येयरूपाणामनाख्येयरूपाणां च शब्दानां प्रत्यर्थनियतासु शक्तिषु शब्दानुविद्धेन शक्त्यनुपातिना ज्ञानेनाक्रियमाण उपगृह्यमाणो वस्त्वात्मा ज्ञानानुगतोक्तव्यक्तरूपप्रत्यवभासो ज्ञायत इत्यभिधीयते।

विवरण—जैसे व्यक्ति की बुद्धि में विद्यमान उपसंहृत रूप शब्दभावना या बीजात्मक शब्द से कोई कार्य नहीं होता, वैसे ही ज्ञेय लोष्टतृणादि पदार्थों से सम्बद्ध, उत्पन्न भी विकल्पहीन (व्यक्त शब्दतादात्म्य रहित) ज्ञान से कोई कार्य नहीं किया जाता। उदाहरणस्वरूप जैसे कोई व्यक्ति शीघ्रतापूर्वक जा रहा हो और उस दशा में उसके शरीर से तृण या लोष्ट का स्पर्श हो भी जाय तो भी उस ज्ञान में शब्द का सहकार न होने से उस अविकल्पक ज्ञान से कोई कार्य सम्पन्न नहीं होगा। ज्ञान की कोई इससे भिन्न अवस्था होती है, जिसमें शब्दभावना का बीज अभिमुख या उद्बुद्ध होता है और तब अर्थ के उपग्राही या प्रतिपादक आख्यान के योग्य गवादि शब्द तथा अनाख्येय षड्ज आदि शब्दों की प्रतिनियत अर्थ के निरूपण की योग्यता रूप शक्तियों के आविर्भूत होने पर शब्द से उपरञ्जित अर्थ के प्रतिपादन करने वाले ज्ञान से आकारित या उपगृहीत घट-पटादि वस्त्वात्मा 'इदं तद्' इस व्यपदेश्य रूप में व्यक्त, प्रत्यवमर्श ज्ञान से अनुगत होकर 'जाना जाता है' (ज्ञायते)। इस व्यवहार का विषय बनता है।

श्रीवृषभ ने 'आख्येयरूपाणाम्' तथा 'अनाख्येयरूपाणाम्' पर क्रमशः इस प्रकार कहा है—'आख्यातुं शक्यते रूपं येषां गवादिशब्दवत्।' अनाख्येयरूपाणाम् इति। षड्जादिवत्, यतो न तेषामर्थः पर्यायान्तरेणाख्यातुं शक्यते।' प्रत्यर्थनियतासु इति। प्रतिनियतार्थपरिच्छेदोपयोगिन्यो हि ताः। अर्थनिरूपणयोग्यताशब्दस्य शक्तिरित्युक्ता।

---

१. 'अविकल्पकेन' इति चारुदेवशास्त्रिणा रघुनाथशर्मणा च धृतः पाठः।

२४ ब्रा०

तस्यां हि प्रबुद्धायां तज्ज्ञानं तयार्थं निरूपयति । शब्दानुविद्धेन इति । शब्दोपरक्तेन । स सूक्ष्मः सर्वज्ञानेऽस्तीत्याह शब्दशक्त्यनुपातिना' इति । शब्दस्य शक्तिरर्थप्रतिपादनम्; तदुपदर्शने अर्थरूपप्रतिपत्तेः, गौरयमश्वोऽयमिति । आक्रियमाण इति । विशिष्टेनाकारेण शब्दानुविद्धेन स्पष्टेन लभ्यमानः । तदेवाह—उपगृह्यमाण इति । —पद्धति ।

वृत्तिः— स च निमित्तान्तरादाविर्भवत्सु श्रुतिबीजेषु स्मृतिहेतुर्भवति । तथैकेषामाचार्याणां सुप्तस्यापि जाग्रद्वृत्या सदृशो ज्ञानवृत्तिप्रबन्धः । केवलं तु शब्दभावनाबीजानि तदा सूक्ष्मां वृत्तिं प्रतिलभन्ते । तस्मात्तामसीं चेति तामवस्थामाहुः । तदेतत् संज्ञानं शब्दप्रकृतिविकारभावेनाविर्भावतिरोभावावजस्रं प्रत्यनुभवति ।

विवरण—और वह वस्त्वाभास सदृशग्रहणादि निमित्तान्तर से शब्दशक्तियों के व्यक्त होने पर स्मृति का जनक होता है । तात्पर्य यह है कि जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान में शब्दसहकार की आवश्यकता होती है, वैसे ही स्मृति ज्ञान में भी । वैसे ही कुछ आचार्य मानते हैं कि सुप्त पुरुष में भी जाग्रत्कालिक ज्ञानवृत्ति के समान ज्ञानवृत्ति की धारा विद्यमान रहती है । अन्तर यह है कि सुप्तावस्था में केवल शब्दभावना के बीज सूक्ष्म दशा को प्राप्त रहते हैं और उस अवस्था का ज्ञान व्यवहार के योग्य नहीं होता, क्योंकि वहाँ शब्दभावना स्पष्ट रूप से आविर्भूत नहीं होती ।

श्रीवृषभाचार्य ने कहा है—समग्र ज्ञानों में शब्दभावना के अनुभव का अनुगम रहता है, अतः कुछ लोग स्वप्नावस्था को भी जाग्रत् अवस्था के सदृश मानते हैं । इसीलिए वृत्तिकार ने कहा है—'एकेषाम्' । अन्य लोग स्वप्नावस्था में ज्ञान का अभाव ही मानते हैं । यदि ज्ञान का अभाव न हो तो जाग्रत् अवस्था से उसमें वैशिष्टच ही क्या रहा ? क्योंकि ज्ञानप्रबन्ध या ज्ञानधारा उभयत्र एकसदृश रहती है । तब दोनों में वैशिष्टच क्या है ? इस पर वृत्तिकार कहते हैं—'सूक्ष्माम् ।'

और इसीलिए उसे (सुषुप्ति को) तामसी अवस्था कहा गया है । इस प्रकार वह संज्ञान या शब्दानुविद्ध ज्ञान कभी शब्द की प्रकृति या कारणरूप में और कभी विकार या कार्यरूप में सदैव व्यक्त और तिरोहित होता रहता है । 'तदेतत् संज्ञानं' इस वाक्य पर श्रीवृषभ की व्याख्या इस प्रकार है—

यतः शब्दभावनाबीज के वृत्ति लाभ होने पर उसके अर्थ का ज्ञान होता है, तब शब्द प्रकृति या कारण होता है और ज्ञान विकार या कार्य । और यतः उस ज्ञान से 'अयं गौः' यह शब्द उत्पन्न होता है, तब ज्ञान प्रकृति और शब्द विकार (कार्य) बन जाता है । अथवा शब्दभावना से अनुविद्ध ज्ञान तदनुविद्ध ज्ञान का कारण है इसलिए उससे अव्यतिरेकिणी भी शब्दभावना ज्ञान का कारण होती है । कार्य रूप ज्ञान में भी शब्दभावना रहती है, अतः वह शब्दभावना पूर्व ज्ञान की कार्यभूता है—

'अथवा शब्दभावनानुविद्धं ज्ञानं तदनुविद्धज्ञानकारणं ततस्तदव्यतिरेकिण्यपि शब्दभावनाज्ञानस्य कारणम् । कार्येऽपि ज्ञाने शब्दभावनास्तीति सा कार्यं पूर्वज्ञानस्येति ।

—पद्धति ।

गोकुलनाथ उपाध्याय द्वारा पदवाक्यरत्नाकर में उद्धृत प्रस्तुत कारिका की अधोलिखित गूढार्थदीपिका व्याख्या में कहा गया है—

'लोके प्राणिसमूहे, सः प्रत्ययः अन्वयबोधः नास्ति, यः शब्दानुगमात् शब्दनिरूपितविषयित्वात्मकसम्बन्धात् ऋते विना, तदभाववान् इति यावत्, अस्ति । सर्वं ज्ञानं शाब्दबोधात्मकं शब्देनानुविद्धमिव दृश्यते । अनुपूर्वकस्य विध्यतेरत्र नियतसम्बन्धार्थकत्वात् न पूर्वार्द्धेन पौनरुक्त्यम् । इव शब्द एवकारार्थे । तैः शब्दाविषयकस्य शाब्दबोधस्यानुपगमात् ।

—यदुनाथ मिश्र ।

लोक अर्थात् प्राणिसमूह में वह प्रत्यय या अन्वयबोध नहीं होता, जो शब्दानुगम या शब्द-निरूपित विषयित्वात्मक सम्बन्ध के बिना सम्भव हो । समस्त शाब्दबोधात्मक ज्ञान शब्द से अनुविद्ध ही दिखलाई[1] देता है । यहाँ पर अनुपूर्वक 'व्यध ताडने' (विध्यति) धातु के नियत सम्बन्धार्थक होने से पूर्वार्द्ध से पुनरुक्ति नहीं है । इव शब्द 'एव' के अर्थ में है ।

यहाँ पर गोकुलनाथ ने व्याकरण से सम्बद्ध एक अन्य उद्धरण प्रस्तुत किया है—

'तस्मात्—

स्मरणं पदेन जनितं पदवृत्तिमतः पदार्थस्य ।

अन्वयबुद्धावर्थः कथन्न तादृक् परिस्फुरतु ।। इति व्याकुर्वते ।'

इसलिए पद से जनित पदवृत्तिमान् पदार्थ का स्मरण होता है, अतः तादृक् अर्थ, अर्थात् स्मरणविषयतावान् पदवृत्तिमत्पदार्थ अन्वय बुद्धि में क्यों न स्फुरित हो ? अस्तु ।

प्रस्तुत कारिका सर्वाधिक ग्रन्थों में उद्धृत हुई है । स्पन्दकारिका (१७) में

---

१. पदवाक्यरत्नाकर में 'दृश्यते' पाठ है । जयन्तभट्ट का पाठ 'गृह्यते' है । बौद्ध विद्याकरशान्ति के तर्कसोपान में 'जायते' पाठ है । शृङ्गारप्रकाश का पाठ 'गम्यते' है । कहीं 'वर्तते' पाठ भी मिलता है । पार्थसारथिमिश्र ने भी श्लोकवार्तिक प्रत्यक्षसूत्र की १७५वीं कारिका की व्याख्या में 'गृह्यते' पाठ रखा है ।

श्री मल्लिषेणसूरि ने स्याद्वादमञ्जरी में हेमचन्द्र के १४वें श्लोक की व्याख्या में इसे उद्धृत किया है । रामकण्ठ ने स्पन्दकारिका-व्याख्या में ऋषिपुत्र परमेश्वर ने 'स्फोटसिद्धि' की व्याख्या गोपालिका (श्लोक २१) में इसे उद्धृत किया है । वहाँ 'गृह्यते' पाठ है । प्रभाचन्द्र ने 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' में इसे उद्धृत किया है । वहाँ इसका दूसरा चरण इस प्रकार है—'अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम् ।' कुल्लटाचार्य ने भी इसे स्पन्दकारिका-व्याख्या में उद्धृत किया है ।

इसका उत्तरार्द्ध सर्वथा अनूदित हुआ है—'यतः शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भवः।' इसकी विवृत्ति में रामकण्ठाचार्य ने 'यः शब्दानुगमं विना' ऐसा पाठ रखा है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वैयाकरण निर्विकल्पक ज्ञान मानते हैं या नहीं ? वस्तुतः तत्त्वकौमुदी (२७ कारिका) में उद्धृत प्राचीन मत 'सम्मुग्धं वस्तुमात्रं हि प्राग्गृह्णन्त्यविकल्पितम्। तथा कुमारिलभट्ट का (प्रत्यक्षसूत्र श्लो० ११२) 'अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकं, बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुनम्॥,' ऐसा निर्विकल्पक ज्ञान वैयाकरण नहीं मानते। भगवान् भर्तृहरि ने अविकल्पक ज्ञान माना है। वे कहते हैं—जैसे कोई शीघ्रता से जा रहा है तो उसके पैरों में घास या लोष्ट का स्पर्श हो जाता है। उस अवस्था में जो ज्ञान होता है, यही अविकल्पक ज्ञान है, किन्तु इससे कोई कार्य सिद्ध नहीं होता।

इस विषय पर आचार्य सूर्यनारायण शुक्ल ने भावप्रदीप में पर्याप्त प्रकाश डाला है। वे कहते हैं—'इदमत्रावधेयं—सर्वेऽर्थाः सर्वथा सर्वदा सर्वत्र नामधेयान्विताः। नास्ति सोऽर्थो यः कदाचित् क्वचित् कथञ्चिन्नामधेयेन वियुज्येत। प्रतीयमानाश्चार्थाः नामधेयसामानाधिकरण्येनावगम्यन्ते गौरित्यर्थोऽश्व इत्यर्थ इति नामधेयतादात्म्यमर्थानां सिद्धयति।'

आगे चलकर वे कहते हैं—'एवं च वैयाकरणाः निर्विकल्पके ज्ञाने घटघटत्वयोर्भानेन घटादितादात्म्यापन्नः घटशब्दोऽपि भासत इति मन्यन्ते तथा च 'तात्पर्यटीकाकृतः'—नामरहितमविकल्पकं नास्तीति ये विप्रतिपद्यन्ते तन्मतमपाचिकीर्षुः उपन्यस्यति भाष्यकारो यावदर्थं वै नामधेयशब्दा इति' इति, 'तथा च नाविकल्पं शब्दरहितमस्तीति तात्पर्यार्थः। तथा चाहुः—

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥'

बालमूकादीनामपि विज्ञानं शब्दानुव्याधवदेव अनादिशब्दभावनावशात् इति च।'

इसके अतिरिक्त एतद्विषय का उपोद्बलक 'स्वं रूपम्–' (पा० १।१।६८) सूत्र, भाष्य और कैयट को भी उद्धृत किया है। यथा—'स्वरूपमिति सूत्रे भाष्येऽपि 'शब्दपूर्वकश्चार्थसम्प्रत्यय इत्युक्तम्, शब्दविशेषणक(श्चार्थविशेष्यकः प्रत्यय–उद्योत) इत्यर्थः। 'मन्त्रे ऋचि यजुषि च यदुच्यते तत्र मन्त्रशब्दादौ कार्यासम्भवेन मन्त्रादि सहचरितेऽर्थे भविष्यतीति भाष्यप्रतीके साहचर्यं च शब्दानुविद्धस्यैवार्थस्यावगमादिति कैयटेन स्पष्टमेवोक्तम्' ॥११४॥

प्रत्येक ज्ञान में शब्द के आकार का अनुगम रहता ही है, इस बात को प्रस्तुत कारिका से और दृढ़ करते हैं—

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥ ११५॥

अवबोधस्य शाश्वती वाग्रूपता चेत् उत्क्रामेत्, प्रकाशः न प्रकाशेत; हि सा प्रत्यवमर्शिनी।

ज्ञान की नित्य–सदैव वर्तमान रहने वाली (स्वाभाविक) वाग्रूपता, यदि कदाचित् उत्क्रान्त हो जाय, नष्ट हो जाय या न मानी जाय तो प्रकाश अर्थात् ज्ञान, ज्ञान ही नहीं रह जायेगा; प्रकाश का जो स्वकीय प्रकाशताख्य व्यापार है, वह वाग्रूपता के न रहने पर नहीं होगा। क्योंकि वह वाग्रूपता वस्तु का निरूपण करने वाली है।

वृत्तिः—यथा प्रकाशकत्वमग्नेः स्वरूपं चैतन्यं वान्तर्यामिणस्तथा ज्ञानमपि सर्वं वाग्रूपमात्रानुगतम्। याप्यसञ्चेतितावस्था तस्यामपि सूक्ष्मो वाग्धर्मानुगमोऽभ्यावर्तते। योऽपि प्रथमोपनिपाती बाह्येष्वर्थेषु प्रकाशः स निमित्तानामपरिग्रहेण वस्तुस्वरूपमात्रमिदं तदित्यव्यपदेश्यया वृत्त्या प्रत्यवभासयति।

विवरण—जैसे प्रकाशकता अग्नि का स्वरूप है और चैतन्यरूपता अन्तर्यामी का, वैसे ही वाग्रूपता का ज्ञान का स्वरूप है। प्रगाढ़निद्रारूप जो असञ्चेतित अवस्था है, उसमें भी सूक्ष्म वाग्धर्म का अनुगम रहता है। तात्पर्य यह है कि वहाँ भी सूक्ष्म अर्थात् अलब्धवृत्तिक शब्दभावना रहती है।

वाह्य पदार्थों में प्रथमोपनिपाती अर्थात् प्राथमिक भी जो प्रकाशात्मक प्रत्यय है, वहाँ भी वागानुगम रहता है। वह प्रत्यय या ज्ञान (जिसे अन्य मतावलम्बी निर्विकल्पक ज्ञान मानते हैं) निमित्त अर्थात् गोत्वादि नाम, जाति, गुण आदि विशेषणों–विशेष धर्मों के अपरिग्रह से–अपरिच्छेद या अगोचरता के कारण 'इदं तद्' इस सर्वनाम रूप शब्दभावना के विद्यमान रहते हुए भी विशेष रूप से अव्यपदेश्य वृत्ति द्वारा 'यह' 'वह' इस प्रकार वस्तुस्वरूपमात्र को (अर्थात् विशेषण रहित पदार्थ मात्र को) अवभासित करता है।

पूना संस्करण में श्रीवृषभ की पद्धति का 'योऽपि' इस प्रतीक का उत्तरवर्ती पाठ इस प्रकार है—

'यो विषयोपनिपाती प्रथमः प्रत्यक्षः प्रत्ययः तत्रापि यः सूक्ष्मो वाग्रूपानुगम इति वर्तते।' यह पाठ उचित प्रतीत होता है, क्योंकि इससे 'वाह्येष्वर्थेषु' इस वृत्ति की व्याख्या सम्पन्न हो जाती है। केवल पद्धति में पठित 'इति' शब्द व्यर्थ प्रतीत होता है।

वृत्तिः—स्मृतिकालेऽपि तादृशानामुपलब्धिबीजानामाभिमुख्ये स्मर्तव्येषु श्लोकादिषु प्रकाशानुगममात्रमारूपमिव बुद्धौ विपरिवर्तते–कोऽप्यसावनुवाकः श्लोको वा योऽयं मया श्रुतिमात्रेण प्रक्रान्त इति। वाग्रूपतायां चासत्यामुत्पन्नोऽपि प्रकाशः पररूपमनङ्गीकुर्वन् प्रकाशनक्रियासाधनरूपतायां न व्यवतिष्ठते।

विवरण—स्मृति के अवसर पर, अर्थात् अव्यपदेश्य वस्तुमात्र विषयक 'इदं' 'तद्' रूप उपलब्धिजनित संस्कारात्मक बीजों के अभिमुख या समुद्बुद्ध होने पर, स्मर्तव्य श्लोकादिक का स्फुट रूप से स्मरण नहीं होता, किन्तु प्रकाशानुगम मात्र अर्थात्

संवेदन मात्र अथवा आरूप या अस्पष्ट रूप के सदृश वस्तु का बुद्धि में स्फुरण होता है। आरूप का अर्थ है–अव्यक्त रूप। 'आरूपालोचितेष्वस्ति–' स्फोटसिद्धि की १९वीं कारिका में पठित 'आरूप' का अर्थ गोपालिकाकार करते हैं––'आरूपमव्यक्तरूपम्।' श्रीवृषभ ने 'आरूप' का अर्थ किया है—अनिर्धारितविशेषणं सामान्यमात्रम्।' वृत्तिकार उस आरूपमात्र श्लोकादि-विषयक स्मृति के आकार का निरूपण करते हुए कहते हैं—यह कोई श्लोक या अनुवाक है, जो पहले मैंने श्रवण मात्र से ग्रहण किया था। इससे ज्ञात होता है कि स्मृति दशा में भी विशेषार्थवाचक शब्दानुविद्धता सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहती है।

अस्पष्ट विषय रूप के यथानुभव स्मरण में भी इष्ट वाग्रूपतानुगम रहता है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए वृत्तिकार कहते हैं—यदि ज्ञान में वाग्रूपता न रहे तो उत्पन्न भी प्रथम प्रकाश या सामान्य ज्ञान विषय के विशिष्ट व्यपदेश्यानुरूपात्मक पररूप को अस्वीकार करता हुआ प्रकाशन-क्रिया का साधन नहीं बनेगा।

वृत्तिः—भिन्नरूपाणां चानुपकारिणाम् आत्मान्तरात्मनाम् इतरेतरस्य वस्तुमात्राज्ञाने प्रत्यवभासमाने यदुत्तरकालमनुसन्धानं प्रत्यवमर्श एकार्थकारित्वमविभागेन शक्तिसंसर्गरोगोपग्रहः तद् वाग्रूपतायां बद्धम्। सा ह्यनुसन्दधाना प्रत्यवमृशन्ती च सर्वविशेषणविशिष्टेऽप्यर्थक्रियाकारिणि प्रत्यये शक्त्यपोद्धारकल्पनया भेदसंसर्गमात्रां न विजहाति ॥ ११५ ॥

विवरण—[1]वाक्यार्थ-विषयक पदार्थ के प्रत्यवमर्शात्मक या आकार-निरूपणात्मक प्रत्यय में वाग्रूप का अनुषङ्ग रहता है, इसे बतलाने के लिए वृत्तिकार कहते हैं—भिन्नरूपाणाम्।

'देवदत्तः गां शुक्लां क्षेत्रात् गोष्ठे आनयति' इस वाक्यार्थ को अविभक्त कर्ता, कर्म आदि कारक शक्तियों के परस्पर अनुप्रवेश रूप संसर्गात्मक योग का उपग्रहण वाग्रूपता में ही निबद्ध रहता है। वाक्य में 'देवदत्त', 'गां' आदि पदार्थों की भिन्नरूपता रहती है। इतरेतर अर्थात् एक-दूसरे का–देवदत्तार्थ, गवार्थ का आत्मा नहीं है, आत्मान्तरात्मक है या आत्मान्तररूप है अर्थात् एक नहीं है। तात्पर्य यह है कि इनका परस्पर अन्वयबोध नहीं है, अतः अनुपकारी हैं। इस प्रकार भिन्नरूप पदार्थों के उपस्थित होने पर वस्तु अर्थात् समग्र वाक्यार्थरूप वस्तु की मात्रा या आंशिक ज्ञान के अवभासित होने पर; अथवा पदार्थों के भिन्नरूप होने के कारण वस्तुमात्रा समग्र वाक्यार्थ रूप वस्तुमात्रा या वस्तुस्थिति के अज्ञान के अवभासित होने पर; उत्तरकालिक अनुसन्धानं–पदों से अवगत पदार्थों के परस्पर कर्तृ-कर्मादि विशेषात्मक

---

१. वाक्यार्थविषयस्य पदार्थप्रत्यवमर्शस्य प्रत्ययवाग्रूपानुषङ्गं दर्शयति—भिन्नरूपाणामिति। —पद्धति।

यहाँ 'प्रत्यये वाग्रूपानुषङ्गम्' ऐसा पाठ होना चाहिए।

अवच्छेद[1] का अवधारणात्मक अनुसन्धान घटित होता है। तदनन्तर प्रत्यवमर्श या एकार्थकारित्व सम्पन्न होता है।

'अनुपकारिणाम्' पर श्रीवृषभाचार्य कहते हैं—'यद्यपि वाक्य में पदों की विभक्ति—प्रथमा, द्वितीया आदि से उपकारिता द्योतित होती है तो भी एक साथ उपग्राह्य और उपग्राहकों के समान परस्पर अवच्छेदरूप अनुग्रह का अभाव रहता है।

'अम्वाकर्त्री' टीकाकार ने "उपग्राह्य से घटादिकों का और उपग्राहक से सौर आलोकादिकों का ग्रहण किया है। तद्वत् इन पदार्थों का एक साथ परस्पर अनुग्रहाभाव होने से अनुपकारिता होती है।"

और उस प्रकार के अनुग्रह के अभाव में पदार्थों का स्वरूपोपलम्भ भी नहीं होता। 'यद्यपि विभक्त्योपकारिता द्योत्यते, तथापि युगपदुपग्राह्योपग्राहकाणामिव परस्परावच्छेदरूपानुग्रहाभावः। स्वरूपप्रतिलम्भमात्रोपक्षयाच्च। —पद्धति।

प्रो० अय्यर ने 'आत्मान्तरानात्मनाम्' ऐसा पाठ पूना संस्करण में रखा है और कहा है कि यह श्रीवृषभ की व्याख्या से प्रतीत होता है; किन्तु ऐसा है नहीं। शुद्ध पाठ 'आत्मान्तरात्मनाम्' ही है। श्रीवृषभ की 'पद्धति' इस प्रकार है—'आत्मान्तर इति। आत्मान्तरमेषामात्मा न भवति। इतरेतस्य इति। इतरस्येतर आत्मा न भवति। इतरस्यापीतरो देवदत्तार्थो (न) गवार्थस्यात्मेत्यादि।'

यहाँ 'आत्मान्तर' इतना ही प्रतीक गृहीत है। 'इन पदों का आत्मा अर्थात् रूप आत्मान्तर या रूपान्तर नहीं है अर्थात् इनमें अभेद है।' इस व्याख्या से 'आत्मान्तरानात्मनाम्' इस पाठ की कल्पना की जा सकती है, किन्तु आगे वे कहते हैं—'इतरः' अर्थात् देवदत्तार्थ, 'इतरस्य' अर्थात् गवार्थ का आत्मा नहीं है। तात्पर्य यह है कि दोनों में भेद है। इस व्याख्या से 'आत्मान्तरात्मनाम्' यही पाठ सङ्गत प्रतीत होता है और यही पाठ वृत्ति द्वारा स्वीकृत भी है।

'यदुत्तरकालम्' की व्याख्या में पूना संस्करण में मुद्रित है—'अभिन्नपदार्थपरिच्छेदादुत्तरकालम्।' श्रीचारुदेवशास्त्री के संस्करण में ऐसा पाठ है—'अभिन्नपदार्थापरिच्छेदादुत्तरकालम्।' 'अभिन्न पदार्थों के परिच्छेद या खण्ड-खण्ड होने से उत्तरकाल में।'—यह प्रथम सन्दर्भ का अर्थ है।

---

१. 'स्नेहान्तरादवच्छेदो—वा० प० वृत्तिसमुद्देशकारिका २९५ की व्याख्या में हेलाराज ने कहा है—'अवच्छेदो विशेषणम्'।

'अवच्छेदमिवाधाय–' वृत्तिस० कारिका ११ की टीका में 'एवं तिलशब्दः कृष्णगुणमेवेत्यन्यगुणादस्यावच्छेदः।'

यहाँ अवच्छेद का अर्थ भेद है।

प्रस्तुत 'वाग्रूपता चेत्–' इस कारिका की वृत्ति में 'अपरिग्रहेण' शब्द आया है। इसका अर्थ श्रीवृषभाचार्य ने 'अपरिग्रहोऽपरिच्छेदः' ऐसा किया है। तब श्रीचारुदेव शास्त्री द्वारा धृत पाठ का अर्थ होगा—'अभिन्न पदार्थों के अपरिग्रह[1] से' ऐसी स्थिति में यह पाठ भी समुचित है।

यहाँ वृत्ति में 'अनुसन्धान', 'प्रत्यवमर्श' और 'एकार्थकारित्व' ये तीन शब्द आये हैं। श्रीवृषभाचार्य ने पहले इनकी पृथक्-पृथक् व्याख्या की है। यथा—'अनुसन्धानम् इति। पदेभ्योऽवगतानामर्थानां परस्परावच्छेदेनावधारणमनुसन्धानं देवदत्तकर्तृकं, गोकर्मकमादि।' पदों के द्वारा ज्ञात अर्थों का परस्पर अवच्छेद या वैशिष्टय द्वारा निर्णय ही अनुसन्धान कहलाता है। जैसे देवदत्तकर्तृक, गोकर्मक आदि।

प्रत्यवमर्श इति। पदेभ्योऽनुभूतानामर्थानामाकारनिरूपणा। पूर्वकालभाविनी चेयमवस्था। ततो ह्यनुसन्धानमिति। पदों से अनुभूत अर्थों के आकार का निरूपण ही प्रत्यवमर्श है। यह पूर्वकालभाविनी अवस्था है। इसके अनन्तर अनुसन्धान होता है।

श्रीवृषभ का यह कथन ठीक नहीं जान पड़ता कि प्रत्यवमर्श के अनन्तर अनुसन्धान होता है, क्योंकि वृत्तिकार आगे कहते हैं—'अनुसन्दधाना प्रत्यवमृशन्ती च–'। इससे अनुसन्धान पहले और प्रत्यवमर्श पश्चात् होता है—ऐसा वृत्तिकार मानते हैं। अस्तु।

इसके अनन्तर श्रीवृषभ कहते हैं—'एकार्थकारित्वमिति।' अनन्तर अशुद्ध पाठ इस प्रकार उपलब्ध होता है—'ततोऽप्रतिसन्धानवाक्याप्रत्ययादेकामितिकर्तव्यतां जनः'।

अनुमित शुद्ध पाठ इस प्रकार है—'ततः प्रतिसन्धानानन्तरं वाक्यार्थप्रत्ययात् एकेतिकर्तव्यताऽञ्जनम्।'

इसके अनन्तर श्रीवृषभ कहते हैं—कुछ लोग अनुसन्धान और एकार्थकारिकत्व को एकार्थपरक मानते हैं—'अन्ये त्वेकपरतां समीहन्ते।' —पद्धति।

कुछ लोग तीनों पदों को उत्तरोत्तर व्याख्यारूप मानते हैं—'अन्ये त्वेतत्पदत्रयमुत्तरोत्तरव्याख्यया व्याचक्षते।' —पद्धति।

'शक्तिसंसर्गयोग' की व्याख्या श्रीवृषभाचार्य अधोलिखित रूप में करते हैं—'शक्तिसंसर्ग इति। देवदत्तादिकर्तृशक्तीनां परस्परानुप्रवेशः संसर्गः। तेन योगः सम्बन्धः क्रियान्तरस्य, तस्योपग्रहः स्वीकारः। शक्तिसंसर्गात्मको वा योग इति। शक्तीनां संसर्गेण, विभागतेत्याह (न विभागेनेत्याह ?)

---

१. नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः–' (२३) इस कारिका में पठित 'अपरिगृहीत' का भी अर्थ श्रीवृषभ ने 'अपरिच्छन्न' किया है। यथा—'सोऽपरिगृहीतोऽपरिच्छन्नः।' —पद्धति।

१. देवदत्त आदि कर्तृशक्तियों का परस्पर अनुप्रवेश संसर्ग कहलाता है और उसमें क्रियान्तर का योग अर्थात् सम्बन्ध; उस सम्बन्ध का उपग्रह या स्वीकार।

२. अथवा शक्तिसंसर्गात्मक योग का उपग्रह।

३. अथवा शक्तियों के संसर्ग से……।

तीसरे विकल्प का पाठ भ्रष्ट है।

जब पदों से निर्णीत अर्थ को 'इदं तद्' 'यह वह है' इस प्रकार वाग्रूप से अनुविद्ध ज्ञान द्वारा निरूपण करता है, तब वाग्रूपपूर्वक अनुसन्धान होता है। वह वाग्रूपता पहले अनुसन्धान करती है, अनन्तर प्रत्यवमर्श। इस प्रकार वह समस्त कर्ता आदि कारक–शक्तिरूप विशेषणों से विशिष्ट अर्थक्रियाकारिता-विषयक वाक्यार्थ ज्ञान में वाक्य से पदों की अपोद्धार (पृथक्करण) कल्पना द्वारा भेद और संसर्गमात्रा को नहीं छोड़ती।

श्रीवृषभाचार्य 'शक्त्यपोद्धारकल्पनया' के स्थान पर 'भेदशक्त्यपोद्धारकल्पनया' ऐसा पाठ स्वीकार करते हैं। 'भेदसंसर्गमात्रां' के स्थान पर केवल 'संसर्गमात्रां' ऐसा पाठ मानते हैं। किन्तु इस प्रकार का पाठ लिपिकर-प्रमाद ही समझना चाहिए।

भेद अर्थात् कर्ता आदि शक्तियों का अपोद्धार और संसर्ग से तात्पर्य है—'अनुसंहृति' या ऐक्य। 'भेदः शक्त्यपोद्धारः। संसर्गोऽप्यनुसंहृतिरूपता'—पद्धति ॥११५॥

समग्र लोकव्यवहार वाग्रूप में ही निबद्ध है, इसी बात को प्रस्तुत कारिका द्वारा और दृढ़ करते हैं—

सा सर्वविद्याशिल्पानां कलानां चोपबन्धनी।
तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते ॥ ११६ ॥

सा सर्वविद्याशिल्पानां कलानां च उपबन्धनी। तद्वशाद् अभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते।

वह वाक् सभी विद्याओं, सभी शिल्पों एवं कलाओं की प्रयोजिका है। वाग्रूपता के (कारण ही) अधीन होकर उत्पन्न (समुत्थित) सभी पदार्थ 'यह घट है' 'यह पट है' इस प्रकार पृथक्-पृथक् निरूपित होते हैं।

वृत्तिः—विद्याशिल्पकलादिभिर्लौकिकेषु वैदिकेषु चार्थेषु मनुष्याणां प्रायेण व्यवहारः प्रतिबद्धः। मनुष्याधीनाश्चेतरस्य भूतग्रामस्य स्थावरजङ्गमस्य प्रवृत्तयः। विद्यादयश्च वाग्रूपायां बुद्धौ निबद्धाः। घटादीनां चाभिनिष्पादने प्रयोज्यप्रयोजकानामुपदेशसमीहादि सर्वं वाग्रूपतानुसारेण प्रकल्पते।

विवरण—'विद्या' शब्द मन्त्र का पर्याय है। पञ्चदशाक्षरी, षोडशाक्षरी आदि विद्याएँ प्रसिद्ध हैं। अठारह विद्याओं का उल्लेख मधुसूदन सरस्वती ने 'त्रयी सांख्यं योगः—' (महिम्नस्तोत्र ७) इस श्लोक के व्याख्यान में किया है। यथा—

तत्र—१. ऋग्वेदो २. यजुर्वेदः ३. सामवेदो ४. ऽथर्ववेद इति वेदाश्चत्वारः । ५. शिक्षा ६. कल्पो ७. व्याकरणं ८. निरुक्तं ९. छन्दो १०. ज्योतिषमिति वेदाङ्गानि षट् । ११. पुराणानि १२. न्यायो १३. मीमांसा १४. धर्मशास्त्राणि चेति चत्वार्युपाङ्गानि । अत्रोपपुराणानामपि पुराणेष्वन्तर्भावः । वैशेषिकशास्त्रस्य न्याये, वेदान्तशास्त्रस्य मीमांसायां, महाभारतरामायणयोः सांख्यपातञ्जलपाशुपतवैष्णवादीनां च धर्मशास्त्रेष्विति मिलित्वा चतुर्दश विद्याः । तथा चोक्तम्—[1]'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः । वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश' इति । एता एव चतुर्भिरुपवेदैः सहिता अष्टादशविद्या भवन्ति । १५. आयुर्वेदो १६. धनुर्वेदो १७. गान्धर्ववेदो १८. अर्थशास्त्रं चेति चत्वार उपवेदाः ।'

'शिल्पं कर्म कलादिकम्' (अमरकोष २।१०।३५) के अनुसार शिल्प और कला पर्याय हैं, फिर भी दोनों में अन्तर है । कारु कर्म या कठोर कला शिल्प है; जिसके अन्तर्गत प्रासाद-निर्माण, मन्दिर-विधान आदि वास्तु सम्बन्धी कर्म आते हैं । 'शील समाधौ' (भ्वादि०) धातु से 'खष्पशिल्पशष्प–' (उणादि ३०८) इस सूत्र से प-प्रत्यय तथा धातु को ह्रस्व होने पर शिल्प शब्द बनता है, जिसका अर्थ है—कौशल ।

कला को सुकुमार या ललितकला कहते हैं । शास्त्रों में इनकी संख्या चौसठ बतलाई गई है । 'प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ–' (रघुवंश सर्ग ८, श्लोक ६७) की व्याख्या में मल्लिनाथ ने कहा है—'ललिते मनोहरे कलाविधौ वादित्रादिचतुःषष्टिकलाप्रयोगे प्रियशिष्या ।'

मधुसूदन सरस्वती ने शैवागमानुसारी चौसठ कलाओं को प्रस्तुत रूप में गिनाया है—(१) गीत, (२) वाद्य, (३) नृत्य, (४) नाटच (अनुकरण या अभिनय), (५) आलेख्य, (६) विशेषकच्छेद्य (तिलक से सम्बद्ध नाना प्रकार की रचना अथवा तिलक लगाने के लिए पत्ती आदि काट कर साँचा बनाना), (७) तण्डुलकुसुमवलिविकार (देवादि पूजन के समय रँगे हुए चावलों तथा फूलों से सजाना), (८) पुष्पास्तरण, (९) दशनवसनाङ्गराग (दाँतो, वस्त्रों एवं शरीरावयवों को रँगना), (१०) मणिभूमिका कर्म (फर्श को मणियों से जड़ना), (११) शयनरचन, (१२) उदकवाद्य (जलतरङ्ग बजाना), (१३) उदकघात (हाथ या पिचकारी से जल फेंकना), (१४) अद्भुतदर्शनवेदिता (बहुरूपिया का कार्य ज्ञान), (१५) मालाग्रथनकल्प, (१६) शेखरापीडयोजन (स्त्रियों की चोटी को विविध प्रकार के फूलों से सजाना), (१७) नेपथ्ययोग (शरीर को वस्त्रों से सुसज्जित करना), (१८) कर्णभङ्गपत्र (अनेक प्रकार के कर्णाभूषण बनाना), (१९) गन्धयुक्ति (अनेक प्रकार के सुगन्धित धूप आदि पदार्थों का निर्माण), (२०) भूषणयोजन, (२१) इन्द्रजाल (जादूगरी), (२२) कौचुमारयोग (बलवर्धक औषधियों

१. याज्ञवल्क्यस्मृति १।३ ।

का निर्माण), (२३) हस्तलाघव, (२४) चित्रशाकापूपविकारक्रिया (अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थों का निर्माण), (२५) पानकरसरागासवयोजन (विविध प्रकार के पेय शर्बत तथा आसवादि का निर्माण), (२६) सूचीवाप कर्म (सुई की कारीगरी—सीना, पिरोना, काढ़ना आदि), (२७) सूत्रक्रीडा (धागे के सहारे चकई, कठपुतली आदि नचाना), (२८) वीणाडमरुकवाद्य, (२९) प्रहेलिकाप्रतिमाला, (३०) दुर्वच्चकयोग (दुरूह श्लोकों की रचना), (३१) पुस्तकवाचन, (३२) नाटिकाख्यायिकादर्शन, (३३) काव्यसमस्यापूरण, (३४) पट्टिकावेत्रवाणविकल्प (नेवाड़, वेंत या मूँज आदि से आसन, शय्या आदि बनाना), (३५) तर्कुकर्म (तकुआ से डोरे बनाना), (३६) तक्षण (बढ़ईगीरी), (३७) वास्तुविद्या (मन्दिर, मूर्ति आदि का निर्माण), (३८) रूप्यरत्नपरीक्षा (सोना-चाँदी, रत्न आदि की पहचान), (३९) धातुवाद (पीतल आदि धातुओं का शोधन अथवा उपायान्तर से काँसा इत्यादि का निर्माण), (४०) मणिरागज्ञान (हिंगुल या ईंगुर इत्यादि की पहचान), (४१) आकरज्ञान (४२) वृक्षायुर्वेद, (४३) मेषकुक्कुट-लावकयुद्धविधि, (४४) शुकसारिकाप्रलापन, (४५) उत्सादन (मालिश आदि करना), (४६) केशमार्जनकौशल, (४७) अक्षरमुष्टिकाकथन (मुष्टिसंकेत द्वारा बात करना), (४८) म्लेच्छितकविकल्प (अव्यक्त वाक्-सबके न समझने योग्य वाणी का प्रयोग), (४९) देशभाषाज्ञान, (५०) पुष्पशकटिकानिमित्त ज्ञान (दैवी लक्षणों से शुभाशुभ का ज्ञान), (५१) यन्त्रमातृका, (५२) धारणमातृका, (५३) असंवाच्यसम्पाठ्यमानसीकाव्यक्रिया, (५४) छलितकयोग (ऐयारी), (५५) अभिधानकोषछन्दोज्ञान, (५६) क्रियाविकल्प, (५७) ललितविकल्प (शृङ्गारज चेष्टाएँ), (५८) वस्त्रगोपन, (५९) द्यूतविशेष, (६०) आकर्षक्रीड़ा (पाँसे फेंकना), (६१) बालक्रीडनक, (६२) वैनायकीविद्याज्ञान, (६३) वैजयिकी-विद्याज्ञान, (६४) वैतालिकीविद्याज्ञान ।

शिवतत्त्वरत्नाकर, कामशास्त्र की जयमङ्गला टीका एवं शुक्रनीतिसार में विविध कलाओं का निरूपण किया गया है।

विद्या, शिल्प एवं कलादिकों के द्वारा लौकिक तथा वैदिक पदार्थों के विषय में मनुष्यों का प्रायः व्यवहार चलता है। स्थावरजङ्गमात्मक इतर प्राणिवर्ग की प्रवृत्तियाँ मनुष्यों के अधीन हैं। विद्यादिक वाग्रूपात्मक बुद्धि में निबद्ध रहते हैं। घटादि के निर्माण में प्रयोजक का 'ऐसा करो' इस प्रकार का उपदेश और प्रयोज्य का 'ऐसा करता हूँ' इस प्रकार की समीहा या चेष्टा आदि सभी वाग्रूपता के अनुसार ही कल्पित होती है ॥ ११६ ॥

इसके अतिरिक्त—

सैषा संसारिणां संज्ञा, बहिरन्तश्च वर्तते ।
तन्मात्रामव्यतिक्रान्तं चैतन्यं सर्वजन्तुषु (जातिषु) ॥ ११७ ॥

सा एषा संसारिणां संज्ञा अन्तः वहिश्च वर्तते; सर्वजन्तुषु तन्मात्राम् अव्यतिक्रान्तं चैतन्यम् ।

वही–पूर्वोक्त यह वाग्रूपता सांसारिक प्राणियों की संज्ञा या चेतना है, जो शरीर के बाहर और अन्दर वर्तमान रहती है । शब्द बाहर तथा अन्दर व्यापक होने से वर्तमान रहता है । समस्त प्राणियों में जो चैतन्य है, वह वाङ्मात्रा को छोड़कर नहीं देखा जाता ।

वृत्तिः—योऽयं चैतन्ये वाग्रूपतानुगमस्तेन लोके ससंज्ञो विसंज्ञ इति व्यपदेशः क्रियते । एवं ह्याह—

अर्थक्रियासु वाक् सर्वान् समीहयति देहिनः ।
तदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुडयवत् ।। इति ।

विवरण—चैतन्य में जो यह वाग्रूपता का अनुगम या उपस्थिति रहती है, उसी से लोक में ससंज्ञ और उसके अभाव में विसंज्ञ—यह कथन किया जाता है । जैसा कि किसी प्राचीन ग्रन्थकार ने कहा है—'सभी शरीरधारी प्राणियों को वाक् ही कार्य करने के लिए सचेष्ट बनाती है–प्रवृत्त करती है । वाणी के उत्क्रान्त हो जाने पर–वाक्-तत्त्व के अभाव में काष्ठ की भित्ति के सदृश यह व्यक्ति विगत-संज्ञ दिखलाई देता है ।'

वृत्तिः—अन्तःसंज्ञानामपि सुखदुःखसविन्मात्रा यावद्वाग्रूपतानुवृत्तिस्तावदेव भवति । बहिःसंज्ञेषु तन्निबन्धनो लोकव्यवहारस्तदभावान्नियतमुत्सीदेत् । नहि सा चैतन्येनानाविष्टा जातिरस्ति यस्यां स्वपरसम्बोधो यो वाचा नानुगम्यते । तस्माच्चितिक्रियारूपमलब्धवाक्शक्तिपरिग्रहं न विद्यते ।

विवरण—लता-वृक्षादि अन्तःसंज्ञ प्राणियों में जब तक वाग्रूपता रहती है, तभी तक सुख और दुःख का बोध होता है । बहिःसंज्ञ मनुष्य तिर्यंगादि में वाणी के आधार पर ही लोक-व्यवहार होता है और यदि वाग्रूपता न रहे तो व्यवहार उच्छिन्न हो जायेगा । चैतन्य से रहित ऐसी कोई जाति नहीं है, जिसमें स्व और पर का सम्बोध वाणी के अनुगम के विना होता हो । श्रीवृषभ ने कहा है—

'स्वसम्बोध का अनुगम स्थावर–वृक्षादिकों में होता है और उभय अर्थात् स्व और पर का अनुगम मनुष्यादि जङ्गमों में होता है ।' इसलिए ऐसा कोई चितिक्रिया रूप या चैतन्य नहीं है, जिसमें वाक्शक्ति का परिग्रह न हो । इस पक्ष में चैतन्य और वाक् का भेद बतलाया गया है—'तदेवं भेदः चैतन्यवाचोः' । —पद्धति ।

चैतन्य आधार है और वाक् आधेय । दोनों का अविनाभावसम्बन्ध यहाँ निर्दिष्ट हुआ है ।

श्रीवृषभाचार्य कारिकागत 'बहिः' और 'अन्तः' का अर्थ 'अन्तःसंज्ञिनो बहिःसंज्ञिनश्च' ऐसा करते हैं । अर्थात् अन्तःसंज्ञ प्राणी—लता-वृक्षादि तथा बहिःसंज्ञ प्राणी—नरतिर्यंगादि । इनमें वाग्रूपता संज्ञा या चेतना के रूप में विद्यमान रहती है ।

वृत्तिः—वाक्तत्त्वरूपमेव चितिक्रियारूपमित्यन्ये। तथाह—

भेदोद्ग्राहविवर्तेन लब्धाकारपरिग्रहा।
आम्नाता सर्वविद्यासु वागेव प्रकृतिः परा॥
एकत्वमनतिक्रान्ता वाङ्नेत्रा वाङ्निबन्धनाः।
पृथक् प्रत्यवभासन्ते वाग्विभागा गवादयः॥
षड्द्वारां षडधिष्ठानां षट्प्रबोधां षडव्ययाम्।
ते मृत्युमतिवर्तन्ते ये वै वाचमुपासते॥

विवरण—कारिका का उत्तरार्द्ध चैतन्य और वाक्तत्त्व में भेद की सूचना देता है तथा पूर्वार्द्ध अभेद की। वृत्ति में भेद का विवरण पहले प्रस्तुत किया है; अब अभेद प्रस्तुत किया जा रहा है—

वाक्तत्त्व का जो रूप है, वही चैतन्य का रूप है—ऐसा अन्य लोग मानते हैं। जैसा कि कहा गया है—गवादि भेदों के ग्रहणात्मक विवर्तन या सन्निवेश-विशेष से आकारहीन होने पर भी जो पदार्थों के आकार को स्वीकार कर लेती है, ऐसी पराप्रकृति नामक वाक् ही समस्त विद्याओं में कही गई है।

श्रीवृषभाचार्य ने इस उद्धरण की प्रस्तुत व्याख्या की है—'भेदा गवादयः। भिद्यन्ते इति। तेषामुद्ग्राहः स्वीकारः। तदात्मको यो विकल्पो भेदः, तेन लब्ध आकारपरिग्रहो यया। यतश्च भावानामाकारपरिग्रहेण पराप्रकृतिः विवर्तते। तच्चैतन्यात्मना परिणमत इति, वाक्चैतन्ययोरभेदः।'

श्रीवृषभ के अनुसार 'भेदोद्ग्राहविकल्पेन' ऐसा पाठ होना चाहिए, क्योंकि वे व्याख्या करते हैं—'तदात्मको यो विकल्पो भेदः।' किन्तु यह पाठ उचित नहीं लगता, क्योंकि भेद की बात तो पहले कह दी गई है। 'तच्चैतन्यात्मना परिणमते' यह कहना भी असङ्गत है, क्योंकि इससे ऐसा अनुमान होता है कि वह पहले चैतन्य रूप नहीं थी, पश्चात् उसका उस रूप में परिणाम हुआ। परा प्रकृति या परा चिति ही वाक्तत्त्व है; इस प्रकार यहाँ अभेद की बात कही गई है।

यहाँ जो लोग विवर्त का अर्थ 'अतात्त्विक अन्यथाभाव' करते हैं, वे हमारी दृष्टि से प्रशंसार्ह नहीं हैं। गो, घट, पटादि शब्द और अर्थ रूप वाक् के विभाग वागात्मक एकत्व का अतिक्रमण किये बिना ही वाक् के द्वारा उपस्थापित तथा वाक् ही जिनका कारण है, अव्यतिरिक्त होने पर भी भिन्न-भिन्न रूप में भासित होते हैं।

श्रीवृषभ कहते हैं—'वाङ्नेत्रा इति। तेऽर्थरूपाः शब्दरूपाश्च पदार्था वचनान्नीयन्त इति। वाङ्निबन्धना इति। अर्थास्तावद्वाचो विवर्तत्वात्तन्निबन्धनाः। शब्दा अपि वाचमर्थरूपापन्नां प्रतिपादयन्ति इति तन्निबन्धनाः।'

छह द्वार या उपाय, छह अधिष्ठान या आश्रय, छह प्रकार के ज्ञान से सम्पन्न तथा ये छह रूप वस्तुतः उसके नहीं हैं; अतः षडव्ययात्मक वाक्तत्त्व की अभेदज्ञानपूर्वक योग से जो उपासना करते हैं, वे अमर हो जाते हैं।

तात्पर्य यह है—प्रवृत्ति के उपाय को द्वार कहते हैं। वाक् की अनेक शक्तियाँ हैं, जो छह प्रकार की प्रतिभा को उत्पन्न करती हैं। जिनका निरूपण द्वितीय काण्ड में किया गया है। यथा—

'स्वभावचरणाभ्यासयोगादृष्टोपपादिताम् ।
विशिष्टोपगतां चेति प्रतिभां षड्‌विधां विदुः ॥ १५२ ॥

(१) स्वाभाविक प्रतिभा—पराप्रकृति का सत्ता या महानात्मा के प्रति जो आनुगुण्य या कार्यंगुणता की प्राप्ति है, उसे स्वाभाविकी प्रतिभा कहते हैं। यह वैसे ही स्वाभाविक है, जैसे सुप्तावस्थ पुरुष का स्वभावतः जाग्रतावस्थ होना।

(२) चरण अर्थात् तपश्चरण या स्वाध्यायादि निमित्तक प्रतिभा, जैसे—वसिष्ठादिकों की प्रतिभा।

(३) अभ्यास-निमित्तक प्रतिभा, जैसे—कूपादि के खोदने वाले अभ्यास से ही यह जान लेते हैं कि यहाँ जल होगा अथवा यहाँ मिट्टी का तेल मिलेगा। रत्नादि का खरा और खोटापन समझना अभ्यास से ही जाना जाता है।

जो लोग ऐसा समझते हैं कि 'कूपतटाकादीनां' पाठ भ्रष्ट है और यहाँ 'रूपतर्कादीनाम्' ऐसा पाठ रहा होगा, उन्हें आदि शब्द पर भी ध्यान देना चाहिए। यह सही है कि भर्तृहरि ने 'रूपतर्कादयः' का उल्लेख किया है और रूपतर्क सुवर्ण के खरे-खोटे होने की पहचान वाले को कहते हैं। किन्तु ऐसा भी देखा जाता है कि कहीं-कहीं कूप खोदने पर भी पानी नहीं निकलता। तड़ाग बनवाने पर भी वहाँ पानी सञ्चित नहीं होता। अभ्यास से ही कुछ लोग जान लेते हैं कि यहाँ कुआँ खोदने से मीठा पानी निकलेगा और यहाँ तडाग बनाने से सदैव जल स्थिर रहेगा। ऐसी स्थिति में 'कूपतटाकादिखनकानाम्' यह भर्तृहरि का वृत्तिपाठ सङ्गत है।

(४) योग और ध्यान निमित्तक प्रतिभा, जैसे—योगी लोग ध्यान द्वारा दूसरे के चित्तगत अभिप्राय को समझ लेते हैं।

(५) अदृष्ट-निमित्तक प्रतिभा, जैसे—राक्षस और पिशाचों की दूसरे के शरीर में प्रविष्ट होने और अन्तर्हित होने की शक्ति देखी जाती है।

(६) विशिष्टोपहिता प्रतिभा—कृष्णद्वैपायनादि विशिष्ट पुरुषों द्वारा सञ्जयादि में सञ्चारित प्रतिभा।

यह विवरण भर्तृहरि द्वारा रचित वृत्ति के अनुरूप प्रस्तुत है। पुण्यराज ने अपनी टीका में केवल स्वाभाविक प्रतिभा के विषय में कहा है—'स्वभावेन यथा कपिः। चरणादिषूदाहरणान्यूह्यानि।' स्वभाव से जैसे कपि एक शाखा से दूसरी शाखा में कूद जाता है आदि। चरणादि के सम्बन्ध में उदाहरण खोजने चाहिए।

षडधिष्ठानाम्—उस प्रतिभा में जो अर्थ के आकार हैं, वे ही इस वाक् के आश्रय हैं।

षट्प्रबोधाम्—छह प्रतिभाओं से उत्पन्न छह प्रकार के ज्ञान।

षडव्ययाम्—पूना-संस्करण में धृत श्रीवृषभ की व्याख्या का पाठ प्रस्तुत है—'सर्वाणि चैतानि रूपाणि तस्या न सन्तीति षडव्ययाम्।' 'षड्व्यवायाम्' तथा 'षडवयवाम्' ये भ्रष्ट पाठ हैं।

चारुदेव शास्त्री के संस्करण का पाठ है—'षडवयवाम् इति। सर्वाणि चैतानि रूपाणि तस्याः सन्तीति'।

'षडव्ययाम्' यह मूल में धृत पाठ है और पद्धति में उक्त प्रकार का पाठ है तथा 'न' को जान-बूझकर छोड़ा गया है अथवा उन्हें वैसा ही पाठ मिला, यह कहना अशक्य है। 'ये छह उसी के रूप हैं' ऐसा अर्थ करने पर छह प्रकार के ज्ञानों को परिच्छिन्न करने वाली वाक् षड्विध शाश्वत रूपों वाली है, यह तात्पर्य होगा।

पुनः श्रीवृषभ 'अथवा' शब्द देकर व्याख्या-विकल्प प्रस्तुत करते हैं—अथवा वाक्तत्त्व में विद्यमान छह भाव-विकार (जायते, अस्ति आदि) अन्य क्रियाओं की प्रवृत्ति के उपाय हैं। ये छह भावविकार ही छह आश्रय हैं। उनका ज्ञान भी षड्विध है। वह वाक् ही उनको परिच्छिन्न करके छह प्रकार की हो जाती हैं—'सैव तान् परिच्छिनत्ति षोढा भवतीति।

श्रीवृषभाचार्य द्वारा प्रस्तुत तीसरा विकल्प—१. वाचक, २. द्योतक, ३. प्रत्यायक, ४. प्रतिपादक, ५. लक्षक और ६. प्रकल्पक—ये छह वाक्यप्रवृत्ति के उपाय हैं। वाच्य, द्योत्य आदि अर्थ ही अधिष्ठान हैं। छह प्रकार के वाक्तत्त्व के प्रतिपादन व्यापार हैं, जिन्हें स्वरूप-विषय के भेद से अभिधादि के नाम से जाना जाता है। और छह प्रकार के प्रबोधक अव्यय रूप कहे गये हैं। श्रीवृषभ ने कहा है—'अथवा वाचकान्यत्वादिभेदो वक्ष्यमाणः।' किन्तु उन भेदों को आगे कहीं नहीं गिनाया गया। ऊपर जो वाग्द्वार कहे गये हैं, वे वृत्ति में से ही खोज कर प्रस्तुत किये गये हैं। 'षोढा वाचः प्रवृत्त्युपायाः वाच्यद्योत्यादिष्वर्थेष्वधिष्ठानम्। षोढैव च तस्याः प्रतिपादनव्यापारोऽभिधा(द्या ?)ख्यः स्वरूपविषयभेदात्। प्रकार इति षट्प्रबोधनाव्ययत्वमाख्यातम्।'

—पद्धति।

मूलकारिका में 'अव्यतिक्रान्तं' के स्थान पर 'अप्यतिक्रान्तं' पाठ मिलता है, जो अशुद्ध है। 'अप्यतिक्रान्तेऽचैतन्यं' यह पाठ भी उपलब्ध होता है। 'अनतिक्रान्तं' यह पाठ भी है। श्रीवृषभ के द्वारा 'अव्यतिक्रान्तं' यही पाठ स्वीकृत हुआ है। 'सर्वजातिषु' के स्थान पर 'सर्वजन्तुषु' ऐसा पाठ भी मिलता है ॥ ११७ ॥

प्रस्तुत कारिका द्वारा स्वप्नावस्था में भी वाक् का किस प्रकार उपयोग होता है, यह बतलाते हैं—

प्रविभागे यथा कर्ता तया कार्ये प्रवर्तते।
अविभागे तथा सैव कार्यत्वेनावतिष्ठते ॥ ११८ ॥

यथा प्रविभागे कर्ता तया कार्ये प्रवर्तते, तथा अविभागे सा एव कार्यत्वेन अवतिष्ठते।

जैसे प्रविभाग अर्थात् जाग्रत् अवस्था में कर्ता वाक् द्वारा ही व्यवहार या कार्य में प्रवृत्त होता है, वैसे ही अविभाग या स्वप्नावस्था में वह वाक् ही कर्ता, कर्म एवं करणादि रूपों को ग्रहण करती है। जाग्रदवस्था में कर्तृ-कर्मादि विभाग रहता है और स्वप्नावस्था में नहीं रहता।

वृत्तिः—प्रविभक्तसाध्यसाधनरूपो हि शब्दब्रह्मणो विवर्तः। प्राप्तजन्मादिविक्रिया वाग्विभागग्रन्थयो जागरणवृत्तिकाले वाग्रूपतामनुगच्छन्त्यो निर्वृत्तिविक्रियाप्राप्तिभिः कार्येषु यतन्ते।

विवरण—शब्दब्रह्म का विवर्त साध्य अर्थात् क्रिया और कर्ता-कर्म आदि साधन या कारकों के रूप में विभक्त रहता है। जन्म, सत्ता, विपरिणाम आदि विकारों को प्राप्त वाग्विभाग रूप ग्रन्थियाँ या मनुष्य, जागरणवृत्ति काल या जाग्रद् अवस्था में वाग्रूपता का अनुसरण करते हुए निर्वर्त्य (मिट्टी से घड़ा वनाता है), विकार्य (काष्ठ को भस्म वनाता है) तथा प्राप्य (नगर को जाता है) कर्मों में प्रवृत्त होते हैं।

वाग्विभाग रूप ग्रन्थियों का तात्पर्य अपने-अपने अहङ्कार को लिये हुए नाना प्रकार के जीवों से है। जैसा कि 'अपि प्रयोक्तुरात्मानं—' इस कारिका की वृत्ति में भर्तृहरि कहते हैं—'तत्र कार्यो व्यावहारिकः पुरुषस्य वागात्मनः प्रतिबिम्बोपग्राही।' इस पर श्रीवृषभ कहते हैं—'पुरुषस्य इति। योऽयं रथ्यापुरुषः स वाक्तत्त्वविकारत्वात् कार्यशब्दस्वभावः। विकाराणां प्रकृतिरूपान्वयात्। स एव व्यावहारिकः तस्य इति। नित्यस्य। प्रतिबिम्बोपग्राही इति। प्रतिबिम्बमुपगृह्णाति। प्रकृतिरूपानुगमादेव।'

आगे वृत्तिकार पुनः कहते हैं—'तस्मिन् वाग्योगविदो विच्छिद्याहङ्कारग्रन्थीन् अत्यन्तविनिर्भागेन संसृज्यन्ते।'

इस पर श्रीवृषभ की व्याख्या है—'अहङ्कार ग्रन्थीन् इति। अहङ्कारोऽपि तस्यैव विवर्त इति ग्रन्थिः, तं छित्त्वा।' अहङ्कार से तात्पर्य है—अपने को शब्दब्रह्म से पृथक् अल्पज्ञ जीव मात्र समझना।

वृत्तिः—स्वप्नाद्यविभागे तु सैव वागविषया बाह्यवस्तुस्वरूपा सती निर्वृत्तिविक्रियाप्राप्तिषु कर्मभावं प्रतिपद्यते।

आह च—

प्रविभज्यात्मनात्मानं सृष्ट्वा भावान् पृथग्विधान्।
सर्वेश्वरः सर्वमयः स्वप्ने भोक्ता प्रवर्तते॥ ११८॥

विवरण—स्वप्न आदि[1] में कर्तृ-कर्म विभाग नहीं होता है इसलिए वह अवि-

१. 'स्वप्नाद्यविभागे' में आदि शब्द से क्या अभीष्ट है? यह गवेषणीय है, क्योंकि श्रीवृषभ ने इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला। उनकी व्याख्या है—'स्वप्नादौ यदा कर्तृकर्मविभागो नास्ति। न विद्यते विभागोऽत्रेति समासः। स स्वप्नादिरेवाविभागः।'

भाग दशा है। उस दशा में वही वाक् अविषय अर्थात् बाह्यरूप में विवर्तित न होकर भी बाह्यवस्तुस्वरूप बनकर निर्वृत्ति, विक्रिया और प्राप्तिरूप कर्मभाव को प्राप्त होती है, जैसा कि किसी प्राचीन वेदान्त-ग्रन्थ में कहा गया है—

भोक्ता अर्थात् प्रत्यगात्मा सम्पूर्ण स्वप्नसृष्टि का ईश्वर एवं विकारग्राम का उपादान बनता हुआ अपने से ही अपना विभाग करके भोक्ता, भोक्तव्य और भोगात्मक पृथक्-पृथक् पदार्थों की रचना करके स्वप्न दशा में प्रवृत्त होता है।

इस श्लोक को हेलाराज ने द्रव्यसमुद्देश के—'आत्मा परः प्रियो द्वेष्यो वक्ता वाच्यं प्रयोजनम्। विरुद्धानि यथैकस्य स्वप्ने रूपाणि चेतसः' (१७) प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या में इस प्रकार उद्धृत किया है—'तदाहुः वेदान्ततत्त्वनिपुणाः—प्रविभज्य—इति। भोक्तेति वचनात् प्रत्यगात्मसृष्टिरियमुक्ता। तस्य च सर्वेश्वरत्वात् ब्रह्मरूपत्वे सृष्टिसामर्थ्यमुक्तम्। सर्वमयत्वाच्चानन्योपादानविचित्रभावरचनामाहुः। अत एव प्रविभज्यात्मनात्मानमिति कर्तृकर्मभेदाभावाच्च वैकल्पिकत्वमस्याः सृष्टेः स्फुटमुक्तम्।'

स्पन्दकारिका के चौथे निष्यन्दगत चतुर्थ श्लोक की रामकुण्ठ कृत विवृति में यह पद्य उद्धृत है। वहाँ 'सर्वमयः' के स्थान पर 'सर्वशक्तिः' और 'प्रवर्तते' के स्थान पर 'प्रपद्यते' पाठ रखा गया है ॥ ११८ ॥

अन्य दर्शन भी वाक् द्वारा प्रकल्पित वस्तु से सम्बन्ध रखते हैं; यह अग्रिम कारिका से निरूपित किया जा रहा है—

स्वमात्रा परमात्रा वा श्रुत्या प्रक्रम्यते यथा।
तथैव रूढतामेति तया ह्यर्थो विधीयते ॥ ११९ ॥

स्वमात्रा परमात्रा वा यथा श्रुत्या प्रक्रम्यते तथा एव रूढताम् एति। तया हि अर्थः विधीयते।

यह संसार स्वमात्रा अर्थात् आत्मांश या विविध जीवात्माओं का ही रूप है—यह माना जाय अथवा परमात्रा या परमेश्वर का रूप माना जाय; जैसा श्रुति या शब्द के द्वारा व्यवहृत होता है, वैसा ही रूढ हो जाता है। उस श्रुति या वाक् के द्वारा अर्थ की कल्पना की जाती है ॥ ११९ ॥

वृत्तिः—सर्वो हि विकार आत्ममात्रेति केषाञ्चिद्दर्शनम्। स तु प्रतिपुरुषमन्तःसन्निविष्टो बाह्य इव प्रत्यवभासते। रूढत्वाच्च व्यवहारमात्रमिदमन्तर्बहिरिति। न ह्येतदेकत्वेऽमूर्तत्वे वा सम्भवति। अपरेषां सर्वप्रबोधरूपः सर्व-

---

यद्यपि जागरणदशा में भी वह वाक् ही कर्ता, कर्म और करणादि बनती है तो भी स्वप्न में बाह्याभाव के प्रसिद्ध होने से ऐसा कहा गया है। श्रीवृषभ का वचन है—'यद्यपि जागरणेषु सर्वभोक्त्रादिरूपः स्वप्ने तु बाह्याभावस्य प्रसिद्धत्वादेवमुक्तम्।' इसमें गाढ़े अक्षर वाले पदों में कुछ त्रुटि और विपर्यय प्रतीत होता है।

प्रभेदरूपश्चैकस्य चितिक्रियातत्त्वस्यायं परिणाम इत्यादि स्वमात्रावादिनां दर्शनम् ।

विवरण—समस्त गो-घट आदि जागतिक पदार्थ (विकार) आत्मा अर्थात् जीवात्मा के अंश या रूप ही हैं । वह समग्र विकार या पदार्थ प्रत्येक पुरुष के अन्तःस्तर में सन्निविष्ट रहता हुआ मानो बाहर है, ऐसा भासित होता है जैसा कि तीसरे काण्ड में कहा गया है—

'द्यौः[1] क्षमा वायुरादित्यः सागराः सरितो दिशः ।
अन्तःकरणतत्त्वस्य भागा वहिरवस्थिताः ॥' ४१ ॥

—साधनसमुद्देश ।

द्यौ, पृथिवी आदि अन्तःकरणतत्त्व के ही अंश प्रतिबिम्ब या आभास हैं, जो वाहर स्थित दिखलाई देते हैं ।

दिक्समुद्देश में भी कहा गया है—

'अन्तःकरधर्मो वा वहिरेवं प्रकाशते ।
अस्यां त्वन्तर्वहिर्भावः प्रक्रियायां न विद्यते' ॥ २३ ॥

हेलाराज ने अन्तःकरण की व्याख्या में कहा है—'अन्तः अवस्थितस्य करणं व्यापारोऽस्येति चैतन्यमेवमुच्यते ।' अर्थात् अन्दर स्थित है करण या व्यापार जिसका, वह चैतन्य ही अन्तःकरण है ।

अनादि अविद्या के कारण बाहर आकार के अवभासित होने पर भी परमार्थतः वाह्य के न होने से स्वकुक्षि में ही जगत् अवभासित होता है । इस प्रकार अन्तःस्थित चैतन्य का ही यह व्यापार है ।

रूढ़ होने के कारण 'अन्तः' और 'वहिः' यह व्यवहार मात्र है । लोक में इसकी प्रतीति होती है, अतः अविद्यमान होने पर भी अवर लोगों ने अन्दर और वाहर की वात कही है । श्रीवृषभाचार्य ने 'सर्वो हि–' आदि समग्र सन्दर्भ की प्रस्तुत व्याख्या की है—

---

१. हेलाराज की व्याख्या—"य इमे द्यौश्चाकाशं च द्यावापृथिव्यौ महत्यौ महाभूतसंज्ञिके वस्तुनी, तदन्तरे च वायुरपि तृतीयः, तदादित्यलक्षणमपि दिव्यं तेजः, आपः सारित्समुद्रा वा विकाराः, सर्वाण्येतानि महाभूतानि सकलजगज्जीवितभूतानि, दिशो वा लोकव्यवहारनिमित्तभूताः, कालश्च वक्ष्यमाणः, तदेतत् सर्वम्, 'अन्तःकरणतत्त्वस्य इति' अन्तःकरणसंज्ञकम् अन्तःकरणत्वैनान्तररूपतया प्रतिभासमानं यत्तत्त्वं तस्यैवेते भागाः प्रतिबिम्बका आभासा वहिरवस्थिताः । परमार्थे तु कीदृशोऽन्तर्बहिर्भावः । एकमेव संविन्मयं परं शव्दब्रह्म तथा तथावस्थितमिति कारिकार्थः ।"

—प्रकीर्णप्रकाश ।

'गवादयो विकाराः सर्वे ।' इसके वाद उनका पाठ त्रुटित है। आगे वे कहते हैं—"तदेव स्फुटयति स तु इति । सर्वं एव पदार्थ एकैकस्मिन् पुरुपेऽन्तःसन्निविष्टो विशेषेण त्वनवधृतो बुद्धिर्वा ब्रह्म वेति । वाह्य इव इति । यथा वक्ष्यति—'द्यौः क्षमा वायुरादिः–' इति । तच्चैतदात्ममात्रम्, एकत्वाद्वस्तुनो मूर्तिरहितत्वाच्च ।"

'समस्त पदार्थ एक-एक पुरुप में पृथक्-पृथक् अन्तःसन्निविष्ट रहते हैं। यह अन्तस्तत्त्व वुद्धि है अथवा शव्दब्रह्म, इसकी विशिष्ट अवधारणा नहीं होती। यह सव कुछ आत्ममात्र ही है, उसके एक होने और मूर्तिरहित होने के कारण।' भेद-विपयक और मूर्तद्रव्य-विषयक वाह्य स्थित्यात्मक व्यवहार अन्तस्तत्त्व के एक और अमूर्त होने के कारण सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए अन्दर और वाहर की वात काल्पनिक है—यही वृत्तिकार का आशय है। यह एक मत हुआ।

स्वमात्रावादियों में ही कुछ अन्य लोगों का मत है कि अनेक प्रकार के ज्ञान रूप और विविध ज्ञेय रूप एक ही चितिक्रियातत्त्व के परिणाम हैं—इत्यादि दो मत स्वमात्रावादियों के हैं। इस मत में चैतन्यरूप एक कारण स्पष्ट है। प्रथम मत में अन्तःसन्निवेशी पुरुष अनिर्धारित है, यह विशेष है। इस प्रकार श्रीवृपभ ने दोनों मतों में भेद को स्पष्ट किया है। 'चितिक्रियातत्त्वस्य इति। चैतन्यस्य। परिणाम इत्यव्यतिरेकमाह। स्पष्टं चैतन्यमेकं कारणम्, पूर्वत्र त्वनिरूपितोऽन्तःसन्निवेशी पुरुष इति विशेषः।' —पद्धति।

यहाँ प्रथम मत में वेदान्त-सम्मत दृष्टिसृष्टिवाद और द्वितीय मत में सृष्टदृष्टिवाद का अन्वेषण कुछ लोग करते हैं, किन्तु क्या यह भर्तृहरि और श्रीवृपभ द्वारा अभिप्रेत है?

'सर्वलोकादिसृष्टिश्च तत्तद् दृष्टिव्यक्तिमभिप्रेत्य यदा यत्पश्यति, तदा तत्समकालं सृजतीत्यत्र तात्पर्यात्।' —अद्वैतसिद्धि, परिच्छेद १ (पृ० ५३७)

'तथापि वृत्त्युपहितचैतन्यमेव दृष्टिशब्दार्थः।' —अद्वैतसिद्धि (पृ० ५३५)

'सम्पूर्ण लोक आदि की सृष्टि भिन्न-भिन्न दृष्टियों के अभिप्राय से होती है। जब जो व्यक्ति जो कुछ देखता है, तभी वह उस-उस वस्तु की उसी समय रचना करता है।'

'फिर भी वृत्ति से उपहित चैतन्य ही दृष्टि शब्द का अर्थ है।'

शङ्कराचार्य ने शतश्लोकी में कहा है—'यो यो दृग्गोचरोऽर्थो भवति स तदा तद्गतात्मस्वरूपाविज्ञानोत्पद्यमानः स्फुरति ननु यथा शुक्तिकाज्ञानहेतुः। रौप्याभासो मृषैव स्फुरति च किरणज्ञानतोऽम्भो भुजङ्गो रज्ज्वज्ञानान्निमेषो सुखभयकृदतो दृष्टिसृष्टं किलेदम्॥ ८१॥

जो-जो पदार्थ दृष्टिगोचर होता है, वह उस समय दृष्टिगत आत्मस्वरूप के अविज्ञान से उत्पन्न होता हुआ स्फुरित होता है। जैसे शुक्तिका के अज्ञान का हेतु रजत का आभास असत्य ही स्फुरित होता है तथा किरणों के अज्ञान से मरु देश में जल

एवं रज्जु के अज्ञान से सर्प उदित होकर सुख और भय को उत्पन्न करता है, अतः यह सब दृष्टि द्वारा ही रचित है।

वृत्तिः—चैतन्यं भूतयोनिस्तिलक्षोदरसवत् प्रविभज्य इत्येके। अन्ये त्वाहुः—तद्यथा महतोऽग्नेर्विस्फुलिङ्गाः, सूक्ष्माद्वायोरभ्रघनाश्चन्द्रकान्ताद्विभागिन्यस्तोयधाराः पृथिव्या वा सालादयो, न्यग्रोधधानादिभ्यो वा सावरोहप्रसवा न्यग्रोधा इत्येवमादि परमात्रावादिनां दर्शनम्। स्वपरमात्रावादिनां दर्शनं [1]विद्याभाष्येभ्यः प्रतिपत्तव्यम्।

विवरण—चैतन्य समस्त प्राणियों एवं पदार्थों का कारण है—अर्थात् सभी पदार्थ उसी में स्थित रहते हैं तथा सृष्टि के अवसर पर तिल से तिल की पिष्टि तथा तैल के समान वह चैतन्य प्रविभक्त हो जाता है, ऐसा परमात्रावादियों में से कुछ लोगों का मत है।

अन्य लोगों का कहना है—जैसे अग्नि से चिनगारियाँ, सूक्ष्मवायु से घनीभूत मेघ, चन्द्रकान्तमणि से विभक्त जलधाराएँ अथवा पृथिवी से जैसे सालवृक्षादि, बटबीजों से जैसे बरोहियों से युक्त वटवृक्ष उत्पन्न होते हैं, वैसे ही परमेश्वर से ये पदार्थ। इस प्रकार यह परमात्रावादियों का दर्शन या मत है।

श्रीवृषभाचार्य ने यहाँ विस्फुलिङ्ग के व्याख्यान में बृहदारण्यक उपनिषद् (२।१।२०) को उद्धृत किया है—'यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एतस्मादात्मनो व्युच्चरन्ति।'

यहाँ 'सर्व एतस्मादात्मनो' यह पाठ पुनरुक्त है। माध्यन्दिनशाखा की श्रुति का पाठ 'सर्व एत आत्मानः' है। काण्वी शाखा के अपने भाष्य में शङ्कराचार्य ने कहा है—'सर्व एत आत्मान इत्यस्मिन् पाठ—उपाधिसम्पर्कजनितप्रबुध्यमानविशेषात्मान इत्यर्थः। काण्वी शाखा में 'सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति' इतना ही पाठ है।

शङ्कर का अर्थ इस प्रकार है—जैसे एक रूप और अभिन्न एक अग्नि से अल्प चिनगारियाँ या अग्नि के अवयव अनेकधा उद्गत होते हैं, वैसे ही इस विज्ञानमय आत्मा से सब वागादिक प्राण, सभी भूः आदि लोक, सभी कर्मफल, प्राण और लोक

---

१. विद्या—सायण ने तै० आ० के व्याख्यान में बृहदा० उप० (२।४।१०) के प्रमाण से ब्राह्मण-ग्रन्थों के आठ भेदों को दिखलाया है। यथा—'ब्राह्मणं चाष्टधा भिन्नम्। तद्भेदास्तु वाजसनेयिभिराम्नायते—इतिहासः, पुराणं, विद्या, उपनिषदः, श्लोकाः, सूत्राणि, अनुव्याख्यानानि, व्याख्यानानि।' यहाँ 'विद्या' नामक ग्रन्थों की चर्चा मिलती है। शङ्कराचार्य ने व्याख्या की है—'विद्या—देवजनविद्या वेदः सोऽयमित्याद्या।—वृ० उ० भा०। ये विद्या नामक ब्राह्मणग्रन्थ सर्वथा लुप्त हैं। वस्तुतः ये ग्रन्थ ही वृत्तिकार को अभिप्रेत हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

के अधिष्ठाता अग्नि आदि समस्त देव तथा ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब (तृण) पर्यन्त समग्र प्राणि-समुदाय उद्गत होता है।

श्रीवृषभ कहते हैं—'यथाग्नेरविभक्ताः सन्तो विस्फुलिङ्गाः पृथग् भवन्ति तथा एकस्मादपि प्राणादयः, आकाशव्यवस्थितेभ्यो वायुपरमाणुभ्यो घनीभूतान्यभ्राणि विभक्तानि जायन्ते।' अर्थात् जैसे अग्नि से अविभक्त अर्थात् एकरूप होते हुए अग्निकण पृथक् होते हैं (व्युच्चरन्ति), वैसे ही एक से ही प्राणादिक और आकाश में व्यवस्थित वायु के परमाणुओं से घनीभूत मेघ विभक्त होते हैं।' इसके पश्चाद्वर्ती श्रीवृषभ की पद्धति त्रुटित एवं भ्रष्ट है। यदि यहाँ पद्धति स्पष्ट होती तो इन दृष्टान्तों में विद्यमान पारस्परिक सूक्ष्म भेद जाना जा सकता था। वृत्तिकार का कथन है कि स्व और परमात्रावादियों का दर्शन [1]विद्याभाष्यों से जानना चाहिए।

'विद्या' शब्द से वृत्तिकार को 'उपनिषद्' अभिप्रेत है। तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य-वार्तिक में सुरेश्वराचार्य कहते हैं—'विद्या प्रस्तूयतेऽथोर्ध्वं यथाभूतार्थबोधिनी॥ ५॥

इस पर आनन्दगिरि की टीका है—'अपेक्षितमोक्षसिद्ध्यर्थमुपनिषच्छब्दिता 'विद्या' प्रारभ्यते।

इसके अतिरिक्त सुरेश्वर का वचन है—

'विद्यासंशीलिनां यस्माद् गर्भजन्माद्यशेषतः।
उपमृद्नाति विद्येयं तस्मादुपनिषद् भवेत्॥ ३५॥ —प्रथम अनुवाक।

यह विद्या, यतः इसका परिशीलन या मनन करने वालों के गर्भजन्मादि का अशेषतः उपमर्दन कर देती है, अतः उपनिषद् के नाम से कही जाती है।

भगवान् भर्तृहरि ने अपने समय में विद्यमान बृहदारण्यकादि उपनिषदों के अनेक भाष्यों को देखा होगा। ये भाष्य निश्चय ही शङ्कर के पूर्ववर्ती होंगे। शङ्कराचार्य ने 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः–'' इस बृहदारण्यक के स्वकीय भाष्य में दो पक्षों या मतों को दिखलाया है। 'एवमेवास्मादात्मनः' इसके अर्थ में शङ्कराचार्य ने कहा है—

---

१. मत्स्यपुराण, अध्याय १४४, श्लोक १२-१३ तथा २३ में 'भाष्यविद्या' शब्द आया है। यथा—

'मन्त्रब्राह्मणविन्यासैः स्वरक्रमविपर्ययैः।
संहिता ऋग्यजुःसाम्नां संहन्यन्ते श्रुतर्षिभिः॥ १२॥
सामान्याद्वैकृताच्चैव दृष्टिभिन्नैः क्वचित् क्वचित्।
ब्राह्मणं कल्पसूत्राणि भाष्यविद्यास्तथैव च॥ १३॥
प्रक्रिया कल्पसूत्राणां भाष्यविद्याविकल्पनम्।
स्मृतिशास्त्रप्रभेदाश्च प्रस्थानानि पृथक् पृथक्॥ २३॥

भर्तृहरि का इन्हीं ग्रन्थों की ओर तो संकेत नहीं है?

१'विज्ञानमयस्य प्राक्प्रतिबोधाद्यत् स्वरूपं तस्मादित्यर्थः ।' इस मत का उपसंहार करते हुए वे कहते हैं—'शास्त्रं२ संसारिणः एवमेवास्मादात्मनः' इति जगदुत्पत्त्यादि दर्शयति । तस्मात् सर्वं श्रद्धेयमिति स्यादयमेकः पक्षः ।'

इसे हम स्वमात्रावादी दर्शन कह सकते हैं। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मु० उप० १।१।९) 'आत्मा वा इदमेवाग्र आसीत्' (ऐ० उप० १।१।१), इत्यादि श्रुतिशतेभ्यः, स्मृतेश्च 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (गीता० १०।८) इति परोऽस्त्यसंसारी श्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यश्च, स च कारणं जगतः ।' —शङ्कराचार्य

जो सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता है—आरम्भ में यह एक आत्मा ही था—इत्यादि सैकड़ों श्रुतियों से, तथा मैं वासुदेवाख्य परब्रह्म सम्पूर्ण जगत् की सर्वप्रकृति—उत्पत्ति-मूलकारण या सर्वात्मा हूँ (आनन्दगिरि) (प्रभव—उत्पत्ति कारण–उपादान और निमित्त हूँ—मधुसूदन)। मुझ सर्वज्ञ, सर्वेश्वर से ही स्थिति, नाश, क्रिया, फलोपभोग आदि विक्रिया रूप समग्र जगत् प्रवृत्त होता है।'

इस स्मृति से असंसारी परतत्त्व जगत् का कारण है—यह ज्ञात होता है।

यह परमात्रावादी दर्शन हो सकता है। विद्या या उपनिषद् के भाष्यकारों में आचार्य ब्रह्मनन्दी, आचार्य भर्तृप्रपञ्च और आचार्य द्रमिल शङ्कराचार्य से तो पूर्ववर्ती हैं ही, भर्तृहरि से भी प्राग्वर्ती हैं। यामुनाचार्य ने अपने 'सिद्धित्रय' नामक ग्रन्थ में कहा है—

'यद्यपि भगवता वादरायणेन इदमर्थान्येव सूत्राणि प्रणीतानि, विवृतानि च तानि परिमितगम्भीरभाषिणा भाष्यकृता (द्रमिडाचार्येण)। विस्तृतानि च तानि गम्भीर-न्यायसागरभाषिणा भवगता श्रीवत्साङ्कमिश्रेणापि। तथापि आचार्य–टङ्क–भर्तृप्रपञ्च–भर्तृमित्र–भर्तृहरि–ब्रह्मदत्त–शङ्कर–श्रीवत्साङ्क–भास्करादिविरचितसितासितविविध-निबन्धनश्रद्धाविप्रलब्धबुद्धयो न यथावद् अन्यथा च प्रतिपद्यन्त इति तत्प्रतिपत्तये युक्तः प्रकरणक्रमः।'

यहाँ आचार्य पद से द्रमिडाचार्य और टङ्क से ब्रह्मनन्दी समझना चाहिए। भर्तृहरि स्वयं पूर्वोत्तर मीमांसा के वृत्तिकार के रूप में ख्यात हैं।

---

१. अजातशत्रु राजा गार्ग्य का हाथ पकड़ कर सोये हुए पुरुष के पास जाता है और उसे हाथ दबा कर जगाता है। उसके उठ बैठने पर वह (अजातशत्रु) गार्ग्य से पूछता है—'यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जब सोया हुआ था, तब कहाँ था? और यह कहाँ से आया? (बृहदा० उप० अध्याय २ ब्राह्मण १ कण्डिका १६) इसके भाष्य में शङ्कर ने कहा है—'विज्ञानं विज्ञायतेऽनेनेत्यन्तःकरणं बुद्धिरुच्यते, तन्मय-स्तत्प्रायो विज्ञानमयः।' अर्थात् जागने से पहले जो विज्ञानमय का स्वरूप (प्राक्प्रति-बोधात् क्रियाकारकफलविपरीतस्वभाव आत्मेति) था, उस आत्मा से।

२. शास्त्र संसारी आत्मा से ही जगत् की उत्पत्ति आदि बतलाता है, अतः इस बात पर श्रद्धा करनी चाहिए। यह एक पक्ष सम्भव है।

वृत्तिः—श्रुत्या प्रक्रम्यते। शब्देनान्तःसन्निवेशिना सुखदुःखादिभावेन नानाप्राणिषु वहुधा प्रक्रम्यते, लोष्टक्षेपपातादिषु च लोकभावनासमयेन प्रसिद्ध्या व्यवतिष्ठते। तया ह्यर्थो विधीयते इति। सैव हि श्रुतिरर्थं कल्पयति संस्करोति च॥ ११९॥

विवरण—प्रपञ्चगत पदार्थ आत्ममात्रात्मक हों अथवा परमात्रात्मक, बुद्धचधिरूढ शब्द के द्वारा जिस प्रकार अनेक प्रकार के प्राणियों में सुख, दुःख और मोहरूप से अनेकधा गृहीत होते हैं तथा वाह्य मिट्टी के खण्ड के क्षेप और पतनादि के विषय में लोगों की भावना के अनुसार वाहुवेग का परिच्छेद ऊर्ध्व, तिर्यक् और अधः की व्यवस्था में उसी प्रकार शब्दकल्पित ही भेद व्यवहार प्रसिद्धि को प्राप्त करता है। वह श्रुति या वाक् ही अर्थ या वस्तु की कल्पना करती है और उसका संस्कार भी करती है।

यहाँ श्रीवृषभाचार्य ने 'स्थानेऽन्तरतमः' (पा० १।१।५०) सूत्र के अधोलिखित भाष्य को उद्धृत किया है—'लोष्टः क्षिप्तो वाहुवेगं गत्वा पृथिव्यामेव पतति नोर्ध्वं गच्छति न तिर्यक्।'

फेंका हुआ मृत् खण्ड वाहुवेग का अनुसरण करता हुआ पृथिवी में ही गिरता है, न ऊपर जाता है न तिरछा। यहाँ भाष्यकार का आशय यह है कि जो उसके निकट होता है–सहचारी या परिचित होता है–वह उसी के पास जाता है। किन्तु श्रीवृषभ का इससे वाहुवेग ऊर्ध्व, तिर्यक् आदि शब्दकल्पित संकेतों का वोध कराना ही तात्पर्य है॥ ११९॥

पिछली कारिका में यह स्पष्ट किया गया कि सांसारिक सत् पदार्थ, चाहे वे आत्मा या विज्ञानमय की मात्राएँ या विकार हों अथवा परमात्मा के; शब्द के द्वारा ही लोकप्रसिद्ध होते हैं। और जो पदार्थ असत् हैं (न होने पर भी प्रतीत होते हैं) और जो अत्यन्त असत् हैं, उनका भी वोध शब्द ही कराता है—यह वात प्रस्तुत कारिका में कही गई है—

अत्यन्तमतथाभूते निमित्ते श्रुत्युपाश्रयात्।
दृश्यतेऽलातचक्रादौ वस्त्वाकारनिरूपणा॥ १२०॥

अत्यतम् अतथाभूते अलातचक्रादौ निमित्ते श्रुत्युपाश्रयात् वस्त्वाकारनिरूपणा दृश्यते।

अत्यन्त असत्य, अलातचक्र (लुकुआई), आकाशकुसुम, शशविपाण आदि निमित्त में रहने पर श्रुति या उच्चरित शब्द के आधार पर वाह्यरूप रहित उस-उस वस्तु के आकार का निरूपण देखा जाता है।

वृत्तिः—श्रुतिरेव हि सर्वं शब्दार्थं स्वरूपपदात्मनि सन्निविष्टं दर्शयति। सा तमर्थं जनयतीव। स हि तस्यां प्रत्याय्यात्मना नित्यमवस्थितः। न च

वाह्यवस्तुगतं सदसत्त्वं श्रुतिरपेक्षते, नापि विपर्ययाविपर्ययौ। तथा ह्यलात-चक्रेऽपि सर्वप्रदेशव्यापिरूपा च क्रियादिशब्दरूपभावनानुगता श्रुतिरवतिष्ठ-मानाऽलातचक्रादिशब्दानां व्यावहारिकाणामर्थवत्तां प्रकल्पयति। तच्छ्रुति-बीजाभिमुख्ये तथाभूतनिमित्तया श्रुत्या प्रकल्पितो वस्त्वाकारः सत्यप्यनुमान-वलीयस्त्वे रूढीभवति।

विवरण—सुना गया शब्द ही सम्पूर्ण शब्दार्थ को स्वरूपात्मक पद में सन्निविष्ट है—ऐसा प्रदर्शित करता है। वह श्रुति या सुना गया शब्द उस अर्थ को मानो उत्पन्न करता है। वह अर्थ उस श्रुति में प्रत्याय्य या बोध्य के रूप में नित्य ही स्थित रहता है।

श्रीवृषभ 'प्रत्याय्यात्मना' पर कहते हैं कि अर्थ शब्द में कुण्डबदरन्याय से अर्थात् जैसे कूँड़े में वेर रखे रहते हैं, उस प्रकार नहीं रहता।

श्रुति या शब्द वाह्य वस्तु की सत्ता या अभाव की अपेक्षा नहीं करता और न भ्रम या वास्तविकता की ही अपेक्षा करता है। वैसे ही अलातचक्ररूप वस्तु के विषय में भी समग्र प्रदेशों में व्यापक, शकटचक्र गत ऊर्ध्वाधरगामी क्रिया तथा वर्तुलत्व आदि शब्दरूप संस्कार से युक्त प्रत्येक पुरुष की बुद्धि में विद्यमान श्रुति (शब्द) व्यावहारिक अलातचक्रादि शब्दों की अर्थवत्ता की कल्पना करती है।

श्रीवृषभाचार्य के अनुसार इसका तात्पर्य है कि लोगों की बुद्धि में शकट के चक्के के प्रयोग और उसके वारम्बार अभ्यास के संस्कार पड़े होते हैं। जब उन्हे अलात-चक्र शब्द सुनाई देता है तो वे तथा जातीयक अर्थात् चक्रानुरूप अर्थ (वस्तु) की कल्पना कर लेते हैं।

शकटचक्र शब्द के अनुरूप अलातचक्र शब्द के वार-बार श्रवण से बुद्धि में उस श्रुति (शब्द) का बीज निहित हो जाता है। और जब वह अभिमुख[1] होता है या उसमें कार्योपजनन सामर्थ्य का प्रादुर्भाव होता है—अर्थात् बुद्धि में अव्यक्त शक्तिरूप से श्रुति का अवस्थान उसकी बीजदशा है और वाह्यरूप में अभिव्यक्ति उसका वृत्ति-

---

१. 'तच्छ्रुतिबीजाभिमुख्ये······वस्त्वाकारः' इस सन्दर्भ की श्रीवृषभ ने व्याख्या इस प्रकार की है—'अलातश्रुतेर्बहिस्तस्याभावात् तथा प्रकल्पितः स वृत्तिलाभः। तथाभ्यासात्तच्छब्दाहित यावत्ताप्रबोधः तथा भावोत्पत्तेः।'

वे अन्य टीकाकार का मत देते हुए कहते हैं—

'अन्ये तु बीजवृत्तिलाभस्य बीजाभिमुख्ये सति प्रकल्पितो वस्त्वाकार इति व्याचक्षते।

एक मत में शक्ति का वृत्ति रूप में परिणत होना वस्त्वाकार है और दूसरे मत में बीज का कार्य के प्रति अभिमुख होना वृत्तिलाभ है, उसके पश्चात् वस्त्वाकार कल्पित होता है।

लाभ है, तब अलातचक्र के वाह्यरूप में अभाव होने से (तथाभूतनिमित्तात्मक) अलातचक्र श्रुति से कल्पित वृत्तिलाभ रूप चक्रात्मक वस्तु का आकार व्यवहार में प्रसिद्ध हो जाता है। भले ही अनुमान से उसकी असत्ता सिद्धि होती हो।

श्रीवृषभ के अनुसार अनुमान का प्रकार यह है—अलातचक्र वस्तुतः चक्र नहीं है, क्योंकि वह उस रूप में नहीं रहता, जैसे रथचक्र।

अलातचक्र में ऊर्ध्वाधरादि देशव्यापी उतने अवयव नहीं होते जितने रथचक्र में, न वैसा अवयवी वह है और न ही समुदाय ही वैसा है; तो भी लोग उसे सत् के समान देखते हैं।

वृत्तिः—अत्यन्तासत्सु च निर्ज्ञातेषु शशविषाणादिषु श्रुतिरेवार्थं जनयति, प्रकल्पयति स्वात्मन्यवरुणद्धि। तथैवान्यान् प्रत्यक्षानर्थान्। नित्यसन्निविष्टो हि सनिबन्धनश्चानिबन्धनश्च शब्देष्वभिधेयत्वेनार्थात्मा, प्रतिपुरुषं तु भावनानुविधायिनी सत्यसति वार्थे स्वप्रत्ययानुकारेण भिन्नरूपा शब्देभ्यः प्रतिपत्तिरुपपद्यते ॥ १२० ॥

विवरण—अलातचक्र असत् है और शशविषाण या आकाशकुसुम अत्यन्त असत्। अत्यन्त असत् रूप में ज्ञात खरहे के सींग आदि में शशविषाणादि शब्द (श्रुति) अर्थ को उत्पन्न करता है। शशविषाणादि शब्द से शशविषाणादि आकार के प्रत्यय (ज्ञान) के उत्पन्न होने से वह अर्थ उससे उत्पन्न हुआ, ऐसा कहा जाता है। अर्थात् वह शब्द उस अर्थ की कल्पना करता है तथा उसे अपने में अवरुद्ध करके स्थापित कर लेता है। इतना ही नहीं, उसी प्रकार अन्य प्रत्यक्ष गो-गवय आदि पदार्थों की भी यही स्थिति है।

प्रमाणान्तर से जिनकी सत्ता सिद्ध है, ऐसे पदार्थों को भी यह श्रुति बाहर सत् या असत् रूप में प्रकाशित नहीं करती, अपि तु बुद्धि में प्रतिभासमान अर्थाकार रूप से प्रकाशित करती है। और यह बात चाहे पदार्थ सत् हो या असत्, सर्वत्र अविशिष्ट है; बाद में प्रमाणान्तर से उसकी असत्ता का ज्ञान होता है।

पदार्थात्मा—पदार्थ का स्वरूप शब्दों में अभिधेय रूप से सदा सन्निविष्ट रहता है, चाहे वह सनिबन्धन या वाह्यार्थसत्ता वाला हो अथवा निर्निबन्धन या आकाशकुसुम के समान असत्। हाँ, यह बात अवश्य है कि प्रत्येक पुरुष (व्यक्ति) में प्राग्जन्मीय वासना के अनुरूप अपने-अपने अनुभव के आधार पर सत् अथवा असत् पदार्थ में शब्दों से भिन्न-भिन्न रूप अर्थोपलब्धि देखी जाती है। जैसे 'घट' शब्द के सुनने पर वैशेषिक को अवयवीमात्र का बोध होता है और बौद्ध को परमाणुसंघात मात्र।

इस बात को द्वितीय काण्ड में इस प्रकार कहा है—

वक्त्रान्यथैव प्रक्रान्तो भिन्नेषु प्रतिपत्तृषु।
स्वप्रत्ययानुकारेण शब्दार्थः प्रविभज्यते ॥ १३५ ॥

अर्थात् सांख्य, जैन, बौद्ध आदि एक ही शब्द के अपनी प्रतीति के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ समझते हैं। वैशेषिक ने अवयवी का प्रतिपादन करने के लिए घट शब्द का प्रयोग किया, किन्तु सांख्यवादी उसे गुणसमाहार मात्र और जैन तथा बौद्ध परमाणुसंचय मात्र समझता है।

वस्तुतः एक शब्द का कोई नियत अर्थ नहीं होता। अपनी-अपनी वासनाओं से वासित चित्त वाले लोग उसके भिन्न-भिन्न अर्थ समझते हैं—

यथेन्द्रियं सन्निपतद्वैचित्र्येणोपदर्शकम्।
तथैव शब्दादर्थस्य प्रतिपत्तिरनेकधा ॥ १३४ ॥ (वा० प० का० २)

ज्ञाता, ज्ञान अथवा जीवचैतन्य ही स्थूल शब्द के रूप में परिणत होता है, यह पीछे कहा गया है। इतना ही नहीं, यह समस्त जगत् शब्द का ही परिणामु है—यह भी वैयाकरणों का अभिमत है। श्रुति—सुना गया शब्द या वैखरी वाक् का व्यवहार में क्या उपयोग है तथा उसके सामर्थ्य का पिछली कारिकाओं में निरूपण हुआ। अब प्रस्तुत कारिका में अन्तर्यामी परचैतन्य या परमेश्वर भी शब्दरूप ही है, यह कहा जा रहा है—

अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।
प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते ॥ १२१ ॥

प्रयोक्तुः अन्तः अवस्थितम् आत्मानम् अपि महान्तम् ऋषभं शब्दं प्राहुः; येन सायुज्यम् इष्यते।

प्रयोक्ता अर्थात् उच्चारण करने वाले व्यक्ति के अन्दर स्थित आत्मा या अन्तर्यामी को भी महान् शब्दवृषभ कहते हैं, जिसके साथ सायुज्य या अभेद की कामना की जाती है।

वृत्तिः—इह द्वौ शब्दात्मानौ—नित्यः. कार्यश्च। तत्र कार्यो व्यावहारिकः पुरुषस्य वागात्मनः प्रतिबिम्बोपग्राही।

विवरण—कारिका में 'अपि' का अर्थ 'अपि च' अर्थात् 'इसके अतिरिक्त' भी सम्भव है। श्रीवृषभाचार्य ने 'प्रयोक्तुः' की व्याख्या करते हुए 'अनुमानप्रयोक्तुरपि' ऐसा कहा है। यह पाठ कुछ अशुद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि आगे वे कहते हैं—'आत्मानम् अपि शब्द एवेत्याहुः'।

इस संसार में दो शब्दात्मा हैं। एक नित्य तथा दूसरा कार्य। इनमें कार्य व्यावहारिक पुरुष या जीवात्मा है जो कि नित्यपुरुष या परमेश्वररूप वाक्तत्त्व का प्रतिबिम्बरूप है। श्रीवृषभाचार्य के व्याख्या-सन्दर्भ से उपर्युक्त विवरण की पुष्टि होती है। यथा—

'शब्दात्मानौ इति। द्वे शब्दरूपे विवृत्तोऽविवृत्तश्च। अविवृत्तो नित्यः, विवृत्तोऽनित्यः। व्यावहारिक इति। येन लोकव्यवहारः। पुरुषस्य इति। योऽयं रथ्यापुरुषः

स वाक्तत्त्वविकारत्वात् कार्यशब्दस्वभावः। विकाराणां प्रकृतिरूपान्वयात्। स एव व्यावहारिकः। तस्य इति। नित्यस्य। प्रतिबिम्बमुपगृह्णाति। प्रकृतिरूपानुगमादेव।'

तात्पर्य यह है—दो शब्दरूप हैं—एक विवृत्त और दूसरा अविवृत्त। अविवृत्त अर्थात् नित्य और विवृत्त या अनित्य। व्यावहारिक जिससे लोकव्यवहार चलता है। जो यह रथ्यापुरुष या सामान्य मनुष्य है, वह वाक्तत्त्व का विकार होने से कार्यशब्दात्मक है और वही व्यावहारिक पुरुष है; क्योंकि विकार प्रकृति या मूलकारण से अन्वित होते हैं। यह नित्यपुरुष के प्रतिबिम्ब को स्वीकार करता है, प्रकृति रूप के अनुगत होने के कारण ही।

श्रीवृषभ की व्याख्या में 'पुरुषस्य इति' और 'तस्य इति' ये दो प्रतीक गृहीत हुए हैं। किन्तु 'तस्य' यह पाठ वृत्ति में नहीं है। मैंने बहुत पीछे अपने विवरण में बतलाया है कि वृत्ति में 'पुरुषस्य' के स्थान पर 'पुरुषः' रहा होगा और उसी के लिए 'तस्य' यह शब्द आया होगा। किन्तु एक विकल्प यह भी हो सकता है कि 'तस्य इति' से 'इति' को हटा दिया जाय तो 'तस्य नित्यस्य' इसे 'पुरुषस्य' की व्याख्या के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

यहाँ व्यावहारिक शब्दात्मा से तात्पर्य उच्चरित स्थूल शब्द नहीं है, किन्तु कारिका में आये हुए प्रयोक्ता को ही इससे समझना चाहिए। और अन्तरवस्थित शब्दात्मा ही अन्तर्यामी है, जिसे श्रुति ने महादेव कहा है। बृहदारण्यक उपनिषद् (शतपथ काण्वीशाखा) में एक पाठ है—

'यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद, यस्य विज्ञानशरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयति एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।'

—अध्याय ३, ब्राह्मण ७, काण्डिका २२

माध्यन्दिनशाखा में 'विज्ञाने' के स्थान में 'आत्मनि' पाठ है। यथा—'य आत्मनि तिष्ठन्, आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्यामी अमृतः।'

जो जीवात्मा में रहता हुआ जीवात्मा के भीतर है, जिसे जीवात्मा नहीं जानती, जिसका जीवात्मा शरीर है, जो जीवात्मा के भीतर रहता हुआ उसका नियमन करता है, वह अन्तर्यामी अमृत तेरी आत्मा है।

यह अन्तर्यामी ही महादेव या शब्दवृषभ है, जिसके साथ सायुज्य की बात कारिका में कही गई है। जीवात्मा या विज्ञान अथवा बुद्धिस्थ आत्मा ही व्यावहारिक शब्दात्मा है।

वृत्तिः—नित्यस्तु सर्वव्यवहारयोनिः, संहृतक्रमः सर्वेषामन्तःसन्निवेशी, प्रभवो विकाराणामाश्रयो कर्मणामधिष्ठानं सुखदुःखयोः, सर्वत्राप्रतिहतकार्यशक्तिः, घटादिनिरुद्ध इव प्रकाशः परिगृहीतभोगक्षेत्रावधिः, सर्वमूर्तीनामपरिमाणा प्रकृतिः, सर्वप्रबोधरूपतया सर्वप्रभेदरूपतया च नित्यप्रवृत्तप्रत्ययवंभासः,

स्वप्नप्रबोधानुकारी, प्रवृत्तिनिवृत्तिपदाभ्यां पर्जन्यवद् दवाग्निवच्च प्रसवोच्छेद-शक्तियुक्तः, सर्वेश्वरः, सर्वशक्तिर्महान् शब्दवृषभः, तस्मिन् खलु वाग्योगविदो विच्छिद्याहङ्कारग्रन्थीनत्यन्तविनिर्भागेन संसृज्यन्ते ।

विवरण—नित्यशब्दात्मा समस्त व्यवहारों का कारण है। साध्य-साधनरूप व्यवहार तथा प्रत्येक सिद्धान्त में आये हुए पद-पदार्थरूप भेदव्यवहार का वही कारण है, क्योंकि समग्र प्रवाद या मत उसी में आबद्ध रहते हैं। अविवृत्तावस्था में समस्त भेदों के उपसंहृत हो जाने पर उसमें कोई क्रम नहीं रहता। सम्पूर्ण प्रयोक्ताओं का वह अन्तर्यामी हैं। जागतिक विकारों या पदार्थों का वह उत्पत्ति-स्थान है। कुशल (पुण्य) और अकुशल (अपुण्य) कर्मों का वही आश्रय है। गमन और आगमन आदि कर्मों का भी वही आधार है। उसी के अनुग्रह से सुख और उपघात से दुःख उत्पन्न होता है, अर्थात् वही फलों का भोक्ता है ('तस्यैवानुग्रहोपघाताभ्यां सुखदुःखे उत्पद्येते। स एव फलानां भोक्तेति यावत्'—श्रीवृषभ)।

समग्र कार्यों के उत्पादन में उसकी शक्ति का व्याघात नहीं होता। फिर भी जैसे बाहर स्थित पदार्थों के प्रकाशन की शक्ति से सम्पन्न भी प्रदीप का प्रकाश घट से अवरुद्ध होने के कारण अन्तश्चारी रहता है तथा बाह्य स्थित रूपों के प्रकाशन में उसकी शक्ति प्रतिहत हो जाती है, वैसे यह नित्य शब्दात्मा भी भोगक्षेत्र अर्थात् शरीर की अवधि को स्वीकार करके भोगों को उपलब्ध करता है, बाहर नहीं।

'भोगाय क्षेत्रं शरीरं तदेवावधिः। तेनान्यत्र न भोगः। तच्छब्देन परिगृहीतं तद् द्वारेण तस्य सुखदुःखानुभव इति। एतदाह—सप्तदशकेनाहङ्कारपुरःसरेणावच्छिद्यमान एकोऽपि [1]न (?) भेदव्यवस्थितौ निबन्धनमिति।' —श्रीवृषभ

जैसा कि कहा है—एक अभिन्न भी वाक्तत्त्व अहङ्कारपुरःसर सत्रह अवयवों (यथा—पाँच सूक्ष्मभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, चतुर्वृत्तिक एक अन्तःकरण तथा पञ्चवृत्तिक एक प्राण) वाले लिङ्ग शरीर से अवच्छिन्न होकर भेद व्यवस्था का कारण बनता है।

'सप्तदशः प्रजापतिः'। —शतपथ ५।२।२।३

'मुख्यं तु सप्तदशकं प्रथितं हि लिङ्गम्।' —संक्षेपशारीरक ३।१९

वह नित्यशब्दात्मा समस्त मूर्तियों का परिमाण रहित कारण है, क्योंकि यदि परिमित हो तो कभी कुछ उत्पन्न होने पर वह क्षीण हो सकता है, इसलिए कारण की अपरिमाणता कही गई है। इसलिए सर्वदा पदार्थों (मूर्तियों) के उत्पन्न करने पर भी उसका क्षय नहीं होता।

समस्त पदार्थों के ज्ञानरूप से तथा भेदात्मक ज्ञेय रूप से वह सदैव प्रतिभासित रहता है।

---

१. यहाँ पद्धति में 'न' पठित है किन्तु यह असङ्गत प्रतीत होता है।

श्रीवृषभाचार्य 'सर्वप्रभेद इति' के अनन्तर कहते हैं—'सर्वज्ञेयरूपतया च नित्यः स एव प्रतिभासते ।' इससे यह प्रतीत होता है कि वृत्ति में पठित 'नित्यप्रवृत्त-प्रत्यवभासस्वप्नप्रवोधानुकारी' यह समस्त पद नहीं रहा होगा, अपि तु 'नित्यप्रवृत्त-प्रत्यवभासः' ऐसा विच्छिन्न पाठ रहा होगा ।

सृष्टि में जैसे वह जागता है और प्रलय में सोता है, अतः स्वप्न और प्रबोध का अनुकरण करता हुआ प्रतीत होता है । प्रवृत्ति जगत् की सृष्टि है और निवृत्ति उसका प्रलय । अतः प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वारा वह प्रबोध और स्वप्न का अनुकरण करता है ।

मेघ और वनाग्नि के समान वह क्रमशः वृक्षौषधि एवं वनस्पतियों को जन्म देता है तथा अन्त में विनाश कर देता है, अतः वह प्रसव और उच्छेदशक्ति से युक्त है । वह सभी का ईश्वर है, क्योंकि समस्त प्रवृत्तियों एवं निवृत्तियों का वही कारण है । अणिमादि शक्तियों के योग से उसे सर्वशक्ति कहा जाता है । वह महान् शब्दवृषभ है । उस शब्दवृषभ में शब्द के ज्ञान और प्रयोगात्मक योग को जानने वाले पुरुष अहङ्काररूपी ग्रन्थियों को काटकर सन्निविष्ट हो जाते हैं । शब्दवृषभ के साथ एकत्व या सायुज्य लाभ करते हैं ।

वृत्तिः – आह च—

चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ।।

—ऋग्वेद, मं० ४, सू० ५८।३

विवरण—श्रीवृषभाचार्य ने इसकी प्रस्तुत व्याख्या की है—'एतमर्थमागमेन दर्शयति । द्वे शीर्षे इति । द्वौ शब्दात्मानौ इत्यस्य प्रमाणम् । वृषभः इति वृषभत्वस्य । महो देवो इति महान् इत्यस्य । मर्त्यान् आविवेश इति । अन्तरवस्थितमित्यस्य ।'

पतञ्जलि की व्याख्या इस प्रकार है—'चत्वारि शृङ्गाणि—पदजातानि, नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च ।' त्रयो अस्य पादाः—त्रयः कालाः भूतभविष्यद्वर्तमानाः । द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च । सप्त हस्तासो अस्य सप्त विभक्तयः । त्रिधा बद्धः—त्रिषु स्थानेषु बद्धः—उरसि-कण्ठे-शिरसीति । वृषभो वर्षणात् । रोरवीति—शब्दं करोति । कुत एतत् ? रौतिः शब्दकर्मा । महो देवो मर्त्यां आविवेश—महान् देवः शब्दः, मर्त्याः—मरणधर्माणो मनुष्याः, तानाविवेश । महता देवेन नः साम्यं स्यादित्यध्येयं व्याकरणम् ।'

चार सींग अर्थात् नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार पदसमूह । इसके तीन चरण अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्तमान ये तीन काल । दो शिर अर्थात् दो शब्दात्मा नित्य और कार्य । सात हाथ—सात विभक्तियाँ । उर, कण्ठ और शिर इन तीन स्थानों में बँधा हुआ । वृषभ–वर्षा करने वाला । शब्द करता है । कैसे ? रौति–

यह क्रिया शब्दार्थक है। महान् देव अर्थात् शब्द, मरणधर्मा मनुष्यों में प्रविष्ट हो गया। महान् देव के साथ हमारी एकता हो इसलिए व्याकरणशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

कैयट के भाष्य का व्याख्या—चत्वारीति। शब्दस्य वृषभत्वेन निरूपणम्। त्रयः काला इति। लडादिविषयाः। नित्यः कार्यश्चेति। व्यङ्ग्यव्यञ्जकभेदेन। सप्त विभक्तय इति। सुप् इत्यर्थः। केचित्तु तिङामपरिग्रहप्रसङ्गात् सह शेषेण सप्त कारकाणि विभक्तिशब्दाभिधेयानि—इति व्याचक्षते। वर्षणादिति। कामानां ज्ञानपूर्वकानुष्ठान-फलत्वात्। महतेति। परेण ब्रह्मणेत्यर्थः।

विभक्तियों (सुप्) के ग्रहण से तिङ् का ग्रहण नहीं होगा, अतः कुछ लोग शेष (षष्ठी) के साथ विभक्तिशब्दवाच्य कारक—ऐसी व्याख्या करते हैं। (शेषः–षष्ठ्यर्थः, तत्सहितकारकाभिधायकत्वेन सुप्तिङोरुभयोरपि संग्रह इति भावः—नागेश)। शब्दों के ज्ञानपूर्वक प्रयोग से नित्यशब्द कामनाओं की वर्षा करता है, अतः वह वृषभ है। महान् देव अर्थात् परब्रह्म।

उद्योत में महान् देव की व्याख्या की गई है—"महान् देवः—अन्तर्यामिरूपः। महतो देवस्य शब्दब्रह्मणो व्याकरणज्ञाप्यतया व्याकरणज्ञस्तदाविष्ट इव भवतीति यावत्। पदजातानि—परापश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपाणि। अत एवाग्रे 'निपाताश्च' इति चकारः सङ्गच्छते।'

यहाँ दो बातें विशेषतः विचारणीय हैं। पहली 'द्वौ शब्दात्मानौ' और दूसरी 'पदजातानि'।

पतञ्जलि ने केवल नित्य और कार्य शब्द का उल्लेख किया है। भर्तृहरि महाभाष्यदीपिका में इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—'द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। कैश्चिन्नित्योऽयमिति दृष्टः कैश्चिदनित्य इति। अथवा जातिव्यक्तिश्चेति। अथवा स्फोटो ध्वनिश्च'। दो शब्दात्माओं का वे अर्थ करते हैं—नित्य और अनित्य; अथवा जाति और व्यक्ति; अथवा स्फोट[1] और ध्वनि। कैयट ने भी व्यङ्ग्य और

---

१. 'येनोच्चारितेन–' की दीपिका में भर्तृहरि ने इस विषय में अनेक मत दिये हैं—

पहला मत—जो यह क्रमवान् शब्द उच्चारित होता है वह अवर है; इससे भिन्न एक अक्रम शब्दात्मा है जो बुद्धिस्थ रहता है, उससे अर्थबोध होता है। क्यों? जैसे अर्थान्तर में निबद्ध शब्द, उससे भिन्न अर्थ का बोध नहीं कराता; इसी प्रकार स्वरूप को बतलाने वाला शब्द अर्थबोध नहीं करा सकता।

दूसरा मत—जैसे वर्णों में वर्ण के तुरीयांश (चतुर्थांश) वर्णजाति को अभि-व्यक्त करते हैं, इसी प्रकार वर्ण, वाक्यान्तरों में, जो क्रमजन्मा और अयुगपत्कालिक (भिन्न समयों में उत्पन्न) होते हैं, वे पदस्थ होकर पदजाति को अभिव्यक्त करते हैं। जैसे—वृक्ष शब्द वृक्षत्व को। और जाति से अर्थ की प्रतीति होती है। यह अर्थ

व्यञ्जक कहा है। नागेश इसकी व्याख्या करते हैं—'व्यङ्ग्य आन्तरः, व्यञ्जकः वैखरीरूपः। श्रीवृषभ ने अनेक पूर्ववर्ती व्याख्याएँ देखी थीं। निश्चय ही इस प्रकार की व्याख्या उन्हें परम्परा से प्राप्त हुई होगी। तब हम कार्य शब्दात्मा के दो अर्थ कर सकते हैं—एक रथ्यापुरुष (जीवात्मा) और दूसरा उच्चरित वर्णपदादि।

प्रस्तुत ऋग्वेदीय मन्त्र के देवता के सम्बन्ध में सायण ने कहा है—यद्यपि यह सूक्त अग्नि, सूर्य, अप, गो और घृत—इन पाँच देवताओं वाला है, अतः इस मन्त्र का पञ्चधा व्याख्यान होना चाहिए। तो भी मैं इसकी यज्ञ और सूर्यपरक व्याख्या कर रहा हूँ। अन्त में वे कहते हैं—'शाब्दिकास्तु शब्दब्रह्मपरतया चत्वारि शृङ्गेति चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेत्यादिना व्याचक्षते। अपरे त्वपरथा। तत्सर्वमत्र द्रष्टव्यम्।'

'अपरे' से निरुक्तकार द्वारा 'चत्वारि वाक्–' इस मन्त्र (ऋ० १।१६४।४५) की व्याख्या में दिये गये अनेक मत समझना चाहिए। यथा—

(१) 'कतमानि तानि चत्वारि पदानि—ओङ्कारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्।

(२) नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः।

(३) मन्त्रः, कल्पो, ब्राह्मणं, चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः।

(४) ऋचो, यजूंषि, सामानि, चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः।

स्वरूप स्फोट है; यही नित्यशब्दात्मा है और जो क्रमजन्मा तथा अयुगपत्कालिक व्यक्तियाँ है, वे ध्वनियाँ हैं।

तीसरा मत—शब्द में दो शक्तियाँ होती हैं—एक आत्मप्रकाशन-शक्ति और दूसरा अर्थप्रकाशन-शक्ति। जैसे प्रदीप अपने को प्रकाशित करते हुए निहित अर्थों को भी प्रकाशित करता है।

येनोच्चारितेनेति। अत्रानेकं दर्शनम्—

(१) केचिन्मन्यन्ते—यो वाऽयमुच्चार्यते क्रमवान् अवरः कश्चित्, अन्यः अक्रमः शब्दात्मा बुद्धिस्थो विगाहते तस्मादर्थप्रतिपत्तिः। कुतः। यथैवार्थान्तरनिबन्धनो नार्थान्तरं प्रत्याययति एवं स्वरूपनिबन्धनो नोत्सहते प्रत्याययितुम्।

(२) अपरे मन्यन्ते—यथा वर्णेषु वर्णतुरीया भागा वर्णजातिं व्यञ्जयन्ति एवं वर्णा वाक्यान्तरेषु ये क्रमजन्मानः अयुगपत्कालास्ते तां पदस्था वर्ण (पद ?) जातिमभिव्यञ्जयन्ति। वृक्षशब्दो वृक्षत्वम्। जातेरर्थस्य प्रतिपत्तिः। एतच्चार्थस्वरूपं स्फोटोऽयमेव शब्दात्मा नित्यः। ये तु क्रमजन्मानः अयुगपत्काला व्यक्तयो ध्वन्यात्मानस्ते इति।

(३) अन्ये मन्यन्ते—द्विशक्तिः शब्द आत्मप्रकाशनेऽर्थप्रकाशने च समर्थः। यथा प्रदीपः आत्मानं प्रकाशयन् निध्यर्थान् प्रकाशयति। यस्त्वाध्यात्मिक इन्द्रियाख्यः प्रकाशः स आत्मानमप्रकाशयन् बाह्यमर्थं प्रकाशयतीति। अतो ग्रन्थो 'येनोच्चारितेनेति' उभयथा वर्ण्यते। येनोच्चारितेन—प्रकाशितेन अथवा येनोच्चरितेनेति। —महाभाष्यदीपिका

(५) 'सर्पाणां वाक्, वयसां, क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके। (सर्पादीनामित्यधिभूतविदः—दुर्गाचार्य)

(६) पशुषु, तूणवे (वेणौ) मृगेषु, आत्मनि चेत्यात्मप्रवादाः। (आत्मानं ये प्रवदन्ति आचार्यास्ते आत्मप्रवादा—दुर्गाचार्य)

ऋषि, वैयाकरण, याज्ञिक, नैरुक्त, अधिभूतविद् तथा आत्मवादियों के मतों का उल्लेख करके यास्क ने निरुक्त, परिशिष्ट अध्याय १३ पाद १ खण्ड ९ के अन्त में एक ब्राह्मण ग्रन्थ को प्रस्तुत रूप में उद्धृत किया है—

'अथापि ब्राह्मणं भवति—सा वै वाक्सृष्टा चतुर्द्धा व्यभवदेष्वेव लोकेषु त्रीणि, पशुषु तुरीयं, या पृथिव्यां साग्नौ सा रथन्तरे, यान्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये, या दिवि सादित्ये सा बृहति सा स्तनयित्नौ; अथ पशुषु ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणेष्वदधुः, तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणाम्।'

इस विषय में ब्राह्मण-ग्रन्थ का भी प्रमाण उपलब्ध है—

वह विरचित वाक् चार रूपों में विभक्त हो गई। इन लोकों में तीन प्रकार की तथा पशुओं में चौथे प्रकार की। जो वाक् पृथिवी में है, वही अग्नि में और वही रथन्तर साम में है। जो अन्तरिक्ष में है, वह वायु में और वही वामदेव्य में है। जो द्युलोक में है, वह आदित्य में, वह बृहत् साम में और विद्युत् में भी है। अब जो पशुओं में थी, उससे जो वाक् अतिरिक्त हुई, उसका ब्राह्मणों में आधान किया गया। इसलिए ब्राह्मण दोनों प्रकार की वाणी बोलते हैं, जो देवों की अर्थात् वैदिकी वाक् है और जो मनुष्यों की अर्थात् लौकिकी वाक् है।

न तो निरुक्तकार ने और न पतञ्जलि तथा कैयट ने पदजात का अर्थ परा-पश्यन्ती आदि किया है, किन्तु पतञ्जलि के 'निपाताश्च' के चकार से नागेश ने परा-पश्यन्ती आदि अर्थ किया है। यह कहाँ तक सङ्गत है? वस्तुतः भर्तृहरि ने 'वैखर्या मध्यमायाश्च–' इस कारिका की व्याख्या के प्रसङ्ग में 'अन्यत्तु सामान्यव्यवहारा-तीतम्। आह खल्वपि' कह कर 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि'—इस ऋचा को उद्धृत किया है। अतः इससे यह जाना जा सकता है कि उनके मन में इस मन्त्र में पठित 'चत्वारि वाक्–' से तथा 'गुहा त्रीणि निहिता–' से परपश्यन्ती, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी यह वाच्चतुष्टयी अभिप्रेत थी॥ १२१॥

प्रकरण का उपसंहार करते हुए शब्दब्रह्म की प्राप्ति का उपाय बतलाते हैं—

तस्माद् यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः।
तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते॥ १२२॥

तस्माद् यः शब्दसंस्कारः, सा परमात्मनः सिद्धिः; तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञः तद् अमृतं ब्रह्म अश्नुते।

यतः शब्द का माहात्म्य पूर्वोक्त प्रकार का है, इसलिए जो शब्द का संस्कार है—अपभ्रंशों से पृथक् साधुशब्दों का ज्ञान है, वही परमात्मा या शब्दब्रह्म की सिद्धि है अर्थात् सिद्धि का उपाय है। उस शब्दब्रह्म की प्रवृति अर्थात् क्रिया या छह भाव-विकारों के तत्त्व या प्रतिभा नामक सत्ता को जो जानता है, वह उस अविनाशी ब्रह्म की एकता को प्राप्त कर लेता है। परम्परया सिद्धि का हेतु होने से यहाँ संस्कार को सिद्धि कहा गया है[1]।

वृत्तिः—व्यवस्थितसाधुभावेन हि रूपेण संस्क्रियमाणे शब्दतत्त्वेऽपभ्रंशोपघातापगमादाविर्भूते धर्मविशेषे नियतोऽभ्युदयः। तदभ्यासाच्च शब्दपूर्वकं योगमधिगम्य प्रतिभां तत्त्वप्रभवां भावविकारप्रकृतिं सत्तां साध्यसाधनशक्तियुक्तां सम्यगवबुद्धच नियता क्षेमप्राप्तिरिति।

विवरण—जब व्याकरण द्वारा शब्दतत्त्व का संस्कार किया जाता है तो वैयाकरण व्याकरणशास्त्र का अध्ययन करके अपभ्रंशों का परिहार करता है तथा साधु शब्दों का प्रयोग करता है। और तब अपभ्रंश रूप उपघात के परिहार से एवं साधु शब्दों के प्रयोग से उसमें धर्म-विशेष के अभिव्यक्त होने पर उसका अभ्युदय निश्चित है। अभ्युदय से तात्पर्य है—ऐहिक और पारलौकिक (स्वर्ग-सम्बन्धी) समृद्धि। अत एव श्रीवृषभाचार्य कहते हैं—'एवं स्वर्गाङ्गतामाख्याय मोक्षाङ्गतामाह—तदभ्यासाच्च इति।'

साधु शब्दों के पुनः-पुनः प्रयोग से धर्म की अभिवृद्धि होगी और तब शब्दपूर्वक योग उपलब्ध होगा। शब्दपूर्वक योग पर श्रीवृषभाचार्य कहते हैं—'शब्दपूर्वको योगो व्याख्यातः' अर्थात् शब्दपूर्वक योग की व्याख्या की जा चुकी है। इससे पूर्व वृत्ति में आये हुए 'वाग्योग' शब्द पर ये कहते हैं—'शब्दस्य (ज्ञान) प्रयोगाभ्यां योग उक्तः।' बीसवी कारिका में पठित 'शब्दपूर्वेण योगेन भासन्ते प्रतिबिम्बवत्' की वे व्याख्या करते हैं—'ते हि योगिनः पूर्वोक्तशब्दपूर्वेण योगेन तामभिन्नां वाचमुपासीनास्तानि निमित्तानि प्रतिबिम्बधर्मेण पश्यन्ति।'

चौदहवीं कारिका की वृत्ति में आये हुए 'शब्दपूर्वयोगभावनाभ्यासाक्षेपात्' पर भी वे कहते हैं—'शब्दपूर्वो योगो व्याख्यातः।' इसी कारिका की वृत्ति के प्रारम्भ में पठित 'शब्दपूर्वं हि······योगं लभते।' पर उनकी व्याख्या इस प्रकार है—'साधुशब्दप्रयोगज्ञानपूर्वकम्।' यहीं सर्वप्रथम 'शब्दपूर्वयोग' पद आया है और यहीं श्रीवृषभ की उक्त व्याख्या उपलब्ध है, जो 'वाग्योग' की व्याख्या से मिलती-जुलती है।

---

१. 'कथं पुनः सिद्धिरेव सामानाधिकरण्येन शब्दसंस्कार इत्युक्तेत्याह—तस्य इति। शब्दब्रह्मणः। प्रवृत्तिः क्रिया, ते च षड्भावविकारः तेषां तत्त्वमेव सत्ताप्रतिभाख्या तां यो जानाति। अश्नुते इति। तेनैकी भवति। ततः पारम्पर्येण सिद्धेर्हेतुत्वात् संस्कारः सिद्धिः।' —श्रीवृषभ।

इसमें सन्देह नहीं है कि उन्होंने पूर्ववर्ती अन्य व्याख्याओं को भी देखा होगा। किन्तु प्रस्तुत कारिका की वृत्ति से ज्ञात होता है कि साधुशब्दों के ज्ञान और प्रयोग से शब्दपूर्वयोग भिन्न है। क्योंकि वृत्तिकार कहते हैं—'तदभ्यासाच्च शब्दपूर्वकं योगमधिगम्य' इस पर श्रीवृषभ का कथन है—'पुनः पुनः प्रयोगेण धर्माभ्यासात्।' अर्थात् साधुशब्दों के ज्ञान एवं पुनः-पुनः प्रयोग से धर्म का अभ्यास होता है और तब शब्दपूर्वक योग का अधिगम (प्राप्ति) होता है। इससे स्पष्ट है कि साधुशब्द के ज्ञान और प्रयोग से उत्पन्न धर्म का अभ्यास कारण है; और उससे अनन्तर भावी शब्दपूर्वयोग कार्य। इस शब्द पूर्वयोग[1] से प्रतिभा या पश्यन्ती को ठीक से जानता है। यह प्रतिभा तत्त्वप्रभव है अर्थात् प्रतिभा के अनेक भेद असत्य हैं, ऐसा निश्चय होने पर ही प्रतिभा की उत्पत्ति होती है; स्वभाव-चरण एवं अभ्यासादि से भी यह उत्पन्न होती है, ऐसी श्रीवृषभ की उक्ति है—'यदा अस्या भेदा असत्त्वभूता इति निश्चयः ततः प्रतिभोत्पद्यत इति। स्वभावचरणाभ्यासादिभ्योऽपि सा जायत इत्यवच्छिनत्ति सत्ताम् इति।'

यह प्रतिभा छह भावविकारों—जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते, नश्यति—इनकी प्रकृति या मूल कारण है। यह साध्य और साधनरूप शक्ति से युक्त है। यह जगत् साध्य-साधन रूप ही है; और प्रतिभा से जन्य है, इसलिए उसे इस प्रकार की शक्ति से युक्त कहा गया है। इसका दूसरा नाम सत्ता है। इसके ठीक से जान लेने पर क्षेम या अपवर्ग की प्राप्ति निश्चित है। वात्स्यायन ने न्यायभाष्य (तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः सूत्र २२, आह्निक १) में प्राचीन ग्रन्थ उद्धृत किया है—'तदभयमजरममृत्युपदं ब्रह्मक्षेमप्राप्तिरिति।'

श्रीवृषभ अभ्युदय शब्द से जागतिक एवं स्वर्ग सम्बन्धी समृद्धि ग्रहण करते हैं और क्षेम से मोक्ष (अपवर्ग)। वृत्तिकार पहले अभ्युदय की चर्चा करते हैं, पुनः उससे योग की उपलब्धि और तब प्रतिभा ज्ञान के पश्चात् क्षेम। योग और क्षेम का युग्म यहाँ भी दृष्टव्य है। किन्तु क्षेम शब्द यहाँ परम मङ्गल का बोधक है। और कारिका में आये हुए ब्रह्मामृत या शब्दब्रह्म अथवा पराप्रकृति या परपश्यन्ती का सूचक है। प्रतिभा को ऊपर वृत्ति में तत्त्वप्रभवा कहा गया है। श्रीवृषभ ने इसकी भिन्न व्याख्या की है। यहाँ तत्त्व से तात्पर्य परा प्रकृति है, जिससे स्वभावतः प्रकृति-प्रतिभा-महानात्मा-सत्ता या पश्यन्ती वाक् का उद्भव होता है। द्वितीय काण्डगत 'स्वभावचरणाभ्यास' (१५२) इस कारिका की वृत्ति में भर्तृहरि ने कहा है—

---

१. साधुशब्द का ज्ञान और प्रयोग से शब्दपूर्वयोग भिन्न है, यह प्रस्तुत सन्दर्भ से भी स्पष्ट है—'तस्या एव वाचो व्याकरणेन साधुत्वज्ञानलभ्येन, वा शब्दपूर्वेण योगेनाधिगम्यत। (अधिगम ?) इत्येकेषामागमः।'

'केचिदाचार्या मन्यन्ते—काचित्स्वाभाविकी प्रतिभा। तद्यथा—परस्याः प्रकृतेः सत्तालक्षणमात्मानं महान्तं प्रत्यानुगुण्यं सुषुप्तावस्थस्येव प्रबोधानुगुण्यं फलसत्तामात्रं निद्रायाः।'

यही बात प्रथमकाण्डगत चौदहवीं कारिका की वृत्ति में मिलती है—

'सोऽव्यतिकीर्णां वागवस्थामधिगम्य वाग्विकाराणां प्रकृतिं प्रतिभामनुपरैति। तस्माच्च सत्तानुगुण्यमात्रात्प्रतिभाख्याच्छब्दपूर्वयोगभावनाभ्यासाक्षेपात्प्रत्यस्तमितसर्व-विकारोल्लेखमात्रां परां प्रकृतिं प्रतिपद्यते'।

प्रागुक्त अनुच्छेद में अनुलोम (सृष्टि) क्रम और द्वितीय अनुच्छेद में प्रतिलोम (संहार) क्रम निरूपित है।

प्रथम काण्ड की 'अविभागाद्विवृत्तानां–'(१३७) इस कारिका की वृत्ति में भी उक्त प्रकार का सृष्टिक्रम दिया गया है। यथा—

'येषां तु स्वप्नप्रबोधवृत्त्या नित्यं विभक्तपुरुषानुकारितया कारणं प्रवर्तते तेषां ऋषयः केचित् प्रतिभात्मनि विवर्तन्ते सत्तालक्षणं महान्तमात्मानमविद्यायोनिं पश्यन्तः प्रतिबोधेनाभिसम्भवन्ति।'

यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि स्वप्नवृत्ति या प्रलीन अवस्था ही कारण दशा है। इस कारण की प्रथम प्रवृत्ति प्रतिभा है। इसके साथ ही प्रतिभा युक्त ऋषि भी उत्पन्न होते हैं। इस प्रतिभा का नाम सत्ता या महानात्मा भी है। यही अविद्या की योनि या कारण है।

'तद्वारमपवर्गस्य–' इस कारिका की वृत्ति-व्याख्या में श्रीवृषभ ने भी कहा है—
'तदेवं वाग्विकारं प्रतिभायामुपसंहरति। तामपि चास्मिन् ब्रह्मणि इति।'

'अर्थात् समस्त वाग्विकारों का उपसंहार प्रतिभा में होता है और उस प्रतिभा का लय इस ब्रह्म अर्थात् पराप्रकृति में।'

कारिकाकार भी पराप्रकृति का उल्लेख करते हैं। यथा—

विकारापगमे सत्यं सुवर्णं कुण्डले यथा।
विकारापगमे सत्यां तथाहुः प्रकृतिं पराम्॥ १५॥

—द्रव्यसमुद्देश।

कुण्डलावस्थात्मक विकार के नष्ट होने पर कुण्डल में जैसे सुवर्ण ही सत्य रूप में स्थित रहता है, वैसे ही समस्त जागतिक विकारों के अपगत हो जाने पर सत्य परा प्रकृति ही शेष रहती है—ऐसा विज्ञों का कथन है।

जैसे सांख्यदर्शन में महत्तत्त्व लिङ्गमात्र, सत्तामात्र या महानात्मा के नाम से ख्यात है। और यही छह अविशेषों—१. शब्दतन्मात्र, २. स्पर्शतन्मात्र, ३. रूप-तन्मात्र, ४. रसतन्मात्र और ५. गन्धतन्मात्र तथा ६. अस्मिता की प्रकृति है; इसी में अपने समस्त षोडश विशेषों को लेकर अस्मिता विलीन होती है तथा यह सत्तामात्र प्रकृति भी आलिङ्ग, प्रधान या मूल प्रकृति में लय को प्राप्त करती है। वैसे ही

पश्यन्ती वाक् या प्रतिभा अथवा प्रकृति, पराप्रकृतिरूप शब्दब्रह्म या परब्रह्म अथवा परपश्यन्ती में लीन हो जाती है।

हेलाराज ने—

तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते।
सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः ॥ ३४ ॥—जातिसमुद्देश।

इस कारिका की व्याख्या में सत्ता की व्याख्या करते हुए व्यासभाष्य (योगसूत्रीय) को उद्धृत किया है—

'एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षडविशेषपरिणामाः। यत्तत्परमविशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं, तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति। प्रतिसंसृज्यमानाश्च तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय यत्तन्निःसत्तासत्तं निःसदसन्निरसदव्यक्तमलिङ्गं प्रधानं तत्प्रतियन्ति।' —पा० २, सूत्र १९

ये छह अविशेष सत्तामात्र महानात्मा के परिणाम हैं। जो पुरुषार्थक्रिया में समर्थ होता है, उसे सत् कहते हैं, उसका भाव ही सत्ता है; और तन्मात्र महत्तत्त्व है। जो भी कोई शब्दादि भोग लक्षण अथवा सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिलक्षण पुरुषार्थक्रिया है, वह सब महान् या बुद्धि तक ही समाप्त हो जाती है। इन अविशेषों से परे जो लिङ्गमात्र महत्तत्त्व है, उसमें ये छह अविशेष स्थित होकर विशेषों एवं धर्मलक्षणादि परिणामरूप वृद्धि की चरमसीमा का अनुभव करते हैं। प्रलयदशा या प्रतिलोमपरिणाम (प्रतिसर्ग दशा) के अवसर पर ये अविशेष उस सत्तामात्र महानात्मा में लीन होकर उसके साथ ही कहीं भी न लीन होने वाली अलिङ्ग या प्रकृति में समा जाते हैं। उस अलिङ्ग या प्रकृति के ही विशेषण हैं 'निःसत्तासत्तं' आदि। पुरुषार्थक्रियाक्षमता का नाम सत्ता है और तुच्छता है असत्ता; इन दोनों से जो निष्क्रान्त है—परे है, वह हुई निःसत्तासत्त। सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था पुरुषार्थ के उपयुक्त नहीं होती, अतः वह सत् नहीं; और गगन-कमिलिनी के सदृश वह तुच्छ स्वभाव भी नहीं है, अतः उसे निःसदसत् कहा गया। उसे शश-विषाण की तरह सर्वथा तुच्छ न समझ लिया जाय, अतः 'निरसत्' कहा गया है।

इसी प्रकार पश्यन्तीवाक् या प्रतिभा समस्त विकारों की प्रकृति है। यहीं तक समग्र अर्थक्रिया कारित्व है। [1]भावावबोध के कारण यह प्रबोधवृत्ति है। चैत्र, मैत्र आदि जो प्रविभाग हैं, उसका अनुकरण इसमें (वृत्ति में) रहता है। इससे परे स्वप्न वृत्तिक[2] पराप्रकृति है, जिसे परपश्यन्ती कहा गया है—'परं तु पश्यन्तीरूप-' मनपभ्रंशमसङ्कीर्णं लोकव्यवहारातीतम्।'

---

१. 'सर्गात् प्रलयं यावद् भावावबोधात् प्रबोधवृत्तिः।' —श्रीवृषभाचार्य।

२. जैसा कि आगे चलकर भगवान् भर्तृहरि कहेंगे—'परस्याः प्रकृतेः प्रथमं सत्तालक्षणमात्मानं महान्तं प्रत्यानुगुण्यं। सुषुप्तावस्थस्येव प्रबोधानुगुण्यं फलसत्तामात्रं निद्रायाः ॥' —द्वि० काण्ड, १५२ श्लो०, वृत्ति

श्रीवृषभ ने इसके सम्बन्ध में कहा है—'प्रलयात् सर्गं यावत् मात्रयाऽप्यदर्शनात् स्वप्नवृत्तिः।'

'शब्देष्वेवाश्रिता–' इस कारिका की वृत्ति के 'महत्यपि वाक्तत्त्वे कारणे' की पद्धति में इसी के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है—"योऽसौ 'महो देव' इत्युच्यते। अपिशब्दात् सर्वोपसंहाररूपे तस्मिन् पुरुषे भेदानुकारो नामतः शक्त्यात्मनावस्थानात्। किमुत विवृत्तभेदेन।'

यहाँ महान् वाक्तत्त्व रूप कारण को ही ऋग्वर्ण में 'महो देवो मर्त्यान् आविवेश' कहा गया है। 'महत्यपि' में पठित अपि शब्द से सर्वोपसंहाररूप उस पुरुष में भेद का अनुकरण नहीं रहता, यह कहा गया है, क्योंकि उसका शक्तिरूप से अवस्थान रहता है, फिर भला वहाँ विवर्तात्मक भेद कहाँ ?

पश्यन्ती प्रतिसंहृतक्रम वागात्मा है। प्रतिलोम परिणाम के अवसर पर समग्र रूपादिक विषय इन्द्रियों में शक्तिरूप से लीन हो जाते हैं, इन्द्रियाँ शक्तिरूप से बुद्धियों में और बुद्धियाँ प्रतिसंहृतक्रम वागात्मा या पश्यन्ती में और यह पश्यन्ती भी सर्वोपसंहाररूप महो देव में नित्यरूप से स्थित रहती है।

द्वितीय काण्ड की उन्नीसवीं कारिका की वृत्ति में यह इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

१. [1]यत्र तु प्रतिसंहृतक्रमयोगया बुद्धया निमित्तान्तरोपसम्प्राप्तमव्यक्ते शब्देऽध्यारोपितं हि शब्दानां क्रमरूपमिव साक्षात्क्रियते तत्प्रतिसंहृतक्रमम्।

२. [2]शब्दानां क्रमरूपोपसंहारविषयायां बुद्धावसम्प्रख्यातत्वमिव प्रतिपद्यमानायामारभ्यते शब्दातीतो व्यवहारः।'

'स्वभावचरणाभ्यास–' (का० २ श्लो० १५२) इस कारिका की प्रस्तुत वृत्ति से उपर्युक्त एक ही तत्त्व के द्विविध रूपों की तुलना की जा सकती है—

'एवं प्रतिभा बहुविधापि सर्वैवागमिकवाक्यनिबन्धना वाक्यप्रतिपाद्या व्याकरणात्ययेऽपि सर्वशक्तिप्रत्यस्तमये प्रत्यस्तमितनिविष्टशब्दशक्तिबीजकारणाऽन्तर्भूता निबद्धबीजा; वृत्तिकाले प्रथमं सूक्ष्मेणापि वर्त्मना विवर्तमात्रामनुभूय क्रमेण वर्णवाक्यनियताभिरवस्थाभिः सम्मूर्च्छन्ती प्राप्तबीजपरिपाकाकारा पुनर्व्यक्तेन रूपेण प्रत्यवभासते।'

इस प्रकार बहुविध प्रतिभा सम्पूर्ण आगमिक वाक्यों की कारण है तथा वाक्यों से प्रतिपादित होती है। व्याकरण के नष्ट हो जाने पर भी समग्र शक्तियों के अवसान

---

१. जहाँ प्रतिसंहृतक्रम से युक्त बुद्धि द्वारा अव्यक्त शब्द में निमित्तान्तर से प्राप्त शब्दों का क्रमरूप-सा अध्यारोपित प्रतीत होता है, वह प्रतिसंहृतक्रम शब्दरूप है।

२. जब बुद्धि में शब्दों के क्रमरूप का सर्वथा उपसंहार हो जाता है, और वह बुद्धि असम्प्रख्यात या अनिर्ज्ञात-सी हो जाती है, तब उसे शब्दातीत अवस्था कहते हैं। वस्तुतः यही अवस्था प्रत्यस्तमितसर्वविकारोल्लेखमात्रात्मक परा प्रकृति है।

पर बीजरूप महाकारण में ('एकस्य सर्वबीजस्य–') शब्दशक्तियाँ अस्त होकर प्रविष्ट हो जाती हैं। उसी महाकारण में अनेक रूपों वाली प्रतिभा अन्तर्भूत हो जाती है। उस प्रलयदशा में वह महाकारण रूप बीज निबद्ध रहता है; उसमें अंकुरोत्पादन नहीं होता। पुनः सृष्टि के अवसर पर (वृत्तिकाले) पहले सूक्ष्म मार्ग से (पश्यन्ती-मध्यमा रूप से) परिणाम मात्रा का अनुभव करके क्रमशः वर्ण, पद और वाक्यात्मक नियत अवस्थाओं से अभिवृद्ध होती हुई, बीज के परिपक्व आकार– महावाक्य ग्रन्थादि रूप में वह बारम्बार व्यक्तरूपतया भासित होती है।

वृत्तिः –आह च—

प्राणवृत्तिमतिक्रान्ते वाचस्तत्त्वे व्यवस्थितः।
क्रमसंहारयोगेन संहृत्यात्मानमात्मनि ॥

विवरण—बुद्धिस्थ शब्दात्मा में भी क्रम की प्रतीति होती है, अतः क्रमसंहारयोग से बुद्धि (आत्मनि) में शब्दात्मा का उपसंहार करके व्यक्ति प्राणवृत्ति से अतिक्रान्त शब्दतत्त्व में व्यवस्थित होता है।

श्रीवृषभाचार्य इस उद्धरण की प्रस्तुत व्याख्या करते हैं—

'बुद्धौ प्राणे च वाचोऽवस्थानमित्युक्तम्। यच्च प्राणवृत्तिमतिक्रान्तं तस्य दूरीभूतैव करणवृत्तिरिति भेदरूपस्यासत्यतावबोधात् प्राणवृत्तिमतिक्रान्तमिति बुद्धिस्थ एव शब्दो (शब्दे) व्यवस्थितः। तत्रापि शब्दात्मा प्रत्यवभासमानो गृहीतक्रम इवाभासते इत्यवच्छिनत्ति क्रमसंहारेति। आत्मनि। बुद्धौ।

बुद्धि और प्राण में वाणी की स्थिति रहती है, ऐसा 'तस्य प्राणे च या शक्तिः या च बुद्धौ व्यवस्थिता' (१०८) इस विगत श्लोक में कहा गया है। जो प्राणवृत्ति से अतिक्रान्त है–परे है, उस शब्द की करणों में स्थिति दूर की बात है। इस प्रकार भेदरूप असत्य है, ऐसा ज्ञान होने पर बुद्धिस्थ शब्द में ही वह व्यवस्थित होता है। यहाँ 'शब्दः' और 'शब्दे' ऐसे दो प्रकार के पाठ उपलब्ध होते हैं। मुझे 'शब्दे' ऐसा पाठ उचित लगता है, क्योंकि 'वाचस्तत्त्वे' की यह व्याख्या है—'बुद्धिस्थे एव शब्दे'। वहाँ भी शब्दात्मा क्रम को ग्रहण करता हुआ-सा अवभासित होता है, अतः क्रम-संहारयोग की बात कही गई है। 'आत्मनि' का अर्थ है—बुद्धि में।

वृत्तिः—

वाचः संस्कारमाधाय वाचं ज्ञाने निवेश्य च।
विभज्य बन्धनान्यस्याः कृत्वा तां छिन्नबन्धनाम् ॥
ज्योतिरान्तरमासाद्य च्छिन्नग्रन्थिपरिग्रहः।
परेण ज्योतिषैकत्वं छित्त्वा ग्रन्थीन् प्रपद्यते ॥ १२२ ॥

विवरण—वाणी का संस्कार करके अर्थात् अपभ्रंशों के परिहार द्वारा शुद्ध बना कर। श्रीवृषभाचार्य कहते हैं—'सति हि संस्कारेऽपभ्रंशपरिहारेण साधुप्रयोगाभ्यासेन धर्माभिव्यक्त्या तत्पूर्वो योगो भवति।'

संस्कार करने पर ही असाधुशब्दों का परिहार होता है; और तब साधुशब्दों के प्रयोग के अभ्यास से धर्म की अभिव्यक्ति होती है; अनन्तर तत्पूर्वयोग घटित होता है। यहाँ तत्पूर्वयोग से शब्दपूर्वयोग का ही ग्रहण श्रीवृषभ करते हैं, ऐसा प्रतीत होता है; क्योंकि वृत्ति में कहा गया है—'तदभ्यासाच्च शब्दपूर्वकं योगमधिगम्य'।

वैखरी वाक् का ताल्वादि करणों से प्राण में और प्राण से बुद्धि में तथा बुद्धि से ज्ञान में सन्निवेष करना चाहिए। यही क्रमसंहारयोग है। इस प्रकार प्रस्तुत वाक् के तत्तत् स्थानगत भेदों के अविद्याजन्य अहङ्कारादि बन्धनों को काटकर उसे बन्धन रहित बनाना चाहिए। विकाररूप परिग्रहों के विच्छेद से व्यक्ति आन्तर् ज्योति–ज्ञानविशेष या प्रतिभा अथवा पश्यन्ती वाक् को प्राप्त करता है। तदनन्तर परज्योति या शब्दब्रह्म के साथ एकत्व लाभ करता है।

'वायोरणूनां ज्ञानस्य–' इस कारिका में ज्ञान को स्थूल शब्द का कारण बतलाया गया है। इसकी वृत्ति में 'अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मे वागात्मनि (सूक्ष्मवागात्मना) स्थितः।' इस उद्धृत सन्दर्भ से 'आन्तर् ज्ञाता', 'ज्ञान' या 'आन्तर् ज्योति' एकार्थक हैं, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। महाभाष्यकार ने भी कहा है—'ज्योतिर्वज्ज्ञानानि भवन्ति।' श्रीवृषभाचार्य ने भी कहा है—'ज्ञानात्मकेऽपि तस्मिन् गृहीतृव्यवहारोऽस्ति। यथा शब्दतत्त्वमेवेदं वाङ्मनसाख्यप्रविभागम् इति। तेन ज्ञातर्यपि वाग्रूपानुषङ्गः।'

ज्ञानात्मक सूक्ष्म शब्द में गृहीता या प्रमाता का व्यवहार होता है। जैसा कि 'भेदानुकारो ज्ञानस्य–' (१।८६) की वृत्ति में कहा है—'तेन चान्यभेदग्रहणोपप्लुतं शब्दतत्त्वमेवेदं वाङ्मनसाख्यमविभागं (प्रविभागम्) अन्यथा प्रतीयत इति।' इसलिए अन्य भेद अर्थात् व्यञ्जक ध्वनिभेद और विषयभेद से उपद्रुत होकर यह शब्दतत्त्व ही वाक् और मन रूप में विभक्त होकर अन्यथा प्रतीत होता है। श्रीवृषभ ने इस पर कहा है—

'शब्दतत्त्वमिति सर्वबीजां बुद्धिमाह। वाङ्मनस इति। तदेव शब्दत्वाद् ध्वनिनोपप्लुतं वागित्युच्यते। विषयोपपत्तितः (मन इति ?)।' पूना संस्करण में 'विषयोपपत्तितः' इतना ही पाठ है और उसे अशुद्ध माना गया है। यदि 'मनः इति' ऐसा पाठ उसके आगे स्वीकार किया जाय तो अर्थ होगा—'विषयहेतुतः' अर्थात् विषय के कारण या विषयोपराग के कारण शब्दतत्त्व को ही मन कहते हैं, जैसे ध्वनि से उपप्लुत होने के कारण शब्दतत्त्व वाक् कहलाता है। अथवा 'विषयोपरक्तितः' या 'विषयोत्पाततः' अथवा 'विषयोपप्लुतितः' इन पाठों की कल्पना की जा सकती है। 'विषयोपपत्तितः' यही पाठ मुझे शुद्ध प्रतीत होता है, किन्तु उसके आगे का पाठ त्रुटित है, जिसे मैंने जोड़ा है। 'विषयोपपत्तितः' का अर्थ 'विषय की प्राप्ति से' यह भी किया जा सकता है॥ १२२॥

वेदमूलक होने से आगमों का प्रामाण्य है; इस बात का प्रस्तुत कारिका में निरूपण करते हैं। श्रीवृषभाचार्य की अवतरणिका अधोलिखित है—'ननु च वेदादेषां साधूनां

धर्मसाधनत्वमपवर्गहेतुता चागमप्रामाण्येन स्थाप्यते, आगमान्तराण्यपि साङ्ख्यादीनि सन्ति, तेष्वेतत्सिद्धमित्याह—'न जातु' इति ।

न जात्वकर्तृकं कश्चिदागमं प्रतिपद्यते ।
बीजं सर्वागमापाये त्रय्येवातो व्यवस्थिता ।। १२३ ।।

जातु कश्चिद् आगमम् अकर्तृकं न प्रतिपद्यते; अतः सर्वागमापाये व्यवस्थिता त्रयी एवं बीजम् ।

कोई सांख्यादिवादी कभी भी अपने आगम को अपौरुषेय नहीं मानता । अतः इन आगमों के उच्छिन्न हो जाने पर नित्य त्रयी (वेद) ही इनके बीज रूप में वर्तमान रहती है ।

वृत्तिः—सर्वप्रवादेष्वागमवाक्यानां प्रणेतृपरिग्रहेण पौरुषेयत्वमभ्युपगम्यते। वेदवाक्यानि तु चैतन्यवदपौरुषेयाणि । तान्यागमान्तराणां प्रणेतृषु विच्छिन्नेष्वागमान्तरानुसन्धाने बीजवदनुतिष्ठन्ते।। १२३ ।।

विवरण—समस्त प्रवादों या दर्शनों में आगमवाक्यों को कपिल आदि के द्वारा निर्मित होने से पौरुषेय माना जाता है । वेदवाक्य चैतन्य (आत्मा) के समान अविच्छिन्न होने से अपौरुषेय हैं । भिन्न-भिन्न आगमों के प्रणेताओं के नष्ट हो जाने पर वे वेदवाक्य आगमान्तर के अन्वेषण में बीज के सदृश कार्य करते हैं ।

श्रीवृषभ का कथन है कि पुरुष सापराध (अनृतभाषणादि द्वारा) होते हैं; अतः उनकी रचना स्वतन्त्ररूप से प्रामाणिक नहीं । वेद तो चैतन्यवत् अविच्छिन्न होने से अपौरुषेय हैं, अतः प्रामाणिक हैं । यदि वेद नित्य न होते तो विभिन्न आगमों के कर्ताओं के विच्छिन्न हो जाने पर कापिल, काणाद आदि दर्शन कहाँ से प्रवृत्त होते। जैसा कि कहा है—

'तस्या साङ्गांश्चतुरो वेदानावर्तयतः क्रमेणेदं ब्राह्मणमाजगाम[1] ।'

जब वह अङ्गों समेत चारो वेदों की आवृत्ति (अभ्यास) कर रहा था तो उसके निकट क्रमशः यह ब्राह्मण (ग्रन्थ) या ब्रह्म—वेद का व्याख्यान आविर्भूत हुआ ।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वेदाभ्यास से ही आगम का उद्भव होता है ।

इसके अनन्तर श्रीवृषभ ने एक और उद्धरण प्रस्तुत किया है, जो छन्दोग्य उपनिषद (८।१२।१) का है । यथा—

'न ह वै अशरीरस्यात्मनोऽपहतिरस्ति ।
अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' ।।

यह मूल पाठ उक्त पूर्वार्द्ध पाठ से भिन्न है । वहाँ कहा गया है—

'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति ।'

---

१. यह सन्दर्भ कहाँ का है, यह गवेषणीय है ।

अर्थात् प्रजापति ने इन्द्र से कहा—सशरीर आत्मा के प्रिय और अप्रिय का नाश नहीं होता और अशरीर होने पर इसे प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं कर सकते।

इस उद्धरण से श्रीवृषभाचार्य का आशय यह है कि अशरीरी आत्मा या चैतन्य का कभी नाश नहीं होता। इसी प्रकार वेदवाक्यों का कभी नाश नहीं होता; आगमों के नष्ट हो जाने पर भी वे बीज या करण रूप से वेद में स्थित रहते हैं ॥ १२३ ॥

आगमोक्त कर्मों (धर्मों) का उच्छेद नहीं होता, इसे प्रस्तुत कारिका द्वारा स्पष्ट करते हैं—

अस्तं यातेषु वादेषु कर्तृष्वन्येष्वसत्स्वपि ।
श्रुतिस्मृत्युदितं कर्म लोको न व्यतिवर्तते ॥ १२४ ॥

वादेषु अस्तं यातेषु अन्येषु कर्तृषु अपि असत्सु, लोकः श्रुतिस्मृत्युदितं कर्म न व्यतिवर्तते।

आगमिक मतों के अस्त हो जाने पर तथा अन्य आगमकर्ताओं के अविद्यमान होने पर श्रुति और स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित कर्म (धर्म) का लोग (शिष्टजन) अतिक्रमण नहीं करते। अनिवद्ध आगमिक मतों की सत्ता से लोक का कार्य चलता रहता है।

वृत्ति—इह प्रणेतृवदागमानामपि प्रवादेषु विच्छेदोऽभ्युपगम्यते। तेषु प्रत्यस्तमितेषु यावदन्ये प्राणेतारो नोत्पद्यन्ते, आगमान्तराणि च न प्रतायन्ते, तत्राप्यन्तराले श्रुतिविहितानि कर्माणि स्मृतिनिबन्धनांश्च भक्ष्याभक्ष्यादीन्नियमान्नातिकामन्ति शिष्टाः ॥ १२४ ॥

विवरण—श्रीवृषभ ने इस कारिका की अवतरणिका में कहा है—'तस्मादागमप्रणेतारो विच्छिद्यन्ते, नागम इत्याह—'अस्तं यातेषु–' इति। यदा ते कृतकत्वाद्विच्छिद्यन्ते प्रणेतृवत्।'

अतः आगमों के प्रणेता तो नष्ट हो जाते हैं, किन्तु आगम नहीं; इस शङ्का पर कारिकाकार का कथन है—'अस्तं यातेषु' अर्थात् कर्तृजन्य होने से आगमों का भी विच्छेद हो जाता है, जैसे प्रणेताओं का। आगमों के विनाश से तात्पर्य है कि उनका निबद्ध (लिखित) रूप नष्ट हो जाता है। यही बात वृत्ति से स्पष्ट की गई है—

यहाँ भिन्न-भिन्न दर्शनों में प्रणेताओं के सदृश आगमों का भी विच्छेद स्वीकृत हुआ है। 'विच्छेदोऽभ्युगम्यते' यहाँ कुछ लोग 'नाभ्युपगम्यते' ऐसा पाठ मानते हैं; वह चौखम्बा संस्करण की लघ्वीवृत्तिगत 'विच्छेदो नावगम्यते' इसके आधार पर स्वीकृत जान पड़ता है, जो उचित नहीं।

श्रीवृषभ भी ऐसा ही स्वीकार करते हैं—'कृतकत्वेनावश्यम्भाविनमाह 'अभ्युपगम्यते' इति। अर्थात् कृतक होने से उनका निश्चित रूप से विच्छेद माना जाता है।

उन आगमों के अस्त हो जाने पर जब तक प्रणेता उत्पन्न नहीं होते और आगमान्तरों का निर्माण नहीं होता, उस बीच में भी श्रुति-विहित यज्ञादि कर्म तथा स्मृतियों में निबद्ध 'यह भक्ष्य है' 'यह अभक्ष्य है' इत्यादि नियमों का शिष्ट लोग अतिक्रमण नहीं करते।

श्रीवृषभाचार्य कहते हैं—'श्रुतिविहितानि इति। यज्ञानातिष्ठन्ति। स्मृतिनिबन्धनांश्च इति। शाब्दमशब्दं वा स्मरणमङ्गीकृत्य। शिष्टा इति। तेऽपि कपिलादयः तत एव तेषु कर्मसु प्रवृत्तवन्तः।' —पद्धति ॥ १२४ ॥

उन आगमप्रणेता कपिलादिकों द्वारा भी वेदाख्य आगम की स्वीकृति अनिवार्य है, इस बात को अग्रिम कारिका द्वारा पुष्ट करते हैं—

ज्ञाने स्वाभाविके नार्थः शास्त्रैः कश्चन विद्यते।
धर्मो ज्ञानस्य हेतुश्चेत् तस्याम्नायो निबन्धनम् ॥१२५॥

स्वाभाविके ज्ञाने शास्त्रैः कश्चन अर्थः न विद्यते। चेत् धर्मः ज्ञानस्य हेतुः, तस्य निबन्धनम् आम्नायः।

ज्ञान के स्वाभाविक या सांसिद्धिक मानने पर किसी को शास्त्रों से कोई प्रयोजन नहीं रहेगा। और यदि कपिलादिकों के ज्ञान का हेतु धर्म माना जाय तो उस धर्म का कारण आम्नाय या वेद को मानना होगा।

वृत्तिः—अनुपदेशं हि कस्यचिज्ज्ञानमभ्युपगच्छतामहितप्रतिषेधार्थानां हितप्रतिपादनार्थानां चोपदेशशास्त्राणां वैयर्थ्यं प्रसज्यते। यदि हि धर्मविशेषात् कस्यचिदेव पुरुषस्योपदेशमन्तरेण ज्ञानमुत्पद्यते, केचित्तु पुरुषाः शास्त्रेण प्रतिपादयितव्याः, तदा तस्य पुरुषविशेषहेतोर्धर्मस्य व्यवस्थितेन निबन्धनेन भवितव्यम्। विच्छिद्यन्ते चान्यानि निबन्धनानि। तस्मादाम्नायनिबन्धनं धर्ममासेवमानाः पृथक् प्रवादानां प्रणेतारस्तां तां बहुविकल्पां सिद्धिं लभन्ते ॥ १२५ ॥

विवरण—जो लोग ऐसा मानते हैं कि किसी पुरुष को उपदेश के बिना स्वाभाविक ज्ञान होता है, तो उस स्थिति में अहित का प्रतिषेध और हित का प्रतिपादन ही जिनका प्रयोजन है, ऐसे उपदेश शास्त्रों की व्यर्थता प्रसक्त होती है। यदि यह कहा जाय कि धर्म-विशेष के कारण उपदेश के बिना भी किसी विशिष्ट पुरुष को ही ज्ञान होता है और सामान्य लोगों को ज्ञान द्वारा, तो उस पुरुष-विशेष के ज्ञानहेतुक धर्म का भी कोई नित्य कारण होना चाहिए। अन्य वैशेषिकादि निबन्धन (कारण) तो विच्छिन्न हो जाने से अनित्य हैं। इसलिए आम्नाय या वेद ही जिसका कारण है, ऐसे धर्म-विशेष का अवलम्बन लेने वाले भिन्न-भिन्न आगमों के प्रणेताजन अनेक प्रकार की भिन्न-भिन्न ज्ञान-सरणियों को प्राप्त करते हैं। 'ज्ञाने स्वाभाविके' पर श्रीवृषभाचार्य—'ते हि आगमप्रणयनादेवात्मनो ज्ञानातिशयमङ्गीकुर्वन्ति। तच्च

ज्ञानं तेषां यदि स्वाभाविकं तदन्येषामितरथैवेत्यनर्थकं शास्त्रप्रणयनम् ।' आगमों की रचना के कारण ही अपने में ज्ञानातिशय को स्वीकार करते हैं। वह ज्ञान यदि उनमें स्वाभाविक है तो दूसरे लोगों में भी वैसा ही होगा; इस प्रकार शास्त्रनिर्माण अनर्थक हो जायेगा।

'धर्मो ज्ञानस्य इति। तत्रैतत् स्यात्—येषां धर्मानुग्रहः तेषामेव ज्ञानातिशयः। ते चागमानां प्रणेतारः, न तु गृहीतकर्माणः मन्दाववोधाश्चेति। तस्याम्नाय इति। स एव धर्मस्तेषां वेदमन्तरेण कुतः।' —पद्धति।

धर्म से अनुगृहीत लोगों में ही ज्ञानातिशय देखा जाता है। वे ही आगमों के प्रणेता हैं, कर्मासक्त मन्दबुद्धि लोग नहीं। वह धर्म भी उन्हें वेद के बिना कैसे प्राप्त हुआ ॥ १५५ ॥

वेदागम का प्रामाण्य पूर्वोक्त रूप से प्रतिपादित हुआ। अब यहाँ मीमांसादर्शन द्वारा स्थापित तर्क के प्रामाण्य का निरूपण करते हैं—

वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्।
रूपमात्राद्धि वाक्यार्थः केवलान्नावतिष्ठते ॥ १२६ ॥

अपश्यतां वेदशास्त्राविरोधी तर्कः च चक्षुः, हि केवलात् रूपमात्राद् वाक्यार्थः न अवतिष्ठते।

श्रुतिमात्र से वेदार्थ को जानने (देखने) में असमर्थ अर्वाक्दर्शी लोगों के लिए वेद और शास्त्र से अविरुद्ध तर्क, अर्थ का परिच्छेदक होने से चक्षु कहा जाता है। केवल रूप-स्वरूप या शब्द-स्वरूप मात्र से वेद-वाक्यार्थ का निर्णय नहीं हो सकता।

वृत्तिः—आगमवाक्यानामेव हि शब्दार्थप्रविभागव्यवस्था तर्केण क्रियते। स चायमर्वाग्दर्शनानामनुग्रहे वर्तते इति पूर्वैर्न्यायविद्यास्वित्थम्भूतस्तर्क आश्रितः। तत्र यावाननुगम्यमानस्तर्कः स्वशास्त्रं न बाधते, तावाननुगन्तव्यः।

विवरण—तर्क के द्वारा आगम या वेद-वाक्यों के ही शब्द और अर्थ के विभाग की व्यवस्था की जाती है। तर्क से तात्पर्य है—मीमांसादर्शन। श्रीवृषभ कहते हैं—'तीर्थान्तरप्रकल्पिततर्कं व्युदस्य वेदार्थव्यवस्थापकस्य मीमांसास्थापितस्य श्रुतिलिङ्गादेः प्रामाण्यमुद्भावयति।'

गौतमीय शास्त्र द्वारा कल्पित तर्क को न मानकर वेदार्थ की व्यवस्था करनेवाले मीमांसादर्शन में स्थापित श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या ('श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्'—जैमिनिसूत्र ३।३।१४) के प्रामाण्य की 'वेदशास्त्राविरोधी' इस पद के द्वारा उद्भावना करते हैं।

प्रस्तुत कारिका का मूल मनुस्मृति के इस श्लोक में देखा जा सकता है—

'आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ।। १२।१०६ ।।

'शब्दार्थप्रविभागव्यवस्था' से तात्पर्य है—एक ही शब्द प्रकरणादि के आधार पर भिन्न अर्थ देता हैं । वहाँ अर्थ तो परिवर्तित होता ही है, शब्द को भी भिन्न माना जाता है । जैसा कि वाक्यपदीय काण्ड २, कारिका २६१ में कहा गया है—

'अन्या संस्कारसावित्री कर्मण्यन्या प्रयुज्यते ।
अन्या जपप्रवन्धेपु सा त्वेकैव प्रतीयते ।।'

उपनयन-संस्कार से सम्बद्ध गायत्रीमन्त्र भिन्न है । यागादि कर्मों में जिस सावित्री का प्रयोग किया जाता है, वह भिन्न है और जप में प्रयुक्त सविता-देवताक गायत्रीमन्त्र भिन्न है, भले ही वह एक आनुपूर्वी वाला प्रतीत होता हो ।

और वही यह तर्क प्रतिपादित अर्थ को भी विवेचना करने में असमर्थ अर्वाक्-दर्शी लोगों को अनुगृहीत करता है; इसलिए जैमिनि आदि प्राक्तन मुनियों ने न्याय-विद्या या मीमांसादिक में इस प्रकार के तर्क का आश्रय लिया है । अनुमानगम्य तर्क जहाँ तक अपने शास्त्र को वाधित नहीं करता वहीं तक ग्राह्य है ।

'इत्थम्भूतः' पर श्रीवृषभाचार्य ने कहा है—'शब्दोपात्तार्थाविपरीतप्रतिपत्तिहेतुः' । अर्थात् शब्द द्वारा लभ्य अर्थ के अविरुद्ध अर्थ की प्रतिपत्ति का कारण ।

वृत्तिः—तर्कातीतमपि बहुश्रद्धानुगम्यं सर्वेषु शास्त्रेषु दृश्यते । अथ तर्काननुगमेन यः केवलमागमं प्रमाणं करोति तस्य किं प्रयोजनम् ? आगमवाक्यानां सम्यक् प्रतिपत्तिः प्रयोजनम् । वाक्यानां हि तुल्यरूपत्वेऽपि सति निमित्तान्तराच्छक्तिर्भिद्यते । तत्र यो रूपादेव केवलाद्वाक्यार्थं प्रतिपद्यते प्रकरणसामर्थ्यादि नापेक्षते, स विवक्षिताविवक्षितयोः सम्मोहमापद्यते ।।१२६।।

विवरण—समस्त शास्त्रों में तर्क से परे केवल श्रद्धा द्वारा ज्ञेय बहुत-सी वस्तुएँ देखी जाती हैं । अब यदि तर्क का अनुसरण न करके केवल आगम को जो प्रमाण मानता है, उसके लिए उस तर्क का क्या प्रयोजन रहा ? अर्थात् तर्क अनर्थक है । नहीं, आगमवाक्यों का सुष्ठुतर प्रतिपादन ही प्रयोजन है । वाक्यों के तुल्य रूप होने-पर भी अर्थात् स्वरूपतः अभिन्न होने पर भी अर्थ और प्रकरण आदि निमित्तान्तर से उसकी शक्ति भिन्न हो जाती है । तात्पर्य यह है कि वही शब्दरूप अन्यत्र प्रयुक्त होकर भिन्न अर्थवाला निर्णीत होता है ।

'भिद्यते इति । तदेव शब्दरूपमन्यत्र प्रयुज्यमानं भिन्नार्थमवसीयते' । —पद्धति ।

वहाँ जो व्यक्ति शब्दस्वरूपमात्र से ही केवल वाक्यार्थ को जानता है और प्रकरण तथा सामर्थ्य आदि की अपेक्षा नहीं करता, वह यह नहीं जान पाता कि यहाँ क्या विवक्षित है और क्या अविवक्षित ।। १२६ ।।

उक्त तर्क के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए अग्रिम कारिका प्रस्तुत करते हैं—

सतोऽविवक्षा पारार्थ्यं व्यक्तिरर्थस्य लैङ्गिकी ।
इति न्यायो बहुविधस्तर्केण प्रविभज्यते ॥ १२७ ॥

सतः अविवक्षा, पारार्थ्यम्, अर्थस्य लैङ्गिकी व्यक्तिः, इति बहुविधः न्यायः तर्केण प्रविभज्यते ।

शब्द के द्वारा उपलब्ध–विद्यमान भी अर्थ की अविवक्षा शब्द के द्वारा उपात्त अर्थ की उपलक्षणता–उपात्त अर्थ से अन्य अर्थ का कथन, विवक्षित अर्थ की लैङ्गिक–स्तुतिरूप लिङ्ग से जन्य अभिव्यक्ति—इस तरह अनेकविध न्याय या निर्णय, तर्क या मीमांसा के द्वारा विभक्त किया जाता है ।

वृत्तिः—'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' 'तस्यापत्यम्' 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् ।' स्त्रियं 'ये चोपजीवन्ति प्राप्तास्ते मृतलक्षणम्–' इति लिङ्गसङ्ख्याकालानामविवक्षा । क्वचिच्च विवक्षेति लक्षणव्यवस्थापनं तर्काधीनम् ।

तथा च—'नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्–' इति कालोपलक्षणार्थं नक्षत्रदर्शनम् । तत्प्रधानस्यान्यथासिद्धौ परार्थत्वाद् दृश्यमानेषु ज्योतिःषु कालविशेषपरिच्छेदे सति तत्क्रियते । काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्युपघातप्रतिषेधस्य चिकीर्षितत्वात् काकेष्वसत्स्वपि श्वादिभ्यो रक्ष्यते । पात्राणि सम्मृज्यन्तामिति भुजिक्रियाङ्गोपसंहारपरत्वात् पात्राभावेऽप्यङ्गान्तराण्युपसंह्रियन्ते ।

लैङ्गिकी खल्वपि व्यक्तिः । 'अक्ताः शर्करा उपदधाति' इति सर्वाञ्जनद्रव्यप्रसङ्गे 'तेजो वै घृतम्' इति लिङ्गाद्विशेषप्रतिपत्तिरित्येवम्प्रकारो न्यायस्तर्केण प्रविभज्य लक्षणं व्यवस्थाप्यते ॥ १२७ ॥

विवरण—'सतः अविवक्षा' इसके उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

१. (क) 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (पा० १।४।४९) इस सूत्रगत 'ईप्सिततमम्' में शब्द के द्वारा प्रतिपादित भी नपुंसकलिङ्ग की विवक्षा नहीं है, अतः स्त्रीलिङ्ग और पुंल्लिङ्ग की भी कर्मता देखी जाती है । जैसे 'पटीं करोति, कटं करोति' आदि । लिङ्ग सर्वनाम होने से पद में नपुंसकलिङ्ग का अनिवार्य उपादान हुआ है ।

(ख) 'कर्तुः' और 'ईप्सिततमम्' में उपात्त एकत्व संख्या भी अविवक्षित है । अतः एक कर्ता, दो कर्ता तथा अनेक कर्ताओं के अभीष्टतम एक पदार्थ, दो पदार्थ तथा अनेक पदार्थों में कर्मत्व होता है । जैसे—देवदत्त और यज्ञदत्त अथवा यज्ञदत्तादिक दो घड़ों को और अनेक घड़ों को बनाते हैं—'देवदत्तयज्ञदत्तौ यज्ञदत्तादयश्च घटौ, घटान् कुरुतः कुर्वन्ति' इति ।

(ग) ईप्सित शब्द में भी यदि इच्छा का अर्थ मत्यर्थ है तो 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' (पा० ३।२।१८८) इस सूत्र से विहित वर्तमान में 'क्त' प्रत्यय की भी अवि-

विक्षा है। इसलिए जो प्राप्त करने के लिए इष्यमाण है और इष्ट था, उस घट को बनायेगा अथवा बनाया है, वहाँ भी कर्मसंज्ञा होगी। यदि 'ईप्सित' में भूतार्थ में 'क्त' प्रत्यय हो तो मत्यर्थ के मननात्मक होने से उसकी अविवक्षा में वर्तमान और भविष्यत् में भी कर्मसंज्ञा सिद्ध है।

२. 'तस्यापत्यम्' इस सूत्र के 'तस्य' पद में पुंस्त्व का निर्देश तथा 'अपत्यम्' में नपुंसकलिङ्ग का निर्देश तथा दोनों पदों से एकत्व का निर्देश किया गया है, किन्तु यहाँ लिङ्ग और संख्या की अविवक्षा है।

श्रीवृषभ ने टीका में महाभाष्य को उद्धृत किया है—'पुंल्लिङ्गेन चायं निर्देशः एकत्वेन च'। वस्तुतः यह महाभाष्य के प्रस्तुत सन्दर्भ का अनुवाद है—

'पुंल्लिङ्गेनायं निर्देशः क्रियते, एकवचनान्तेन च। तेन पुंल्लिङ्गादेवोत्पत्तिः स्यात्, एकवचनान्ताच्च। स्त्रीनपुंसकलिङ्गाद्, द्विवचनबहुवचनान्ताच्चेदं न स्यात्।' इस पर वार्तिक है—'तद्धितार्थनिर्देशे लिङ्गवचनमप्रमाणं तस्याविवक्षितत्वात्।'

३. 'ग्रहं सम्मार्ष्टि'। सोम रखने के पात्र विशेष की संज्ञा ग्रह है। ग्रह में वर्तमान भी एकत्व की अविवक्षा है, अतः अनेक ग्रहों का मार्जन किया जाता है।

४. 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' (पा० १।४।३२) यहाँ लिङ्ग, संख्या और काल तीनों की अविवक्षा है। 'यं' इस पद में लिङ्ग और संख्या की अविवक्षा है तथा अभिप्रैति पद में वर्तमानकाल की अविवक्षा है। इसलिए 'यद्' 'यां' वा अभि-प्रैष्यति अभिप्रागाद्वा' यहाँ सर्वत्र सम्प्रदान संज्ञा सिद्ध है। 'यज्ञदत्तो विप्राय वस्त्रं गां वा दास्यति, अदाद्वा।'

५. 'उपजीवन्ति' में काल की अविवक्षा है—'ये उपजीविष्यन्ति ये चोपाजीविषुः तेऽपि मृतलक्षणं प्राप्ताः।'

कहीं शब्दोपात्त अर्थ की विवक्षा होती है। जैसे 'गर्भाष्टमे ब्राह्मणमुपनयीत'। यहाँ लिङ्ग की विवक्षा है, इसलिए स्त्री और नपुंसक का उपनयन नहीं होता।

'पशुना यजेत' 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' (पा० ४।१।१) यहाँ एकत्व संख्या की विवक्षा है, अतः द्विवचन और बहुवचन में कार्य नहीं होता। 'तेन दीव्यति खनति जयति जितम्' (पा० ४।४।२) यहाँ भूत और वर्तमान काल की विवक्षा है। इस प्रकार लक्षण का व्यवस्थापन तर्क के अधीन है।

पारार्थ्य का उदाहरण—नक्षत्र को देखकर वाग्विसर्जन करे। यहाँ नक्षत्र का दर्शन काल का उपलक्षण है। जिस समय नक्षत्र उदित हो तभी मौनव्रत तोड़े। नक्षत्र-दर्शन, जो शब्द के द्वारा कहा गया है, वह स्वतः कर्माङ्ग नहीं है किन्तु परार्थ होने से अप्रधान है। जब मेघ के द्वारा आकाश आच्छन्न होता है, तब अन्य उपाय से काल का ज्ञान होता है और तभी वाग्विसर्जन किया जाता है।

यहाँ काल प्रधान है और वह अन्य उपाय से सिद्ध होता है। दृश्यमान ज्योतियाँ या नक्षत्र परार्थ या काल-विशेष के परिच्छेदक हैं। उस काल-विशेष में ही वह वाग्विसर्ग किया जाता है।

'कौवों से दही की रक्षा करो' यहाँ दही की हानि का प्रतिषेध करना इष्ट है, इसलिए कौवों के न रहने पर भी कुत्ता इत्यादिकों से उसकी रक्षा की जाती है। अतः काक उपघातक (हानिकारक) के उपलक्षण मात्र हैं।

'पात्रों को साफ करो' यहाँ पात्र भोजन क्रिया के अङ्ग या साधनभूत पीठादि के उपसंहार के उपलक्षण हैं, अतः पात्राभाव में भी पीठादि साधनान्तर धो-माँजकर रखे जाते हैं।

श्रीवृषभ अविवक्षा और पारार्थ्य में भेदकाल-निरूपण करते हुए कहते हैं— 'अथाविवक्षातः पारार्थ्यस्य को विशेषः। अविवक्षायां शब्दोपात्तस्य नान्तरीयकमुपादानमिति न तस्योपयोगः। पारार्थ्ये त्वन्योपलक्षणार्थतेति।'

अविवक्षा में शब्दोपात्त अर्थ का अनिवार्य ग्रहण किया जाता है, किन्तु उसका उपयोग नहीं होता है। और पारार्थ्य में अन्य अर्थ की उपलक्षणतार्थता रहती है तथा शब्दोपात्त अर्थ का भी उपयोग होता है।

लिङ्ग के बल से भी विवक्षित अर्थ का भान होता है। जैसे—'मिली हुई शर्करा रखता है।' यहाँ शकर में मिलाने के लिए समस्त स्नेहन पदार्थों के ग्रहण का प्रसङ्ग है; किन्तु 'तेज ही घृत है' इस घृतस्तुति रूप लिङ्ग (संकेत) के बल से घृतरूप अञ्जन विशेष की प्रतिपत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि 'तेजो वै घृतम्' यह वाक्य, घृत का तेज के साथ लगाव है, इस बात का निर्देश करता है। अतः सान्निध्यरूप लिङ्ग से घृत ही तेज के अनुग्रह के लिए गृहीत होता है।

इस प्रकार के न्याय (निर्णय या सिद्धान्त) का तर्क के द्वारा ही प्रविभाग करके समान एवं असमान जातीय भेद (लक्षण) की व्यवस्था की जाती है॥ १२७॥

अर्थ और प्रकरण आदि का विभाग शब्दशक्ति से ही होता है। लोग शब्द-सामर्थ्य की उपेक्षा करके उसकी कल्पना नहीं कर सकते—इस बात का निरूपण करते हैं—

शब्दानामेव सा शक्तिः तर्को यः पुरुषाश्रयः।
शब्दाननुगतो न्यायोऽनागमेष्वनिबन्धनः॥ १२८॥

पुरुषाश्रयः यः तर्कः सा शब्दानाम् एव शक्तिः; अनागमेषु शब्दाननुगतः न्यायः अनिबन्धनः।

पुरुषनिष्ठ वाक्यभेदादिज्ञानात्मक जो तर्क है, वह शब्दों का ही सामर्थ्य है। आगम से निरपेक्ष पुरुषों में शब्दशक्ति का अनुसरण न करने वाला न्याय (निर्णय) आधारहीन होने से सूखा तर्कमात्र है।

वृत्तिः—शब्द एवोपदेष्टा । तत्सामर्थ्यमेवानुगच्छन्तो वक्तारो योग्यशब्द-निबन्धनयैव विवक्षया प्रवर्तन्ते । नियतां तु शब्दशक्तिमर्थप्रकरणलिङ्गवाक्यादिभिरनुगच्छति पुरुषे शब्दाश्रितमेव सामर्थ्यं पुरुषाश्रयोऽयं तर्क इति मन्यन्ते ।

विवरण—वस्तुतः शब्द ही उपदेष्टा है। अनुमानादि का अर्थ-प्रतिपादन में सामर्थ्य नहीं है। विशिष्ट अर्थ के प्रत्यायन में समर्थ शब्द की शक्ति का ही अनुसरण करते हुए वक्तागण कहने की इच्छा से अभीष्ट अर्थ का बोध कराने के योग्य शब्दों को लेकर ही प्रवृत्त होते हैं। अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग और वाक्य आदि से विशिष्ट अर्थ के ज्ञान के लिए व्यवस्थित (प्रत्यर्थनियत) शब्दशक्ति का अनुसरण करने वाले पुरुष (व्यक्ति) में लोग शब्दाश्रित सामर्थ्य को ही 'यह अर्थ-प्रकरणादिरूप पुरुषाश्रयी तर्क है'—ऐसा मानते हैं। वस्तुतः वह तर्क शब्दाश्रित होता है, किन्तु सामान्य लोग उसे श्रोता में आरोपित कर देते हैं।

वृत्तिः—शब्दशक्तिरूपापरिगृहीतस्तु साधर्म्यवैधर्म्यमात्रानुसारी सर्वागमोपघातहेतुत्वादनिबन्धनः शुष्कस्तर्क इत्युच्यते । तद्यथा—

'यदुदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत् ।
पीतं न गमयेत् स्वर्गं किं तत् क्रतुगतं नयेत् ॥'

(महाभाष्य १।१।१)

'शब्देन वाच्यमित्युक्ते द्रामिलकेन भवति वक्तव्यम् ।' इति ॥ १२८ ॥

विवरण—शब्दशक्ति के रूपपरिग्रह से रहित केवल साधर्म्य और वैधर्म्य मात्र का अनुसरण करने वाला सम्पूर्ण आगम के विनाश का हेतु होने से अनिबन्धन अर्थात् मूल हीन, सूखा तर्क कहलाता है। आगम जिसका उपोद्बलक (बल देने वाला) नहीं है, वह प्रतिपत्ति या बोध के प्रसार रूप सामर्थ्य से विरहित होने के कारण सूखे काष्ठ के समान शुष्क तर्क है।

न्यायशास्त्र के अनुसार शुष्क तर्क ५ प्रकार का होता है। यथा—१. आत्माश्रय, २. अन्योन्याश्रय, ३. चक्रक, ४. अनवस्था, ५. प्रमाणबाधितार्थक।

आत्माश्रय—स्वापेक्षापादकप्रसङ्गत्वम् इति तार्किकाः। स्वग्रहसापेक्षग्रहकत्वमिति वेदान्तिनः। अपनी ही अपेक्षा की आपत्ति का प्रसङ्ग। जैसे—(१) इस घट का ज्ञान, यदि इस घट के ज्ञान से जन्य हो तो इस घट के ज्ञान से भिन्न होगा। (२) यह घट यदि इस घट का जनक हो तो इस घट से भिन्न होगा। (३) यह घट यदि इस घट में रहने वाला हो तो उसे उस रूप में उपलब्ध होना चाहिए। वस्तुतः अपेक्षा तीन प्रकार से होती है—१. ज्ञप्ति से २. उत्पत्ति से और ३. स्थिति से। अतः ऊपर इसके तीन उदाहरण प्रस्तुत हैं।

अन्योन्याश्रय—स्वापेक्षापेक्षितत्वनिबन्धनप्रसङ्गत्वमिति तार्किकाः। परस्परज्ञानसापेक्षज्ञानाश्रयः इति स्मार्ताः। स्वग्रहसापेक्षग्रहसापेक्षग्रहकत्वमिति वेदान्तिनः। यथा—

(१) यह घट यदि इस घट के ज्ञान से जन्य ज्ञान का विषय हो तो इस घट से भिन्न होगा। (२) यह घट यदि इस घट के जन्य से जन्य हो तो इस घट के जन्य से भिन्न होगा। (३) यह घट यदि इस घट की वृत्ति में वर्तमान हो तो उसे उस रूप में उपलब्ध होना चाहिए।

चक्रकापत्ति—'स्वापेक्षणीयापेक्षितसापेक्षितत्वनिबन्धनप्रसङ्गत्वम्'–इति तार्किकाः। 'स्वग्रहसापेक्षग्रहसापेक्षग्रहसापेक्षग्रहकत्वमि'ति वेदान्तिनः। यथा—(१) इस घट का ज्ञान यदि इस घट के ज्ञान जन्य ज्ञान से जन्य हो तो इस घट के ज्ञान जन्य ज्ञान से भिन्न होगा। (२) यह घट यदि इस घट से जन्य से जन्य से जन्य हो तो इस घट के जन्य से जन्य से भिन्न होगा।

अनवस्था—'अप्रामाणिकानन्तप्रवाहमूलकप्रसङ्गत्वम्'—इति तार्किकाः। उपपाद्य और उपपादक की अविश्रान्ति—यह मीमांसकों का मत है।

प्रमाणबाधितार्थक—प्रमाण से जिसका अर्थ बाधित हो जाय। आत्माश्रयादि-चतुष्कान्यप्रसङ्गत्वम्।—द्रष्टव्य-तर्कजागदीशी।

यह दो प्रकार का होता है। एक व्याप्तिग्राहक, दूसरा विषयपरिशोधक। १. धूम यदि वह्निव्यभिचारी हो तो वह्निजन्य नहीं होगा। २. पर्वत यदि वह्निरहित हो तो निर्धूम होगा।

सच तो यह है कि शुष्क तर्क की कोई सीमा नहीं। भगवान् भर्तृहरि ने शुष्क तर्क का महाभाष्यगत तर्क प्रस्तुत किया है—

ताम्रवर्णी कलशियों में भर-भर कर पिया गया मद्य यदि पीने वाले को स्वर्ग नहीं ले जा सकता तो सौत्रामणि याग गत ग्रह नामक पात्र में रखा हुआ स्वल्प मद्य क्या ले जायेगा ?

अन्यत्र हेतुबाहुल्य से फलबाहुल्य देखा जाता है। यदि सौत्रामणि याग में स्वल्प मद्यपान से स्वर्ग रूप फल मिलता है, तो मद्य के सैकड़ों घट पीने से उससे भी अधिक फल होना चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं। यह आगमोपघाती शुष्क तर्क है। आगम द्वारा सौत्रामणि याग में प्रतिनियत जितने अङ्गों का विधान है, वे मद्यपान स्थल में नहीं होते।

शुष्क तर्क का दूसरा उदाहरण है—'साधुशब्दों के द्वारा भाषण करना चाहिए, ऐसा कहने पर द्रामिलक भाषा के शब्दों से भी बोलना चाहिए; क्योंकि जिस अर्थ-बोध के लिए साधुशब्द हैं, उसी अर्थ की प्रतिपत्ति द्राविड़कृत अपभ्रंशों से भी हो जाती है। यदि साधुशब्दों का प्रयोग निष्प्रयोजन होता हो तो द्राविड़ कृत अपभ्रंश में भी समानता है। साधुशब्दों की अभ्युदय हेतुता अमूलक है, अतः दोनों में अवि-शिष्टता है। यह शुष्क तर्क है। क्योंकि 'न म्लेच्छितवै नापभाषितवै' यह आगम अपभ्रंशों की प्रत्यवाय हेतुता का उद्घोष करता है ॥ १२८ ॥

दृष्टान्त देकर शब्द में निहित शक्तियों का प्रस्तुत कारिका द्वारा निरूपण करते हैं—

रूपादयो यथा दृष्टाः प्रत्यर्थं यतशक्तयः ।
शब्दास्तथैव दृश्यन्ते विषापहरणादिषु ॥ १२९ ॥

यथा रूपादयः प्रत्यर्थं यतशक्तयः दृष्टाः; तथैव शब्दाः विषापहरणादिषु दृश्यन्ते। जैसे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श प्रत्येक पदार्थ अथवा प्रयोजन के सम्बन्ध में नियत शक्ति वाले देखे गये हैं, वैसे ही शब्द भी विष के अपहरण आदि प्रयोजनों में नियत शक्तिक देखे जाते हैं।

वृत्तिः—ज्ञाने शास्त्रपूर्वके वा प्रयोगेऽभ्युदय इत्यागमात् प्रतिपन्नानामुपपत्तिमात्रभागमस्यैवोपोद्‌बलकमित्युच्यतें । इहैषां रूपरसगन्धस्पर्शानां प्रत्येकं समुदितानां च दृष्टादृष्टफलाः—प्रत्यर्थं यताः शक्तयः परिगृह्यन्ते । दृष्टफलास्तावद् विषौषध्ययस्कान्तवनस्पतिप्रभृतीनाम् । अदृष्टफला मद्यतीर्थोदकादीनाम् । शब्दानामपि केषाञ्चिदुच्चारणे विषापहरणादि दृष्टं फलमुपलभ्यते । तथा सूक्तादीनामभ्यासादभ्युपगम्यते विशिष्टमदृष्टं फलम् ॥ १२९ ॥

विवरण—साधुशब्द के ज्ञान अथवा शास्त्रपूर्वक प्रयोग करने पर अभ्युदय होता है—इस आगम से अवबुद्ध जनों के लिए उक्त आगम की उपोद्‌बलक युक्ति मात्र इस श्लोक से कही जाती है। संसार में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—ये चाहे पृथक्-पृथक् हों या सम्मिलित, इनकी दृष्ट और अदृष्ट फलवाली प्रतिविषय में नियत शक्तियाँ देखी जाती हैं। विषौषधि, अयस्कान्तमणि तथा वनस्पति आदिकों की शक्तियाँ प्रत्यक्ष फलवाली हैं। मद्य और तीर्थोदक अदृष्ट फल वाले हैं। मद्य के स्पर्शादि से अधर्म होता है और तीर्थोदक धर्मजनक होता है। किन्हीं शब्दों के उच्चारण में विष को दूर करना आदि दृष्ट फल उपलब्ध होते हैं।

श्रीवृषभ 'केषाञ्चित्' पर कहते हैं—'अथर्ववेद में पठित मन्त्रों का।' 'यद्यपि अर्थप्रतिपादन में 'मन्त्रों की साधनता है तो भी वे अर्थ उन्हीं शब्दों से बोध्य होते हुए विष को दूर करते है, अन्य शब्दों से नहीं।'

पुरुषसूक्तादिकों के अभ्यास से विशेष प्रकार का अदृष्ट फल स्वीकार किया जाता है।

ब्रह्मकाण्ड के पूना संस्करण में 'ज्ञाने शब्दपूर्वके वा' इस प्रकार की पाठ-स्थिति है, जो वस्तुतः मुद्रण की ही अशुद्धि प्रतीत होती है। 'शब्दपूर्वके' का कोई अर्थ नहीं। 'शास्त्रपूर्वके' ही समुचित पाठ है।

'आगमात्' की व्याख्या में श्रीवृषभ ने महाभाष्यगत उद्धरण को प्रस्तुत किया है—'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः' 'इति स्मृतेः।' महाभाष्य में उद्धृत प्राचीन

आगम का आकार इस प्रकार है—'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति—इति।' (महा० ६।१।८४)

श्रीवृषभाचार्य 'प्रत्येकं' तथा 'समुदितानां' पर व्याख्या करते हुए कहते हैं—तुल्य रूप होने पर भी नीलरूप आँखों का अनुग्राहक होता है और भास्वर रूप उपघातक। उसी प्रकार तुल्य रस होने पर मधुर रस जो श्लेष्मा का जनक होता है, और कटुक रस पित्त का। ये दृष्ट फल के उदाहरण हैं। अदृष्ट फल का उदाहरण है—तुल्य रूप होने पर भी वायु देवताक श्वेत गुण वाले अज का ही आलम्भन किया जाता है।

रूपादि समुदाय के तुल्य होने पर भी विष मारता है, शर्करा नहीं। आमलकादि ओषधियाँ श्लेष्मा को दूर करती हैं; अयस्कान्त मणि (चुम्बक) लोहे को खींचती है ॥ १२९ ॥

पूर्वोक्त दृष्टान्त को अब दार्ष्टान्तिक से युक्त करते हैं—

यथैषां तत्र सामर्थ्यं धर्मेऽप्येवं प्रतीयताम्।
साधूनां साधुभिस्तस्माद्वाच्यमभ्युदयार्थिनाम् ॥ १३० ॥

यथा एषां तत्र सामर्थ्यम्, एवं धर्मे अपि साधूनां प्रतीयताम्। तस्माद् अभ्युदयार्थिनां साधुभिः वाच्यम्।

जैसे इन शब्दों का अपने कार्य-विशेष में सामर्थ्य देखा जाता है, वैसे ही साधु शब्दों का धर्म में भी सामर्थ्य समझना चाहिए। इसलिए अभ्युदय चाहने वाले लोगों को साधुशब्दों से ही व्यवहार करना चाहिए।

वृत्तिः—सन्ति चेह दृष्टफलाः काश्चित् प्रतिशब्दं शक्तय इत्यागमादेवावसीयते। सत्यागमे साधूनामपि तथैवावसीयतां धर्मसाधनत्वमित्यतोऽभ्युदयार्थिभिरनतिशङ्कनीयां स्मृतिमविच्छिन्नशिष्टसमाचारां परिगृह्य व्यवहारे साधव एव शब्दाः प्रयोक्तव्याः ॥ १३० ॥

विवरण—इस संसार में प्रत्येक शब्द के अन्दर कुछ दृष्ट फल वाली शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं—यह आगम से ही जाना जाता है। वैसे ही 'एकः शब्दः—' इस आगम के विद्यमान रहने पर साधुशब्दों की धर्मसाधनता रूप शक्ति को भी जानना चाहिए। इसलिए अभ्युदय की कामना करने वाले पुरुषों को चाहिए कि वेदमूलक होने से अप्रामाण्य की शङ्का से रहित अविच्छिन्न रूप से शिष्टों (वैयाकरणों) द्वारा प्रयुक्त व्याकरणाख्य स्मृति को स्वीकार करके व्यवहार में साधुशब्दों का ही प्रयोग करें, असाधु शब्दों का नहीं।

वृत्ति में 'अभ्युदयार्थिभिः' तथा पद्धति में 'अभ्युदयकामेन' के देखने से मूल कारिका का पाठ 'अभुदयार्थिभिः' सङ्गत प्रतीत होता है, किन्तु किसी हस्तलेख में ऐसा पाठ नहीं है, यह चारुदेव शास्त्री ने अपने संस्करण की टिप्पणी में कहा है। इससे यही पाठ रखा गया है। श्रीनारायणदत्त त्रिपाठी ने अपनी व्याख्या में उद्धृत किया है—

'अभ्युदयार्थिनामिति पाठे कृत्ययोगे षष्ठी कर्तरि'। 'कृत्यानां कर्तरि वा' (पा० २।३।७१) इस सूत्र से विकल्प से षष्ठी हुई है ॥ १३० ॥

शब्द-विशेषों का विषापहारकत्व प्रत्यक्ष सिद्ध है, साधुशब्दों का अदृष्टजनकत्व प्रत्यक्ष नहीं; अतः उसे क्यों स्वीकार किया जाय ? इस पर वे कहते हैं—

सर्वोऽदृष्टफलानर्थानागमात् प्रतिपद्यते ।
विपरीतं च सर्वत्र शक्यते वक्तुमागमे ॥ १३१ ॥

सर्वः आगमाद् अदृष्टफलान् प्रतिपद्यते, विपरीतं च सर्वत्र आगमे वक्तुं शक्यते।

समग्र मतवादी जन आगम से ही अदृष्ट फल वाले दान और हिंसा आदि कर्मों को जानते हैं। क्योंकि दान का फल धर्म और हिंसा का अधर्म होता है, इस बात को प्रत्यक्ष और अनुमान से नहीं जाना जा सकता। इसके विपरीत कथन भी सर्वत्र आगमों में प्रसक्त होता है, अर्थात् जैसे कुछ शब्दों से अदृष्ट फलरूप धर्म उत्पन्न होता है, वैसे ही कुछ शब्दों से अधर्म रूप विपरीत फल भी उत्पन्न होता है, ऐसा कहा जा सकता है। जैसे दृष्टार्थ वैद्यकस्मृति में—'जो (स्निग्ध) पदार्थ श्लेष्मा को कुपित करता है, इसके विपरीत जो रूक्ष पदार्थ है वह वायु को उत्पन्न करता है' ऐसा कहा है; वैसे ही साधुशब्द धर्म को एवं असाधु शब्द अधर्म को उत्पन्न करते हैं।

वृत्तिः—तत्र केचिदाहुः—यथैषां विषापहरणादिषु सामर्थ्यमधर्मेऽप्येवं कस्मान्न प्रतीयते। एतस्मादेव दृष्टान्तादस्तु शक्तिविपर्ययप्रतिपत्तिरिति। एतस्मिन् पर्यनुयोगे प्रतिविधीयते--सर्वेष्वागमेषु दृष्टादृष्टफलासु प्रतिपत्तिषु विपरीतफलप्राप्तिः शक्यते प्रसङ्क्तुम्। तस्मादागमं कञ्चित्प्रमाणीकृत्य व्यवस्थिते तस्मिन् या काचिदुपपत्तिरुच्यमाना प्रतिपत्तावुपोद्बलकत्वं लभते।

विवरण—इस विषय में कुछ लोगों का कथन है—'जैसे इन शब्दों का विषापहरण रूप दृष्ट तथा धर्मरूप अदृष्ट फल देने का सामर्थ्य है, वैसे ही अधर्म-विषयक सामर्थ्य क्यों नहीं ? इसी दृष्टान्त से विपरीत शक्ति की प्रतिपत्ति (प्रतिपादन) होनी चाहिए। इस आपत्ति का निराकरण करते हुए कहते हैं—सभी आगमों में दृष्ट अथवा अदृष्ट फलवाली प्रतिपत्तियों या अनुष्ठानों में विपरीत फल की प्राप्ति का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। अतः किसी आगम को प्रमाण रूप में स्वीकार करके दृष्ट और अदृष्ट फल वाले अनुष्ठान के व्यवस्थित होने पर जो कोई युक्ति उस सम्बन्ध में दी जाती है, वह उस अनुष्ठान के प्रति सहायक बन जाती है।

वस्तुतः यहाँ वृत्ति दुरूह है। श्रीवृषभ भी इस विषय में अधिक सहायता नहीं करते। 'विपरीतं च' पर श्रीवृषभाचार्य कहते हैं—'यद्यपि शक्तिप्रतिनियमः पदार्थे दृष्टः तथापि तस्माद्विपरीतफलजनकत्वेन शक्तिप्रयोगो न व्यवस्थाप्यते येनासाधवो धर्माङ्गं साधवश्चानिष्टस्येदि विपरीतम्।

यद्यपि शक्ति की प्रतिकूलता का नियम पदार्थों में देखा जाता है तो भी विपरीत फलजनक होने से यहाँ विपरीत शक्ति की व्यवस्था नहीं की जाती, जिससे असाधु शब्द धर्म के अङ्ग हो जायें और साधु शब्द अनिष्ट के अङ्ग; इस प्रकार की विपरीतता सम्भव हो।

'सर्वत्र' पर श्रीवृषभ की व्याख्या है— 'सर्वागमेष्वदृष्टफलजनकत्वं शक्यते तर्केणाध्यारोपयितुम्।' इस कथन से कारिका का अर्थ करने में कोई सहायता नहीं मिलती। हाँ, यह अवश्य प्रतीत होता है कि 'सर्वोऽदृष्टफलानर्थान्' के स्थान पर 'सर्वो दृष्टफलान्' ऐसा पाठ भी सम्भव है, जब कि श्रीवृषभ ने 'अदृष्टफलान्' यह प्रतीक लेकर व्याख्या की है। 'या काचित्' पर वे कहते हैं—'आगमेन सिद्धोऽर्थः केवलमनुष्ठानेऽनुग्रहं विधत्ते। तत्रागमं कञ्चित्प्रमाणीकृत्य शक्तिप्रतिनियमदर्शनमुपोद्वलकम्।'

आगम से सिद्ध अर्थ केवल अनुष्ठान द्वारा अनुगृहीत किया जाता है। वहाँ आगमांश को प्रमाण मान कर शक्ति के प्रतिनियम या विरोधी नियम का दर्शन (अनुष्ठान का) उपोद्वलक या समर्थक हो जाता है।

तात्पर्य यह हो सकता है—'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः–' इस आगम से साधु शब्दों द्वारा व्यवहार करना सिद्ध अर्थ है; और साधु शब्दों का उच्चारण ही अनुष्ठान है, जिसे उक्त आगम अनुगृहीत करता है। अब यहाँ 'असाधु शब्दों के उच्चारण से अधर्म होता है'—यह उपपत्ति या युक्ति शक्ति प्रतिनियम या विरोधी शक्ति का प्रदर्शन है, जो उक्त 'साधु शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए' इस अनुष्ठान को बल देता है॥ १३१॥

साधु शब्दों के उच्चारण से धर्म होता है, अतः अभ्युदयार्थी को साधु शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए, असाधु शब्दों का नहीं; भले ही असाधु से अधर्म होता हो अथवा न होता हो। अग्रिम कारिका में साधुत्व ज्ञान कराने वाली स्मृति का निरूपण करते हैं—

साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः।
अविच्छेदेन शिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धनम्॥ १३२॥

सा साधुत्वज्ञानविषया एषा व्याकरणस्मृतिः; इदं शिष्टानाम् अविच्छेदेन स्मृतिनिबन्धनम्।

साधुत्व ज्ञान ही जिसका विषय है, ऐसी यह व्याकरण नामक स्मृति है। यह व्याकरणशास्त्र शिष्टों–आचार्यों की अविच्छिन्न परम्परा द्वारा स्मृति के रूप में रचित होता रहा है; अथवा अनादि आगममूलक स्मृति का निमित्त बनता रहा है।

वृत्तिः—यथैव भक्ष्याभक्ष्यगम्यागम्यवाच्यावाच्यादिविषया व्यवस्थिताः स्मृतयः, यासु निबद्धं समाचारं शिष्टा न व्यतिक्रामन्ति; तथेयमपि वाच्यावाच्य-

विशेषविषया व्याकरणाख्या स्मृतिः । स्मृतो ह्यर्थः पारम्पर्यादविच्छेदेन पुनः पुनर्निबध्यते । प्रसिद्धसमयाचारायां च स्मृतावनिबन्धनशब्दायां शिष्टसमाचाराविच्छेदेनैव स्मर्यते ।। १३२ ।।

विवरण—श्रीवृषभाचार्य ने उक्त कारिका की अवतरणिका प्रस्तुत रूप में दी है—प्रसङ्गतः प्राप्त आगम कौन-सा है ? क्योंकि यह श्रुति और स्मृति उभय रूप है, अतः इस शास्त्र की स्मृतिरूपता का उपन्यास करते हुए कहते हैं—'साधुत्वज्ञानविषया' ।

जैसे ये पदार्थ भक्ष्य हैं और ये अभक्ष्य, ये बालाएँ विवाह योग्य हैं और ये अयोग्य तथा इस प्रकार के वचन बोलना चाहिए, इस प्रकार के नहीं—इन विषयों से सम्बद्ध स्मृतियाँ व्यवस्थित हैं और जिनमें वर्णित आचरणों का शिष्ट लोग अतिक्रमण नहीं करते, वैसे ही यह व्याकरण नामक स्मृति भी ये साधु शब्द हैं और वाच्य हैं और ये असाधु हैं तथा अवाच्य हैं—इस विशेष विषय से सम्बद्ध है ।

व्याकरणशास्त्र के प्रणेताओं द्वारा परम्परा से अविच्छिन्न रूप में स्मृत साधुशब्दोपदेशात्मक पदार्थ की बारम्बार रचना की जाती है । जो ग्रन्थरूप में शब्दबद्ध नहीं है, एवं जिसका व्यवहार प्रसिद्ध है, ऐसी परम्परा का शिष्टों के प्रयोग-प्रवाह द्वारा ही स्मरण किया जाता है ।। १३२ ।।

व्याकरण भी अन्य स्मृतियों के समान श्रुति एवं अनादि शिष्टपरम्परा व्यवहार मूलक होने से स्मृति है तथा उसका प्रामाण्य सिद्ध है । यह व्याकरणस्मृति सर्वविध वाणी का विषय है; इस बात को अग्रिम कारिका द्वारा निरूपित करते हैं—

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम् ।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम् ।। १३३ ।।

अनेकतीर्थभेदायाः वैखर्याः मध्यमायाः पश्यन्त्याः च त्र्य्याः वाचः एतद् अद्भुतं परं पदम् ।

करण, प्राण एवं बुद्धि रूप अनेक तीर्थों या स्थानों में भिन्न वैखरी, मध्यमा एवं पश्यन्ती इस त्रयी वाक् का यह व्याकरणशास्त्र अद्भुत उत्कृष्ट आश्रय है ।

वृत्तिः—परैः संवेद्यं यस्याः श्रोत्रविषयत्वेन प्रतिनियतं श्रुतिरूपं सा वैखरी । श्लिष्टा व्यक्तवर्णसमुच्चारणा, प्रसिद्धसाधुभावा, भ्रष्टसंस्कारा च । तथा—'याऽक्षे या दुन्दुभौ या वेणौ (या) वीणायाम्' इत्यपरिमाणभेदा । मध्यमा त्वन्तःसन्निवेशिनी परिगृहीतक्रमेव बुद्धिमात्रोपादाना । सा तु सूक्ष्मप्राणवृत्त्यनुगता क्रमसंहारभावेऽपि व्यक्तप्राणपरिग्रहैव केषाञ्चित् ।

विवरण—श्रोत्रग्राह्य होने से दूसरों के द्वारा ज्ञेय तथा विशिष्ट आनुपूर्वी के रूप में नियत श्रूयमाण रूप है जिसका, वह ताल्वादि करणस्थ वैखरी वाक् है । यह वैखरी

वाक्—(१) श्लिष्टा अर्थात् अव्यक्ताक्षर वाली और (२) व्यक्तवर्णसमुच्चारणा अर्थात् व्यक्ताक्षरों वाली दो प्रकार की है। व्यक्ताक्षरा के भी दो भेद हैं—(१) प्रसिद्ध साधुभावा जो व्याकरण-सम्मत है और (२) भ्रष्टसंस्कारा जिसके प्रकृति-प्रत्ययादि संस्कारों का पता नहीं। इसके अतिरिक्त वैखरी अपरिमित भेद हैं। जैसे शकट के अक्ष (धुरी) का शब्द, दुन्दुभि, वेणु और वीणा आदि के शब्द। श्रीवृषभाचार्य ने कहा है—यहाँ वाणी के भेदों का कथन किया जा रहा है, शब्द (ध्वनि) मात्र का नहीं। तव शकटाक्ष आदि का उदाहरण क्यों दिया गया ? इस पर कहते हैं कि अर्थवाद प्रस्तुत करने के लिए ये उदाहरण लिये गये हैं। जैसा कि श्रुति का पाठ है—

'वाग्वै देवेभ्योऽपाक्रामत्। यज्ञायातिष्ठमाना सा वनस्पतीन् प्राविशत्। सैषा वाग्वनस्पतिषु वदति, या दुन्दुभौ, या तूणवे, या वीणायाम्।'

—तैत्तिरीयसंहिता ६।१।४

श्रीवृषभ की पद्धति में उद्धृत इस श्रुति का पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है, उपर्युक्त पाठ शुद्ध है।

मध्यमा वाक् का उपादानकारण बुद्धि है। यह वाक् आस्यस्थ नहीं, किन्तु वर्णात्मक क्रम को ग्रहण करती हुई-सी अन्तःसन्निविष्ट या हृदयस्थ रहती है। 'अन्तःसन्निवेशिनी' पर आचार्य श्रीवृषभ कहते हैं—जो करणस्थ नहीं है, किन्तु इस शब्द का उच्चारण करूँगा—इस प्रकार का बुद्धि में जो शब्दाकार वनता है, वही मध्यमा वाक् है। यतः उस बुद्धि में विशिष्ट क्रम को स्वीकार करके ही वह भासित होती है, अतः यहाँ 'इव' शब्द गृहीत हुआ है।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि वह मध्यमा वाक् 'सूक्ष्मप्राणवृत्ति का अनुगमन करती है, स्थूल प्राण का नहीं; क्रम के न रहने पर भी अर्थात् यद्यपि एकबुद्धिनिष्ठ होने से वहाँ क्रम नहीं रहता तो भी व्यक्त (सूक्ष्म) प्राणवृत्ति को यह स्वीकार किये हुए ही रहती है। इसको काण्ड २ कारिका १९—'अव्यक्तः क्रमवान् शब्द–' की वृत्ति में 'परमोपांशु' शब्द द्वारा कहा गया है—'अन्तरेण तु प्राणवृत्यनुग्रहं यत्र केवलमेव बुद्धौ समाविष्टरूपो बुद्ध्युपादान एव शब्दात्मा तत्परमोपांशु।'

श्रीवृषभाचार्य इसे 'उपांशुतर' कहते हैं—'स्वयमप्यस्योपांशुतरं पठतः तत् स्पष्टम्।'

मध्यमा को प्राणवृत्ति से अतिक्रान्त कहा गया है। यह प्राणवृत्ति स्थूल है। 'करणान्यभिघ्नतोऽस्य प्राणस्य स्थूला वृत्तिः–' श्रीवृषभ। मध्यमा में सूक्ष्म प्राणवृत्ति तो रहती है—यह कुछ लोगों का मत है। 'बुद्धौ तु वर्तमानानां स सूक्ष्म इत्यपरे मन्यन्ते।'—श्रीवृषभ।

'साम्वपञ्चाशिका' के चौथे श्लोक[1] में पठित 'प्राणसङ्घातप्रसूतान्' की व्याख्या में क्षेमराज ने प्राण की त्रिधा स्थिति वतलाई है—

---

१. 'या सा मित्रावरुणसदनादुच्चरन्ती त्रिषष्टि
वर्णान्तःप्रकटकरणैः प्राणसङ्घात् प्रसूते।

(१) तत्र चिज्ज्योतिपि गुणीभूतमूक्ष्मप्राणसङ्गात् पश्यन्त्याम् ।
(२) गुणीभूतचित्सूक्ष्मप्राणसङ्गान्मध्यमायाम् ।
(३) स्थूलप्राणसङ्गाद्वैखर्यां वर्णा जायन्ते ।

पश्यन्ती में चिज्ज्योति की प्रधानता और सूक्ष्मप्राण गौण रहता है। उस दशा में भी वर्ण उत्पन्न होते हैं।

मध्यमा में चिज्ज्योति गौण होती है और सूक्ष्मप्राण प्रधान।

वैखरी में स्थूल प्राण प्रधान होता है। यहाँ क्षेमराज ने चिज्ज्योति की चर्चा नहीं की, किन्तु विना चित्तत्त्व के उच्चारण नहीं हो सकता।

यहाँ मध्यमा को 'वुद्धिसंस्थाम्' कहा गया है। अतः मध्यमा के सम्बन्ध में दो मत प्रसिद्ध रहे हैं।

वृत्तिः—प्रतिसंहृतक्रमा सत्यप्यभेदे समाविष्टक्रमशक्तिः पश्यन्ती। सा चलाचला प्रतिलब्धसमाधाना चावृता विशुद्धा च, सन्निविष्टज्ञेयाकारा प्रतिलीनाकारा निराकारा च, परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा संसृष्टार्थप्रत्यवभासा प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभासा चेत्यपरिमाणभेदा।

विवरण—पश्यन्ती में क्रम प्रतिसंहृत हो जाता है। अभिन्न या अखण्ड दशा में भी वहाँ क्रमशक्ति का समावेश रहता है। इस पश्यन्ती के अपरमिति भेद हैं। जैसे—(१) चलाचला, (२) प्रतिलब्धसमाधाना, (३) आवृता, (४) विशुद्धा, (५) सन्निविष्टज्ञेयाकारा, (६) प्रतिलीनाकारा, (७) निराकारा, (८) परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा, (९) संसृष्टार्थप्रत्यवभासा, (१०) प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभासा आदि।

श्रीवृषभाचार्य की पद्धति के अनुसार उक्त भेदों की व्याख्या[१] अधोलिखित है—

(१) चलाचला—रूपादिकविषयों में सांसारिक दृष्टि वालों की जो चञ्चल बुद्धि उत्पन्न होती है, वह वाक् ही है।

(२) प्रतिलब्धसमाधाना—शब्दपूर्वयोग द्वारा समाहित होने के कारण योगियों की अचल वुद्धि।

(३) आवृता—अपभ्रंशों से व्याप्त अथवा उनसे अवरुद्ध।

तां पश्यन्तीं प्रथममुदितां मध्यमां बुद्धिसंस्थां
वाचं वक्त्रे करणविशदां वैखरीं च प्रपद्ये' ॥ ४ ॥

१. 'चलाचला इति—रूपादिषु विषयेषु अर्वाग्दर्शनानां या विक्षिप्तोत्पद्यते बुद्धिर्वागेव हि सा। प्रतिलब्धसमाधाना चेति। अविक्षिप्ता योगिनां शब्दपूर्वयोगेन समाहितत्वात्। आवृता—अपभ्रंशैर्वा समाकीर्णा तैरवष्टब्धेत्यावृता। विशुद्धा चेति। वाग्योगविदाम्। ते हि तामक्रमां वाचं वेदयन्ते। अपभ्रंशैर्वाचं विविक्तां यथा वैयाकरणाः'।

—पद्धति।

(४) विशुद्धा—यह वाणी वाग्योगवेत्ताओं की है। ये लोग उस प्रसिद्ध अक्रम वाक् को जानते हैं। जैसे वैयाकरण अपभ्रंशों से विविक्त (पृथक्) वाक् को जानते हैं।

(५) सन्निविष्टज्ञेयाकारा—जैसे ज्ञेय के आकार से ज्ञान सदा अनुस्यूत रहता है, वैसे ही शब्द भी अर्थाकार से। अतः पश्यन्ती में भी अभिधेय से अनुगत शब्द रहता है और वही उसका ज्ञेय है। यदि यह कहा जाय कि मध्यमा में भी तो यही बात है; वह भी तो जब सुनी जाती है तब शब्द के आकार में इन्द्रिय द्वारा ही परिच्छिन्न होती है और यह पश्यन्ती वाक् ही ज्ञेय के रूप में विवृत्त होती है, अतः उसमें ज्ञेयाकार सन्निविष्ट रहता है।

(६) प्रतिलीनाकारा—इस दशा में पदार्थों–आकारों के विद्यमान रहने पर भी उनकी अवधारणा नहीं होती। सूक्ष्म होने के कारण उस वाक् का ही अवधारण नहीं होता तो उसमें सन्निविष्ट आकारों के विषय में क्या कहना। वे तो उसमें सर्वथा विलीन रहते हैं।

(७) निराकारा—इस अवस्था में पदार्थों के आकार रहते ही नहीं। श्रीवृषभ की पद्धति यहाँ भ्रष्ट है, जिससे कोई स्पष्ट अर्थ नहीं निकलता।

(८) परच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा—जिस बुद्धि में परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले गवादि पदार्थ भासित होते हैं। 'सन्निविष्टज्ञेयाकारा' में शब्द में अर्थ का आकार रहता है, यह बात कही गई है और परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा में ज्ञान में ज्ञेयाकार समझना चाहिए। प्रतिलीनाकारा में ग्राह्यांश की सम्भावना कथित है। परिच्छिन्नार्थ-प्रत्यवभासा में उस प्रकार के प्रत्यवभासन से ग्राहकरूपता कही गई है। पूना संस्करण में पद्धति का पाठ है—'सम्प्रति तु तथा प्रत्यवभासने न ग्राहकरूपतोक्ता।' यहाँ 'प्रत्यवभासने न' को मेरे मत से 'प्रत्यवभासनेन' पढ़ना चाहिए। लाहौर संस्करण में 'न' का अभाव है।

(९) संसृष्टार्थप्रत्यवभासा—इस पश्यन्ती रूप बुद्धि में शब्द और अर्थ का पृथग् भाव नहीं रहता, अपितु यह सम्भिन्न या सम्मिलित रूप में प्रत्यवभासित होती है।

(१०) प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभासा—सम्पूर्ण अर्थों का अवभास जहाँ शान्त हो गया हो। श्रीवृषभ की व्याख्या से यहाँ सहायता नहीं मिलती, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि 'प्रशान्त' के स्थान पर 'प्रसन्न' यह पाठ रहा होगा। यह अनुमान मात्र है, क्योंकि पद्धति की अस्पष्ट व्याख्या अधोलिखित रूप में उपलब्ध होती है—'अर्थत्वा-दर्थाकारभासमाना यथा सम्यग्दर्शितां (नां) सर्वेण सर्वाकारावगमः तया प्रसन्ने प्रत्यवभासः।'

आचार्य अभिनवगुप्त की प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी (जिल्द २ पृष्ठ २२६) में पूरे अनुच्छेद का पाठ इस प्रकार मिलता है—

'प्रतिसंहृतक्रमान्तः सत्यप्यभेदे समाविष्टक्रमशक्तिः पश्यन्ती। सा अचला च चला प्रतिलब्धा समाधानां च सन्निविष्टज्ञेयाकारा प्रतिलीनाकारा निराकारा च परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा संसृष्टार्थप्रत्यवभासा च सर्वार्थप्रत्यवभासा प्रशान्तप्रत्यवभासा च' इति। 'अनेन हि अपरिमाणभेदत्वेन अहन्तेदन्तयोंचित्रतोक्ता।'

उत्पलाचार्य ने 'शिवदृष्टि' की टीका (पृ० ३८-३९) में [1]प्रतिलब्धसमाधाना, [2]विशुद्धा च और [3]प्रशान्तप्रत्यवभासा इन भेदों का पश्यन्ती के पररूप की दृष्टि से उल्लेख किया है।

पश्यन्ती के अपरिमित भेद हैं—ऐसा भगवान् भर्तृहरि ने कहा है; तब इसे शब्द ब्रह्म या चरमतत्त्व कैसे कहा जा सकता है? यह बात अवश्य विचारणीय है। श्रीवृषभाचार्य ने प्रतिलब्धसमाधाना आदि चार भेदों को परपश्यन्ती का भेद माना है, जिसका अनुवाद उत्पलाचार्य ने शिवदृष्टि की वृत्ति में किया है। किन्तु भर्तृहरि की वृत्ति के अनुसार उक्त भेद परपश्यन्ती के हैं, निःसंशय रूप में ऐसा नहीं कहा जा सकता। श्रीवृषभ के व्याख्यान की उपेक्षा करना भी समीचीन न होगा। इस कारिका की वृत्ति कुछ अव्यवस्थित रूप में उपलब्ध है, क्योंकि पद्धति में 'प्रत्यासन्नमिति' 'अवधारणेन इति' ये दो प्रतीक व्याख्यात हैं, जो वृत्ति में नहीं मिलते।

वृत्तिः—तत्र व्यावहारिकीषु सर्वासु वागवस्थासु व्यवस्थितः साध्वसाधुप्रविभागः पुरुषसंस्कारहेतुरेकेषाम्। परं तु पश्यन्तीरूपमनपभ्रंशमसङ्कीर्णं लोकव्यवहारातीतम्। तस्या एव वाचो व्याकरणेन साधुत्वज्ञानलभ्येन वा शब्दपूर्वेण योगेनाधिगम्यत इत्येकेषामागमः।

विवरण—वहाँ वाक् की समस्त व्यावहारिक अवस्थाओं में, यह (वाक्) साधु है और वह असाधु इस प्रकार का विभाग व्यवस्थित है; जिसे जानकर साधु शब्दों का ही प्रयोग किया जाता है, जो धर्मोत्पत्ति द्वारा पुरुष का संस्कारक बनता है।

श्रीवृषभ की व्याख्या है—प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप लौकिक व्यवहार में वाक् की जिन अवस्थाओं का उपयोग होता है, जैसे वैखरी की व्यक्तवर्ण रूप अवस्था। यही अर्थों की प्रतिपादक है और इसी से व्यवहार होता है। वैसे ही मध्यमा में भी स्वसंवेदित अवस्था व्यवहारानुपाती है, जिससे साधु शब्दों को ही पृथक् करके प्रयोग में लाया जाता है और अपभ्रंशों का परित्याग कर दिया जाता है।

पश्यन्ती के सन्निविष्टज्ञेयाकारा और परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा ये भेद व्यवहार में लाने योग्य हैं। यहाँ पद्धति का पाठ भ्रष्ट है—'अवत्पश्या इति।' इसका शुद्ध रूप 'पश्यन्त्याः' यह रहा होगा। यही पाठ मानकर ऊपर अर्थ किया गया है।

---

१. शिवदृष्टि के सम्पादक पं० मधुसूदन कौल शास्त्री ने टिप्पणी में इसकी व्याख्या की है— 'केवलशब्दार्थरहिंतस्वरूपसमाहितिः'।

२. ग्राह्यग्राहककल्लोलरहिता।

३. गलितवाह्यविकल्पावभासा।

उपर्युक्त वृत्ति का वाक्य और उसकी पद्धति से यह लक्षित होता है कि 'विशुद्धा' आदि परपश्यन्ती के भेद हैं, जो व्यवहार का अङ्ग नहीं बन सकते।

'पुरुषसंस्कारहेतुरेकेषाम्' और 'अधिगम्यत इत्येकेषामागमः' यहाँ एक ही मत उपन्यस्त है। 'अधिगम्यते' यह प्रयोग प्रस्तुत वाक्य में अशुद्ध है। 'अधिगमः' ऐसा पाठ होना चाहिए। श्रीवृषभ का कथन है कि 'व्यावहारिकीषु' से लेकर 'व्यवहारातीतम्' तक यह एक मत है, दूसरों का मत ग्रन्थकार ने उपन्यस्त नहीं किया। आगे चलकर वे 'परं तु' से लेकर 'तस्याः' इस वाक्यगत मत को 'इत्यपरं दर्शनम्' ऐसा कहते हैं। इससे ज्ञात होता है कि उनके समय में भी वृत्ति का अस्पष्ट पाठ प्रचलित था। अस्तु।

परपश्यन्ती का रूप जिसे प्रतिलब्धसमाधाना, विशुद्धा, निराकारा और प्रशान्त-सर्वार्थप्रत्यवभासा कहा गया है, शुद्ध होने के कारण अमिश्रित है; अतएव उसे अपभ्रंश से रहित कहा गया है। यह लोकव्यवहार से परे है। विभागों से अतिक्रान्त होने के कारण परपश्यन्ती में व्याकरण का व्यापार नहीं चलता। 'व्यवहारातीतमिति। परिच्छेदादतिक्रान्तत्वात्। अत एव तत्र नास्ति व्याकरणस्य व्यापारः'। —पद्धति

इसी व्यवहारातीत परपश्यन्ती वाक् की व्याकरण के द्वारा अथवा साधुत्वज्ञान से लभ्य शब्दपूर्वयोग के द्वारा प्राप्ति होती है—यह कुछ लोगों का आगम या सम्प्रदाय है।

श्रीवृषभाचार्य ने 'व्याकरणेन' के स्थान पर 'अवधारणेन' यह प्रतीक लेकर उसका अर्थ 'परिच्छेदेन' किया है। किन्तु यह पाठ किसी हस्तलेख में उपलब्ध नहीं है अतः 'व्याकरणेन' यही मूल पाठ होना चाहिए। व्याकरणेन का अर्थ भी परिच्छेदेन हो सकता है, होता है। आगे वे कहते हैं—'इत्येकोऽधिगमोपायः' अर्थात् यह पर-पश्यन्ती की उपलब्धि का एक उपाय है। 'साधुत्वज्ञानलभ्येन इति। द्वितीयोऽधिगमो-पाय इति।' और साधुत्व ज्ञान लभ्य शब्दपूर्वयोग यह दूसरा उपाय है।

'केचित' कह कर श्रीवृषभ यहाँ अन्य टीकाकार का अभिमत प्रस्तुत करते हैं। यथा—'पूर्वाधिगमोपायापेक्षया पक्षोऽयमित्याहेति केचित्।' —पद्धति

परपश्यन्ती को व्यवहारातीत कहा गया है। महाभाष्यदीपिका का यह प्राचीन उद्धरण यहाँ स्मरणीय है—'नित्यः पृथिवीधातुः। पृथिवीधातौ किं सत्यम्? विकल्पः। विकल्पे किं सत्यम्? ज्ञानम्। ज्ञाने किं सत्यम्? ओम्। अथ तद् ब्रह्म। तदेतदुक्तं भवति। अतः परं शब्दार्थव्यवहारो निवर्तते। व्यवहारातीतोऽयमर्थ इति'।

—भर्तृहरि।

वृत्तिः—तथेतिहासेषु निदर्शनान्युपलभ्यन्ते—

गौरिव प्रक्षरत्येका रसमुत्तमशालिनी।
दिव्यादिव्येन रूपेण भारती गौः शुचिस्मिता॥

एतयोरन्तरं पश्य सूक्ष्मयोः स्पन्दमानयोः ।
प्राणापानान्तरे नित्यमेका सर्वस्य तिष्ठति ।।
अन्या त्वप्रेर्यमाणेव विना प्राणेन वर्तते ।
जायते हि ततः प्राणो वाच्यमाप्याययन् पुनः ।।
प्राणेनाप्यायिता सेयं व्यवहारनिबन्धना ।
सर्वस्योच्छ्वासमासाद्य न वाग्वदति कर्हिचित् ।।
घोषिणी जातिनिर्घोषा अघोषा च प्रवर्तते ।
तयोरपि च घोषिण्योर्निर्घोषैव गरीयसी ।।

विवरण—इतिहासों में इस प्रकार के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। महाभारत के आश्वमेधिक पर्वान्तर्गत अनुगीता स्थित ब्राह्मणगीता के इक्कीसवें अध्याय में ये श्लोक परिवर्तित एवं क्रम-भेद के साथ उपलब्ध[1] होते हैं। यहाँ वासुदेव के द्वारा अर्जुन को उपदेश दिया गया है।

सर्वकारणरूप उत्तमता से शोभायमान शुचि और स्मित एक (यह) भारती वाक् अपने दिव्य और अदिव्य रूप से गाय के समान रस प्रदान करती है।

'एका' के स्थान पर 'एषा' पाठ अधिक उचित प्रतीत होता है। श्रीवृषभ ने किसी शब्द का नाम नहीं लिया; अत उनकी प्रति में कैसा पाठ रहा होगा, यह अज्ञात है। कार्योपयोगी होने के कारण वैखरी और मध्यमा को यहाँ रस कहा गया है। मध्यमा साक्षात् और वैखरी परम्परया रस है, क्योंकि वे दोनों उसी से (पश्यन्ती से) विवृत्त होती हैं। दिव्य और अदिव्य शब्द से पश्यन्ती के ही दो रूप कहे गये हैं। दिव्य अर्थात् योगि ग्राह्य (परपश्यन्ती) और आदित्य अपर पश्यन्ती जिसे चलाचला आदि के रूप में कहा गया है। महाभारत में 'शुचिस्मिते' यह सम्बोधन पद ब्राह्मण के द्वारा ब्राह्मणी के लिए प्रयुक्त हुआ है। यहाँ शुचिस्मिता भारती वाक् का विशेषण है। श्रीवृषभाचार्य ने इसकी अधोलिखित व्याख्या की है—

---

१. प्राणापानान्तरे देवी वाग्वै नित्यं स्म तिष्ठति ।
प्रेर्यमाणा महाभागे विना प्राणमपानती ।
प्रजापतिमुपाधावत्प्रसीद भगवन्निति ।। १९ ।।
ततः प्राणः प्रादुरभूद् वाचमाप्याययन् पुनः ।
तस्मादुच्छ्वासमासाद्य न वाग्वदति कर्हिचित् ।। २० ।।
घोषिणी जातनिर्घोषा नित्यमेव प्रवर्तते ।
तयोरपि च घोषिण्या निर्घोषैव गरीयसी ।। २१ ।।
गौरिव प्रसवत्यर्थान् (प्रस्रवत्येषा) रसमुत्तमशालिनी ।
सततं स्पन्दते ह्येषा शाश्वतं ब्रह्मवादिनी ।। २२ ।।
दिव्यादिव्यप्रभावेण भारती गौः शुचिस्मिते ।
एतयोरन्तरं पश्य सूक्ष्मयोः स्यन्दमानयोः ।। २३ ।।

'स्मितं विकासः, स च तयोः शुचिः । एकस्या भविष्यत्वादपरस्या भेदनिरूपणे विवृत्तत्वादिति पश्यन्त्याख्याता ।'

स्मित का अर्थ है विकास और वही दोनों की शुद्धि है । एक वाक् भाविनी है और दूसरी का भेद-निरूपण के अवसर पर विवरण दिया जा चुका है—यह पश्यन्ती है और भाविनी मध्यमा है ।

सूक्ष्म और स्पन्दमान, उक्त और वक्ष्यमाण इन दोनों वाणियों के अन्तर को हे अर्जुन ! तुम देखो । सभी प्राणियों के प्राण और अपान के बीच एक वाणी नित्य स्थित रहती है । अन्तर का अर्थ है—छिद्र । इसलिए प्राण और अपान से रहित बुद्धि में ही वह वर्तमान रहती है । मध्यमा वाक् सूक्ष्म प्राणवृत्ति के अनुगत रहती हुई व्यक्त प्राण को लेकर विद्यमान होती है । इस पक्ष में भी प्राण और अपान के मध्य की 'प्राणस्थ' ही व्याख्या करनी चाहिए । बुद्धिव्यतिरेक पक्ष में प्राणाधिष्ठानता है ही ।—पद्धति । और अन्य वाक् अर्थात् पश्यन्ती बिना प्राण की प्रेरणा के ही विद्यमान रहती है ।

अनन्तर अथवा उस पश्यन्ती से मध्यमा वाक् को आप्यायित या परिपुष्ट करता हुआ प्राण उत्पन्न होता है । वह प्राण के द्वारा करणों में निहित मध्यमा वाक् श्रोत्रोपलभ्य वैखरी वाणी का रूप ग्रहण करती है, जो व्यवहार का निमित्त है ।

वैखरी वाक् उच्छ्वास या ऊपर की ओर प्रवृत्त प्राण को लेकर ही सदैव उच्चरित होती है, कभी-कभी उच्छ्वास को प्राप्त करके बोलती हो, ऐसा नहीं—ऐसा श्रीवृषभ कहते हैं—'न कदाचिदुच्छ्वासं प्राप्य वदति । किं तर्व् सर्वत उच्छ्वासं प्राप्येति ।' महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ के अनुसार 'उच्छ्वास लेते समय वाणी कभी कोई शब्द नहीं बोलती ।' यह अर्थ है । अम्बाकर्त्री टीका के रचयिता पं० रघुनाथ शर्मा ने कहा है—'तस्मादप्राणन्ननपानन् वाचमभिव्याहरति' इस श्रुति के अनुसार वाणी की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति में प्राण-व्यापार की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु वाणी की परिपुष्टि के लिए प्राण अपेक्षित होता है ।' यह बात ठीक है । किन्तु ब्राह्मणगीता के इसी स्थल का अठारहवाँ श्लोक इस प्रकार है—'तस्मादुच्छ्वासमासाद्य प्रवक्ष्यामि सरस्वति' ।। १८ ।।

इसकी क्या गति होगी । अतः श्रीवृषभ का अर्थ उचित लगता है । आगे चलकर श्रीवृषभाचार्य कहते हैं—'अन्ये त्वेताः कारिका अन्यथा व्याचक्षते । प्रक्षरति इति । तन्निबन्धनत्वादर्थप्रतिपत्तेरित्युक्ता । स्पन्दमानयोः इति । प्रवर्तमानयोः । प्राणापानान्तरे इति । प्राणस्थितिरिति यावत् । सर्वस्य इति । इयं वैखरी । अप्रेर्यमाणा इति । प्राणेनाप्रेर्यमाणा बुद्धिस्थत्वात् । तदेवाह—विना प्राणेन वर्तते इति । यन्मध्यमाकथनम् । पुनर्मध्यमातो वैखर्या उत्पत्तिरित्याह जायते हि इति । सा बुद्धिः प्राणं प्रेरयति स्वरूपनिविष्टस्य शब्दस्य करणे निवेशायेति पूर्ववत् सर्वम् ।'—पद्धति ।

अन्य टीकाकार इन कारिकाओं की व्याख्या भिन्न रूप में करते हैं । 'रसं प्रक्षरति' से तात्पर्य है—अर्थ की प्रतिपत्ति । स्पन्दमान अर्थात् प्रवर्तमान । महाभारत का

पाठ 'स्पन्दमान' है। प्राणापानान्तरे से तात्पर्य है—प्राण की स्थिर दशा में। बुद्धिस्थ होने के कारण प्राण से अप्रेर्यमाण। इसी बात को 'विना प्राणेन वर्तते' द्वारा कहा गया है। यह मध्यमा का कथन है। पुनः मध्यमा से वैखरी की उत्पत्ति 'जायते हि' द्वारा कही गई है। वह बुद्धि स्वरूपनिविष्ट शब्द के करणों में प्रवेश के लिए प्राणों को प्रेरित करती है। शेष व्याख्यान पूर्ववत् है।

यह वाक् दो प्रकार की है—एक घोषिणी अर्थात् घोषवती; यही जातिनिर्घोषा अर्थात् जात्यैव नितरां घोषवती है। महाभारत का पाठ 'जातनिर्घोषा' है। और दूसरी है—अघोषा अर्थात् पश्यन्ती और मध्यमा। उक्त दोनों प्रकारों में घोषरहित वाक् ही श्रेष्ठ है।

यह श्लोक वृत्ति में अपपठित प्रतीत होता है। 'घोषिण्योः' के स्थान पर श्रीवृषभ ने 'घोषिण्याः' यह पाठ स्वीकार किया है। श्रीवृषभाचार्य की प्रति का श्लोक पाठ 'घोषिण्याः' को छोड़कर उक्त प्रकार का ही था, ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु 'निर्घोषैव इति' इस प्रतीक पर वे कहते हैं—'पूर्ववत्। निर्गतः घोषो यस्याः वाचः। का च सा ? पश्यन्ती मध्यमा च।'

'घोषिणी' पर उनकी व्याख्या है—'वाचो वैविध्यमपि। घोषः सततं विद्यते यस्याः। का पुनः सेत्याह—जातिनिर्घोषा इति। वैखरीमाह।' तब 'पूर्ववत्' की क्या गति होगी ?

वृत्तिः—पुनश्चाह—

स्थानेषु विधृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा।
वैखरी वाक् प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धना ॥ १ ॥
केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक्प्रवर्तते ॥ २ ॥
अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा।
स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥ ३ ॥
सेयमाकीर्यमाणापि नित्यमागन्तुकैर्मलैः।
अन्त्या कलेव सोमस्य नात्यन्तमभिभूयते ॥ ४ ॥
तस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्तते।
पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम् ॥ ५ ॥
प्राप्तोपरागरूपा सा विप्लवैरनुबन्धिभिः।
वैखरी सत्त्वमात्रेव गुणैर्न व्यवकीर्यते ॥ ६ ॥

विवरण—स्याद्वादरत्नाकर में वादिदेवसूरि ने 'विधृते' पाठ ही रक्खा है; अन्यत्र प्रायः 'विवृते' पाठ उपलब्ध होता है। श्रीवृषभ ने भी 'विवृते' पाठ ही माना है। राम-

कण्ठाचार्य का पाठ (स्पन्दकारिका विवृति[1]) 'अभिहते' है। ताल्वादि स्थानों में प्राण-संज्ञक वायु के विधृत—अभिघातार्थं निरुद्ध होने पर (वादिदेव) उर आदि स्थानों में प्रतिघात के कारण विवृत के सदृश वर्तमान होने पर (श्रीवृषभ) उरः आदि स्थानों के अभिहत होने पर (रामकण्ठ) ककारादिवर्णरूप स्वीकार करने से प्राण की प्रवृत्ति से जन्य स्थानाभिघात ही जिसका निमित्त है (श्रीवृषभ) प्राणवृत्ति से बँधे या तन्मय होने से (वादिदेव) प्राणमात्र के आश्रित होने से (रामकण्ठ) प्रयोक्ताओं—बोलने वालों की वाक्, वैखरी—वक्ताओं के द्वारा स्पष्टरूपात्मक खरावस्था में विद्यमान होने से (वादिदेव) देहेन्द्रिय संघात रूप विखर में होने से (जयन्तभट्ट) वैखरी कहलाती है ॥ १ ॥

प्रासङ्गिक करणवृत्ति से पृथक्, केवल बुद्धिमात्र उपादान कारण वाली निष्क्रम पश्यन्ती से भिन्न, क्रम रूप से युक्त, प्राणवृत्ति से अतिक्रान्त मध्यमा[2] वाक् प्रवृत्त होती है।

प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ ४२ में उद्धृत इस सन्दर्भ में 'केवलं बुद्धयुपादाना–' यह अर्द्धाली नहीं है। 'सूक्ष्मा वागनपायिनी' के अनन्तर प्रस्तुत अर्द्धाली उपलब्ध है, जो वाक्यपदीय की वृत्ति में पठित नहीं है —'तया व्याप्तं जगत्सर्वं ततः शब्दात्मकं जगत्' ॥ २ ॥

भेदों का अभाव होने से पश्यन्ती को अविभागा कहते हैं। शब्द और अर्थ के क्रम का वहाँ सर्वथा अभाव होता है, अतः वह संहृतक्रमा है। हृदयदेश में विद्यमान सूक्ष्मा वाक् स्वरूप को प्रकाशित करने के कारण स्वरूपज्योति तथा विनाशरहित है।

श्रीवृषभ के व्याख्यान से सूक्ष्मा वाक् पश्यन्ती से पृथक् है, ऐसा स्पष्टतया नहीं जान पड़ता। वादिदेवसूरि के व्याख्यान से भी उसका पार्थक्य नहीं प्रतीत होता, किन्तु प्रमेयकमलमार्तण्ड के टिप्पणी लेखक ने उसे चतुर्थ वाक् माना है। तत्त्वार्थ-

---

१. यदा तु प्रयोक्तृपुरुषेच्छानुविधायिप्रयत्नप्रेरिते प्राणाभिधाने मरुति शरीरोद्देशेषु उरःप्रभृतिषु जाताभिघाते सैव सामान्यध्वनिरूपा स्वरव्यञ्जनादिभेदविभक्ताकारादि-नियतवर्णरूपतां प्रयोक्तृभेदेऽपि अव्यभिचरन्ती प्रसरति, तदा वर्णभेदादि व्यञ्जक-प्राणमात्राश्रया वैखर्यभिधाना वाग्रूपा विवृत्तिः।

२. (क) **वादिदेवसूरि**—या पुनरन्तः सङ्कल्प्यमाना क्रमवती श्रोत्रग्राह्यवर्ण-रूपाभिव्यक्तिरहिता वाक् सा मध्यमेत्युच्यते। तदुक्तं केवलं बुद्धयुपादानेत्यादि। स्थूलां प्राणवृत्ति हेतुत्वेन वैखरीवदनपेक्ष्य केवलं बुद्धिरेवोपादानं हेतुर्यस्याः सा (सूक्ष्म ?–) प्राणस्थत्वात् क्रमरूपमनुपतति। अस्याश्च मनोभूमावस्थानम्। वैखरी-पश्यन्त्योर्मध्ये भावान्मध्यमावागिति। —स्याद्वादरत्नाकर।

(ख) **रामकण्ठाचार्य**—यदा प्राणप्रयत्नव्यतिरेकेण प्रतिप्राणिशरीरान्तरस्वोदि-तानादिनिधनध्वनिविशेषात्मकतया कालादिक्रमं वर्णादिविभागं भाविनमनुगच्छन्ती प्रसरं गृह्णाति, तदा मध्यमाख्यवाग्रूपा विवृत्तिः। —स्पन्दकारिकाविवृति।

श्लोकवार्तिक नामक जैन-ग्रन्थ में चतुर्विध वाक् वर्णित है। प्रमेयकमलमार्तण्ड के उद्धरण से भी वाक् का चातुर्विध्य वैयाकरणसम्प्रदायानुसारी प्रतीत होता है। पश्यन्ती के ही दो भेद मान कर वाक्चतुष्टयी की व्याकरणागमानुसारी व्याख्या करनी चाहिए। जैसा कि श्रीवृषभ ने 'दिव्यादिव्येन रूपेण' की पद्धति में उद्धृत किया है—'दिव्यादिव्येन इति। तस्या हि पश्यन्त्या रूपे, दिव्यं च योगिग्राह्यम्, अदिव्यं च [1](शा) कटिकादिष्ववस्थितम्।' हाँ, नागेश ने सूक्ष्मा के स्थान पर 'परा' पाठ स्वीकार किया है। हो सकता है कि महाभारत में उन्हें ऐसा पाठ मिला हो। अष्टप्रकरणादि में सूक्ष्मा पाठ ही है।

[2]शृङ्गारप्रकाश, नवम प्रकाश, पृष्ठ ३६७ में भोजराज ने वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा इन चार भेदों को मानते हुए 'स्थानेषु विधृते वायौ' आदि श्लोकों को उद्धृत किया है।

'आगन्तुक अर्थात् अविद्याकल्पित अपभ्रंश रूप मलों से नित्य आकीर्यमाण या संभिन्न (मिश्रित) होने पर भी वह चन्द्रमा की चरम (अन्त्य) षोडशीकला के समान अभिभूत नहीं होती—मलिन नहीं बनाई जा सकती।'

श्रीवृषभाचार्य ने यहाँ शङ्का उठाई है कि सूक्ष्मा वाक् के व्यवहारातीत होने से उसका अपभ्रंशों के साथ मिश्रण कैसे सम्भव है? समाधान यह है—वाक् के विभाग को न जानने वाले लोग उसी को संकीर्ण या मिश्रित समझते हैं। परिशुद्ध सूक्ष्मा वाक् में मल हो ही नहीं सकता। कला पर उनका व्याख्यान इस प्रकार है—

चन्दमा की चौदह कलाएँ सूर्य के द्वारा प्रतिपदा से लेकर अभिभूत होती रहती हैं। और इसकी जो पन्द्रहवीं कला है वह अमावास्या में सूर्य से एकीकृत होने के कारण अभिभूत नहीं होती। भेद होने पर दबने और दबाने वाले को लेकर अभिभव होता है। इस प्रकार वह वाक् अपभ्रंशों से अभिभूत नहीं होती—मलिन नहीं बनाई

---

१. शाकटिक शब्द का प्रयोग कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में अनेक बार किया है, वह गाड़ीवान् के अर्थ में है, किन्तु यहाँ गाड़ीवान् का अभिप्राय ही अदिव्य पश्यन्ती वाक् हो सकता है, जो चञ्चल रहता है—'यच्चलाचलेत्याद्युक्तम्।' —श्रीवृषभ

२. शब्दब्रह्मणो चतस्रोऽवस्था:—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, सूक्ष्मेति। तत्र येयं स्थानकरणप्रयत्नक्रमव्यज्यमानगकारादिवर्णसमुदायात्मिका वा सा वैखरी। या पुनरन्तः सञ्जल्परूपा क्रमवती श्रोत्रग्राह्यवर्णाभिव्यक्तिरूपा सा मध्यमा। या तु वर्णविभागाभावादक्रमा स्वयम्प्रकाशा च सा पश्यन्ती। या पुनरनाद्यविद्यावासनोपप्लवमानशब्दार्थभेदरहितावबोधरूपब्रह्मशब्दवाच्या स्वरूपज्योतिरेवात्मनोऽन्तरनपाया प्रकाशते सा सूक्ष्मा। तदुक्तम्—स्थानेषु विधृते—केवला बुद्ध्युपादाना सूक्ष्मा वागनपायिनी। श्रुतिरप्याह—'चत्वारि वाक्परि–'। तत्र गुहाशयेषु त्रिषु यदेतत्सूक्ष्मेति गीयते ते तदनाहतमित्यामनन्ति।'

जाती। 'पुरुषे षोडशकले–' इस श्लोक की व्याख्या करते हुए श्रीवृषभ ने कहा है— 'परमार्थतस्तु षोडश्येवान्त्या' ॥ ४ ॥

उस पश्यन्ती (पर) का स्वरूप देख लेने पर अधिकार की निवृत्ति हो जाती है। सोलह कला वाले पुरुष से उसी को अमृताकला के नाम से कहा गया है ॥ ५ ॥

श्रीवृषभाचार्य ने 'तस्याम्' का अर्थ 'पश्यन्त्यां' ही किया है। 'दृष्टस्वरूपायाम्' पर उनका कथन है—शब्दपूर्वयोग के द्वारा जब उस पश्यन्ती का अविपरीत रूप देख लिया जाता है। बन्धाख्य[1] नियोग ही अधिकार है। योगदर्शन के व्यासभाष्य में बहुधा 'अवसिताधिकार' या 'चरिताधिकार' की चर्चा आती है; वहाँ अधिकार से तात्पर्य है—भोग और अपवर्ग। षोडशकल पुरुष के सम्बन्ध में श्रीवृषभ कहते हैं—

इस सम्बन्ध में दो दर्शन है—१. पुरुष सूर्यमय है और २. पुरुष सोममय है। यहाँ सोममय पुरुष वाला मत स्वीकार किया गया है। सोम-चन्द्र षोडशकल है। पुरुष[2] भी वैसा ही है। जैसे सोम पन्द्रह कलाओं से वृद्धि का अनुभव करता है, वैसे ही पुरुष भी उन्हीं के आधार पर चलता है। सोलहवीं कला का आवर्तन नहीं होता है। यही पश्यन्ती वाक् है। इसका कभी मरण या नाश नहीं होता, इसलिए उसे अमृता कहा गया है।

भवभूति ने भी इसका स्मरण किया है—'वन्देमहि च तां वाणीममृतामात्मनः कलाम्।'

—उत्तररामचरित

असत्याभास रूप अनुषङ्गी अपभ्रंशों से उपरंजित होकर भी वैखरी वाणी रजोगुण एवं तमोगुण से नित्य अनुबद्ध या उपरक्त सत्त्वमात्रा के समान सम्मिश्रित नहीं होती, अर्थात् स्वरूप से प्रच्युत नहीं होती ॥ ६ ॥

'प्राप्तोपरागरूपा इति। उपरज्यन्ते एभिरित्युपरागा अपभ्रंशाः। प्राप्तमुपरागरूपं यया इति। नियतमेते शाकटिकादयः तस्या वैखर्याः स्थाने तामपभ्रंशान् प्रयुञ्जते। तेनैतस्या वाचो रूपमिव दृश्यत इति प्राप्तमित्युच्यते।' —पद्धति।

उपराग अर्थात् अपभ्रंश। क्योंकि इनसे स्वरूप रंग जाता है। ये शाकटिक–गाड़ीवान् आदि निश्चय ही उस वैखरी के स्थान में अपभ्रंशों का प्रयोग करते हैं। जिससे वैखरी वाक् का ही रूप-सा दिखलाई देने लगता है, इसलिए मूल में प्राप्तोपराग कहा गया है।

पीछे 'शाकटिकादिष्ववस्थितम्' में जिस अदिव्य पश्यन्ती वाक् की स्थिति की बात कही गई है, वह अपभ्रंश का ही सूक्ष्म रूप हो सकता है।

---

१. 'यतो यन्नियुक्त इवाविद्यावशात् संसारे उत्पत्तिविनाशावनुभवन्नवतिष्ठते।'

—श्रीवृषभ।

२. प्रश्नोपनिषद् में पुरुष की सोलह कलाएँ—१ प्राण, २ श्रद्धा, ३ आकाश, ४ वायु, ५ ज्योति, ६ जल, ७ पृथ्वी, ८ इन्द्रिय, ९ मन, १० अन्न, ११ वीर्य, १२ तप, १३ मन्त्र, १४ कर्म, १५ लोक और १६ नाम।

सोलह स्वरों को भी कला के नाम से कहा जाता है। 'अ' का नाम अमृता और 'अः' का पूर्णामृता है।

'विप्लवैः। विप्लवो ह्यसत्याभासेनार्थस्वरूपसंस्पर्शी। अपभ्रंशास्तु साधुस्वरूपासंस्पर्शिन उपप्लवस्थानीया बालैस्तथात्वेन गृहीता उपप्लवा उक्ताः। अनुबन्धिभिरिति। अपभ्रंशैरनुबद्धत्वात् तस्या उपरागप्राप्तौ च करणत्वात् तृतीया।' —पद्धति

विप्लव अपने असत्य आभास से विषय (अर्थ) के स्वरूप का स्पर्श करता है। किन्तु अपभ्रंश साधु स्वरूप का स्पर्श नहीं कर पाते, फिर भी अज्ञ जनों के द्वारा वे उपप्लव के रूप में गृहीत होते हैं।

वृत्तिः—सैषा त्रयी वाक् चैतन्यग्रन्थिविवर्तवदनाख्येयपरिमाणा तुरीयेण मनुष्येषु प्रत्यवभासते। तत्रापि चास्याः किञ्चिदेव व्यावहारिकम्, अन्यत्तु सामान्यव्यवहारातीतम्। आह खल्वपि—

'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥' इति।
—ऋग्वेद० १।१६४।४५

विवरण—वही यह वैखर्यादिक वाक् त्रयी चैतन्यग्रन्थि के देव, मनुष्यादि रूप विवर्तों के समान अनन्त परिमाणों से सम्पन्न है, उसका इयत्तया कथन नहीं किया जा सकता। यहाँ तथा अन्यत्र वृत्ति में ग्रन्थि शब्द पठित है, उसका अर्थ दुरूह है। यदि इसका अर्थ 'कारण' हो तो सङ्गत होगा।

तन्त्रशास्त्र में ग्रन्थि माया का ही एक रूप है, जो कारण भी है। यथा—'अत एवाध्वनि प्रोक्ता पूर्वं माया द्विधा स्थिता' (१५४) —तन्त्रालोक, आह्निक ९

'तस्याश्च तत्त्वग्रन्थिरूपतया द्विधावस्थानमित्युक्तम्, द्विधा स्थितेति कारणस्य हि उच्छूनेन अनुच्छूनेन च रूपेण भाव्यमिति भावः।' —जयरथ-कृत विवेकटीका

'रागारुणं ग्रन्थिबिलावकीर्णम्॥' तन्त्रालोक, आ० १

'ग्रन्थौ मायाया द्वितीयस्मिन् भेदे।' —जयरथ।

माया की सूक्ष्म अवस्था का नाम तत्त्व है और स्थूल अवस्था का ग्रन्थि और यही 'कारण' है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में चैतन्यग्रन्थि का अर्थ होगा—चैतन्यात्मक कारण। जहाँ 'विकारग्रन्थि' का उल्लेख है (प्रथम कारिका की वृत्ति), वहाँ विकारों का कारण—यह अर्थ होगा।

वह त्रयी वाक् चैतन्यरूप कारण के परिणाम से अनन्त-अवाच्य परिमाणों वाली है। वह अपने नाम, आख्यात आदि चार भेदों वाली वैखरी वाक् रूप से मनुष्यों में भासित होती है। तीन वाणियाँ तो मनीषियों द्वारा ही जानी जाती हैं। नामाख्यातादि चतुर्विध वाक् का कुछ ही अंश व्यावहारिक है, अन्य तो सामान्य व्यवहार से परे ही है।

अथवा त्रयी वाक्, जो अकथनीय परिमाणों वाली है, अपने चौथाई अंश से मनुष्यों में प्रतिभासित होती है।

आगम में भी कहा है—सम्पूर्ण वाक् के चार पद हैं; लोक में जो वाक् है, वह चतुर्धा विभक्त है। उन पदों को वेदवेत्ता मनीषी ब्राह्मण जानते हैं। उनमें तीन गुहा में निहित है—वे प्रकाशित नहीं होते। केवल चौथे पद को मनुष्य, चाहे वे अज्ञ हों या विज्ञ, व्यवहार में लाते हैं। वे चार पद कौन हैं? इसका व्याख्यान लोगों ने अनेक प्रकार से किया है। वे मतवादी अधोलिखित हैं—१. वेदवादी, २. वैयाकरण, ३. याज्ञिक, ४. नैरुक्त, ५. ऐतिहासिक और ६. आतमवादी। इसके अतिरिक्त परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ये चार पद बतलाये गये हैं।

यह व्याख्या सायण के अनुसार है। श्रीवृषभ ने इस पर कोई टीका नहीं की है। उक्त व्याख्याओं के लिए इसी पुस्तक का पृष्ठ ३९९ द्रष्टव्य है।

वृत्तिः– तस्याश्चासङ्कीर्णं वाचो रूपं कात्स्न्र्येन सामान्यविशेषवत्यस्मिँल्लक्षणे व्याकरणाख्ये निबद्धम्। अर्वाग्दर्शनानां तु पुरुषाणां प्रायेण सातिशयाः प्रतिघातिन्यः सापराधाः शक्तयः। निरपराधस्तु लक्षणप्रपञ्चवाननेकमार्गोऽयं शब्दानां प्रतिपत्त्युपायो दर्शितः ॥ १२३ ॥

विवरण—उस त्रयी वाक् का असंकीर्ण–अपभ्रंशों से रहित रूप उत्सर्ग और अपवाद वाले इस व्याकरणशास्त्र में सम्पूर्णता से परिलक्षित है। 'वैखरी का स्वरूप साक्षात् और पश्यन्ती–मध्यमा का परम्परा द्वारा।' —पद्धति

शिष्टों की स्मरण परम्परा से ही प्रतिपद पाठ के समान साधुशब्दों का साधुत्व जान लिया जाता, पुनः व्याकरण की क्या आवश्यकता है? इस पर कहते हैं—

अर्वाग्दर्शी (तात्त्विक दृष्टि रहित) पुरुषों में साधुशब्दों के ज्ञान की शक्तियाँ सातिशय होती हैं। अर्थात् एक व्यक्ति कुछ शब्दों को जानता है, दूसरा उससे अधिक, तीसरा उससे भी अधिक—इस प्रकार कोई भी पूर्णरूप से नहीं जानता। इसके अतिरिक्त साधुशब्दों के ज्ञान में उनका प्रतिघात या अप्रवृत्ति भी देखी जाती है और उनकी शक्तियाँ साधुशब्दों को असाधु शब्दों के रूप में भ्रान्तिवश देखती है; अतः सापराध हैं। किन्तु आर्ष दृष्टि वाले शिष्टों से प्रणीत व्याकरणशास्त्र शब्दों के प्रतिपादन का उपाय होने से निरपराध या निर्भ्रान्त है। यह शास्त्र लक्षण और उसके विस्तार से युक्त अनेक मार्गों वाला है।

श्रीवृषभ ने 'लक्षणप्रपञ्चवान्' पर कहा है—'विशेषणं विशेष्येण–' (पाणिनि २।१।५७) इति लक्षणम्, तदुत्तरः प्रपञ्चः। अनेकमार्ग इति। एवं ह्युक्तम्—'सर्वं-वेदपार्षदं हीदं शास्त्रं तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्।'

बहुलमन्यतरस्यां विभाषेत्यादिग्रहणं तत इति। उत्सर्गापवादस्थान्यादेशादिभेदो वा।
—पद्धति।

शब्दसाधु-व्यवस्था आर्षज्ञानमूलक है, इस बात को प्रस्तुत कारिका द्वारा पुष्ट करते हैं—

तद्विभागाविभागाभ्यां क्रियमाणमवस्थितम् ।
स्वभावज्ञैश्च भावानां दृश्यन्ते शब्दशक्तयः ।। १३४ ।।

विभागाविभागाभ्यां क्रियमाणं तद् अवस्थितम्; भावानां स्वभावज्ञैः च शब्दशक्तयः दृश्यन्ते ।

दूसरों को बोध कराने के लिए प्रकृति और प्रत्यय आदि भेदात्मक कल्पित विभाग द्वारा तथा दार्धर्ति, दर्धर्ति आदि स्वरूपात्मक उच्चारण रूप अविभाग से क्रियमाण व्याकरणशास्त्र व्यवस्थित है। पदार्थों के स्वभाव को जानने वाले ऋषियों के द्वारा—'यह शब्द धर्मजनन का हेतु है' और 'यह अधर्म का'—इस प्रकार की शक्तियाँ देखी जाती हैं ।। १३४ ।।

वृत्तिः—विभागो नाम परप्रतिपादनाय कल्पितः प्रकृतिप्रत्ययादिभेदः । तद्यथा—धातोस्तव्यदादय इति । तथा चोक्तम्—

'यत्तावदयं सामान्येन शक्नोत्युपदेष्टुं तत्तावदुपदिशति ।'—इति ।

(महाभाष्य)

अविभागस्तु यत्र स्वरूपेणोच्चारणम् । तद्यथा—दार्धर्त्तिदर्धर्तिदाश्वान् साह्वान् इति । कानिचिद् व्याकरणानि बह्वविभागानि बहून् प्रत्यक्षपक्षेण शब्दान् प्रतिपादयन्ति । कानिचित् तु विभज्यानुमानपक्षेण बहूनां समुदायानां प्रतिपादनं कुर्वन्ति । सैषा स्मृतिर्यथाकालं पुरुषशक्त्यपेक्षया तथा तथा व्यवस्थाप्यते । सन्ति तु साधुप्रयोगानुमेया एव शिष्टाः सर्वज्ञेयेष्वप्रतिबद्धान्तःप्रकाशाः । ते विशिष्टकालावधिप्रविभागं यथाकालं धर्माधर्मसाधनभावेन समन्वितां शब्दशक्तिमव्यभिचारेण पश्यन्ति ।। १३४ ।।

विवरण—दूसरों के लिए प्रतिपादनार्थ कल्पित प्रकृति-प्रत्ययादि भेद ही विभाग है। जैसे धातु से तव्यत् आदि प्रत्यय। अनेक शब्दों के अवयव सादृश्य की कल्पना करके अन्वयव्यतिरेक से प्रकृति-प्रत्ययादि विभाग-वचनों में अवयवों का अपोद्धार (विच्छेद) वास्तविक नहीं है, अतः उसे वृत्ति में 'कल्पित' शब्द द्वारा कहा गया है। जैसा कि महाभाष्य का विवेचन है—

'आद्यन्तौ टकितौ' (पाणिनिसूत्र १।१।४६) का भाष्य—भगवान् पाणिनि जिस प्रकृत्यात्मक शब्द का सामान्य रूप से उपदेश कर सकते हैं, उसका उतना ही उपदेश करते हैं, पश्चात् आर्धधातुक संज्ञा और तब इट् । भू—प्रकृति, तव्य प्रत्यय, इट् का आगम; पुनः विशेषरूप से इतव्य यह शब्दान्तर समुदाय प्रतिपन्न होता है। वस्तुतः जैसे रेखा-गवय (नीलगाय) सत्य गवय का प्रतिपादन करता है, वैसे ही अवयवों के उपदेश से सत्य पदों का उपदेश सम्पन्न होता है।

जिसमें पद का स्वरूपतः उच्चारण होता है, वह अविभाग दशा है। जैसे दार्धति, दर्धति, दाश्वान् और साह्वान् आदि पद। कुछ व्याकरण ऐसे हैं, जो बहुत अविभाग वाले प्रतिपद पठित शब्दों का प्रत्यक्ष प्रतिपादन करते हैं। और कुछ अन्य ऐसे व्याकरण हैं, जो अनुमान पक्ष द्वारा विभाग करके अनेक समुदायात्मक पदों का प्रतिपादन करते हैं। यथावसर महाशक्ति वाले पुरुषों की अपेक्षा से बहुविभाग सम्पन्न एवं अल्पशक्तिशाली पुरुषों की अपेक्षा से अल्पविभाग वाली वही यह व्याकरणस्मृति रची जाती है। साधुशब्दों की प्रयोग-परम्परा को देखकर उनके प्रयोक्ता शिष्टों का अनुमान किया जाता है। इन शिष्टों में समस्त ज्ञेय पदार्थ-विषयक अन्तर्ज्ञान निहित रहता है। वे शिष्टजन इस काल से लेकर इस काल तक अमुक शब्द साधु है और अन्य काल में असाधु, इस प्रकार विशिष्ट काल की अवधि में धर्म तथा अधर्म जनकता से युक्त शब्दशक्ति को निर्भ्रान्त रूप से देखते हैं। इस बात को 'तस्मादकृतकं शास्त्रं–' (४२) इस कारिका की वृत्ति में 'प्रतिकालं दृष्टशब्दस्वरूपव्यभिचाराणि प्रमाणीकृत्येदमाचार्यैः शब्दानुशासनं प्रक्रान्तमनुगम्यते' इस सन्दर्भ द्वारा कहा गया है। और इस पर श्रीवृषभाचार्य ने कहा है—

प्राचीन लोग ऐच् आगम से रहित न्यङ्कु शब्द से निष्पन्न 'न्याङ्कवम्' को अभ्युदय का अङ्ग मानते थे और आज कल 'नैयङ्कवम्' को मानते हैं ॥ १३४ ॥

उक्त रीति से व्याकरणस्मृति का प्रामाण्य बतलाकर प्रसङ्गतः अन्य स्मृतियों एवं उनकी मूलभूत श्रुति की अविच्छिन्नता का उल्लेख करते हैं—

अनादिमव्यवच्छिन्नां श्रुतिमाहुरकर्तृकाम् ।
शिष्टैर्निबध्यमाना तु न व्यवच्छिद्यते स्मृतिः ॥१३५॥

अकर्तृकाम् अनादिम् अव्यवच्छिन्नां श्रुतिमाहुः। शिष्टैः निबध्यमाना स्मृतिः तु न व्यवच्छिद्यते।

(मीमांसक[1]) श्रुति को कर्ता रहित, अनादि एवं अविनाशी कहते हैं। स्मृति यद्यपि समय-समय पर शिष्टों द्वारा निबद्ध की जाती है, तो भी उसका विच्छेद नहीं होता। वह प्रवाह से अविच्छिन्न रहती है।

वृत्तिः—ये शब्दप्रमाणका एव केवलं सर्वमेव शास्त्रप्रत्ययमदृष्टफलेष्वर्थेष्वभिशङ्कनीयत्वादप्रमाणं पुरुषस्य दर्शनमिति मन्यन्ते, तेषां श्रुतिस्मृत्योरविच्छेदाविशेषे तुल्ये चोभयोरर्थस्य नित्यत्वे श्रुतिरव्यभिचारितस्वरवर्णानुपूर्व्यदेशकालनियमा न केनचित्कर्त्रा प्रकारान्तरेणावस्थापितपूर्वा सर्वकालं सर्वदेशेषु प्रतिचरणं विभागेन व्यवस्थापिता। स्मृतिस्तु नित्यमविच्छिद्यमानार्था गद्यश्लोकवाक्यादिभेदेन प्रतिकालमन्यथा शिष्टैरेव निबध्यते।

१. ये लोग सृष्टि और प्रलय नहीं स्वीकार करते।

विवरण—जो केवल शब्द-प्रमाण वादी हैं, धर्म और अधर्म रूप अदृष्ट फल-वाले अर्थों के विषय में शास्त्रजन्य प्रत्यय (बोध) को ही प्रमाण मानते हैं; और उन-उन अर्थों में पुरुषों के दर्शन (मत) को राग-द्वेषादि के कारण शङ्कास्पद होने से प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं करते, उनके मत में यद्यपि श्रुति और स्मृति की अविच्छिन्नता तुल्य है और दोनों का अर्थ नित्य है, तो भी श्रुति समस्त देशों और कालों में स्वर और वर्णों की आनुपूर्वी के अतिक्रम से रहित होती है। किसी कर्ता के द्वारा पहले से इसकी स्थापना नहीं की गई है। यह श्रुति सभी देशों एवं कालों में प्रत्येक चरण के विभाग के साथ व्यवस्थापित है। और स्मृति नित्य अविच्छिद्यमान अर्थवाली होने पर भी गद्य-वाक्य और श्लोक-वाक्य आदि के सन्निवेश या संरचना विशेष के भेद से प्रत्येक काल में शिष्टों के द्वारा भिन्नरूप से निर्मित होती है। वहाँ स्वर एवं वर्णों की आनुपूर्वी का नियम नहीं रहता।

वृत्तिः—तत्र केचिदाचार्या मन्यन्ते—न प्रकृत्या किञ्चित्कर्म दृष्टमदृष्टं वा। शाखानुष्ठानात्तु केवलाद्धर्माभिव्यक्तिः। शास्त्रातिक्रमाच्च प्रत्यवाययोगः। येषामेव हि ब्राह्मणवधादीनां विषयान्तरे पातकत्वं तेषामेव विषयान्तरे प्रकृष्टाभ्युदयहेतुत्वं शास्त्रेण विधीयत इति।

विवरण—इसी परम्परा के कुछ आचार्यों की मान्यता—कोई कर्म या पदार्थ स्वभावतः दृष्ट या अदृष्ट फलवाला नहीं होता, किन्तु शास्त्रानुकूल अनुष्ठान से ही धर्म की अभिव्यक्ति होती है और शास्त्र का अतिक्रमण करने से कर्म का दूषित होना सम्भव है। इस प्रकार कर्म में स्वतः धर्मजनकता या अधर्मजनकता नहीं होती, किन्तु आगम ही उसके रूप को प्रकाशित करता है कि यह धर्मजनक है या अधर्मजनक।

यहाँ भर्तृहरि दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं—'जिन लोगों के मत में ब्राह्मणवधादि का राग-द्वेषवश विषयान्तर में पाप माना जाता है, उन्हीं के मत में पुरुषमेध में ब्राह्मणवध और सौत्रामणियाग में सुरापान अभ्युदय का कारण माना जाता है। यह शास्त्रीय विधान है।'

यह मत मूल मन्त्रों में तो नहीं मिलेगा, किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं श्रौतसूत्रों में अवश्य मिलता है। और निश्चय ही इस प्रकार का एकदेशी मत तामसी और अशिष्ट पण्डितों द्वारा व्याख्यात और अभिमत रहा होगा। यह वेद का तात्पर्य कथमपि नहीं हो सकता। भर्तृहरि के समय में भी इस प्रकार की मान्यता वाले जन रहे होंगे, जिन को ध्यान में रखकर उन्होंने ऐसा कहा है।

वृत्तिः—अन्ये तु मन्यन्ते—भावशक्तिमेव प्रतिनियतविषयां शास्त्रमनुवदति। को हि शास्त्रस्य क्रीडत इव कारणस्य पुरुषानुग्रहोपघाताभ्यामर्थः। शास्त्रस्वभावाभ्युपगमाद् द्रव्यस्वभावाभ्युपगम एव युक्ततरो दृश्यते। तथा हि दृष्टार्थासु चिकित्सादिषु स्मृतिषु विषौषधादीनामिवार्थक्रियासु सामर्थ्यमुप-

लभ्यते, न स्मृतिशास्त्राणाम्। तस्माच्छास्त्रस्वभाव इव पक्षान्तरे द्रव्यादिस्वभावोऽयं शास्त्रेणानूद्यते। यथैवोपघातनिमित्तान्यनुग्रहनिमित्तानि च लोके व्यवस्थितानि, तथैव तत्प्रतिपत्त्युपायानामप्यविच्छेदेन व्यवस्था विद्यते ॥१३५॥

विवरण—अन्य लोग मानते हैं—नियत-विषयक कर्मभाव या पदार्थशक्ति का ही शास्त्र अनुवाद करता है। पदार्थ में ही विशिष्ट शक्ति रहती है, शास्त्र केवल उसका बोध कराता है। पूर्वमतानुगत 'येषामेव हि–' इस सन्दर्भ द्वारा प्रस्तुत दृष्टान्त का परिहार 'प्रतिनियतविषयाम्' द्वारा श्रीवृषभ दिखलाते हैं। उनकी व्याख्या है—'भावशक्तिमिति। कर्मणः स्वभाव एषः, केवलमवबोधकं शास्त्रमिति। येषामेव हीति चोद्यं परिहरति प्रतिनियतविषयाम् इति।'

किन्तु श्रीवृषभ की अग्रिम पंक्तियाँ 'येषामेव हि–' इस मत का समर्थन करती जान पड़ती हैं—'दृश्यते हि पदार्थानां सहकारिकारणवशाच्छक्तिभेदो यथा तदेव विषं मन्त्रौषधादिसहितमारोग्याय।' —पद्धति।

अर्थात् सहकारी कारण द्वारा पदार्थों में विद्यमान शक्ति का भेद भी देखा जाता है। जैसे वही विष मन्त्र और औषधादिक की सहायता से आरोग्य का हेतु बन जाता है।

भगवान् भर्तृहरि 'अन्ये तु–' इस मत को पुष्ट करते हुए कहते हैं—क्रीडाब्रह्म के समान मनुष्यों पर अनुग्रह और निग्रह करने से शास्त्र का कौन प्रयोजन सिद्ध होगा? शास्त्र-स्वभाव को स्वीकार करने की अपेक्षा द्रव्यस्वभाव को मानना अधिक उचित प्रतीत होता है। जैसे दृष्ट फलवाला चिकित्सादिक स्मृतियों में विष एवं औषध आदि के समान अर्थक्रियाओं से सम्बद्ध सामर्थ्य देखा जाता है, वैसा अन्य अदृष्टार्थ स्मृतिशास्त्रों का नहीं। इसलिए द्रव्यादि का स्वभाव ही शास्त्र द्वारा अनूदित होता है; जैसे पूर्वमत में इसे शास्त्र का स्वभाव माना गया है।

श्रीवृषभाचार्य दोनों मतों को दोषरहित मानते हैं। वे 'तस्मात्–' पर कहते हैं—'यथा प्रथमपक्षे शास्त्रस्य स्वभावः, तथा द्वितीयपक्षे पदार्थस्वभावोऽपर्यनुयोज्यः।' —पद्धति

जैसे संसार में सुख और दुःख के कारण (हेतु) व्यवस्थित हैं—भिन्न रूप में जाने जाते हैं, वैसे ही उनके प्रतिपादक आगमों की भी अविच्छिन्न रूप से व्यवस्था विद्यमान है। तात्पर्य यह है कि जैसे भिन्न-भिन्न पदार्थ तत्तद् विशिष्ट शक्ति से युक्त स्थित हैं और आगम उसके प्रतिपादक हैं, वैसे ही साधुशब्दों एवं असाधु शब्दों में धर्म और अधर्मजननात्मक शक्ति स्वतः स्थित है; व्याकरणशास्त्र उसका प्रतिपादक मात्र है ॥ १३५ ॥

सृष्टि और प्रलयवादियों के मत से श्रुति और स्मृति का प्रामाण्य प्रस्तुत करते हैं—

अविभागाद् विवृत्तानामभिख्या स्वप्नवच्छ्रुतौ ।
भावतत्त्वं तु विज्ञाय लिङ्गेभ्यो विहिता स्मृतिः ॥ १३६ ॥

अविभागाद् विवृत्तानां श्रुतौ स्वप्नवत् अभिख्या; भावतत्त्वं तु विज्ञाय लिङ्गेभ्यः स्मृतिः विहिता ।

एक अभिन्न शब्दब्रह्म से विवृत्त या परिणत (स्वर्ण से कुण्डलादि के सदृश) ऋषियों का वेद के विषय में स्वप्न के सदृश ज्ञान होता है । जैसे स्वप्न में श्रोत्र-निरपेक्ष बाह्य विषय के अनुकरण से रहित मानस होता है, वैसे ही ऋषियों को वेद का ज्ञान होता है । पश्चात् पदार्थों की अनुग्रह और उपघातजनित शक्ति को जानकर तथा वेद में स्थित संकेतों से स्मृतियों की रचना की जाती है ।

वृत्तिः—येषां तावदियं नित्यैव लोकस्य विभागेन प्रवृत्तिर्नैव काचिद् युग-मन्वन्तरव्यवस्था, नापि ब्रह्मणोऽसाधारणः कश्चिदहोरात्रविभागो विद्यत इति दर्शनम्, तेषामुक्तः श्रुतिस्मृतिप्रवृत्तिधर्मः पुरस्तादनन्तरे श्लोके ।

विवरण—जिन मीमांसकों एवं जैनियों का यह मत है कि समस्त सांसारिक पदार्थ जैसे आज विभक्त रूप में हैं, वैसे ही सभी काल में रहते हैं । कोई अविभक्त अवस्था नहीं है । सत्ययुग, त्रेतायुग जैसी युग-व्यवस्था तथा बहत्तर चतुर्युगों की एक मन्वन्तरात्मक व्यवस्था भी नहीं है और न ही ब्रह्मा का असाधारण दिवस (चौदह मन्वन्तर रूप कल्पात्मक अहोरात्र) और रात का विभाग ही है । एक सृष्टि ब्रह्मा का एक दिन और प्रलय रात्रि कही जाती है । उनके मतानुसार श्रुति और स्मृतियों में विद्यमान प्रवृत्ति धर्म पहले ही पिछले श्लोक में कहा गया है ।

वृत्तिः—येषां तु स्वप्नप्रबोधवृत्त्या नित्यं विभक्तपुरुषानुकारितया कारणं प्रवर्तते तेषामृषयः केचित् प्रतिभात्मनि विवर्तन्ते सत्तालक्षणं महान्त-मात्मानमविद्यायोनिं पश्यन्तः प्रतिबोधेनाभिसम्भवन्ति ।

विवरण—जिन लोगों के मत में कृतयुग आदि विवर्त दशाएँ शाश्वत कारण के प्रबोध या जागरणरूप हैं और प्रलय दशा स्वप्नरूप; उनके मत में नित्य-शाश्वत एक ही कारण भिन्न-भिन्न देवदत्तादि पुरुषों के रूप में विवर्तावस्था या सृष्टि दशा में प्रवृत्त होता है । इस सम्वन्ध में दो मत है—

१. सर्वप्रथम महाकारण रूप परा प्रकृति से प्रतिभा का उदय होता है; इसका दूसरा नाम सत्ता या महानात्मा भी है । यह अविद्या की योनि या जन्मदात्री भी है । समस्त विकारग्राम असत्य स्वभाव होने से अविद्यात्मक है और इस अविद्या का कारण है—प्रतिभा या महानात्मा । इसी प्रतिभा के साथ ही ऋषि भी उत्पन्न होते हैं । वस्तुतः प्रतिभा के रूप में ही ऋषि भी ब्रह्म से विवृत्त होते हैं । श्रीवृषभाचार्य ने व्याख्या की है—'यदा प्रतिभा विवर्तते तदैवेके ऋषयस्तया सहैव विवर्तन्ते । एवं तर्हि

प्रतिभात्मना सहेति वक्तव्यम् । किमुच्यते प्रतिभात्मनीति । ते प्रतिभास्वभावा बुद्धिस्वभावा एते तया सहोत्पन्ना इति कथयति ।'

२. जब प्रतिभा का विवर्तन या विकास होता है, उसी समय कुछ ऋषि उसके साथ ही विवृत्त होते हैं । यदि ऐसा है तो वृत्तिकार को 'प्रतिभात्मना सह' इस प्रकार कहना चाहिए था । वस्तुतः ये ऋषि प्रतिभास्वभाव या बुद्धिस्वभाव के रूप में उसके साथ उत्पन्न होते हैं, ऐसा आचार्य भर्तृहरि के कहने का तात्पर्य है ।

इसके अनन्तर का पाठ भ्रष्ट है । उससे इतना ही अर्थ निकलता है कि प्रधान का महत्तत्त्व प्रथम विवर्त है । यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि सांख्यदर्शन निरीश्वर और परमेश्वर रहित नहीं है, भ्रान्तिवश लोगों ने वैसा समझ रखा है । सांख्यकारिका का भी वैसा अभिप्राय नहीं है । युक्तिदीपिका और माठरवृत्ति देखने से स्पष्ट है कि सांख्य को ब्रह्म और ईश्वर मान्य है । हाँ, वाचस्पतिमिश्र की तत्त्वकौमुदी जो अधिक प्रचलित है तथा किन्हीं शङ्कर की जयमङ्गला टीका के आधार पर सांख्य निरीश्वर बन गया । प्रकृति का अधिष्ठाता परमेश्वर कहलाता है और महत्तत्त्व का ईश्वर । या तादात्म्य से महत्तत्त्व को ही महानात्मा या ईश्वर कहते हैं ।

माठराचार्य 'सङ्घातपरार्थत्वात्–' (१७) इस कारिका की वृत्ति में कहते हैं—'अपि चोक्तं [1]षष्टितन्त्रे–' पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते इति । ततः पश्यामोऽसौ परमात्मा अस्ति पुरुषो येनाधिष्ठितं प्रधानं महदहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतान्युत्पादयति । ··· ····'एवमिदं व्यक्ताव्यक्तं दृष्ट्वा साधयामोऽस्त्यसौ परमात्मा पुरुषो यस्येदं भोक्तुर्व्यक्ताव्यक्तं भोग्यमिति ।'

इसके अतिरिक्त 'त्रिगुणमविवेकि–' (११) सांख्यकारिका की वृत्ति में 'तथा च पुमान्' पर माठराचार्य कहते हैं—'वैधर्म्यमभिधाय[2] साधर्म्यमाह–' तथा च पुमानिति । 'हेतुमदनित्यमव्यापि–' (१०) इत्युक्तम् । तद्यथा व्यक्ताद्विसदृशं प्रधानं तथा प्रधानसधर्मा पुरुषः । तथा हि अहेतुमान्नित्यो व्यापी निष्क्रियः एकोऽनाश्रितोऽलिङ्गो निरवयवः स्वतन्त्र इति ।'

---

१. षष्टितन्त्र में भी कहा गया है—पुरुष से अधिष्ठित प्रकृति सृष्टि-कार्य में प्रवृत्त होती है । इसी प्रमाण से देखते हैं कि परमात्मा रूप पुरुष की सत्ता है, जिससे अधिष्ठित होकर प्रकृति महत्-अहङ्कार-तन्मात्र-इन्द्रिय और भूतों को उत्पन्न करती है । ··· ····। इस प्रकार व्यक्त और अव्यक्त को देखकर सिद्ध होता है कि परमात्मा रूप पुरुष भोक्ता है, जिसका यह व्यक्त और अव्यक्त भोग्य है ।

२. वैधर्म्य दिखलाकर अब साधर्म्य की बात कहते हैं—'तथा च पुमान्' । हेतुमदनित्य—इत्यादि रूप की चर्चा की गई है । जैसे व्यक्त से विसदृश प्रधान है, वैसे ही प्रधान के सदृश धर्मवाला पुरुष भी है । उसका स्वरूप यह होगा–-अहेतुमान्, नित्य, व्यापी, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित, अलिङ्ग, निरवयव और स्वतन्त्र ।

गौडपादाचार्य ने भी कहा है—'अनेकं व्यक्तमेकमव्यक्तं तथा च पुमानप्येकः ।' 'अधिष्ठानात्' पर भी उनका लेख है—'यथेह लङ्घनप्लवनधावनसमर्थैरश्वैर्युक्ता रथः सारथिनाधिष्ठितः प्रवर्तते तथात्माधिष्ठानाच्छरीरमिति । तथा चोक्तं षष्टितन्त्रे—'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते । अतोऽस्त्यात्मा, भोक्तृत्वात् ।'

यह माठरवृत्ति का अनुकरण है । यथा—'तद्यथेह लोके लङ्घनप्लवनधावनसमर्थैरश्वैर्युक्तो रथः सारथिनाधिष्ठितः प्रवर्तते । अथ सारथिनानधिष्ठितः प्रवर्तते ततः शरीरनाशः स्यात् । न चात्मविनाशाय प्रवर्तते ।' शरीर का अर्थ है प्रकृति, जिसे क्षेत्र भी कहा जाता है ।

वाचस्पतिमिश्र ने 'तथा च पुमान्' पर जो कुछ कहा वही भ्रान्ति का कारण बना है ।

"अहेतुमत्त्वनित्यत्वादिप्रधानसाधर्म्यमस्ति पुरुषस्य, एवमनेकत्वं व्यक्तसाधर्म्यं, तत्कथमुच्यते 'तद्विपरीतः पुमानि'ति । अत आह—'तथा च' इति । चकारोऽप्यर्थः ।"

अर्थात् अहेतुमत्त्व और अनित्यत्व आदि में पुरुष का प्रधान के साथ साधर्म्य है और अनेकत्व में व्यक्त के साथ साधर्म्य है । तब कैसे कहा गया कि पुरुष उसके विपरीत है । इस पर कहा है—'तथा च' । यहाँ 'च' 'अपि' (भी) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । वस्तुतः यह वाचस्पतिमिश्र का स्वोपज्ञ कथन है, परम्परा-प्राप्त नहीं । जयमङ्गला और सांख्यचन्द्रिका आदि टीकाओं में मिश्र जी का ही अनुसरण किया गया है, जो भ्रम का जनक बना ।

'अनेकं व्यक्तं एकमव्यक्तम् । पुरुषोऽनेकः बहुत्वात् । तस्य बहुत्वं प्रतिपादयिष्यति । प्रधानेनात्र वैसादृश्यः तस्यैकत्वात् ।' —जयमङ्गला

'तथा चाव्यक्तसरूपोऽप्यहेतुमत्त्वादिना, एवं व्यक्तसरूपोऽप्यनेकत्वसङ्ख्येति भावः ।' —सांख्यचन्द्रिका

सांख्यकारिका की ११ और १२ कारिका की युक्तिदीपिका टीका त्रुटित है, अतः उससे इस सम्बन्ध में कोई सहायता नहीं मिलती । हाँ, वहाँ ब्रह्म की स्वीकृति अवश्य मिलती है । ६८वीं कारिका 'एकान्तमात्यन्तिकमभयं कैवल्यमाप्नोति ।' की युक्तिदीपिका में कहा गया है—'एतत्परं ब्रह्म ध्रुवममलमभयमत्र सर्वेषां गुणधर्माणां प्रतिप्रलयः । एतत्प्राप्य सर्वायासैः सर्वबन्धनैरनादिकालप्रवृत्तरागद्वेषवियुक्तो मुक्तो भवति ।' अर्थात् यह कैवल्य ध्रुव, अमल, अभय परब्रह्मरूप है । यहीं समस्त गुणधर्मों का लय होता है । इसे पाकर व्यक्ति सम्पूर्ण आयासों, बन्धनों तथा अनादिकाल से प्रवृत्त राग-द्वेष से रहित होकर मुक्त हो जाता है ।

इसके अतिरिक्त युक्तिदीपिका में अन्यत्र भी ब्रह्म की मान्यता उल्लिखित है । यथा—'सोऽयं धर्मादिषु प्रवणः तत्प्रतिपक्षापक्रान्तः सत्त्वारामो विनिवृत्ताभिमानो ज्ञाननिष्ठः सविशुद्धयोनिरचिरेण परं ब्रह्मोपपद्यत इति ।' —कारिका/२९ की टीका

वह योगी धर्मादि में प्रवण होकर अधर्म, अनैश्वर्य आदि प्रतिपक्षों से अनाक्रान्त, सत्त्व में ही रमण करने वाला, अभिमान रहित, ज्ञाननिष्ठ, श्रद्धा, सुख आदि पञ्च-योनियों की विशुद्धि से युक्त होकर शीघ्र ही परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

'एकाग्र एकारामोऽविद्यापर्वणोऽतिक्रान्तः परस्य ब्रह्मणः प्रत्यनन्तरो भवति।'

—२३वीं कारिका की टीका

एकाग्र और एक ही तत्त्व में रमण करने वाला यति अविद्या पर्व को पार करके परब्रह्म का सामीप्य लाभ करता है।

यह ब्रह्म ही प्रकृति का अधिष्ठाता है। जिससे महत्तत्त्व या महानात्मा का विकास होता है। महानात्मा को ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ[1] कहते हैं। यही ईश्वर पद वाच्य है। माठराचार्य ने 'प्रकृतेर्महान्–' (२२) इस कारिका की वृत्ति में कहा है—

'प्रकृतिः प्रधानमधिकुरुते। ब्रह्म, अव्यक्तं, बहुधात्मकं, मायेति पर्यायाः। तस्याः प्रकृतेर्महानुत्पद्यते प्रथमः कश्चित्। महान्, बुद्धिः, मतिः, प्रज्ञा, संवित्तिः, ख्यातिः, चितिः, स्मृतिरासुरी (ईश्वरी ?) हरिः, हरः, हिरण्यगर्भ इति पर्यायाः।'

'महान्, बुद्धिर्मतिर्ब्रह्मा पूर्तिः ख्यातिरीश्वरो विखर इति पर्यायाः।' —युक्तिदी०

'प्रकृतिः, प्रधानं, ब्रह्म, अव्यक्तं, बहुधानकं, मायेति पर्यायाः।' —गौड़पादभाष्य

'महान्, बुद्धिरासुरी, मतिः, ख्यातिः, ज्ञानमिति प्रज्ञापर्यायैरुत्पद्यते।' —गौड़पाद

'प्रकृतिः, प्रधानं, कारणमव्यक्तं, गुणसाम्यं, तमो, बहुलमव्याकृतमिति प्रकृति-पर्यायाः। महान्, बुद्धिर्मतिः प्रत्यय उपलब्धिरिति[2] बुद्धिपर्यायाः।' —जयमङ्गला

महानात्मा को व्याकरण-दर्शन में असकृत् प्रकृति,[3] प्रतिभा और सत्ता के नाम से कहा गया है। यह परा प्रकृति या शब्दब्रह्म का प्रथम उन्मेष है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'कारणं प्रवर्तते' से पराप्रकृति ही कारण है, ऐसा ज्ञात होता है। इसका स्वाभाविक जागरण प्रतिभा के रूप में होता है। यथा—

'केचिदाचार्या मन्यन्ते—काचित्स्वाभाविकी प्रतिभा। तद्यथा परस्याः प्रकृतेः प्रथमं सत्तालक्षणमात्मानं महान्तं प्रत्यानुगुण्यं सुषुप्तावस्थस्येव प्रबोधानुगुण्यं फलसत्ता-मात्रं निद्रायाः।' —वा० प० द्वितीय काण्ड, १५२ की वृत्ति

---

१. 'हिरण्यगर्भादिभेदेन ब्रह्मादिपदवेद्या समष्टिबुद्धिर्महानित्याह।'

—रत्नप्रभा–ब्रह्मसूत्रभाष्यटीका।

२. 'महानात्मा मतिर्विष्णुर्जिष्णुः शम्भुश्च वीर्यवान्।
बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च तथा ख्यातिर्धृतिः स्मृतिः॥
पर्यायवाचकैः शब्दैर्महानात्मा विभाव्यते।' —महाभारत

३. निरुक्त, दैवतकाण्ड में भी कहा गया है—प्रक्रियन्ते अस्यां सर्वे विकारा इति प्रकृतिः, स सत्तालक्षणो महानात्मा हिरण्यगर्भ इति। वक्ष्यति हि–'स एष महानात्मा, सत्तालक्षणः, तत्परं तद्ब्रह्म···'। (परिशिष्ट १४ अध्याय)

—अध्याय ७, पाद १, खण्ड ५।

इस प्रतिभात्मा में ही ऋषि भी उत्पन्न होते हैं। 'प्रतिभात्मनि' यह औपश्लेषिक सप्तमी है। प्रतिभा का आश्रय प्राप्त करके उसके साथ ही तद्रूप ऋषि उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार का उदाहरण निरुक्त के नैघण्टुककाण्ड की टीका में भी उपलब्ध होता है, जिससे प्रकृत सन्दर्भ को ठीक से समझा जा सकता है। यथा—

'अभिसंस्तवकाले कल्पादौ अन्यकल्पविशिष्टकर्मनिर्जितकार्यकारणसर्वभूतसाधारणात्मभूते हिरण्यगर्भे विवर्तमाने तद्बुद्धिमाश्रयं प्राप्य तेनैव सह युगपदेवाभिव्यज्यन्ते विशेषात्मलाभाय शब्दा इति।' —दुर्गाचार्य की वृत्ति।

सृष्टि के अवसर पर कल्प के आदि में अन्य कल्प के विशिष्ट कर्मों से उपार्जित कार्य-कारण स्वरूप समस्त प्राणियों के समष्टिभूत हिरण्यगर्भ जब महाकारण से विवृत्त होते हैं, तो उनकी बुद्धि का आश्रय लेकर उन्हीं के साथ ही विशिष्ट रूप ग्रहण करने के लिए एक साथ सभी शब्द अभिव्यक्त हो जाते हैं।

श्रीवृषभाचार्य ने कहा है—'ऋषयो विवृत्तिकाल एव तां प्रतिभां सम्यगवबुध्यन्ते।'

'ते हि तां प्रतिभां पश्यन्तः संयुज्यन्ते प्रबोधेन।' 'अभिसम्भवन्ति, प्राप्नुवन्ति, ते एकीभवन्ति, तया चैकीभूय ते प्रधानं कारणं प्रवेक्ष्यन्तीति। यथायमागमः—[1]'।

ऋषि विकासकाल में ही प्रतिभा को अच्छी तरह जान लेते हैं। वे प्रतिभा को देखते हुए ज्ञान से संयुक्त हो जाते हैं।

वे प्रातिभ ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं; प्रतिभा के साथ एक हो जाते हैं। अन्त में उसके साथ एक होकर प्रधान रूप कारण में प्रविष्ट हो जायेंगे।

ऋषियों के सम्बन्ध में स्फोटसिद्धि में कहा गहा है—[2]अपरप्रदर्शितविषयास्तु परमर्षयः साक्षात्कृतधर्माणोऽव्याहतान्तःप्रकाशाविधूतविपर्यासक्रमं च वाक्तत्त्वं प्रतिपेदिरे प्रतिपादयामासुरिति च प्रतिज्ञायते। यथोक्तम् (निरुक्ते)—'साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभूवुः।' —मण्डनमिश्र

इसकी टीका 'गोपालिका' में निरुक्तवार्तिक से एक श्लोक उद्धृत है—

'प्रथमाः प्रतिभानेन द्वितीयास्तूपदेशतः।
अभ्यासेन तृतीयास्तु वेदार्थं प्रतिपेदिरे॥'

ऋषि तीन प्रकार के होते हैं, पहले—परमर्षि या महर्षि; ये प्रतिभा के द्वारा वेद और वेदार्थ जान लेते हैं। दूसरे—श्रुतर्षि; ये उपदेश द्वारा वेदार्थ को प्राप्त करते हैं। तीसरे—ऋषि; जो वेद के पाठ द्वारा उसे समझते हैं।

---

१. इसके अनन्तर पद्धति का पाठ भ्रष्ट है।

२. दूसरों के द्वारा जिन्हें विषयों का प्रदर्शन नहीं कराया, जिनका आन्तरिक प्रकाश (ज्ञान) अव्याहत है–निर्भ्रान्त है तथा जिन्होंने वेद का साक्षात्कार किया है, उन परमर्षियों ने विपर्यय और क्रम से रहित वाक्तत्त्व को प्राप्त किया और श्रुतर्षियों को उसका उपदेश भी दिया।

वृत्तिः—'केचित् तु विद्यायां विवर्तन्ते। ते मनोग्रन्थिमात्मानमाकाशादिषु भूतेषु प्रत्येकं समुदितेषु वा विशुद्धमनिबद्धपरिकल्पं तथैवाभिसम्भवन्ति। तेषाञ्चागन्तुरविद्याव्यवहारः सर्व एवौपचारिकः, विद्यात्मकत्वं तु नित्यमनागन्तुकं मुख्यम्। ते च स्वप्न इवाश्रोत्रगम्यं शब्दं प्रज्ञयैव सर्वमाम्नायं सर्वभेदशक्तियुक्तमभिन्नशक्तियुक्तं च पश्यन्ति।

विवरण—कुछ ऋषि विद्या में उसके साथ ही विवृत्त होते हैं। वे आकाशादि प्रत्येक भूतों में अथवा सम्मिलित भूतों में, विशुद्ध अर्थात् विविक्त रूप में तथा असत्पदार्थावाभासरूप गो-घटादि में जो बँधा नही हैं, ऐसे मनोग्रन्थि रूप आत्मा या मनःकारणात्मा को [२]देखते हुए उसे जान कर उसी के साथ ऐक्य लाभ करते हैं।

यहाँ विद्या के पर्याय रूप में 'मनोग्रथिम् आत्मानम्' यह पद आया है; जैसे पीछे प्रतिभा के पर्याय रूप में 'सत्तालक्षणं महान्तमात्मानं' ये पद पठित हैं। ग्रन्थि का अर्थ पीछे 'कारण' किया गया है। मन का कारण है—अहङ्कार या अहन्ता; यही विद्या है, ऐसा समझना चाहिए। माठराचार्य ने सांख्यकारिका की वृत्ति में कहा है—

'ततोऽहङ्कारः। तस्मान्महतोऽहङ्कार उत्पद्यते। तस्य इमे पर्यायाः—वैकृतस्तैजसोभूतादिरभिमानोऽस्मिता इति। चतुःषष्टिवर्णैः परादिवैखरीपर्यन्ताभिधेयैर्यत् किमप्यभिधीयते बुद्ध्या समर्थ्य तत्सकलं आद्यन्ताकारहकारवर्णद्वयग्रहणेनोपरिस्थितपिण्डीकृतानुकारिणा विन्दुना भूपितः प्रत्याहारन्यायेनाहङ्कार इत्यभिधीयते। तस्मादहङ्कारात् षोडशको गण उत्पद्यते'।

महान् से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। उस अहङ्कार के ये पर्याय हैं—वैकृत, तैजस, अभिमान, भूतादि, अस्मिता। परा से लेकर वैखरीपर्यन्त अभिधेयरूप चौंसठ वर्णों से जो कुछ बुद्धि के समर्थनपूर्वक कहा जाता है, वह आदि के अकार और अन्त के हकार को लेकर ऊपर स्थित पिण्ड का अनुकरण करने वाले विन्दु से भूपित 'अहं' इस प्रत्याहार के रूप में अहङ्कार कहलाता है। इसी अहङ्कार से मन आदि सोलह गणों की उत्पत्ति होती है।

---

१. उवटाचार्य ने शुक्लयजुःसंहिता के प्रारम्भ में कहा है—'तत्र पूर्वस्मिन् कल्पे विशिष्टकर्मजनितस्मृतिसंस्कारसन्तानानुच्छित्तिधर्माणः सुप्तप्रबुद्धन्यायेन हिरण्यगर्भप्रभृतयः कल्पादौ सह विद्ययाऽभिव्यज्यमानाः स्मर्तारो दृष्टारश्च ऋषय उच्यन्ते।' विद्या वाले सम्प्रदाय को उवट जानते थे; यह 'सह विद्यया' इस कथन से स्पष्ट है।

२. 'तथैव' का तात्पर्य ही ऊपर वतलाया गया है। श्रीवृषभाचार्य ने भी कहा है—'तथैव इति। यदुक्तं पूर्वत्र प्रबोधेन इति। एवं तेऽपि ऋषयो न (?) स्वभावपरिकल्पं शुद्धमात्मानमवबुध्यन्ते। प्रबोधेनेति मनोऽभिसम्भवन्ति तेनैकीभवन्तीति'। —पद्धति।

वस्तुतः 'अहमेव सर्वम्' इस प्रकार की पूर्णाहन्ता ही शुद्ध विद्या[1] है और परिमित अहन्ता अशुद्धविद्या या अविद्या अथवा अल्पज्ञता रूप अहङ्कार है।

आचार्य माठर ने—'रूपे अहं, रसे अहं, गन्धे अहम्' और 'अहं विद्वान्, अहं दर्शनीयः इत्यैवमाद्यभिमानोऽहङ्कारः।' इस सन्दर्भ से दोनों प्रकार के अहङ्कार या विद्या और अविद्या का निदर्शन प्रस्तुत किया है।

'रूपे अहं' आदि पर 'अत्र रूपयामि, रसयामि, जिघ्रामि इति प्रयोगाः साधवः' इत्याकारक टिप्पणी लिखने वाले विद्वान् की बुद्धि दयनीय हैं।

भगवान् भर्तृहरि ने 'आकाशादिषु भूतेषु प्रत्येकं–' आदि द्वारा आचार्य माठर का ही समर्थन किया है। अज्ञातकर्तृक तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति में दो श्लोक उद्धृत हैं, जो सम्भवतः महाभारत के है। यथा—

'अहं शब्दे अहं स्पर्शे अहं रूपे अहं रसे।
अहं गन्धे अहं स्वामी धनवानहमीश्वरः ॥ १ ॥
अहं भोगी अहं धर्मेऽभिषिक्तोऽसौ मया हतः।
अहं हनिष्ये बलिभिः परैरित्येवमादिकः ॥ २ ॥

यहाँ भी दोनों प्रकार के अहङ्कारों का निरूपण है। निरुक्त के चौदहवें अध्याय में कहा गया है—'तस्यान्ते सुषुप्स्यन्नङ्गानि प्रत्याहरति भूतग्रामाः पृथिवीमपि यन्ति पृथिव्यप, आपो ज्योतिषं ज्योतिर्वायुं वायुराकाशमाकाशो मनो मनो विद्यां विद्या महान्तमात्मानं महानात्मा प्रतिभां प्रतिभा प्रकृतिं सा स्वपिति।'

यहाँ मन का कारण विद्या है और विद्या का महानात्मा और महानात्मा का भी कारण प्रतिभा है। इस प्रकार सम्प्रदाय-भेद भी उपलब्ध होता है। यहाँ पर महानात्मा और प्रतिभा पर्याय नहीं हैं।

कुछ सांख्याचार्य प्रकृति और महत्तत्त्व के बीच एक अन्य तत्त्व को भी मानते थे; यथा—'केचिदाहुः प्रधानादनिर्देश्यस्वरूपं तत्त्वान्तरमुत्पद्यते। ततो महानिति।'

—युक्तिदीपिका (२२वीं कारिका की अवतरणिका)

श्रीवृषभाचार्य ने 'विद्यायां विवर्तन्ते' आदि सन्दर्भ की अधोलिखित व्याख्या प्रस्तुत की है—'विद्यायामिति। यदेन्द्रियाणि विवर्तन्ते तदा तैः सह तद्रूपा एव

---

१. वैश्वात्म्यप्रथावाञ्छया यदा शक्तिं सन्धत्ते तदा 'अहमेव सर्वम्' इति शुद्ध-विद्याया उदयाद् विश्वामकस्वशक्तिचक्रेशत्वरूपं माहेश्वर्यमस्य सिद्धयति। तदुक्तं स्वच्छन्दे—

तस्मात् सा तु परा विद्या यस्मादन्या न विद्यते।
विन्दते ह्यत्र युगपत् सर्वज्ञादिगुणान् परान् ॥
वेदनानादिधर्मस्य परमात्मत्वबोधना।
वर्जनाऽऽपरमात्मत्वे तस्माद्विद्येति सोच्यते ॥

—सूत्र (२१) शिवसूत्र-विमर्शिनी, प्रथम उन्मेष

विवर्तन्ते। मनसो ह्येकदेशो विद्या। तेषां चात्मा तत्स्वभावो विवर्तते इति विद्याया-मित्युक्तम्। अस्य तु दर्शनमविकाराद् भोक्तारो विवर्तन्त इति।

यह पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है, क्योंकि यहाँ कहा गया है—जब इन्द्रियाँ विवृत्त होती हैं तो उन्हीं के साथ तद्रूप ही विवृत्त होती हैं। यह वाक्य निरर्थक है। मन का एकदेश विद्या है। उन ऋषियों के तदात्मक या तत्स्वभाव होने के कारण 'विद्यायां' ऐसा कहा गया है।' यह मन समष्टि मन हो सकता है, जिसे योगभाष्य में [1]'प्रकृष्ट सत्त्व' के नाम से कहा गया है।

श्रीवृषभ आगे कहते हैं—'मनोग्रन्थिमिति। मन एव ग्रन्थिः, दुर्मोचत्वात्। आत्मानमिति। आत्मशब्दः स्वभाववाची। अनिबद्धपरिकल्पमिति। परिकल्पोऽह-म्प्रत्ययविवर्तः स च मनःस्वभावत्वात्तेषामात्मनि (निबद्धः) अनिबद्धः। स्वतो (यतो) मन आकाशादिषु प्रत्येकं समुदितेषु चात्मपरिग्रहेणावतिष्ठमानं तत्राहङ्कारप्रत्ययं कुर्यात्।'

मन ही ग्रन्थि है, क्योंकि उससे छुटकारा पाना कठिन है। आत्मा शब्द स्वभाव वाचक है। अहं बोध का विवर्त परिकल्प है और वह विवर्तात्मक परिकल्प मनः-स्वभाव होने से उन ऋषियों की आत्मा में निबद्ध नहीं रहता, जिससे मन, आकाशादि प्रत्येक पृथक् भूतों अथवा सम्मिश्रित भूतों में 'यह भूत मैं हूँ' इस प्रकार से अवस्थित अहङ्कार बोध करे।

वस्तुतः सामान्य जीवों को मन से छुटकारा पाना कठिन होता है। समष्टि मन, अधिकारी देव ब्रह्मा या ईश्वर का मन है। महाप्रलय के अन्त में ब्रह्माण्ड के स्वामी आजानदेव ब्रह्मा मुक्त हो जाते हैं, अतः उनका मन से छुटकारा पा लेना स्वाभाविक है। 'अनिबद्धः' के स्थान पर 'निबद्धः' पाठ भी उपलब्ध होता है। 'अनिबद्धः' पाठ मानने पर प्रत्येक पृथक्-पृथक् भूत में अथवा समुच्चित भूतों में आत्मा रूप से मैं ही विद्यमान हूँ, इस प्रकार का अहं बोध होता है। 'तत्राहङ्कारप्रत्ययं कुर्यात्' के अनन्तर पद्धति का भ्रष्ट पाठ प्रस्तुत रूप में मिलता है—'स चाप्यस्य निबन्धोऽयं तत्तत्काले पृथिव्या तामिति चेह वृत्तेः तदाकारग्रहणम्।' इसका कल्पित शुद्ध पाठ इस प्रकार सम्भव है—'न चाप्यस्य निबन्धोऽयं तत्तत्काले, पृथिव्यन्तमिति च इति चेह वृत्तेः तदा-कारग्रहणम्।' इसके अनन्तर पाठ है—'अत एव (वि)शुद्धमिति। तेभ्यो विविक्त-स्यावस्थानात्।'

तात्पर्य यह है—इस मन की निबद्धता ऐसी नहीं है कि भिन्न-भिन्न कालों में पृथिवी-पर्यन्त मैं यह हूँ, मैं यह हूँ—इस प्रकार की मनोवृत्ति उन-उन आकारों को ग्रहण करती हो। इसीलिए विशुद्ध यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि उनसे विविक्त रूप में यह समष्टि मन स्थित रहता है।

भर्तृहरि आगे वृत्ति में कहते हैं—उन ऋषियों का आगन्तुक अविद्या सम्बन्धी व्यवहार पूर्ण रूप से औपचारिक होता है और विद्यात्मक व्यवहार नित्य अनागन्तुक

---

१. द्रष्टव्य—योगदर्शन पाद १ सूत्र २४ का भाष्य।

और मुख्य है। वे ऋषि, जैसे स्वप्न में बिना कानों के शब्द सुना जाता है, वैसे ही अपनी प्रज्ञा से ही नाना प्रकार के फलों के जनक कर्मों के प्रकाशक (सम्पूर्ण भेद-शक्तियों से युक्त) तथा अनेक शाखाओं से युक्त होने पर भी एक कर्म के प्रकाशक (अभिन्न शक्तियुक्त) समग्र वेद का साक्षात्कार करते हैं। कहा भी है—'सर्वशाखा-प्रत्ययमेकं[1] कर्म'। —पद्धति।

वृत्तिः—केचित्तु पुरुषानुग्रहोपघातविषयं तेषामर्थानां स्वभावमुपलभ्याम्नायेषु क्वचित्तद्विषयाणि लिङ्गानि दृष्ट्वा दृष्टादृष्टार्थां च स्मृतिमुपनिबध्नन्ति। श्रुतिं तु यथादर्शनमव्यभिचरितशब्दामेव प्रथममविभक्तां पुनः सङ्गृहीतचरणविभागां समामनन्तीत्यागमः ॥ १३६ ॥

विवरण—कुछ ऋषि तो लोगों के अनुग्रह और उपघात विषय से सम्बद्ध उन-उन कार्यों के स्वभाव को वेदों में उपलब्ध करके तथा वेद में पठित चिह्नों को देखकर दृष्ट अर्थात् चिकित्सादिक तथा अदृष्ट आचारादिक विषयों से युक्त स्मृतियों का निबन्धन करते हैं।

श्रुति को तो जैसा महर्षियों ने देखा था, वैसी ही आनुपूर्वी के साथ पहले एक अविभक्त रूप में, पुनः ऋगादि चरणों के विभाग के साथ अन्य ऋषि पाठ करते हैं—यह परम्परा-प्राप्त मत है ॥ १३६ ॥

श्रुति और स्मृतियों के स्वरूप का उल्लेख करके व्याकरण-स्मृति की अन्य स्मृतियों के साथ तुलना करते हुए कहते हैं—

कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समवस्थिताः।
चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः ॥ १३७ ॥

ये कायवाग्बुद्धिविषयाः मलाः समवस्थिताः, तेषां विशुद्धयः चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैः (भवन्ति)।

जो शरीर, वाणी और बुद्धि में रोग, अपभ्रंश और राग-द्वेषादि रूप मल विद्यमान रहते हैं, उनकी शुद्धि क्रमशः चिकित्साशास्त्र, लक्षण या व्याकरणशास्त्र तथा वेदान्त और योगशास्त्र से होती है।

वृत्तिः—यथैव हि शरीरे दोषशक्ति रत्नौषधादिषु च दोषप्रतीकारसामर्थ्यं दृष्ट्वा चिकित्साशास्त्रमारब्धम्; रागादींश्च बुद्धेरुपप्लवानवगम्य तदुपघातहेतुज्ञानोपायभूतान्यध्यात्मशास्त्राणि उपनिबद्धानि, तथेदमपि साधूनां वाचः संस्काराणां ज्ञापनार्थमपभ्रंशानां चोपघातानां त्यागार्थं लक्षणमारब्धम् ।१३७।

---

१. यह वचन इसी काण्ड की छठी कारिका की वृत्ति में उद्धृत है। विशेष वहीं द्रष्टव्य है।

विवरण—जैसे शरीर के अन्दर दोष शक्ति (रोग) को तथा रत्नों एवं औषधियों में दोषों के प्रतीकार का सामर्थ्य देखकर चिकित्साशास्त्र का आरम्भ किया गया; बुद्धिगत राग-द्वेषादि उपद्रवों को समझ कर उनके विनाश के लिए ज्ञानात्मक उपाय के रूप में पतञ्जलि-निर्मित योगशास्त्र तथा वेदान्तशास्त्रों का निर्माण किया गया, वैसे ही यह व्याकरणशास्त्र भी वाणी के संस्कारक साधुशब्दों के ज्ञापनार्थ तथा शुद्ध शब्दों के उपघातक अपभ्रंशों के त्यागार्थ निर्मित हुआ ।। १३७ ।।

अग्रिम कारिका में अपभ्रंशों के स्वरूप का निर्देश करते हैं—

शब्दः संस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते ।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम् ।। १३८ ।।

गौः इति प्रयुयुक्षिते यः संस्कारहीनः शब्दः (प्रयुज्यते); विशिष्टार्थनिवेशिनं तं अपभ्रंशं इच्छन्ति ।

सास्ना या गलकम्बल तथा पूँछ, विषाण आदि से युक्त 'गौः' शब्द के प्रयोग करने की इच्छा से जब गावी आदि [1]संस्कारहीन शब्द का प्रयोग किया जाता है, तो विशिष्ट–सास्नादिमत्त्व रूप अर्थ रखने वाले उस शब्द को शब्दविद् अपभ्रंश मानते हैं ।

वृत्तिः—'शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः' इति सङ्ग्रहकारः । नाप्रकृतिरपभ्रंशः स्वतन्त्रः कश्चिद् विद्यते । सर्वस्यैव हि साधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृतिः । प्रसिद्धेस्तु रूढितामापद्यमानाः स्वातन्त्र्यमेव केचिदपभ्रंशा लभन्ते । तत्र गौरिति प्रयोक्तव्येऽशक्त्या प्रमादादिभिर्वा गाव्यादयस्तत्प्रकृतयोऽपभ्रंशाः प्रयुज्यन्ते । ते च सास्नादिमत्येव लब्धस्वरूपाः साधुत्वं विजहति । अर्थान्तरे तु प्रयुज्यमानाः साधव एव विज्ञायन्ते । न ह्येतेषां रूपमात्रप्रतिबद्धमसाधुत्वम् ।। १३८ ।।

विवरण—'शब्दः–साधुशब्दः प्रकृतिः मूलं यस्य सः' अर्थात् साधुशब्द है प्रकृति या मूल जिसका, उसे अपभ्रंश कहते हैं—यह संग्रहकार व्याडि का वचन है । प्रकृति या मूल से रहित स्वतन्त्र कोई अपभ्रंश शब्द नहीं है । सम्पूर्ण अपभ्रंशों का साधुशब्द ही मूल है । प्रसिद्धि के कारण रूढि को प्राप्त कुछ अपभ्रंश शब्द स्वातन्त्र्य-लाभ भी कर लेते हैं । उन में 'गौः' ऐसा प्रयोग करने के अवसर पर अशक्ति अथवा प्रमाद के कारण 'गावी' आदि अपभ्रंश शब्द उसको (गौ शब्द को) प्रकृति मान कर प्रयुक्त किये जाते हैं । वे शब्द सास्नादिमती गाय के अर्थ में ही केवल उक्त स्वरूप को प्राप्त करके साधुता (शुद्धता) का परित्याग करते हैं । और यदि अर्थान्तर में उनका प्रयोग किया जाता है तो साधु ही रहते हैं । इन शब्दों की 'गावी' 'गोणी' आदि रूप मात्र में

---

१. श्रीवृषभाचार्य ने 'संस्कारहीनः' पर कहा है—'व्याकरणविहितेन प्रकृतिप्रत्ययादिविभागेनायुक्तः ।' व्याकरण द्वारा निर्दिष्ट प्रकृति और प्रत्यय तथा लोप, आगम एवं वर्ण-विकार से रहित ।

असाधुता की प्रतिबद्धता नहीं है। प्राकृत भाषा के पण्डित हेमचन्द्राचार्य ने भी कहा है—'प्रकृतिः संस्कृतं, तस्माज्जातं प्राकृतम्।' केवल नमिसाधु ने प्राकृत को ही संस्कृत का मूल माना है और उनके मत में 'शब्दप्रकृतिः' में तत्पुरुष समास होगा। यथा—'शब्दानां साधुशब्दानां प्रकृतिः मूलम् अपभ्रंशः।' अर्थात् साधुशब्दों की प्रकृति अपभ्रंश है। किन्तु न तो यह व्याडि को अभीष्ट था और न ही भर्तृहरि को ॥ १३८ ॥

दृष्टान्त द्वारा प्रवृत्ति-निमित्तभेद से शब्दों के साधुत्व का निरूपण करते हैं—

अस्वगोण्यादयः शब्दाः साधवो विषयान्तरे।
निमित्तभेदात् सर्वत्र साधुत्वं च व्यवस्थितम् ॥ १३९ ॥

अस्वगोण्यादयः शब्दाः विषयान्तरे साधवः; सर्वत्र च साधुत्वं निमित्तभेदात् व्यवस्थितम्।

अस्व और गोणी आदि शब्द विषयान्तर में साधु हैं। अर्थात् निर्धन अर्थ में 'अस्व' शब्द और भाण्ड या बोरी के अर्थ में गोणी शब्द साधु है। अमरकोष २।९।८८ की टीका में कृष्णमित्र ने कहा है—'प्रस्थचतुष्टयमाढकः। एवं द्रोणो गोणी खारीति यथोत्तरचतुर्गुणाः। गोण्येव भारस्तच्चतुष्टयं वाहः।' चार प्रस्थ का आढक और यथोत्तर चतुर्गुण द्रोण और गोणी आदि समझना चाहिए। क्षीरस्वामी ने भी इसी स्थल पर कहा है—'द्विशूर्पा गोण्युदाहृता।' अर्थात् गोणी में दो सूपों का भार होता है। इसी प्रकार 'गौरियं' गावी शब्द सास्ना (गलकम्बल) और वत्सतरी के अर्थ में साधु है। प्रवृत्ति-निमित्त या अर्थ के भेद से सर्वत्र शब्दों में साधुत्व व्यवस्थित है।

वृत्तिः—आवपने गोणीति स्वविप्रयोगाभिधाने चास्व इत्येतयोरवस्थितं साधुत्वम्। तथा सास्नादिमति ह्रेषितादिलिङ्गे च निमित्तान्तरात् प्रवृत्तावेतयोरन्यत्र विषये लब्धसंस्कारयोः साधुत्वमेव विज्ञायते। गोणीवेयं गौर्गोणीति बहुक्षीरधारणादिविषयादावपनत्वसामान्यादभिधीयते। तथाऽविद्यमानं स्वमस्य सोऽयमस्व इति। तस्माद्वस्त्वपरिगृहीतकारणं न किञ्चिन्नियतमस्ति, यत्र साधुत्वमसाधुत्वं वा व्यवतिष्ठते ॥

विवरण—आवपन अर्थात् भाण्ड के अर्थ में गोणी, स्व अर्थात् धन के अभाव के कथन में अस्व; इन दोनों शब्दों का साधुत्व परिनिष्ठित है। इसके अतिरिक्त निमित्तान्तर अर्थात् आवपन और निर्मूल्य की सधर्मता से इन दोनों गोणी और अस्व शब्दों का अन्यत्र विषय अर्थात् आवपन और निर्धन अर्थ में संस्कार से युक्त होने से गाय और घोड़े के अर्थ में भी साधुत्व जाना जाता है। बहुत दूध धारण करने वाली गाय को आवपनत्व (भाण्डत्व) सामान्य या भाण्ड की सधर्मता के कारण यह गोणी के समान है अतः गोणी है, ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार जिसका कोई मूल्य नहीं है, वह घोड़ा भी अस्व हो सकता है। ह्रेषित का अर्थ है—हिनहिनाना (घोड़े का शब्द)।

इसलिए प्रवृत्ति-निमित्तात्मक कारण के परिग्रह के बिना कोई वस्तु नियत नहीं है, जहाँ साधुत्व और असाधुत्व की व्यवस्था हो सके।

इसी विषय पर 'यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे'[1]—इस महाभाष्योदाहरण की दीपिका में भर्तृहरि ने कहा है—

'स एव शब्दोऽर्थविशेषे कस्मिश्चिदसाधुरित्येतदाख्यायते। यथा गोणीशब्दः सास्नादिमत्यसाधुः। तथाश्वशब्दः केसरादिमति साधुः। न निःस्व इति। अस्व इति निर्धने साधुः नैकशफादिलक्षणे। यदि तु गोणीशब्दोऽपि निमित्तान्तरात् सास्नादिमति प्रयुज्येत गोणीव गोणीति साधुरेव स्यात्। अश्वे वा अस्वशब्दं धनाभावद्वारकं प्रयुञ्जीत स साधुरेव।
—पस्पशाह्निक

वही शब्द किसी अर्थविशेष में असाधु कहा जाता है। जैसे गोणी शब्द गाय के अर्थ में असाधु है और अश्व शब्द अयाल (गले के बाल) रखने वाले घोड़े के अर्थ में साधु है। किन्तु निःश्व (निर्धन) अर्थ में नहीं। अस्व यह निर्धन अर्थ में साधु है, किन्तु एक अखण्ड खुर (शफ) वाले घोड़े के अर्थ में नहीं। यदि गोणी शब्द भी निमित्तान्तर से अर्थात् गोणी (बोरी) के समान अर्थ में प्रयुक्त हो तो साधु ही होगा। और अश्व अर्थ में अस्व शब्द धनाभाव के द्वारा प्रयुक्त किया जाय, वह भी साधु ही है ॥ १३९ ॥

अपभ्रंश शब्दों से किस प्रकार बोध होता है, इसका निरूपण करते हैं—

ते साधुष्वनुमानेन प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः।
तादात्म्यमुपगम्येव शब्दार्थस्य प्रकाशकाः ॥ १४० ॥

ते अनुमानेन साधुषु प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः; तादात्म्यम् उपगम्य इव शब्दार्थस्य प्रकाशकाः।

वे गावी आदि अपभ्रंश शब्द साधुशब्दों के स्थान में प्रयुक्त होने पर अनुमान के द्वारा गवादि साधुशब्दों की प्रतिपत्ति के कारण बनते हैं। और साधुशब्दात्मता को प्राप्त किये हुए-से वे भिन्न होने पर भी साधुशब्द प्रतिपाद्य अर्थ के प्रकाशक होते हैं।

वृत्तिः—अपभ्रंशा हि साधूनां विषये प्रयुज्यमाना यथैवाक्षिनिकोचादयः परिचयादुपगृहीतस्वरूपा इव प्रसिद्धाः, तथा साधुप्रनाडिकयार्थं प्रत्याययन्ति। तत्र साक्षादभिधानं नेति श्लोकान्तरोपन्यासः ॥१४०॥

विवरण—साधुशब्दों के स्थान पर प्रयुक्त अपभ्रंश शब्द साधुशब्द स्मरणपूर्वक ही अर्थबोध कराते हैं। जैसे आँख दबाना आदि क्रियात्मक संकेत साक्षात् अर्थबोध नहीं कराते, अपितु पुनर्दर्शन रूप परिचय से पूर्व संकेतवाक्य के स्वरूप को अपने में

---

१. कुशलो विशेषे—अथवा कुशलोऽविशेषे इति। अन्येषां ग्रन्थः 'कुशलो विशेषैः' इति।
—महाभाष्यदीपिका।

ग्रहण करते हुए-से अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। अपभ्रंश शब्दों में साक्षात् वाचकता नहीं, इस बात को बतलाने के लिए इस श्लोक का उपन्यास किया गया है ॥ १४० ॥

अपभ्रंश शब्द न तो शिष्टों द्वारा पर्याय के समान माने गये हैं, और न व्याकरण स्मृति द्वारा साधु; इसलिए वे साक्षात् वाचक नहीं—इस बात को अग्रिम कारिका द्वारा कहते हैं।

वृत्तिगत अवतरणिका—अथ कस्मादेते गोशब्दस्य गाव्यादयः पर्याया न विज्ञायन्ते। नहि शिष्टसमाचारप्रसिद्धेरन्यदेवम्प्रकारेषु स्मृतिनिबन्धनेष्वर्थेषु निमित्तमभिधीयते। गाव्यादयश्चेत् पर्यायाः स्युरेतेऽपि शिष्टैर्लक्षणैरनुगम्येरन् प्रयुज्येरँश्च। यश्च प्रत्यक्षपक्षेण प्रयोजकेष्वभिधेयेषु प्रवर्तते स साधुः। साक्षात् तु प्रयोजकं वाच्यमर्थरूपं साधुभिः प्रत्याय्यते। तस्मादाह—

विवरण—ये गावी आदि अपभ्रंश शब्द गो शब्द के पर्याय रूप में क्यों नहीं समझे जाते? व्याकरणस्मृति में निबद्ध इस प्रकार के विषयों में शिष्टों के व्यवहार-प्रसिद्धि के अतिरिक्त और कोई निमित्त नहीं बतलाया जा सकता। यदि गावी आदि अपभ्रंश पर्याय होते तो शिष्टों के द्वारा और व्याकरणशास्त्र द्वारा उनकी स्वीकृति और प्रयोग किया जाता। साधु वह शब्द है जो प्रत्यक्ष रूप में प्रयोग के निमित्तभूत अर्थों में प्रवृत्त होता हो। वाच्यार्थ रूप प्रयोजक साधुशब्दों द्वारा साक्षात् ज्ञात कराया जाता है। इसीलिए कहते है—

न शिष्टैरनुगम्यन्ते पर्याया इव साधवः।
ते यतः स्मृतिशास्त्रेण तस्मात्साक्षादवाचकाः ॥ १४१ ॥

यतः ते, शिष्टैः पर्याया इव न अनुगम्यन्ते; स्मृतिशास्त्रेण साधव इव न अनुगम्यन्ते, तस्मात् साक्षात् अवाचकाः।

वृत्तिः—इत्ययमुक्तार्थः श्लोकः ॥ १४१ ॥

विवरण—इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक का अर्थ पहले ही कह दिया गया है।

'ते यतः' के स्थान पर 'न यतः' पाठ कुछ हस्तलिपियों में मिलता है, किन्तु अपभ्रंशों का वाचक् 'ते' शब्द ही यहाँ उचित प्रतीत होता है ॥ १४१ ॥

अपभ्रंशों में साक्षात् वाचकता नहीं है, इस बात को दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—

अम्बाम्बेति यथा बालः शिक्षमाणः प्रभाषते।
अव्यक्तं तद्विदां तेन व्यक्ते भवति निश्चयः ॥ १४२ ॥

यथा अम्बा अम्बा इति शिक्षमाणः बालः अव्यक्तं प्रभाषते, तद्विदां तेन व्यक्ते निर्णयः भवति।

जब दाँतों की उत्पत्ति से पूर्व बालक को अम्बा-अम्बा कहना सिखलाया जाता है, वह बभ्-बभ् ऐसा अव्यक्त शब्द बोलता है; साधुशब्द को समझने वालों को उस अपभ्रंश (अव्यक्त शब्द) से स्फुट वाचक शब्द का निश्चय हो जाता है।

वृत्तिः—बालो हि करणमात्रशक्तिवैकल्याद् यत्नवानपि साधुप्रयुयुक्षायामव्यक्तां श्रुतिं प्रयुङ्क्ते। तदा प्रतिपत्तारस्तत्प्रकृतिं व्यक्तं शब्दमवधारयन्ति। तमेवार्थसम्बन्धिनं मन्यन्ते, न बालप्रयुक्तमपभ्रंशम् ॥ १४२ ॥

विवरण—छोटा बच्चा करणों–दन्तादि करणों की शक्ति के अभाव में साधुशब्द के प्रयोग में यत्नवान् होता हुआ भी अस्पष्ट शब्द का प्रयोग करता है। उस समय श्रोता लोग उस अव्यक्त शब्द की व्यक्त प्रकृति को समझ लेते हैं और उसी को अर्थबोधक मानते हैं, बालक द्वारा प्रयुक्त अपभ्रंश शब्द को नहीं।

'अम्बाम्बेति' के स्थान पर 'अम्ब्वम्ब्विति'[1] 'अम्माम्मेति' (पदवाक्यरत्नाकर) 'वम्वम्वेति' अनेक पाठ मिलते हैं, किन्तु 'अम्बाम्बेति' यही पाठ ठीक है। श्रीवृषभाचार्य ने कहा है—'अम्बाम्बा इति प्रयोक्तव्ये बाल अम्बकेति प्रभाषते तदपि न स्फुटमित्याह—अव्यक्तमिति।' —पद्धति ॥ १४२ ॥

दृष्टान्त देकर अब दार्ष्टान्तिक का उपन्यास करते हैं—

एवं साधौ प्रयोक्तव्ये योऽपभ्रंशः प्रयुज्यते।
तेन साधुव्यवहितः कश्चिदर्थोऽभिधीयते ॥ १४६ ॥

इस प्रकार साधुशब्द के प्रयोग करने के स्थान पर प्रमाद या आलस्यवश जिस अपभ्रंश का प्रयोग किया जाता है, उससे पहले साधुशब्द का अनुमान होता है, तदनन्तर उस साधुशब्द से अर्थ का बोध होता है, साक्षात् अपभ्रंश से नहीं।

वृत्तिः—सङ्कीर्णायां वाचि साधुविषयेऽपशब्दाः प्रयुज्यन्ते। तैः शिष्टा लक्षणविदः साधून् प्रतिपद्यन्ते। तैरेव साधुभिस्तदर्थमभिधीयमानं पश्यन्ति। अनुमानस्तु धूम इवाग्नेः, असाधुरितरेषाम् ॥ १४३ ॥

विवरण—जब साधुशब्द अपभ्रंशों से मिश्रित हो जाते हैं, उस दशा में साधुशब्दों के स्थान पर अपशब्द प्रयुक्त होने लगते हैं। व्याकरणशास्त्र के ज्ञाता शिष्ट गण उन अपशब्दों से साधुशब्दों को समझ जाते हैं। और उन्हीं साधुशब्दों से उस

---

१. चारुदेव शास्त्री ने लाहौर संस्करण की टिप्पणी में कहा है—अम्ब्वम्ब्विति–(ग १. २. ३. ४.) यदयं कारिकाणां कर्तुः स्वः पाठो न भवितुमर्हतीत्यत्र हरिकृतभाष्यटीकाया वक्ष्यमाणो ग्रन्थः प्रमाणम्—'यथा अम्बाम्बेति शिक्षमाणः बालोऽन्यथोच्चारयति।' किन्तु महाभाष्यदीपिका में मुझे केवल इस प्रकार का सन्दर्भ मिला—'यथा स्वस्तीति शिक्षमाणो बालोऽन्यथोच्चारयतीति।'

अर्थ का बोध कराया जाता हुआ देखते हैं। जैसे धुएँ से अग्नि का अनुमान होता है वैसे ही अपभ्रंशों में साधुशब्दों का अनुमान होता है ॥ १४३ ॥

व्यवधान के बिना ही अपभ्रंश अधिकांशतः अर्थ का प्रतिपादन करते हुए देखे जाते हैं, अतः उनके सम्बन्ध में अनुमान कैसा ? इस पर वे कहते हैं—

पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु ।
प्रसिद्धिमागता येषु तेषां साधुरवाचकः ॥ १४४ ॥

विगुणेषु येषु अभिधातृषु अपभ्रंशाः पारम्पर्यात्प्रसिद्धिम् आगताः तेषां साधुः अवाचकः ।

सामर्थ्यहीन, जिन बोलने वालों के बीच अपभ्रंश शब्द परम्परा से प्रसिद्ध हो चुके हैं, उनके लिए साधुशब्दों में अर्थबोधकता नहीं रहती। वे लोग साधुशब्दों से असाधु शब्दों का अनुमान करते हैं और तब उन्हें अपशब्दों से ही अर्थ का बोध होता है।

वृत्तिः—इहाभ्यासात् स्त्रीशूद्रचाण्डालादिभिरपभ्रंशाः प्रयुज्यमानाः तथा प्रमाद्यत्सु वक्तृषु रूढिमुपागताः, येन तैरेव प्रसिद्धतरो व्यवहारः। सति च साधुप्रयोगात् संशये यस्तस्यापभ्रंशस्तेन सम्प्रति निर्णयः क्रियते। तमेव चासाधुं वाचकं प्रत्यक्षपक्षे मन्यन्ते। साधुं चानुमानपक्षे व्यवस्थापयन्ति ॥ १४४ ॥

विवरण—स्त्री, शूद्र और चाण्डालादिकों के द्वारा अभ्यासवश अपभ्रंशों का प्रयोग किया जाता है; तथा प्रमादवश अन्य वक्ताओं के बीच भी अपभ्रंशों का प्रयोग रूढ हो जाता है, जिससे उन्हीं के द्वारा अधिकतर व्यवहार चलने लगता है। किसी साधुशब्द के प्रयोग में यदि संशय उत्पन्न होता है तो उसका जो अपभ्रंश है, उसी से वर्तमान समय में निर्णय किया जाता है। उसी असाधु शब्द को लोग साक्षात् अर्थ का बोधक मानते हैं। और साधुशब्द को अनुमानपक्ष में स्थापित करते हैं। श्रीवृषभाचार्य कहते हैं—

'तमेव च इति। तेषां साधुरवाचक इति व्याचष्टे।' कारिका के अन्तिम अंश की व्याख्या 'तमेव च' इससे की जा रही है। जैसे विद्वानों में साधुशब्द प्रसिद्ध हैं और उनसे प्रत्यक्षतः अर्थ की प्रतीति होती है तथा असाधु शब्दों से साधुशब्दों का अनुमान किया जाता है; वैसे ही स्त्री-शूद्रादि में असाधु प्रसिद्ध हैं। उन्हीं से प्रत्यक्षतः अर्थबोध होता है; और साधुशब्दों से असाधु शब्दों का अनुमान किया जाता है ॥ १४४ ॥

अब वस्तुस्थिति का निरूपण करते हैं—

दैवी वाग्व्यतिकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः ।
अनित्यदर्शिनां त्वस्मिन् वादे बुद्धिविपर्ययः ॥ १४५ ॥

इयं दैवी वाक् अशक्तैः अभिधातृभिः व्यतिकीर्णा, अस्मिन् वादे अनित्यदर्शिनां तु बुद्धिविपर्ययः ।

वस्तुतः यह दैवी वाणी असमर्थ वक्ताओं के द्वारा अपभ्रंशों से मिश्रित कर दी गई, यह वैयाकरणों का मत है। साधुशब्दों को धर्म का साधन न मानने वाले अनित्यदर्शियों की बुद्धि तो इस मत के विपरीत है।

वृत्तिः—श्रूयते पुराकल्पे स्वशरीरज्योतिषां मनुष्याणां यथैवानृतादिभिरसङ्कीर्णा वागासीत् तथा सर्वैरपभ्रंशैः। सा तु सङ्कीर्यमाणा पूर्वदोषाभ्यासभावनानुषङ्गात् कालेन प्रकृतिरिव तेषां प्रयोक्तृणां रूढिमुपागता। अनित्यवादिनस्तु ये साधूनां धर्महेतुत्वं न प्रतिपद्यन्ते, मल्लसमयादिसदृशीं साधुव्यवस्थां मन्यन्ते, ते 'प्रकृतौ भवं प्राकृतं' साधूनां शब्दानां समूहमाचक्षते। विकारस्तु पश्चाद्व्यवस्थापितः, यः सम्भिन्नबुद्धिभिः पुरुषैः स्वरसंस्कारादिभिर्निर्णीयत इति ॥ १४५ ॥

विवरण—सुना जाता है कि आदिसृष्टि के समय मनुष्य अपने शरीर से उत्थित प्रभा के द्वारा ही प्रकाशित होते थे, आदित्य आदिक से नहीं। उस समय उनकी वाणी जैसे असत्य आदि से सङ्कीर्ण (मिश्रित) नहीं थी, वैसे ही समग्र अपभ्रंशों से रहित थी। कालान्तर में दैवी वाक् अपभ्रंशों से संकीर्ण होती हुई आलस्य-प्रमादादि पूर्व दोषों के अभ्यास (बारम्बार घटित होने) की भावना या दृढता के सम्बन्ध से उन बोलने वालों के बीच प्रकृति के समान रूढ हो गई। अनित्यवादी लोग जो साधु शब्दों को धर्म का हेतु नहीं मानते और साधुशब्द-व्यवस्था को दो मल्लों (पहलवानों) के बीच नियत की गई शर्त के समान स्वीकार करते हैं, वे प्रकृति अर्थात् स्वाभाविक अपभ्रंश रूप प्रकृति में जन्य होने से साधुशब्द समूह को प्राकृत कहते हैं। अपभ्रंश रूप प्रकृति पहले थी और विकार रूप संस्कृत पश्चात् व्यवस्थित की गई, जिसका निर्णय सम्यग् भेद विशिष्ट बुद्धि वाले पुरुषों द्वारा स्वर एवं संस्कार के आधार पर किया जाता है।

उक्त कारिका की वृत्ति कुछ अव्यवस्थित प्रतीत होती है। वृत्तिगत 'स्वशरीर' के स्थान पर 'खशरीर' पाठ भी मिलता है। श्रीवृषभ के आधार पर 'स्वशरीर'[1] पाठ ही उचित जान पड़ता है। 'प्रकृतिरिव' के स्थान पर 'प्रकृतिरेव' पाठ भी देखा जाता है। पद्धति में भी 'प्रकृतिरेवेति' यह पाठान्तर उपलब्ध होता है, किन्तु 'यथा कायवाङ्मनसां दोषाः–' इस व्याख्यान से 'प्रकृतिरिव' पाठ अधिक सङ्गत जान पड़ता है। 'सम्भिन्नबुद्धिभिः' पर श्रीवृषभाचार्य कहते हैं—'गम्यागम्यवाच्यावाच्यादिपु सम्भिन्नबुद्धिभिः, नास्तिकैरिति यावत्।'

किन्तु नास्तिक या अपभ्रंश को ही मूल मानने वाले लोग स्वर-संस्कारादि से विकार (संस्कृत) का निर्णय करते हैं—यह बात जंचती नहीं ॥ १४५ ॥

---

१. इसका पोपक एक वचन मनुस्मृति २।२३२ में मिलता है—'दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते।'

साधु और असाधु दोनों प्रकार के शब्द अविच्छिन्न रूप से चले आ रहे है, अब इस मत का निरूपण करते हैं—

उभयेषामप्यविच्छेदादन्यशब्दविवक्षया ।
योऽन्यः प्रयुज्यते शब्दो न सोऽर्थस्याभिधायकः ।। १४६ ।।

उभयेषाम् अपि अविच्छेदात्, अन्यशब्दविवक्षया यः अन्यः शब्दः प्रयुज्यते, सः अर्थस्य अभिधायकः न (भवति) ।

साधु और अपभ्रंश दोनों प्रकार के शब्द अविच्छिन्न रूप से चले आ रहे हैं; इस लिए अन्य शब्द की विवक्षा से यदि अन्य शब्द का प्रयोग किया जाता है तो वह अर्थ का बोधक नहीं होता ।

वृत्तिः—येषामपि च नैव पुराकल्पो न च दैवी वागसङ्कीर्णा कदाचिदासीत् तेषामपि गम्यागम्यादिव्यवस्थावदियं साध्वसाधुव्यवस्था नित्यमविच्छेदेन शिष्टैः स्मर्यंते । तत्रान्यशब्दविवक्षया बालप्रलापवदर्थेषु प्रयुज्यमानो यः शब्दो रूढः, यश्च न रूढः, तावुभावप्यर्थस्य न वाचकौ भवतः । तत्र तु साधुव्यवहिता वा भवत्यर्थप्रतिपत्तिरभ्यासाद् वा प्रमत्तानामक्षिनिकोचादिवत् सम्प्रत्ययमात्रं जायते ।। १४६ ।।

इति महावैयाकरण-श्रीहरिवृषभविरचिते वाक्यपदीये आगमसमुच्चयो नाम ब्रह्मकाण्डं समाप्तम् ।।

विवरण—जिनके मत में न तो कोई पुराकल्प था और न असङ्कीर्ण (शुद्ध) दैवी वाक् ही, उनके मत में भी गम्या और अगम्या—विवाह करने के योग्य और अयोग्य कन्या के समान साधु और असाधु शब्दों की व्यवस्था सर्वदा अविच्छिन्न रूप से शिष्टों द्वारा स्मरण की जाती या निबद्ध की जाती रही है । बालभाषित के समान अन्य शब्द की विवक्षा से विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाने वाला शब्द जो रूढ़ हो चुका है अथवा जो रूढ नहीं हुआ, वे दोनों भी अर्थ के बोधक नहीं होते । वहाँ साधुशब्द के व्यवधान से ही (साधुशब्द के स्मरणपूर्वक) अर्थ की उपलब्धि होती है अथवा प्रमाद से युक्त पुरुषों को अभ्यास के कारण अक्षिसंकोचादि से सम्पन्न ज्ञान के समान असाधु शब्दों से अर्थ की प्रतीति मात्र उत्पन्न होती है ।। १४६ ।।

कारिकानुक्रमणिका

ग्रन्थकार-परिचयः

गङ्गाया गरिमाणं मौलिमुकुटसङ्घटितगिरिश्रेष्ठम् ।
गुरुणादरेण विभ्रद्विलसत्यत्रोत्तरो देशः ॥ १ ॥

यत्रास्ते वैसवारावनिरखिलगुणखनिर्या जनिर्जित्वराणा-
माराद्धाराप्रसाराभिगतशतमहारातिमारान्तकानाम् ।
श्रीवेनीमाधवानां विसरदसिलतोद्यद्यशःसौरभाणां,
जृम्भन्तेऽद्यापि येषां रणरमणकथाश्चारु-रानाभिधानाम् ॥ २ ॥

यस्याङ्के शोभते ग्रामः श्रीसुमेरुपुराभिधः ।
पूर्वाञ्चले सदानीरा भाति लोननदी मुदा ॥ ३ ॥
दक्षिणस्यां च खरही पलाशवनसंवृता ।
प्रतीच्यां वहती चैव वर्षासून्मदकलेवरा ॥ ४ ॥
वशिष्ठस्य गणे जात उपमन्युर्महायशाः ।
गोत्रप्रवर्तकः कश्चिदासीच्छैवोत्तमो महान् ॥ ५ ॥
वशिष्ठ इन्द्रप्रमदो महर्षिश्च भरद्वसुः ।
अस्यैते पूर्वजा आसन् प्रवरा ऋषयस्त्रयः ॥ ६ ॥
तस्योपमन्योर्महतो गोत्रे जातो नरर्षभः ।
आसीत् प्रभाकरः श्रीमानस्माकं कोऽपि पूर्वजः ॥ ७ ॥
यद्विषये वंशजस्यैव कस्यचित्सूक्तिरीर्यते—

'न दक्षिणाशाप्यवलम्बिता क्वचित्
कृतोऽमुना नैव कदाप्यधः करः ।
तथापि लक्ष्मीं सुहृदे समर्पयन्
प्रभाकरोऽभूदपरः प्रभाकरः ॥'

तस्यावस्थीत्यन्ववायः प्रसिद्धो,
विद्यावृद्धः कान्यकुब्जद्विजेषु ।
उन्नावाख्ये मण्डले ग्राम उक्ते,
तस्मिन्वंशे सम्प्रसूतोऽहमस्मि ॥ ८ ॥

चन्द्रमती यस्याम्बा रामकुमारो भिषग्वरस्तातः ।
आवसथिककुलशैलः सततं प्रभाकरो जयति ॥ ९ ॥

साहित्ये कृतधीरधीतिनिपुणैरन्तेवसद्भिः सदा ।
संवीतो नवनीतिकौशलजुषी यस्याभवच्छेमुषी ॥
गीतागानचणः पितृव्यचरणो जैरामसंज्ञः सुधीः ।
वैदुष्यं हि वितीर्य मे सुरगिरो मामञ्जसान्वग्रहीत् ॥ १० ॥
श्रुत्यन्ते प्रथिता मतिः स्मृतिपुराणादौ च पूर्णा गति-
र्यस्याभूद्रघुवंश इत्यभिधया ख्यातः पितृव्यो गुरुः ।
संसत्सु प्रतिवादिवृन्दविभदीकारप्रकारे पटु-
र्मुम्बाया नगरे वसञ्शुचिधिया लेभेऽवदातं यशः ॥ ११ ॥
अष्टाध्यायी हि यस्याः स्मृतिसरणिमिता या क्रमव्युत्क्रमेण,
तस्या अङ्के स्वतातस्वसुरखिलमहो शैशवं येन नीतम् ।
कौमुद्याः फक्किकासु प्रणिहितहृदयः शेखरंप्रोतचित्तः ।
ब्रह्मानन्दाभिधानः गुरुरपर इहाऽभूद्यस्य धन्यो पितृव्यः ॥ १२ ॥
सूर्यनारायणः शुक्लो वाराणस्यां गुरुर्मम ।
आसीज्ज्ञानरुचौ सूर्यनारायण इवापरः ॥ १३ ॥
नित्यं रसात्रसेकाज्जीवनधारां प्रपूरयन्ती या ।
श्रीरिव गेहे कलिता सा मे ललिता सती भाति ॥ १४ ॥
तत्तिग्मांशोर्दहरकुहरे चेतसालम्ब्य ब्रिम्वं
तत्राम्नाया विरचितवता चारु पञ्चोपचारम् ।
नित्यं सक्तेन हि जपविधौ भूयसा वेदमातु-
रन्तर्यागप्रकटविधिनोत्थापिता नागकन्या ॥ १५ ॥
सिन्दूरारुणतरुणीं तरणीं भवजालजलधिहरीणाम् ।
करुणावीक्षणनिपुणामम्बामविलम्बमालम्बे ॥ १६ ॥